

ग्रन्थनाम ।

मूल्यम् ।

रु० आ०

| | | |
|---|----|----|
| २९ उपनिषदां समुच्चयः—श्रीनारायणशंकरानन्दरुनदीपिकासहितः । | ६ | १२ |
| ३० नृसिंहपूर्वोत्तरतापनीयोपनिषत्—भाष्याद्युपेता । ... | १ | १२ |
| ३१ बृहदारण्यकोपनिषन्मिताक्षरा—श्रीनित्यानन्दमुनिविरचिता । | १ | १२ |
| ३२ ऐतरेयब्राह्मणम्—सायणभाष्यसमेतम् । भागद्वयात्मकम् । | १० | १० |
| ३३ धन्वन्तरीयनिघण्टुः—श्रीधन्वन्तरिविरचितः । वैद्यकग्रन्थः । | ६ | ४ |
| ३४ श्रीमद्भगवद्गीता—शांकरभाष्योपेता । ... | २ | ० |
| ३४ श्रीमद्भगवद्गीता—सटीकशांकरभाष्योपेता । ... | ६ | ४ |
| ३५ संगीतरत्नाकरः—शार्ङ्गदेववृत्तः सटीको द्विभागः । गानशास्त्रम् । | १० | ४ |
| ३६ तैत्तिरीयारण्यकम्—सायणभाष्यसमेतं भागद्वयात्मकम् । | ९ | १ |
| ३७ तैत्तिरीयब्राह्मणम्—सायणभाष्यसमेतं भागत्रयात्मकम् । | १४ | ८ |
| ३८ ऐतरेयारण्यकम्—सायणभाष्यसहितम् । ... | ३ | ० |
| ३९ संस्काररत्नमाला—गोपीनाथमट्टविरचिता । भागद्वयात्मिका । | १२ | ८ |
| ४० संध्याभाष्यसमुच्चयः—खण्डराजश्रीकृष्णपण्डितादिप्रणीतः । | २ | ० |
| ४१ अग्निपुराणम्—महर्षिव्यासप्रणीतम् । महापुराणम् । ... | ५ | ४ |
| ४२ तैत्तिरीयसंहिता—सायणभाष्यसमेता । भागवत्कात्मिका । | ४८ | १० |
| ४३ वैयाकरणसिद्धान्तकारिकाः—भट्टोजीदीक्षितविरुताः सटीकाः । | १० | १२ |
| ४४ श्रीमद्भगवद्गीता—पैशावभाष्यसमेता । ... | १ | ८ |
| ४५ श्रीमद्भगवद्गीता—मधुसूदनश्रीधररुतटीकोपेता । ... | ५ | ४ |
| ४६ याज्ञवल्क्यस्मृतिः अपरार्कवृत्तटीकासहिता भागद्वयात्मिका । | १३ | ० |
| ४७ पातञ्जलयोगसूत्राणि—भाष्यवृत्तिभ्यां समेतानि । ... | ३ | ० |
| ४८ स्मृतिनां समुच्चयः—अङ्गिरःप्रभृतिसप्तविंशतिस्मृत्यात्मकः । | ५ | ० |
| ४९ वायुपुराणम्—महर्षिव्यासप्रणीतम् । महापुराणम् । ... | ४ | १२ |
| ५० यतीन्द्रमतदीपिका—श्रीनिवासदासरुता । प्रकाशटीकोपेता । | १ | ४ |
| ५१ सर्वदर्शनसंग्रहः—माधवाचार्यप्रणीतः । ... | ० | ० |
| ५२ श्रीमद्भगवद्गीता—नीलकण्ठरुतटीकोपेता । ... | २ | ० |
| ५३ मत्स्याष्टादशोत्तरसूत्रम्—सत्यापादविरचितं भागदशकात्मकम् । | २८ | ५ |
| ५४ भक्त्युपुराणम्—श्रीमद्भैषाद्यनघनिप्रणीतम् । महापुराणम् । | ६ | ० |
| ५५ पुरुषार्थचिन्तामणिः—आठवलेइत्युपादयिष्युमट्टवृत्तः । | ४ | ० |
| ५६ नित्याष्टादशिकाणवः—भास्कररायोजीवटीकासहिताः । | ३ | ८ |

विषयानुक्रमणी ।

| पत्रं. | पत्रं |
|---------------------------------|----------------------------------|
| संस्करणायोपयुक्ता- | नाम मूर्तं भावमाचष्टे ... १८ |
| नां पुस्तकानां वर्णनम् | नाम्नां सामान्योपदेशो ... १९ |
| संक्षिप्तानामर्थाः | विशेषोपदेशश्च ... १९ |
| निरुक्तम् | आख्यातस्यापि तथा १९ |
| पदद्वानि तेषां प्रयोजनं च | पदचतुष्टयमन्तरेणाक्षेपाः २०-२१ |
| शिक्षा | तेषां परिहारश्च.... २२-२४ |
| छन्दः | भाषाया उपयोगो लोके २४-२५ |
| कल्पः | वेदे च २५-२६ |
| ज्योतिषं | मन्त्राणामुपयोगः ... २५-२६ |
| व्याकरणं | कारणात्मा भावः ... २७-२८ |
| निरुक्तं | भावविकाराः पट् २९-३१ |
| निरुक्तशास्त्रविषयः ... | उपसर्गाणामर्थवत्त्वमन्तरेण ३३-३४ |
| निघण्टुः | शाकटायनमतं गार्ग्यमतं च ३४-३५ |
| समाम्नायः | उपसर्गाणामर्थाः ... ३५-३६ |
| निघण्टुशब्दव्युत्पत्तिः ... | निपातलक्षणम्.... ३६ |
| निगमनात् | निपातानामर्थाः ३७ |
| आहननात् | इव उपमार्थे ३८ |
| समाहरणात् | आर्पणमन्तरेण विचारः ... ४० |
| इदृशव्युत्पत्तिप्रयासस्य प्रयो- | 'न' प्रतिषेधार्थे उपमार्थे च ४१ |
| जनम् | चित् तु ननु ४२ |
| चत्वारि पदजातानि तेषां- | तु उपमार्थे : ४३ |
| पौर्वापर्यं च... .. | कर्मोपसंग्रहः ४४ |
| लक्षणानां हेतुः | च कर्मोपसंग्रहार्थे ४५ |
| आख्यातलक्षणम् | आ तथैव ४६ |
| नामलक्षणम् | वा विचारणार्थे... .. ४७ |
| वाक्ये कतरत्प्रधानम् ... | समुच्चयार्थे च ४८ |
| आख्यातं भावं कथमाचष्टे | अह ह विनिग्रहार्थे ४९ |
| | विनिग्रहः ५० |

| पत्रं | पत्रं |
|---------------------------------|--|
| उ विनिप्रहार्ये पदपूर्णश्च | ४५ य. शास्त्रविस्तृतं म्युपादयति |
| हि अनेकार्थे | ४६ न गतो न शान्तम् --- ८२ |
| किञ्च विचारकोऽर्थे ... | ४७ निरुक्तशास्त्राद्ये नार्थप्रतीतिः . |
| न किञ्च ननु विद | ४८ न च स्वस्वसंस्कारजनम् ८५ |
| मा प्रतिषेधे गतु सधैर | ४९ निरुक्ते विचारस्थानम् ... ८६ |
| पदपूर्णश्च | ५० तेन व्याकरणशास्त्रं |
| शशन् विचिन्तिनार्थे नूनं | ५१ संपूर्णं भवति " |
| य पदपूर्णश्च | ५२ यस्मान्मन्त्रा अनर्थकाः |
| सीपारिप्रहार्ये पदपूर्णश्च.... | ५३ तस्मान्निरुक्तशास्त्रस्य |
| तः निपातः सर्वनाम च | न प्रयोजनम् " |
| अर्थनाम च ... | ५४ मन्त्राणामानर्थक्ये कारणानि ८७-९१ |
| तस्य दृष्टव्यस्येऽपि निपात- | नियतशचोयुक्तिर्न निपात- |
| त्वम् | ५५ नुपूर्वत्वं च ८७ |
| ध्यपक्षोदाहरणम् | ५६ आक्षेपकृतो विनियोगः " |
| यत् समुच्चयार्थे ... | ५७-६० अर्थानुवपतिः ८८ |
| पदपूर्णलक्षणम् .. | ६० विरुद्धार्थत्वम् ८९-९० |
| कम् ईम् उत् उ पदपूर्णाः | ६१ प्रेयानां प्रयोगः । असंयद्ध- |
| सर्वे निपाताः प्राप्योऽर्थवन्तः | ६२ त्वम् । अत्रिस्पर्धार्थत्वम् ९१ |
| पदपूर्णानां दाक्ष्ये स्थानम् | ६३ आक्षेपपरिहारः ९१-९८ |
| कम् ईम् उत् उ इत्ये- | मन्त्रा अर्थवन्तः शब्दसा- |
| तेषामुदाहरणानि :... | ६४ मान्यात् ... ९२ |
| इवोऽपि पदपूर्णः | ६५ ऋषयर्थाभिप्रेदितं कर्मव |
| नेत् परिभवे | ६६ समृद्धम् ९३ |
| न चेत् अनुपृष्टे ... | ६७ लौकिकेष्वपि प्रयोगेषु |
| नामान्यास्पातजानि इति | नियतशचोयुक्तिर्व |
| शाकटायनो नैरुक्ताश्च | ६८ नियतानुपूर्वत्वं च ... ९४ |
| न सर्वान्प्रति गार्ह्यः | ६९ वाहणेन मन्त्रोक्तमनुयते " |
| नास्मात्सपातजत्वे आक्षेपाः | ७० आस्मात्सपातजानानुपपत्तिः ९५ |
| सत्यशब्दस्य व्युत्पत्तिः । | ७१ नापि विरुद्धार्थत्वम् " |
| आक्षेपपरिहारः ... | ७२-८४ लौकिकेष्वपि प्रयोगेषु |

| | पत्रं | | पत्रं |
|------------------------------|---------|-----------------------------------|---------|
| अतिशयोक्तिः ... | ९६ | अर्थमवलम्ब्य कदा कदा | |
| युद्धप्रवादः केवलं रूपकम् | ११ | निर्वचनं कर्तव्यम् | १२२ |
| जानन्तमभिवादयते | - | निर्वचनाय कदा कदा | |
| स्वगोत्रमभिवदन्.... | ९७ | अक्षरसामान्यमपि | |
| लौकिकेऽपि प्रयोगेषु गुणवादः | ११ | आश्रयणीयम् | |
| मन्त्रा अविस्पष्टार्था | | सर्वथा निर्वचनं कर्तव्यमेव | १२३ |
| इति अज्ञा वदन्ति | ११ | नामोत्पत्तेः प्राक् धातुषु | |
| भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति | ९८ | नानाविध अकल्पनीयश्च | |
| निरुक्तशास्त्रादेव पदज्ञानम् | १०० | विपरिणामो भवति | १२४ |
| पदज्ञानमर्थावलम्बि.... | ११ | धातूनामादेः उपवाया | |
| संहितालक्षणम् ... | १०३ | अन्त्यस्य च लोपः | १२५ |
| दैवतज्ञानं निरुक्तादेव | १०५ | उपधाविकारः | १२५-१२६ |
| लिङ्गज्ञानमर्कचिह्नकरम् | १०५-१०७ | वर्णलोपः | १२६-१२७ |
| ज्ञानप्रशंसा अज्ञा- | | आदिविपर्ययः | १२७ |
| ननिन्दाच | १०७-११३ | आद्यन्तविपर्ययः | ११ |
| साक्षात्कृतधर्मभिरसाक्षा- | | अन्तव्यापत्तिः | १२८ |
| त्कृतधर्मभ्यो मन्त्रदानम् | ११४ | वर्णोपजन. | ११ |
| सौकर्येणोपदेशग्रहणाय | | सप्रसारणम् | १२९-१३० |
| असाक्षात्कृतधर्मभिः | | भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगम- | |
| वेदाना वेदाङ्गाना च | | शब्दव्युत्पत्तिः | १३० |
| समाप्नानम् | ११५ | नैगमेभ्यश्च भाषिकशब्दव्युत्पत्तिः | १३१ |
| निघ-टुसामान्यास्य | | केषुचिदेशेषु कानिचिदाख्या- | |
| प्रकरणत्रयम् ... | ११५-११६ | तानि प्रयुज्यन्ते केषुचित् | |
| नैघण्टुकम् ... | ११६ | तज्जातानि नामानि... | १३१-१३२ |
| एकपदिकम् ... | ११ | तद्विताना निर्वचनम् | १३३-१३५ |
| दवतम् ... | ११ | सामासिकादानां च | १३६-१३८ |
| नैघण्टुकं देवतानाम् ... | ११६-११८ | निर्वचनं कदा न कर्तव्यं | १३८ |
| दैवतसंज्ञाया अर्थः ... | ११९ | कस्मै च न कर्तव्यम् | १३९ |
| निघण्टुनैघण्टुकशब्दयोरर्थः | ११ | कस्मै कर्तव्यम् | १४० |
| द्वितीयोऽध्यायः । | | कुशिष्या | |
| सरलं निर्वचनम् | १२१ | मुशिष्या | १४१-१४२ |

| | पत्रं | | पत्रं |
|--------------------------------|---------|----------------------------------|---------|
| गौः | १४४ | इन्द्रस्य न कोऽपि शत्रुः | १७७ |
| गोशब्दस्य पयोऽर्थे प्रयोगः | १४४-१४५ | मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु च मेघः | |
| अधिपवणचमर्थे ... | १४५ | अहिरित्यभिधीयते | १७९ |
| चर्मश्लेष्मार्थे | १४६ | उपा रात्रेरपरः काष्ठः | १८२-१८४ |
| स्त्रावश्लेष्मार्थे | " | कृष्णम् अहः = रात्रिः... | १८६ |
| ज्यार्थे ... | १४७ | शुक्रम् = दिवसः | " |
| आदित्यार्थे | १४८-१४९ | उपरः = मेघः | १८८ |
| आदित्यस्य सुपुष्पनामा र- | | सरस्वती नदी | १९१ |
| दिमः चन्द्रमसं दीपयति | १४९-१५० | अस्यामृचि सरस्वत्या नदीत्वे | |
| सोऽपि गौरुच्यते ... | १५० | मैत्रायणांसंहितया विशेषः | १९२ |
| सर्वेऽपि रश्मयो गाव उच्यन्ते | १५१ | सूक्तेषु नवः प्रायशो नैधु- | |
| संदेहपदानि एकार्थानि चेत् | | प्लुकवृत्तिं भजन्ते । | |
| सामान्यक्रियया निर्व- | | प्राधान्येन कचित्प्रयोगः | १९३ |
| क्त्यानि नानार्थानि | | प्राधान्ये उदाहरणम् | १९४-१९५ |
| चेत् नानाक्रियाभिः | १५२ | नदीविश्वामित्रसंवादः | १९४-१९८ |
| निर्गतिः कृच्छापत्तिः पृथिवी च | १५२-१५५ | दधिक्रा देवता अश्वध ... | १९८ |
| मन्त्रेषु वर्तमानाः शब्दा | | अश्ववाची दधिक्राशब्दः | १९९-२०० |
| नानार्थख्यापने समर्थाः | १५५ | स्तुतियोऽध्यायः । | |
| देवताज्ञाने शाकपूजेरभिमानः | १५६ | प्रजा जनयितुरेव | २०४-२०५ |
| अस्यामृचि वर्तमानाहं का- | | अन्यज.योदरसंभृतं नैव स्वापत्यम् | २०६ |
| देवतेति देवतायाः प्रश्नः | १५६-१५८ | दुहिता दायाद्यमर्हति ... | २०८-२१० |
| समुद्रशब्दस्य द्वायर्थो ... | १६१ | अङ्गादङ्गादित्यनेन अधिज्ञेयेण | |
| देवापिशंतनुकथा | १६१-१६५ | पुत्राणामिति मनुवचनेन | |
| आदित्यस्य आदित्य इति | | च दुहितरोऽपि पुत्राः | २०९-२१० |
| सूक्तभाक् नाम अल्पप्रयोगम् | १६७ | नेत्येके । यस्मात्त्राणां दानवि- | |
| अन्या अपि देवता आदित्य | | क्रयातिर्गर्गा विद्यन्ते | २१०-२११ |
| इत्यभिधीयन्ते | १६८-१७० | पुंसोऽपीत्येके ... | २११-२१२ |
| काष्ठाः = आपः | १७६ | शासद्वाहिरितीयमृक् अत्रातृमतीपरा | २१२ |
| शत्रो मेघ इति नैरुक्तः ... | | अत्रातृकाया विवाहनिषेधः | २१४-२१७ |
| स्वाष्ट्येऽमुर इत्येतिहासिकाः | १७७ | अङ्गादङ्गादित्यत्र दुहितुः | |
| | | पुत्रत्वं गौणम् | २१९ |

| पत्रं | पत्रं |
|--------------------------------------|---------------------------------|
| मनुवचनमभ्रातृमतीपरम् २१९ | तिरः सतः.... २७५ |
| न जामये तान्द्र इत्यनेन | त्रः २७६ |
| स्त्रिया रिक्थप्रतिषेधः २१९-२२० | नेमे २७७ |
| ज्येष्ठं पुंस्त्रियै इत्येके २१९ | श्रद्धाः " |
| के पञ्चजनाः २२३-२२४ | स्तुभिः २७८ |
| खड्गः सप्तखलसंग्रामखलयोः २३२ | वस्त्रः उपजिह्विका २७८-२७९ |
| तडित् अन्तिकाभिधायि | ऊर्दरम् २७९ |
| वधाभिधायि च २३५ | ऊर्दरम् २७९-२८० |
| कुत्सो वज्र ऋषिश्च २३८ | रम्भः २८१ |
| गार्ग्यकृतम् उपमालक्षणं यास्क- | पिनाकः २८१-२८२ |
| कृतं च २४६ | मेनाः २८२ |
| यथेति कर्मोपमा २५० | प्राः २८२-२८३ |
| उपमार्थे 'न' २५२ | शेषः वैतसः २८४ |
| 'चित्' २५४ | अया एना २८५-२८६ |
| 'आ' २५५ | सिपकुं २८६ |
| आदित्यो जारः २५६-२५७ | सचते २८७ |
| मेव इति भूतोपमा २५८ | भ्यसते रेजते " |
| अग्निरिति रूपोपमा २५९ | चतुर्थोऽध्यायः । |
| उपमार्थे धा २६० | एकपदिप्रकरणविषयः २९३ |
| 'तं प्रत्यधा' इत्य. का देवता २६०-२६१ | जहा २९४-२९५ |
| वत् इति सिद्धोपमा २६२ | निधा २९६-२९७ |
| लुप्तोपमा अर्थोपमा ... २६४-२६५ | शिताम २९८-३०१ |
| काकादिनामानि शब्दानु- | अनवगमस्य दश कारणानि ३०१ |
| कृतिमूलांनि २६५ | अनवगमप्रकाराः ... ३०१-३०२ |
| न शब्दानुकृतिरित्यौपम्यवः २६५-२६६ | मेहना ३०३ |
| द्विरा उत्तराणि नामानि २७२ | दमूनाः ३०४-३०५ |
| प्रपिप्पे... २७२-२७३ | मूषः ३०६-३०८ |
| अभीके २७३ | प्रक्षेतिहासमिश्रम् ऋद्धमिश्रं |
| दधम् । अभक्कम् २७४ | गाथामिश्रं च भवति ३०८ |
| | इतिरः ... ३०९-३१० |

| | पत्रं | | पत्रं |
|-------------|---------|-----------------------|---------|
| वाहिष्ठः | ३८७ | आ | ४१७-४१८ |
| दूतः | ३८८ | दुम्नम् | ४१९ |
| वावशानः | ३८८ | पवित्रम् | ४२०-४२२ |
| वार्धम् | ३८८-३८९ | तोदः | ४२३-४२४ |
| अन्धः | ३८९-३९० | स्वच्चाः | ४२४-४२५ |
| असश्वती | ३९२ | शिपिविष्टः | ४२५-४२७ |
| विनुष्यति | ३९२-३९४ | आघृणिः | ४२८ |
| तरुष्यति | ३९४ | पृथुअयाः | ४२९ |
| भन्दते | ३९५ | अथर्युम् | ४३० |
| भन्दना | ३९६-३९७ | काणुका | ४३१-४३२ |
| आहनाः | ३९७-३९८ | सरांसि त्रिशतम् | ४३२-४३४ |
| नदः | ३९८-४०१ | अध्रिगुः | ४३४-४३८ |
| सोमो अक्षाः | ४०१-४०२ | आह्मगुपः | ४३८-४३९ |
| श्वात्रम् | ४०२ | आपान्तमन्युः | ४४०-४४१ |
| ऊतिः | ४०२ | इन्द्रस्य ऋजीपितृम् | ४४१-४४२ |
| हासमाने | ४०२-४०३ | ऋजीपं धानाश्च हयोः | ४४३ |
| पङ्क्तिः | ४०३-४०४ | इन्द्रस्य च भागः | ४४४ |
| ससम् | ४०४-४०५ | स्मृता | ४४५-४४८ |
| द्विता | ४०५ | उर्वशी | ४४५-४४८ |
| त्राः | ४०६-४०९ | अप्सरा अप्सः | ४४५-४४७ |
| वराहः | ४०९-४१० | वेयुनम् | ४४०-४४१ |
| वराहवः | ४१० | वाजपत्यम् वाजगन्ध्यम् | ४४१ |
| स्वसराणि | ४१० | गन्धम् | ४४२ |
| शर्पाः | ४११ | गन्धतिः | ४४२-४४३ |
| अर्कः | ४१२-४१३ | कौरुयाणः | ४४३ |
| पविः | ४१४ | तौरयाणः | ४४३-४४४ |
| वक्षः | ४१५ | अहयाणः | ४४४ |
| सिनम् | ४१५-४१६ | हरयाणः | ४४४-४४५ |
| सचा | ४१६ | आरितः | ४४५ |
| चित् | ४१७ | ब्रन्दी | ४४६-४४७ |

| | | | पत्रं | | पत्रं |
|---------------------------|-----|-----|---------|--------------|-------------|
| व्रततिः | ... | ... | ४५८ | विस्तुहः | ... ४९८-४९९ |
| निष्पपी | ... | ... | ४५९ | वीरुधः | ... ४९९ |
| सूर्णाशम् | ... | ... | ४५९-१६० | नक्षदाभम् | ... ४९९-५०० |
| क्षुम्पम् | ... | ... | ४६१ | अस्तुधोयुः | ... ५००-५०१ |
| निचुम्पुणः | ... | ... | ४६२-४६३ | निशृम्भाः | ... ५०१-५०२ |
| पदिः | ... | ... | ४६३-४६४ | वृषदुक्त्यः | ... ५०२ |
| पादुः | ... | ... | ४६५-४६६ | कदूदरः | ... ५०३ |
| वृकः | ... | ... | ४६६-४७१ | कदूपे | ... ५०४ |
| जोषवाकम् | ... | ... | ४७२ | पुलुकामः | ... " |
| कृत्तिः | ... | ... | ४७२-४७३ | असिन्वती | ... ५०४-३०५ |
| श्वत्री | ... | ... | ४७३-४७४ | कपनाः | ... ५०५-५०६ |
| ससम् | ... | ... | ४७५-४७७ | भाक्कजीकः | ... ५०६ |
| कुटस्थ चर्षणिः | ... | ... | ४७७-४७८ | कजानाः | ... ५०७ |
| शम्यः | ... | ... | ४७८ | जृणिः | ... ५०७-५०८ |
| केपयः | ... | ... | ४७८-४८० | ओमना | ... ५०८-५०९ |
| सुतुमाकूपे | ... | ... | ४८०-४८१ | उपलप्रक्षिणी | ... ५१०-५११ |
| अंसत्रम् | ... | ... | ४८२ | उपसि | ... ५१२ |
| काकुदम् | ... | ... | ४८३-४८५ | प्रकलवित् | ... ५१३ |
| बीरिटम् | ... | ... | ४८६-४८७ | अभ्यर्धयज्वा | ... ५१३-५१४ |
| अंष्ट्र परि ईम् सीम् एनम् | ... | ... | ४८७ | ईक्षे | ... ५१४ |
| एनाम् | ... | ... | ४८८ | क्षोणस्य | ... ५१५ |
| सृणिः | ... | ... | ४८८ | अहमे | ... ५१६-५२० |
| पष्ठोऽध्यायः । | | | | पाथः | ... ५२०-५२२ |
| आशुनुक्षणिः | ... | ... | ४९०-४९२ | सवीमनि | ... ५२२ |
| आशाम्यः | ... | ... | ४९२ | सप्रुथाः | ... ५२२-५२३ |
| काशिः | ... | ... | ४९३ | विदधानि | ... ५२३ |
| कुणारम् | ... | ... | ४९३-४९४ | श्रायन्तः | ... ५२३-५२५ |
| अलातृणः | ... | ... | ४९५ | मांशीः | ... ५२५-५२६ |
| सल्लुकम् | ... | ... | ४९६-४९७ | अजीगः | ... ५२६ |
| कण्ठ्यम् | ... | ... | ४९७ | अमूरः | ... ५२७ |

| | पत्रं | | पत्रं |
|------------|---------|--------------|---------|
| शोशमानः | ५२७-५२८ | जञ्जतीः | ५५२ |
| कृपा | ५२८-५२९ | अप्रतिष्कृतः | ५५२-५५३ |
| विजामातुः | ५२९-५३० | शाशदानः | ५५३ |
| ओमासः | ५३१ | सृष्ट | ५५४ |
| सोम्यनम् | ५३१-५३२ | सुशिप्रः | ५५५ |
| अनवायम् | ५३२-५३३ | शिप्रे | ५५५ |
| किभीदिने | ५३३-५३४ | रसु | ५५६ |
| अमबन् | ५३४-५३५ | द्विवर्हाः | ५५६-५५७ |
| अमीवा | ५३५ | अकः | ५५७ |
| दुरितम् | ५३५-५३६ | उराणः | ५५७ |
| अप्या | ५३६ | स्तिपाः | ५५८ |
| अमतिः | ५३६-५३७ | स्तिपाः | ५५८-५५९ |
| शुद्धी | ५३७-५३९ | ज्बार्ह | ५५९-५६० |
| पुण्ड्रिः | ५३९-५४० | जुरुथम् | ५६० |
| रश्म | ५४०-५४१ | कुलिशम् | ५६०-५६१ |
| हेशादमः | ५४१-५४२ | तुञ्जे | ५६१ |
| सुदत्रः | ५४२ | वर्हणा | ५६२ |
| सुनिदत्रः | ५४२-५४३ | ततनुष्टिः | ५६२-५६३ |
| अनुष्क | ५४३ | इलीत्रिशः | ५६३-५६४ |
| तुणिः | ५४३ | कियेधाः | ५६४-५६५ |
| निर्वणसे | ५४३-५४४ | भूमिः | ५६५ |
| असूते सूते | ५४४-५४५ | विष्पितः | ५६७ |
| अम्यक् | ५४५-५४६ | तुरीयम् | ५६७-५६८ |
| यादविमन् | ५४६-५४७ | रास्यी | ५६८-५६९ |
| जारयायि | ५४७ | अञ्जतिः | ५६९ |
| अप्रिया | ५४८-५४९ | अञ्जः | ५७० |
| चनः | ५४९-५५१ | प्रतदसु | ५७०-५७२ |
| पचता | ५५१ | हिनात | ५७२-५७४ |
| शुरुधः | ५५१ | चोष्क्यमाणः | ५७४-५७५ |
| अमिनः | ५५१-५५२ | चोष्क्यते | ५७५ |
| | | मुमत् | ५७५ |

| दिविष्टि | ... | ... | पत्रं | | पत्रं |
|-------------|-----|-----|---------|-------------------------|-------|
| दूतः | ... | ... | ५७५ | परामरः | ... |
| जिन्वनिः | ... | ... | ५७६ | क्रिबिर्दती | ... |
| अमत्रः | ... | ... | ५७७ | फरुलनी | ... |
| मार्चोपमः | ... | ... | ५७७-५७८ | दनः | ... |
| अनर्शरातिम् | ... | ... | ५७८ | साराः | ... |
| अनर्था | ... | ... | ५७८-५७९ | इदंयुः | ... |
| असामि | ... | ... | ५७९-५८० | फीकटेयु | ... |
| गल्दया | ... | ... | ५८०-५८२ | युन्दः | ... |
| जल्हवः | ... | ... | ५८२ | रुन्दम् | ... |
| बकुरः | ... | ... | ५८३-५८४ | किः | ... |
| बेफनाटान् | ... | ... | ५८४ | तल्वम् | ... |
| अभिधेतन | ... | ... | ५८५-५८६ | मर्वातम् | ... |
| अंहूरणम् | ... | ... | ५८६ | टिप्पणी | ... |
| अंहुरः | ... | ... | ५८६-५८७ | सुद्रणानन्तरं येषां मू- | ... |
| यत | ... | ... | ५८७-५८८ | लमुपलब्धं तानि | ... |
| याताप्यम् | ... | ... | ५८८-५८९ | स्थलानि | ... |
| चाकम् | ... | ... | ५८९-५९० | अद्यापि येषां मूलव- | ... |
| वायः | ... | ... | ५९०-५९१ | नुपलब्धं तानि | ... |
| रथर्वति | ... | ... | ५९१ | निरुक्ताध्यायखण्डानां | ... |
| असक्राम् | ... | ... | ५९२ | स्थाने आदेष्टव्या- | ... |
| आधवः | ... | ... | ५९२-५९३ | नां पत्राणां पङ्क्ति- | ... |
| अनवग्रयः | ... | ... | ५९३ | नां चाङ्कानां | ... |
| सदान्वे | ... | ... | ५९३-५९५ | शुद्धिपत्रकम् | ... |
| शिरिम्बिठः | ... | ... | ५९५-५९६ | | ... |

२३०-२३१

१-१८

संस्करणायोपयुक्तानां पुस्तकानां वर्णनम् ।

अस्य ग्रन्थस्य संस्करणेऽवोर्णितानि पुस्तकान्युपायुज्यन्त । निरुक्त-
मूलसशोधनार्थमुपयुक्ताना पुस्तकाना क. ख. छ. त. द. ङ. ध. ध.
ठ. ड. इति चिह्नानि । क. ख. इति वङ्गराजः । छ. त. द. इति
गुर्जरदेशीयः । ङ. ध. घ. ठ. ड. इति महाराष्ट्रीयः ।

ख. पण्डितसत्यव्रतसामाश्रमिभट्टाचार्यैः 'त्रिष्ठिअथेका इंडिका'-
ग्रन्थावच्छेदे संशोधितं कलिकात्तानगयां वेपूक्तिस्त १८८२-१८९१
वर्षेषु भागशो मुद्रितं प्रकाशित च ।

क. पण्डितकुलपातिना बी. ए. उपाधिधारिणा श्रीजीवानन्दविद्या-
सागरभट्टाचार्येण संस्कृत प्रकाशित च । द्वितीयसंस्करणं सिंस्तान्दे
१८९१ । इदं ख. पुस्तकस्य सर्वशोऽनुकरणम् । अस्मिन्वर्गे गुर्जरमहा-
राष्ट्रीययोर्मिश्रणं दृश्यते ।

छ. हस्तलिखितम् । पूर्वपट्कं ७८ पत्रात्मकम् । समत् १७८८
नामायशुदि ६ गुरौ नागरझातिय आचार्यश्रीपजीभाईतस्तुतसामलेन
लिखितं । श्रीनवानगरमये लिखु छे । समत् १८४१ केनाप्यन्येन
लिखितम् । उत्तरपट्क ९७ पत्रात्मकम् ; संवत् साधिवसुभूषये शुरु-
मासे सिते दले राकायां जीवत्रारेपु लिपितमिदं पुस्तकम् । संवत् १८४६
ज्येष्ठमासि वैजनाथेन भूषितम् । हस्ताक्षरै स्पष्टम् । पुस्तकमानन्दधर्म-
स्थम् । क्रमाङ्कः ६५८० ।

त. हस्तलिखितम् । पूर्वपट्कं ८३ पत्रात्मकम् । शिवप्रसादेन लि-
खितम् । संवत् १७४० वर्षे आपाढमद '॥' दने एखतम् । उत्तरपट्कं
९३ पत्रात्मकम् । अपूर्णम् । लेखनपद्धतिः प्राचीना प्राङ्मात्रका यथा
मधावी = मेधावी । स्पष्ट स्थूलाक्षरं च । डेक्कनसालेजस्थम् । अधुना
भाण्डारकरसशोवनसस्थाया वर्तमानम् । क्रमाङ्कः १८८१-८२ ।

द. हस्तलिखितम् । १५७ पत्रात्मकम् । अतिस्तुत्यध्यायमरम्य
ग्रन्थान्तं यावत् पत्रसंख्या २१ । अनन्तमुत्तमिनामुत्तमोपालकस्य पुस्तकम् ।
त्रिपेदि मित्रिजायकमुनन अक्षरपुष्पकम् । द्वाये अक्षरपुष्पकम् ।

अतीव-जीर्णम् । प्राङ्मात्रकम् । टेक्निकालेखस्थम् । अधुना भाण्डारक-
संशोधनसंस्थायां वर्तमानम् । क्रमाङ्कः १८८६ ९२ ।

ड. हस्तलिखितम् । पूर्वपट्कं ७५ पत्रात्मकम् । महादेवभट्टात्मज-
गोविंदभट्ट फणसेन लिखितम् । उत्तरपट्कं ८१ पत्रात्मकम् । तेनै-
लिखितम् । शके १७३०. ईश्वरनामसंस्कृतस्य माधवशुद्धद्वितीयायां संपू-
र्णम् । आनन्दाश्रमस्थम् । क्रमाङ्कः ४१२५-२६ ।

ध. हस्तलिखितम् । पूर्वपट्कं ८० पत्रात्मकम् । शके १७०७
विश्वामुनामसंस्कृतस्य चैत्रशुद्धचतुर्थ्यां पटवर्धनोपनामककेशवभट्टात्मज-
महादेवेन लिखितम् । उत्तरपट्कं ९१ पत्रात्मकम् । शके १७०७
विश्वामुनामसंस्कृतस्य अधिकचैत्रशुद्धचतुर्थ्यां तेनैव लिखितम् । नाशिक-
नगरस्थात्तद्वंशजान्मया संपादितम् ।

घ. मुम्बापुर्यां निर्णयसागरखण्डे मुद्रितं शके १८१३ ।

गुर्जरपाठो महाराष्ट्रपाठो द्वित्रसनीयो दुर्गाचरित्रे प्रायः स्वीकृतश्च ।
गुर्जरपाठस्य खण्डविभागः महाराष्ट्रपाठस्य खण्डविभागो द्वित्रः । त. द.
पुस्तकयोः पादे पादे प्रथमो द्वितीय इत्यादयः खण्डा इत्यन्ते । न
तथा छ. पुस्तके पादविभागे वर्तमानेऽपि । तत्राप्यायादाभ्य समाप्ति
यावत्प्रथमो द्वितीय इति खण्डगणना । क. ख. पुस्तकयोः पादविभागः
खण्डाश्च गुर्जरपाठसदृशाः । किंतु तयोः छ. पुस्तकस्य खण्डगणना
() एतादृशचिह्नमध्ये लिख्यते । छ. त. द. पुस्तकेषु खण्डशृ-
ङ्खला न दीयते । सा क. ख. ड. ध. घ. ठ. ड. पुस्तकेषु अध्यायान्ते
पठनसाहाय्यार्थं दीयते । ड. ध. घ. ठ. ड. पुस्तकेषु पादविभागो
न प्रसिद्धः ।

निरुक्तवृत्तिसंशोधनार्थमुपयुक्तानि पुस्तकान्यधो वर्ण्यन्ते ।

क. ख. एतयोर्भूद्वयादिवर्णनं प्राग्दर्शनमेव । एते नैव विश्वसनीये
प्रमादप्रचुराचरितत्रानवधानतः दोषाश्च । अनवधानतादोषा असंख्याताः
कदा कत्रोपहास्याश्च । तेषामुदाहरणानि ।

| | | | |
|----------------|---|----------------|--------------------------|
| शुद्धं | ; | प्रामादिकं | पङ्क्तिः |
| सावत्पर्यं | | सावत्पर्यं | (निरु. पत्रं ६ । २३) । |
| अप्यविचित्रिते | | अर्थविचित्रिते | (९ । १ । |

| | | |
|----------------------|-------------------|--------------|
| दर्शयन्ति | वर्षयन्ति | (९ । ११) |
| व्यापि | अधापि | (१२ । १) |
| वसन्ती | च सन्ती | (१४ । ३) |
| निर्देष्टुं | निर्दिष्टुं | (१४ । ३) |
| स कृतप्रत्ययोपजनितेन | सकृतप्रयोजयति तेन | (१५ । २४) |
| कथं | वायं | (२१ । ८) |
| बुद्धितत्त्वे | बुद्धित्वे | (२३ । ११) |
| देवेषु | वेदेषु | (२५ । ६) |
| आध्यायते | अर्थायते | (३२ । १३) |
| यामी | आमी | (४३ । ९) |
| ब्राह्मणं | बाह्यं | (५८ । १७) |
| उणादि | गुणादि | (८६ । ८) |
| द्रव्यादिद्रव्यं | द्रष्टव्यं | (१३५ । २) |
| गौरन्यद्रव्यमयी | गौरन्यद्रव्यमपि | (१४७ । २) |
| न पति | नयति | (२१३ । १३) |
| मष्टे | अर्थते | (२४७ । १९) |
| एतद्वयः | एतद्वयः | (३५ । १४) |
| भक्षणार्था | लक्षणार्था | (४४७ । १) |

एतादृशा दोषाः शतश उपलभ्यन्ते । ते न केवलमनवधानतामूलाः ।
अज्ञानमपि यत्र तत्राविवृण्यते । कदा कदा पङ्क्तयोऽपि गलिता
दृश्यन्ते । यथा

| | |
|-------|----------|
| पत्रं | पङ्क्तयः |
| ३९ | १८-२० |
| ८७ | १४-१६ |
| ८७ | २५ |
| १०४ | २२-२५ |
| १५४ | २२-२६ |
| १५५ | १-५ |
| १५७ | ११-१२ |
| १७७ | २१-२२ |

अतीव-जीर्णम् । प्राङ्मात्रकम् । डेक्कनकालेनस्थम् । अधुना भाण्डारक-
संशोधनसंस्थायां वर्तमानम् । क्रमाङ्कः १८८६ ९२ ।

ड. हस्तलिखितम् । पूर्वपट्कं ७९ पत्रात्मकम् । महादेवभट्टात्मज-
गोविंदभट्ट फणसेन लिखितम् । उत्तरपट्कं ८१ पत्रात्मकम् । तेनै-
लिखितम् । शके १७३० ईश्वरनामसंस्कृतसरे माघशुद्धद्वितीयायां संपू-
र्णम् । आनन्दाश्रमस्थम् । क्रमाङ्कः ४१९५-९६ ।

ध. हस्तलिखितम् । पूर्वपट्कं ८० पत्रात्मकम् । शके १७०७
विश्वनाथसुनामसंस्कृतसरे चैत्रशुद्धचतुर्थां पट्टवर्धनोपनामककेशवभट्टात्मज-
महादेवेन लिखितम् । उत्तरपट्कं ९१ पत्रात्मकम् । शके १७०७
विश्वनाथसुनामसंस्कृतसरे अधिकचैत्रशुद्धचतुर्थां तेनैव लिखितम् । नाशिक-
नगरस्थात्तद्वैद्यानामया संपादितम् ।

ध. मुद्रापुष्पाणि निर्णयसागरवच्चलये मुद्रितं शके १८१३ ।

गुर्जरपाठो महाराष्ट्रपाठो द्विधसनीयो दुर्गाचार्येण प्रायः स्वीकृतश्च ।
गुर्जरपाठस्य खण्डविभागो महाराष्ट्रपाठस्य खण्डविभागाद्विभक्तः । त. द.
पुस्तकयोः पादे पादे प्रथमो द्वितीय इत्यादयः खण्डाङ्का दीयन्ते । न
तथा छ. पुस्तके पादविभागे वर्तमानेऽपि । तत्राप्यायादारभ्य समाप्ति
यावत्प्रथमो द्वितीय इति खण्डगणना । क. ख. पुस्तकयोः पादविभागः
खण्डाध्व गुर्जरपाठसदृशः । किंतु तयोः छ. पुस्तकस्य खण्डगणना
() एतादृशचिह्नमध्ये लिख्यते । छ. त. द. पुस्तकेषु खण्डाङ्क-
द्वयं न दीयते । सा क. ख. ड. ध. घ. ट. ड. पुस्तकेषु अध्यायान्ते
पठनसाहाय्यार्थं दीयते । ड. ध. घ. ट. ड. पुस्तकेषु पादविभागो
न द्रष्टव्यः ।

निरुक्तवृत्तिसंशोधनार्थमुपयुक्तानि पुस्तकान्यधो वर्णयन्ते ।

क. ख. एतयोर्मुद्रणादिवर्णनं प्राप्तुमशक्यम् । एते नैव विश्वसनीये
प्रमादप्रचुराद्यत्रतत्रानवधानत दोषाश्च । अनवधानतादोषा असंख्याताः
कदा करोपहास्याश्च । तेषामुदाहरणानि ।

| | | |
|---------------|---------------|--------------------------|
| शुद्धं | ग्रामादिकं | पङ्क्तिः |
| साकल्यं | साफल्यं | (निरु० पत्रं ६ । २३) । |
| अभ्यविवक्षिते | अर्थविवक्षिते | (९ । १ । |

यणीसंहिताया नामापि न श्रुतमिति स्पष्टम् । अहो धाष्टर्यम् ।

४४५ २०-२४ 'यदेनः०' इत्यस्य य० वा० सं० ३ । ४५ (३० । १७ इति प्रमादः) इति मूलं दीयते । किंतु तत्र 'अप्सः' शब्दो नास्ति ।

४५३ २०-२२ 'जातं यत्वा०' इत्यस्य मूलं नोपलभ्यते । क. ख. पुस्तकयोः 'अ० सं० ३ । ११ । ८' इति दीयते । किंतु तौरयाणशब्दो न केवलं तस्यामृचि सर्वस्यामपि ऋक्संहिताया न वर्तते । अहो सत्यव्रतानां सत्यप्रियता । 'जातं यत्वा०' इति ऋगर्घमेव ३ । ५१ । ८ इत्यत्र ।

५१९ १४ 'आ नो भर०' इति ऋच्यपि तैर्धाष्टर्यं कृतं यत् 'धी-महि' इति पदं 'दधीमहि' इति विपरिणमितम् ।

९८ २१-२२ 'इति प्रभिन्नेषु०' इति श्लोका दुर्गाचार्यैः प्रतिपक्ष-हेतुनिराकरणजनितया अभिमानस्फूर्त्या रचितः विद्वद्भिः सत्यव्रतैर्गंधर्वाक्यमिति लिखितः ।

११६ १६ 'अथ पुनर्यत्र० प्रायेण चिन्त्यते' इदं दैवतप्रकरण-संबद्धं घ.कयं 'अनुपपन्नतोऽन्यत् किंचित्' (पङ्क्तिः १४) इत्यस्यानन्तरं 'तदेतदेवं०' (पङ्क्तिः १४) इत्यस्य नैगमप्रकरणसंबद्धप्रकरणमिति कृत्वा स्थाप्यते । किमिदमज्ञानमनवधानता वा ।

कृमिपूर्णं बदरमिव दोषपूर्णमिदं संस्करणं सर्वधैवत्याज्यं नैयानुकरणी-यम् । क. पुस्तकं ख. पुस्तकं दासवदनुकरोति । ख.दोषान्गुण-त्वेन गृह्णाति । कदा कदा 'दृष्टव्ययत्वात्' इत्यत्र 'दृष्टान्यय-त्वात्' (५७ । ३) इति लिखित्वा स्वबुद्धिं प्रकाशयति । हस्तालि-खितं न किंचनापि निरुक्तवृत्तिपुस्तकमयं दोषरुणं भवेत् । अहो न्ययः प्रयासः सत्यव्रतजीवानन्दभट्टाचार्याणाम् ।

ग. च. ज. पुस्तकानि गुर्जरवर्गीयाणि ।

ग. हस्तलिखितम् । आनन्दाश्रमस्थम् । क्रमाङ्कः ६५८१ । अष्टमा-ध्यायस्यानन्तरं 'सं । १८७४ ना नैनाय शुद्ध ८ बुधे लि०' नव-

| | |
|-----|-------|
| १७८ | १ |
| २१० | १२-१३ |
| २८८ | ३-५ |
| २९३ | २०-२१ |
| ४१६ | २-४ |
| ५९१ | १-३ |

एतादृशि गालितोदाहरणान्यन्यान्यपि सन्ति ।

कदा कदा मूलवृत्तावविद्यमाना अपि शब्दा वृत्तावन्तर्भाव्यन्ते ।

यथा

पत्रं पङ्क्तिः

- २७४ १ इत्यत्र 'अधि धन्वसु' इत्यनन्तरं 'धनुःष्वधिरोमिताः नभन्तां हिंस्यन्ताम्' ।
- ४८० ३-८ अत्र 'प्रथमा० वा प्रायन्' इत्यस्य स्थाने सायणभाष्यं दीयते ।
- ४४ १६-१८ 'वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा' इत्यस्य मूलं य० वा० सं० ९।७ दीयते । तत्र तु 'वातो वा मनो वा' इति ऋच आरम्भः ।
- १५८ १७-१८ 'वक्ष्यति हि' इत्यादेर्निककमूलं ७।२८। क. ख. पुस्तकयोस्तु १२।२।८ अथवा १२।१९। अस्मिन् खण्डे १२।१९ इत्यत्र 'तमकुर्वन्' इति नास्ति । तस्मात्तत्र अत्र क. ख. पुस्तकयोर्न पठितम् ।
- २७८ २१-२२ 'यदक्षु०' इत्यस्य मूलं तैत्तिरीयसंहिता न तु ऋक्संहिता यस्मात्तत्र 'तज्जुपय्य यविष्ठय' इति नास्ति (ऋ० सं० ८।१०२।२१) । क. ख. पुस्तकयोः 'तज्जुपय्य यविष्ठय' इति त्यक्तं तथा 'तैत्तिरीयके पठ्यते' इति दुर्गवृत्तिस्थाः शब्दा अपि ।
- ४२० २१-२३ 'वाचस्पतये पवस्व वृष्णो अंशुभ्यां गभस्तिपुतः । देवो देवेभ्यः पवाव येषां भागोऽसि' (य० वा० सं० ७।१) ॥ एतत् 'रश्मयः पवित्रमुच्यन्ते' इत्यस्योदाहरणं दीयते । अत्र पवित्रशब्दः क. वर्तते । संस्करणकारैर्मन्त्रा-

कुट्टयतः कुहयतः (३५२ । १५)

रप्यनवगमः रथनवगमः (३८५ । १९)

श्वस्तनं दस्तनं

सिपाधयिष्ठितत्वात् सिप धयिष्ठितत्वात्

पुनः सूत्रं पुनः स्तत्रं

किंतु एकमपरस्यानुकरणमिति वक्तुं न शक्यते यस्मात् ज. पुस्तके वर्तमानाः केचित्पमादाः ग. पुस्तके न दृश्यन्ते ग. पुस्तके च वर्तमानाः केचित् ज. पुस्तके । पत्रं ८ पाठभेदः ॥ अयं प्रामादिक-पाठो ज. पुस्तके एव वर्तते ।

च. हस्तलिखितम् । आनन्दाश्रमस्यम् । क्रमाङ्कः ३५७९ । अतीव जीर्णम् । अध्यायस्य अध्यायस्य प्रायशः पृथक्पत्रसंख्यानम् । सर्वग्रन्थस्य पृष्ठसंख्या ४०४ । अष्टमाध्यायस्यान्ते ' गङ्गाधरोऽस्मिन्लिखिते तु भाष्ये व्यासस्य पूर्वा महतां चकार । वेश्मान्तरागल्य विदुष्य नेत्रे पारुष्यमुक्त्वा स्वगृहं जगाम ' । नवमाध्यायस्यान्ते ' अस्मिन्नध्याये व्याख्याता ऋचः ७० । संवत् षोडशशतसप्ताधिकत्रिंशत्तमे (१६३७) संवत्सरे वेशा-पस्य सिते पक्षे त्रयोदश्यां रविवासरे । जगन्नाथेनायं निरुक्ताध्यायो स्वह-स्तेन धर्मार्थं लिपित्वा प्रदत्ता ' । कलात्तमायालवकात्तमूर्तिः कलाकण-द्वेणुनिनादरम्यः । श्रितो हृदि व्याकुलवस्त्रिलोकीं श्रियेऽस्तु गोपीजन-वल्लभो वः ॥ १ नृनमःपुनकटाक्षपातने कारणं भवति भक्तिरञ्जसा । तच्चतुष्टयफलाप्तये ततो भक्तिमानधिकृतो हरौ गुरौ ' । एकादशध्यायान्ते ग्रन्थसंख्या १५५६ अस्मिन्नध्याये व्याख्याता ऋचः १७० अध्यायपटके ऋच ४६० पूर्वार्धे ऋक्संख्या इति । संवत् १६३७ वर्षे कार्तिक-वदि ४ बुधे श्रीवृद्धनाभरे भट्टश्रीगङ्गाधरेण लिखितम् । चतुर्दशाध्या-यान्ते ' अमुमध्यायं द्विवेदि श्रीहकीकासुनुर्दीक्षिणालयमहेश्वरगंगाधरस्याव-लोकनार्थं श्रीविश्वात्मनः प्रीत्यर्थं च महादेवोऽलेखीत् ' । अष्टादशध्या-यान्ते ' स्वस्तिश्रीनृपविक्रमसमयातीतसंवत् १६३७ वर्षे कार्तिकवदि २ दिने । यादिसं पुस्तकं द्रष्टवा तादिसं लिपितं मया । च्चदशुद्धमशुद्धं वा मम दोषो न विद्यते ' । अन्यपत्रस्य पश्चाद्भागे ' यज्ञेश्वरदीक्षितवडली-करस्येदं पुस्तकं । मोडक नारायणभट्टस्येदं ' । लेखनपद्धतिर्गुजरी । पश्चान्मात्रा । ' उपसर्गः ' निर्गमनं ' मार्गाणां ' एने शब्दाः ' उप-

भाष्यायस्यानन्तरं ' सं । १८७४ ना ज्येष्ठ शुद्ध १४ बुधे श्रीभुज-
नगरवीरवह्मच्ये लि० ॥ नैरुक्तस्य भाष्यम् । बोरा श्रीकण्वाजीकस्य
पुस्तकोपरि पं । गोपीनाथ । ' पञ्चदशाध्यायस्यानन्तरं ' सं । १८७४
ना चैत्रवादि १ भौमवासरे लि । त्रवाटि कचरासुत गोविन्दजीयेन श्रीहाट-
केश्वरसंनिधौ ' । सप्तदशाध्यायस्यानन्तरं ' समाप्ता इयं निरुक्तभाष्य-
वृत्तिः । सं । १८७४ फाल्गुन शुद्ध ५ प्रारंभ चैत्र शुद्ध समाप्तिः ।
बोरा कल्याणजीना पुस्तकोपरि लि० ' इति लेखनक लो दीयते ।
अध्यायस्याध्यायस्यान्ते खण्डपादमन्त्रग्रन्थसंख्या लिख्यन्ते । पूर्वपट्टकास्यान्ते-
एकस्मिन्पत्रे सर्वा एताः संख्याः पुनर्लिखिताः । खण्डविभागः त. द.
पुस्तकयोर्वर्तमानखण्डविभागानुसारी । अध्यायस्याध्यायस्य पत्राणि पृथ-
क्संख्यायन्ते । पूर्वपट्टकपत्रसंख्या ४३९ । उत्तरपट्टकपत्रसंख्या २४६ ।
द्वयोः पट्टकयोः ६८५ । अकारः 'डप' इत्येवं लिख्यते । लेखनपद्धतिः
कचिदधुनिकगुर्जरलेखनसदृशी । स्पष्टाक्षरा परिशिष्टाध्याययोर्द्विचिर्न-
वर्तते ।

ज. हस्तलिखितम् । टेक्निकालेजस्थमधुना भाण्डारकरसंशोधन-
संस्थायां वर्तमानम् । क्रमाङ्कः १८७९-८० । सर्व ४६४ पत्रात्मकम् ।
अध्यायस्याध्यायस्य भिन्नं संख्यानं नास्ति नापि पट्टकस्य पट्टकस्य ।
कचिदध्यायान्ते मन्त्रसंख्या दीयते । ' अष्टमोऽध्यायः ' इत्यस्यानन्तरं
' ग्रन्थसंख्याऽस्मिन्नध्याये ' इति लिख्यते किंतु संख्या न दीयते । नव-
माध्यायस्यानन्तरं ' अस्मिन्नध्याये व्याख्यात ऋच ७० ग्रन्थसंख्या '
इति । ' अस्मिन्नध्याये ' (दशमाध्याये) ऋक्संख्या ९८ ग्रन्थसंख्या
१२०० । ' एकादशोऽध्यायः । ग्रन्थसंख्या १५५६ । व्याख्याता
ऋचः १७० एवं अध्यायपट्टके ४६० । संवत् १८०२ ना पोष-
यदि १० रवौ लक्ष्मीतं । उत्तरपट्टकाग्रे ' संवत् १८०२ वर्षे
माघवद ११- रवौ लक्ष्मीतं ।

ग. ज. पुस्तकयोर्वर्तमानाः प्रमाणाः प्राग्गत्य ममानाः । यथा ।

| | | |
|-------------|------------|--------------|
| शुद्धं | अशुद्धं | |
| वक्ष्यति | लक्ष्यते | (११ । २१) |
| लक्ष्यते | वाक्यते | (२० । १३) |
| शेषधि* | मेगधि* | (१४२ । १४) |
| व्याह्रियते | व्याह्रयते | (२४३ । १८) |

३३५ । २१ ठ. प्रकीर्णः* आ । च. ओकीर्णः* प्र ।

ट. हस्तलिखितम् । आनन्दाश्रमस्थम् । क्रमाङ्कः ७२५६ ।
अध्यायस्याध्यायस्य पृथक्पृथगङ्कनम् । पूर्वपट्कस्य पत्रसंख्या ३९७ ।
उत्तरपट्कस्य २११ । अष्टमाध्यायस्यान्ते ' अष्टमोऽध्यायो भट्टगोविन्देन
लिखितः ' । दशमाध्यायान्ते ' धञ्जलोहिनेमिसिगिपात्हतपोतआपाध्यं '
(अस्यार्थो न ज्ञायते) । एकादशाध्यायान्ते ' अस्मिन्नध्याये ध्यादयाता
ऋचः १७० एवमध्यायपट्के ऋचः ४६० ग्रन्थसंख्याऽस्याध्यायद्वयस्य
१५९६ । संवत् १८ (?) शके १६८४ (?) ' । पञ्चदशाध्यायस्य
पञ्चत्रिंशत्तमे पत्रे ' खोहिबीशं ' (दुर्बोधं) । अस्मिन् पुस्तके च. सदश-
पुस्तकात् = एवं चिह्नं भूके कृत्वा प्रान्ते पाठा लिख्यन्ते । कासाचि-
ह्वां सायणभाष्यं स्कन्दस्वामिभाष्यं वा इयं वा कदा कदा उक्तभाष्यं
पनुर्भाष्यमन्यकिमपि भाष्यं निवण्टुभाष्यं वा तैत्तिरीयमैत्रायणीब्राह्मणा-
वतरणानि कौशमन्त्रादिस्मृतिमन्त्रभागवतादिपुराणावतरणानि च तथा
प्रायशः सायणभाष्यानुशोधेन कठिनशब्दानामर्थः प्राप्ते दीयन्ते । एतेषां
कानिचिदवतरणानि च. पुस्तकेऽपि प्रान्ते लिख्यन्ते । निरुक्ते वर्तमानाना-
मवतरणानां कदा कदान्यसंहितास्थं मूलनपि दीयते । एवंविदं पुस्तकं
धृशमुपयुक्तम् । किन्तु लेखकोऽङ्ग भासीदिति यत्र तत्र भाति । अनु-
ज्ञानि बहूनि वर्तन्ते । तेषां शुद्धीकरणे प्रायशो न कोऽपि यत्नः कृत
भासीत् । नञ्च कदा कदान्यत्रापि ' छ ' स्थाने ' ल ' लिख्यते ।
यथा । मण्डलन्तरे मण्डले स्थूलं स्थूलेन । कदा कदा पाठा मिश्री-
क्रियन्ते । यथा । यतथावश्यं = यथावश्यं + तथावश्यं । अतः =
अत्र + तत्र । विशिशेषार्थार्थं = विशिष्यार्थं + विशेषार्थं । लेखनव-
दतिः प्रायः स्पष्टा ।

घ. हस्तलिखितम् । आनन्दाश्रमस्थम् । क्रमाङ्कः ५१४२-५१४३ ।
अध्यायस्याध्यायस्य पृथक्पृथगङ्कनम् । पूर्वपट्के ३१४ उत्तरपट्के १७३
पत्राणि । ट. पुस्तकस्येदमक्षरशोऽनुकरणम् । ट. पुस्तके ' अष्टमोऽध्यायो
भट्टगोविन्देन लिखितः ' दशमाध्यायान्ते ' धञ्जो, व्यापाध्यं ' ' संवत्
१८४० ' । घ. पुस्तके तथैव । लेखकस्य मौर्ख्यमुपहासास्पदम् । ट.
पुस्तके कदा कदा लेखनप्रमादाः शुद्धीक्रियन्ते । तत्रत्यचिह्नानामज्ञाना-
किमपि दुर्बोधं लिख्यते । यथा । ' वदमयोगस्य ' इति इतिः ।

सर्गः । निर्ग्रमनं ' माग्राणां ' एवं लिख्यन्ते । 'ख' 'स्थाने' 'प' प-
स्थाने 'ख' च कचित् । सर्वं पुस्तकं नैकेन लिखितम् । त्रिचतुराणि
हस्ताक्षराणि दृश्यन्ते । ग. च. ज. पुस्तकानि गुर्जरवर्गीयाणां त्युक्तमेव ।
तेषु केचित्साधारणाः प्रमादाः । यथा ' निर्ग्रमणद्वारं ' ' पुनर्णवा '
 ' पुन आत्मा ' ' उपर्णीयेतेऽश्विनौ ' ' पुरैवोपधि ' । सर्वेषु पुस्तके-
ष्विदं विश्वसनीयतमम् । कदा कदा भिन्नपत्रा अपि वृत्तिमये
लिख्यन्ते तेन लेखकः प्राज्ञ आसीदिति भाति । अस्य शुद्धीकरणे द्वौ
यत्नावास्ताम् । प्रथमो यत्न आवश्यकः समीचीनश्च । द्वितीयः केन-
चिदज्ञेन ट. सट्शपुस्तकानुरोधेन कृतः । सोऽनावश्यकः । शुद्धी-
करणे कदा कदा प्रान्तेषु पङ्क्तीनामङ्कान् टरवा क्रियते । कदा कदा
मूलाक्षराणि मस्या दृश्यन्ते तेन मूलपाठोऽदर्शनीयो भवति । महती हानिश्च
जायते । इदमशुद्धीकरणमेव । च. पुस्तकं प्रायः शुद्धम् । किंतु तत्रापि
केचिद्विस्मयकारका दोषा दृश्यन्ते । माहाभाग्यशब्दः महाभाग्य इति
प्रायो लिख्यते । ' प्रतिग्रहीतृ ' ' प्रतिगृहीतृ ' एवम् । ' भैत्रायणी ' इति
विशिष्टाया यजुःसंहिताया नाम । तदज्ञानात् ' भैत्रायणीये ' इतिशब्दो
' भैत्रायणीयके ' इति परिगम्यते । ट. सट्शपुस्तकानुरोधेन प्रान्ते
कदा कदा सायणभाष्यं लिख्यते ।

मूलवृत्तिः कीदृश्यासीदित्यस्मत् पुस्तकाज्ज्ञायते । अज्ञेनाशुद्धीकर-
णात्पाक् दुर्गवृत्तिः निस्वरूपासीदिति जिज्ञासातुभ्यर्थं च.सट्शपुस्त-
कमवश्यमन्वेष्टव्यम् । तेन महत्कार्यं संग्रहितं स्यात् । ग. च. ज. पुस्त-
केषु विद्यमानं निरुक्तमूलं छ. त. द. सट्शं खण्डविभागोऽपि तादृश
एव ।

च. पुस्तकस्य पूर्वपट्कं प्रायः शुद्धं न तथोत्तरपट्कम् । इदमुत्तर-
पट्कं प्रचुरप्रमाददूषितम् केनचिदसंस्कृतेन लिखितम् । ते प्रमादा
उत्तरपट्कप्रस्तावनायां दर्शयिष्यन्ते ।

पूर्वपट्के यत्र तत्र ट. सट्शपुस्तकानुरोधेन शोधाः कृताः । ते
प्रायशोऽज्ञानमूलाः । कदा कदा च. पुस्तकानुरोधेन ट. पुस्तकं पाठ-
शुद्धिः ट. पुस्तकानुरोधेन च च. पुस्तके । यथा ।

२०३ । ८ ट. 'मानैत्रै' न त । च. 'मान् तैत्रै' अ ।

३११ । २६ ट. 'प्रेयात' आ । च. 'ओयात' प्र ।

३१३ । ५ ट. 'वर्वापि' मि । च. 'वर्वामि' पि ।

लिखितं मुकाम इंदूरग्राम । शके १७९८ धातूनामसंवत्सरे ज्येष्ठ वष
१३ भौमवासरे इदं पुस्तकं समाप्तम् । यदर्थं पुस्तकं० भग्नपृष्ठ० ।
इत्यादि श्लोकद्वयम् । अष्टदशध्यायान्ते ' शके १७९८ धातूनामसंवत्सरे
आषाढ शुक्ल १० मन्दवासरे तद्दिने अग्रमध्याय तद्वत् इयुनाम्ना रंगनाथ-
स्य ज्येष्ठसूनुना नारायणेन इंदूराल्ख्यगुः लिखितं । सप्तदशध्यायान्ते
' इदं पुस्तकं भालचन्द्र दीक्षितः ज रामचन्द्र दीक्षित केशवस्य हस्ताक्षर
नारायणभट्टा मज गणेशभट्ट ज्योतिषि कुरवळिकरण । शके १७९८
धातूनामसंवत्सरे अषाढ शु० १४ सौम्यवासरे इदं पुस्तकं समाप्तिमग-
मत् । इंदूरपद्मे लिखितं । अष्टदशध्यायान्ते ' इदं पुस्तकं रामचन्द्र
दीक्षित अयाचितोपनामक श्रीनृसिंहवार्द्धप्रामस्यस्य हस्ताक्षर गणेश
नारायण ज्योतिषि कुरवळिकर शके १७९८ धातूनामसंवत्सरे अषाढ
व ॥ ४ सोमवार समाप्तिमगमत् । पङ्क्तिसंख्या ६६० प्रंथसंख्या ९९० ।

लेखनमंतीव शीघ्रं तस्माच्च कारणानुदर्शनम् । शीघ्रतया सावधानदृष्टे-
रभावः । कति शब्दाः कति शब्दसमुदायाः कति पङ्क्तयोऽपि गलिताः ।
पत्रमेकमधस्ताद्भागमुपरि कृत्वा लिखितम् । यत्र तत्र उद्देजनदर्शका लङ्गरा
अपि लिखिताः । यथा । श्रीलक्ष्मीकन्ताय नमः । श्रीरेणुकादेव्यै नमः ।
दक्ष्मीसहितगोपालकृष्णाय नमः । प्रारंभी विनती करु गणारती इत्यादिः
महाराष्ट्रीयश्लोकेऽपि । अलंस्कृतज्ञतया रूपभावाङ्गुगुप्तया च सहस्रशः
प्रमादाः । यथा ।

| | |
|---------|--------------|
| शुद्धं | अशुद्धं |
| टीकायां | टिप्पणिकायां |
| प्रकाशः | प्रकाशः |
| लोमानि | लोमणी |

इदं पुस्तकं मधर्ममिंदुरानेवासिभिः सरदार मुख्ये इत्येतैः संपादितम् ।

४. हस्तलिखितम् । आनन्दश्रमस्थम् । १०९ क्रमाङ्कः । पूर्व-
पट्के २२४ पत्राणि । प्रथमेऽध्याये नष्टः । उत्तरपट्के त्रयोदशस्था-
न्यानि पञ्च पत्राणि नष्टानि । तान्पुनीकृत्य शिष्टानि पत्राणि १७० ।
सप्तमाध्यायान्ते ' ओसंवत् १९०६ शके १७ ' । अष्टमाध्यायान्ते
' संवत् १९६ । इदं पुस्तकं दिव्येन लिखितं । नवमाध्यायान्ते
' अमृतन्याये व्याख्यातकृतसंख्या ७० । संवत् १८९४ चके

२. पुस्तके 'परिचये गत्य' । घ. पुस्तके 'परिचये गत्य' । ट. पुस्तके 'एषा हि त्रिष्टुप्' । 'त्रि' प्रामादिकमन्तरं लोप्यमिति चिह्नार्थः । तदज्ञानात् 'त्रि' इत्यक्षरस्य स्थाने ३. पुस्तके पत्रस्योपरितनभागे लिखितं वेदमार्थं लेखनीयमिति मनसि कृत्वा सर्वं सत् 'एषा' इत्यस्यानन्तरं 'त्रिष्टुप्' इत्यस्य प्रालिख्यते । अहो परम, यत्र मोक्षम् । ट. पुस्तकं द्वित्रियारं शुद्धीकृतम् । घ. पुस्तकं द्वितीयशुद्धीकरणं प्रालिखितमिति तत्र तत्र स्पष्टम् ।

श. हस्तलिखितम् । एतत्पुस्तकमन्तरेण न किञ्चिदुक्तं संभवते यस्मात्तन्मासधीपेऽधुना नास्ति । घ. ट. संक्षेपमेव तत्पुस्तकम् ।

घ. श. ट. पुस्तकेषु भाष्यप्रतीकानि 'सूत्राणि' इति कदा कदा-
भ्यन्ते ।

घ. ट. पुस्तकयोर्वर्तमानानामनुष्ठानानुसंहरणानि ।

| शुद्धं | अशुद्धं | |
|------------|------------|--------------|
| अध्यापीदं | अध्यापीतं | (९९ । १५) |
| व्यवस्थितः | व्यवस्थितः | (८० । १४) |
| ज्ञापकं | ज्ञाः पकं | (१०५ । २२) |
| निरुद्धः | निः रुद्धः | (१७९ । १२) |

ठ. हस्तलिखितम् । पूर्वपटके ३८९ पत्राणि । उत्तरपटके २०९ अष्टादशाध्यायस्य च ८ । केचित्पत्राण्यस्य आद्ये द्वे पत्रे अन्त्यानि च ४४ खण्डस्यानन्तरं कानिचिन्पत्राणि नष्टानि ।

षष्ठ्यध्यायस्य 'शके १७९ धनूनामनेवसरे वैशाख मा ११ शुके रात्रौ प्रथमग्रहो समा० इदं पुष्पकं रामचन्द्र दीक्षित अवाचि गोप-
नामकं श्रीनृसिंहादिप्रमत्तस्य हस्तक्षरं कुम्बलिग्रामस्थगणेशनारायण-
ज्योतिषं पर्वमकरं त्रिदशरं निवत्य' । नारायणसंस्कारे 'अस्मि-
न्पत्रे ७३६११ अक्षरानि ७० । शके १७९८ धनूनामनेवसरे
'शके शु० १४ इदं पुस्तकं रामचन्द्र दीक्षितोपनामकं केशव । हस्तक्षरं
गणेश नारायण ज्योतिषि कुम्बलिग्रामस्थस्य । प्रथमसंख्या १६३२ ।
दशमाध्यायान्ते 'संवत् १९१२ शक' । त्रयोदशाध्यायान्ते 'शके
१७९८ धनूनाम० ज्येष्ठ कृ० ५' । चतुर्दशाध्यायान्ते 'इदं
पुस्तकं मालवन्द दीक्षित केशवराज रामचन्द्र दीक्षितस्य हस्तक्षरं
गणेश नारायण ज्योतिषि कुम्बलिग्रामस्थ स्वार्थीय वा परोपकाराय

| | |
|------------|------------------|
| आर्जवेन | आर्जवने |
| उदात्तं | उत्तत्तं |
| क्षेप्तुं | क्षप्तुं |
| षोडशाहुनयो | षोडशतपथे द्रुतयो |
| गतो | गते |

क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. एङ्गर्ग्याणि पुस्तकानि । सर्वेषु (पत्रं १३३ पङ्क्तिः १७) ' तत्र संख्यापूर्वा द्विगुः ' इत्यस्य स्थाने ' पाणिनेः सूत्रं संख्यापूर्वा द्विगुः ' ' चार्थे द्वयः ' (पङ्क्तिः १८) इत्यत्र ' सूत्रं चार्थे द्वयः ' । एतादृशाः केचित्समानाः पाठभेदाः सन्ति ।

क. ख. घ. ट. ठ. ड. पुस्तकेषु एकादशाध्यायस्याग्रे ' यावन्तो मन्त्राः सर्वशास्त्रेषु तेषु याणि गुणपदानि लक्षणोद्देशतस्तानि सर्वाण्येव व्याख्यातानि ' । अस्यानन्तरं घ. ट. ठ. ड. पुरःकेषु ' अस्मिन्ध्याये व्याख्याता ऋचः १७० । एवमाध्यायपट्टे ऋचः ४६० ग्रन्थसंख्या ५०५५६ इत्यस्य १५५६ । संवत् १८४०- (ट. १८४ शके १६५४) श्रे.क २००० ' ।

क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. महान् वर्गः । तेषामन्तर्बर्गाः ' क. ख. ' ' घ. ङ. ट. ' ' ठ. ड. ' इति । तथा ' ग. च. ज. ' इत्येको वर्गः । अन्तर्बर्गौ ' ग. ज. ' ' च ' इति च । विश्वसनीयत्वे पुस्तकानां क्रमः च. ट. ग. ज. घ. ङ. ख. क. ठ. ड. ।

प्रतिपत्रं पाठभेदा दत्ताः । तेषु कानिचिद्विद्वत्पुस्तकानि । तेषामर्थः । ' भूतविनाशस्थितिहे ' (पत्रं १४९ पङ्क्तिः २६) इति पाठभेदः । ' भूतस्थितिविनाशहेतु ' इति स्वीकृतापठः । पाठभेदे ' विनाशस्थिति ' इति व्यत्यासो वर्तते । स दर्शनीयः । तदर्थं ' भूत ' इति पूर्वमक्षरद्वयं ' हे ' इत्यनन्तरीयमक्षरं पठ्यते एवं चिह्नं च दीयते एतस्मिन्नेवाक्षरसमुदाये पठभेद इति दर्शनार्थम् । कदा कदा पूर्वं वा पश्चाद्वा सङ्केतस्तद्वत् चिह्नं दीयते । यथा । ' परिहराय ' (पत्रं १४८ पङ्क्तिः २८) । ' परिहाय ' इति मूळम् । ददाति दत् (पङ्क्तिः २८) । अत्र ' दाति ' इत्यस्य स्थाने ' दत् ' पठनीयमिति चिह्नस्यार्थः । कदा कदा महत्पक्षरसमुदाये नहन्नां पृथक्स्थितानामक्षराणां स्थाने आदेशः

१७९९ भाद्रपदशुक्ल ७ सप्तम्यां तदिने इदं पुस्तकं चित्तपावनज्ञातीय पराजये इत्युपनाम्ना आपामहस्य सुतेन अण्णाभट्टेन कादशां लिखितं । दशमाध्यायान्ते ' संवत् १९०६ ' । एकादशस्यान्ते ' अस्मिन्नध्याये व्याख्यात श्रवः १७० । एवमध्यायपटके व्याख्यातश्रवसंख्या ४६० । संवत् । शके । चतुर्दशाध्यायान्ते ' संवत् १९०६ तथा शालिवाहन शके १७७१ दुर्भातिनामसंवत्सरे कार्तिकशुक्लनवम्यां सौम्यवासरे तदिने इदं पुस्तकं श्रीकाश्यां समाप्तं । पौडशाध्यायान्ते ' संवत् १९०६ ' । सप्त- दशाध्यायान्ते ' संवत् १९०६ शके १७७१ दुर्भातिनामसंवत्सरे इदं पुस्तकं समाप्त । निहडन लिखितं । कश्चां वराणसीतटे । अष्टादशा- न्ते ' संवत् १९०६ शके १७७१ दुर्भातिनामसंवत्सरे इदं पुस्तकं विह- डेन लिखितं ।

४. पुस्तकस्य छेदं प्रायशो रहसिम् । प्रमादाः ठ. पुस्तके वर्तमाने- भ्योऽस्पृताः । न तादृगवधानादेः । सुगुणाया नामापि नास्ति । ये दोषा वर्तन्ते तेऽनूला अनुलिखितपुस्तकमूलध्व । ॐ नमो भग- वते वासुदेवाय । इति पुनः पुनर्लिख्यते । ठ. ४. पुस्तकयोर्मूत्रभेकमासी- दिति भाति यस्मिन् ब्रह्मः प्रमादा द्वयोः समानाः । यथा ।

| शुद्धं | अशुद्धं |
|---------------|----------------|
| मृग स्नेहने | मृग स्नेहने |
| चतुर्थाध्याये | चतुर्थोऽध्याये |
| प्रकारेण | प्रकरणे |
| एवमहमपि | एवमहानपि |

नवमाध्यायस्यान्ते अपरस्ताब्दस्य श्रुत्यतिः पष्ठध्यापवृत्तौ वर्तमाना लिख्यते न वा उ एतन्निघ्नसे इत्यस्य सायणभाष्यं च । तच्च भाष्यं षष्ठाध्याये ट. पुस्तके प्रान्ते लिख्यते । ट. पुस्तके प्रान्ते लिख्यमानं सर्वं ठ. ४. पुस्तकयोर्वृत्तावन्तर्भाव्यते । पाठभेदेष्वेतत्तत्र तत्र प्रदर्शितम् ।

घ. ट. ठ. ४. एतेषु केचित्समाना दोषा दृश्यन्ते । यथा ।

| शुद्धं | अशुद्धं |
|--------------|--------------|
| व्यवहार | व्यवहार |
| नातिकटिनास्य | नातिकटिणास्य |
| नातिकटिने | नातिकटिणे |

काठ० सं०
 कात्या० श्रौ०
 कौपी० आ०
 कौ० ब्रा० अथवा कौपी० ब्रा०
 गर्भ० उ०
 गोपथब्रा०
 गोमि० गृ०
 गौ० ध० अथवा गौत० धर्म०
 छा० उ०
 जै० सू० अथवा जै० म्या०
 ताण्ड्य० ब्रा०
 तै० भा०
 तै० ब्रा०
 तै० सं०
 वा०
 निष०
 नि० अथवा निष०
 पा०
 पा० शि०
 पि० सू०
 बृ० उ० अथवा बृह० उ०
 बृ० अथवा बृह० अथवा बृहदे०
 भ० गी० अथवा भग० गी०
 मनु० अथवा म० सं०
 महा० ना०
 मान० गृ०
 मान० श्रौ०
 मै० सं० अथवा मैत्रा० सं०
 य० वा० सं० अथवा वा० सं०
 याज्ञ०
 वासि० धर्म०

काठकसंहिता
 कात्यायनश्रौतसूत्रम्
 कौपीतक्यारण्यकम्
 कौपीतकिब्राह्मणम्
 गर्भोपनिषत्
 गोपथब्राह्मणम्
 गोभिलगृह्यसूत्रम्
 गौतमधर्मसूत्रम्
 छान्दोग्योपनिषत्
 जैमिनिसूत्रम्
 ताण्ड्यनहास्यब्राह्मणम्
 तैत्तिरीयारण्यकम्
 तैत्तिरीयब्राह्मणम्
 तैत्तिरीयसंहिता
 वातुपाठः
 निषण्डः
 निरुक्तम्
 पाणिनेरष्टाध्यायी
 पाणिनीयशिक्षा
 पिट्सूत्राणि
 बृहदारण्यकोपनिषत्
 बृहदेवता
 भगवद्गीता
 मनुस्मृतिः
 महानारायणोपनिषत्
 मानवगृह्यसूत्रम्
 मानवश्रौतसूत्रम्
 मैत्रायणसंहिता
 वाजसनेयिसंहिता
 याज्ञवल्क्यः
 वासिष्ठधर्मसूत्रम्

कर्तव्यः । तत्र यस्याक्षरस्य स्थाने आदेशः कर्तव्यस्तस्योपरि = एतच्चिन्हं कृत्वा तदक्षरसमीपे एव () एतयोश्चिन्हयोर्मध्ये आदेशो लिख्यते । यत्रादेशो न दीयते तत्र तदक्षरं जायमिति एतद्व्यचिह्नस्यार्थः । कदा कदा द्वयोःक्षरयोः शब्दयोर्मध्ये ~ एतच्चिन्हं क्रियते । तस्यार्थः । अक्षराणां शब्दानां वा पश्चाद्विखितान्यक्षराणि चिन्हस्थाने पठनीयानि । कदा कदा 'चिपं ज्ये० श्रुत्तमः' (३२३ । २ ।) इति वर्तते । तस्यार्थः । प्र. ट. पुस्तकयोः सर्वा ऋक् न पठ्यते । किंतु 'सं. रं पावकज्योतिषं ज्ये० श्रुत्तमः' इत्येव ।

अयुक्तानामाङ्गलचिह्नानामर्थाः ।

- ' अनयोश्चिन्हयोर्वर्तमाने ऽक्षरसमुदायोऽवतरणम् ।
अथवा । ' निरुक्तमूलस्थशब्दाः ' इति ज्ञापनार्थम् ।
() अथवा [] अवतरणमूलानि निरुक्तस्थलानि निरुक्तद्वि-
तिस्थलानि च दर्शयितुम् ।
= अयमस्यार्थ इति ज्ञापनार्थम् ।
— पङ्क्त्यन्ते अपूर्णः शब्द इति ज्ञापनार्थम् ।

संक्षिप्ताक्षराणामर्थाः ।

| | |
|--------------------------|------------------------|
| अ० सं० अथवा अथ० सं० | अर्थव्यसंहिता |
| अम० अथवा अमरः | अमरकोशः |
| आप० श्री० | आपस्तम्बश्रौतसूत्रम् |
| आश्व० गृ० | आश्वलायनगृह्यसूत्रम् |
| आ० श्री० अथवा आश्व० अथवा | } आश्वलायनश्रौतसूत्रम् |
| आश्व० श्री० | |
| ऋ० अथवा ऋ० सं० | ऋक्संहिता |
| ऋ० प्राति० | ऋक्प्रातिशाख्यम् |
| ऐ० आ० | ऐतरेयब्राह्मणम् |
| ऐतरे० उप० | ऐतरेयोपनिषत् |
| ऐ० ब्रा० | ऐतरेयब्राह्मणम् |
| कपि० सं० | कपिष्टम्भसंहिता |

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ।

दुर्गाचार्यछतटीकासमेतं

निरुक्तम् ।

तत्र पूर्वपट्टम् ।

अथ प्रथमोऽध्यायः ।

“ॐ समान्नायः समान्नातः । स व्याख्यातव्यः” । अथ किमर्थं वेदो
वेदवेदाङ्गप्रयोजनं वेदाङ्गानि च प्रवृत्तानि । सर्वकामप्राप्त्यादिर्मोक्षान्तः
पुरुषार्थो वक्तव्य इति वेदः प्रवृत्तः । तत्परिज्ञानाय
वेदाङ्गानि प्रवृत्तानि । तानि पुनरमूनि प्रतिनियतार्थविषयवृत्त्या वेदमास्क-
शिक्षा दन्ति । तद्यथा । शिक्षा तावत् “ आत्मा बुद्ध्या
समर्प्यार्थान् ” (पा० शि० ६) इत्येवमादिना
क्रमेण स्वरव्यञ्जनाभिव्यक्तिलक्षणं पूर्वाह्नमव्यंदिनापराह्णेपु यथाध्येयमधी-
तस्य च स्वरसौष्टवयुक्तस्य यैज्ञकर्मणि प्रयोग इत्येवमार्थजातं निरुवाच ।
तथा ह्यधीतः प्रयुज्यमानश्चापूर्वाङ्गभावाय नान्यथेत्येवमर्थवत्ता शिक्षायाः ।
एवं ह्याह । “ मन्त्रो हीनः स्वरतो यर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थ-
माह । स बाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ”
(पा० शि० ५२) इति । वेदाध्ययनानुपपन्नत्वेतिहासपुराणशास्त्राणां
लौकिकानां ग्रन्थविस्तररचनानामतएवाध्ययनपरिज्ञानम् ।

शिक्षाधिगताध्ययनविधेर्वेदस्पाक्षरकोशपादव्यवस्थालक्षणपरिज्ञाने चन्दो-

१ क. ख. ग. ज. घ. ङ. श्रीगणेशायनमः । आदितः पाणिनीयं तु (ग. घ)
शिक्षा ज्योतिस्तत (ग. ज्योतिः कस्य) इत्युक्तः । पञ्चाध्यायी निषण्ठोश्च २०
निरुक्तमुपरि स्थितम् ॥ १ ॥ प्रथम्य तत्पदस्यापि रुद्रायामितेजसे । ॥ मे दिशतु
सुधीतो वाग्विषयोः शिष्टसंगतिम् ॥ २ ॥ समान्ना” ; च. पुस्तके “इदं श्लोकद्वयं
पञ्चस्योपलितभागे लिखितं शेषकमिव भाति” ; ठ. पुस्तके इमौ श्लोको गत्यस्तौ.
२ घ. झ. “ च प्रवृत्तानि ” नास्ति ; ट. “ङ्गानि ~ सर्वं” च प्रवृत्तानि. ३ क.
ख. ठ. समेत्यार्थान्. ४ घ. “सौष्ठवायुक्तस्य” ; झ. “सौष्ठवयुक्तस्य” ; ट. २५
“सौष्ठवायुक्तस्य” वयु” ; ठ. सौष्ठवायुक्तस्य. ५ च. याज्ञे कर्मणि. ६ ग.
ज. व्यवस्थापरिज्ञाने.

श० अथवा श० व्या० अथवा

शत० वा०

श्वेता० उप०

सत्या० श्री० अथवा हिर०

श्री० अथवा हि० श्री० सा० सं०

} शतपथब्रह्मणम्

श्वेताश्विनोपनिषत्

हिरण्यकेशि तसूत्रम्

सामसंहिता



ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ।

दुर्गाचार्यकृतटीकासमेतं

निरुक्तम् ।

तत्र पूर्वपट्टम् ।

अथ प्रथमोऽध्यायः ।

“ॐ समाम्नायः समाम्नातः । स व्याख्यातव्यः” । अथ किमर्थं वेदो

वेदवेदाङ्गप्रयोजनं वेदाङ्गानि च प्रवृत्तानि । सर्वकामप्राप्त्यादिर्मोक्षान्तः
पुरुषार्थो वक्तव्य इति वेदः प्रवृत्तः । तत्पारिज्ञानाय

वेदाङ्गानि प्रवृत्तानि । तानि पुनरमूनि प्रतिनियतार्थविषयवृत्त्या वेदमास्क-

शिक्षा

न्दन्ति । तद्यथा । शिक्षा तावत् “ आत्मा बुद्ध्या
सैमर्थ्यानि ” (पा० शि० ६) इत्येवमादिना

क्रमेण स्वरव्यञ्जनाभिष्यक्तिलक्षणं पूर्वाह्नमध्यंदिनापराह्णेषु यथाध्येयमधी-

तस्य च स्वरसौष्टवयुक्तस्य यज्ञकर्मणि प्रयोग इत्येवमर्थ्यजातं निरुवाच ।

तथा ह्यधीतः प्रयुज्यमानश्चापूर्वाह्णमावाय नान्यथेत्येवमर्थवत्ता शिक्षायाः ।

एवं ह्याह । “ मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थ-

माह । स बाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ”

(पा० शि० ५२) इति । वेदाध्ययनानुपपन्नतथेतिहासपुराणशास्त्राणां

लौकिकानां ग्रन्थविस्तररचनानामतएवाध्ययनपारिज्ञानम् ।

शिक्षाधिगताध्ययनविधेर्वेदस्याक्षरकोशपादव्यवस्थालक्षणपारिज्ञाने छन्दो-

१ क. ख. ग. ज. घ. ट. श्रीमणेशायनमः । आदितः पाणिनीयं ॥ (ग. च)

शिक्षा ज्योतिस्तत (ग. ज्योतिः कल्पः) इउन्द्रः । पञ्चध्यायी निषण्ठोश्च २०

निरुक्तमुपरि स्थितम् ॥ १ ॥ प्रगम्य तत्पदस्यामि रुद्रायामिततेजसे । स मे दिशतु

सुग्रीतो वाग्धियोः शिष्टसंगतिम् ॥ २ ॥ समाम्नाः, च. पुस्तके इदं श्लोकद्वयं

पञ्चस्योपस्थितभागे लिखितं क्षेपकमिव भाति; ठ. पुस्तके इमौ श्लोकौ व्यत्यस्तौ.

२ घ. क्ष. ‘ च प्रवृत्तानि ’ नास्ति; ट. ‘ङ्गानि - सर्वं’ च प्रवृत्तानि. ३ क.

ख. ठ. सप्तैवार्थान्. ४ घ. ‘सौष्टवयुक्तस्य’; क्ष. ‘सौष्टवयुक्तस्य’; ट. २५

‘सौष्टवयुक्तस्य’ वयु; ठ. सौष्टवयुक्तस्य. ५ च. याज्ञे कर्मणि. ६ ग.

ज. व्यवस्थापारिज्ञाने.

विचित्रादियते । इयताक्षरकोशेनेयद्भिः पादैर्गायत्रीयद्भिस्त्रिष्टुभिति । न
 छन्दः द्यविज्ञातच्छन्दसा प्रयुज्यमानो मन्त्रः कर्मण्यर्थुकः स्यात् ।

एवं ह्यह । “ यो ह वा अविदितापेयच्छन्दोदैवतब्राह्म-
 णेन मध्येण याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्ते वा पैयति
 प्र वा मीयते पापीयान्भवति यातयामान्यस्य च्छन्दांसि भवन्ति ”

(आपेयब्राह्मणम्) इति । अतोऽनुपङ्गतो वक्त्रादिलक्षणपरिज्ञानं लोकेऽत्र
 लौकिकमिति ह्यह ।

सम्यगधीतस्य परिज्ञातच्छन्दसोऽमुष्मिन्कर्मणि विनियोग इति कल्प

कल्पः

आद्रियते । तद्यथा । इमे त्वेति छिनत्ति । ऊर्जे
 त्वेत्वनुमार्ष्टीति । न हि कल्पानभिज्ञः प्रयोगान्विजानी-

मादिति ।

ज्योतिषं

श्रुतिचोदितकर्माङ्गभूतकालपरिज्ञानाय ज्योतिषम् ।
 अनुपङ्गतधातोऽपि प्राणिनां शुभाशुभकर्मफलविपाक-

कालपरिज्ञानम् ।

व्याकरणाद्विभक्त्यादिपरिज्ञानम् । एवं ह्यह “ प्रयाजाः सविभक्तिकाः
 कर्तव्याः ” । तथा चोहं दर्शयति “ संख्यादयो न विवर्धन्ते ” इति ।

व्याकरणं

“ न च व्याकरणानभिज्ञो विभक्तीर्जानीयाद्दहितं वा
 मन्त्रान् । तत एव चानुपङ्गतो लोके लौकिकलक्षण-

परिज्ञानम् । एवं छन्दस्येवं भाषायामिति प्रविभागौ नान्तरीयकोऽनन्तरेण
 व्यवस्थितः ।

अत उक्ताप्ययनविधेरुक्तच्छन्दःप्रविभागस्योक्तविनियोगस्योपलक्षितक-

निरुक्तं

माङ्गभूतकालस्योपदर्शितलक्षणस्यैतरेङ्गवैदस्यार्थपरिज्ञा-
 नविषये निरुक्तं नामदमङ्गमारभ्यते । प्रधानं चेदमि-

तरेभ्योऽङ्गैर्मयः सर्वशास्त्रेभ्यश्चार्थपरिज्ञानाभिनिवेसात् । अर्थो हि प्रधानम् ।

तद्गुणः ग्रन्थः । चेतरेषु व्याकरणादिषु चिन्त्यते । कल्पे स्वस्वपि
 विनियोगश्चिन्त्यते स च पुनरर्थभिधानवशेन मन्त्राणाम् । यो यमर्थम-
 भिधानेन संस्कर्तुं समर्थो मन्त्रः स तत्र विनियुज्यते । तदुक्तं “ अर्था-

१ क. स. ण्याद्वैकः; ग. घ. स. ट. ठ. “ ण्याद्वैकः; ज. ण्याद्वैकः. २ ग.
 ज. प्राणा. ३ घ. पयने; च. पयनि प्रमोयने; ट. गर्तं वा पयने य वा मीयते.
 ४ गर्ते वा पयनि प्रमोयने वा पाठान्तरं; ठ. पात्यते प्रमीयते वा. ५ ट.
 “ पङ्क्तोऽनुपङ्गमादि. ” ५ ग. ज. “ रणायानभि. ”

भिधानसंयोगान्मन्त्रेषु शेषभावः स्यात् । [जै० सू० ९—१—
३६] इति । न च निरुक्ताद्वेत्तेऽन्यदङ्गमन्यद्वा बाह्यं शास्त्र-
मस्ति तात्पर्येण यदशेषांशब्दानिर्नूयात् । यदपि च कचिक्कचि-
दन्यशास्त्रे शब्दनिर्वचनमत एव तदित्युपलक्ष्यम् । यथा शब्दलक्षणप-
रिज्ञानं सर्वशास्त्रेषु व्याकरणादेवं शब्दार्थनिर्वचनपरिज्ञानं निरुक्तात् ।
वस्तुमात्रमेव हीतरेषु शास्त्रेषु स्वाभिमतबुद्धिविषयमेव किंचिच्चिन्त्यते ।
ब्राह्मणमपि च विच्यर्थवादरूपमशेषं मन्त्रार्थशेषभूतमेव । मन्त्रब्राह्मणार्थ-
परिज्ञानबद्धध्यात्माधिदेवाधिभूतपरिज्ञानद्वारेण धर्मार्थकाममोक्षाख्याऽ-
खिलपुरुषार्थः । न चानिरुक्तो मन्त्रार्थो व्याख्यातव्य इति । तस्मादर्थ-
परिज्ञानाभिनिवेशादिदमेव प्रधानमित्युपपन्नम् ।

अथास्यैवमखिलपुरुषार्थोपकारवृत्तिसमर्थस्य संग्रहः । तद्यथा । नामा-
ख्यातोपसर्गनिपातलक्षणम् । भावविकारलक्षणम् ।
निरुक्तविषयसंग्रहः नामान्याख्यातजानि न सर्वाणि च यथोपन्यस्य
पक्षप्रतिपक्षतो विचार्यावधारणं सर्वाण्याख्यात-
जानि कानिचिदेवानेकधातुजान्यपीति । मन्त्राणामर्थवत्त्वानर्थवत्त्वे विचार्य
शास्त्रारम्भप्रयोजनद्वारेणार्थवत्तावधारणम् । पदविभागपरिज्ञानप्रतिज्ञावचो-
धावलम्बित्वप्रदर्शनाय । आदिमध्यान्तानेकदैवतलक्षणसंकेतेषु मन्त्रेषु याज्ञिकी-
परिज्ञानद्वारेण देवतापरिज्ञानप्रतिज्ञा । अर्थज्ञप्रशंसा । अनर्थविधारणम् ।
वेदवेदाङ्गब्यूहः । सप्रयोजननिबन्धुसमाम्नायविरचनं प्रकरणत्रयविभागेन ।
नैवण्टुकप्रधानदेवताभिधानप्रविभागलक्षणम् । निर्वचनलक्षणद्वारेण शब्दवृ-
त्तिविषयोपदेशोऽर्थप्राधान्यात् । लोपोपधाविकारवर्णलोपविपर्ययोपदेशेन
सामर्थ्योपप्रदर्शनायादिमध्यान्तलोपोपधाविकारवर्णलोपादिवर्णलोपाद्यन्तविपर्य-
याद्यन्तवर्णव्यापत्तिवर्णोपजनोदाहरणचिन्ता । अन्तस्थान्तर्धातुनिमित्तेन
संप्रसार्यासंप्रसार्योभयप्रकृतिधातुनिर्वचनोपदेशः । भाषिकप्रयोवृत्तिम्यो नैग-
मशब्दार्थप्रसिद्धिः । नैगमप्रायोवृत्तिम्यो भाषिकशब्दार्थप्रसिद्धिः । देश-

१०

१५

२०

२५

३०

३

१ घ. झ. ट. अशेषात् . २ घ. झ. ट. लक्षणया परिज्ञानं . ३ क. ख.
अशेषमन्त्रा; ग. ज. घ. यमन्त्रार्थे शेष . ४ घ. झ. ट. ठ. कारकवृत्ति .
५ ग. च. ज. ख्यातजातानि . ६ क. ख. ग. ज. प्रतिज्ञावचोधावलम्बित्वप्रद; १०
घ. झ. ठ. प्रतिज्ञा तदवचोधावलम्बित्वप्रद; ट. प्रतिज्ञा तदवचोधावि(व)
लम्बित्वप्रद . ७ ठ. याज्ञिकोप . ८ ग. ज. शशंसा . ९ क. ख. अनर्थभाव;
च. ज. अनर्थावर्थसा; ठ. अनर्थज्ञावधीरणं . १० ग. ज. निबन्ध .

व्यवस्थया शब्दस्तदनुपदेशः । तद्वितसमासनामनिर्वचनलक्षणम् ।
 ५ शिष्यलक्षणम् । विशेषव्याख्याया तत्त्वपर्यायभेदसंख्यासंदिग्धोदाहरणनिर्व-
 चनव्यवस्थया नामाख्यातोपसर्गनिपातानां विभागेन नैघण्टुकप्रकरणानुक्र-
 मणम् । अनेकार्थानवगतसंस्कारानुक्रमणम् । परोक्षकृतप्रत्यक्षकृताध्या-
 १० मिकमन्त्रलक्षणम् । स्तुत्याशीःशपथाभिशापाचिख्यासापरिदेवनानिन्दाप्र-
 शंसादिभिर्मन्त्राभिव्यक्तिहेतूपदेशो निदानपरिज्ञानैख्यापनाय । अनादिष्टदे-
 वतोपपरीक्षणायाध्यासोपदेशप्रकृतिभूमत्वम् । इतरेतरजन्मत्वम् । स्थानत्रयभे-
 दशस्तिंसृणामेकैकस्या महाभाग्यकृतोऽनेकनामधेयप्रतिलम्भः । पृथगभि-
 १५ धानं स्तुतिसंबन्धाद्वा । देवतानामाकारचिन्तनभक्तिसाहचर्यसंस्तवकर्म-
 सूक्तभाक्त्वहविर्भोक्त्वव्यञ्जनभाक्त्वानि । पृथिव्यन्तरिक्षयुस्थानदेवतानामभि-
 धेयाभिधानव्युत्पत्तिप्राधान्यस्तुत्युदाहरणं तन्निर्वचनाविचारोपपत्त्यवधारणा-
 नुक्रमेण व्याख्याय दैवतप्रकरणनिर्णयः । विद्यापारप्राप्सुपायोपदेशो
 मन्त्रार्थनिर्वचनद्वारेण । देवताभिधाननिर्वचनफलं देवताताद्वाव्यमित्येष
 समास्तौ निरुक्तशास्त्रचिन्ताविषयः ।

२० तस्यैषा गवाद्या देवपत्न्यन्ता पञ्चाध्यायी सूत्रसंग्रहः । सा च पुनरियं
 साक्षात्कृतधर्मस्यो महर्षिभ्य उपदेशेन मन्त्रार्थमुपश्रुत्य
 निघण्टुः श्रुतार्थिभिरवरशक्तिदौर्बल्यमवेक्ष्य तदनुजिघृक्षया वा-
 क्यार्थसामर्थ्यादभिधेयानुष्मीयोज्ञाय मन्त्रार्थावबोधाय
 छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नात् । सैषा छन्दोव्यवभूता छन्दो-
 २५ धर्मिण्येव यथा यूथार्थस्तो हि गौर्गोधर्म ।

ॐ समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्यातव्यस्तमिमं
 समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते । निघण्टवः कस्मान्निगमा ।
 इमे भवन्ति । छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नातास्ते
 निगन्तव एव सन्तो निगमनान्निघण्टव उच्यन्ते । इत्थी-

१ प. क्ष. ट. "विशेषणव्या". २ ग. ज. "भिव्यक्ते". ३ क. ख. घ.

क्ष. ट. ठ. "ज्ञानव्याख्यापनाय". ४ ग. ज. ट. तिसृणा. ५ ग. च. ज.

महाभाग्य. ६ ग. च. ज. नामप्रति. ७ क. ख. ग. ज. घ. क्ष. धानं

२० तूत्पत्तिर्बन्धः; ट. "धानं तूत्पत्तिर्बन्धः" स्तुति. ८ क. ख. घ. क्ष. ट. ठ.

"न्तनम् । भक्ति". ९ ग. ज. "न्यस्तुतीत्युदा". १० क. ख. ज. "नुष्मीय

मन्त्रा". ११ क. ख. "व्रस्ता गी"; घ. "व्रस्ता हि"; ट. "व्रस्ता हि" स्तो; ठ.

पवित्रस्तो हि.

पमन्यवोऽपि बाहननादेव स्युः, समाहता भवन्ति, यद्वा
 समाहता भवन्ति । तद्यान्येतानि, चत्वारि पदजातानि
 नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च तानीमानि भवन्ति । तत्रै-
 तन्नामाख्यातयोर्लक्षणं प्रदिशन्ति, भावप्रधानमाख्यातं,
 सत्त्वप्रधानानि नामानि । तद्यत्रोभे भावप्रधाने भवतः
 पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे व्रजति पचतीत्युपक्रमप्रभृ- १०
 त्यपवर्गपर्यन्तं । भूतं सत्त्वभूतं सत्त्वनामभिर्ब्रज्या पक्तिरित्यद्
 इति सत्त्वानामुपदेशो, गौरवः पुरुषो हस्तीति । भवतीति
 भावस्यास्ते ज्ञेते व्रजति तिष्ठतीति । न्द्रियनित्यं वचनमौ-
दुम्बरायणः ॥ १ ॥

इयं च तस्या द्वादशाध्यायी भाष्यविस्तरः । तस्या इदमादिवाक्यं १५
 “समाम्नायः समाम्नातः” इति । गवादिदेवपत्न्यन्तः शब्दसमुदाय उच्यते ।
 (समाङ्पूर्वस्य न्तरेभ्यासार्थस्य कर्मणि कारके समाम्नायः । समाम्नस्यते
 भर्त्यादयाऽयमिति समाम्नायः । स च ऋषिभिर्मन्त्रार्थपरिज्ञानायोदाहरणभूतः
 पञ्चाध्यायीशास्त्रसंग्रहभावेनैकस्मिन्नाम्नाये ग्रन्थीकृत इत्यर्थः । तस्य
 किमिति । स व्याख्यातव्यः । स च योऽसमाम्नातश्छन्दस्वेवावस्थितोऽ- २०
 गवादिरेन्यैर्वा निरुक्तैर्यः समाम्नातोऽयं चैतस्मिन्निरुक्ते स एव उभयलक्ष-
 णोऽपि व्याख्यातव्यः । आह । कथमेतद्भ्रम्यतेऽसमाम्नातव्याख्यानमप्यत्रा-
 भिमैतमिति । समाम्नानार्हाणां वा किमर्थमसमाम्नानमिति । उच्यते ।
 निर्वचनलक्षणोपदेशात् । निर्वचनप्रसक्तानां च मृगकर्णदक्षिणालक्ष्मीनि-
 षण्डुभर्द्वाः शब्दप्रभृतीनामेवमाद्यानां निर्वचनोपदेशाज्जायतेऽसमाम्नातव्या- २५
 ख्यानमप्यत्राभिमतमिति । यत्पुनरेतदुक्तं समाम्नानार्हाणां वा किमर्थ-
 मसमाम्नानमिति । अत्र ब्रूमः । न हि समाम्नानार्हाणामन्तोऽस्ति ।
 तेषां सर्वेषां समाम्नाने शास्त्रान्त एव न स्यात् । अतथाप्ययनश्रवण-
 ज्ञानशक्तिहानदोषः प्रसज्येत । शक्यश्चेतावल्लक्षणोपदेशोदाहरणभूतनिषण्डुश-

१ क. ख. छ. त. द. न. ‘देशः ॥ १ ॥ भौ’ २ क. ख. छ. त. द. न.
 ‘१’ नास्ति, ३ क. ख. घ. (झ. पत्रं गलितं) ट. ठ. ‘दायः समाम्नाय
 उच्यते. ४ घ. ‘सः’ नास्ति. ५ घ. ‘भिषेत’; ट. ‘भिषेत’ म. ६ घ. (झ. २०
 पत्रं गलितं) ट. ठ. भद्रांघ्रः. ७ ग. ज. ‘चनपदेशात्’; च. ‘चनपदर्शनात्’;
 .ट. ‘चनोपदेशा’ न प्रदर्शना. ८ घ. ट. ठ. (झ. पत्रं गलितं) ‘शक्तिहानदोषः.

- ५ वृत्तमुदायेनाधीतवेदेन मेधाविना तपसिना लक्षणविनियोगार्पच्छन्दो-
दैवतनिदानविदाभिमुक्तेनागमवता मन्त्रार्थोऽभ्युहितुमित्येतावानेव निघण्टु-
शब्दसमुदायः समाम्नातः । तस्मादुपपन्नसमाम्नातव्याख्यानमप्यत्राभि-
मतमित्यसमाम्नातं सर्वेषां शास्त्रातिगौरवभयादिति । व्याख्यातव्यो
१० विभज्येमान्यत्र नामानीमान्याख्यातान्युपसर्गा इमे निपाता इम इदं
सामान्यलक्षणमिदं विशेषलक्षणमिमान्येकार्थानीमान्यनेकार्थानीमान्यनवगत-
संस्काराणीदमभिधानमिदमभिधेयमिदमभिधानस्य निर्वचनमित्येवंविधया
मर्यादया परिपाठ्या यथासमाम्नात व्याख्यातव्यो निर्वक्तव्य इत्यर्थः ।

- १५ “तमिमं समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते” । तं च योऽसमाम्नातश्छन्दस्ये-
वावस्थितोऽगवादिरेत्यैर्वो निरुक्तैः समाम्नातस्तमिमं
निघण्टुशब्द- वाच्यत्पत्तिः
च निघण्टव इत्याचक्षतेऽन्येऽप्याचार्या इति वाक्यशेषः ।
निरुद्धा हीयमेतस्मिच्छब्दसमुदाये संज्ञेत्यभिप्रायः ।

- २० “ निघण्टवः कस्मात् ” इति निघण्टुशब्दव्युत्पत्तिपादयिषया प्रश्नः ।
निर्विवक्षयेदमाह “ निगमा इमे भवन्ति ” । येष्वभिधाननिर्वचनप्रारम्भ-
केष्वर्चाचार्यैः कस्माच्छब्दमुत्तरत्र न कुर्यात्तेष्वपि व्याख्याकारैरेऽयं समुत्पाद्यः ।
तथा हि व्याख्यासाकल्यं भवति । “निगमा इमे भवन्ति” । निक्षयेना-
धिकं वा निष्कृष्य निगूढार्था एते परिज्ञाताः सन्तो मन्त्रार्थान् गमयन्ति
ज्ञापयन्ति । ततो निगमसंज्ञो इमे भवन्ति ।

- २५ आह । कः पुनरेतेषु विदोषे येनैत एव ज्ञापयन्तीति । उच्यते ।
यस्मादेते “ छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः ” । छन्दांसि
मन्त्रास्तेभ्य उपलक्षितसामर्थ्याः समाहृत्य ग्रन्थीकृता इत्यर्थः । आह ।
कस्मात्पुनरेतावन्त एव ग्रन्थीकृता इति । उच्यते । इतो यस्मादेतैरेव

१. १ च. ‘अपि’ न विद्यते. २ घ. (स. पत्रं गलितं) ट. ठ. ‘मात्रान् च सर्वे’. ३ च. ‘मन्त्राव्याख्यातव्यः’. ४ ग. ज. ‘वा’ नास्ति. ५ क. घ. (स. पत्रं गलितं) ‘यार्थोऽयं यास्को निरुक्तकारः कस्मा’; ट. ‘वार्थः । अयं यास्को निरुक्तकारः । कस्मा’.
- ६ क. घ. (स. पत्रं गलितं) ट. काले कस्मादिति शब्दः स’; ट. ‘काले कस्मादिति शब्दः स’.
- ७ च. निरुद्धार्था’.
- ८ क. ख. ग. ज. ठ. ‘ज्ञापयन्ति’ नास्ति. ९ क. ख. ‘संज्ञा निघण्टव एव इमे; घ. (स. पत्रं गलितं) ‘संज्ञा निघण्टव इमे; ट. ‘संज्ञा निघण्टव इमे’.
- १० घ. उच्यते । छन्दो; (स. पत्रं गलितं); ट. उच्यते । ‘छन्दो’ यस्मादेते; घ. उच्यते । कस्मा’.
- ११ ठ. समाहृत्येति ‘छन्दांसि’.

छन्दस्यवस्थितैरभिनिविष्टधियामपि मेधाविनां तपस्विनां लक्षणविनियोगा-
पञ्चन्दोदैवतनिदानविदामपि सतां मन्त्रार्थपरिज्ञानोद्यममङ्गः क्रियते दुष्प- ५
रिज्ञानत्वात्तेषाम् । एतेषु परिज्ञातेष्वप्रतिबन्धेन शक्यते मन्त्रार्थः परि-
ज्ञातुमित्यत उच्यते त एव ज्ञापका भवन्तीति । अतश्चैत एवोर्जातसामर्थ्याः
सैमाहृत्य समाहृत्य समाम्नाता इति । समाम्नानमात्रमेव दर्शयति ।
प्रकरणगताश्च नित्या एवैत इति गम्यते ।

“ते निगन्तव एव सन्तो निगमनान्निघण्टव उच्यन्ते इत्यौपमन्यवः” । १०
उदाहर्तासमाम्नाता निर्वचनप्रसङ्गतो य निरुच्यन्ते य एते समाम्नाता गवा-
दयस्त एते मन्त्रार्थनिगमयितृत्वादुभयेऽपि निगन्तवः
निगमनात् सन्तो निगमनाद्धेतोर्निघण्टव उच्यन्ते इत्यौपमन्यवः ।
इत्येवमर्थनिगमयितृत्वान्निगन्तवः एते संपन्नाः सन्तोऽति-
परोक्षवृत्तिना शब्देन गकारस्थाने घकारं कृत्वा तकारस्थाने च टकारं १५
कृत्वा । घर्णव्यापरेयादिलक्षणं “अधाप्यादिविपर्ययः” (निर० २-
१) इत्येवमदि । तदेतत्परोक्षातिपरोक्षवृत्तिषु यथासंभवं द्रष्टव्यम् । त्रिविधा
हि शब्दव्यवस्था प्रत्यक्षवृत्तयः परोक्षवृत्तयोऽतिपरोक्षवृत्तयश्च । तत्रोक्त-
क्रियाः प्रत्यक्षवृत्तयः । अन्तर्लीनक्रियाः परोक्षवृत्तयः । अतिपरोक्षवृत्तिषु २०
शब्देष्वेव निर्वचनाभ्युपायः । तस्मात्परोक्षवृत्तितामापाद्य प्रत्यक्षवृत्तिना
शब्देन निर्वक्तव्याः । तद्यथा । निघण्टव इत्यतिपरोक्षवृत्तिः । निगन्तव
इति परोक्षवृत्तिः । निगमयितार इति प्रत्यक्षवृत्तिः । यस्मान्निगमयितार एते
निगन्तव इति निघण्टव उच्यन्ते । उक्तं च । “वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च २५
द्वौ चापरो वर्णविकारनाशौ । धातोस्तदर्थान्तिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं
निरुक्तम्” ॥ वक्ष्यति चायमपि वर्णविपर्ययवर्णव्यापत्तिलक्षणम् (निर०
२ । १) । त एते निगन्तवः सन्तो निघण्टव उच्यन्ते । इत्येवमतिपरो-
क्षवृत्तयो निर्वक्तव्याः । प्रायेण चोणादिषु परोक्षवृत्तयः शब्दाश्चिन्यन्ते ।

१ क. ख. घ. (स. पत्रं गलितं) ट. ठ. “ज्ञानाद्योद्यममङ्गः. २ घ. ट.
ठ. दुः परि”. ३ क. ख. ग. ज. “समाहृत्य” पदं सहृदेव. ४ ग. ज. समाम्नातमा”.
५ ठ. एवेति उदा”. ६ क. ख. “हनाः स; च. “हतासं ताः. ७ च. “भाता” २०
ये. ८ क. ख. ग. ज. घ. ट. ठ. “धे” नास्ति; च. “हृतो तौ नि” ये. ९ घ. स.
अत्रो; ट. अत्रो” त. १० च. अन्तर्लीनक्रियाः; ट. अन्तर्लीनं लीनं. ११ च. अवि-
द्यमानक्रिया अतिपरोक्षवृत्तयः । अतिप. १२ घ. स. ट. ठ. इत्युच्यन्ते.

- तत्र तेषां लक्षणापेक्षितव्यम् । येषामपि लक्षणं नास्ति तेषामपि तत्र
 ५ कल्प्यम् । अपरिसमाप्ता ह्युणादय इति लक्षणविदः प्रतिजानते । सर्वथाऽपि
 लक्षणासंभवे पृषोदरादिपाठसिद्धेरेव द्रष्टव्याः । तत्र हि सर्वे यथाध्ययनमेव
 शब्दाः साध्यांसो भवन्त्यभिव्याहारानभिधाताप्यति हि लक्षणविदो
 मन्यन्ते । इत्यापमन्यव एवमौपमन्यव आचार्यो मन्यत इति वाक्यशेषः ।
 १० उपरतमन्युरुपमन्युस्तस्यापत्यमौपमन्यवः । कर्तिप्रयनार्थमौपमन्यवग्रहणम् ।

“अपि बाहननादेव स्युः समाहता भवन्ति” । अपि वैवं यथोक्तम् ।

अपि वैवमन्यथा निघण्टवः स्युः । कथमिति । आहनना-
 आहननात् देव । न निगमनादित्यभिप्रायः । विद्यमानमपि हि निगम-
 नमविधिक्षितमेतस्मिन्पक्षे । अनेकक्रियायोगेऽपि हि सति

- १५ काचिदेव क्रियामद्गीकृत्य नामवेयप्रतिलम्भो भवति । तदुत्तरत्र वक्ष्यामः
 (निरु० १—१४) । आह किमेतेष्वहतमिति । उच्यते । समाहता
 भवन्ति । समः स्थाने नीत्येव नियुक्तः । दर्शयिष्यति चायमुपसर्गव्यत्ययं
 “निरित्येव समित्येतस्य स्थाने” (निरु० १२—७) इति ।
 आङ्घ्रिद्यमान एवाध्याहृतो मर्यादार्थप्रकाशनाय हन्तेः पाठाथे वर्तमानस्या-
 २० नेकार्थत्वाद्वातूनाम् । वर्णव्यापत्तयैवैरादयद्वकारस्य स्थाने घकारस्तकारस्य
 टकारः । अथ कौऽर्थः । एतस्मिन्पञ्चाध्यायीसंग्रहे मर्यादया पठिता ह्येते
 भवन्ति तस्मात्समाहताः । समाहन्त्य एते सन्त उपसर्गव्यत्ययोपसर्गा-
 ध्याहारवर्णव्यापत्तिभिर्निघण्टव इत्युच्यन्ते । प्रसिद्धश्च पाठाथे हन्तेः
 प्रयोगः । एवं हि वक्तारो भवन्ति ब्राह्मण इदमाहतं सूत्र इदमाहतमिति ।
 अर्थप्राधान्यादर्थनिर्वचनवशेन शब्दविपरिणामोऽयं प्रदर्शितः ।

- २५ “यद्वा समाहता भवन्ति” । पूर्ववदेवोपसर्गव्यत्यये उपसर्गाध्याहारोऽत्रापि ।
 धातुन्मु हरतिरत्र । यद्यस्मादित्यर्थः । यस्माद्विन्ते समाहता
 समाहरणात् भवन्ति छन्दोम्यस्तस्मात्समाहरणक्रियायोगात्समाहर्तव्य एते
 समाहताः सन्तः पूर्ववदेवोपसर्गव्यत्ययादिक्रमेण निघण्टव

१ प. झ. अत्र; ट. अत्र^३त^३. २ ग. ज. परिमाप्ताः; च. असमाप्ताः. ३ क.
 ख. घ. झ. ट. ठ. सिद्धिरेव द्रष्टव्या । तत्र. ४ ज. यथा विभक्त्युत्पत्तये योग्यः
 शास्त्रीयः शब्द इष्यते । रुटयोगिकतन्त्रिभ्यः प्रभेदैः ६ पुनस्त्रिधा । अचक्रयोगनिर्यो-
 १० गयोगाभिलिखिषामिभः । ते च वृक्षादिभूषादिगणहपाया यथाकनम् । शुद्धतन्मूर्ता
 भिन्नरभेदैर्योगिकसिधा । ते च आन्तिरुद्धत्कान्तिके । ध्ययन^०. ५ ग. ज.
 ‘एवमौप’ नास्ति. ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. चैवं. ७ क. ख. ग. ज.
 ठ. ‘येव’^०. ८ ग. ज. एवाहृतो^०. ९ घ. झ. ट. ‘पन्थाऽऽवशा’^०. १० ग. ज.
 समाहन्त एव एते^०. ११ ग. ज. ‘निर्वचनेन वशेन, १२ च. व्यत्ययोपस’.

इत्युच्यन्ते । एतस्मिन्नपि निगमनसमाहननक्रिये निघण्टुषु विद्यमाने अप्य-
विवक्षिते कृत्वा समाहरणक्रियायोगहेतुको नामधेयप्रतिलम्भ उक्तः ।
एवमेव निघण्टुशब्दो गमेर्वैकोपसर्गाद्वन्तिहरतिभ्यां वा ह्युपसर्गाभ्यां
निरुक्तः ।

आह किमये पुनरतिमहान्यत्न एकस्मिन्नभिधानेऽनेकवास्वर्थनिर्वचनकृत
इति । अन्यते । इह तावत्सर्वाण्याख्यातजानि
च्युत्पत्तियत्नस्य हेतुः नामानीति सिद्धान्तः । सत्याख्यातजत्वेऽभिधेयस्था
या क्रिया लक्ष्यते तदभिधानसमर्थपरोक्षवृत्तौ
यां तदभिधायिनि रूढिशब्दे वा धातुरुपेत्यते । स च पुनः स्वरवर्ण-
क्रियासामान्येन । तत्रैवं सति रूढिशब्दे यावन्तो धातवः स्वं स्वं लिङ्गं
रूढिगतं दर्शयन्ति तावतः संगृह्य स रूढिशब्दो निर्वाच्यः । किं
कारणम् । विशेषलक्षणव्यवस्थामावात् । न हि तत्र विशेषलक्षणव्यवस्था
काचिदस्ति ययैकोऽवतिष्ठेताभ्ये स्वावर्तेरन् । अपि चोक्तं वार्तिककारेण—
“यावतामेव धातूनां लिङ्गं रूढिगतं भवेत् । अर्थश्चाप्यभिधेयस्थस्तावद्वि-
सृणुष्विग्रहः” (बृहदेवता २ । १०४) इति ॥ रूढिशब्दगतानां च
धातूनां रूढिशब्दवाच्येऽर्थे क्रियायोगे सत्येतत् । अमात्रे तु क्रियाया
रूढिशब्दे वर्तमानमपि धातुलिङ्गमर्कचित्करम् । स एव क्रियाभावस्तदाश्रयनि-
र्वचनव्यावर्तको भवति । तौ एतास्तिष्ठः क्रिया निगमनसमाहननसमा-
हरणख्या निघण्टुषु विद्यन्ते । तदभिधायिन्यपि च रूढिशब्दे निरुच्यमाने
गमिर्हन्तिहरतिधाहपूर्विक्रिया संनिपत्य वदन्ति ममानुरूपं मयैतं निर्ब्रूहि
मयैतं निर्ब्रूहीति । गमिस्तावदत्र गकारमात्मीयं व्यापन्नं मन्यते घकारम् ।
तथा हन्तिहरतौ हकारं व्यापन्नं घकारं मन्येते । तस्मादयमनेकधात्वर्थनि-
घण्टुशब्दो निरुक्त एवेजातोऽप्याभिधाननिर्वचनप्रदर्शनाय ।

१ घ. स. ट. “अपि गम.” २ ग. ज. मानेऽप्यवि.” ३ ग. ज. “निर्वचने
कृत.” ४ घ. झ. ट. ठ. “या” नास्ति. ५ क. ख. ग. ज. समर्थे परोक्ष.” १५
६ ग. “वृत्तौ ताम्बुभिवा.” ७ क. ख. ग. ज. “वा” नास्ति.” ८ क. ख. झ.
ठ. स्वलिङ्गः; ग. ज. घ. ट. “स्वं” सङ्क्षेप. ९ घ. ठ. मयैको.” १० क. ख.
घ. स. सति । एतद्भावे; ट. सति । एतद्भावे” त्येतन् । अ. ११ ग. ज. “ताः .
न विद्यते. १२ च. “समाहरणानि निव.” १३ ठ. “मयैतं निर्ब्रूहि” सङ्क्षेप. १०

“ तथान्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च

चत्वारि तानामानि भवन्ति ” । इहैतावदेवोक्तं समाम्नायो
निघण्टु इति । सम.स्रायशब्दपर्यायप्रसक्तस्य च
पदजातानि निघण्टुशब्दस्य व्युत्पत्तिरुक्ता न तु निघण्टुशब्दस्यार्थ-

५ तत्त्वमवधारितम् । तदवधार्यत इति पर्युपयुक्तस्तच्छब्दः । किं
पुनस्तदिति । यान्येतानि चत्वारि पदजातानि या एताश्चतस्रः पदजातयः ।
क । लोके वेदे च । कृतमानि तानि । नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च ।
किं तेषामिति । इमानि चत्वार्यपि पदजातानि सन्त्येतस्मिञ्शास्त्रे ।
किमिति । निघण्टुसंज्ञानि भवन्ति । नित्यमेवानुविधीयमानानि भवन्तीत्याह ।

१० न कदाचिदपि न भवन्ति नित्यं भवन्त्येवेत्यभिप्रायः । चत्वारि
पदजातानि । चैतुर्ग्रहणमवधारणार्थम् । नैकं पदजातं यथाऽर्थः पदमै-
न्द्राणामिति । नापि द्वे यथा सुवन्तं तिङन्तं च । नापि त्रीणि निपातो-
पसर्गवैकतः कृत्या । नापि पञ्च पङ्का यथा गतिकर्मप्रवचनीयभेदेनेति ।
पदजातानीति पदगणा इत्यर्थः । जातशब्दो हि गणे प्रसिद्धः । तद्यथा

१५ गोजातमश्वजातमिति । तद्वदिहापि । तत्र नामपदगणः स्त्रीपुंनपुंसकादि-
हप्रविभागेन । तथाख्यातपदगणः कर्तृवचनभाववचनकर्मवचनप्रविभागेन ।
तथोपसर्गपदगण आडादिः । तथा निपातपदगण इवादिः । एवमभिप्रेत्योक्तं

चत्वारि पदजातानीति । अत्र नामाख्यातयोः
तेषां पौर्वापर्यं पूर्वमभिधानं प्राधान्यादप्राधान्यादुपसर्ग निपातानां

२० पश्चात् । उभे अपि नामाख्याते निपातो-
पसर्गनिरपेक्षे अपि सती स्वमर्थं ब्रूतो न तुपसर्गनिपात नां नामाख्यात-
निरपेक्षाणामर्थोऽस्ति । वक्ष्यति हि “ न निर्वद्धा उपसर्गा अर्थान्तराद्भूरेति
शाकटायनः ” (निरु० १ । ३) इति । वाच्येन चैते अर्थेनार्थवती
द्योलेनोपसर्गनिपाता इति वा प्राधान्यं नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका

२५ भवन्ति (निरु० १ । ३) इति । तस्मादुपपन्नं भवति प्राधान्यान्नामाख्या-
तयोः पूर्वमभिधानमप्राधान्याच्च पश्चादुपसर्गनिपातानामिति । नामाख्याते

१ क. ख. ग. ज. ‘ चत्वारि पदजातानि ’ नास्ति. २ क. ख. ग. ज. घ.

झ. ट. चत्वारितीति चतु०. ३ च. प्रवचनार्थभेदे०. ४ क. ख. ग. ज. कर्तृवचनभा-

२५ वचनकर्मवचनप्रविभागेन. ५ क. ख. ग. ज. ‘ पद ’ नास्ति.

इतीतरेतराकाङ्क्षित्वमुभयोर्नामाख्यातयोः समा-
 नामाख्याते इति सेनाभिधानम् । कथमितीतरेतराकाङ्क्षित्वमिति ।
 समासस्य प्रयोजनम् यज्ञदत्त इति हि नामशब्दस्तावदेव साकाङ्क्षो
 भवति यावत्पचति पठतीत्याख्यातशब्दैर्न निराका-
 ङ्क्षी क्रियत इति । तथा च पचतीत्याख्यातशब्दस्तावदेव साकाङ्क्षो
 भवति यावन्न यज्ञदत्तशब्दः । पचति यज्ञदत्त ओदनमितीतरेतराकाङ्क्षि-
 त्वमुभयोर्नामाख्यातयोः । समानकार्यत्वं चैतयोर्लक्ष्यते । वाच्येनार्थेनार्थ-

वत्त्वमित्यतः समस्येते नामाख्याते इति । नाम्नः
 उपसर्गनिपाता इत्य- पूर्वनिपातोऽल्पाचूतरत्वात् । नामपदवाच्यार्थाश्रय-
 स्य च क्रियोपलक्ष्यत्वाच्चाख्यातार्थस्य पश्चान्निपातः । १०

उपसर्गनिपाता इत्युभयेषामुपसर्गनिपातानां नामा-
 ख्यातयोरर्थविशेषघोतकत्वात्समानकार्यत्वमित्यतः समस्यन्ते । आख्यातस-
 हयोगित्वाद्दुपसर्गाणामाख्यातानन्तरं पाठः परिशेषाणां निपातानां पश्चा-
 दपरिमिताश्च निपाता इति ।

तत्रैतन्नामाख्यातयोर्लक्षणं प्रदिशन्ति । तत्र तस्मिँल्लोकवेदप्रसिद्धे १५
 पदचतुष्टये निघण्टुशब्देसामान्यसंज्ञोपलक्षिते ये तावन्नामाख्याते तयो-
 स्तावदेतद्वलक्षणं प्रदिशन्ति । कतमत् । यदेतद्वक्ष्यमाणमित्यभिप्रायः ।
 प्रदिशन्ति प्रविभज्येदं नाम्नां लक्षणमिदमाख्यातस्येत्येवं दिशन्त्युपदिशन्त्या-

चार्या इति वाक्यशेषः । आह लक्षणोपदेशः
 लक्षणप्रयोजनम् कस्मादनुक्रमणेनैव सिद्धत्वात् । अनुक्रमणेनैव हि २०
 यद्वक्ष्यति “ इमानि पृथिवीनामधेयान्येकविंशतिः

(२-७) हिरण्यनामान्युत्तराणि पञ्चदश (२-१०) कान्तिकर्माण उत्तरे
 धातयोऽष्टादश (३-९) गतिकर्माण उत्तरे धातयो द्वाविंशं शतम् (३-९)”
 इति । तत एव विज्ञास्याम इमानि नामानीमन्याख्यातानीति । तस्मादयम्.

१ ग. ज. ‘इति’ नास्ति. २ ग. ज. कथमितीतराका°. ३ क. ल. ग. ज. २५
 इत्याद्य ख्यात°. ४ च. ठ. शब्देन°; ट. शब्दैर्न° न्देन. ५ च. °ङ्क्षीकृत इति;
 ट. °ङ्क्षीकृत° कृ. ६ क. ख. ग. ज. ‘च’ नास्ति. ७ ट.
 काङ्क्षीभवति. ८ ग. ज. ‘पचति’ नास्ति. ९ ग. ज. वदन्ते. १० क. ख. ग.
 ज. ‘आख्यातार्थस्य’ नास्ति ११ क. ख. ग. घ. ज. झ. ठ. °शब्दसमानसंज्ञो°;
 ठ. °शब्दसमानसंज्ञो° सामान्य. १२ च. प्रतिदिशन्ति. १३ ग. ज. लक्षयति. २०

नर्थको लक्षणोपदेशः । नानर्थकः । कस्मात् । व्यापि हि लक्षणं समा-
 म्नातान्यसमाम्नातानि च व्याप्य वर्तते । यत्पुनरेतदुक्तमनुक्रमणादेव विज्ञा-
 स्याम इति । अत्र ब्रूमः । निर्देशोऽसौ न हि लक्षणम् । निर्देशश्च परि-
 छिन्नविषयः । स तर्हि किमर्थ इति । शास्त्रे रूपस्वभावोपप्रदर्शनार्थः ।

५ तस्मादसमाम्नातार्थोऽयम्वदितो लक्षणोपदेशो युक्त इत्युपपन्नम् । आह ।
 तात्पर्येणैवेदमन्तरेण समाम्नातवदसमाम्नातानि कस्मान्नोपदिश्यन्ते । अपि
 च तथा सूपदिष्टानि भवन्तीति । उच्यते । तथा ह्युपदेशगौरवं प्रसज्येत
 ग्रहणशक्तिहानं चापि । तथाचाक्तं “ ऋषयोऽय्युपदेशस्य नान्तं यान्ति
 पृथक्त्वशः । लक्षणेन तु सिद्धान्तमन्तं यान्ति विपश्चितः ” इति ॥ तस्मा-

१० दुपदेशगौरवमयाद्ग्रहणशक्तिहानदोषाच्च सामान्यैलक्षणोपदेशः क्रियत इति ।

आह । किं पुनस्तदलक्षणमिति । उच्यते । “ भावप्रधानमाख्यातं सत्त्वप्र-
 धानानि नामानि ” । नामपदवाच्यार्थाश्रयक्रियाव्य-

नामाख्यातयोर्लक्ष-
 णम्

१५ इत्यो भावः पाकरागत्यागाद्यः । स यत्र प्रधानं
 गुणभूता क्रिया तदिदं भावप्रधानम् । किं पुन-

स्तदिति । आख्यातम् । आख्यायतेऽनेन गुण-
 मायेन वर्तमानानेककारकप्रविभक्ता ईकुरमाणप्रधानद्रव्यभावाभिव्यक्त्युन्मु-

ख्यभूता क्रिया तस्याश्च प्राधान्येन वर्तमानो भावः स्वात्मलाभप्रधान इत्या-
 ख्यातम् । आह । कथं पुनर्गुणभूता त्रित्येति ।

क्रिया गुणभूता
 २० उच्यते । तदर्थत्वान् । तदर्था हि सा भावार्था ।
 भावसिद्धयर्थमात्मलाभमनुभूय कारकेषु तण्डुलादी-

पाकार्यं भावमभिनिष्पाद्यावमितप्रयोजनैर्कपद एव निरोधयति । यस्य च
 यदर्थ आत्मलाभस्तत्तद्वृणभूतं भवति । भावसिद्धयर्थश्च त्रित्याया आत्मलाभ-

स्वस्माद्वृणभूतेति गम्यते । भावसिद्धयर्थ चानु-
 मीयते क्रिया परोक्षापि सती । आह । कथं पुनः

परोक्षा त्रित्येति । उच्यते । न हि सेन्द्रियाणा-
 मन्यतमेन स्वरूपस्था सती कदाचिदपि मंनिकृष्यते । किं तर्हि तदवसाने

१ ष. “ कोपदर्शः ” २ क. ल. घ. झ. भवति; ट. भवति° प्रमज्येन. ३ क. ल.
 घ. झ. ट. ट. ह्युपदेशः. ४ क. ल. म. ज. घ. झ. समानल;° ट. समानल°

सामान्य. ५ घ. गुणभावे दर्श. ६ क. ल. ज. ठ. रक्षमाणेन प्रथा°; घ. रक्षमाणे च
 २० प्रथा°. ७ म. ज. लाभः. ८ क. ल. घ. घ. झ. ट. ट. कदेन एव°.

योऽभिनिष्पद्यते भावस्तेन लिङ्गयते । नूनमभिनिर्वृत्ता क्रिया यया भावोऽ-
यमभिनिष्पादित इति । नाभिनिर्वृत्ता चेदमविष्पद्यैव प्राक्क्रियानिर्वृत्ते-
र्नाभवदयं भाव एवं सांप्रतमपि नामविष्यत् । अस्ति चायम् । तस्मादभि-
निर्वृत्ता क्रियेत्येवमनुमीयते ।

तदेतदाख्यातं क्रियावाचकमपि सङ्गार्थत्वात्क्रियाया भावप्रधानमुच्यते । १३

इत्येवमेके मन्यन्ते । अपरे पुनर्भावप्रधानमाख्या-

भावप्रधानमाख्यातम् तमिति प्रकृत्यर्थप्रधानमिति मन्यन्ते । प्रकृत्यर्थ-

विशेषणं हि प्रत्ययार्थादय इति । भावः कर्म

क्रिया धात्वर्थ इत्यनर्थान्तरम् । स यत्र प्रधानं गुणभूतानि साधनानि

तदिदं भावप्रधानम् । किं पुनस्तत् । आख्यातम् । आख्यायन्ते छांपुं- १०

नपुंसकानि क्रियागुणभावेन वर्तमानान्यनेन क्रिया च तेषामुपरि प्राधा-

न्येन वर्तमानेत्याख्यातम् । आह । कथं पुनरत्र

क्रियायाः प्राधा- क्रियायाः प्राधान्यमिति । उच्यते । सा ह्यत्र

न्यम् शब्दवाच्याऽर्थगृहीतानि तत्साधनानां ततः प्राधा-

न्यमत्र क्रियायाः । इतश्च प्राधान्यम् । कुतः । १५

विशेषप्रत्ययाधानात् । पञ्चतीति प्रथमपुरुषैकवचनपरस्मैपदान्त आख्यात-

शब्दो वर्तमानकालकर्तृविषयो यत्किञ्चिद्विवाक्षितविशेषमेव पक्त्रादिसाध-

नमात्मन आश्रयभावेनोपलक्षयन्नेकक्रियाशक्तिमत्त्वमपि पक्त्रादौ साधने

पञ्चक्रियायोमेव विशेषप्रत्ययमादधाति नान्यासु क्रियासु नापि विशिष्टे

पक्त्रादौ साधने । यश्च यस्मिन्नर्थे विशेषेण वर्तते शब्दः स एव २०

तस्य प्रधानम् । विशेषेण च क्रियायामाख्यातशब्दो वर्तते गुणभावेन

कारकेषु । तस्माद्विशेषप्रत्ययाधानाद्भावप्रधानमाख्यातमित्युपपन्नम् । अपि

च क्रियाव्यापारविज्ञानपरतया पृष्टः किं करोति देवदत्तः क्रियाहर्त्या-

नपरतयैव प्रत्याचष्टे पञ्चतीति ।

नन्योदैनमिति पूर्वमुक्त्वा ततः पञ्चतीति ब्रवीत्यथ कथमुच्यते भावप्रधान- २५

१ क. ख. घ. झ. एके; ट. एके पुं अपरे. २ ख. वा. ३ छ. च. ज.
प्राधान्ये वर्त. ४ घ. ज. ट. ठ विशेषेण प्रत्यय. ५ घ. ज. ट. ठ. 'तस्य'
नास्ति. ६ घ. झ. ट. ठ. 'रूपान्'. ७ क. ख. ग. ज. घ. झ. ट. ठ. 'तोदन्'.
८ क. ख. ग. ज. घ. झ. ट. ठ. ब्रवीति । अयं.

माख्यातमिति । शृणु । अमूर्ता हि क्रिया निरु-
भावप्रधानमाख्यातम् पाख्या । सा हि कारकैरभिव्यज्यमाना कारक-
शरीरे वसन्ती शक्यते निर्देष्टुम् । इतरथा ह्यश-

रीरा सती सा न गृह्येत । तथाग्रहणे च सति कथमिव निर्देश्येत । तत्रैवं

सति कारकसमूहेनाभिव्यज्यमाना क्रिया यस्मिन्साधने विशिष्टमात्मन्यं
कार्यमारभते पाकाख्यं तदभिधानशब्दोपपदैव साक्षाद्ग्रहणासंभयान्नि-
र्दिश्यते । न ह्यनाश्रिता कदाचिदपि गृहीतपूर्वाकृतिरिति साक्षाद्ग्रहणासं-
भवः । तस्मादोदनकर्मिका या देवदत्तकर्तृकौदनशब्दोपपदैव निर्दि-
श्यत ओदनं पचति देवदत्त इति तत्राविवक्षितस्वार्थ ओदनशब्दः । अपि

१० च क्रियाव्यापारं पिपृच्छिष्यैव पृष्टः किं करोतीति क्रियाव्यापारमात्रमेव
प्रत्याचष्टे पचतीति । ततः किमिति पर्यनुयुक्ते शब्दान्तरेणापाकरोति देव-
दत्त ओदनमिति । तस्माच्छब्दान्तरवाच्यत्वात्साधनस्य पचतीत्यत्र क्रियैव
प्रधानमित्युपपन्नम् । यत्पुनरेतदुक्तमोदनमिति पूर्वमुक्त्वेति तत्र द्रूमः ।

स हि पर्यनुयुक्तां साधनमातां भाविनीमाशङ्कमानः पर्यनुयोगमात्मनो
१५ बुद्ध्यवस्थं कृत्वा तदपाकरणार्थमोदनमिति पूर्वं ब्रवीति । एवं तत्रापि
द्रव्यविशेषपरिज्ञानार्थं द्वितीयः पर्यनुयोगोऽनुक्तो द्रष्टव्यः । तस्मात्पचतीति
शब्दवाच्यत्वादत्र क्रियायाः शब्दान्तरवाच्यत्वात्तद्द्रव्यस्य क्रियैव प्रधानमिति ।

इतश्च भावप्रधानमाख्यातम् । एकस्मिन्वाक्ये द्वयोरख्यातयोरसमवा-

यात्पद्यति पठतीत्युभयोः प्राधान्यादितरेतरेण

२० तदेव समवायो नास्ति । न हीतरः शब्द इतरत्र गुणी
भवति । द्रव्यशब्दे च समवायात् । समवैति हि

द्रव्यशब्देनाऽऽख्यातशब्दः । पचति देवदत्त इत्युक्ते पचिक्रियागुणभूतो

लक्ष्यते देवदत्तः । तस्मादुपपन्नं भावप्रधानमाख्यातमिति । अपि चोक्तं

क्रियावाचकमाख्यातं लिङ्गतो न विशिष्यते । त्रीनत्र पुरुषान्विद्यात्कार-

२५ तस्तु विशिष्यते ॥ इति ॥

१ घ. झ. ट वसती; ठ. वसति इति झ. २ क. ख. घ. झ. ट. निर्दिष्ट.

३ क. ख. ग. ज. 'तथा' नास्ति. ४ क. ख. ग. घ. ज. कर्मका या. ५ ग.
च. ज. वशपर. ६ झ. यत्तु क. ट. यत्तु क. देवत्पुनरु. ७ ग. ज. अनुक्तोऽपि. ८ ग.

ज. वाच्यशब्दत्वात्. ९ क. ख. ग. ज. 'तच्च' नास्ति; घ. झ. ट. ठ. तच्च.
२० द्रव्य. २० क. ख. ग. ज. इतश्च न द्रव्यप्रधान. २१ क. ख. ग. ज. 'हि' नास्ति.
२२ घ. 'इति' नास्ति.

तत्पुनरेतच्चतुष्प्रभेदमाख्यातं भवति । कर्तरि भावे कर्मणि कर्मकर्तारि
चेति । पचतीति कर्तरि । भूयते पच्यत इति
चतुष्प्रभेदमा- भावकर्मणोः । पच्यते स्वयमेवेति कर्मकर्तारि । चतु-
ख्यातम्, र्व्यविश्वक्षितार्थानि द्रव्याण्यप्रधानानि क्रियैव
प्रधानम् । ताभिमिदधत्तैव लक्ष्यमाण आख्यात-
संज्ञो भवतीत्युक्तम् ।

आख्यातजज्ञानानां प्रतिज्ञाक्रमं भित्त्वा पूर्वमाख्यातलक्षणमुक्तम् । पश्चा-
न्नामलक्षणमुच्यते । किं पुनस्तत् । सत्त्वप्रधानानि
नामलक्षणम् नामानि । लिङ्गसंख्ययोरत्र सद्भाव इति सत्त्वम् ।
तथा लक्षणोपपत्तेः । तद्येषु प्रधानं गुणभूता
क्रिया नामान्येव तानि । नमन्त्याख्यातशब्दे गुणभावेन नमयन्ति वा स्वमर्थ-
माख्यातशब्दवाच्ये गुणभावेनेति नामानि । यथैव ह्याख्याते विद्यमान-
मपि द्रव्यमविवक्षितमेवमिहापि विद्यमाना क्रियाविवक्षिता द्रव्यपरत्वात्सत्त्व-
शब्दस्य । तद्वि क्रियाजनितमुत्तरकालं क्रियाशेषभूतंमभिधाय, धात्वर्थोऽसौ
व्यावर्तते ।

आह । कथं पुनर्नानि क्रिया विद्यत इति विद्यमानापि चाविवक्षितेति ।
प्रकृतिः प्रत्ययो विभक्तिरिति त्रिधा विभज्यमान-
नानि क्रियाकिम- मेतवदेवैतन्नाम । तत्र प्रकृतिर्धातुरित्येकोऽर्थः ।
धर्मविवक्षिता धातुश्च पुनः क्रियावचनः । स च नानि विद्यत
इति तदभिधेयभूतया क्रियया भवितव्यम् ।
तथावश्यं यत्रार्थस्तत्र तदभिधायकशब्दो यत्र शब्दस्तत्र तद्वाच्योऽर्थ
इति । संवद्वै हि शब्दार्थौ वाच्यवाचकत्वेन नित्यमिति । एवं तावत्क्रिया
विद्यते । तत्पुनरेतदुक्तं विद्यमाना क्रिया कथमविवक्षितेति । अत्र ब्रूमः ।
नानि यो धातुः स कृत्यत्ययोपजनितेन प्रातिपदिकेनाभिभूतक्रियाभिधान-

१ क. ख. ग. ज. 'व्यव्यवार्थानि. घ. झ. ठ. 'व्यविवक्षितानयवा- २५
र्थानि; ट. 'व्यविवक्षिताःयवार्थानि' र्थानि. २ क. ख. ग. -ज. घ. झ. ट.
'नानीति कि'. ३ प. झ. ट. ठ. नामयन्ति. ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. 'मानरि
क्रि'. ५ क. ख. ग. ज. तद्विक्रि'. ६ च. ठ. कृतार्थो; ट. धात्वर्थो' इति.
६ क. ख. वा वि'. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. त्रिधा. ८ क. ख. यथावश्यं;
घ. ट. यत्रार्थस्तत्र. ९ क. ख. 'मान.पि.

शक्तिः प्रातिपदिकान्तर्लानवृत्तिरेव स्वमर्थमुद्गावयितुमशक्नुवन्प्रातिपदिकार्थ-
मेवानुवर्तमानो द्रव्यप्रधान एव भवतीत्येवं न विवक्षिता क्रिया । सा तु
विद्यमानापि विगृह्यमाणे नाम्नि प्रातिपदिकनिबन्धनादुन्मुच्यमाना द्रव्यगतमर्थं
प्रकाशयति न प्राग्विग्रहादिति द्रव्यपरता सत्यशब्दस्य गम्यते । तथा-
५ चोक्तं “ शब्देनोच्चारितेनेह येन द्रव्यं प्रतीयते । तदक्षरविधौ युक्तं
नामेत्याहुर्मनीषिणः ” (बृहदेवता १-४२) इति । पुनश्चोक्तं
“ अष्टौ यत्र प्रयुज्यन्ते नानार्थेषु विभक्तयः । तन्नाम कवयः प्राहुर्भेदे
वचनलिङ्गयोः ” (बृ० १-४३) ॥ “ निर्देशः कर्म करणं
प्रदानमपकर्षणम् । स्वार्थैर्कोऽप्याधिकरणं विभक्त्यर्थाः प्रकीर्तिताः ”
१० इति ॥ स्त्रीपुंनपुंसकभेदं निपातोपसर्गानामपि वा क्वचित्नामत्वमपेक्ष्य बहु-
वचनेनोक्तं नामानीति ।

अपरे पुनः । भावकालकारकसंख्याध्वार एतेऽर्था आख्यातस्य ।

तेषां भावः प्रधानं भवति । अतो भावप्रधान-
नामाख्यातलक्ष- भाख्यातमित्युक्तम् । नाम्नोऽपि सत्ता द्रव्यं संख्या
१५ णयोरपरा व्याख्या लिङ्गमित्येतेऽर्थाः । तेषां द्रव्यं प्रधानमित्यतः सत्त्व-
प्रधानानि नामानीत्युक्तमेवमेके मन्यन्ते ।

“ तद्यत्रोभे भावप्रधाने भवतः ” । एवं तावदनयोर्नामाख्यातयोः
परस्परविनाभूतयोः स्वपदार्थोक्तावेकस्य भावप्राधा-
नामाख्यातयोः न्यमेकस्य सत्त्वप्राधान्यम् । अथ पुनर्यत्र ते उभे
२० कंतरत्प्रधानं भवतः । क्व च पुनरुभे एते भवतः । वाक्ये ।
तत्र कस्य प्रधानमर्थः कस्य गुणभूत इति ।

शृणु । भावप्रधाने भवतस्तस्य चिकीर्षितत्वात् । वाक्ये ह्याख्यातं प्रधानं
तदर्थत्वादृणभूतं नाम तदर्थस्य भावनिष्पत्तावद्भूतत्वात् । एवं तावदा-
ख्यातं वाक्ये प्रधानम् ।

२५ १ ग. ज. प्रदीपते. २ ग. ज. साम्यार्थोऽधिक ०. ३ घ. ट. ‘तक्रुनेटं; झ.
‘सक्रुनेटं. ४ क. ख. ठ. भावप्रधानता भवति; ग. ज. भावप्रधानं. ५ घ. झ. ‘इति’
नास्ति; ट. स्थातुमुक्तम्’ भिन्नु. ६ क. ख. घ. ज. झ. ट. ‘सराविना;
घ. परस्परविना’ ट; ‘ठ. परस्परं विना’. ७ क. ख. घ. झ. ट. ‘व्यप्रेते. ८ क.
२० ख. घ. झ. ट. पुनरेते उभे.

अथ पुनः कथमभिनिर्गम्यमानो भाव आख्यातेनोच्यते किं वा तदा-
ख्यातमिति । अतो लोकप्रसिद्धयैवोदाहरति तत्र-
आख्यातेन भावः सिद्धवाच्यदार्थसंबन्धस्य । “ पूर्वापरीभूतं भाव-
कथमुच्यते । आ-
ख्यातोदाहरणं च पर्यन्तम् ” । अपूर्वमनपरं सन्तमेकत्वात्पूर्वापरी-
भूतं पूर्वापरमिव पौर्वापर्येणावस्थितमेकमनेकसु
क्रियास्वाश्रितमुपानदैशिनहनपूर्वोत्तरपादविहरणपथिभोजनशयनान्जनोदक-
पानाद्यास्वाश्रितं तदभिनिर्गम्यमानमभिनिर्गम्यमानं यस्मैचित्पृच्छते किं
करोतीत्यन्य आचष्टे व्रजतीति । अविमर्शकर्तृकं द्वितीयमित्युदाहरणद्वयं
भावद्वयोपप्रदर्शनार्थम् । उपक्रमप्रभृतीति । उपक्रम आरम्भस्तस्मादारम्भा-
पर्वपर्यन्तं यावदन्त्या क्रियेत्यर्थः । आह । अन्त्यासंनिधौ भावनिर्गम्य-
दर्शनादन्त्ययैव निर्वर्त्यत इति । शृणु । पूर्वा-
भावोऽनेकक्रिया-
मिनिर्गम्यते सत्ययावेऽन्त्यैव न स्यात्पूर्वपेक्षं हि तस्य
अन्त्यत्वम् । अपि च । प्राप्तिर्कालो हि व्रजिः ।
न चैकया क्रियामिमतदेकान्तस्मात्प्रतिस्ति ।
तस्मादुपक्रमाद्याभिः क्रियामिरीपदीपदमिनिष्पाद्यमानो भावोऽन्त्यायामभि-
संविष्टते । अतस्तत्संनिधौ गृह्यते । न त्वसावन्त्ययैवामिनिर्गम्यत
इत्यन्ते गृह्यते । अपि च प्रसिद्धमेतदुपक्रमेणोदाहरणं यच्च व्रजितं यच्च
व्रज्यते यच्च व्रजिष्यमाणं तत्सर्वमेकीकृत्य वक्तारो भवन्ति व्रजति देवदत्त
इति । न प्रसिद्धिरूपरोदुं न्याय्या । यथावस्थितानां हि शब्दानामन्याख्यान-
मात्रमेव शास्त्रेण क्रियते नोपाद्यन्ते शब्दा नाप्यर्थेषु विधीयन्ते । तस्मा-
त्प्रसिद्धशास्त्रसमयोऽपि लौकिकप्रसिद्धयैव पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे
व्रजति पचतीत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम् । तस्मादुपपन्नमनेकक्रियाभिनिर्ग-

१ उ. 'धुनमिति । अपूर्व' । २ प. स. ट. क्रियासु सा आभिः । ३ प. स.
ट. 'दमिनदन' । ४ प. ट. तदभिनिर्गम्यते । ५ क. स. ग. ज. 'निर्गम्यमानं'.
६ प. स. ट. पथि द्वितीयायति । उदा०. ७ प. निर्गम्यते । ८ क. स. प. स.
ट. उ. व्रजतिः । ९ क. स. ग. ज. तनः व्रजिः ; प. अत्र तावदेति ; स. अत्र तत्र ;
ट. 'हनेनः तनः' तनः व. १० क. स. प. स. ट. गृह्यते । ११ ग. ग. 'व्रज-
मात्र' । १२ ग. ज. व्रजितः ।

र्यमानो भाव आख्यातेनोच्यत इति । आह च । “ क्रियासु बह्विध्य-
भिसंश्रितो यः पूर्वापरीभूत इवैक एव । क्रियाभिर्निर्वृत्तिवशेन सिद्ध
आख्यातशब्देन तमर्थमाहुः ” [बृह० १४-४] इति ।

“ मूर्तं सत्त्वभूतं सत्त्वनामभिः ” । कदाचित्तमेव भावं तथैवोपक्र-
मप्रभृत्यभिर्निर्वर्तमानमपवर्गपर्यन्तं मूर्तं सैतन्तं सत्त्व-

सत्त्वभूतो भावः मूर्तं सत्त्वरूपिणं लिङ्गसंख्यायुक्तैः सत्त्वनामभि-
कथमुच्यते राचष्टे । कथम् । “ त्रज्या पक्तिरिति ” । तत्रोक्तो
विशेषः । कृदभिहितो भावो द्रव्यवद्भवति । सोऽयं

प्रयुक्तस्य लक्षणस्य प्रयोगमपेक्ष्य कचिदपवादः । आह च । “ क्रिया-
भिर्निर्वृत्तिवशोपजातः कृदन्तशब्दाभिहितो यदा स्यात् । संख्याविभक्ति-
व्ययलिङ्गयुक्तो भावस्तदा द्रव्यमिश्रोपलक्ष्यः । ” [बृ० १-४]
इति । आह । कस्मात्पुनरेक एव भावस्तिङन्तेन कृदन्तेन चान्यथोच्यत

भावस्य द्विरूपत्वे इति । उच्यते । शब्दस्वाभाव्यादृते नान्यदत्र
कारणम् प्रयोजकमस्ति । अपि चोक्तमस्माभिरवस्थितानामेव
शब्दानामभिधानाभिधेयसंबन्धेनाभिसंबद्धानामेव
नित्यमन्याख्यानामात्रमेव क्रियते नोत्पाद्यन्तेऽर्थेषु वा विधीयन्ते शब्दा
इति । त्रज्या पक्तिरित्युदाहरणद्वयमुक्तप्रयोजनम् ।

“ अद इति सत्त्वानामुपदेश ” इति । भावोऽधिकृतः । स च

पुनः सत्त्वभूतो नेतरः । यतस्तत्संबन्धेनैव
सत्त्वानां सामा- नान्नो यदवशिष्यते तदुच्यते । किं पुनस्तत् ।
न्योपदेशः सामान्यविशेषवाचित्वम् । तत्राद इति सत्त्वाना-
मुपदेशः सामान्यत इति वाक्यशेषः । सर्वेषा-
मपि सत्त्वानामध्ययने प्राप्ते लिङ्गाविशिष्टत्वादिदमेवैकमुदाहृतमुपप्रदर्श-
नार्थम् ।

आह । विशेषोपदेशः कथमिति । उच्यते । “ गौरवः पुरुषो हस्तीति ”

१ च. संश्रुतो. २ ठ. “ निर्वर्तमान ”. ३ क. ख. ग. ज. “ सन्तं ” न विधो.

४ च. “ कृदन्तेन ” न विधते. ५ क. ख. “ च्यते ”. लण्डसूत्रम् । गो° ; ग.

“ च्यते ” प्रथमः लण्डः ॥ १ ॥ गो° ; ज. “ च्यते ”. लण्डः । गो° ; घ. क. ट.

२९ “ च्यते ”. सूत्रं । गो° .

सत्त्वानां विशेषोपदेश इति वाक्यशेषः । सोपाधिकनिरुपा-
धिकोपप्रदर्शनार्थमनेकोदाहरणम् । सामान्यवृत्त्या
विशेषोपदेशश्च विशेषवृत्त्या चोभयया शब्दः प्रवर्तत इत्युभय-
मुपदर्शितम् ।

“ भवतीति भावस्य ” सामान्येनोपदेशः । अत्र हि सर्वेषां सत्त्वा-
वाचिनामर्थेयने प्राप्ते भवतिरेवैक उदाहर-
णार्थः परिगृहीतः । विद्यमानतामेवानुभवन्तः सर्वे
भवतिशब्दवाच्या अन्याभिर्विशेषक्रियाभिरभिसं-
वध्यन्ते । तस्माद्भवतीति सर्वक्रियाप्रसवव्रीजभूत-
मस्तित्वमात्रमेव निरूपपदेन भवतिशब्देनोच्यत इत्युपपन्नं भवति सामान्यया-
चित्वम् । विशेषनिर्देशः कथमिति । उच्यते ।
विशेषोपदेशश्च “ आस्ते शेते व्रजति तिष्ठतीति ” । सकर्मका-
कर्मकोपदर्शनार्थमुभयेषामुदाहरणम् ।

“ इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरौघणः ” ॥ १ ॥

तत्र चतुष्टयं नोपपद्यते युगपदुत्पन्नानां वा शब्दानामितरेत-
रोपदेशः शास्त्रकृतो योगश्चाद्यातिमात्वात्तु शब्दस्याणीय-
स्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके तिषां मनुष्य-
वद्देवताभिधानं पुरुषविद्यानित्यत्वात्कर्मसंपत्तिर्गन्त्रो धेवे ।
पह् भावविकारा भवन्तीति वाप्यापिणिर्जायतेऽस्ति विप-
रिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति जायत इति पूर्वमा-
वस्थादिमाचष्टे नापरमावमाचष्टे न प्रतिषेधत्यस्तीत्युत्प-
न्नस्य सत्त्वस्यावधारणं, विपरिणमत इत्यप्रत्यक्षमानस्य
तत्त्वाद्विकारं वर्धत इति स्वाङ्गाभ्युच्चयं सांयौगिकानां
पार्थानां वर्धते विजयेनेति वा वर्धते शरीरेणेति वापक्षी-
यत इत्येतेनैव व्याख्यातः प्रतिलोमं विनश्यतीत्यपरमाव-
स्थादिमाचष्टे न पूर्वमावमाचष्टे न प्रतिषेधति ॥ २ ॥

१ ग. ज., “इन्द्रियनातो भ” । २ क. ल. ग. च. ज. प. झ. “तदपनतिम्;
ट. “तदपनतिम्; ठ. “तदपन इति । इति निरुक्त्याद्यां प्रथमाध्याये प्रथमः खण्डः ।
तम. ३ क. ल. उ. त. द. “६वे ॥२१ १४” । ४ क. ल. उ. त. द. २.

“तत्र चतुष्टयं नोपपद्यते” । आह । ईदं तावदुक्तं पदचतुष्टयं ।

पदचतुष्टयानुपपत्तिः मानवचनता द्रव्यवचनता, गुणभावः प्रधानभावः, ?

पूर्वापरीभावः सामान्यवाचित्वं विशेषवाचित्वमिति नोपपद्यते । कस्मात् । वचनमित्यन्वयः । कः पुनरेवमाहानित्यं वचनमिति । उच्यते । इन्द्रियमित्यं वचनमित्यौदुम्बरायणः । इन्द्र आत्मा स येन ईदं चिद्व्यक्तेऽनुमीयते वाक्यसावात्म्यं कर्ता यस्येदं कारणं नाकर्तृकं कारणमस्तीति तदिन्द्रियम् । तस्मिन्नित्यमिन्द्रियमित्यम् । किं पुनस्तत् । वचनम् । उच्यतेऽनेनेति वचनं वाक्यमित्यर्थः । कतम् । यदेतन्नामाख्यातोपसर्गोनिपातात्मकम् । औदुम्बरायण आचार्यो मन्यते

इति वाक्यशेषः । उदुम्बरायणस्यौदुम्बरायणः । तस्यापत्यमौदुम्बरायणः । आह । ततः किमिति । उच्यते । तत्र तस्मिन्वाक्य एवमिन्द्रियमित्ये सति यदेतत्पदचतुष्टयमुक्तमेतन्नोपपद्यते । कस्मात् । शृणु । यावदेव वक्तुर्जागिन्द्रिये श्रोतुश्च श्रोत्रेन्द्रिये वचनं तावदेव तदस्तीति शैक्यते वक्तुं प्रच्युतं च नास्ति । अथि च । वाक्यमपि समस्तमुक्तं तदिन्द्रिये चावतिष्ठते

यदवयवभूतानि पदान्यवस्थितानि परिसंख्यानानुम् । न च विनष्टाविनष्टयोः पदयोः सह परिसंख्यानमस्ति । तस्माद्वाच्यमित्यन्वयात्पदचतुष्टयानुपपत्तिरित्युपपन्नम् ।

किं चान्यत् । “अयुगपदगुणानां च शब्दानामितरेतरोपदेशः” ।

वादानन्दः समुक्त्यर्थः । “वा विकल्पेपमानद्वंद्वस्”

इतरेतरोपदेशश्च सुव्यपार्येय्यिति” हि निग्रतब्धिः पठन्ति । वक्ष्यति चयमपि “वेति विचारणार्थे” इत्युपक्रम्य “अथापि समुक्त्यर्थे भवति” (निग० १-४) इति । एवं चेत्तेषामयुगपदगुणानां शब्दानां वाक्यावयवभूतानां योऽप्यभितरेतरोपदेश इतरेतरगुणप्रधानभावो नात्र आख्यातं प्रति गुणभावेनोपदेश आख्यातस्य च नात्र प्रति प्रधान-

भावेनोपदेशः । अयं च नोपपन्न इत्यनुवर्तते । किं कारणम् । न हि

१ ग. ज. ‘आह’ नास्ति. २ क. ख. इह तावत्; ग. ज. इह तावदुक्तं । पदं. ३ क. ख. ग. ज. घ. ङ. ट ठ. ‘मिति । इन्द्रः’ च. ‘निर्दि. इन्द्र’ इन्द्रोदुम्बरायणः. ४ ठ. ‘चतुष्टयम्’ ५ ग. ज. वाक्यते. ६ क. ख. ग. ज. घ. ङ. ट. वाक्यमिति वाक्यं स्तं. ७ ग. ज. दुष्पदं. ८ घ. ‘अत्रोपदेश इति’. ९ घ. च. ङ. ट. ‘दार्थे वाच्यो बत.

विनष्टं नाम गुणभावमियादाख्याते । नापि विनष्टमाख्यातं प्रधानभावमिया-
न्नामि । न हि विनष्टाविनष्टयोरितरेतरगुणप्रधानभावोऽस्ति ।

किं चान्यत् । “ शास्त्रकृतो योगश्च ” । यथायं शास्त्रकृतो योगः

शास्त्रकृतः शब्दस्य शब्दान्तरेण योगः संयोगः ।

शास्त्रकृतो योगश्च तथा । उपसर्गस्य धातुना धातोः प्रत्ययेन प्रत्य-

यस्य लोपागमवर्णविकारैः । अयं च वचनानि-

त्यत्वाच्चोपपद्यते । किं कारणम् । अयुगपदुत्पत्तौ हि सत्यां धातुरुच्चारितो

विनष्टः स कथमुपसर्गेण योज्यते प्रत्ययेन वा । न हि विनष्टाविनष्टयो-

र्योगोऽस्ति । तस्माच्च एव नामाख्यातयोरितरेतरगुणप्रधानभाव उपसर्गनि-

पातानां नामाख्याताभ्यां यौगो यच्च पदचतुष्टयमुक्तं सर्वमेतदसम्भगिति ।

युगपदुत्पन्नानामित्येवमारम्यमाणयोर्वाक्ययोरनयोरन्यो व्याख्यामार्गो

भवति । नोपपद्यते युगपदुत्पन्नानामयुगपदुत्पन्नाना-

मित्युभाबपि पाठौ व्यापारं प्राप्तुतः सम.नसंहित-

त्वात् । इन्द्रियनित्यत्वात्पदचतुष्टयानुपपत्तिरित्युच्चार्य

मैताशङ्काद्वारेणैतदवतार्यते युगपदुत्पन्नानामिति ।

अथ मतम् । अविचाळिन एवैते कूटस्था अविनाशिनः शब्दाः । ते तु कल्पांन्ते

तस्माद्वर्थातिरूपाद्विशीर्षेष्वभिधेयेष्वभिधातृषु कारणभावमापद्यमानेष्वध्या-

भावादेवावस्थानुमशानुवन्तोऽभिधेयाभिधातृसहिता एव कारणराममायमधि-

कमनुभूयाभिसंभवकाले कल्पादावन्यकल्पविशिष्टकर्मनिर्जितकार्यकारणसर्व-

भूतसाधारणात्मभूते हिरण्यगर्भे विवर्तमाने तद्व्युद्धिमाद्यं प्राप्य तेनैव सह

युगपदेवाभिव्यज्यन्ते विशेषात्मलाभाय शब्दा इति । अत्र ब्रूमः । एवमप्ये-

तेषां युगपदुत्पन्नानां युगपदुत्पत्तायपि सत्यां यद्यपि पदचतुष्टयं प्राप्तेत्येव

सहावस्थितानां तथाप्यितरेतरोपदेश इतरेतरगुणप्रधानभावश्च न प्रामोति । न

हि युगपदुत्पन्नयोगोऽविषाणयोरितरेतरगुणप्रधानभावोऽस्ति । किं चान्यत् ।

कूटस्थेषु चाविचाळिषु नित्येषु शब्देषु य एव शास्त्रकृतो योग एव नोप-

१ क. रा. ग. ज. ‘ संयोगः ’ नास्ति. २ क. रा. य. योगे. ३ क. रा. प.

स. ट. ‘ अनामयुगपदुत्पन्नानामित्ये ’. ४ क. रा. ग. ज. ‘ अपि व्यापारो प्राप्तु ’.

५ ग. ज. ‘ मताशङ्का ’; घ. ट. ‘ मनाशङ्का ’. ६ ग. य. ज. ‘ वैताशङ्का ’.

७ घ. स. ट. ‘ व्यापित्ता ’. ८ घ. स. नि. वि. त. ९ क. रा. प.

स. ट. ठ. ‘ चतुष्टयं ’. १० क. रा. य. स. ट. ठ. ‘ सह ’.

पद्यते । किं कारणम् । अयुक्तो हि युज्यते । नित्ययुक्तार्थं धातव उप-
सर्गः प्रत्ययैश्च प्रत्ययाश्च लोपागमवर्णविकारैरिति । तस्मान्नित्यपक्षेऽपि
यच्चनस्य यदेतदुपवर्णितं गुणप्रधानभावविषयं पदचतुष्टयमाधिकृत्य सर्वमे-
तदसम्यगिति ।

५ “ व्याप्तिमात्तु शब्दस्य ” । उच्यते सर्वमेतदुपपद्यते ।

कस्मात् । व्याप्तिमाच्छब्दस्य । तुशब्दः पक्ष-
परोद्भावितदोषनि- व्यावृत्तौ । व्यापनं व्याप्तिः । सा यस्मिन्नस्ति
राकरणम् सोऽयं व्याप्तिमाच्छब्दः । तद्भावो व्याप्तिमत्त्वम् ।

तस्माद् व्याप्तिमत्त्वाच्छब्दस्य सर्वमेतदुपपद्यत इति

१० धातुपक्षेः । आह । कथं पुनर्व्याप्तिमाच्छब्द इति । शृणु । शरीरे
ह्यभिधानाभिधेयरूपा बुद्धिर्हृदयान्तर्गताकांशप्रतिष्ठिता । तैषोरभिधानरूपा-
भिधेयरूपयोर्बुद्धयोर्मध्येऽभिधानरूपया शास्त्राभिमतप्रयोजनविजिज्ञापयि-
पया बुद्ध्या पुरुषेण तदभिव्यक्तिसमर्थेन स्वगुणभूतेन प्रयत्नेनौदीर्घ्यमाणः
शब्द उरःकण्ठादिवर्णस्थानेषु निष्पद्यमानस्तथा पुरुषार्थाभिधानसमर्थ-

१५ पर्णादिभावमापद्यमानः पुरुषप्रयत्नेन बहिर्विनिक्षिप्तोऽविनाशिनि व्याप्तिमा-
धमापन्नः श्रोत्रद्वारेणानुप्रविश्य प्रत्यार्थस्य बुद्धिं सर्वार्थरूपां सर्वविधा-
नरूपां व्याप्नोतीत्येवं व्याप्तिमाच्छब्दः । आह । ततः किं यदि व्याप्तिमा-
च्छब्दः । उच्यते । यदि नित्यो यच्चनित्यः पदचतुष्टादि सर्वमुपपद्यत एव ।
किं कारणम् । न ह्यसंव्याप्य पुरुषस्य बुद्धिं बुद्धयवस्थमर्थं प्रत्ययमादधीत ।

२० न चानवस्थितो व्यामुयात् । ततश्च किम् । स शब्देस्तं तमर्थमाभिदधत्य-

- १ क. स. हि; घ. स. ट. दिध, ठ. 'स हि धा'. २ क. स. घ. स. ठ.
भावादि पदं; ट. भावादि पदं वक्षिष्य. ३ ग. ज. हृदयस्थि. ४ ठ. 'कांशो
प्र'. ५ ग. ज. तयोर्भिधानरूपा हृदयान्तर्गताकांशप्रतिष्ठिता तयोर्भिधानाभिधेयरू-
पयो. ६ च. 'भिधेयरूपयोर्बुद्धयोर्मध्येऽभिधानरूपया' नास्ति. ७ ग. ज. समर्थो
न; घ. सामर्थ्येन. ८ ग. 'माणादिषु सत्पुरुःकण्ठा'; च. ज. माणा सत्पुरुःकण्ठा';
९. 'माणः शब्दः उरः उ' सत्पु. १ ग. च. ज. 'ण्ठादिषु वर्ण'. १० क. स. स.
निष्पद्यमानस्तथा; ग. ज. निष्पद्यमानस्तथा; च. निष्पद्यमानः था. ११ घ. स.
ट. ठ. 'यत्नेन. १२ ग. ट. बहिर्विनिक्षिप्तो'. १३ घ. स. प्रत्याप्यस्य; ट. प्रत्याप्यस्य
व्य. १४ क. स. ग. ज. 'बुद्धि' नास्ति. १५ क. स. घ. स. ट. 'ब्दः
२० समर्थ'.

क्रियाप्रवेशोपजनितेन तेनाभिधानेनाख्यातामित्येवमादिना स्वमात्मानमभिसं-
घष्य तिरोभवितुमुपक्रमते विनाशं वोपैति । तस्य स्वदेशोपजनितैराख्या-
त्तादिभिः स्वप्रदेशविशेषानुस्मृतिपूर्वकं परिसंख्यानमुपपद्यत एव । तस्मात्स-
म्यगोचोक्तम् । यत्पुनरेतदुक्तं न हि विनष्टाचिनष्टयोः परिसंख्यानमस्तीति ।
अत्र ब्रूमः । पुरुषप्रयत्नोपजनितान्वक्तोद्घातात्परस्यार्थप्रत्ययमाधाय शब्दव्य-
क्त्य एतां च्यसन्ते न तु शब्दाकृतयः । तास्तु भूयोऽभिधानशक्त्या बुद्धि-
द्वारेणावस्थिताः स्वानभिधेयान्प्रकाशयन्त्यः स्थिता एव भवन्ति । तासु
साक्षात्परिसंख्यानं वर्तमानमितरासु विनाशिनीषु व्यक्तिषु लक्षणयोपच-
र्यते । तस्माद्भ्यासिमत्त्वाच्छब्दस्य पदचतुष्टयादि सर्वमुपपद्यत एव । व्याप्ति-
मत्त्वादित्येतेनैवेतरेतरोपदेशः प्रत्युक्तः शास्त्रकृतश्च यो योगः । नामाख्यातपद-
रूपे बुद्धितत्त्वे सत्त्वक्रियाविषये गुणप्रधानभावेनावतिष्ठेते । तयोरगुणप्रधान-
भावे सति व्यक्तिषु लक्षणयोपचर्यते । तथा च धातुरूपा बुद्धिस्तदर्थया
संयुज्यते । बुद्धिरेव हि धात्वादिरूपेण विपरिणममाना शास्त्रेण संस्क्रियते ।
तस्यां संस्क्रियमाणायां शब्दे संस्कारोपचारः क्रियते तदभिधायकत्वाच्छ-
ब्दस्य । तत्र यदुक्तं वचनानित्यत्वादितरेतरोपदेशः शास्त्रकृतश्च योगो नोप-
पद्यत इत्येतदयुक्तमिति । नित्यत्वपक्षेऽपि युगपदुत्पन्नानां गुणप्रधानभावो
गोविपाणवन्नास्तीति यदुक्तमनैकान्तिको दृष्टान्तः । दृष्टो हि युगपदुत्पन्न-
धोरेककौलि राजपुत्रामाल्यपुत्रयोरगुणप्रधानभावः । तत्र यदुक्तं युगपदुत्पन्ना-
नामितरेतरोपदेशो न प्राप्नोतीत्येतदयुक्तं व्याप्तिमत्त्वाच्छब्दस्य सर्वमुपपद्यत
इति । तदेव सम्यग्भवति ।

अपरो व्याख्यामार्गः । इन्द्रियनित्यत्वात्पदचतुष्टयानुपपत्तिस्तदाश्रयस्य च

१ व. झ. ट. ठ. 'पजतिनेनाभि'. २ क. ख. घ. झ. ट. ठ. वोपैति.
३ च. जनिता वक्तव्योद्घाताः. ४ क. ख. ग. घ. ज. झ. ट. ६५. ५ घ. झ. ट.
तवाभिधान; ट. तवाभि' भूयोऽ'. ६ घ. झ. स्वानर्थान; ट. समानर्थान 'भिधेया. ७
क. ख. घ. झ. ट. 'वृत्तो योवध्व. ८ च. ठ. सर्वकि; ट. सर्व' व'. ९ क. ख. घ. झ.
ठ. 'सति तच्छब्दे लक्षण; ग. ज. 'सति तच्छब्दे (ग. 'च्छब्द) लक्षणया
व्यक्तिपूपचर्यते; ट. तच्छब्दे ल' व्यक्ति. १० क. ख. घ. झ. ट. ठ. 'चर्यते. ११ घ.
ट. तदर्थया. १२ ग. ज. शास्त्रे. १३ क. ख. घ. झ. ट. 'कान्तिकोऽसौ दृ'. १४ ग.
ज. 'काट्याम'. १५ क. ख. घ. झ. ट. ठ. सम्यगिति. १६ ग. च. ज. 'च'
न वियते.

सर्वस्येत्येवमाक्षिते परिहारद्वारेणेदमवतीर्थते युगप-
 युगपदुत्पन्नानामि- दुत्पन्नानां वा शब्दानामितरेतरपदेश इति । अत्र
 त्वस्यापरो व्याख्या- समञ्जस एव वाशब्दः । कथम् । अयुगपदुत्प-
 मार्गः ज्ञानां वा युगपदुत्पन्नानां वा नित्यानां यानि-
 लानां वेत्यर्थः । इतरस्याख्यातशब्दस्य क्रियावचने
 शब्देऽभिधानत्वेनोपदेशः । इतरस्य च नामशब्दस्य च सारवचने शब्देऽ-
 भिधानत्वेनोपदेशः । शास्त्रकृतो योगश्च । लक्षणशास्त्रेण चैते क्रियासत्त्वे
 आख्यातनामशब्दाभ्यां युज्येते । तस्मादुपपद्यते पदचतुष्टयमिति । आह ।
 आगमनमात्रमेतत् । हेतुरुच्यतां कथं विनष्टविनष्टयोः सह परिसंख्यान-
 १० मवस्थितयोर्वा गुणप्रधानमात्र इति । उच्यते । व्याप्तिमत्त्वात् शब्दस्य ।
 हेत्यर्थः समान एव पूर्वेण ।

आह । यदि व्याप्तिमत्त्वाच्छब्दस्य व्यवहारार्थं पदचतुष्टयमुपादीयत
 एवमपि नोपादेयम् । किं कारणम् । अभिनया
 शब्दानां स्थानेऽभि- अपि व्याप्तिमन्तः पाणिविहाराक्षिनिकोपादयस्तै-
 नयाः प्रयोग्या इति रेव कार्यसिद्धिरस्त्विति । अपि चैवं पदचतुष्टय-
 १५ परपक्षः दोषेर्न संमक्ष्यामहे न चायमतिमहान्वेदसमुद्रः
 पठितव्यो भविष्यन्त्यतिद्वेषेणेति । उच्यते ।
 'सादेतदेयं यद्ययमपरो विशेषहेतुर्न स्यात् । फलतः । " अणीयस्त्वार्यं
 शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके " ।

नेति सिद्धान्तः सत्यमभिनया अपि व्याप्तिमन्तो न त्वणीपांसः ।

२० ते भूता यनेन व्याप्नुवन्ति ॥ च निःसंदिग्धं
 कुर्वन्ति । तत्र प्रतीतिर्यस्यैव नेतरस्य । शब्दस्वरपरिमितमर्थमपरीयता
 यनेनोच्चारितो व्याप्नोति । तस्मादर्ण्यस्त्वादिति विशेषहेतुपक्षस्या शब्दे-
 नेव संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोक इत्युपपन्नम् । यपुनरेतद्रुक्तमप्यय-
 नं हेतुदोषेर्न संमक्ष्यामहे न चायमतिमहान्वेदसमुद्रोऽप्येतव्यो भविष्यतीति ।

२५ १ क. ख. घ. ङ. ट. "त्यर्थः । इनेनोपदेशः । इतरस्येयाख्यात".

२ ठ. "अभिनयो" संज्ञिता. ३ क. ख. घ. ङ. ट. न चाय". ४ घ. ङ. ट.

पठनीति । अनिके; "ख. पठनीति । अनिके". ५ ठ. "यने । तत्पदादे".

६ घ. ट. "य" नास्ति; ठ. "इमं शब्देनेति । अन्य". ७ क. ख. घ. ङ. ट.

२६ "तीतद्वयार्थः" ट. "तीनार्थ" तद्वय.

अत्र ब्रूमः । अभ्युदयो ह्यत्र वेदानुरूप एव भवति । अभ्युदयार्थं नः
शास्त्रारम्भे कनः । तत्र यदुक्तमभ्ययनकृतैर्दोषैर्न संभक्ष्यामहे न चायमतिम-
हान्वेदसमुद्रोऽप्येतव्यो भविष्यतीत्येतदुक्तमिति ।

“तेषां मनुष्यवदेवताभिधानम्” । आह । एवं तावन्मनुष्याणां
मनुष्येषु शब्देन चतुर्धाविभक्तेनावबोधकरणम् ।

देवताभिरपि स- अथ मनुष्याणां देवेषु हविःसंप्रदानाशीःप्रार्थना-
दैरेव व्यवहारः दिव्यवहारः केनेति । उच्यते । तेषामेव शब्दा-
नामियमेव व्यवस्था देवेष्वपि देवानपि प्रति ।

कृतमा । मनुष्यवदेवताभिधानमिति । मनुष्यैस्तुल्यं मनुष्यवदेवताभिधा-
नम् । अभिहितिरभिधानम् । यथैव हि मनुष्याः प्रयोजनेषु नामाख्यातोपस- १०
र्गनिपातैर्यथार्थमभिदधत्येवमेव देवानपि । देवेष्वपि शब्दस्याभिधानशक्ति-
रपरिहीणेत्यभिप्रायः । तेष्वि हि मनुष्यवदेवा अङ्गादियुक्ताः पौरुषविधिकैरङ्गैः
कर्मभिश्च संस्तूयन्त इति वक्ष्यामः [निरु० ७—६] । तस्मादुपपद्यते
मनुष्यवदेवताभिधानमिति ।

आह । यदि नामाख्यातोपसर्गनिपातानामपरिहीणा शक्तिर्देवानप्यभि- १५
धातुमथ किमर्थं वेदे मन्त्रः समाप्नात इति ।

मन्त्रसमाम्नातप्रयो- उच्यते । “पुरुषविद्यानित्यत्वात्कर्मसंपत्तिर्मन्त्रो
जनम् वेदे” । पुरुषेषु मनुष्येषु विद्याया विज्ञानस्यानित्य-
त्वम् । तस्मात्पुरुषविद्यानित्यत्वाद्धेतोः कर्मसंपत्तिः

फलैरेव संपादनमविगुणकर्मसंपत्तिः फलसंपन्नमेवं कर्म भविष्यतीत्येवमर्थं २०
वेदे मन्त्रः । समाप्नात इति वाक्यशेषः । इतरथा हि पुरुषेषु विज्ञानस्या-
नित्यत्वाद्यर्थं नाभिदधते देवानामाख्यातोपसर्गनिपातैः । आशीक्षितत्वा-
न्मन्दशिक्षितत्वाद्विस्मरणीयत्वाद्वा देवानामपराध्येयुरयथावत्प्रयुज्जाना नामा-
ख्यातोपसर्गनिपातान् । ते सतश्च सर्वार्थप्रत्यक्षदृशो देवाः स्वल्पमप्यपराधं

१ क. ख. घ. झ. ट. देवा अपि. २ क. ख. ग. ज. “भिवानेन शक्ति” २५

३ क. ख. ग. झ. “हीनेत्य” ; ट. हीनेत्य” ने. ४ झ. मेपि हि; ठ. तेष्वपि
मनु”. ५ ग. ज. संस्तूयन्ते. ६ क. ख. घ. झ. ट. इति हि वक्ष्यति; ग. ज.
इति हि वक्ष्यामः. ७ ग. ज. विद्याविज्ञान”. ८ घ. झ. ट. ठ. “त्यत्वात्तस्मा”.
९ ग. फलैकसं”. १० क. ख. झ. ट. ठ. “मेव कर्म”. ११ क. ख. घ. झ.
ठ. “मप्ययथावद्भिवाने; ट. मप्ययथावद्भिवाने न” १४ अर्थ.

न मर्यायन्ति । विगुणमेतदिति विद्यानित्यत्वात्तदभावे नेयुः कर्मणि ।
ततश्च देवताहीनं कर्मफलं संपद्यते । न च केवलं फलसंपत्तिः । किं
तर्हि । दुरिष्टहेतुको दोषोऽपि स्यात् । तस्मादेत एव नामाख्यातोपसर्ग-
निपाताः प्रयोगानुपारिर्पोटिविनिर्णयार्थं मन्त्रत्वेन वेदे समान्नाताः । न हि
नामाख्यातोपसर्गनिपातान्परित्यज्य मन्त्राः सन्ति । एतदेव हि चतु-
र्विधं पदजातं प्रयोगानुपारिपाठ्या कैद्याचिदवस्थितं मन्त्रा इत्युच्यन्ते ।

आह । कथमनित्यत्वं विद्यायाः पुरुषेऽविति । उच्यते । इह येन

वाक्यविरचनानुक्रमेणार्थवस्त्वनुक्रमेण बोक्तव्यानुपे-

लौकिकज्ञानस्या- प्यते मनुष्य ' एवमेव ब्रूयात्स्वर्गं देवदत्तमिति '

नित्यत्वम् स तेनैव वाक्यविरचनानुक्रमेणैवावब्रह्ममपि सन्त-

मर्थं न शक्नोति प्रतिपादयितुम् । एवमनित्यत्वं

विद्यायाः पुरुषेऽपि । तददोषं वा मनुष्यान्प्रति सर्वेषामेव मनुष्याणामनित्य-

त्वाद्विद्यायाः । अयमपि हि येन वाक्यानुक्रमेणाद्य वक्ति मनुष्यः कंचिदर्थं

न तेनैव श्वः शक्नोति वक्तुम् । तत्र यदुक्तं किमर्थं मन्त्रो वेदे समान्नात

इतीदं न युक्तं पुरुषविद्यानित्यत्वात्कर्मफलसंपत्त्यर्थं मन्त्रो वेदे समान्नात

इति । न दायिचारितमेवं वेदे पठ्यत इत्यत इदमाह ।

पदचतुष्टमाक्षिप्य पक्षप्रतिपक्षशो विचार्याविधारितम् । विषयश्चास्ते-

पप्रसङ्गेनैवास्य परिर्वल्लभो देवमनुष्यव्यवहारार्थमेतदिति । तदेतत्सर्वमपि

चौदकयशेन प्रसक्तानुप्रसक्तमुक्तम् । भावस्तु प्रकृतो यतस्तच्छेषमधुना वर्णयि-

ष्यामः । स च पुनरुभयात्मा भावः कार्यात्मा कारणात्मा च । अत्रयोर्यः

कार्यात्मा तमधिष्ठत्योक्तं क्रियानिर्वर्त्यो योऽर्थः स भावः क्रियैव धीं भाव

इति । इदानीं कारणात्मा भावो निरूप्यते । कथम् । क्रियाद्रव्ययोः

१ ग. ख. ज. ट. कर्मफलं न. २ घ. स. ट. ठ. 'पाटिनिर्मार्थ' . ३ ग.

ज. कदाचिद्व' . ४ क. ख. ब्रूयात्—स्वं गन्तुं देव' ; ग. ब्रूयात्स्वर्गं देव' ; ज.

२५ ब्रूयात्स्वर्गं देव' . ५ ज. ट. किंचिदर्थं. ६ ट. युक्तं अनुक्रमविरत्यर्थः पुरु' .

७ क. ख. प. स. ट. 'मेव विज्ञायेत' . अत्र' ; ट. 'मेव' विज्ञायित्वं अत्र' . वेदे

पठ्यत इति . ८ क. ख. ग. ज. परिकृतः ; घ. परिकृतः' कट . ९ क. ख. प.

२८ स. ट. तयो' . १० ख. भाव या इति ; ग. भाव इति ॥ २ ॥ इदा' .

स्वात्मस्थो विशेषः कार्यात्मप्रचस्तयोः पुरुषोप-
कारणात्मा भावः भोगसंतानोपक्षये कार्यात्मभावातीतो येनात्मभावेन
भवेनमात्राभिसंबन्धिना प्रलयकालेऽवतिष्ठते सोऽ-
त्यन्ताविनाशधर्मा आत्मा भाव इत्युच्यते । आह । कथमयमिह प्रसक्तः ।
शृणु । तद्विकारा एव हि द्रव्यगुणकर्मभावेनावस्थिताः सन्तो नामाख्यातो-
पसर्गनिपातैरभिधीयन्ते स्थितिकाले । असावपि च प्रहीर्षेत्सर्वविशेष-
भवनमात्रक्रियाभिसंबन्धी सन् व्यावृत्तसर्वोपपदाम्यां नामाख्यातशब्दा-
म्यामुच्यते भवतीति भाव इति च । शब्दगतिविभुत्वादपोढसर्वविशेषामप्ये-
तामवरधामेतौ शब्दावास्कन्दतः । यत एतयोरेव सत्त्वावधारणार्थमयमिह
प्रसजितः पदचतुष्टयाधिकरणे ।

आह । प्रधानमेतस्यात् । किं कारणम् । तद्भावेन ह्येतज्जगदवतिष्ठते
प्रलयर्यकाल इत्येके मन्यन्ते । तच्च नैव । किं
अयं भावः प्रधानं पुरु- कारणम् । भावविकार एव हि सोपपदशब्दवाच्य-
यः शून्यं वा न भवति त्वाप्रधानभाव इत्युच्यते । पुरुषस्तिर्हि । तत्राप्य-
यमेव हेतुरनुपक्षीणशक्ति वात् । एतेनैवेश्वरपरमा-
णादिर्भावविकाराः प्रैत्युक्ता ईश्वरभावः परमाणुभाव इति सोपपदत्वात् । शून्यं
तर्हि । तदपि न । यस्माच्छून्यशब्देऽपि भावशब्दासङ्गदर्शनम् । न ह्यसत्यर्थे
शब्दः प्रयुज्यते । शब्दो हि शब्दस्यार्थेन संबद्धः । किञ्चित्तदस्ति यच्छून्य-
मिति । लोके हि प्रसिद्धं गृहं शून्यं ग्रामः शून्य इति । तस्मान्न शून्यशब्देनेह
भाव उच्यते । किं तर्हि । प्रैत्यपेक्षाकृतं शून्यत्वमिति । भावशब्द एवात्रोप-

१ घ. ट. स्थोऽविशे° । २ क. ख. सदनमात्रा°; घ. ट. 'भवन' नास्ति;
ट. भवेन° सव. ३ घ. झ. ट. च. संबन्धिना तनुमात्रा प्रलय°; ग. ज.
संबन्धिन प्रलय°; ठ. संबन्धिना तनुमात्राः प्रलय°. ४ क. ख. घ. झ. ट. महीन.
५ क. ख. घ. झ. ट. ठ. 'गतविभु°; ग. ज. 'गतं विभु'. ६ झ. अतः
७ क. ख. ग. ज. घ. झ. साधारण्यार्थ°; ट. साधारण्यार्थ° सत्त्वावधारणा°. ८ ग. ज. प्रलयकार इ°. ९ क. ख. घ. झ. ट. इति द्युच्यते. १० क. ख.
'भावाः प्रत्यु°; च. ज. भावविकाराः. ११ च. प्रत्युक्तः. १२ घ. झ. ट. ठ.
तस्मात्. १३ क. ख. घ. ट. शून्यः शून्ये शब्दमहत्वे इति. १४ क. ख.
'न्देनाभाव°; घ. 'नेहो भाव एवोच्यते; ट. ठ. 'नेहाभाव एवोच्यते. १५ क. ख.
घ. झ. अपेक्षा°; ट. अपेक्षा° प्रत्य.

- यदत्वेन युक्त इति चेन्न प्रयोगाप्रसिद्धेः । न हि भावभाव इति प्रसिद्धपूर्वः प्रयोगः । न च प्रयुज्यमानो भावशब्दो भावशब्द एवोपपदत्वेन प्रघो-
 शब्दयौकेचिद्विशेषप्रत्ययमादधाति । तस्मात्सर्वोपपदहीनस्य भवतेर्ध्वजन्तस्य
 भावः । तेनात्मभावेनेदं जगन्नित्यम् । इतरैस्तु भावविकारैः परमाण्वादि-
 ५ भिर्भावविकारात्मभिरनित्यम् । कस्मात् । विकारात्मकत्वादेव । विकारो
 हानित्यः । तमेवं भवनमात्राभिसंबन्धेन ग्रहीणसर्वभावविकारमेतत्सद्भाव-
 विदोऽवधृतवेदान्तरहस्यसंपदः परापरविदो वेदविदो मेधाविन आत्मसंप्रपात-
 कातर्यहीना विशुद्धदर्शनप्रयोगा वेदविहितकर्मकृतस्तत्त्वाकारितया मुक्ताधिका-
 रबन्धना एतत्परिज्ञानादेवोपक्षीणकर्मोपभोगसंतानाः सन्त आत्मकप्रमाः प्रति-
 १० पद्यन्ते । नेतरे । प्रधानादिविदो वेदानुशासनैकदेशानां श्ररफुरूपप्रधानादीन-
 निग्नान्भावविकारान्स्वमेतितकल्पनाहेतुन्यवहितान्कृत्वा स्थिरकृत्य चातो
 नित्यत्वेन प्रतिपद्यन्ते भवनमात्राभिसंबन्धेन तदेतस्मादात्मन उद्विजन्त
 आत्मप्रणाशकातर्यादिना कर्मोपभोगसंतानं शिवशिव अन्यमानाः । केचिच्च
 शक्तिहानादसम्बोधनादेव । स एष इह वेदाङ्गे वेदार्थनिर्वचनाभिनिवेशिनि
 १५ शब्दानां सामान्यविशेषवृत्त्युपदेशप्रसङ्गे 'वर्तमाने भवतेः कृदन्तीभूतस्य वा
 भवनमात्रमेव यत्तु सामर्थ्यं नेतरान्भावविकारान्वियमानानपीत्येतेन प्रस-
 ज्ञेन संमूढिनः । वेदरहस्यप्राप्त्यैस्तत्र तत्र विस्मरेणायं निर्णीयते ।
 उक्तं द्विविधो भावः कारणरूपः कार्यरूपश्च । तत्र कारणोऽविहृत-

- १ ट. भावभाव°. २ प. स. ट. ठ. "विदुः पूर्वप्रयोगः. ३ कं. ल. प.
 १० स. ट. "मानोऽपि भाव"; ट. युज्यमानोऽपि भाव°. ४ क. ल. प. स. ट.
 "धानादिसम्बद्ध". ५ प. स. ट. ठ. "वत्किंचि"; प. "वत्किंचिदं". ६ प.
 "विदो विधृतवेदो". ७ प. स. ठ. "हस्यविदो वेद"; ट. "हस्यविदो" वेद° पपर
 विदो. ८ क. ल. आत्मवेदविदो न कृत्स्नकारितया मुक्ता°; म. आत्मसं-
 प्रपातकातर्यादीनां विशुद्ध°; प. स. ट. ठ. आत्मज्ञानवप्रतिपातया मुक्ता°. ९ प.
 १५ समिष्टि° व; ज. शानिनि°. १० क. ल. मत्वा; प. स. ट. ठ. मत्वा.
 ११ प. स. ट. कर्मोपभोगमात्रात्प्रसक्तानं°. १२ क. ल. प. स. ट. ठ.
 प्रवर्तयते. १३ क. ल. प. स. ट. "कृदन्तीभूतस्य"; ग. ज. "कृदन्तीभूतस्य". १४
 क. ल. "इणेः इ इ इतय वि"; प. स. ट. "इतय वि"; प. "इणे इतयि".
 १५ ग. प. ज. ठ. विस्मरे°. १६ क. ल. प. स. विधीयते; ट. विधीयते° निर्णी.
 २० १७ क. ल. ग. ज. "उक्तं द्विविध.....विशुद्ध" इति भासति; ट. उच्ये.

त्वादभिन्न एवेत्यवगतः । इदानीं कार्यरूपस्याने-
भावविकाराः कविकृतरूपत्वाद्बुद्धियत्वेन निर्वक्तुमाह । “पङ्-

भावविकारा भवन्तीति” । भाव उक्तलक्षणो

नित्यं विकृतिकारणम् । तैर्विकारैर्विशिष्टः पदप्रकारोऽभिधीयत उपचारतो
यतोऽयं विद्यमानतामेव भवनशब्देनाभिधत्ते । तेन यो विद्यमानमात्रभवना-

त्मकः स एव भिनोऽभिधीयते । अपि च लक्षणाविदो विगृह्णन्ति
भावशब्दं “भवते स्वपदार्थभवनं भावः” इति । “सर्गात्रं भावलिङ्गं

स्यात्” इति च पठन्ति । तस्य विकारा भावविकाराः । भवन्तीति
सामान्यादात्मनः प्रस्कन्दा इव सन्तः स्वेन स्वेन वैशेषिकेण भावविकारात्म-

लाभाय भवन्ति । इतिपरः प्रयुज्यमानः शब्दः शब्दपदार्थकः । क
एवमाह “पङ् भावविकारा” इति । उच्यते । “वाय्वार्याणिः” इति ।

तिकादिपाठात्किञ् [पा० ४ । १ । १५४] । आचार्य इति वाक्यशेषः ।
निर्देशत उपलब्धानां पङ्क्त्यवधारणं सुखार्थम् । वक्ष्यामः “अतोऽन्ये

भावविकारा एतेषामेव विकारा भवन्ति” [निरु० १ । ३] इति ।
आह । कतमे त इति । उच्यते । “जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽ-

पक्षीयते विनश्यतीति” । आह । एतेषां
तेषां विशेषाः जन्यादीनां भावविकारशब्दानां कः कस्यां

विकारावस्थायामवस्थितं भावमाचष्टे कं वा विद्ये-
मानमपि नाचष्टे कं वा न प्रतिपेक्षतीति । उच्यते । “जायत इति पूर्व-

भावस्यादिमार्चष्टे नापरभावमाचष्टे न प्रतिपेक्षति” । जनिः पूर्वं भावः ।
तस्य पूर्वभावस्य । पण्णां भावविकाराणां यदि वान्यो यः पूर्वं भावविकार-

स्तस्य जायत इत्यनेन शब्देनादिमाचष्टे । आह । किमादिमेव । नेत्युच्यते ।
उक्तं “उपक्रमप्रभृत्यपर्यपर्यन्तं” (निरु० १।१) इति । स एव पूर्वापरीभूतो

भावस्तावदेव जायत इत्युच्यते यावन्निष्ठाशब्दवाच्यः संवृत्तो जात इति । नापर-

१ ग. ज. ‘पङ्भावविकारा भवन्तीति’ नास्ति. २ क. ख. ग. ज. ‘भाव
उक्त.....भिनोऽभिधीयते’ इति नास्ति. ३ ठ. ‘शे विधी’ ४ च. एवं.

५ क. ख. स्वपदार्थे भवः; घ. झ. ट. स्वः पदार्थभवनः; ग. ज. ट. स्वः पदार्थो
भवः. ६ च. भावोऽलिङ्गः स्यादिति. ७ ग. ज. ‘वधारणार्थः. ८ च. ‘कः’
नास्ति. ९ ग. ज. भिविद्यमानमपि; च. प्रियमाणमपि. १० ग. च. ज.
इत्येष भावः पूर्व. ११ ठ. आचष्टे इति जनिः.

- भावमाचष्टे न प्रतिपेधति । नेति प्रतिपेधे । अपरो भावोऽपरभावः । आह ।
 कस्मादपरः । पौर्वापर्यं हि देशकालकृतम् । उच्यते । जनिशब्दवाच्यो
 भावविकारः पूर्वः । तस्मादपरकालेऽस्तिशब्दवाच्यः । तत्रैवं सति जनिश-
 ५ ब्दवाच्ये भावविकारेऽस्तेरप्यर्थोऽस्ति विद्यमानता । किं कारणम् । न
 ह्यविद्यमानो जायते । अपि च कारणात्मनि भावे सर्वे एते भावविकाराः
 सन्ति सर्वार्थसत्त्वशक्तित्वात्तस्य यथा पृथिव्यां घटादयो भावविकाराः । तै
 तु द्वारद्वारिभावेन विशेषात्मलाभं प्राप्नुवन्ति । तद्यथा । जनिद्वारेणास्ति ।
 अस्तिद्वारेण विपरिणम्येति । किं कारणम् । न ह्यजातोऽस्तीत्युच्यते
 नाप्यविद्यमानो विपरिणम्यत इति । तत्रैवं सति जायत इत्येव शब्दो
 १० जन्मैव केवलं ब्रवीत्यविवक्षितेतरभावविशेषम् । किं कारणम् । एकार्थक-
 तित्वाच्छब्दस्य । अस्तिशब्दवाच्यस्य भावविकारस्यासंपूर्णत्वात् । अनवधू-
 तरूपं हि तस्यामवस्थायां तद्भवत्यनुमानमर्थं किमपि जायत इति ।
 तस्माज्जायत इत्येव शब्दो जायमानावस्थायामस्तित्वं विद्यमानमपि नाचष्टे ।
 आह । यदि नाचष्टेर्थादापन्नं भवति प्रतिपेधतीति । उच्यते । “ न
 १५ प्रतिपेधति ” इति । अस्तिवस्य न प्रतिपेध करोतीत्यर्थः । किं कारणम् ।
 उच्यते । अस्तिवत्त्वानपि ह्यसौ जायते । तस्मिन्प्रतिपिद्वेऽनामक एव
 स्यात् । कमालम्य जायते । तस्मान्न प्रतिपेधत्यस्तिवम् । उपस्थितत्वाच्च ।
 उपस्थित एव प्रत्यासन्नस्तस्यावधारणकाल इत्यतश्च न प्रतिपेधति ।
 एवमेव प्रपञ्च उत्तरेष्वपि भावविकारेषु । समासतस्तु यत्र यद्वक्तव्यं
 २० स तद्भूतः ।

“ अस्तीत्युक्तस्य सत्त्वावधारणम् ” । ईदृशीति जातस्य सत्त्वस्या-
 वधारणमात्रं ब्रवीति न विपरिणाममाचष्टेऽपूर्णत्वात् । न प्रतिपेधन्युपस्थि-
 तत्वात् । “ विपरिणम्यत इत्यप्रप्यवमानस्य तस्याद्विकारम् ” । विपरिण-
 म्यत इत्येव शब्दोऽप्रप्यवमानस्य तस्याद्विपरिणम्यमानस्य तत्वाच्चङ्गाद्यादिकारं
 २५ योऽस्य भावोऽस्तित्वं स्वल्पत्वं वा तस्माद्विकारं विक्रियामात्रं ब्रवीति न

१ ग. ज. अगो भाव आह; च. अपरभाव आह. २ क. स. 'जातिः'. ३ क.
 स. ग. घ. ज. झ. ट. ट. 'मतिः'. ४ क. ए. ग. ज. जायतेन विरुद्धम्. ५ क. स.
 ग. झ. एव च प्र. ६ घ. 'सत्त्ववधारणम्'. अस्तीति नारित. ७ ग. ज.
 'अस्तीति' न विप्रे. ८ घ. 'ईदृशीति'. ट. 'ई' ध. ९ ग. ज. 'द्वयप्र.प'; घ.
 १० 'द्वयप्र.प'.

दृष्टेरर्थमाचष्टे न प्रतिपेधति । “ वर्धत इति स्वाङ्गाम्युच्चयं सांयौगिकानां
वार्थानाम् ” । वर्धत इत्येष शब्दः स्वेपामङ्गानां शिरोग्रीवाबाहूदरादीनां
सांयौगिकानां वा गोहिरण्यवान्यादीनाम्युच्चयमाहाम्युच्चिततां ब्रवीति ।
आह । कथं प्रयोगः । उच्यते । “ वर्धते विजयेनेति वा वर्धते
शरीरेणेति वा ” । वर्धते विजयेनेति सांयौगिकेपूदाहरणम् । वर्धते
शरीरेणेति स्वाङ्गाम्युच्चये । अत्र वर्धत इति द्रुवनापक्षीयतिमाचष्टे न
प्रतिपेधति । “ अपक्षीयत इत्यनेनैव व्याख्यातः प्रतिलोमम् ” । यथैव
हि स्वाङ्गैः सांयौगिकैर्वा द्रव्यैर्लब्धीयते तथेवापक्षीयतेऽपि तत्रापि नाचष्टे न
प्रतिपेधति । “ विनश्यतीत्यपरभावस्यादिमाचष्टे न पूर्वभावमाचष्टे न प्रति-
पेधति ” । विनाश एवापरभावस्तस्यादिमाचष्टे । किमादिमेव । नेत्युच्यते ।
उपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तमिति ह्युक्तं (नि० १।१) यावद्विनष्ट इति । स च
विनाशं द्रुवन्न पूर्वभावमाचष्टेऽपक्षीयतेरर्थं विद्यमानमपि तस्मिन्विनाशे ।
कथं युगपदपक्षीयतेरर्थो विनाशोऽस्तीति । उच्यते । न ह्यनपक्षीयमाणो विन-
श्येत् । आह । एतेभ्यो भावविकारेभ्यः किमन्येऽपि व्यतिरिक्ताः सन्ति
भावविकारा न वा । उच्यते ॥ २ ॥

अतोऽन्ये भावविकारा एतेषामेव विकारा भवन्तीति ह
स्माह ते यथावचनमभ्युहितव्या न निर्बन्धा उपसर्गा
अर्थान्निराहुरिति शाकटायनो नामाख्यातयोस्तु कर्मोप-
संयोगद्योतका भवन्त्युच्चावचाः पदार्था भवन्तीति गार्ग्य-
स्तथ एष पदार्थः प्राहुरिमे तन्नामाख्यातयोरर्थविकर्णमा
इत्यवगर्थे प्रपरेत्येतस्य प्रातिलोम्यमभीत्यामिमुख्यं प्रती-
त्येतस्य प्रातिलोम्यमिति ह्यु इत्यभिपूजितार्थे निर्द्वुरित्ये-
तयोः प्रातिलोम्यं न्यवेति विनिग्रहार्थोवा उदित्येतयोः
प्रातिलोम्यं समित्येकीमावं व्यपेत्येतस्य प्रातिलोम्यम-
न्विति साहस्यपरभावमपीति संसर्गमुपेत्युपजनं परीति

१ ग. च. ज. ‘ सांयौगिकानां वार्थानां ’ नास्ति. २ ग. ‘ कानां वार्थानां गो’;
च. कानां गो’. ३ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. इत्येतेनै’ ४ क. ख. ङ. ट. ठ.
‘ रुच्य’ ५ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ‘ अपि ’ नास्ति. ६ क. ख. घ. ङ. ट.
ठ. ‘ दि ’ नास्ति. ७ क. ख. ग. ३; घ. च. ज. ङ. ट. अङ्गो नास्ति; ठ. इति
निरुक्त्याख्यायां द्वितीयः खण्डः. ८ क. ख. उ. त. द. रणम् ॥ ४ ॥ आ०. २०

सर्वतोभाषमधीत्युपरिभावमैश्वर्यं वैवमुच्चावचानर्थान्प्राहुस्त
उपेक्षितव्याः ॥ ३ ॥

इति प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

- ५ “ अतोऽन्ये भावविकारा एतेषामेव विकारा भवन्तीति ह स्माह ” ।
अतो भावविकारपदकाद्येऽन्यत्वेन भावविकारा
अन्ये भावविकाराः लक्ष्यन्ते न ते पृथगेवात्यन्तभिन्नाः सन्ति । किं
तर्हि । एतेषामेव विकारा भवन्ति । तद्यथा । जनि-
शब्दाद्यो भावविकारोऽनेकप्रभेदभिन्नोऽनेकपर्यायशब्दवचनो निष्पद्यतेऽ-
१० भिन्नव्यते उत्तिष्ठतीत्येवमायुपेक्षितव्यम् । तथाऽस्तिशब्दवाच्योऽनेकप्रभेद-
भिन्नोऽनेकपर्यायवचनधास्ति विद्यते भवतीत्येवमादि । तथा विपरिणमतिश-
ब्दाद्यो विपरिणमते जीयते भावान्तरमापद्यत इत्येवमादि । तथा धर्मेतिश-
ब्दाद्यो धर्मेते पुष्यति उपचीयत आप्यायत इत्येवमादि । तथा
अपक्षीयतिशब्दाद्यो अपक्षयति अपक्षयतीत्येवमादि । तथा विनश्यतिशब्दाद्यो
१५ विनश्यति म्रियते विलीयत इत्येवमादि । इति ह स्माह । क एवमाह
पार्ष्णीयणित्यनुवर्तते ।

- “ ते यथावचनमन्यहितव्याः ” । त एते जन्मादिशब्दवाच्या विकारा
यथावचनं यो यस्मिन्वचने यथावचनमवस्थिताः सन्ति । प्रकरणोपपत्तिर्मा
मन्त्रार्थविधारणं प्रत्यभ्युहितव्या वितर्क्याः प्रयुज्यमाना इति यावत्प्रयोगः ।
२० सर्व एव धातवो भाववचनास्तेषामिहाध्ययने प्राप्ते शास्त्रातिगौरवमयादे-
सदृशेणमुत्पद्यते । इह शास्त्रे व्याख्याशैलीयं
यास्करस्य व्याख्या- द्रष्टव्या । उद्देशो निर्देशः प्रतिनिर्देश इति ।
क्षीयती तत्वेऽर्थाः सूत्रस्थानीयः । तद्यथा । पदभाव-
विकारा इति । निर्देशो वृत्तिस्थानीयः । तद्यथा ।

- ५५ जायतेऽस्ति विपरिणमति इति । प्रतिनिर्देशो वार्तिकस्थानीयः । तद्यथा ।
जायत इति पूर्वभावस्यादिमाचष्ट इति । एवं सर्वत्र यथासंभवं योग्यम् ।

१ क. ख. उ. त. द. ५. २ ड. घ. ङ. च. ३ यथाध्यायस्य प्रथमः पादः ।
नारिक, त. द. मदनः पादः. ३ ड. “विकारा इति । अतो भावः”. ४ क.
ख. घ. ङ. ट. पृथक्पृथक्त्वम्. ५ उ. “भवन्तीति । त”. ६ क. ख. ग. ज. झ.
झ. ट. उ. जीयते. ७ क. ख. घ. ङ. ट. उ. चरयति. ८ म. न. ज. धर्मेदी.
२१ १ घ. छिन्न. १० ग. घ. न. व्याख्याक्षीय. ११ घ. परि. “नारिक.

सानुपङ्गमुक्तं नामाख्यातयोर्लक्षणम् । नाममु किञ्चिदवशिष्यते । तदव-
सरप्राप्तमपि सदधुना नोच्यते पदचतुष्टयलक्षणप्रतिज्ञान्यावातभयात् । उक्त्वा
पदचतुष्टयलक्षणं चतुर्थेन पादेन तद्वक्ष्यामः । प्रतिज्ञाप्रसक्तमेवाधुनोपसर्ग-
लक्षणमुच्यते । आह । वक्ष्यति भवानुपसर्गलक्षणमिदमेव तावदुच्यतां

उपसर्गाः सार्थ- किमिमे उपसर्गा नामाख्यातवत्पदचतुष्टयान्निष्कृष्य ५
कत्वे परतच्चा इति बद्धाः सन्तोऽर्थानाहुर्न वेति । उच्यते “न
शाकटायनमः निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराद्वुरिति शाकटायनः” ।
नेति प्रतिपेक्षे । निष्कृष्य नामाख्यातमभ्यापद-

वाक्यरूपेण विरचिताः सन्तः । के पुनस्ते । उपसर्गाः । आख्यातमुपगृ-
ह्यार्थविशेषमिमे तस्यैव सृजन्तीत्युपसर्गाः । “अर्थान्निराद्वुरिति शाकटायनः” । १०
निश्चयेन सतोऽर्थानाहुः । साक्षान्न तेषामर्थोभिधानशक्तिरस्ति पृथग्विरचि-
त्तानामित्यभिप्रायः । यथा वर्णानां पदादपगतान्, मर्थोभिधानशक्तिर्नास्त्येव-
मेतेषामपि नामाख्यातवियोगेऽर्थोभिधानशक्तिर्नास्ति । क एवमाह । शाक-
टायनः । शकटस्यापत्यं नडादिपाठात्फक् (पा० ४ । १ । ९९)
शाकटायनः ॥ १५

आह । कथं तेषामर्थवचेति । उच्यते । “नामाख्यातगोस्तु कर्मोपसं-
योगद्योतका भवन्ति” । तुशब्दोऽवधारणार्थः । नामाख्यातयोरेव योऽर्थः
कर्म तत्रैव विशेषं किञ्चिदुपसंयुज्य द्योतयन्ति । स एव नामाख्यातयोरेगार्थ-
विशेष उपसर्गसंयोगे सति व्यज्यते यथा प्रदीपसंयोगे द्रव्यस्य गुणविशे-
पोऽभिव्यज्यमानो द्रव्याश्रय एव भवति न प्रदीपाश्रयः । २०

आह । कोऽप्यथा ब्रवीति येनैवमुच्यते शाकटायन एवमाहेति । शृणु ।
“उच्चावचाः पदार्था भवन्तीति गार्ग्यः” । उच्चा-
स्वतन्त्रा इति गार्ग्यः उच्चावचाश्च बहुप्रकारा इत्यर्थः । एवा-
मुपसर्गपदानामर्थः पदार्था भवन्ति वियुक्ताना-
मपि नामाख्याताभ्यामिति गार्ग्य आचार्यो मन्यत इति वाक्यशेषः । एकै- २५
कोऽप्येवं प्रादीनां नामाख्यातवियोगेऽप्यनेकार्थ इत्यभिप्रायः । तद्यथा ।
‘प्रेत्यादिकर्मोपदीर्णभूतार्थेषु’ इत्यभिधाने शक्तिरस्येवेत्येवमाद्युपलक्षितव्यं

१ ठ. सर्गा इति । नेति०. २ ठ. “टायन इति निभ” ३ ग. ज. “उच्यते”
नास्ति. ४ ठ. “योगित्वति । तुशब्दो” ५ ठ. “एव” नास्ति, ६ ज. “किञ्चित्. ७ क.
११. य. ह. ट. ठ. “कर्मोदीर्णो भूतार्थे इ” २०

लक्षणशास्त्रे । यत्पुनरेतदुक्तं वर्णवदित्यनभ्युपगमादयुक्तम् । न ह्यभ्युपगतम-
 स्माभिरेतदनर्थका वर्णा इति । सामान्या हि वर्णेष्वभिधानशक्तिरस्येव यथा
 मृदवयवेषु सर्वमृन्मयभाण्डारम्भशक्तिः । सा तु पदत्वेन समुदितानामर्थविशे-
 षेऽवतिष्ठते यथा मृदवयवानां घटे घटारम्भशक्तिरभिव्यज्यत एवम् । तत्र
 यदुक्तं वर्णवदनर्थका उपसर्गा नामाख्यातवियोगादित्येतदयुक्तम् । अपि च ।
 ननु वर्णनर्थकैरारम्भमाणं पदमप्यनर्थकमेव स्यात् । न ह्यशुक्लैस्तन्तुभिरारम्भ-
 माणः पटः शुक्लो भवति । ततश्च पदैरनर्थकैरारम्भमाणं वाक्यमनर्थकमेव
 स्यात् । वाक्यैधानर्थकैरारम्भं शास्त्रमप्यनर्थकमेव स्यात् । ततश्चाभ्युदयनिः-
 श्रेयसार्थो योऽयमभ्युद्यमः स्वप्रत्ययेन विदुषामयमनर्थक एव स्यात् । अनिष्टं
 चैतत् । तस्मादर्थवन्तो वर्णा इत्येतदुपपन्नम् । यत्पुनरेतदुक्तं प्रदीपवद-
 नर्थका उपसर्गा इति । तदयुक्तम् । प्रदीपो हि स्वेनार्थेन प्रकाशाख्येनार्थ-
 वानेव । सत्यपि चार्थवत्त्वे प्रकाश्यमर्थमाधारभूतं प्रत्याययन् स्वां प्रकाशन-
 शक्तिमभिव्यनक्ति । एवमुपसर्गा अर्थवन्तोऽपि सन्तः स्वार्थाभिधानशक्ति-
 मनेकप्रकारां विद्यमानामपि स्वार्थाभिधानशक्त्याधारभूते नामाख्याते प्रत्या-
 य्याभिव्यञ्जयेयुः । तत्र यदुक्तं प्रदीपवदनर्थका उपसर्गा इत्येतदयुक्तम् ।
 नामाख्यातयोरेवासात्वर्थ उपसर्गसंयोगे सत्युपजायत इति द्रुमः । न हि
 लोके यो यत्र समर्थो भवति स तत्रान्यमपेक्षते । नामाख्याते चार्थविशेषं
 प्रत्युपसर्गसंयोगमपेक्षते । तस्मादुपपन्नमुपसर्गस्य क्रियाविशेषोऽर्थः क्रिया-
 सामान्यमात्रमास्यातस्येति । तत्र यदुक्तमनर्थकाः पृथगवस्थिता उपसर्गा
 इत्येतदयुक्तम् । कुतः । “तय एष पदार्थः प्राहुरिमे तम्” । तदेतदु-
 पपन्नं भवति । य एषुपसर्गेषु स्वोऽनेकप्रकारोऽर्थ इति प्राहुरेव तमिमे उप-
 सर्गाः पदविशेषाः पृथगपि सन्तः । कः पुनरसाविति । उच्यते । “नामा-
 ख्यातयोरेवविकरणम्” । अर्थविक्रियामित्यर्थः । तस्मादर्थवन्त एवेति ।
 उच्यतां तर्हि क एषां कास्मिन्नर्थविशेषे वर्तते । उच्यते । अयं तावत् ।
 “सा इत्यर्थः गर्भे” । तद्यथा । आ पर्वतादिति । अर्थागिति
 गम्यते । अनेकार्थेष्वपि सयुग्मसर्गाणामेकैकोऽर्थ उदाहरणत्वेनोच्यतेऽर्थव

१ क. ख. घ. ङ. ट. मृदोऽयम्. २ क. ख. घ. ङ. ट. ‘ननु’
 नास्ति. ३ क. ख. घ. ङ. ट. ‘एतद्’ नास्ति. ४ क. ख. घ. ङ. ट. ट.
 तत्राप्यने. ५ क. ख. घ. ङ. ट. ट. अपि. ६ ग. न. ‘मवेक्षते. ७ घ. ‘सर्वपद’.
 ८ क. ख. एतेन । ४ । उच्यते. ९ ग. ‘तवत् ॥ ४ ॥ आ’.

स्वप्रकाशनार्थम् । “ प्रपरेत्येतस्य प्रातिलोम्यम् । ” प्रपरा इत्येतावुप-
सर्गवितस्यैवाडोऽर्थस्य प्रातिलोम्यमाहृतुः । प्रगतः परागतः । “अभी-
त्याभिमुख्यं” आह । अभिगतः । “प्रतीत्येतस्य” एवाभेः “प्रातिलोम्यं”
आह । प्रतिगत इति । “ अतिमुं इत्येतावभिपूजितार्थे ”
वर्तेते । अतिघनः सुब्राह्मण इति । “ निर्दुरित्येतयोः प्रातिलोम्यम् ” ।
निर्धनो दुर्ब्राह्मण इति । “ न्यवेति विन्निग्रहोर्ध्वौ ” । निगृह्णाति
अथगृह्णातीति । “ उदिति ” अयमेक एव द्वयोः “ प्रातिलोम्यं ” आह ।
उदगृह्णातीति । “ समित्येकीभावं ” अर्थमाह । संगृह्णातीति । “ व्यपेत्येतस्य
प्रातिलोम्यं ” आहृतुः । विगृह्णाति अपगृह्णातीति । “ अन्विति सादृश्या-
परभावं ” आह । अनुरूपमस्येदमिति सादृश्यम् । अनुमच्छतीत्यपरभावः ।
“ अपीति संसर्गं ” आह । सर्पियोऽपि स्यात् । मधुनोऽपि स्यात् । “ उपे-
त्युपजनम् ” । उपजनमाधिक्यम् । उपजायते । “ परीति सर्वतोर्भावं ”
आह । परिधीवतीति । “ अधीत्युपरिभावं ” आह “ ऐश्वर्यं वा ”
अधिपतिष्ठति अधिपतिरिति ।

आह । नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्तीत्युक्तम् । अत्र
नान्नः कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्तीत्येवं न गृह्यते । “ उपसर्गाः क्रिया-
योगे ” (पा० १ । ४ । ५९) इति प्रसिद्धो हुपसर्गाणां क्रियापदेन
योगो न नाम्ना । उपसर्गा हि क्रियाङ्गत्वेनैव नामान्यास्कन्दन्तीति ॥ ३ ॥

इति^१ निरुक्तन्याख्यायां षष्ठ्याध्यायस्य प्रथमः पादः ।

१ ट. “स्वोभेः” उ. “एवाभेः” नास्ति. २ ट. अतिमु इत्यभिपूजितार्थे इति
अतिमु. ३ ट. “लोम्यमाह । निः” ४ ट. र्याभिनि । निः. ५ ट. उदित्येतयोः
प्रातिलोम्यं । उदि. ६ ट. “मावमिति अर्थः” ७ ट. “सर्वमिति आह”.
८ प. “उपेत्युपजायते” नास्ति. ९ ट. जनमिति उप. १० ट. भावमिति
आह. ११ प. “वापयतीति. १२ प. ट. अधिपतिष्ठतिरिति. १३ प. गृह्यते. १४
प. स. ट. उ. सिद्धो. १५ ग. ५; प. स. ट. उ. प. ज. ‘२’
नास्ति. १६ क. स. प. स. ट. इति जन्मवार्ताधनवर्तिन आचार्यभट्टदुर्गास्य
कृतो निरुक्तः. १७ ट. षष्ठ्याध्यायस्य. १८ प. स. ट. पादः षष्ठः; प. पादः
षष्ठातः.

अथ निपाता उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्त्यप्युपमार्थेऽपि कर्मोपसंग्रहार्थेऽपि पदपूरणास्तेषामेते चत्वार उपमार्थे भवन्तीवेति भाषायां चान्वध्यायं चाग्निरिवेन्द्र इवेति नेति प्रतिषेधार्थो भाषायामुभयमन्वध्यायं नेन्द्रं देवममंसतेति प्रतिषेधार्थः पुरस्तादुपाचारस्तस्य यत्प्रतिषेधति दुर्म-

दासो न सुरायामित्युपमार्थोऽपि उपरिष्ठादुपाचारस्तस्य येनोपमिमिति चिदित्येषोऽनेककर्माचार्यंश्चिद्विदं ब्रूयादिति पूजयामाचार्यः कस्मादाचार्य आचारं ग्राहयत्याचिनोत्यर्थानाचिनोति बुद्धिमिति वा दधिचिदित्युपमार्थे

कुलमापांश्चिदाहरेत्यवकुत्सिते कुलमापाः कुलेषु सीदन्ति नु इत्येषोऽनेककर्मेदं नु करिष्यतीति हेत्वपदेशे कथं नु करिष्यतीत्यनुपुष्टे नन्वेतदकार्पादिति चाथाप्युपमार्थे भवति । वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः । वृक्षस्येव ते पुरुहूत शाखा वयाः

शाखा धेतेर्वातायना भवन्ति शाखाः शशयाः शक्तोतेर्वाथ यस्यागमादर्थप्रथक्त्वमह विज्ञायते न त्वोद्देशिकमिदं विग्रहेण प्रथक्त्वात्स कर्मोपसंग्रहश्चेति समुच्चयार्थ उभाभ्यां संप्रयुज्यतेऽहं च त्वं च यृश्रद्धन्तित्येतस्मिन्नेवार्थे देवेभ्यश्च

पितृभ्य एत्याकारो वेति विचारणार्थं हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वेह वेत्यथापि समुच्चयार्थ भवति ॥ १८ ॥

“ अथ निपाताः ” । उक्तमुपसर्गलक्षणं सामान्यं “ नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्तीति ” । विशेषलक्षणमपि “ आ इत्यवगर्थे ” इत्येवमादि । अस्या इति कृत्वा च ते प्रत्येकं समास्यताः ।

अधुना सामान्यलक्षणानुपक्तं प्रतिज्ञाप्रसक्तमेव निपातलक्षणं वर्तयिष्यामः । तदधिकारार्थोऽयमथशब्दः । “ उच्चावचेषु ” अनेकप्रकारेषु “ अर्थेषु निपतन्ति ” इति निपाताः । आह । कतमे पुनस्ते एतेषामिति ।

१ क. ख. द. “ भूति ॥ १ ॥ चिदि ”; छ. त. “ भूति ॥ ६ ॥ चिदि ”. २ क. ख. छ. त. द. “ कस्मादाचार्यः ” नास्ति. ३ क. ख. द. भवति ॥ २ ॥ वृक्षः छ. त. भवति ॥ ५ ॥ वृक्षः छ. त. द. “ ज्यते ॥ अहं ”. ५ क. ख. छ. त. द. भवति चापुर्वात्वा मनुष्यं त्वेति ॥ ३ ॥ (छ. त. ८). ६ ट. उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्तीति ।

१० उच्चाः

उच्यते । “अप्युपमार्थेऽपि कर्मोपसंग्रहार्थेऽपि पदपूर्णाः” । उपमैवार्थ

उपमार्थस्तस्मिन्नुपमार्थे । उपमा नाम कस्मिंश्चि-

निपातानामर्थाः देवार्थे यः प्रसिद्धो गुणस्तस्यान्यस्मिन्नप्यसिद्धत-

द्गुणेऽर्थे शब्दमात्रेण यदुपसंयोज्य तद्गुणप्रकाशनं

क्रियते सोपमा । कर्मोपसंग्रह एवार्थः कर्मोपसंग्रहार्थस्तस्मिन्कर्मोपसंग्रहार्थे । ५

अर्थोपसंग्रहार्थे । कर्मशब्दो हि प्रायेणार्थपर्यायवचन एतस्मिंश्चास्त्रे ।

गतिकर्माण उच्यते धातवः । गत्यर्था इति गम्यते । पदमेव पूरयितव्यं

येषामर्थस्ते पदपूर्णाः । तदेतच्चैराश्रयमर्थभेदकृतं निपातानां समासेन ।

आह । किमविशेषेण सर्व एतस्मिन्नर्थे निपतन्ति । नेत्युच्यते । तेषां

सर्वेषां मध्य एत एव चत्वार इयन्तचिन्नवः प्रायोवृत्त्योपमार्थे भवन्ति । अधु- १३

नैवमुक्त्वा भाषाछन्दःप्रविभागेनोदाहरणे एकैकं दर्शयति । समासविस्तराभ्यां

हि शास्त्राणि प्रतीयन्ते । तत्रायं तावत् । “इवेति भाषायां च” उप-

मार्थायः “अन्वध्यायं” छन्दसि चेत्यर्थः । कश्चिच्छन्दस्येव भवति न

भाषायां कश्चिद्भाषायामेव न छन्दसि कश्चिदुभयत्रेत्यतो विभागेन प्रदर्शयते ।

आह । किमुदाहरणमित्रेत्यस्योपमार्थायत्वे का चोपमाशब्दस्य व्युत्पत्तिरिति । १५

उच्यते । उपगम्यान्तया गुणैर्मयित इत्युपमा ।

इत्येतस्योपमार्था- अग्निरिव मन्यो त्विषितः संहस्व सेनानार्निः सहुरे-

मत्ये उदाहरणम् । हूत एधि । हव्याय शत्रून्नि भजस्व वेद-

ओजो मिमोनो वि मृषो नुदस्व” [ऋ० १० ।

८४-२] । इत्येतदत्रोदाहरणम् । तपसः पुत्रो मन्युर्नाम तस्ये- २०

ममोपमम् ।

आह । ननु सर्व एवायमृग्यजुःसामात्मको ब्रह्मराशिरादित्यान्तरपुरुरास्य

१ स. ट. ठ. उच्यते; च. उच्यं (?) ते. २ ग. ज. “असिद्धे. ३ ग. ज.

“हार्थः । कर्म;” क. ल. घ. स. ट. ठ. “हार्थ इत्यर्थः । कर्म.” ४ क. ल. घ. २५

स. विधात्वर्थः; ट. त्रिधात्वै” त्रिधात्व. ५ क. ल. घ. स. ट. ठ. “दरणवेके.”

६ ठ. इवेतिभाषायां चान्वध्यायं चेति । इव । भाषा. ७ घ. स. ट. ठ. उपमा.

८ ग. ज. अग्निरिव मन्यो त्विषितः एतस्वेति कक् एतद्; घ. ट. अग्निरिव

नुदस्वेत्येतद्. ९ ठ. “तस्मैदुमार्थः. १० घ स. ट. ठ. “सामायात्मको; घ.

सामान्यात्मको.

‘आर्प’ कथन- भगवतो हिरण्यगर्भप्राणस्यार्पम् । ऐतरेयके रहस्य-
प्राज्ञे “शतर्चिनो माध्यमाः” इत्येवमाद्यनुप-
प्रयोजनं रिक्म्य पुनः पर्यायवृत्त्या “एतमेव सन्तं शतर्चिन
इत्याचक्षते एतमेव सन्तं गृत्समद इत्याचक्षते”

- ५ [ऐ० आ० २।२।१] इत्येवमादिना क्रमेण मन्त्रद्वक् शब्दान् प्राणे-
निगमयति । अपि चैता ऋचः शौनकेन संदृष्टाः । यस्यामार्पाणि चिन्त्यन्ते
सा च स्मृतिः । “श्रुतिस्मृत्योश्च विरोधे श्रुतिरेव गरीयसी” इति ।
न्यायविदः खल्वपि पठन्ति “विरोधे त्वनपेक्षं स्यात् [जै० सु०
१।३।३]” इति । तस्माद्विशेषाभिधानमनर्थकमेवेति । उच्यते । न
१० ह्यकस्मादात्मनः परिशयमात्रशेषः सञ्ज्ञानकः कुर्यात् । “पश्यतो ह्युभा-
वपि” । तेन क्षेत्रज्ञावुभावपि मन्त्राभिव्यक्तौ व्यापृतौ । बुद्धिदेवतात्वेन
हिरण्यगर्भः क्षेत्रज्ञो व्यवस्थितः सर्वभूतानां कर्मविपाकानुरूप्येण यमर्थं शब्दं
वा दर्शयति तस्मिन्निरो निशिष्टकर्मकारी क्षेत्रज्ञो बुद्धिस्थः पश्यति । तत्रैवं
सति वसिष्ठादिर्मन्त्रद्वक् क्षेत्रज्ञस्तेनैवोपदर्शितं मन्त्रं पश्यतीत्युभयमुपपद्यते ।
१५ एवं सत्पुभावपि याथात्म्यतत्त्वाद्यनुसंधेयी मन्त्रप्रयोगकाल उभयोरर्थवत्त्वार्यं ।
यत्पुनरेतदुक्तं श्रुतिस्मृत्योर्विरोधे स्मृतिरनपेक्षेति । न हि विरोधोऽस्म्युभयो-
रपि संधीयमानयोः । अपि च श्रुतिपूर्वकमेवेदं स्मरणं न स्वतन्त्रम् ।
साण्टके हि रहस्यप्राक्षणं दर्शयति “येन साम्ना स्तोत्र्यन्त्यात्तात्सामोप-
धावेद्यस्यामृचि तामृचं यैर्दार्पेण तमृचि (छा० उ० १।३।८-९) इति ।
२० तत्र यदुक्तं स्मृतिरियमिति तदुक्तम् । तस्माद्वक्तव्यमेव विशेषार्पमिति ।
त्रिष्टुप्तेया मांन्यवी श्वेनादिषु निष्पेक्षेर्वत्ये शस्यते । मन्त्र्य पुनरिन्द्र
एव मांहाभाग्यात्कर्मगृहकन्वाच । अथवा देवतान्तरं पृथग्भिधानस्तुत्यभि-
धानसर्वथात् ।

- १ क. रा. च ठ. पर्यायवृत्त्ये. २ ग. ज. संदृष्टा; च. स्मृष्टा; ठ. सादृष्टा.
३ क. रा. घ. झ. विपन्ते, ट. विपन्ते चिन्त्य. ४ ग. ज. व्यापृतौ. ५ ग. च.
२५ ज. ठ. “नुरूपेण. ६ क. रा. घ. झ. ट. तद्विषये. ७ घ. झ. वसिष्ठमन्त्रं; ठ.
वसिष्ठमन्त्र आदि. ८ क. ख. घ. झ. ट. ठ. “एतावदनुभवं; ग. ज. “तस्यदायावनुप-
पद्येयो. ९ क. रा. ग. घ. ज. झ. ट. अर्पतत्त्वाय. १० क. ख. ट. मुनिर. ११ क. रा.
घ. झ. ट. “नरेक्षेति; च. “नरेक्षेति” इत्ये. १२ क. रा. घ. झ. यदार्प; ट. यदार्प
वेपं. १३ क. ख. घ. झ. ट. ट. तदुक्तम्. १४ क. रा. विशिष्टार्पमिति; च.
झ. ट. विशिष्टेनाप्यार्पमिति. १५ ग. च. ज. मांन्यवे. १६ ग. “निष्पेक्षेर्वत्ये
२१ १७ ग. घ. झ. ट. मांहाभाग्यात्. १८ ग. च. ज. “सद्वन्धवात्.

‘आह । ननु भान्यवो मन्त्रो माहेन्द्रग्रहयजिसंनिधौ निष्केवल्ये शस्य-
भानो महेन्द्रमभिहितिसंस्कारेणासमर्थ एव वक्तुमथ किमर्थमयं निष्केवल्ये
शस्यत इति । उच्यते । अन्यदेव हि स्तुत्यभिष्यङ्गयमपूर्वमारारुपकाराद्ग-
भूतं माहेन्द्रग्रहयजिव्यङ्ग्यस्यापूर्वस्य । “ अपि वा श्रुतिसंयोगात्प्रकरणे
स्तौतिशंसंती क्रियोत्पत्तिं विदध्याताम् ” [जै० सू० २।१।२४]
इति न्यायविदो याज्ञिकाः पठन्ति । यक्ष्यति चायमपि “ इतीमा देवता
अनुक्रान्ताः सूक्तभाजो हविर्भाज ऋग्भाजश्च भूयिष्ठाः ” [निरु० ७।१३]
इति । स एष मनुः स्तुतिमागेव । यथा “ अभित्वा शूर ” [ऋ०
सं० ७।२।२२] इतीन्द्र एव तस्मिन्निष्केवल्ये यथा च
“ आपो हि ष्ठा ” [ऋ० सं० १०-९-१] इत्याप आग्निमास्ते
सूर्यादय आश्विन एवम् ।

“ हे मन्यो सहुरे सहनशील एतस्मिन् शत्रूणामभिभवनकाले प्रत्युपस्थित
आहूतः सन्नस्माभिः सेनानीः सेनाप्रणेता नोऽस्माकमेधि भय । ततश्चा-
ग्निरेव स्थितो दीतस्त्वं तेजसा भूत्वा सहस्व । अभिभय तानस्मच्छत्रून् ।
हत्वाय हत्वैव यदेतेषामस्मच्छत्रूणां स्वं वेदो धनं तत् त्वमादाय तेषामस्मद्योधा-
नामोजो बलं मिमानो निर्माय यथावस्तु यथाहं विभजस्व । येऽपि च
केचिद्वतौवशिष्टा मृधो मृधकारिणोऽस्माद्विपोऽस्मत्तः प्रत्याजिहीर्षन्त्येतद्धनं
तानपि विनुदस्व प्रेरयस्व दूरमपुनरागमनाय । अथवा ओज इत्यस्योत्तरेण
विनुदस्वेत्यनेन क्रियापदंन योगः । कथम् । हृत्वा शत्रून्भाजयित्वा च
तद्धनं ये केचिद्वतौवशिष्टा अस्माद्विपैः प्रत्याजिहीर्षन्त्येतद्धनमस्मत्तस्तेषा-
मोजो मिमानः तुल्यिष्या कियदवनिष्टवयं ह्येते न शक्ताः प्रत्याहर्तुमित्येवं
मिमानस्तावन्मात्रशेषयजान्कृत्वा त्वं विनुदस्वैनान्दूरमपुनरागमनाय ।

द्वितीयमुदाहरणमेतस्यैव । “ इहैवेधि^१ मां च्योष्टोः^२ पर्यंत इवाविचा-

१ ग. ज. माहेन्द्राः ग्रह. २ च. अपि च शु. ३ ग. ज. स्तौति
शंसतीति. ४ क. रा. घ. झ. ट. ठ. ‘च’ नास्ति. ५ ठ. अग्निरे- २५
ति मन्त्रः पुनरेव पठ्यते. ६ च. ‘नः’ नास्ति. ७ क. रा. घ. झ. ट. ठ. ‘स्वं’
नास्ति. ८ च. ट. ययपि. ९ ट. ‘यननावशिष्टा’. १० ग. ज. ‘प्रेरयत’ नास्ति.
११ प. झ. ट. ठ. कंषन्ः. १२ घ. झ. ट. ड. दिवंतः १३ घ. झ. ट. ‘वेधि’
धारय; ग. ज. ‘वेधि नार च्यो (ज. चो) हाःधारय. २६

चलिः । इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय
इत्येतस्य तस्मिन्नेवार्थे [ऋ० सं० १०।१७३।२] अनया
द्वितीयमुदाहरणं चानुष्टम्भा ध्रुव आङ्गिरसो राजानमभिपिपेच ।
इहैव राष्ट्रे त्वमेधि भव । मा चातस्त्वं अप-
५ ध्योष्टोः । पर्वत इवाविचलनशील । इन्द्र इव च इह ध्रुवः शाश्वतस्तिष्ठ ।
सिध्दत्वेदं राष्ट्रमिहैव धिभूतियोगेऽवस्थितं धारयेत्याशीः ।

भाषायां प्रसिद्धमेवेति कृत्वा नोदाहरणं पठेति । अथैते एव । अग्नि-
रिव तीक्ष्ण इन्द्र एव विक्रान्तः ।

“नेति प्रतिपेधार्थीयो भाषायां” प्रसिद्धः । “उभयमन्वध्यायम्” ।
१० “नेन्द्रं देवममंसत” [ऋ० सं० १०।८६।१] । नेन्द्रं देवमात्मनो
दीपयितारममन्यन्तादित्यरश्मयः । दैवते शेषः [निरु० १३।४] । किं
पुनर्लक्षणमिति । उच्यते । “उपमार्थीय उपरिष्टादुपाचारस्तस्य येन” अर्थेनो-
पमेयमर्थं “उपमिमीते” । तद्यथा । “हंसु पीतासो युष्यन्ते दुर्मदासो न मुरा-
याम् । ऊर्ध्वं नग्ना जर्जन्ते [ऋ० सं० ८।१२।१२] । काण्डो

१५ मेधातिथिराङ्गिरसस्य प्रियमेध ऐन्द्रं मूक्तं ददृशाते ।
नेत्यस्योपमार्थीयत्वे तत्रैषा गीयत्री । येषामपि विनियोगः कचिद-
उदाहरणं न्यत्र नास्ति तेऽपि यैश्चस्तोमे विनियुज्यन्ते ।
हंसु पीतासः पीताः सन्तो हृदयेष्ववस्थिताः सोमाः युष्यन्त इव संप्रहारमिव
फुर्यन्त्यहं विदिष्ट इत्येवं स्पर्धमानाः । क इव । दुर्मदासो न । दुर्मदासः
२० “आजसेरमुक्” [पा० ७।१।५०] । यथा कुस्तिताम्राः केचिपुरुषाः
मुरायां पीतायां सत्यां युष्येरन्नेवम् । किंच तमेव यजमानं जर्जन्ते ह्युव-
न्तीवात्मलाभपरितुष्टाः । कथं जर्जन्ते । ऊर्ध्वं ऊर्ध्वं रात्रिमिव नग्ना
भूत्वा स्त्रियं संप्रयोक्ष्यामह इत्येवमभिप्राया इव केचिद्विशिष्टाः पुरोहीः ।

- १ प. ट. मां. २ ज. चोष्टोः. ३ ट. 'च' नास्ति. ४ क. रा. प. स. ट.
५ रिपता चेदं. ५ क. रा. प. स. ट. पठितम्; ग ज. पठेति. ६ स. प्रसिद्धः इति शेषः ।
उभ. ७ क. रा. 'उच्यते' इत्यस्य पश्चात् 'प्रतिपेधार्थीयः' पुरस्तादुपचारस्तस्य
परातिदिपति । दुर्मदासो न मुरायाम् इति वर्तते; स. इदं सर्वं 'देवममंसत' इत्यस्य
पश्चाद्वर्तते. ८ प. ट. ठ. 'दुर्मदासः'. ९ प. स. ट. हंसु पी० नर्तते; ग. ज. हंसु
पीतासो युष्यन्ते० जति. १० प. ट. गादशी । हंसु पीतासः । येता. ११ ग. ज.
वापासोमे. १२ प. ट. 'हंसु पीतासः' नास्ति. १३ क. रा. पुरुषाः ॥ १ ॥
२१ चिदि; ग. पुरुषाः ॥ ५ ॥ चिदि.

चिदित्येपोऽनेकार्थोऽपि सन्नुपमार्थीयसंयोगेनोदाहृतः । कथमयमनेकार्थ इति । उच्यते । “ आचार्यश्चिदिदं ब्रूयादिति ‘चित्’ ‘नु’ ‘ननु’ इत्ये- पूजायाम् ” । आचार्य एवं ब्रूयात्कोऽन्य एवं तेषामर्थोः वक्ष्यतीति । “ दधि चिदित्युपमार्थे ” । दधिरूप ओदन इति । “ कुल्माषाधिदाहरेत्यवकुत्सिते ” । भृशं कुत्सिते । कुल्माषानपि तावदाहरेति किं चान्यदाहरिष्यसि । “ नु इत्येपोऽनेकार्थः ” । कथम् । “ इदं नु करिष्यतीति ” । कथं हि क्रियाया हेतुनिमित्तमित्यर्थः । कथं नु करिष्यतीति शृङ्गा करिष्यतीत्युक्ते यत्पुनरनुपृच्छति कथं नु करिष्यति तदनुज्ञानमेतस्मिन्ननुपृष्टे । “ नन्वे- तदकार्पीदिति च ” । अनुपृष्ट एवायं भवतीति । नन्ययमकार्पीदित्यथमयं प्रयीति कथं करिष्यतीति ।

“ अधाप्ययमुपमार्थं भवति ” । तर्था । “ अक्षो न चक्रयोः शूर- बृहन्म ते महा शिरिचे रोदस्योः वृक्षस्य नु ते पुरुहूत- ‘नु’ इत्येतस्योपमार्थी- वया न्यु ३ तयो रुरुहारेन्द्र पूर्वीः ” [अ० सं० ६ । यत्ने उदाहरणम् २४ । ३] ॥ भरद्वाजो बार्हस्पत्योऽस्यास्त्रिष्टुभः पूर्वणार्धचैनेन्द्र स्तुवोत्तरेणोपाध्वयान् । हे शूर इन्द्र पुरुहूत महानक्ष इव चक्रयोः प्रशिरिचे प्रकर्षेणातिरिच्यते तत्र महा मह- स्वेन विभूतिः । कुतोऽतिरिच्यते । रोदस्योः द्यावापृथिव्योः । तथापि चैवं विभूतियुक्तस्य सतस्तव त्वद्भक्तानामेवास्माकं सतां वृक्षस्येव वयाः शाखाः पूर्वोरुतयः पूर्वोऽस्मद्यज्ञागमनमार्गा विरुद्धः खिलीभूतास्तवानागमनार्ते । अहो कैष्टं मन्दभागधेयतास्माकं येषां नो धनं तदस्ति येन त्वां यजेमहि । किमत्र त्वां वक्ष्याम इति । “ वयाः शाखाः ” इति पर्यायवचनः । “ वितेर्वयाः ” इति निगमप्रसक्तस्य निर्वचनम् । “ शाखाः खस्योः ” इति पर्यायप्रसक्तस्य । व्याख्याता उपमार्थायाः ।

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. “संयोगाद्बोदाहृतः, ग. ज. “मार्थसंगेनो”, २ ख. २५ कुल्माषो”, ३ झ. “कुत्सिते कुलेषु छीदन्तीति भृशं”. ४ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. किं चान्य”. ५ ख. “रिष्यति. ६ ठ. “नु नास्ति”. ७ घ. झ. ट. तदनुज्ञानमे”. ८ ग. घ. ज. झ. ट. कठं; घ. कठं. ९ ग. भवति ॥ ७ ॥ अश्वो”. १० घ. झ. ट. तदप्या । अक्षो न० पूर्वीः. ११ ग. बृहन्० पूर्वीः” ॥ ४ ॥; ज. बृहन्० पूर्वीः”. १२ ग. ज. बार्हस्पत्यो पारिशिनोऽस्याः”; ख. भरद्वाजः स्याः”. १३ क. ख. १० त्वानागम”; झ. त्वागम”. १४ ज. कथं. १५ ठ. दक्षाय”. १६ ख. शिस्तपा.

चलिः । इन्द्रं इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय

इवेत्यस्य तस्मिन्नेवार्थे [ऋ० सं० १०।१७३।२] अनया

द्वितीयमुदाहरणं चानुष्ठभा ध्रुव आङ्गिरसो राजानमभिषिपेच ।

इहैव राष्ट्रे त्वमेधि भव । मा चातस्त्वं अप-

५ प्योष्टोः । पर्वत इवाविचलनशील । इन्द्र इव च इह ध्रुवः शाश्वतस्तिष्ठ ।

स्त्रियेदं राष्ट्रमिहैव विभूतियोगेऽवस्थितं धारयेत्याशीः ।

भाषायां प्रसिद्धमेवेति कृत्वा नोदाहरणं पठेति । अथवैते एव । अन्नि-
रिव सीक्ष्य इन्द्र एव विक्रान्तः ।

“नेति प्रतिषेधार्थायो भाषायां” प्रसिद्धः । “उभयमन्वस्थायम्” ।

१० “नेन्द्रं देवममंसत” [ऋ० सं० १०।८६।१] नेन्द्रं देवमात्मनो

दीपयितारममन्यन्तादित्यरश्मयः । दैवते शेषः [निरु० १३।४] । किं

पुनर्लक्षणमिति । उच्यते । “उपमार्थीय उपरिष्टादुर्पाचारस्तस्य येन” अर्थेनो-

पमेयमर्थं “उपमिमीते” । तद्यथा । “हंसु पीतासो” युज्यन्ते दुर्मदासो न मुरा-

याम् । ऊधर्न नम्रा जरन्ते [ऋ० सं० ८।१२।१२] । काण्वो

१५ मेधातिथिराङ्गिरसश्च प्रियमेध ऐन्द्रं सूक्तं ददृशाते ।

नेत्यस्योपमार्थीयत्वे तत्रैषा मायत्री । येषामपि विनियोगः कचिद-

उदाहरणं न्यत्र नास्ति तेऽपि दैवस्तोमे विनियुज्यन्ते ।

हंसु पीतासः पीताः सन्तो हृदयेष्ववस्थिताः सोमाः युज्यन्त इव संप्रहारमिव

कुर्वन्त्यहं विशिष्ट इत्येवं स्पर्धमानाः । क इव । दुर्मदासो न । दुर्मदासः

२० “आजसेरसुक्” [पा० ७।१।५०] । यथा कुसितमदाः केचिपुरुषाः

सुरायां पीतायां सत्यां युष्येरन्नेवम् । किंच तमेव यजमानं जरन्ते स्तुव-

न्तीवात्मलाभपरितुष्टाः । कथं जरन्ते । ऊधर्न ऊधरिव रात्रिमिव नम्रा

भूत्वा क्षिप्यं संप्रयोक्ष्यामह इत्येवमभिप्राया इव केचिद्विशिष्टाः पुरुषैः ।

१ घ. ट. मां. २ ज. चोष्टाः. ३ ठ. ‘च’ नास्ति. ४ क. ख. घ. झ. ट.

२५ स्थित्वा चेदं. ५ क. ख. घ. झ. ट. पठितम्; ग. ज. पठंति. ६ झ. प्रसिद्धः इति शेषः ।

उभ. ७ क. ख. ‘उच्यते’ इत्यस्य पश्चात् ‘प्रतिषेधार्थीयः पुरस्तादुपचारस्तस्य

यस्तन्तिषेधति । दुर्मदासो न सुरायाम्’ इति वर्तते; ख. इदं सर्वं ‘देवममंसत’ इत्यस्य

पश्चाद्वर्तते. ८ घ. ट. ठ. ‘दुर्पाचारः’. ९ घ. झ. ठ. हंसु पी० जरन्ते; ग. ज. हंसु

पीतासो युज्यन्ते जरन्ते. १० घ. ट. मायत्री । हंसु पीतासः । येनां. ११ ग. ज.

वाचास्तोमे. १२ घ. ठ. ‘हंसु पीतासः’ नास्ति. १३ क. ख. पुरुषाः ॥ १ ॥

२१ चिदि; ग. पुरुषाः ॥ ६ ॥ चिदि.

चिदित्येपोऽनेकार्थोऽपि सन्नुपमार्थायसंयोगेनोदाहृतः । कथमयमनेकार्थ

इति । उच्यते । “ आचार्यश्चिदिदं ब्रूयादिति

‘चित्’ ‘तु’ ‘ननु’ इत्ये- पूजयाम् ” । आचार्य एवं ब्रूयात्कोऽन्य एवं

तेषामर्थाः बध्यतीति । “ दाधे चिदित्युपमार्थे ” । दधिरूप

ओदन इति । “ कुल्माषांश्चिदाहरेत्यवकुत्सिते ” । ५

भृशं कुत्सिते । कुल्माषानपि तावदाहरेति किं चान्यदाहरिष्यसि । “ नु

इत्येपोऽनेककर्मा ” । कथम् । “ इदं नु करिष्यतीति ” । कथं हि

क्रियाया हेतुनिमित्तमित्यर्थः । कथं नु करिष्यतीति पृष्ट्वा करिष्यतीत्युक्ते

यत्पुनरनुपृच्छति कथं नु करिष्यति तदनुज्ञानमेतस्मिन्ननुपृष्टे । “ नन्वे-

तदकार्षीदिति च ” । अनुपृष्ट एवायं भवतीति । नन्वयमकार्षीदितत्कथमयं १०

प्रवीति कथं करिष्यतीति ।

“ अथाप्ययमुपमार्थं भवति ” । तर्था । “ अक्षो न चक्रयोः शूर

वैहृन्प्र ते महा रिरिचे रोदस्योः । वृक्षस्य नु ते पुरुहूत

‘नु’ इत्येतस्योपमार्था- यया व्यु ३ तयो रुरुहारिन्द्र पूर्वीः ” [ऋ० सं० ६ ।

यत्ने उदाहरणम् २४ । ३] ॥ भरद्वाजो बार्हस्पत्योऽस्यास्त्रिष्टुभः १५

पूर्वेणार्धचैवेन्द्रं स्तुत्वोत्तरेणोपालब्धवान् । हे शूर

इन्द्र पुरुहूत महानक्ष इव चक्रयोः प्ररिरिचे प्रकर्षेणातिरिच्यते तव महा मह-

त्वेन विभूतिः । कुतोऽतिरिच्यते । रोदस्योः द्यावापृथिव्योः । तथापि चैवं

विभूतियुक्तस्य सतस्तथ तद्वक्तानामेवास्माकं सतां वृक्षस्येव ययाः शाखाः

पूर्वीरुतयः पूर्वेऽरमयज्ञागमनमार्गा विरुरुहुः खिलीभूतास्तवानागमनार्ते । १०

अहो कैष्टे मन्दमागधेयतास्माकं येषां नो धनं तदस्ति येन त्वां यजेमहि ।

किमत्र त्वां वेंस्याम इति । “ ययाः शाखाः ” इति पर्यायवचनः । “ वेत्सेर्वयाः ”

इति निगमप्रसक्तस्य निर्वचनम् । “ शाखाः खरायोः ” इति पर्यायप्रसक्तस्य ।

व्याख्याता उपमार्थायाः ।

१ क. रा. घ. झ. ट. ठ. “संयोगाद्वोदाहृतः, ग. ज. “मार्थसंयोगेनो”. २ घ. २५
कुल्माषान्”. ३ झ. “कुत्सिते कुत्सेषु क्षीदन्तीति भृशं”. ४ क. ल. घ. झ. ट. ठ.
किं चान्य”. ५ घ. “रिष्यति. ६ ठ. “नु नास्ति”. ७ घ. झ. ट. तदनुज्ञानमे”. ८
ग. घ. ज. झ. ट. कटं; घ. कटं. ९ ग. भवति ॥ ७ ॥ अक्षयो”. १० घ. झ. ट.
तदपि । अक्षो न० पूर्वीः. ११ ग. वृहन्० पूर्वीः” ॥ ४ ॥; ज. वृहन्० पूर्वीः”.
१२ ग. ज. बार्हस्पत्यो पातिष्ठिनोऽस्याः”; घ. भरद्वाजः ययाः. १३ क. ल.
स्तवानागम”, झ. तवानागम”. १४ ज. कथं. १५ ठ. दायाम”. १६ घ. सितपा.

अयानन्तरं प्रतिज्ञाप्रसक्तानेव कर्मोपसंग्रहार्थान्वह्यामः । “अथ

यस्मागमादर्थपृथक्त्वमहं विज्ञायते न त्वौद्देशिक-

कर्मोपसंग्रहार्थाः मित्रं विग्रहेण पृथक्त्वात्स कर्मोपसंग्रहः” । यस्या-

गमादप्याहारादश्रूयमाणस्यैव निपातस्य सरूपवि-

रूपैकशेषादर्थतो वा पृथक्त्वमहं पृथग्भाव एव विज्ञायते । तद्यथा देवदत्त-
यज्ञदत्तौ देवदत्तश्च यज्ञदत्तश्चेति । आह । द्वावप्यत्र देवदत्तयज्ञदत्तौ

श्रूयेते । न तु तयोरौद्देशिकमित्रं पृथक्त्वमिति यथा गा अश्वान्पुरुषान्पशू-
निति प्रत्येकमुद्दिश्यमानानाम् । इह तु विग्रहेण चशब्दागमादेतत्पृथक्त्व-

मुपजायते । तेन विग्रहणं द्वयोर्वहूनामर्पणां वेति विग्रहः । स एव पृथक्त्वा-

हेतोः पृथक्त्वेन निमित्तेनोपलक्ष्यमाणो यस्माद्वाच्यं बहून्वा गृहीत्वैकस्मि-

न्कर्मण्युपसमावेष्टयति । तद्यथा । देवदत्तयज्ञदत्तौ पचेते इत्येवम् । तस्मा-

त्कर्मोपसंग्रह इत्येतन्नामैव तद्भवति । अथवा बृहस्पतिर्द्येयुक्ते प्रजापतिरनु-

क्तोऽपि द्वितीयो गम्यते प्रजापतिश्चेति । कतमः पुनस्ताविति ।

उच्यते । “चेति” ।

कदाचित्त्वयमेष ‘समुच्चयार्थ उभाभ्यां’ अप्यर्थाभ्यां विगृहीताभ्यामैव

संयुक्तैः ‘प्रयुज्यते’ । यथाहं च त्वं च । “अहं

‘व’ इत्यस्य समुच्चया- च त्वं च वृत्रहन्संयुज्याय सन्निभ्य आ । अरातीवा

र्थे उदाहरणं चिदद्विवोऽनु नौ शूर मंसते मद्रा इन्द्रस्य

रातयः” [ऋ० सं० ८ । ६२ । ११] ॥

घोरपुत्रः प्रगायोऽन्यैर्नृणैस्स सख्यार्थी सन्नम्रवीत् । हे वृत्रहन्निन्द्र अहं

च प्रगापस्त्वं च संयुज्याय । एकस्मिन्नर्थे सति प्राप्तिलक्षणे युज्यावहै ।

१ च. ‘पृथक्त्वमहं वा मह’ । २ ग. ज. ‘शेषादर्थपृथक्त्वमह’; घ. ट. ‘शेषा-

दर्थत्कमह’; ठ. ‘शेषादर्थपृथग्भाव’ । ३ च. पृथक्त्वभावः । ४ क. ख. नानामह’;

ग. ज. तेनामह’; घ. झ. ट. तेन ग्रह’; ठ. नात्वेन ग्रह’ । ५ क. ख. ग. ज. घ.

२५ झ. ट. ठ. धैर्ति नास्ति; च. विनि. ६ क. ख. घ. झ. ट. एष; ट. एषं पृ° घ. ७ घ.

कस्मात्. ८ घ. झ. ट. ठ. इत्येवंनाम’ । ९ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ‘तु’ नास्ति’.

१० घ. झ. ट. संयुक्तः; ठ. संयुक्तः° स. ११ घ. झ. ट. ‘त्वं च वृत्रहन्निद्र’.

१२ ग. घ. ज. ‘च° रातयः’; घ. झ. ट. ‘च वृत्रहन् रातयः’ । १३ क. ख.

२६ घ. झ. ट. ठ. ‘यन्मा पश्या इन्द्रस्य’.

आ सनिभ्य आप्रातेः । 'अरातीवा' इत्येकं पदम् । अथैवमावां संयुक्तौ दृष्टा हे
अदिवैः । अदानशीलोऽपि दानशीलतामुपेत्यानुमंस्यत एवावयोर्दानं भद्रा
भन्दनीया इन्द्रस्य रातयो दानानीत्येवं मन्यमानः । को हि नाम त्वत्संयुक्ता-
नामस्माकं न दद्यादित्यभिप्रायः ।

अथाप्यौकार "एतस्मिन्" समुच्चयार्थे । "देवेभ्यश्च पितृभ्य एति "

५

अयमेतस्मिन्मन्त्र 'आकारः' । "यो अग्निः कव्य-

आ इत्यस्य समुच्च-
यार्थे उदाहरणम्

वाहनः पितृभ्यश्च दत्तावृधः । प्रेदुं हव्यानि वोचति

देवेभ्यश्च पितृभ्य आ " [ऋ० सं० १०]

१६ । ११] अनुष्टुप् यामी पितृयज्ञे विनियुक्ता । योऽग्निः कव्यस्य बोद्धा यस्याय
मधिकारः कव्यानि वोढव्यानीति स इहास्माकं पितृयज्ञे होतृत्वेन व्यवस्थितः
पितृनाहूय यज्ञतृणयत्नित्यर्थः । किलक्षणान् । ऋतावृधः सत्यवृधो वा
यज्ञवृधो वा । किं च । प्रेदुं हव्यानि वोचति वोचतु वा 'प्रश्नवोच्येतानि
हवींष्यस्मत्प्रत्तानि । कस्मै । देवेभ्यश्च पितृभ्यश्चेति ।

१०

'वेति' अयं 'विचारणार्थे' । समुच्चयार्थं यप्रसङ्गेनोदाह्रियते ।

"इन्तोहं पृथिवीमिमां नि दधानीह वेह वा ।

१५

वा इत्यस्य विचारणार्थे

कुर्वित्सोमस्यापामिति" [ऋ० सं० १०]

११९ । ९] ॥ ऐन्द्रो र्व्यस्तस्यैधमायं गायत्री ।

हन्तेदानीमिवाहमिमां पृथिवीमिह वान्तरिक्षलोक

इह वा सुलोकेऽयवेह दक्षिणे स्कन्ध इह वा सव्ये निदधान्ययस्थापया-
म्यतः स्थानादुद्धृत्य । अथ किमर्थं ब्रूये । कुर्वित्सोमस्य बह्वहं सोमं पीत-
स्थानिति । अस्य मे सोमपानस्यानुरूपमेव वीर्यमप्यस्तोत्राभिप्रायः ।

१०

१ ग. च. ज. आ सनि प्रातेः. २ च. ट. 'द्विवः । अद्विर्वज्रः । अरातीवा
चित् अदान' ; झ. 'द्विवः अरातीवा चित् । अदान' ; ड. 'द्विवः आद्विर्वज्रः तदान् दे
शा विनात अरातीवा चित् अदान'. ३ च. ट ठ. अथाकार. ४ क. ख. घ. झ.
ट. आग्निन्. ५ च. झ. ट. 'अग्निः पितृभ्य आ; ग. च. ज. 'अग्निः प्रश्नवा-
हनः पितृभ्य आ. ६ ग. च. ज. कव्यबोद्धा. ७ क. ख. घ. झ. ट. 'त्वेन
स्थितः. ८ क. ख. घ. झ. ट. 'चतु च प्रय; ९ ट. चतु च मधी. १ ग. अ. दन्ताई
पृथिवीमिमां मिमिति; प. झ. ट. इन्ताई ० पा. मिति. १० ग. तैवः १६; ज. तवः;
च. लवः; ठ. बलः. ११ ट. तस्येदमान. १२ ग. सोमस्य पी. १३ क.
ख. घ. झ. ट. 'अपि' नष्टेन.

‘ अथापि ’ वेत्ययं ‘ समुच्चयायै ’ भवति ’ ॥ ४ ॥

वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वेति अह इति च ह इति च विनि-
ग्रहार्थीणौ पूर्वेण संप्रयुज्येते अयमहेदं करोत्वयमिदमिदं ह
करिष्यतीदं न करिष्यतीत्यथाप्युकार एतस्मिन्नेवार्थ उत्तरेण

५ मृपेभे वदन्ति सत्यमु ते वदन्तीत्यथापि। पदपूरण इदमु तदु
ह्येत्येपोऽनेककर्मदं हि करिष्यतीति। हेत्वपदेशे। कथं हि
करिष्यतीत्यनुपृष्टे। कथं हि व्याकरिष्यतीत्यसूयायां। किलेति
विद्याप्रकर्षः। एवं किलेत्यथापि न ननु इत्येताभ्यां संप्रयुज्य-
तेऽनुपृष्टे। न किलैवं ननु किलैवं मिति। प्रतिषेधे। मा कार्षीमां

१० हार्षारिति। चासत्त्विति च खलु कृत्वा खलु कृतमथापि
पदपूरण एवं खलु तद्वभूवेति। शश्वदिति विचिकित्सार्थीयो
मापायां शश्वदेषमित्यनुपृष्ट एवं शश्वदित्यस्वयंपृष्टे। नून-
मिति विचिकित्सार्थीयो मापायामुभयमन्वध्यायं विचिकि-
त्सार्थीयश्च पदपूरणश्चागस्य इन्द्राय हविर्निरूप्य मरुभ्यः

१५ संप्रदित्सांचकार स इन्द्र एत्य परिवेषयांचके ॥ ५ ॥

“ वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वेति ” । “ वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा
तस्यैव समुच्चयायै गन्धर्वाः सप्तर्विंशतिः । ते अग्रे अश्वमौयुञ्जन्ते ”
अस्मिञ्चममा दधुः ” [तै० सं० १ । ७ ।

७ । काठक सं० १३ । १४ । मैत्रा० सं० १ । ११ ।

१० १] ॥ अनुपृष्टेया । वाजपेय्येऽश्वयोजने विनियुक्ता । हे अश्व वायुश्च
त्वा मनुश्च त्वा गन्धर्वा एते सप्तविंशतिर्युञ्जन्ति त्वामस्मिन्ब्रधे । ते हि
विदुर्पथा त्वं योक्तव्यः । त एव च पूर्वमप्यश्वं युक्तवन्तो देवानामृषीणां
च । त एव च तस्मिञ्चममादधुराहितवन्तो यस्मादतो ब्रवीमि ममापि
द्यौमेतमश्वं ॥ एव युञ्जन्तु जवं चास्मिन्नादधीन्विति ।

१५ १ वैकृत्स्निष्वपि पुस्तकेऽद्वौ विभक्ते; द. भवति इति निरुक्ते चतुर्थः खंडः ।
वायु० १९. च. ज. कृक् न पठ्यते २ घ. अश्वमयु०; द. अश्वमयु० मा. ४ घ.
“ युञ्जन्तेऽस्मि ”; द. “ युक्षन्तेऽस्मि ” स्ते अ. ५ ग. च. ज. वापे. ६ क. ल.
“ द्विति ॥ १ ॥ अह ”; ग. विवति ॥ ८ ॥ अह०. ७ छ. त. द. नु. ८ क. ल.
॥ ४ ॥ इति मयमाध्यायस्य द्वितीयः पादः; ॥ ९ ॥ छ. इति मयपस्य द्वितीयः पादः
१० ॥ न ननु०; त. ॥ ९ ॥ न ननु०; द. ॥ ४ ॥ न ननु०.

‘ अह इति च ह इति च ’ द्वावप्येतौ ‘ विनिग्रहार्थायौ ’ । तयोः
 पुनरेतयोरेतच्छ्रयोमस्वाभाव्यम् । द्वयोरर्थयोरेक-
 अह ह च विनिग्रहार्थे काले प्रकृतयोः पूर्ववाक्यगतेनार्थेन संयुक्तौ ‘ प्रयु-
 ज्येते ’ । तद्यथा ‘ अयमहेदं करोत्ययमिदम् ’ ।

अयमह यज्ञदत्तो गाः पाययत्वयं देवदत्तो भुङ्क्षामिति । हकारस्योदाहर-
 णम् । ‘ इदं ह कारिष्यति ’ यज्ञदत्त इदं ह कारिष्यति । ओदनं
 न पश्यतीति । ‘ अथाप्सुकार एतस्मिन्नेव ’ विनिग्रहार्थे भवति । स
 तस्मिन्नेवार्थे उकारः पुनरुत्तरेण द्वितीयवाक्यगतेनार्थेन संयुक्तः प्रयु-
 ज्यते । तद्यथा । ‘ मृगेमे ’ वृषला ‘ वदन्ति ’

‘ सत्यमु ते ’ ब्राह्मणा ‘ वदन्तीति ’ । विनिग्रहो नाम विभागोनाव-
 स्थितयोर्यज्ञदत्तदेवदत्तयोरेकस्मिन्यज्ञदत्तेऽभिमतरस्सगोपायनस्य नियमेन
 ग्रहणं यत्स विनिग्रहः । तदर्थो विनिग्रहार्थः । विनिग्रहार्थ एव विनिग्रहा-
 र्थायः । ‘ अथापि ’ अयमुकारः ‘ पदपूर्णा ’ भवति । ‘ इदमु स्यत्पु-
 रुतमं पुरस्ताज्ज्योतिस्तमसो वयुर्नावदस्थात् ।

तस्यैव पदपूर्णाः नूनं दिवो दुहितरो विभातीर्गातुं कृणवन्नुपमो
 जनाय ” [ऋ० सं० ४ । ५१ । १] ॥

धामदेवो गौतमोऽनया त्रिष्टुभोपसं तुष्टाव । धातरनुवाकाश्चिनयोः शस्यते ।
 इदं तज्ज्योतिर्यजनाः कथयन्ति । उकारः पदपूर्णः । एतत्पुरुतमं
 बहुतमम् । कुतः पुरुतमम् । तमसः । यदाभिभूय शर्विरं तमः स्वमां-
 त्मानमभिभूयनकथय एव तद्वहुतमम् । पुरस्तात्प्राच्यां दिशि ज्योतिर्वयुन-
 वधप्रज्ञानवदुत्तिष्ठति । नूनं निधयेनैता उपसो दिवो दुहितरः ।
 रूपसामान्यादुहितृत्वम् । विभातीर्विभासमाना गातुं गमनमपि कृताथं
 जनानां कृण्वन्कुर्वन् आगच्छन्ति यथेयमनुरज्यते प्राची दिग्बिध्वंसते च
 तमः । ऐकस्या एव पूजनार्थे बहुवचनम् ।

१ ग. ज. ‘ ह ’ नास्ति. २ घ. झ. ट. करिष्यतीति । इदं न करिष्यति । २५
 यज्ञदत्त इदं ह करिष्यति । ओदनं. ३ ग. ज. नु. ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ.
 एतस्मिन्नेवार्थे उत्तरेण । विनि. ५ च. ‘ गोः पायं. ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ.
 ‘ अयं ’ नास्ति. ७ ग. ज. त्यत्पुरुतमं० जनाय; घ. झ. ट. त्यत्० जनाय.
 ८ घ. झ. ट. तमा. ९ च. ‘ ज्ञानवत्पुरस्तादुत्ति. १० क. ख. घ. ट. कृणवत्;
 ठ. कृणवन्. ११ क. ख. बिध्वंस्यते; घ. झ. ट. बिध्वंस्यते; ठ. बिध्वंस्यते.
 १२ घ. एक.यां.

“तदु प्रयक्षतममस्य कर्म दत्तस्य चारुतममस्ति दंतः । उपहरे यदु-

परा अपिन्वन्मर्ध्वर्णसो नद्य १ श्वतंसः ”

तस्यैव द्वितीयमुदाह- [ऋ० सं० १ । ६२ । ६] ॥ द्वितीयमु-
रणम् दाहरणमस्यैव । गौतमोऽनया त्रिष्टुभेन्द्रमस्तौत् ।

प्रैवर्ग्ये विनियुक्ता । तत्प्रकर्षेण यक्षतमं पूज्यत-

मम् । उ इति पैदपूर्ण एव । अस्थेन्द्रस्य दत्तस्य दासाधितुर्दर्शनीयस्य
या चारुतमं शोभनतमम् । अन्यदपि तस्यास्ति दंतः कर्म किमपि
महुप्रकारम् । तच्चार्यैव पूज्यमेव च । इदमेव तस्य चारुतमं च पूज्यतमं
च । यैकिम् । उपहरे यदुपरा अपिन्वत् । उपह्वानमर्हन्ति यस्मिन्देशोऽव-

स्थिताः सहायाः स उपह्वरो देशः । जनैरनाकीर्णै र्वास्मिन्नेकाकी यदुपरा
मेघपूरिताः मधूदकाश्चतस्रः नद्योऽपिन्वैर्दप आनयदक्षारैर्यत् । यज्ञादि
वर्षद्वारेण प्रैवर्तत इत्यत एतदेवास्य चारुतमं पूज्यतमं चेत्यभिप्रायः ।

‘ ह्रीत्येपोऽनेककर्मा ’ । तद्यथा । ‘ इदं हि कारिष्यतीति हेल्यपदेशे ।

कथं हि कारिष्यतीत्यनुपृष्टे । कथं हि व्याकारि-

‘ हि ’ इत्यस्यार्थाः ध्यतीत्यसूयायाम् । कथमयं व्याकारिष्यतीत्यकृ-

तैप्रयत्नोऽयमित्यभिप्रायः । अमर्षोदसाक्षाच्छब्द-

पूर्वकोऽभिप्रायः परिवर्तोऽसूयेत्युच्यते । परगुणानभ्यनुज्ञेत्यर्थः ।

‘ किलेति विद्याप्रकर्षे ’ । विज्ञानातिशय इत्यर्थः । अन्यत उपभृत्प्राति-

किले इत्यस्य द्रायेनावधार्यान्तरमा आचष्टे कश्चित् ‘ एवं किल ’
तैदासीयुद्धमिति ।

‘अथापि न ननु इत्येताभ्यां’ संयुक्तः किलेत्यर्थः ‘प्रयुज्यतेऽनुपृष्टे’
अर्थे । अन्यत उपश्रुत्य कंचिदर्थं नायमेवमिति ततस्तमेवार्थमन्यमनुपृच्छ-
त्येतेतरमग्रदधत्पूर्वस्य ‘न किलैवं’ इति ‘ननु किलैवं’ इति । ‘मेति’

मा खलु इत्येतयोः अयं ‘प्रतिषेधे’ । तद्यथा । ‘मा कार्पासीं
हार्पीरिति च’ । अयं ‘प्रतिषेधार्थीय’ एव ।

‘खल्विति च’ । तद्यथा । एवं ‘खलु कृत्वा’ । अकृत्वेत्यर्थः । देश-
भाषाव्यवस्थयैवंजातीयानामुपेक्षितव्यः कचित्प्रयोगः । ‘अथापि’
खल्वित्यर्थः, ‘पदपूर्णा’ भवति । तद्यथा । ‘एवं खलु तद्वन्वेति’ ।
अन्वीक्ष्यः प्रयोगः कचित्पादवृत्तपु । ‘शश्वदिति विचिकित्सार्थीयो भाषा-

शश्वदित्यस्य याम्’ । छन्दसि पुनरन्येष्वप्यर्थेषु भवति ।
यथासंभवं द्रष्टव्यः । इयं चास्य शैली । अर्थ-

मपेक्ष्य ‘एवं’ शब्दस्य पुरस्तात्प्रयोगो वा भवत्युपरिष्ठाद्वा । तद्यथा ।
‘शश्वदेवमित्यनुपृष्ट एवं शश्वदित्यस्वयंपृष्टे’ । अर्थे इति वाक्यशेषः ।

नूनं इत्यस्य ‘नूनमिति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम्’ । विचि-
कित्सा नाम विवेकपूर्वकोऽवधारणाभिप्रायः ।

तत्रायं भाषायां भवति । ‘अन्वर्थीयं’ पुनरयमर्थद्वये भवति ।
‘विचिकित्सार्थीयश्च पदपूर्णश्च’ ।

उदाहरणमत्र निर्विवक्षुर्निदानमेवाह । ‘अगस्त्य इन्द्राय’ इत्यादि ।

न नूनमिति मन्त्र- निदानवतां मन्त्राणां निदानमेव पूर्वं वक्तव्यम् ।
स्य निदानम् तेन व्यतितरामर्थ उच्यमानः प्रकाशते । ततः
पदानि । ततोऽर्थः । ततः प्रत्येकं विग्रहेण शब्द-

निर्वचनम् । एष हि व्याख्याक्रमः । अगः कुम्भः । तत्र स्थानः संहत
इत्यगस्त्यः । स ‘इन्द्रार्थं हविर्निरूप्य मरुद्भयः संप्रदित्सांचकार’ ।

१ च. ‘उत्तरार्थान्तरमग्र’ । २ च. खल्विति चार्थं प्रतिषेधार्थीय एव । तद्यथा ;
ट. अयं प्रतिषेधार्थीय एव । खल्विति च. ३ च. ट. अकृत्वा । अकृत्वेत्यर्थः ; स.
अकृत्वेत्यर्थः । खलु कृतं न कृतमित्यर्थः । देश. ४ क. ख. ट. शैली. ५ च. स.
ट. ‘मवेक्ष्य’ ; ट. ‘मवेक्ष्य’ ये. ६ क. ख. घ. स. ट. उभयमन्वध्यायम् । पुन. ;
ट. उभयमन्वध्यायं । छन्दसि पुन. ७ च. ट. भवतीति चिकि. ८ च. कर्तव्यम्.
१ क. र. ग. ज. घ. स. ट. ‘संस्द’ नास्ति. १० च. कुम्भः.

संप्रदातुमैच्छदित्यर्थः । स इन्द्र उपेत्य परिदेव्यांचक्रे । परिदेवना नाम
मनुष्यपूर्वको विलापः ॥ ५ ॥

तृतीय पादः

- न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद्वेदं यदद्भुतम् । अन्यस्य
५ चित्तमभि संचरेण्यमुताधीतं वि नश्यति [क्र० सं० १ ।
१७० । १] ॥ न नूनमस्त्यद्यतनं नो एव श्वस्तनमद्या-
स्मिन्द्यवि दुरित्यहो नामधेयं द्योतत इति सतः श्व उपा-
शंसनीयः कालो ह्यो हीनः कालः कस्तद्वेदं यदद्भुतम् ।
कस्तद्वेदं यदभूतमिदमपीतरद्भुतमभूतमिवा अन्यस्य चित्तम-
१० मिसंचरेण्यमभिसंचार्यन्यो नानेयश्चित्तं चेततेरुताधीतं
विनश्यतीत्यप्याध्यातं विनश्यत्याध्यातमभिप्रेतमथापि पद-
पूरणः ॥ ६ ॥

- ‘ न नूनमस्ति ’ इति । विचार्यभेतन्भमैतत्तावदद्यतनं हविर्मम
नास्तीति । नकारं दृष्ट्वाद्यतनशब्दोऽप्याहृत आचार्येण प्रतिपेधे हि सति
१५ प्रतिपेध्येनावस्यं भवितव्यमिति । एते च मन्त्रैकदेशा एव सन्तोऽप्याहाराः
पदानिरेकादध्ययनकाले नाधीयन्ते । ते त्वर्थनिर्वचनकाले प्रकाशयितव्याः ।
अथापि स्याच्छ्रुतनं भविष्यतीति । नो श्वः । इदं तावदस्मदर्थमेव निरुतं
सदस्मतो व्यापजर्मथ श्वस्तने का प्रत्याशा । किं कारणम् । कस्तद्वेदं यदद्भु-
तम् । को हि नाम तद्वेदं जानाति यदद्भुतमनुपश्वं कस्य भविष्यतीति मम
२० वान्यस्य वेति । कस्मात्पुनर्न विज्ञायत इति । अतो यस्मादन्यस्य चित्तम-
भिसंचरेण्यं संचरणशीलमनवस्थितमित्यभिप्रायः । उत अपि अथेति
छन्दसि समानार्थाः । एतदद्यतनं हविर्निधीतं आध्यातमभिप्रेतं सन्मया

- १ प. झ. ट. मदातुं. २ क. ख. ॥४॥ इति निरुक्तवृत्तौ यथाध्यायस्य द्वितीयः
पादः; ग. च. ज. घ. झ. ट. अहो नास्ति; ठ. °लापः इति निरुक्तव्याख्यायां
२५ पञ्चमः खण्डः ३ छ. त. °भूनामिति वान्यं; द. °भूतमिति वान्यं. ४ क.
ख. छ. त. द. °अप्याध्यातं विनश्यति नास्ति. ५ क. ख. द. १; छ. त.
१०. ६ घ. झ. °ध्याह्वियत आ; ट. °ध्याह्वियत आ ६. ७ क. ख. घ. झ.
८ ठ. °पेध्येनाप्यत. ८ ज. ठ. °मय. ९ ट. समानार्थः. १० क. ख. ग. ज.
११ हविर्निधीतं.

भमेदमित्येवं तथापि विनश्यत्येव । अन्यस्मै प्रदीयते । तत्रैवं सति श्वस्तनम-
स्माकं भविष्यतीति कुत एतदिति समस्तार्थः ।

अथैकपदनिरुक्तम् । 'अद्यास्मिन्धन्वि' । श्रुत्यहो नामवेयं द्योतत इति
सतः । द्योतते तदिति श्रुतिरिति कर्तृकारकम् । सदिति यत्र न्यूनात्तत्र तत्रो-
च्चारित एव कारकनियमो द्रष्टव्यः । अन्यत्र यथेष्टं योग्यम् । 'श्वः' इति 'उपा-
शंसनीयः' उपगम्यं चेतसाशास्तन्यो भवत्यनागतत्वात् । 'हो हीनः काळः' ।
अतिक्रान्तो हि स भवति । श्वःसंबन्धाच्चःशब्दोऽविद्यमानोऽपि निरुक्तः ।
'अद्भुतममृतम्' । इदमपीतरदद्भुतं शोणितवर्षाद्यभूतमिव कादौ चिन्तत्वात् ।
शब्दसारूप्यप्रसङ्गेनेदं निरुक्तम् । 'अन्यो नानयः' । नानात्वेन व्यवस्थितस्या-
पत्यमतकुलजस्येत्यर्थः । अथवा 'न' सतां 'आनेयः' । चित्तं चेततेः । चेतत्य-
नेनार्थानिति चित्तम् । उताधीतं विनश्यतीति । 'आव्यातमभिप्रेतं' इति पर्याय-
वचनम् । एवमयमस्मिन्धन्वे विचिकित्सार्थीयः । 'अथापि' अयमेतस्मिन्नन्य-
स्मिन्धन्वे पदपूर्णो भवति ॥ ६ ॥

इति निरुक्तद्वयौ पञ्चस्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे दुंहि यदिन्द्र दक्षिणा मघोनी ।
शिक्षां स्तोतृभ्यो माति धग्मग्नी नो बृहद्देम विदधे
सुवीराः (क० सं० २ । १६ । ९) ॥ सा ते प्रतिदुग्धां वरं
जरित्रे वरो वरयितव्यो भवति जरिता गरिता दक्षिणा
मघोनी मघवती मघमिति धननामधेयं मंहतेर्दानकर्मणो
दक्षिणा दक्षतेः समर्धयतिकर्मणां व्युद्धं समर्धयतीत्यपि

१ क. ख. ग. ज. घ. झ. ट. 'अथ' नास्ति. २ क. ख. घ. झ. ट. ठ. 'तत्र'
इच्छेत्. ३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. 'इति' नास्ति. ४ क. ख. 'गम्यः सचेतता';
ग. ज. 'गम्यं चेतसां आशा'; घ. 'गम्यं स्वचेतता'; झ. 'गम्यं सचेतता'; ट. 'गम्यः
स्वचेतता'; ठ. 'गम्यं स्वचेतता'. ५ ग. च. ज. कदाचि'; ठ. कचि'. ६ घ. ट.
नानात्वेन यस्मिन्नापान्यमक्षमकुलज'; झ. नानात्वेन व्यवस्थित-
न्ययतामकुलज'. ७ घ. 'इति' नास्ति. ८ क. ख. 'आव्यातमभिप्रेतं'; घ. झ. ट. ठ. 'एतास्मिन्'
नास्ति. ९ क. ख. १; इतरेषु पुस्तकेष्वुक्तं नास्ति. १० क. ख. 'इति' पादः
नास्ति; ग. च. ज. 'इति' नास्ति; ठ. इति जम्बूनामार्धमश्वत्थिनं आचार्य-
भगवद्गुरुं कृतौ कर्त्तव्यं निरुक्तद्वयौ निषण्णाध्यायपञ्चमेन सह निरुक्तपञ्च-
ध्यायस्य. १० ग. ज. घ. झ. ट. पञ्चाध्यायः.

- वा प्रदक्षिणागमनाद्दिशमभिप्रेत्य दिग्घस्तप्रकृतिर्दक्षिणो
हस्तो दक्षतेरुत्साहकर्मणो दाशतेर्वा स्याद्दानकर्मणो हस्तो
हन्तेः प्राशुर्हने देहि स्तोतृभ्यः कामान्मास्मानतिदंहीर्मा-
स्मानतिहाय दा भगो नो अस्तु बृहद्भदेम स्वे वेदने भगो
भजतेर्बृहदिति महतो नामधेयं परिवृढं भवति वीरवन्तः
कल्याणवीरा वा वीरो वीर्यत्यभिन्नान्वेतेर्वा स्याद्भक्तिक-
र्मणो वीर्यतेर्वा सीमिति परिग्रहार्थीयो वा पदपूरणो वा ।
प्र सीमादित्यो असृजत् । प्रासृजदिति वा प्रासृज-
त्सर्वत इति वा विसीमतः सुरुचो येन आवरिति
च व्यवृणोत्सर्वत आदिरपः सुरुच आदित्यरश्मयः सुरो-
चनादपि वा सीमेत्येतदनर्थकमुपबन्धमाददीत पञ्चमी-
कर्मणं सीम्नः सीमतः सीमातो मर्यादातः सीमा मर्यादा
विषीव्यति देशाविति त्व इति विनिग्रहार्थीयं सर्वनामा-
नुदात्तमर्थनामेत्येके ॥ ७ ॥

- १५ ' नूनं सा ते ' इति । गृत्समदस्येयमार्पम् । पृष्ठस्य चतुर्थेऽहनि
नूनमित्यस्य पद- मरुत्वतीये शस्यते । नूनमिति पदपूरण एव ।
पूर्णाधे उदाहरणम् सा दक्षिणा ते तव या पुत्रभावके कर्मणि । सा
किं करोतु । प्रतिदुग्धाम् । किम् । वरम् ।
कर्मणो दक्षिणागुणकात्फल्पप्राप्तिस्तथापि तु दक्षिणायामुपचर्यते । कस्मै ।
२० स्तुवते यजमानाय । किञ्चक्षणा । मघोनी मघवतो हिरण्यवान्यादिधनेन
संयुक्ता तद्वतीत्यर्थः । किञ्च शिक्ष देहि । कस्मै । स्तोतृभ्य ऋविभ्योऽ-
नुकामान् । किञ्च माति धक् । मास्मानतिहायातीत्यान्येभ्यो देहीति । मा
दा इत्यर्थः । अस्मभ्यं तावदेहि ततोऽन्येभ्योऽपि दौस्यसि चेत्यभिप्रायः ।
किञ्च भगो नो धनं नोऽस्तु । येन किं कुर्याम । बृहद्भदेम महदूर्जितं
२५ भदेम दीयतां मुज्यतामिति । क । विदधे यज्ञे । अथवा स्वे गृहे ।
किञ्च युष्मदनुमहाच्च सुवीरा वीरवन्तो भवेम पुत्रवन्तो यथपुत्राः । एव-
मयं मन्वर्थायः मुः । अथ पुनः पुत्रवन्त एव ततः कल्याणवीरा इति
समस्तार्थः ।

१ क. ख. 'छ. त. द. 'वृद्धं. २ क. ख. छ. त. द. विनीव्यति.

१ क. ख. द. २; छ. त. ११; ठ. अज्ञे नास्ति. ४ ग. च. ज. 'कस्मै ते यम'.

२१ ५ ठ. 'दास्यसि चेद्वेदीत्यभि'. ६ ठ. सगृहे. ७ ठ. 'ययपुत्राः' नास्ति.

१. अथैकपदनिरुक्तम् । ' वरो वरयितव्यो भवति ' । त्रियते ह्यसौ ।
 जारिता गरिता गिरतेः स्तुत्यर्थस्य । मघं मंहतेर्दानार्थस्य । ' दीयते
 हि तत् । ' दक्षिणा दक्षतेः ' समर्पयत्यर्थस्य । यज्ञे हि यत्किञ्चिद्विगतार्द्धिकं
 भवति तदियं समर्पयति विशिष्टं हि यज्ञस्य साधनमेतदिति । ' अपि वा
 प्रदक्षिणागमनात् ' दक्षिणा ' दक्षिणां दिशमभिप्रेत्य ' । सा हि दक्षि-
 णस्यां वेदिश्रोणावग्रेण गार्हपत्यं जघनेन सदो दक्षिणेनाग्नीध्रं गत्वान्तर्वेदि
 स्थित्वान्तरेण चात्वालमाग्नीध्रं चोत्सृज्यमाना गच्छति । ' दिक् ' पुनर्द-
 क्षिणा ' हस्तप्रकृतिः ' । प्राङ्मुखस्य प्रजापतेर्यतो दक्षिणो हस्तो बभूव
 सा दक्षिणा दिगभवत् । अथ ' दक्षिणो हस्तः ' कस्मादक्षिण इति ।
 ' दक्षतेः ' उत्साहार्थस्य । स ह्युत्साहवान्भवति कर्मसु न तथा सव्यः ।
 ' दाशतेर्वा स्यात् ' दानार्थस्य । तेनैव हि प्रयेण दीयते । अथ ' हस्तः '
 कस्माद्धस्तः । ' हन्तेः ' । तेन हि हन्यते । नैन्येनापि केनचिद्वेदेन
 हन्यत एव यो हन्तव्यो भवति । सत्यं हन्यते । अयमेव तु ' प्राशुः '
 शीघ्र इत्यर्थः । ' बृहदिति महतो नामधेयं पौरिवृद्धं ' तत् ' भवति '
 इति । ' वीरो वीरयत्वमित्रान् ' । नानाप्रकारमीरयतीत्यर्थः । ' वेतेर्वा
 स्पाह्नतिकर्मणः ' गत्यर्थे वर्तमानस्य । गच्छत्येवासार्वभिमुखः शत्रून् ।
 ' वीरयतेर्वा ' विक्रमार्थस्य । विक्रान्तो ह्यसौ भवति ।

' सीमिति ' अयं ' परिग्रहार्थो वा पदपूर्णो वा ' । " प्र सी-
 मीदित्यो अंसुजद्विधर्ता * श्रुतं सिन्धेवो वरुणस्य
 सीमित्यस्योदाहरणम् यन्ति । न श्राम्यन्ति न वि मुञ्चन्त्येते वयो न
 पंसू रघुया परिज्मन् (ऋ० सं० २ । २८ ।
 ४) " ॥ अस्यामेव तावदुभयमपि प्रदर्शयति । ततः परिग्रहार्थोऽप्ये

१ प. झ. ट. ठ. इति गिरतेः. २ क. ख. घ. झ. ट. ठ. दानकर्मणः. ३ क.
 ख. घ. झ. ट. ठ. ' हि ' नास्ति. ४ ठ. ' साधनं तदिति. ५ क. ख. घ. झ.
 ट. ठ. ' नाग्नीध्रं. ६ क. ख. ग. ज. अन्तर्वेदि. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. २५
 चात्वालोत्करो तान्त (झ. नान्त) माग्नीध्रं. ८ क. ख. घ. झ. ट. ठ. गच्छन्तीति.
 ९ ठ. ' भवदक्षिणो हस्तो दक्षतेरुत्साहकर्मण इति अयं ' १० क. ख. घ. झ. ट.
 ' हस्तो ' नास्ति. ११ घ. ट. हन्यते; झ. हन्वते. १२ घ. झ. ट. ठ. मन्वये.
 १३ प. झ. ट. हन्यते । एवं ' यो. १४ घ. झ. ट. ठ. भवति तस्य हन्तेः
 (प. ट. हन्तेः) येन. १५ ग. घ. ज. परिबुद्धं हि परिबुद्धं तद्वत्. १६ घ.
 ' वासामभिमुत्. १७ घ. ट. सीमादि. रिज्मन्. अस्या.

पुरस्तात्प्राच्यां दिशि । तदुदयोपलक्षितमेव हि प्राच्याः प्राचीत्वम् । वि-
 आवः व्यवृणोद्विवृतानकरोत्सुरुचः प्रशस्तरोचनान्द्रस्मीन्सीमतः सर्वतः ।
 किञ्च स वेनो मेधावी बुध्या बुध्नमन्तरिक्षं तदवयवभूता दिश उपमाः
 उपनिर्मात्र्यः । तामु ह्येतत्प्रतिष्ठितं सर्वमुपनिर्मायते जगादित्येतस्मात्ता
 एवोपनिर्मात्र्य उच्यन्ते । विष्टा विस्थाः । तामु ह्येतज्जगद्विभिन्नं तिष्ठतीति
 ता एव विष्टाः । सतश्चाभिव्यक्तस्य स्यूतस्यासतश्चानभिव्यक्तस्य सूक्ष्मस्य
 योनिं स्थानं । विवः व्यवृणोदित्यर्थः । तदुदये ह्येवंगुणयुक्ता दिशोऽभि-
 व्यज्यन्त इत्यभिप्रायः । अथवा बुध्या आप आन्तरिक्षास्ता उपमा इत्ये-
 वमादि सर्वं योज्यम् ।

५

‘ अपि वा सीमेत्येतदनर्थकमुपबन्धमाददीत् पञ्चमीकर्मणं सीम्नः १०
 सीमतः सीमातो मर्यादातः । सीमा मर्यादा विप्राव्यति देशाविति ’ ।
 विगतसंतानौ देशौ करोतीति ।

‘ त्व इति विनिप्रहार्थीयं सर्वनामानुदात्तम् ’ । निपातत्वेनैतदपि संदि-

ह्येति निपातः ॥ ८ ॥ इति । अतस्त्व इति ह्येवं निपातकाण्ड १५

सर्वनाम च

उदाह्रियते संशयपरिशोधनाय । त्व इत्येतद्विनि-

प्रहार्थीयमिति व्याख्यातम् । किमुत तत्सर्वनामं । विप्रतिपन्नस्वरत्वात्स्वर-
 मव्यवधारयन्नस्यानुदात्तमित्याह । कथं पुनर्विप्रतिपन्नस्वरमेतदिति । उच्यते ।

‘ प्रातिपदिकस्यान्तः ’ इत्यौत्सर्गिकं लक्षणम् । ‘ अन्यत्रापवादात् ’ ।

लक्षणविदोऽपि चास्मापवादं पठन्ति ‘ त्वत्त्वेनेमसमसिमेत्यनुदात्तानि ’ २०

(कि० सू० ४ । १०) इति ।

‘ अर्धनामेत्येके ’ । अर्धस्यैतन्नामेत्येवमेक आचार्या मन्यन्ते । वक्ष्यति

१ ग. ज. ‘ लक्षितेनेव हि. २ ग. ज. सूक्ष्मयोनिः स्थानं; च. सूक्ष्मस्य । योनिः
 स्थानं; ठ. सूक्ष्मस्य अस्य जगतः योनिः. ३ ठ. आन्तरिक्षाः. ४ च. ज.
 योज्यं । १३ । अपि. ५ क. रा. ग. ज. विप्राव्य. ६ ग. ज. हेनं. ७ क.
 रा. च. हिमु तत्सर्वनामविन. ८ ग. ज. ‘ नाप्रावियति. ९ च. ‘ अस्याभि-
 त्पाह. १० ग. ज. च. झ. ‘ पठन्ति अंशेन त्वनेम; च. पठन्ति त्व त्वत् नेम;
 ट. ‘ पठन्ति अंशेन त्वनेम ’ त्वत्; ठ. ‘ पठन्ति अंशेन त्वत् नेम. ११ ग. ज.
 ‘ त्वनुदानि.

चायमपि ' त्वो नेम इत्यर्घस्य ' (निरु० ३ । २०) इति । तदेतत्प्रकर-
णोपपदाम्यामव्यवसेयं कार्धनाम क सर्वनामेति ।

यथात्र सर्वनाम तथेयमनुदाह्रियते ॥ ७ ॥

- ५ ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्मायत्रं त्वां गायति
शक्तीषु । ब्रह्मा त्वो वदन्ति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां
वि मिमीत उ त्वः (ऋ० सं० १० । ७१ । ११) ॥ इत्यृ-
त्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्ट ऋचामेकः पोषमास्ते पुपुष्वान्
होतर्गर्धनी गायत्रमेको गायति शक्तीषूद्गाता गायत्रं
१२ गायतेः स्तुतिकर्मणः शक्कर्ष ऋचः शक्नोतेस्तद्यदामिषुञ्जम-
शक्नुन्तुं तच्छक्तीषां शक्तीत्वमिति विज्ञायते ब्रह्मैको
जाते जाते विद्यां वदन्ति ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति
ब्रह्मा परिवृढः श्रुततो ब्रह्म परिवृढं सर्वतो यज्ञस्य मात्रां
विमिमीत एकोऽध्वर्युरध्वर्युरध्वर्युरध्वरं युनक्त्यध्वरस्य
१५ नेताध्वरं कामयत इति वाऽपि वाधीयाने युरपबन्धोऽध्वर
इति यज्ञनाम ध्वरतिर्हिसाकर्मा तत्प्रतिषेधो निपात इत्येके
तत्कथमनुदात्तप्रकृति नाम स्यादृष्ट्यर्थं तु भवत्युत त्वं
सहस्रे स्थिरपीतमाहुरिति द्वितीयायामुतो त्वस्मै तन्वं
विसस्र इति चतुर्थ्यामथापि प्रथमाचक्षुषचने ॥ ८ ॥
- २० ' ऋचां त्वः ' इति । गृहस्पतेरार्षम् । ऋत्विक्कर्मणां विनियोगमनवर्चा-
चष्टे । ऋचां त्वः पोषमिति । य एते चत्वारो
त्व इत्यस्य सर्वनामत्वे महर्षिज एतेषां त्व एक इत्यर्थः । किमेकः
उदाहरणम् करोति । ऋचां पोषं पुष्टिं पुपुष्वान्पुनः पुनः
भृशं वा देवतायाथात्म्यानुचिन्तनसंतानगर्भस्थान-
२५ करणानुप्रदानवतीर्यथाकाटमृचोऽधीयान आस्ते । स हि तासां पोषः ।

१ म. १२ । ऋचां त्व इति ॥ ११ ॥ च. ज. १३; प. झ. ट. अङ्गो नास्ति; ठ.
' ह्रियते इति निरुक्त्यास्याया उक्तयः सप्तः २ क. ख. छ. उ. द. परिवृद्धः.
३ क. ख. छ. त. द. परिवृद्धः. ४ क. रा. छ. त. द. भवति उत. ५ झ. ख. द.
२; छ. त. १२. ६ ग. ज. ऋत्विक्कर्मणि. ७ घ. झ. ट. ठ. ' भृशं चिन्तनं';
१० ग. ज. यथात्म्यानुचिन्तनं. च. याथात्म्यानुचिन्तनं.

कतम एक एतत्कर्म कुर्वन्नास्त इति । होता । एतत्तान्नद्वयगन्धयनकर्म
 तस्मिन्होतारि विनियुक्तम् । उक्तं च । ' यदृचा हौत्रं क्रियते '[शत०
 ब्रा० ११ । ४ । २ । ७] इति । गायत्रं त्वः । गायत्रं त्वैः एको
 गायति शकरीषु ऋक्षु । कतमः । उद्गाता । तस्मिन्नप्येतत्सामगानकर्म विनि-
 युक्तम् । उक्तं च । ' साम्नोद्गीथम् ' (ऐ० ब्रा० २५ । ८) इति । ५
 ब्रह्मा त्वो ब्रह्मा नामैक ऋत्विग् जाते जाते प्रायश्चित्ते विद्यां वदति ।
 विद्यावपहेतुत्वादात्मनो विद्यां विज्ञानं वदतीतिरेभ्य ऋत्विग्भ्य ईदमत्र
 कुरुतेदमत्र कुरुतेति । तत्रापि होतत्कर्म विनियुक्तम् । स पुनरेव सर्व-
 विद्यः सर्वविज्ञानः । तथाविधो ह्यसाधुधिकारी त्रयीविद्यामयुक्तो येनासौ
 सर्वमेव वेदितुमर्हति । न ह्यसर्वविद्यमधिकारं शक्नुयान्निर्वर्तयितुम् । उक्तं च । १०
 ' अथ केन ब्रह्मत्वमित्यनया त्रय्या विद्यया ' (शत० ब्रा० ११ ।
 ४ । २ । ७) इति । यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः । विमिमीत
 एक इति । मीयत इति मानं कर्म तन्मात्रेभ्युच्यते । या काचि-
 दितिकर्तव्यता यज्ञस्य तां विमिमीतेऽध्ययुः । नानाप्रकारां करोतीतिर्थः ।
 ' गायत्रं गायतेः ' स्तुत्यर्थस्य [धा० १ । ९४२] । स्तुयते ह्यनेन । ' शक्यं १५
 ऋचः शक्नोतेः ' इत्युक्त्वा ब्राह्मणेनापि शक्नोतेः शकरीशब्दे वृत्तिं दर्शयति ।
 ' तद्यदाभिर्वृत्रमशकद्धन्तुं तदेतच्छकरीणां शकरीत्वम् ' । यद्यस्मादाभिरभिष्टुत
 इन्द्रो वृत्रमशकद्धन्तुं तच्छकरीत्वमिति विज्ञायते ऋचां शकरीत्वमिति । एवं
 ब्राह्मणेऽपि शक्नोतेरेव शक्यं इति विज्ञायते । लिङ्गतोऽपि हि दर्शितं
 भवत्याख्यातजानि नामानीति । ' ब्रह्मा पेरिवृद्धः श्रुततः ' । स हि त्रयी १०
 विद्यां वेद । शब्दसारूप्यप्रसक्तमुच्यते । ' ब्रह्म पेरिवृद्धं सर्वतः ' । ऋगादि
 परं चोभयमपि तत्परिवृद्धं सर्वासु दिक्षु । ' अर्च्युरध्वरयुः ' । एवमपि

१ घ. झ. ट. ठ. एतास्मिन्. २ क. ख. घ. झ ' त्वः ' नास्ति; ट. गाय-
 त्रमेको' अं त्वः. ३ क. ख. ग. घ. ज. ठ. ' जाते ' सकृदेव; ट. जाते प्रायं
 जाते जाते. ४ क. ख. ज. ' ईदमत्र कुरु ' सकृदेव. ५ ट. उक्तं च पंचमपंचिका- २५
 पंचमाध्यायी द्वाविंशे खंडे । अथ. ६ क. ख. घ. झ. ट. ' विमिमीत ' नास्ति.
 ७ च. ' मीयत इति ' नास्ति. ८ ग. ज. समानं. ९ घ. झ. ट. प्रकारं. १० च.
 ' शते ' नास्ति. ११ क. ख. तदेव शक'; ग. ज. तदेतच्छकरीत्वं; घ. झ. ठ. तदेव
 शकरीत्वं; ट. तदेव शकरीत्वं तच्छकरीणां. १२ च. ' हन्तुं ' नास्ति. १३ ठ. ' यते
 तदेतच्छकरीणां ऋचां. १४ ग. ज. पेरिवृद्धः. १५ ग. च. ज. परिवृद्धं. २०

नै गृह्यत इति पुनरप्याह । 'अध्वरं युनक्त्यध्वरस्य नेता' प्रापयितेत्यर्थः ।
स ह्यन्तं प्रापयत्यध्वरम् । एवम् । अथवा 'अध्वरं कामयते' कर्तुमिच्छ-
ध्वर्युः । एतस्मिन्निर्वचने युर्वसूयव इति यथा । अथवा 'अधीयाने' तम-
ध्वरं कस्मिंश्चिद्ब्रह्मणेऽध्वर इतीयमेव संज्ञा भवति मञ्चक्रोशनवत् ।

- ५ एतस्मिंश्च निर्वचने 'युः' अयम् 'उपबन्धः' नामकरणः । अध्वरमधीते यः
सोऽध्वर्युः । विग्रहप्रसक्तस्याध्वरशब्दस्य तत्त्वमाचष्टे । 'अध्वर इति
यज्ञनाम' । अध्वर इत्यधुना निर्वक्तव्यः । 'ध्वरैर्तिर्हि साकर्म्यं' । ध्वरति
धूर्वतीति हिंसार्येषु पठितौ [नि० २ । १९] । 'तत्प्रतिषेधः' अध्वरः ।
अहिंस्त्र इत्यर्थः । आह । नन्यत्र हन्यन्ते पशवश्छिद्यन्ते तृणवनस्पतयोऽर्थे
१० कथमहिंस्त्रः । उच्यते । अन्युदय एव हि सः । एवं हि श्रूयते । 'नै वा उ एर्त्त-
न्त्रियसे' (य० वा० सं० २३ । १६) इति । तथाच । 'कुशावमि-
च्छन्ति तृणानि राजन्' इति । तस्मादभ्युदययोगादहिंस्त्र इत्युपपद्यते ।

निपातोऽयमित्येके मन्यन्ते । एवमेकापक्षे निपातत्वमस्योक्त्याधुना
चोदकपक्षे स्थित्वा परपक्षमाक्षिपनाह । 'तत्क-

- १५ त्व इत्यस्य दृष्टव्यय- धमनुदात्तप्रकृति नाम स्यात्' इति । तदेतच्छब्द-
त्वेऽपि निपातत्वम् रूपमनुदात्तमनुदात्तस्वभावं सत्कथं नाम स्यात् ।
ननु भवतैवोक्तमुत्सर्गेणान्तोदात्तानि प्रातिपदि-
कानीति [नि० वृत्ती १ । ७] । उच्यते । सत्यमुक्तम् । ननु तत्रैवेदं प्रमुक्तं
'अन्यत्र चापवादात्' इति । स एषोऽर्पवादः 'त्वत्त्वेनेमत्तमस्मिमेत्यनुदात्तानि'
२० इति । उत्सर्गादपवादो वक्ष्यान् । तस्माद्विप्रतिपन्नस्वरमपि तदेतन्नामैव ।
किंच 'दृष्टव्यं तु भवति' । तुदाब्जो हेत्वर्थो हेतुसमुच्चयार्थो वा । अनु-
दात्तप्रकृतिष्वेऽपि सति 'दृष्टानुविधिदृष्टन्ति' इति दृष्टव्ययन्यायैवेति तद्व-
वति । एवं हेत्वर्थः । अर्थवैयमन्यथा हेतुसमुच्चयार्थः । अपवादश्रवणादु-

१ क. र. ग. ज. घ. झ. ट. ठ. 'न' नास्ति. २ क. ख. नामकरणं; घ.

- २५ झ. नामकारणं; ट. नामकरणं कारणः ३ च. अव्यति. ४ क. ख. घ. झ. ट.
ठ. 'तत्प्रसक्तकथं'. ५ ठ. हिंसा. ६ च. एवं विश्रूयते. ७ सर्वाङ्ग पञ्चने.
८ क. र. घ. एतस्मिन्निर्वचने (च. 'दत्ते.) ९ च. अनुदात्त. अनु. घ. झ.
ट. ट. 'अनुदात्तं' नास्ति. १० ग. ज. 'वादोऽश्वेन तन्मममि'; घ. झ. ट.
'वादोऽश्वेन तन्मे'; ट. 'वादोऽश्वेन तन्मे'. ११ च. नामैवेति; ट. नामैवति. १२
२० १२ ग. च. अयं च. १३ क. ख. घ. झ. ट. 'वादस्त्वयम्'.

यदर्शनाच्चातुदात्तमपि सदेतन्नामैव भवति । निपातत्वेऽपि कल्प्यमानेऽस्य
स्वरसामञ्जस्यं न भवत्येव । निपाता अप्यातुदात्ता भवन्ति [फि० सू०
४ । १२] । तस्मात्कृतापनीदत्वादृष्टव्ययत्वाच्च नोमैवैतदित्युपपन्नम् ।

आह । क पुनरस्य व्ययो दृष्टः । उच्यते । 'उतो त्वस्मै तन्नं, १ वि
सत्से' [ऋ० सं० १० । ७१ । ४] इति चतुर्थ्यमेकवचने व्ययो दृष्टः । ५
'उत त्वं सत्से स्थिरपीतमाहुः' [ऋ० सं० १० । ७१ । ५] इति
द्वितीयायामेकवचन एव । उपरिष्ठाच्छेनौ [निरु० १ । १९-२०] ।

अथापि प्रथमावहुवचने व्ययो दृष्ट इत्याह्वारः ॥ ८ ॥

अक्षयवन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वासमा बभूवुः । १०
आदध्नासं उपकक्षासं उ त्वे ह्यदा इव स्यात्वा उ त्वे दृष्टभे
[ऋ० सं० १० । ७१ । ७] ॥ अक्षिमन्तः कर्णवन्तः सखा-
योऽक्षि चष्टेरनक्तेरित्याग्रायणस्तस्मादेते व्यक्ततरे इय भवत
इति ह विज्ञायते कर्णः कृन्तते निरुक्तद्वारो भवत्यृच्छतेरि-
त्याग्रायण ऋच्छन्तीव खे उदगन्तामिति ह विज्ञायते १५
मनसा प्रजवेष्वासमा बभूवुरास्यदध्ना अपर उपक-
क्षदध्ना अपर आस्यमस्यतेरास्यन्दत एनदध्नामिति वा दध्ना
दृष्टपतेः स्रवतिकर्मणो दृष्टपतेर्वा स्याद्विदस्ततरं भवति
प्रसेया ह्यदा इवैके प्रसेया देहाशिरे स्यानाहर्वा ह्यदो ह्यादतेः
शब्दकर्मणो ह्यादतेर्वा स्याच्छीतीमावकर्मणोऽप्यापि समु- १०
च्चयार्थं भवति पर्याया इव त्वदाश्विनमाश्विनं च पर्यायाश्वे-
त्यथ ये प्रवृत्तेऽर्थेऽमिताक्षरेषु ग्रन्थेषु वाक्यपूरणा आगच्छ-

१ ग. ज. 'सतत्' नास्ति; ठ. तदेत'. २ ग. ज. कल्पमानस्य; च. कल्पमा-
नेऽस्मा; ठ. कल्पमानस्य स्वर'. ३ घ. झ ट. अयातुदात्ता. ४ क. घ. दृष्टाव्यय';
ट. दृष्टाव्य'. ५ ग. ज. नामैव तदि'. ६ ग. च. ज. घ. झ. ट. एवमुप'. ७ क. २५
ख. ३; ग. च. ज. १४; घ. झ. ट. 'अहो न वर्तते'. ८ छ. त. द. 'तत्तायः'
नास्ति'. ९ ठ. 'त्याग्रयण'. १० छ. त. निर्दुत'. ११ छ. त. ऋच्छन्ती इव;
द. ऋच्छती इव. १२ छ. त. द. देहाशिरे. १३ क. ख. 'वति ॥ ४ ॥ पर्या';
छ. त. 'वति ॥ १३ ॥ पर्या'; द. 'वति ॥ ८ ॥ पर्या'.

न्ति पदपूरणास्ते मिताक्षरेष्वनर्थकाः कमीमिद्विति ॥ ९ ॥

“ अक्षष्वन्तः कर्णवन्तः सखायो ” इत्यस्यामृचि । बृहस्पतेरायं

विद्यासूक्तं नाम तत्रैयमृक् । अक्षष्वन्तोऽक्षिसं-

११ त्व इत्यस्य दृष्टव्यत्वे युक्ताः । कर्णवन्तः कर्णसंयुक्ताः । एवमपि

५ उदाहरणम् समानेन्द्रियाः समानपृष्ठोदरपाणिपादाः सन्तः ।

अपि च समानख्यानाः सर्वे मनुष्याख्याः ।

अथवा समानेषु शास्त्रेषु कृतधर्माः । वैयाकरणा वैयाकरणानामेव समान-

ख्याना नैरुक्ता एव नैरुक्तानाम् । मनोजवेषु मनोगम्येष्वर्थेष्वसमा बभूवुः ।

केचिद्बृहत्पोहकरणवक्तृत्वसमर्थाः केचिदमेधसः । कथमसाम्यमिति । यतो

१० दृष्टान्तेन प्रदर्शयति । आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे हृदा इव । आदघ्ना

एव आदघ्नासः । आस्यदघ्नहृदपरिभाणाः केचित्प्रज्ञया । उपकक्षासः

कक्षासंनिवृष्टदेशतुल्योदका इव हृदा एके प्रज्ञया । हृदाः स्नात्वाः

स्नानार्हाः । स्नात्वा अक्षोभ्या अपरिमेषप्रदाना ददध्रे ददधिशिरे । दृश्यन्त

इति समस्तार्थः ।

१५ अथैकपदनिरुक्तम् । ‘ आक्षि चष्टेः ’ पदस्यार्थस्य (धा० २।७) ।

दृश्यते क्षेपेन । ‘ अनक्तः ’ व्यैक्यर्थस्य [धा० ७ । २१] ‘ इत्योपे-

यणो ’ मन्यते । ब्राह्मणमपि चैनस्मिन्निर्वचने भवति । ‘ तस्मादेते व्यक्ततरे

इव भवतः इति हे’ विज्ञायते ’ । यस्मादिदं नामेति किमपि प्रष्टव्यम-

१ क. ख. छ. त. द. ठ. ‘ १ ’ नारित. २ क. ख. प. स. ट. ठ. ‘ सखायो’

२० नारित. ३ क. ख. प. स. ट. ठ. इत्येतस्या. ४ घ. झ. ट. ‘ मृगिति; ठ. ‘ तत्रे-

यमृक् ’ इति नास्ति. ५ ग. ज. समानं किं समानपृष्ठो. ६ क. ख. घ. स. ट.

ठ. मनुष्याः; घ. मनुष्यासखाः. ७ क. ख. ग. ज. ‘ पोहनगरणनृव. ८ घ.

ट. समर्थाः. ९ क. ख. कथनगमान्यनिनि; ग. ज. कथनगमान्यमिति. १० क.

ख. प. स. ट. ठ. अनिकादयति. ११ ग. ज. ‘ दृष्टदृश्य’; घ. झ. आस्यद (स.

२५ आस्यद) दृष्टनमानाः; ट. अ (आ) दृष्टदृष्टनमानाः. १२ ग. दने-

नेति. १३ घ. झ. ट. व्यक्तार्थस्य; घ. ट. व्यक्तार्थस्य. १४ क. ख. ग. ज.

आमादयो. १५ क. ख. ग. ज. घ. झ. ‘ ८ विज्ञायते ’ नास्ति; ट. इति. १६ क.

२८ विज्ञायते. १६ क. ख. ग. ज. घ. झ. ट. ठ. किमेति प्रष्ट.

पेक्ष्य । अथवा यस्मादेते तेजोवयवभूयिष्ठे तस्माच्छब्दार्णोदित्येवं यच्छब्द-
मन्वाकृष्य विद्यमानमविद्यमानं बोधाय तस्माच्छब्दस्यै सामर्थ्यमुत्पाद्यते ।
तथा हि स निराकाङ्क्षो भवति । सर्वत्र साकाङ्क्षेषु शब्देष्वेवं व्याख्यान-
धर्मा द्रष्टव्याः । एते अक्षिणी इतरेभ्योऽङ्गेष्वेव व्यक्ततरे स्पष्टतरे प्रकाशतरे
भवतः । अन्धकारेऽपि ह्येते प्रकाशते नक्तंचरादीनां न तथेतराण्यङ्गानि । ५
एवं ब्राह्मणेऽप्यनन्तरेवाक्षिणी इति विज्ञायते । ' कर्णः कृन्ततोर्निर्कृन्तदारो
भवति ' । अच्छतेरित्याश्रयणो मन्यते । ब्राह्मणमपि चैतस्मिन्निर्वचने
भवति । ' अच्छन्तीव खे उदगन्तामिति ह विज्ञायते ' इति । अच्छन्तीर्बेतौ
कर्णौ खेऽभिव्यक्ताः सन्तः शब्दाः । एतावपि चोदगन्तां प्रयुद्गच्छत
इव ग्रहणाय । विचार्यमाणे ज्ञायते खे कर्णाविति । ' आस्यमस्तरतेः ' १०
क्षेपार्थस्य [धा० ४ । १०३] । क्षिप्यते ह्येतदाभिमुख्येनाक्रमम् ।
स्यन्दतेर्वा स्यादाङ्पूर्वस्यैव स्निवणार्थस्य [धा० १ । ७६२] । शुष्केऽपि
ह्येतदन्ते^१ आगते स्तवत्येव स्नेहमाणं येन तदाद्वाभूतं ग्रसितुं शक्यते । दध्
दध्यतेः स्निवत्यर्थस्य । स्निततरमिव तद्भवत्युत्तरात्पारिभाषात् । ' दस्यतेर्वा
स्यात् ' क्षयार्थस्य । ' विदस्ततरं ' ह्यपधीणतरं तद् ' मध्यति ' उत्तरस्मात्प- १५
रिभाषात् । ' प्रक्षेयाः ' प्रकर्षेण स्नातुं येषु योग्यमगाधत्वात्ते प्रक्षेयाः
स्नानार्हा इत्यर्थः । ' हृदो ह्रादतेः ' शब्दार्थस्य । शब्दं ह्यस्तावभिहन्य-
मानः करोति । ' ह्रादतेर्वा स्यात् ' शीतीभावार्थस्य । शीत्तेऽपि ह्यसौ
शीतल एव भवति ।

“ अद्यापि ” अयमपरो निपातः ' समुच्चयार्थे भवति ' । कृतमः । २०
त्वदिति । किमुदाहरणम् । ' पर्याया इव त्वदाश्विनं ' (कौ० ब्रा० १७ ।

१ घ. झ. ट. ठ. ' कारणात् ' नास्ति. २ क. ख. ग. ज. घ. झ. ट. ठ.
चोत्पाद्य. ३ घ. झ. ट. ठ. ' च्छब्दसामर्थ्यादस्यमुत्पाद्यते. ४ क. ख. घ. झ.
ट. ठ. व्याख्यानधर्मो द्रष्टव्यः. ५ च. ट इति च वि°; ट. इति वि° च. ६ ग.
ज. घ. झ. ट. निवृत्त°. ७ क. ख. ग. ज. घ. ट. आश्रयणो. ८ घ. ज. इत्यु- २५
दृच्छ°. ९ घ. ट. प्रग्रहणाय; ठ. शब्दग्रहणाय. १० च. ' दापूर्व°. ११ च.
भव°. १२ ग. ज. ' अचे ' नास्ति. १३ क. ख. घ. झ. ट. आर्द्रहितं; ग. ज.
आर्द्रभू°. १४ च. दध्यतेः १५ ग. घ. ज. स्ततर°. १६ ग. ज. घ. झ. ट.
ठ. ' वति पूर्वतरात्. १७ च. ज. शीतल°. १८ क. ख. घ. ॥ ४ ॥
पर्या°; ग. णम् ॥ १५ ॥ पर्या°.

४) इति । आह । किमुक्तं भवति । उच्यते । ' आश्विनं च पर्यायाश्चेति ' । एवं समुच्चयार्थे भवति ।

■ अथ ये प्रवृत्तेऽर्थेऽमिताक्षरेषु ग्रन्थेषु वाक्यपूरणा आगच्छन्ति पदपूरणास्ते मिताक्षरेष्वनर्थकाः कमीमिदिति ॥

५ पदपूरणलक्षणम् व्याख्याताः कर्मोपसंग्रहार्थाः । तत्प्रसङ्गेन हीत्येवमादयोऽन्यार्था अप्युक्ताः । प्रतिज्ञाप्रसक्ता-

नेवाधुना पदपूरणान्वक्ष्यामः । तेषां सामान्यमेव तावदलक्षणमुच्यते ।

तत्राधिकारार्थोऽयमथशब्दः । अथ ये प्रवृत्ते परितमास्तेऽर्थेऽन्यैरेकवाक्य-

गतैः पदैरमिताक्षरेषु गद्यग्रन्थेषु वाक्यपूरणा आगच्छन्ति पदपूरणार्थास्त-

१० एव मिताक्षरेषु पादवृत्तेषु भवन्ति । उभयत्रापि तु तेऽनर्थका अनर्थान्त-
रवाचकाः । प्रकृतादर्थान्न किंचिदर्थान्तरं द्योतयन्ति । पदमेव वाक्यमेव
या पूरयितव्यमित्ययमेव हि तेणामर्थो नान्यदर्थान्तरम् । उक्तं च

“ मित्रावाचकमाख्यातमुपसर्गो विशेषकृत् ।

सत्त्वाभिधायकं नाम निपातः पौदपूरणः ” इति ॥

१५ कतम पुनस्त इति । उच्यते । ' कमीमिदिति ' एते चत्वारः ।

कम् ईम् इत् उ इति । आह । ननु ये प्रवृ-

क्ते ते पदपूरणाः तेऽर्थ इति यदेतदुपदिष्टं लक्षणमत एव पिङ्ग-

स्यामो येऽमिताक्षरेषु वाक्येषु पठितास्ते मिताक्ष-

रेषु पदपूरणा भविष्यन्तीति* । अथ किमर्थमेतं विशेषतः कमीमिदवो

२० निर्दिश्यन्त इति । उच्यते । एते हि प्रायेण पदपूरणा एव । अन्य पुन-

रिवनचिन्वादयोऽर्थवन्तोऽर्थार्थसंभवे सति पदपूरणा भवन्ति । लक्षणं हि

तानपि व्याप्नोति । एते पुनः प्रायेणानर्थका एवेति विशेषतो निर्दिश्यन्ते ।

अथवा ते प्रायेणार्थवन्तः कदाचिदनर्थका एते पुनः प्रायेणानर्थकाः

कदाचिदर्थवन्त इत्यतो विशेषतो निर्दिश्यन्ते । आह । एवमपि चोकारो

२५ न निर्दिष्टव्यः । किं कारणम् । स हि पुरस्ताच्चिदिष्ट एव ' अथापि पदपूरण

१ च. 'दयो' 'नार्था' ना ० ग. ज. अपवृत्ते°. ३ ग. च. परिष्कारितेऽर्थे°;

ज. अपात्रोपस्थितेऽर्थे; ट. परितमास्ते प्रापिते; उ. प्राप्तिं पति°. ४ ग. ज. अनर्थ-

अन्तर°; च. अनर्थकान्तर°. ५ ज. झ. पदपूरणः. ६ च. अपवृत्ते°. ७ ग. च.

२१ ज. ' इति ' नास्ति. ८ च. ' अपि ' नास्ति. ९ ग. ज. निर्दिष्टव्यः.

इदमु तदु' [निरु० १ । ५] इति । उच्यते ।

उकारस्य पुनर्निर्देशे सत्यं निर्दिष्टः । प्रासङ्गिकस्तु सै तस्य निर्देशः ।
कारणम् अयमेवात्रोकारस्य पदपूर्णत्वे मुख्यो निर्देशः स्वप्र-
करणत्वात् । आह । तत्र तर्हिकिंचित्कर इति ।

उच्यते । नाकिंचित्करः । किं कारणम् । शृणु । यदि ह्ययमुकारस्तत्र ५

पदपूर्णत्वेन नोच्येतेहैवोच्येतै ततः पूर्वोक्तस्य विनिग्रहार्थोक्तस्यायम-
पवाद इति गम्येत । अथापि तत्रैव केवलमस्य पदपूर्णत्वमुच्येत नेह
तथापि पदपूर्णेण परिसंख्यायमानेषु नायमुक्त इति परिसंख्यया पदपूर्ण-
त्वमस्य बाधेत । अनिष्टं चैतत् । तस्मादुभयत्राप्यधीर्त इति । आह ।

नन्वेवं खलु नूनमित्येतयोः परिसंख्यया पदपूर्णत्वस्य बाधः प्राप्त इति । १०

उच्यते । नैवम् । किं कारणम् । उकारवच्चौ ह्युभावपि । यथैव ह्युकारोऽर्थवा-
श्चानर्थकश्चैत्रं तावपि । तस्मादुकारग्रहणेनैव तावप्यत्र गृहीतौ द्रष्टव्यौ । न केव-
लमुभावेव । किं तर्हि । अन्येऽपि चानर्थकाः सन्ति । तथापि । 'आ घा ता
गच्छानुत्तरा' [ऋ० सं० १० । १० । १०] इत्यत्र घकारः । तेऽपि

चात्रावरुद्धा द्रष्टव्याः । उदाहरणमात्रप्रदर्शनार्थं हेतावन्त एवात्रोदाहृताः । १५

त एते सर्व एवार्थासंभवे सत्यनर्थका एव । अर्थसंभवे त्वर्थवन्त इति । किं
कारणम् । न हि कश्चिदर्थसंभवे संभवत्यनर्थत्वकल्पना न्याय्या शब्दस्य ।
अर्थप्रधानो हि शब्दः । स नाकस्मादभिधेयेनार्थेन विना वाक्ये संहन्येत ।

तस्माचात्रद्रम्यमेव तावदर्थः कल्पयित्तव्यः । यत्तु-
नरेतदुक्तं वाक्यपूर्णा इत्यगतिरेषा । तदेतासर्व- २०
यशोऽर्थवन्तः कदा-
चिदनर्थकाः प्रायोवृत्त्येव न चिन्वादयोऽर्थवन्तः प्रायोवृत्त्या च
कमीमिद्वोऽनर्थका इति द्रष्टव्यम् ।

१ घ. झ. ट. ठ. 'सः' नास्ति. २ च. त्यस्य°. ३ ग. उच्यते; ज. 'इहो-
च्येत' नास्ति. ४ क. ख. ग. च. ज. गम्यते. ५ ठ. 'पूर्णत्ववाचः प्राप्त इति २५
बाधेत. ६ ग. ज. ठ. 'प्यधीर्त इति. ७ च. 'तस्य च बाधः. ८ च.
उकारवचतौ. ९ क. ख. ग. ज. 'पि तावन्त एव सन्ति. १० क. ख. 'अर्थ'
नास्ति; ग. च. ज. 'वार्थमे' ११ क. ख. ग. झ. 'दर्थे तावत्संभ' ; ट. 'दर्थे ताव-
त्संभ' धृष्टाभे सं; ट. 'दर्थेताभे सं'. १२ क. ख. ग. झ. ट. कल्पनीयः; ट.
कल्पनीयः । १३° वितत्यः.

आह । नन्वादौ च मध्ये च पदपूर्णानामगमो दृष्टः । तथा ।
 'नूनं सा ते' [सू० सं० २।१।१।२।१] इति । अथ कथमुच्यते 'ये प्रवृत्तेऽर्थे
 आगच्छन्ति ते पदपूर्णाः' इति । उच्यते । न ह्येतदध्ययनकालीनमानुष-
 र्व्यमक्षराणां पदानां वा व्याख्याकाले नियतमस्ति । अर्थप्रकाशनार्थनिर्व-

५

चनवशेनान्यदानुपूर्व्यमुपजायते व्याख्याकाले ।
 पदपूर्णाणां वाक्ये- तत्रैवं सत्याख्यातपदं प्रचानं तदनु नाम तदनूप-
 ५ स्थानम् सर्गास्तदनु निपाता इत्येतामानुपूर्व्यमवेक्ष्यतदुक्तं
 'अथ ये प्रवृत्तेऽर्थे आगच्छन्ति ते पदपूर्णा

१०

भवन्ति' इति । एतामेवानुपूर्व्यमवेक्ष्य पूर्वमाख्यातलक्षणमुक्तं तदनु नाम-
 लक्षणं तदनूपसर्गलक्षणं तदनु निपातलक्षणम् । तस्मादाद्यापि निपातः
 सन्मध्ये द्यन्त एव द्रष्टव्यः । लोकेऽपि हि दत्तानुयोगानां ब्राह्मणानामङ्-
 स्थानक्रमोऽकिञ्चिद्वर एव भवति । मध्येऽन्त्ये वावस्थितो यः प्रश्नानं भवति
 सोऽय इत्युच्यते । तस्मात्सम्प्रयोगोक्तं 'ये प्रवृत्तेऽर्थे' इति । व्यत्ययं चाधि-
 हृत्य श्लोपमप्युदाहरन्ति ।

१५

"आदिमध्यान्तस्तानि प्रच्छन्नापिहितानि च ।

प्रसज्यः परिगम्यर्थं वेदे व्यवहितानि च" इति ॥ ९ ॥

निवृत्तवासंश्चिद्विशरो मूरितोका वृकादिव । विभ्यस्व-
 न्तो ववाशिर शिशिरं जीधनायकम् । शिशिरं जीवनाय ।
 १० शिशिरं स्तृणातेः शंभ्रातेर्वा । एमेनं सृजता सुते । आसु-
 जीतेनं सुते । तमिद्धन्तु नो गिरेः । तं वर्धयन्तु नो गिरः
 स्तुतयो गिरो गृणातेः । अयमुं ते समेतसि । अयं ते सम-
 तसीवोऽपि दृश्यते । सु विटुरिव [काठक सं० ८ । ३

१ च. 'वा' नास्ति. २ ग. च. ज. 'वा' नास्ति. ३ क. स. 'दुक्तं तत्र ये'; ४.
 २५ ह. ट. व. 'दुक्तमथ तत्र ये'. ४ ग. ज. 'ते' नास्ति. ५ क. ख. घ. ङ. ट. ठ.
 मध्येन्तेः. ६ क. ख. प्रधानः. ७ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. 'भवति' नास्ति. ८ ग.
 च. ज. वेद्यवृत्. ९ ट. प्रच्छिन्ना. १० न कस्मिन्वापि पुस्तकेऽशोऽस्ति. ११ क.
 २८ स. 'इत्येते ॥५॥ सु'; 'ट. व. 'इत्येते ॥१४॥ सु'; द. 'इत्येते ॥१५॥ सु'.

तथा ८ । १३] सु विज्ञायेते इयाथापि नेत्येष इदित्येतेन
संप्रयुज्यते परिमये ॥ १० ॥

अधुनैवमेतानुदाहृतान्कमीमिदून्समासतः प्रत्येकमुदाहरणैर्दर्शयति ।
'शिशिरं जीवनाय कम्' [ऋ० १० । १६१ । १] इति ।

अत्र कमित्येष पदपूरणः । शिशिरं जीवनाय जीव- ५
कमित्यस्योदाह-
रणम् नार्थमित्यर्थः । तत्र हि प्रायेण प्रचुराणि दारुणा-
न्यानि भवन्ति । कमिति पदपूरण एव । शाखा-
न्तरेषु शेषो द्रष्टव्यः । केचिदेवं कृतशेषमत्राधीयते ।

'निष्टृक्कासंश्चिदिन्नरो भूरंतोका वृकादिव ।

बिम्बस्पन्तो ववाशिरे शिशिरं जीवनाय कम्' इति ॥

१०

निष्टृक्कासः । निष्टृक्का एव निष्टृक्कासः । निर्वसना इत्यर्थः । अपि च ।
भूरंतोका बहुपत्या इत्यर्थः । के पुनस्ते । दरिद्राः केचिन्नरो मनुष्या इत्यर्थः ।
किं तेषामिति । वृकादिव बिम्बस्पन्तः पुनः पुनर्भृशं वा बिम्बतो वृका-
दिव हिमाद्रवाशिरे पुनः पुनर्भृशं वा वास्यन्ते । किमिति ववाशिरे । शिशि-
रमस्माकं जीवनाय जीवनायार्थमाच्छतीत्येवं हेमन्ते ववाशिरे । अल्पतर- १५
शीतं हि शिशिरम् । मुखं तत्र जीविष्याम इत्यभिप्रायः ।

निगमप्रसक्तस्य शिशिरशब्दस्य निर्वचनम् । 'शिशिरं शृणातेः'
हिंसार्थस्य [धा० ९ । १६] । 'शस्त्रातेर्वा' हिंसार्थस्थेव । नार्थकृतो
विशेषः । हिनस्ति हि तस्मिन्काळेऽप्रतिबध्यमानोऽतिशयेन दावाग्निः
शुष्कानोपधिवनस्पतीन् ।

२०

ईमित्यस्योदाहरणम् । 'एमेनं सृजता सुते मन्दिमिन्द्राय मन्दिने'
चकिं विद्वानि चक्रये' [ऋ० सं० १ । ९ । २] ॥ ऐन्द्रेया गायत्री ।

मधुच्छन्दस आर्पम् । पृष्ट्याभिप्लवयोः स्तोमवृद्धौ

ईमित्यस्य प्रातःसवने ग्राहणाच्छंभिनः शस्त्रे महाव्रते च

तृचाशीतिषु विनियुक्ता । आसृजत । एनमाभिमु-

२५

त्येन सृजत । ईमिति पदपूरण एव । सृजत दत्तोर्क्यपात्रेण चमसेध सोमं हे

१ क. छ. त. द. '१०' नास्ति. २ ठ. निष्टृक्कास इति निष्टृक्. ३ ग.
स. बिम्बस्पन्तो; घ. बिम्बस्यातो; ट. बिम्बस्यातो. ४ च. ये निर्वसं (इह) क्वासः ।
निसृक्का एव निसृक्कासः. ५ घ. बिम्बतो. ६ ग. च. ज. वास्यन्ते ववाशिरे ।
किमि. ७ ग. च. ज. 'हरणं ॥ १६॥ एमे'. ८ घ. स. ट. एमेनं चक्रये;
ग. ज. एमेनं सृजता सुते चक्रये. ९ च. ऐन्द्रेया. १० च. 'आदग्ना' नास्ति.
११ घ. स. ट. 'वने वृद्धीतृचा'. १२ क. स. घ. स. ठ. ठ. 'सृजत' नास्ति;
ग. ज. आसृजत. १३ घ. स. ट. दत्तोर्क्यपात्रेण.

अच्यर्पयः । किमासृजत । योऽप्यमिन्द्रस्य मुतेऽभिषुते सोमे स्वांश उक्थ-
पात्रचमसस्थ एनमासृजत । मन्दि मेन्दयितारम् । मन्दिन इन्द्राय हर्ष-
घते । चक्रि चक्रनवन्तं चरणवन्तं क्रमणवन्तं वा । अपि वा हविर्धानश-
कटचक्राम्यां चक्रवन्तम् । अपि च चक्रादिति कर्मनाम [निव० २ । १] ।
प्रतिविशिष्टधीर्पजनकैः संस्कारकर्मभिस्तद्वन्तम् । विद्वानि सर्वाणि भूतानि
कर्माणि चक्रये कृतवत् इन्द्राय । सोमोऽत्र प्रत्यक्षो दातारश्च । परोक्षा
विन्द्रस्य स्तुतिः । ' अथापि प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति परोक्षकृ-
तानि स्तोतव्यानि ' [नि० ७ । २] इति हि वक्ष्यति ।

- १० 'तमिद्वर्धन्तु नो गिरः' इति 'इत्' इत्यस्योदाहरणम् । "तमिद्वर्धन्तु
नो गिरां वत्सं संशिद्वरीरिव । य इन्द्रस्य हृदं-
सनिः" [ऋ० सं० ९ । ६१ । १४] ॥
इदित्यस्य अमहीथोराङ्गिरसस्येयमार्पम् । गायत्री सौमी
भ्रायस्तुतौ विनियुक्ता । तं वर्धयन्तु नः । तं सोमम् । 'इत्' इति पदपूर्णः ।
वर्धयन्तुपूजातवीर्यं कुर्वन्तु देवतृप्तये न एता अस्मद्गिरः स्तुतयः । कथं
पुनर्वर्धयन्तु । यत्सं संशिद्वरीरिव । यत्समिथैकगिमुका बह्वयो गायः ।
ता यथा पर्यायेण वत्समेकं मृनवत्साः स्वैः स्वैः पपोभिर्वहनादिसमर्थं
कुर्युरेवमेवास्मद्गिर एतं सोममुपजातवीर्यं देवतर्पणाय कुर्वन्तु वर्धयन्तु । यः
कर्तमः । य इन्द्रस्य हृदंसनिर्हृदयस्य संभक्ता तमेन वर्धयन्त्युत्पत्तिप्रायः ।

- आह । कस्मात्पुनरत्र केचिदुदाहरणमन्त्रा अशेषाः पठ्यन्ते निरुच्यन्ते
२० च केषांचिदेकदेशा इति । उच्यते । ये तावदशेषाः पठ्यन्ते निरुच्यन्ते च
ते' व्याख्याधर्मोपदेशनार्थम् । यदि पुनः सर्व एव पठ्येरन्निरुच्येरन्धाति-
गुरु शास्त्रं संपद्येत । अथापि सर्वेषामेवोदाहरणमन्त्राणामेकदेशः पठ्येत निरु-

१ ग. ज. कमासृजत. २ ग. मादवि. ३ ट. चरणवन्तं; ड. 'चरणवन्तं'
नारित. ४ ग. च. ज. 'णम्' ॥ १७ ॥ त. ५ घ. झ. ट. तमिद्वर्ध० हृदं सनिः;
२५ ग. ज. तमिद्वर्धन्तु नो गिरि० हृदं सनिः. ६ घ. झ. ट. 'एव' नास्ति.
७ घ. झ. ट. 'यन्तु' । कर्तमः सः । यः; ग. ज. 'यन्तु' । कयः वमः । यः; घ.
ड. 'यन्तु' । यः कर्तमः । स इन्द्र. ८ क. ख. ग. ज. इद्वत्समेकता. ९ घ.
झ. ट. एकदेशः. १० च. 'ते' नास्ति. ११ क. ख. ग. ज. धर्मोपदेशनार्थ.
२१ १२ क. ख. घ. झ; ट. 'पाप्मयुदाह'.

च्येत च तत्रापि व्याख्याधर्मो न प्रदर्शितः स्थात् ।
 मन्त्राणामेकदेशेन तस्माद्वाक्योपप्रदर्शनार्थं केचिदशेषाः पठन्ते
 पठनेऽशेषेण च प- निरुच्यन्ते च केषांचिदेकदेशाः श्लाघातिगौरवभया-
 टने प्रयोजनम् । दिति । प्रतिमन्त्रमपि सकलार्धचर्चपादाध्ययने शक्यते
 प्रयोजनमन्त्रेषुम् । तदेतत्समासेन ब्रूमः । यस्मि- ५
 न्यस्मिन्मन्त्रे यथापदमेकार्थमनेकार्थमनवगतसंस्कारं वा निर्व्वीति किञ्चि-
 ह्यन्यच्छब्दरूपमप्याहरत्यन्यद्वापोहत्यन्यथा वा कस्यचिद्विपरिणामं करोति
 संदिग्धं वा निर्णयति तदर्थमेव तं सकलमधीते । यस्मिन्वार्धचर्चपादे वा तत्पदं
 भवति यदभिमतं निर्व्वक्तुं तावन्मात्रमेवाधीते तन्निर्व्विबक्षया । तदेतदेवं
 निपुणमन्त्रेष्वप्यं सर्वत्र ।

१०

उकारस्योदाहरणम् । “ अयमुं ते समतसि कपोत इव गर्भधिम् ।
 घञस्तच्चिन्न ओहसे (ऋ० सं० १ । ३० । ४) ॥ शुनःशेषो यूये
 नियुक्त आत्मानं मोचयितुमिच्छन्नया गायत्र्येन्द्रं
 उ इत्यस्योदाहरणम् तुष्टाव । अयमिति वर्तमान एव कर्मणि दर्शय-
 न्नाह । ते तत्र त्वदर्थं सोमो यं प्रति नित्यकालमेव १५
 समतसि संपतसि । त्वं तौमु तामु क्रियास्वाहूयमानः समतसि संपतसि ।
 कथं पुनर्यं प्रति समतसि । कपोत इव । कल्पतनः कपोतः कुत्सितपतनः ।
 स यथा गर्भधिं गर्भधानीं कपोतिका मण्डाश्रयं वा नीडं प्रति पुनः पुनः
 पतत्येवं यं प्रति नित्यकालमिव संपतसि त्वं स एवायमभिप्लुतः सोम एभि-
 र्भविभिः । अथ किमस्माभिः करिष्यसि । मोचय अस्मान् । किं वा २०
 यच्च एवेदं नः स्तुतिदक्षिणं नोहसे न वितर्कयसि रोग्यमाणां केना-
 प्यभिप्रायेण वयमेतद्भूमः कैर्वा युष्मद्वृणैर्न युक्तमेतदिति यतो न
 भोचयस्यस्मान्तो यूपात् । श्रुत्वेतदवयुद्वयार्थमार्तगामस्माकमवधार्य कारुण्यो-

२०

१ प. स. ट. वा. २ क. ख. प. स. ट. “व्याख्याधर्मोपदर्श” ; ठ. “स्थात् ।
 तस्याख्योपदर्श” . ३ क. स. घ. झ. ट. अन्वेष्टयं . ४ म च. ज. “णम् ॥ १८ ॥
 अय” . ५ प. स. ट. ते० हस्ते . ६ क. घ. शुनःशेषो . ७ क. ख. निर्व्विबक्ष-
 प. श. ट. ठ. निदर्शय” . ८ ल. ख. म. ज. घ. स. युष्मदर्थः ; ट. युष्मद”
 ९ १ क. २ घ. श. “तामु” हस्ते र वने १० प. स. नैलं ; ट. नीडं .
 ११ म. घ. कारुण्योन्मोच” .

२१

न्मोचयामास । किं तेऽस्माभिरयमेव तेऽस्मत्तः प्रतिविशिष्टतरः सोमोऽभि-
युत इत्यभिप्रायः ।

‘ इवोऽपि दृश्यते ’ कदाचिदनर्थक इति वाक्यशेषः । किमुदाहरणम् ।

‘ सुविदुरिव सु विज्ञायेते इव ’ इत्येते उदाहरणे ।

- ५ इवेत्यस्य च सुष्ठु त्रिदुर्यज्ञं ब्राह्मणा इति । इवोऽनर्थक
एव वाक्यपूर्णः । सुष्ठु विज्ञायेते यज्ञो नक्षत्रं
ब्राह्मणैरिति । अत्रापीवोऽनर्थक एव ।

व्याख्याताः पदपूर्णाः । निपातसमाहारमनुना दर्शयति । तदधिका-

रार्थोऽयं ‘ अथ ’ शब्दः । ‘ अपि ’ इति संभावने । अप्ययमेव इदिति

- १० केवलः प्रयुज्यमानः पदैर्गुणो भवति । अपि चायमेव ‘ न ’ इत्यनेन संप्रयुक्तः

‘ प्रयुज्यते परिभये ’ अर्थे । सर्वतो भये परिभयम् । कथं प्रयोगः ।

‘ नेजिह्वायन्यो नरकं पताम ’ इति । मुग्यः शेषः । केचित्स्वेतं कृतशे-

पमत्राधीयते ॥ १० ॥

हविर्भिरके स्वरितः संचन्ते सुन्वन्त एके सवनेषु सोमान् ।

- १५ शचीर्मदन्त उत दक्षिणाभिर्नेजिह्वायन्यो नरकं पतामेति ॥

नरकं न्यरकं नीचैर्मनं नास्मिन्नमणं स्थानमल्यमप्यस्तीति

वाथापि न चेत्स्येव इदित्येतेन संप्रयुज्यतेऽनुपृष्टे न चेत्सुरा

पिबन्तीति सुरा मुनोतेरेवमुद्यावचेत्त्वर्थेषु निपतन्ति ॥ उपे-

क्षितव्याः ॥ ११ ॥

१०

इति प्रथमस्य तृतीयः पादः ॥

‘ हविर्भिरके स्वरितः संचन्ते सुन्वन्त एके
नेत्परिभये इत्यस्यादा-
हरणम्

सवनेषु सोमान् । शचीर्मदन्त उत दक्षिणाभि-

र्नेजिह्वायन्यो नरकं पताम ’ ॥ इति ।

२५ १ ग. ‘णम्’ । १४ सुविदुः । २ घ. ट. नक्षत्रं य ब्राह्मणे; ट. यज्ञनक्षत्रे ब्रा°.

३ ग. पाद° । ४ क. ल. प. स. ट. ट. इत्येतेन. ५ ठ. ‘स्वेवं कृ’ तं. ६ ग. घ.

ज. ‘यते ॥ ११ ॥ हवि’; इत्येषु पुस्तकेष्वज्ञो नास्ति. ७ क. ल. ६; छ. त. १५;

८ १०. ८ ट. घ. ५. ६. ‘इति०पाद’ नास्ति; त. इति प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः

२१ पादः ॥ २ ७; ६. द्वितीयः पादः. १ घ. अ. संचन्ते० पतामेति; ट. स्वरित इति.

नारदेन किल विप्रलम्ब्यमाना असुरपत्न्यो भर्तृनृपति तमनेन मन्त्रेण प्रत्युचुः । एके तावत् इतो लोकाद्भविर्भिः पुरोडासादिभिर्निमित्तभूतैः स्वः सचन्ते स्वैर्गं प्राप्नुवन्ति । अथैके सवनेषु यज्ञेषु सोमानभिषु प्वन्तः । तेन कर्मणेत्यर्थः । शर्चार्मदन्तः । अन्ये शच्या वाचा स्तुतिभिरेके देवान्मादयन्तः संतर्पयन्त इत्यर्थः । अप्यन्ये दक्षिणाभिः स्रः सचन्ते इत्येतदेवानुवर्तते । तत्रैवं सति तेन तेनाभ्युद्यतेषु प्राणिषु श्रेयः प्रति यदि क्यमेतानपि भर्तृन् सम्यक्परिचरेमान्येषां जपहोमादीनां कर्मणामस्तं भवे सति नेद्वयमेतेषामप्युपरि जिह्वायन्त्यो जिह्वमाचरन्त्यो भगवन्नरकं पताम । न हान्यो भर्तृपरिचर्यातः स्त्रियाः कश्चन धर्मोऽस्तीत्यभिप्रायः ।

नरकशब्दं निर्व्रवीति । नीचैरस्मिन्नर्थे गम्यत इति नरकमथवा नास्मिन् रमणं रतिकरं स्थानमल्पमप्यस्तीति नरकम् ।

‘अथापि’ अयमपरो निपातसमाहारो ‘नचेत्येव इदित्येतेन’ एक संप्रयुक्तः ‘प्रयुज्यते’ । केनचित् ‘अनुपृष्टे’ सति प्रतिवचनं न चेदित्यस्योदाहरणम् भवति । तद्यथा । कश्चित्कंचित्पृच्छति तिष्ठन्ति वृष्टा इति । ततः प्रत्यचष्टे तिष्ठन्तीति । ततो यदि तिष्ठन्ति किमर्थं नागच्छन्तीति पुनरनुपृष्टे व्रवीति ‘न चेत्सुरां पिबन्ति’ आगमिष्यन्तीति । यदि सुरां न पिबन्तीत्यर्थः । अथ कस्मात् ‘सुरा’ । ‘सुनोतेः’ । सा ह्यभिपूयतेऽनेकैर्द्रव्यैः पिष्टादिभिः ।

‘एवमुच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति त उपेक्षितव्याः’ । एवमनेन प्रकारेणोच्चावचेष्वर्थेषु बहुप्रकारेषु समाहृताश्चान्येऽप्येवं बहुप्रकारा निपतन्ति प्रयुज्यमानाः । ते लक्षणशास्त्रमेतच्चार्थनिर्वचनशास्त्रमुपेत्योपगम्यानुप्रविश्येक्षितव्याः । कः कस्मिन्नर्थे वर्तत इत्येवं द्रष्टव्याः । परीक्ष्या इत्यर्थः ।

इतिवरणोऽधिकारपरिसमाप्त्यर्थः । इमांनि चत्वारि पदजातान्यनुक्रान्ता-
नि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताच्चेति प्रतिज्ञाम्यासो निर्गमनार्थः ॥ ११ ॥

इति पष्ठस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

१ ग. ज. पुरोडाशा. २ ग. ज. सचन्तः च. स्वसचन्त. ३ क. ख. प. झ. ट. ठ. स्वर्गं लोकं प्राप्नु. ४ क. ख. च झ. ट. वन्ति स्म । अथैके ; ग. ज. वन्ति स्म आप्येके. ५ च. स्वसचन्तेत्येवमे. ६ क. ख. च झ. ट. ठ. नास्तिभिन्. ७ ग. सुरां भवन्ति; ज. सुरां न वांति. ८ ठ. तव्याः । ११ । एव. ९ घ. च. ट. परीक्षाः. १० ग. ज. इतीमानि. ११ च. निगमयः. १२ क. ख. १३ ग. १४; इतेषु पुस्तकेष्वङ्गो नास्ति. १३ ग. च. ज. इति नास्ति; घ. झ. २. ठ. इति वदन्त्या.

चतुर्थः पादः ।

- इतीमानि चत्वारि पदजातान्यनुक्रान्तानि नामाख्याते
 चोपसर्गनिपाताश्च तत्र नामान्याख्यातजानीति शीकंटा-
 यनो नैरुक्तसमयश्च न सर्वार्णीति गार्ग्यो वैयाकरणानां
 ५ चैके तद्यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ
स्यातां संविज्ञातानि तानि यथा गौरश्वः पुरुषो हस्ती-
त्यथ चेत्सर्वाण्याख्यातजानि नामानि स्युर्यः कश्च तत्कर्म
कुर्वात्सर्धं तत्सत्त्वं तथाचक्षीरन्यः कश्चाध्वानमश्रुवीताश्वः
 १० स वचनीयः स्याद्यत्किंचित्चुन्यातृणं तदथापि चेत्सर्वा-
ण्याख्यातजानि नामानि स्युर्यावद्भिर्भावैः संप्रयुज्येत
तावद्भूयो नामधेयमतिलम्भः स्यात्तत्रैवं स्थूणा दुक्षीया
वा सञ्जनी च स्यात् ॥ १२ ॥ *Antark*

- ईमानि पदजातानीति व्याख्यातम् [निरु० १।१] । अनुक्रान्त्वा-
 न्यानुपूर्व्येण । पूर्वमाख्यातं ततो नामानि तत्र उपसर्गस्ततो निपाता
 १५ इत्येवमानुपूर्व्येण क्रान्तानि वर्णितानि व्याख्येयानि वाक्यशेषः । कतमानि
 पुनस्तानि । नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति । तदपि व्याख्यातमेव [निरु०
 १।१] । यच्च तदुक्ते 'नाहः किंचिदवशिष्यते तच्चतुर्थेन षादेन वर्णयिष्यामः'
 (पत्रं ३३ आवल्यः १-२) इति तदिदमेवावसरप्राप्तं पदचतुष्टयलक्षणा-
 न्तरमभ्यस्यते । 'तत्र नामान्याख्यातजानीति
 २० सर्वाणि नामान्या-
 ख्यातजानीत्येकं मतम्
 शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च' । तत्र तस्मिन्नेव पद-
 चतुष्टये यानि नामानि तानि सर्वाण्येवाविशेषे-
 णाख्यातजानीत्येवं शाकटायन आचार्यो ब्रवी-
 तीति वाक्यशेषः । नैरुक्तानां चैव समयः सिद्धान्तः सर्वेष्टमाविशेष्यो ।
 आह । कः पुनरन्यथा ब्रवीति येनैवमुच्यते

- २५ १ छ. नामधेयः प्रतिलम्भस्या०. २ छ. दर्शनां च सञ्जनीं रश, त. दर्शनां च
 सञ्जनीं; द. दर्शनां च सञ्जनीं; छ. दत्तस्या०. ३ क. स. द. १; छ. त. १६.
 ४ क. स. ग. ज. घ. झ. ट. ठ. इतीमानि चत्वारि पदं. ५ क. स. ग. ज. घ. झ.
 ट. ठ. 'शेषेण गार्ग्यवर्मम् । आह'. ६ घ. ट. 'ब्रवीति । नेत्युच्यते । शकं;
 २९ ट. 'ब्रवीति । उच्यते । शकं.

न सर्वाणीत्यन्यत् शाकटायन एवं ब्रवीतीति' । उच्यते । ' न
सर्वाणीति' गार्ग्यः ' ब्रवीति । किं गार्ग्य एव ।
नेत्युच्यते । ' वैयाकरणानां चैके ' । व्याकरणमधीयते एते वैयाकरणाः ।
तेषां चैके न सर्वाण्याख्यातजानि नामानीत्येवं ब्रुवत इति वाक्यशेषः ।

' तद्यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां संवि- ५
ज्ञातानि तानि ' इति । तदेतदप्रपञ्च्यते गार्ग्य-

संविज्ञातनाम्नां लक्षणम् पक्षेण । यान्याख्यातजानि नामानि यानि वा
नेत्येवं पर्युपयुक्तस्तच्छब्दः । इह त्रिविधा व्यवस्था

नाम्नाम् । तद्यथा । प्रत्यक्षक्रियाणि प्रकल्प्यक्रियाण्यविद्यमानक्रियाणीति । तत्र
प्रत्यक्षक्रियाणि । तद्यथा कारको हारक इति । प्रकल्प्यक्रियाणि । तद्यथा १०

गौरद्व इति । अविद्यमानक्रियाणि । तद्यथा दिव्यो दन्विथः अरविन्दो
वाविडे इति । तत्रैवं सति यत्र येचित्यर्थः । केषु । नामसु ।

स्वरसंस्कारौ । स्वरधोदात्तादिः संस्कारश्च प्रकृतिप्रत्ययान्तिरेतौ स्वरसंस्कारौ ।
समर्थौ । समर्थता नामोपपत्तिरुच्यते । संगतार्थौ लक्षणशान्त्रविहितयो-

पपत्त्या युक्तावित्यर्थः । यथैव लक्षणाविप्रतिपत्त्या स्वरोऽवस्थित एवं १५
संस्कारोऽपि । येष्वपि च प्रादेशिकेन । प्रदिश्यतेऽनयेति प्रदेशः क्रिया

यां तस्मिद्द्रव्ये व्यवस्थिता यद्वेतुकस्तस्य नामधेयप्रतिबम्भोऽभिप्रेतस्तस्याः
प्रदेशाख्यायाः क्रियाया अभिधायको धातुः स गुण इत्युच्यते । अन्यत्र

हि गुणशब्दोऽप्रधाने वर्तते । शेषः अङ्गं गुणः इति समानार्थाः । प्रधानं
तु तत्र क्रिया प्रदेशाख्या । तदभिधायको धातुर्गुणाख्यः । स प्रदेशवाच- २०

कत्वाप्रादेशिको गुण इत्युच्यते । तेन धातुरूपेणान्वितायनुगतौ स्वरसं-
स्कारौ स्यातां भवेतां येषाम् । आह । किं तेषामिति । उच्यते । संवि-

ज्ञातानि तानि । समं विज्ञातान्यैकमत्येन विज्ञातानीत्यर्थः । तेषु तावद-

१ घ. झ. ट. ' इति ' नास्ति. २ ग. ज. ' इति ' नास्ति. ३ घ. झ. ट. ठ.

एव ब्रवीति । ने°. ४ घ. झ. ट. ठ. ' एते ' नास्ति. ५ च. वैयाकरणानां तेषां. २५

६ घ. झ. ट. ठ. वान्यानि । एवं°; च. वा निनि एवं°. ७ क. च. प्रकल्पक्रि-

या°. ८ ग. ज. दिव्यो दन्विथ°. ९ ग. ज. वाविडे इति. १० ग. ज. प्रत्यगादि-

भिन्ती°. ११ क. ख. ग. ज. ' इदमे द्रव्यमनये°. १२ क. ख. घ. झ. °द्रव्येऽ-

वस्थि°; ट. °द्रव्येऽवस्थि° व्य. १३ घ. झ. ट. ठ. धातुगुणानि°. ३०

विप्रतिपक्षिरेवास्माकमाख्यातजानि तान्नीति । तद्यथा । कर्ता कारकः ।
 २ पक्ता पाचक इति । न पुनर्यथा गौरस्त्वः पुरयो हस्तीति । किं कारणम् ।
 एतेषु प्रकल्प्यन्ते क्रिया न साक्षादुपलभ्यन्ते । अपि चैतेषु कल्पयितुमपि
 तावच्छक्यन्ते । न द्विधादिषु पुनः प्रकल्पयितुमपि शक्यन्ते । तस्मान्न
 ५ सर्वाण्याख्यातजानि नामानीति । तत्रै यदुक्तं सर्वाण्याख्यातजानि नामा-
 नीत्येतदयुक्तम् । रूढिशब्दे च क्रियाः केवलं शब्दव्युत्पत्तिकर्मण्युपल-
 क्षणभूता निमित्तभावेनोपादीयन्ते न वस्तुतोऽर्थक्रियास्वनुसहायभावं प्रति ।
 तत्र शब्दस्योपच्युतावुपलक्षितेऽनुप्रवृत्तेऽभिधाने निवृत्तायां क्रियायामुपर-
 तसाधनव्यापारं निरूप्य क्रियायामभिधानं वस्तुमात्रस्य प्रतिनिर्देशकं रूढि-
 १० रित्यभिधीयते ।

अपरो व्याख्यामार्गः । ' यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणे-
 नान्वितौ स्याताम् ' । यत्र यस्मिन्नास्ति स्वरसंस्कारौ समर्थौ वष्टाध्यायी-
 लक्षणोपपत्त्या युक्तौ प्रदेशाभिधायिना च धात्वा-
 तद्यत्र० इत्यस्यान्या रूयेन प्रादेशिकेन गुणेनान्वितावनुगतौ स्याताम् ।
 १५ व्याख्या न्याययत्कर्मनामिकसंस्कारेण युक्तौ । तद्यथा ।
 कर्ता कारकः पक्ता पाचक इत्येवमादि । तदा-
 ख्यातजं गुणकृतमिति प्रतीम इति वाक्यशेषः । येषु पुनरष्टाध्यायीलक्षण-
 पराब्युत्थौ स्वरसंस्कारावनुगतौ न च न्याय्यकर्मनामिकसंस्कारयुक्तेन प्रदे-
 शाख्येन धातुरूपेण । किं तेषामिति । उच्यते । ' संविज्ञातानि तानि ' ।
 २० संविज्ञानपदमितीह द्राष्टे रूढिनामस्येवं संज्ञा । वक्ष्यति द्वाभिरिन्द्र-
इत्येवमादीनां संविज्ञानपदत्वं ' यत्तु संविज्ञानभूतं स्यात् ' [निरु०
 ७ । १३] इति । तत्रा वृत्रहा पुरन्दर इत्येवमादीनां गुणपद-

१ ठ. 'तानि' नास्ति. २ ग. ख. ज. द्विधादिषु. ३ घ. झ. ट. तत्. ४ क.
 स. य. ज. शब्दश्च प्र०. ५ ग. ज. 'क्रियायां' नास्ति. ६ ग. ज. साधनाया०.
 १५ ७ क. रा. य. ज. घ. झ. ट. ठ. निरूप्यक्रियाया०. ८ क. स. य. ज. तद्यत्र.
 ९ घ. ङ. 'नान्वितौ अती अनुगतौ; स. 'अनुगतौ' नास्ति. १० क. स. ग.
 ज. घ. झ. ट. ठ. 'नामिकसंयुक्तेन संज्ञा'. ११ क. स. य. ज. घ. झ. ट. ठ.
 'युक्तौ' नास्ति. १२ घ. झ. 'च त्यागाकार्थं'; ख. 'च नापि न्याय्यकार्थं'; ट.
 'च त्यागाकार्थं' न्याय्य; ठ. 'च कर्मनामि'. १३ ख. स. 'ज्ञानानि. १४ ग. ज.
 २० संविज्ञानपद'. १५ ख. 'वादीनां गुणपदत्वम् । स एवाव'. १६ घ. झ. ट. यथा.

संविज्ञानपदस्यार्थः त्वम् [निरु० ७ । १३] । स एवायमि-
हापि विभागो द्रष्टव्यः । तत्र गुणपदानि कारक-
पोचकादीनि । संविज्ञानपदानि तानि यथा गौरद्वयः पुरुषो
हस्तीत्येवमादीनि । न द्वेषां गवादीनामष्टाध्याय्यां व्युपत्तिरक्षणमस्ति ।
तस्माद्द्रष्टव्य इति ।

५

अन्ये तु प्रदेशो व्याकरणमिति व्याचक्षते । तत्र हि शब्दानां लक्ष-
णानि प्रदिश्यन्ते । तत्कृतः कैश्चिद्विश्रणानुग्रहः ल-
प्रदेशपदस्य गुणपदस्य- क्षणावयवो वा गुण इत्युच्यते । प्रसिद्धो हि
चान्योऽर्थः गुणशब्दोऽनुग्रहेऽवयवे च । तच्चथा । गुणे
ममायं वर्तते इत्युक्तेऽनुग्रहे वर्तते इति गम्यते । अवयवेऽपि द्विगुणा
रज्जुस्त्रिगुणेति चोक्ते द्वयवयवा त्रयवयवेति गम्यते । शेषं समानमेव पूर्वा-
भ्यामर्थान्याम् ।

१०

अथवा संविज्ञानानि तानि संविज्ञातानि तानि वेत्युभावय्येतौ पाठौ ।
तस्मादुभयधापि व्याख्यातव्यम् । सत्त्वं प्रदेश इति केचिदङ्गभूता क्रिया
गुण इति व्याचक्षते ।

१५

किं चान्यत् । 'अथ चेत्सर्वाण्याख्यातजानि नामानि स्युः' तथाप्यय-
यमपरो दोषः प्रसज्येत । आह । कतम इति ।
शाकटायनमते दोषाः । 'यः कैश्च तत्कर्म कुर्यात्सर्वं तत्सत्त्वं तथाच-
१ एकं कर्म कुर्यान्ना नै- क्षौरन्यः कश्चाध्वानमश्वनीताश्वः स वचनीयः
केन नाम्नाऽभिधीयन्ते स्यात्किंचित्तृन्यात्तृणं तत्' इति । यः कश्चा- २०
विज्ञेयेण प्राणो तत्कर्म कुर्यात् । यत्किंचिद-
नेकप्राण्याश्रयमेकं तदित्यभिप्रेत्याच्यते तत्कर्म कुर्यादिति । सर्वमेव तं
अणिनं तत्सत्त्वं तथा तेनैवैकेन नाम्नाचक्षीरन् । तच्चथा । यः कश्चाध्वा-

१ ग. च. ज. 'पावका'. २ घ. झ. ट. 'संविज्ञानपदानि तानि' नास्ति.
३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. कचित्. ४ घ. झ. ट. ठ. 'तत्' नास्ति. २५
५ झ. ट. वर्ततेन इति. ६ ठ. 'संविज्ञानानि तानि' नास्ति. ७ घ. ट. 'संवि-
ज्ञातानि तानि' नास्ति; च. संविज्ञातानि वेत्यु^०; झ. संविज्ञानानि वेत्यु^०. ८ क.
ख. ग. ज. ठ. वेत्यु^०. ९ क. ख. घ. झ. ठ. 'तौ' नास्ति; ट. वेत्यु^०म. अपि पाठौ^० त्येता.
१० फ. ख. घ. झ. ठ. व्याख्यातम्; ट. व्याख्यातं तन्म^०. ११ च. केचिदङ्ग-
तावत्क्रिया^०. १२ ठ. प्रसज्येत. १३ च. कश्चित्कर्म^०. २०

नमविशेषेणानश्वोऽप्यश्रुतीताश्च इत्येवं न पचनीयः स्यात् । कस्माद्वाश्वोऽश्रु-
 घन्नश्च इत्युच्यतेऽप्योऽश्रुयन्नपि नोच्यत इति विशेषहेतुर्नास्ति । तस्माद-
 श्वोऽपि नैवाशनक्रियायोगाभिप्रायेणाश्च इत्युच्यते । किं तर्हि । शब्दव्यव-
 हारं एवायमर्थप्रत्यायनार्थ ईदृशक्रियानिरपेक्ष एव । यत्किञ्चित्पृच्छादविशेषेण
 ५ तत्सर्वं तर्दनक्रियायोगात्तृणमित्येवोच्येत । न चोच्यते । तस्मान्न सर्वाण्या-
 ख्यातजानि नामानीति ।

किं चान्यत् । ‘ अथापि चेत् ’ अथापि यदि । ‘ सर्वाण्याख्यात-
 जानि नामानि स्युः ’ तथाप्ययमपरो दोषः

२ भिन्नक्रियायोगादे- स्यात् । आह । कतम इति । उच्यते । ‘ याव-
 १० कमेव द्रव्यं भिन्नना- द्विर्भावैः संप्रयुज्येत तावद्भयो नामधेयप्रतिलम्भः
 मभिरभिधीयेत स्यात् ’ । ‘ तत्रैव ’ तद्यथा । ‘ स्थूणा
 दरशया वा सञ्जनी च स्यात् ’ । क्रियाहेतुके

हि नामधेयप्रतिलम्भे सति यावद्विर्भाव्यावतीभिः क्रियाभिरेकं द्रव्यं संप्र-
 युज्येत तावद्भयो भावेभ्यस्तावतीभ्यः क्रियाम्यो नामधेयप्रतिलम्भः स्यात् ।

१५ किं कारणम् । न हि तत्र कासाचिद्भ्रवर्तको विशेषहेतुरस्यन्यासां वा
 नियामकः । तत्रैवं सति स्थूर्णैकैव सती दरे शेते इति दैरशया इत्युच्येत । न
 चोच्यते । तथा च सज्यते तस्यां वंश इति सञ्जनीत्युच्येत । न चोच्यते ।
 एवमनेकानि सत्त्वान्येकक्रियायोगादेकनामानि स्युरेकं वानेकक्रियायोगाद-
 नेकनाम । उभयथापि ^{१२} च व्यवहाराप्रसिद्धिः । तस्मान्न सर्वाण्याख्यात-

२० जानि नामानीति ॥ १२ ॥

१ ग. घ. ज. ‘श्रुतीतश्च इ’ । २ क. ख. घ. झ. ट. ठ. नास्तीति. ३ क.
 ख. ग. ज. घ. झ. ट. ईदृशः कि’ । ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ‘पेक्षः । एवमे-
 व यत्कि’ । ५ क. ख. ग. च. ज. ‘त्येवमुच्यते. ६ घ. झ. ट. प्रतिलम्भे.
 ७ घ. झ. ट. ठ. ‘तत्र’ नास्ति. ८ ग. ज. व्युत्पत्तको. ९ ठ. दर्शया.

२५ १० क. ख. घ. झ. ट. ठ. अस्यां. ११ घ. झ. ट. ठ. ‘च’ नास्ति. १२ क.
 ख. १; ग. १६; च. ज. घ. झ. ट. अश्वो नास्ति; ठ. १२’ इति निष्कर्षः
 व्याख्यायां द्वादशः खण्डः १२.

अथ पञ्चमः पादः ।

१ अथापि य एषां न्यायवान्कार्मनामिकः संस्कारो यथा

चापि प्रतीतार्थानि स्युस्तथैवान्याचक्षीरन्पुरुषं पुरिशय इ-

त्याचक्षीरन्नष्टेत्यश्वं तर्दनमिति तृणमथापि निष्पन्नेऽमिव्या-

हारेऽमिविचारयन्ति प्रथनात्पृथिवीत्याहुः क एनामप्रथयिष्य-

त्किमाधारश्चेत्यथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारे पदेभ्यः पदेत-

सार्धान्संस्कारशाकटायन एतेः कारितं च एकारादिं चान्त-

करणमस्तेः शुद्धं च सकारादिं चाथापि सत्त्वपूर्वा भाव

इत्याहुरपरस्माद्भावात्पूर्वस्य प्रदेशो नोपपद्यत इति तदे-

तन्नोपपद्यते ॥ १३ ॥

‘अथापि’ चैतदन्यास्याद्यदि सर्वाण्याख्यातजानि नामानि स्युः ।

आह । किमिति । उच्यते । ‘य एषां न्यायवान्कार्मनामिकः संस्कारो यथा

चापि प्रतीतार्थानि स्युस्तथैवान्याचक्षीरन्’ । एषां पुरुषास्त्रादिनाम्नां न्याय-

वान् लक्षणग्न्यायेन युक्तः । आह कः पुनरसाविति । उच्यते । कार्मना-

मिकः संस्कारः । कर्मकृतं नाम कर्मनाम । तत्पुनः पाचकलावकादि ।

तस्मिन्भवः कार्मनामिकः संस्कारः । किंच । यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युः

प्रतीतक्रियाणि स्युस्तथैव तान्याचक्षीरन् जनाः । आह । कथं पुनरा-

ख्यायमानान्येतानि न्यायवता कार्मनामिकेन संस्कारेणोपेतानि स्युः कथं

वा प्रतीतक्रियाणीति । उच्यते । ‘पुरुषं’ तावत् ‘पुरि शय इत्याच-

क्षीरन्’ । पुरि ह्यसौ शेते इति पुरिशयः प्राप्नोति । एवमसौ न्यायवता

कार्मनामिकसंस्कारयुक्तेन शब्देनोक्तः स्यात् । एवं चैव प्रतीतक्रियः शब्दो

भवति । एवमिव ‘अष्टा इत्यश्वं’ आचक्षीरन् । अथोति ह्यसा-

वित्यष्टा प्राप्नोति । एवमेव तृच्यतेऽनेनेति ‘तर्दनमिति तृणं’ आचक्षी-

रन् । न चैवमाचक्षते । न चासति कारणे विद्यमाना क्रिया परोक्षीकर्तुं

न्याय्या । तस्मान्न सर्वाण्याख्यातजानि नामानीति ।

१ छ. चान्तः क. २ क. ख. द. २; छ. त. १७; ठ. अष्टो नास्ति. ३ च. तथापि; ठ. अथापीति । अया. ४ घ. ट. वारि. ५ ग. ज. य एतां. ६ घ. कर्मनामिकः. ७ च. ‘राशयानामानि. ८ क. ख. च. झ. ट. शेते पुरिशय इति श. ९ घ. ‘अभोति नृणमाचक्षीरन्’ नास्ति.

न्त्रशीलीत्येतदेवैकं प्रयोजनं मुक्त्वा नान्यत्प्रयोजनमस्ति लडादीनामनुवन्धा-
नामप्ययने लोपे च । अपरे पुनर्वैष्णवकरणे लटमकृत्यैव त्रिवादीनेवोपाददते ।
तेषामपि हि शब्दानुविधाने सा तन्त्रशीली । एवं प्रतिनियतया स्वया
स्वया तन्त्रशील्या भवतीत्येवमादिसमानमेव शब्दरूपं साधयन्ति । तत्रैवं
शब्दानुविधानोपायविप्रतिपत्तौ सत्यां शाकटायन आचार्योऽनेकैश्च धातु- ५
भिरेकमभिधानमनुविहितवानेकेन चैकमेव । तत्र यदेनैकरनुबोहेतवांस्त-
दितरैर्गाम्यपाणिन्यादिभिर्न मृश्यन्ते । किं कारणम् । अप्रसिद्धो हि स
तेषां शब्दानुविधानमार्गो धातुसमुदायमात्रमेव नामेति । यतस्ते शाकटा-
यनमाचिक्षिप्तस्त आहुः, 'अथानन्वितेऽर्थे' इति । अनन्वितेऽर्थेऽननुगते
शब्देनार्थे । यत्र प्रतीर्यमाणोऽपि शब्दोऽर्थमनुगन्तुं न शक्नोति । एवं १०
धातुजोऽस्मर्यो भवति । 'अप्रादेशिके च विकारे' । यथा हि क्रियया
संज्ञ्यं प्रदिश्यते तदभिधायको यो धातुः स तदभिधानं विगृह्यमाणं
विकर्तुं न शक्नोति यत्र तत्र हीयमानप्रतिज्ञः शाकटायनः सर्वोप्याख्या-
तजानि नामान्युपपादयिष्यन्नसंभवे सति काशकुशावलम्बनमिव कुर्वन्कि-
मकरोदिति । 'पदेभ्यः पदेतरार्थान्तसंचस्कार शाकटायनः' । पदेभ्यः १५
आख्यातपदेभ्यः समस्तेभ्योऽवयवानुपादाय पदेतरार्थान्न्यांधान्यांधे-
तरेतराख्यातपदावयवैरन्यैधान्यैधान्यमर्थं नाम्नः संस्कृतवान् । तद्यथा सत्यमि-
त्येतदभिधानं संचस्कार । कथम् । 'एतेः कारितं च यकारादि चान्तकर-
णमस्तेः शुद्धं च सकारादि च' । एतेः इष्णतौ [धा० २ । ३५]
इत्यस्य कारितान्तं ण्यन्तं रूपं कृत्वा ततो यकारमन्तमादाय मकारान्तं २०
कृत्वा सत्यशब्दस्यान्यमर्थं संचस्कार । ततो यमिति भवति । अस्तेः शुद्धं च ।
अस् भुवि [धा० २ । ५५] इत्येतस्य शुद्धमेव रूपं कृत्वा नैकारिता-
न्तमित्यर्थः । ततः सकारादिशब्दरूपं गृहीत्वा सदित्येतत्सत्यमित्ये-
तस्य शब्दस्यादिमकरोत् । आयमर्थं संचस्कार । तत्सदिति भवति । अत्र
योऽप्यमस्तेस्तकारः ॥ यकारमधिरोहति । एवमेतदेकमभिधानं द्वयोर्धातयोः २५

१ ठ. तन्त्रशीली. २ घ. स. ठ. प्रतिनियतया. ३ घ. स. ठ. ठ. 'स्वया'
७ ह्रस्व. ४ ठ. तन्त्रशील्या. ५ घ. स. ठ. ठ. च. आचिक्षिप्तस्त. ६ क.
स. संस्कार्यमाणोऽपि. ७ च. प्रदिश्यते; ठ. प्रतिदिश्यते. ८ घ. स. ठ.
ठ. 'तत्र' नास्ति. ९ घ. स. ठ. ठ. 'आनन्दमर्थ'. १० ठ. कारितं.
११ ग. घ. म. अनु. १२ घ. स. ठ. ठ. तकारं.

संचस्कार । सत्यमिति भवति । अथ कोऽर्थः । सन्तमर्थमाययति प्रत्याय-
यति गमयतीति सत्यम् । कारितं च यकारादि च शुद्धं च सकारादि
चेतीतरस्माच्चेतरस्माच्चेतरं चेतरं चार्धमिति समुच्चयार्थाश्चकाराः ।
एवं पदेभ्यः पदेतरार्धान्संचस्कार शाकटायनः । तदेतदन्याथ्यं कृतवान् ।
को हि नाम पदं विमज्ज्यानेकधातुजं कुर्यात् । तदेतदकृतपूर्वमन्यैर्विद्वद्भिः
शाकटायनोऽतिष्ठाण्डित्याभिमानादकरोदभिनत्पदानि । अपि चोपजायते
नः शङ्का । यथासौ पुष्टौ नासौ पदेषु स्यास्यति । अर्थस्यमसौ वर्णानपि
भेत्यस्यनेकार्थाश्च कल्पयिष्यति । यो हि पदान्यभिनत्तस्य वर्णभेदे
विशेषहेतुः को भविष्यति । तस्मादतिप्रसङ्गदोषोपपत्त्या नानेकधातुजानि
नामानि नपि सर्वाण्याख्यातजानीति ।

“अथापि” अयमपरो दोषः प्रसज्येत । कतमः । “सत्त्वपूर्वो
भाव इत्याहुः” अभियुक्तास्तद्विदः । सत्त्वं पूर्वमस्मात्सोऽयं सत्त्वपूर्वः ।
किं कारणम् । सत्त्वाश्रय एव दासौ । तत्रैवं सत्यपरकालीनेन भावेन
क्रियाया पूर्वोत्पन्नस्य सत्त्वस्य “प्रदेशः” प्रदेशनं संज्ञाप्रतिष्ठम्भो “नोप-
पद्यते” । किं कारणम् । उत्पत्तिसहभूता हि सा । स्वेनाभिधानेन
क्रियानिरोपेक्षणाभिसंबद्धमेव द्रव्यमुत्पद्यते नित्यसंबद्धौ हि शब्दार्थाविति ।
“तदेतत्” सर्वथा सर्वाण्याख्यातजानि नामानीति शाकटायनमतं नोप-
पद्यते । तदनुपपत्तावस्मपक्षसिद्धिः कानिचिदाख्यातजानि नामानि कानि-
चिदनाख्यातजानीति । अथ शक्यते प्रत्यवस्थातुं प्रत्यवस्थायतामिति
परिसमाप्तो गार्ग्यपक्षः ॥ १३ ॥

- १ प. यकारादि इतरस्माच्चतरस्याच्च शुद्धं च सकारादि वेति इतरं चेतरं; ट.
यकारादि इतरस्माच्च च शुद्धं च सकारादि चेति (इतरस्माच्चेत) इतरं चेतरं
रस्माच्च; ठ. एतेः कारितं च यकारादि च. २ ग. ज. “तरस्याप्येतरं चार्धं”. ३ क.
ख. प्र. झ. ट. ठ. प्रबुद्धो. ४ क. ख. घ. झ. अपि चासौ; ट. अपिचोषी
अवयवमसौ पाठः. ५ क. ख. घ. झ. ठ. वर्णभेदे; ट. वर्णभेदे. ६ ग. घ. क. ख.
घ. झ. ट. “ख्यातजानि नामानीति. ७ ग. ज. “भूता सा हि. ८ ठ. मत्पक् स्यातुं.
९ ठ. मत्पक् स्थी. १० क. ख. ग. घ. ज. घ. झ. ट. अत्रो नास्ति; ट.
॥ १३ ॥ इति निरुक्त्यर्थोदघः सण्डः । शाकट.

अथ षष्ठः पादः ।

यथो हि नु वा एतच्च त्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादे-
 शिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां सर्वं प्रादेशिकमित्येवं सत्यनु-
 पालम्भ एव भवति, यथो एतच्चः कश्च तत्कर्म कुर्यात्सर्वं ५
 तत्सत्त्वं तथाचक्षीरन्निति पश्यामः समानकर्मणां नामधेय-
 प्रतिलम्भमेकेषां नैकेषां यथा तक्षा परिव्राजको जीवनो
 भूमिज इत्येतेनैवोत्तरः प्रत्युक्तो यथो एतच्चथा चापि प्रती-
 तार्थानि स्युस्तथैनान्याचक्षीरन्निति सन्त्यल्पप्रयोगाः
 कृतोऽप्येकपादिका यथा व्रतेतिर्दमूना जाट्य आदनारो १२
 जागरूको दधिहोमीति यथो एतन्निष्पन्नेऽमिव्याहारेऽमि-
 विचारयन्तीति भवति हि निष्पन्नेऽमिव्याहारे योगप-
 रीष्टिः प्रथमात्पृथिवीत्याहुः क एनामप्रथमिष्पत्किमाधारश्चे-
 त्यथ वै वर्शनेन पृथुरप्रथिता चेदप्यन्यैरथाप्येवं सर्वं एव
 दृष्टप्रवादा उपालभ्यन्ते यथो एतत्पदेभ्यः पदेतरार्थान्तसंच- १५
 स्कारेति योऽनन्वितेऽर्थे संचस्कार स तेन गर्ह्यः सैषा पुरु-
 षगर्हा न शास्त्रगर्हा इति यथो एतदपरस्मान्नावात्पूर्वस्य
 प्रवेशो नोपपद्यत इति पश्यामः पूर्वोत्पन्नानां सत्त्वाना-
 मपरस्मान्नावान्नामधेयप्रतिलम्भमेकेषां नैकेषां यथा वि-
 ल्वादो लम्बचूडक इति विल्वं भरणाद्वा मेदनाद्वा ॥ १४ ॥ १७

इति प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

शाकटायनपक्षेणेदानीमेतान्दोषान्प्रतिसमाधास्यामस्तदर्थमिदमारभ्यते
 'यथो हि नु वा एतत्' इति । यथेति वाक्योपादाने । यथा येन प्रका-
 रेण । उकारोऽवधारणार्थः । व्याख्यातमेतत् 'अथाप्युक्तार एतस्मिन्ने- २५

१ उ. इत्यमुषा. २ उ. नामधेयः प्र. ३ उ. मृतिज. ४ उ. त. द. 'तोऽप्ये-
 क' ५ उ. भवति; त. भवति' त. द. क. ख. द. 'प्यन्ये' ॥ ३ ॥ अथ;
 उ. त. 'प्यन्ये' ॥ १८ ॥ अथा. ७ क. ख. उ. त. गर्हः. ८ क. ख. उ. त.
 द. 'न शास्त्रगर्हा' इति नास्ति. ९ उ. त. चूडक; द. चूडक' उ. १० क.
 रा. द. ४; उ. त. १९. ११ उ. य. थ. त. द. ठ. 'इति पादः' नास्ति.
 १२ ग. 'न्यते' ॥ १७ ॥ यथा.

- वार्ये उत्तरेण' (निरु० १ । ५ इति) । येनैव प्रकारेण प्रसिद्धमाचार्ये-
णाख्यातजत्वं प्रतिषिद्धं नाम्नस्तेनैव प्रकारेण प्रत्यनुमाप्य समीकरिष्या-
मीति । हीनसूयायां ' कथं हि व्याकरिष्यति ' (निरु० १ । ५)
इति । नु इत्येव हेत्वपदेशे । वै इत्ययं यथोक्तपूर्वपक्षोपदेशार्थः । येनैव
५ प्रकारेणास्तमर्था हेतव उक्तास्तेनैव प्रकारेण प्रत्यनुमाप्य प्रतिवक्तृधर्मेण
समीकरिष्यामः । यत्त्वयैतदुक्तम् । किमिति । ' तद्यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ
प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्याताम् ' इति । आह । तत्र किमिति । उच्यते ।
तदेतत्प्रत्युच्यत इत्युपयुक्तस्तच्छब्दः । आह । केन प्रकारेण प्रत्युच्यत
इति । उच्यते । ' सर्वं प्रादेशिकमित्येवं सत्यनुपालम्भ एव भवति ? ॥
१० सर्वमेव प्रादेशिकं सर्वमेव क्रियाजं नाम । आह । ततः किमिति ॥
इत्येवं सत्यनुपालम्भ एव भवति । आह । कथम् । शृणु । प्रदेशवा-
चिनो धातुनुपेक्ष्य तदाग्रयो स्वरसंस्कारौ यावद्गम्यमनुविधेयौ । विन्मी हि
लक्षणगतिः । नैष शब्दापराधो नाप्यस्माकम् । भक्त एवायमपराधो
मन्दशिक्षितत्वाद्येनानुविधातुं स्वरसंस्कारौ विद्यमानावपि प्रदेशवाचिनि
१५ धातौ न शक्नोपि । स त्वं तावत्पुनः पुनः शिक्षस्वान्यद्वयाकरणं यावच्छक्ति-
स्तैवानुविधातुमिति । व्याकरणेऽप्यष्टधाभिन्ने लक्षणैकदेशो विक्षितः ॥
कश्चित्सौत्रो विधिः^१ । कश्चित्शब्दचशब्दवाशब्दातिरिक्तोभिव्या-
हारयोगविभागादिगम्यः । तद्यथा मतारन्तेष्वप्यभिन्नेषु कश्चित्काचिद्विवि-
रुच्यते ते^२ च सर्व एव प्रयोगमिच्छता प्रयोगकाल उपसंहर्तव्यम् एवमिहा-
२० पि सर्वाप्येव लक्षणशाल्वाप्यपेक्ष्यापि स्वरसंस्कारसिद्धय इति । स त्वं ताव-
च्छिक्षस्वानिर्विण्णो यावदखिलशब्दानां स्वरसंस्कारायनुविधातुमुपजौतं
सामर्थ्यमिति ।

- १ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. यथैतदुक्तं; च. यथैतदेव. २ क. ख. घ. ङ. ट. ठ.
केन पुनः ५. ३ ग. सत्यमुपा. नु. ४ क. ख. म. ज. घ. ङ. ट. 'चिन आख्या-
२५ तानुत्पे'; च. 'चिनः धातुन्याठः । आख्यातानुत्पे'; ट. 'चिन आख्यातानु' नो
धातु. ५ घ. ट. 'वायं त्वं अप'; ठ. 'वायं त्वा'. ६ घ. ट. 'पुनः' सङ्गदेव.
७ ग. ज. 'किंस्तवानुविधा'. ८ क. ख. घ. ङ. लक्षणैकदेशे; ग. ज. लक्षणैक-
देशे; ट. लक्षणैकदेशे. ९ क. ख. धातु; घ. धातुचितु; ङ. धातुविधातु; ट. धावि-
धिः तुः. १० क. ख. 'रिक्ताद्याहारविभा'; ग. ज. 'रिक्ताद्याहारयोगविभा'; घ. ङ.
ट. ठ. 'काध्याहार'. ११ घ. ट. 'ते' नास्ति. १२ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. 'पेक्ष्या-
प्यखिलस्वर'; ग. ज. अखिलसंस्कारसिद्धयेभित्तरसंस्कारे वा; च. 'अखिलस्वर-
३२ संस्कार इति पाठः । स्वरसंस्कार'. १३ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. उपशतं.

‘येथो एतत्’ यत्पुनरेतदुक्तं यः कैश्च तत्कर्म कुर्यात्सर्वं तत्सत्त्वं
 तथाचक्षीरनित्यनेकेषामेकक्रियायोगादेकनामता प्रसज्येतेत्यत्र ब्रूमः ।
 न हि प्रसज्येते । त्वमपि पश्यासि वयमपि च ‘पश्यामः समानकर्मणां’
 तुल्यकर्मणामपि सत्तां कर्मकृत—‘नामधेयप्रतिलम्भमेकपां नैकेपां यथा
 तक्षा परिव्राजको जीवनो भूमिज’ इति । तक्षन्कश्चित्तक्षेत्युच्यते । अन्यस्तक्ष-
 जपि न तक्षेत्युच्यते । आह । कोऽत्र हेतुरिति । शृणु । लोकमेव पृच्छ
 तमेवोपालभस्व न मयैव नियमः कृत इति । अथ च तद्यथा समानमीह-
 मानानां कश्चिदेवार्थेन संयुज्यते कश्चिन् । न चेदानीमेकोऽर्थेन संयुज्यत
 इत्यन्यैरपि संयोज्यमेकेन वा लब्धमित्यन्यैरपि लब्धव्यम् । स्वभावतो
 हि शब्दानो क्रियाजत्वेऽपि सति कांचिदेव क्रियामङ्गीकृत्यावस्थितिर्भव-
 तीति । अथवा क्रियातिशयकृतो नियमः स्यात् । यो हि यदतिशयेन
 करोति तस्यानेकक्रियावत्त्वेऽपि सति तद्वस्तु एव नामधेयप्रतिलम्भो
 भवति । अयं समाधिः । अथवा न ब्रूमो यो यत्र यदा च तर्क्षति

१ घ. ट. यथा एव तत्. २ घ. झ. ठ. ‘नरुक्तं; ट. ‘नरुक्तं’ ऐतदुक्तं सर्वं पाठः.
 ३ ग. च. ज. ‘यः कश्च तत्कर्म कुर्यात्’ नास्ति. ४ ठ. प्रसज्येते. ५ ठ. प्रसज्येते. १५
 ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. कर्मकृतां. ७ क. ख. ग. च. ज. ‘पालम्भस्व; ठ.
 तमेवोपालभस्व. ८ क. ख. कश्चिन्न वेदादीनाम्, एकोऽर्थेन संयुज्यत इति अन्यैरपि
 संयुक्तः; सत्यमेकेन चालम्भम् । स्वभा°; ग. ज. कश्चिन्न वेदानामेकोऽर्थेन संयुक्त
 इति अन्यैरपि संयुक्तः सत्यमेकेन चालम्भं स्वभा°; घ. कश्चिन्न चेदानी एकोऽर्थेन
 संयुज्यत इति अन्यैरपि संयुक्तं सत्यमेकेन वा लब्धं । स्वभा°; झ. कश्चिन्न वेदानां २०
 एकोऽर्थेन संयुज्यत इति अन्यैरपि संयुक्तं सत्यमेकेन वा लब्धं स्वभा°; ट. कश्चिन्न वेदा-
 नी (वेदादीनां पाठः) एकोऽर्थेन संयुज्यत इति अन्यैरपि संयुक्तः सत्यमेकेन वा
 लब्धं °न चेदानी एकार्थेन संयुक्त इत्यन्यैरपि संयोज्यम् । एकेन वा लब्धं अन्यैरपि
 लब्धव्यं इति वा पाठः; च. कश्चिन्न वेदादीनामेकोऽर्थेन संयुज्यत इति अन्यैरपि
 मेकेन वा लब्धं । न च इदानीं एकोऽर्थेन संयुक्त इत्यन्यैरपि संयोज्यम् एकेन २५
 वा लब्धं न्यैरपि लब्धव्यं । इति पाठः शुद्धः; ठ. कश्चिन्नवेदानामेकोऽर्थेन संयुक्त
 इति अन्यैरपि संयोज्यम् एकेन वा लब्धमन्यैरपि लब्धव्यं चेदानीमेकोऽर्थेन संयुज्यत
 इति अन्यैरपि संयुक्तं सत्यमेकेन वा लब्धव्यत इति अन्यैरपि लब्धं स्वभा°. १ ठ.
 भवतीति. १० ग. ज. चक्षति.

स एव तक्षेति । किं तर्हि । यो यदा यत्र तक्षा भवति स एव तक्षति । तदेतद्वक्षणाभिनयतं काममन्येष्वप्यस्तु । कदाचित्कचित्तेषामप्यन्याः क्रिया नियततराः सन्ति यद्वेतुको नामधेयप्रतिलम्भ इति । तेषां तु तैक्षानियमत-
स्तक्षतीति विशेषः । जीवन इक्षुरस्सः शाकजातिर्वा । भूमिजोऽङ्गारको
वृक्षो वा ।

‘ एतेनैवोत्तरः प्रत्युक्तः ’ । आह । कतमः । ‘ यावद्विर्भावैः संप्रयु-
ज्येत तावद्वयो नामधेयप्रतिलम्भः स्यात् ’ [निरु० १ । १२] इत्येषः ।
पश्यामोऽनेकक्रियायुक्तानामप्येकक्रियाकारितो नामधेयप्रतिलम्भः । तथा ।
तक्षा परिव्राजक इत्येतान्येयोदाहरणानि । तक्षा ह्यन्यान्यपि कर्माणि
करोति । न पुनस्तस्य तत्कृतो नामधेयप्रतिलम्भोऽस्ति । तत्र यदुक्तमेक-
स्यानेकक्रियायोगादनेकनामता प्रसज्यतेत्येतदयुक्तम् । न हि प्रसज्येत ।
यदि चोक्तमनेकपामेकनामतैकस्य चानेकनामता प्राप्नोति ततश्च व्यवहा-
राप्रसिद्धिरिति न हि तदुभयमस्ति । अनेकेषामेकक्रियायोगेऽपि हि सत्ये-
कस्य चानेकक्रियायोगेऽपि हि सति व्यवस्थित एव शब्दनियमः स्वभावत
एव लोके । तस्मान्न व्यवहाराप्रसिद्धिदोषोऽस्ति । तत्र यदुक्तं व्यवहाराप्र-
सिद्धिदोषप्रसङ्गान्न सर्वाण्यख्यातजानि नामानीत्येतदयुक्तम् ।

‘ यथो एतत् ’ यपुनरेतदुक्तं ‘ यथा चापि प्रतीतिार्थानि स्युस्तथे-
नान्याचक्षीरन्निति ’ अत्र ब्रूमः । शब्दस्याभाव्यमेतच्चन तथा सर्वाण्या-
ख्यायन्ते यथा यथा प्रतीतिार्थानि भवन्ति । न तत्राहमपराध्ये भवतो
नापि शास्त्रम् । यथावस्थितानां हि शब्दानामन्वाख्यानमात्रमेव क्रियते ।
नाहं शब्दानां कर्ता । य एषां प्रयोक्तारस्तान्निपातमस्य । निराकुरु या यदि
शक्तोपि ।

१ क. स. म. ज. प. झ. ट. तक्षेति. २ उ. ‘ कदाचित् ’ नास्ति. ३ प.
झ. ट. लक्षणानियतः; ४ तक्षानियतः. ५ घ. झ. ट. संप्रयुज्येत. ५ घ. ‘ स्यादि-
त्येषः.....क्रियाकारितो नामधेयप्रतिलम्भः ’ नास्ति. ६ ट. क्रियायुक्तो नाम. ७ ट.
पुनस्तत्र तत्कृतो. ८ ट. प्रसज्येत. ९ ट. यत्रोक्तं. १० घ. झ. ठ. ट. चानेक. ११ ग. घ. ज.
‘ यदुक्तमिति. १२ घ. झ. ट. ‘ एतत् ’ नास्ति. १३ क. स.
प. झ. ठ. ट. ‘ स्थानेयोदाहरणम्.

आह । कस्मात्पुनः कानिचिदाख्यायन्ते लोके । तदभिधानस्वभाव-
मेव । कानिचिदप्रतीतार्थानि कानिचिदप्रतीतार्थानि । तान्यपि शास्त्रेण
प्रतीतार्थान्येव कर्तव्यानि । एतदेव शास्त्रस्य शास्त्रार्थत्वम् । यदप्रतीतार्था-
न्यपि प्रकृत्यादिना ' प्रतीतार्थानि स्युस्तथैनान्याचक्षीरन्ति ' आख्यायन्त
एव कानिचित्कानिचिच्छास्त्रेण प्रतीतानि क्रियन्ते । रूढ्यनुविधायित्वाह-
क्षणशास्त्रस्य गुणतस्तेषु लक्षणम् । अपि च । ' सन्ति ' एव अल्पम-
योगाः प्रतीतार्थक्रिया अपि केचित्कृत्प्रत्ययान्ताः शब्दा ' ऐकैपदिकाः '
एकप्रदप्रकरणान्तर्वर्तिनस्तद्वर्माणः । तत् ' यथा व्रततिर्दमूना जाय्य
आट्णारो जागरूको दर्विहोमीति ' । व्रततिर्ब्रूणातेः ।
प्रतीतार्थक्रियाणां चह्यी । दमूना दममना वेत्येवमादि । अग्निरतिथिर्वा । १०
नाम्नामुदाहरणानि जाय्यः जटावान् । आट्णारः अटनशीलः । जाग-
रूकः जागरणशीलः । दर्विहोमी दर्व्या जुहोतीति ।
एवं प्रतीतार्थान्यपीति^१ शाकटायनाभिप्रायः । तत्र यदुक्तं न सर्वाण्याख्या-
तजानि नामानीत्येतदयुक्तम् ।

' यथो एतत् ' यत्पुनरेतदुक्तं ' निष्पन्नेऽभिव्याहारेऽभिविचरयन्तीति ' ११
अत्र ब्रूमः । युक्तं ते कुर्वन्ति । ' भवति हि निष्पन्नेऽभिव्याहारे योगप-
रीष्टिः ' । योगपरीष्टिर्नाम योगस्य परीक्षणम् ।
निष्पत्त्यनन्तरं वस्तु कथं चातुत्यन्नः सन्नभिधानयोगः परीक्ष्येत ।
नो नाम्ना व्यवहारः तत्र यदुक्तं ' प्रथनात्पृथिवीत्याहुः क एनामप्रथ-
यिष्यत्किमाधारश्चेति ' । न वयमेवं ब्रूमः प्रथितेयं २०
केनचिदतः पृथिवीयमिति । आह । कथमियमप्रथिता सती पृथिवीत्वमापेति ।
उच्यते । ' अर्थं वै दर्शनेन पृथुरप्रथिता चेदप्यन्यैः ' । दृश्यमाना हीयं
पृथिवी । तस्माच्चयमप्रथिता कैश्चिदन्यैस्तथ.पीयं
पृथुत्वदर्शनात्पृथिवी पृथुदर्शनक्रियायोगात्पृथिव्येव । तत्र यदुक्तं ' कं
एनामप्रथयिष्यत्किमाधारश्चेति ' एतदयुक्तम् । २५

१ क. ख. स. शास्त्रत्वं. २ च. प्रकृत्यादीनां; स. प्रकृत्यादीनिः. ३ च. एक°. ४ च. 'मादिः. ५ क. ख. प. स. ट. ठ. 'होमीति. ६ क. ख. ग. च. ज. प. स. ट. 'इति' नास्ति ७ ग. ज. 'युक्तं ते कुर्वन्ति' नास्ति ८ च. 'परीष्टिः. ९ ग. प. स. ट. ठ. कथं वातु°. १० ग. ज. प. स. ट. ठ. परीक्षेन ११ च. 'अथ वै' नास्ति.

अन्यथापि हि धात्वर्थ उपपद्यत एव । तत्रैवं सति यथा न विरोत्स्यते
तथा निर्वक्ष्यामः । तस्मादविरुद्धः शाकटायनाभिप्रायः ।

‘अपि’ च यदि दृष्टव्यस्याः पृथुत्ये वयमुपालभ्यामहे ननु ‘एवं’
सति ‘सर्व एव दृष्टप्रवादा उपलभ्यन्ते’ न केवल-

५ दृष्टप्रवादे नोपालम्भार्हता महमेव । यो यदृष्ट्वा ब्रवीति स तत्र दोष एव ।
तथा सति दृष्टहानं प्रसज्येत । अनिष्टं चैतत् ।

तस्मात्पृथुदर्शनात्पृथिवीत्युपपद्यते ।

‘यथो ऋतत्’ यत्पुनरेतदुक्तं ‘पदेभ्यः पदेतरार्थान्संचस्कारेति’
अत्र ब्रूमः । ‘योऽनन्विते’ शब्देनानभिधेये

१० अनैकैर्धातुभिर्ना- ‘अर्थे’ अननुगतमसंबद्धं ‘संचस्कार’ स
चो व्युत्पत्तौ न कोऽपि तेन’ असम्बन्धेनासंबन्धेन संस्कारेण ‘यद्यो’ गर्ह-
दोषः णीयो न पुनराचार्यो योऽनुगमस्य धातुभिरनेकैरे-
कामिधानगतानर्थान्स्ततः संचस्कार नैव मौढ्येन ।

‘सैषा’ तदभिप्रायापरिज्ञानात् ‘पुरुषगर्हा’ । पुरुषो हि कश्चिदशिक्षितत्वादे-

१५ कथतुजमपि न जानाति किमुत बहुधातुजम् । अपि च सन्ति
ल्लोके तादृशाः पुरुषा ये कारकहारकादीन्यपि प्रकटक्रियाणि सन्ति
कृतमेभ्यो धातुस्य एतान्यभिनिर्णयन्त इति न जानते । एष पुरुषदोषो
न शास्त्रदोषो यदनुगमयितुं धातुशब्दैरर्थो न शक्यते । तत्र यदुक्तं
‘अनन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारे पदेभ्यः पदेतरार्थान्संचस्कार शाकटायनः’

२० इति तदनुक्तम् । अनुगत एवार्थे संचस्कार शाकटायनः । सन्तमेव ह्यर्थ-
मापयति गमयतीति सत्यम् । तस्मादुपपद्यत एव शाकटायनमतम् ।

अपि च ईदृशम्व्युत्पत्तिर्भन्नेष्वपि दृश्यते । यथा चै लक्ष्यं तथा
चै लक्षणं प्रवर्तिनुमर्हति । इतरथा हि कस्यै तदलक्षणं स्यात् । ‘यदसर्प-

- १ क. स. ‘प्रायः ॥ ३ ॥ अपि’ । २ ग. ‘भ्यामहे । १८ । ननु’ । ३ च.
उपलभ्यन्ते । ४ ठ. प्रसज्येत । ५ क. स. घ. झ. ट. ठ. ‘त्युच्यते । ६ घ. झ.
ट. ठ. ‘एतत्’ नास्ति । ७ घ. झ. ट. पदेभ्यः पदेभ्यः पदे’ । ८ घ. झ.
ट. ठ. ‘निर्णयन्ते । ९ क. स. ग. ज. ‘अनन्विते’ तदनुक्तम्’ नास्ति । १० ग.
व्यूढिश’ । ११ क. स. घ. झ. ट. ठ. ‘च.’ नास्ति । १२ च. लक्षणः । १३ घ.

तत्सर्पिः १ [तै० सं० २ । ३ । १०] इति मन्त्रः । यन्नवमैतन्न-
वनीतमभवत् । [तै० सं० २ । ३ । १०]

तादृशान्युपतौ ब्राह्मणोः इति मन्त्रः । अपि च ब्राह्मणेनाप्यने-
दाहरणम् । कथातुज्ञान्येव कृत्वा निरुच्यन्ते तत्र

मन्त्राभिधानानि यत्परिज्ञाने च फलमुपपद्यते । आह । 'तदेतद्व्ये-
क्षरं हृदयमिति ह इत्येकमक्षरमभिहरत्यस्मै स्वाधान्ये च य एवं वेद द-

इत्येकमक्षरं ददन्त्यस्मै स्वाधान्ये च य एवं वेद यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गो-
लोकं य एवं वेद' [श० ब्रा० १४ । ८ । ४ । १ बृ० उ०

५ । ३ । १] इति । एवं हरतेर्ददातेरेतेर्हृदयशब्दः । तदर्थफलौर्पेप्रदर्शनार्थं

ब्राह्मणे चैत्रं निरुक्तः । तच्च नः परं प्रमाणम् । तस्माच्छाकट्यायनस्तदनुद्दय-
सम्यगेव कृतवान्यदनेकैर्धातुभिरेकमभिधानं निरुक्तवानिति ॥

यथो एतत् यत्पुनरेतदुक्तं 'अपरस्माद्वावात्पूर्वस्य प्रदेशो नोप-
पद्यत इति' अत्र ब्रूमः । 'पूर्वोत्पन्नानां सत्त्वानां

पश्चात्कालीनेन भावेन नामधेयप्रतिलम्भः' अपरकालीनादपि सतो भा-
वात् केपांचित् । तत् 'यथा विल्वादो लम्बचूडक

इति' । पश्चात्कालीनयापि चूडालम्बनक्रियया भवि-
ष्यता योगेन विल्वादनक्रियया च पूर्वोत्पन्नस्य

सत्त्वस्य नामधेयप्रतिलम्भं उपपद्यमानो दृष्टः । क. चान्यत्र 'नोपपद्यते ।
तत्र यदुक्तं 'अपरस्माद्वावात्पूर्वस्य प्रदेशो नोपपद्यत इति' तदनैकान्ति-

कत्वादयुक्तम् । उपपद्यत एव हि केपांचिदिति ।

'विल्वं भरणाद्वा भेदनाद्वा' । भृतं हि तद्ववति बीजानाम् । विभर्ति
या दुर्भिक्षादौ भक्ष्यमाणं जनम् । भेदनाद्वा । भिद्यते हि तदवश्यं भक्ष-

णायेति ।
आह । किमिदमतिबहिर्वि ? किमपि पूर्वोत्तरपक्षसंबन्धं नामाख्यातजत्वमाधि-

१ फ. स. उ. यन्नवमैतन्नं. २ व. तदेतद्व्येक्षरं. ३ ग. च. ज. यमिदमित्ये. ४ २५
क. ख. घ. स. ट. ठ. 'फलोपदर्शः'. ५ क. ख. ग. ज. ब्राह्मणेनेव. ६ घ. स. ट.
ठ. 'एतत्' नास्ति. ७ क. ख. घ. स. ट. अपरस्मादपि; ट. अपरस्माद् 'कालिना
पाठः. ८ ग. च. ज. लम्बचूडक'. ९ ग. च. ज. कृत्त्वनामधे. १० घ. स.
ट. ठ. 'न' नास्ति. ११ च. 'वदेच कि'.

नाम्नामाख्यातज-
त्वमधिकृत्य किंहेतु-
कोऽयं वादः

कृत्योक्तमिति । उच्यते । शिष्यबुद्धिद्वयार्थमेतदु-
क्तम् । कथं नाम व्युत्पन्नबुद्धिः शिष्योऽप्रतिब-
ध्यमानः सर्वतोमुखानेव लौकिकवैदिकाञ्छन्दा-
निर्ब्रूयादिति । सर्वाण्येव हि व्याकरणानि निरु-

क्तानि च वेदाङ्गत्वाविशेषात्प्रमाणानि । तेषामिदं फलवदं साध्वित्येतदशक्यं
वेत्तुमिति ॥ १४ ॥

इति निरुक्तवृत्तौ षष्ठाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

पञ्चमः पादः ।

१ अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यतेऽर्थमप्र-
तियतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोऽशस्तविदं विद्यास्थानं
व्याकरणस्य कात्स्न्यं स्वार्थसाधकं च यदि मन्त्रार्थ-
प्रत्ययादानर्थकं भवतीति कौत्सोऽनर्थका हि मन्त्रास्त-
१५ देतेनोपेक्षितव्यं नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भव-
न्त्यथापि ब्राह्मणेन रूपसंपन्ना विधीयन्ते । उरु प्रथस्वेति
प्रथयति । प्रोहाणीति प्रोह्यथाप्यनुपपन्नार्था भवन्ति ।
ओपधे त्रापस्वेनं स्वधिते मेनं हिंसीरित्याह हिंसन्नथापि
विप्रतिपिद्धार्था भवन्ति । एक एव रुद्रोऽवतस्थे न
२० द्वितीयः । असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि मूयाम् ।
अशङ्कुरिन्द्र जज्ञिषे शतं सेना अजयस्ताकमिन्द्र इत्यथापि
जानन्तं संप्रेष्यत्यग्रे समिध्यमानायानुद्गृहीत्यथाप्याहा-
दितिः सर्वमिति । आदित्योरदितिरन्तरिक्षमिति । तदु-
परिष्ठाद्यास्यास्यामोऽथाप्यविस्पष्टार्था भवन्त्यग्रेत्याह दिम-
२५ आरयायि काणुकेति ॥ १५ ॥

१ क. 'अतिबुध्यमानः; ग. ज. न प्रतिबुध्यमानः; ख. न प्रतिबध्यमानः-

२ क. स तदुक्तमिति; घ. ट. वदुक्तमिति; झ. त्वदुक्तमिति. ३ क. ए. ४; घ.

झ. ट ठ. घ. ज. अदो नास्ति. ४ ग. ख. ज. निरुक्तस्य षष्ठा; ठ. निरुक्त्या-

२१ स्वायां षष्ठाध्यायवत्. ५ क. ए. छ. त. द. 'केत्यर्थ'.

‘अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते । एवं नामाख्यातो-
पसर्गनिपातानां प्रविभागेनावस्थितानामेतस्माद्लक्षणं परिज्ञायते । ‘अथापी-

दमन्तरेण ’ । अथशब्दोऽधिकारार्थे द्वितीयं
मन्त्रार्थावधारणं शास्त्रारम्भप्रयोजनमधिकरोतीति^१ । अपीति, संभा-
निरुक्तादेव वने । अपि पदेषु विभागेनावस्थितेषु लोके वेदे
वापि मन्त्रेषु वाक्यभावेनावस्थितेषु यः समस्तार्थ-

स्तस्मिन्प्रत्ययो विशेषावधारणं न विद्यते नास्तीत्यर्थः । अपीदं शास्त्रमन्त-
रेण पदार्थं प्रत्ययो नास्ति । अपि वाक्यार्थे इत्यभिप्रायः । आह । कः पुनः
पदार्थवाक्यार्थयोर्विशेष इति । उच्यते । साकाङ्क्षः पदार्थो निराकाङ्क्षो
वाक्यार्थः । तद्यथा गौरित्युक्ते किमित्वाकाङ्क्षा १०

पदार्थवाक्यार्थ- भवति ततो गच्छतीत्युक्ते निराकाङ्क्षं भवति ।
लक्षणम् तथैव गच्छतीत्युक्ते क इति साकाङ्क्षं भवति
तथा गौरित्युक्ते निराकाङ्क्षं भवति । अथेदानीं

गौरिगच्छतीति^२ यदौर्वाहदोहादिभ्यो व्यावृत्त्य गमनेऽवतिष्ठते गमनं चान्येभ्यो
व्यावृत्त्य गम्येवावतिष्ठत एव वाक्यार्थः । स एव प्रकरणाविरोधी १५
वाक्यार्थः पदार्थं नियमेन लक्षयति । पदार्थश्च पदलक्षणम् । पदार्थसं-
नियोगेन हि व्याकरणे पदानां प्रकृतिप्रत्ययौदानीं लक्षणानि व्यादिश्यन्ते ।

यत एवमतः ‘अर्थमप्रतियतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशः’ । अर्थम-
प्रतियतोऽप्रतिपद्यमानस्यैवानवधृतार्थस्येत्यर्थः ।

स्वरसंस्कारावधा- नात्यन्तं नैकान्तेन । एकान्तं नाम निश्चयः । निश्च- १०
रणमर्थज्ञानादेव येनेत्यर्थः । किम् । स्वरसंस्कारोद्देशः । स्वरोद्देशश्च
संस्कारोद्देशश्च । स्वरावधारणं संस्कारावधारणं

च नास्तीति वाक्यशेषः । किं कारणम् । न ह्यनवधृतार्थः स्वरसंस्काराव-
धारयितुं शक्नुयात् । अर्थवशेन हि स्वरसंस्कारावतिष्ठते । ‘तदिदं’

१ ग. ज. ‘इति’ नास्ति. २ क. ख. घ. झ. ट. ठ. न भवतीत्यर्थः. ३ घ. २५
झ. ट. ठ. यथा. ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ‘गच्छतीत्युक्ते गौ’. ५ घ. झ. ट.
ठ. मन्त्राविरोधी; च. प्रकरणाविशेषेण. ६ ग. ज. घ. झ. ट. ठ. पदार्थ-
निय. ७ ग. घ. ज. घ. झ. ट. ‘संनियोगेन. ८ च. ‘हि तेषां लक्षणे पदा’.
९ घ. ट. ‘यादीति लक्षणौदानीं व्या’. १० च ‘अर्थमप्रतियतः’ नास्ति ११ ग. ज.
‘स्वानवधृतार्थस्य’. १२ क. ख. घ. झ. ट. ठ. नैकान्तिकेन; ग. ज. नैकान्ते च. ३०

व्याकरणमपूर्णं या-
वत्स्वरसंस्कारौ नाव-
धार्येते.

एवं कृत्वा निरुक्तशास्त्रं ' विद्यास्थानं ' एतदर्धी-
नत्वादर्थपरिज्ञानस्य । अर्थवशगत्वाच्च स्वरसंस्का-
रयोरिदं ' व्याकरणस्य कात्स्न्यं ' कृत्स्नभावं
करोतीति वाक्यशेषः । व्याकरणे हि स्वरसं-
स्कारौ चिन्त्येते । तस्मादपरिसमाप्तमेव तावद्व्या-

करणं यावन्निरुक्तं नाधिगतमिति । न ह्यनैरुक्तोऽर्थमवधारयितुमलं नानवधु-
तार्थः स्वरसंस्कारतत्त्वं विजानीयादिति । आह । ननु व्याकरणस्य कात्स्न्यं-
मेतत्करोतीत्युच्यमाने तच्छेषभूतमेवैतदुणादिवत् । ततश्च विद्यास्थानत्वमस्य
विरुध्यत इति । नेत्युच्यते । ' स्वार्थसाधकं च ' । स्वार्थाजहद्वृत्त्या होतदनुपैक्यतो

१० व्याकरणेऽहस्ततां करोति यथा लोके स्वार्थमपरिहोय कश्चित्परानुग्रहं करो-
त्येवम् । यत्पुनरेतदुक्तमुणादिवदिति । ते हि तत्रा-
निरुक्तं स्वतन्त्रं न्तर्भूता एव । ' उणादयो बहुलम् (पा०
शास्त्रं विद्यास्थानं च ३ । ३ । १) ' इत्युक्तं न पुनर्निघण्टवो बहु-
लमिति । तस्मात्स्वतन्त्रमेवेदं विद्यास्थानमर्थनिर्व-
१५ घनम् । व्याकरणं तु लक्षणप्रधानमिति विशेषः ।

आह । ' यदि मन्त्रार्थप्रत्ययाय ' एतदारभ्यते इन्त तर्ह्येतदेवमर्थमार-
भ्यमाणं ' अनर्थकं ' एव भवतीति । आह । क एवमाहेति । उच्यते ।
' कौत्सः ' । किं कारणम् । ' अनर्थका हि मन्त्राः ' । न हि मन्त्राणा-

२० मन्त्रा अनर्थका मर्थोऽस्ति वाच्यवाचकत्वेन । तदर्धनिर्बचनाया-
इति कौत्सः रभ्यमाणमिदमप्यनर्थकमेव भवति । तस्मान्ना-
रब्धव्यमित्येव कौत्सो मन्यते । ' तत् ' एतदे-
वमुच्यमानं कौत्सेनानेन नैरुक्तेन ' उपेक्षितव्यम् ' । उपगम्य ' वेदं
शास्त्रं चेक्षितव्यं किमसौ सत्यमाचष्टे वृथेति वा परीक्ष्यम् । अर्थवत्त्वे
२५ मन्त्राणां यदेतुज्ञानं वक्ष्यमाणं तदुपगम्यार्थवत्त्वं मन्त्राणामीक्षितव्यमिति
केचिदाहुः ।

कया पुनरुपपत्त्या कौत्सो मन्त्राणामानर्थक्यमाहेति । उच्यते । ' निय-

१ क. ख. घ. ङ. उ. ठ. व्याकरणेन हि. २ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. 'रोती-

त्युक्ते. ३ घ. ङ. ट. ठ. 'वृद्धात्. ४ क. ख. घ. ङ. ट. ट. व्याकरणस्य इत्त-

२० तां. ५ ग. घ. न. 'हाय; घ. ङ. उ. 'सार्थं परिश्रप्य. ६ घ. 'वेदं.

सवाचोयुक्तयोऽनियतानुपूर्व्या भवन्ति' इति ।
 मन्त्रानर्थक्ये कारणानि नियतवाचोयुक्तयोऽनिरुद्धवाचोयुक्तयः । अभि-
 धाननियता हि ते भवन्ति । अग्न आ याहि
 वीतये [ऋ० ६ । १६ । १०] इति मन्त्रे न पुनर्विभावसो आगच्छ
 पानायेति । नियतानुपूर्व्या । नियतनिष्ठानुपूर्वा
 नियतवाचोयुक्तित्वं पदप्रयोगस्य । तद्यथा । 'अग्न आ याहि' इति
 नियतानुपूर्व्यत्वं च नै पुनर्भवति 'आयाह्यग्रे' इति । इह लोकेऽ-
 र्थवतां शब्दानामनियमेन पर्यायवचनता दृष्टा
 गवादिप्रमेयो । तथा न पौर्वापर्यं दृष्टम् । तद्यथा । गोणीमम्याज गार्मे-
 म्याज । आहर पात्रं पात्रमाहरोति । न च तथा मन्त्रेषु । ते' वयमर्थ-
 वच्छब्दवैधर्म्यापस्यामोऽनर्थका मन्त्रा इति ।

अध्याप्यमन्त्रो हेतुरानर्थक्ये मन्त्राणाम् । आह । कतम इति ।
 उच्यते । 'ब्राह्मणेन' हेते 'रूपसंपन्ना' अपि सन्तो 'विधीयन्ते'
 मन्त्राणां ब्राह्मणकृतो एव । रूपं नाम लिङ्गं तेन संपन्ना लिङ्गसंयुक्ता
 इत्यर्थः । प्रकटलिङ्गा अपि सन्तस्तद्विवक्षिते
 विनियोगः कृत्वा कर्मसु विधीयन्त एव । यदि हेतेऽर्थवन्तोऽ-
 भविष्यन्त्वेनैव लिङ्गेन स्वमात्मानमेते विनियोक्तुं समर्था इति कृत्वा न
 ब्राह्मणेन तेषु तेषु कर्मसु व्यधास्यन्त । विहिताश्च । तद्यथा । 'उरु प्रथ-
 स्पेति' [श० ब्रा० १ । १ । ६ । ८] प्रथनलिङ्गो मन्त्रो विहितः
 प्रथनकर्मणि । तथा च । 'उरुप्रथा उरु प्रथस्योरु ते' यज्ञपतिः प्रथ-
 ताम्' [य० बा० सं० १ । २२] । यजुरेदम् । पुरोडाशं प्रयुज्यते ।
 पुरोडाश त्वं विस्तीर्यप्रथनः सन्विस्तारयात्मानम् । ते तव यज्ञपतिश्चायं
 यजमानः प्रजापशुहिरण्यादिभिश्चोरु प्रथतां विस्तीर्यतामिति । तथा ।
 'प्रोहाणीति प्रोहति' इति ब्राह्मणं द्रोणकण्डशाप्रोहणविधायि । 'इदमहमात्मा-
 नमेवं प्राञ्चं प्रोहामि तेजसे ब्रह्मवर्चसायेति । तेजोर्धं ब्रह्मवर्चसार्धं
 चात्मानं प्रोहामि प्राञ्चं प्रेरयामीति । प्रोहाणीति प्रोहति' इति प्रोहणलिङ्गो

१ ष. निरुक्ता वा". २ म. ज. निरुक्तामिति"; प. 'निष्ठानुपूर्व्यापदयो-
 गस्य; म. 'निष्ठानुपूर्व्यापदयोगस्य; ट. 'निष्ठानुपूर्व्यापदयोगस्य' ये; ठ. निर-
 तानुपूर्व्या. ३ ठ. पुनर्न भ". ४ प. द. ट. गोमम्याज. ५ क. ए. प. म. ट. ठ.
 तजोऽर्थव". ६ ठ. हेते त्वर्थ". ७ म. प. ज. तथा च ॥ २० ॥ उरु". ८ प.
 'राता इत्यु". ९ क. ए. म. ज. इति नास्ति.

विहितः प्रोहणकर्मणि । तस्मादिह संपन्नविधानात्पश्यामो ब्राह्मणेनानर्थकत्वरूपमेव सन्तं विनियुक्तम् । एवं सति मन्त्रं पुनर्विदध-
द्ब्राह्मणमर्थवदनर्थका हि^१ मन्त्राः । न ह्यर्थवन्तः सन्तो दासवद्ब्राह्मणेन विधी-
येरन् । विहिताश्च । तस्मादनर्थका मन्त्रा इति पश्यामः । अपि च
५ ब्राह्मणस्यानर्थकत्वाभ्युपगमे देशकालकर्तृदक्षिणादि कर्माङ्गभूतं कुत
उपलभ्येत । तथा च ब्राह्मणस्यानर्थक्येऽभ्युपगम्यमाने वेदैक-
देशस्यात्यन्तमेयानर्थकत्वमभ्युपगतं स्यात् । न हि ब्राह्मणस्य

मन्त्राणां विधेय-

१० त्याद्ब्राह्मणस्य विधाय-
कत्वाच्चार्यवत्त्वम्

विधिस्तुत्यर्थत्वाद्दत्तेऽर्थवत्तास्ति । मन्त्राणां पुनर्वाच्य-
वाचकत्वेनानर्थकानामपि सतां विनियोगमात्रेणा-
र्थवत्ता स्यादेव । तस्मात्काममनर्थका मन्त्रा वाच्य-
वाचकत्वेन सन्तो विनियोगमात्रेणैवार्थवन्तो विधे-
यत्वात् । विधायकत्वाच्च ब्राह्मणमर्थवदस्त्विति ।

‘अथापि’ अयमपरो हेतुरनर्थकत्वे मन्त्राणाम् । आह । कतम

१५ मन्त्रा अनुपपन्नार्थाः इति । उच्यते । ‘अनुपपन्नार्था’ ह्येते
‘भवन्ति’ । य एतेष्वर्थो लभ्यतेऽयमेवैवधः

स्यादिति नासावुपपद्यते । तद्यथा । ‘ओषधे ग्रायस्वैनम् । [य० वा०

५ । ४२ । तै० सं० १ । ३ । ५] इत्याह । न चौपधिरात्मानमपि

ग्रातुं समर्था किमुत वृक्षम् । तथा । ‘स्वधिते मैन’ हि^२ सीः [य० सं०

वा० सं० ५ । ४२ । तै० सं० १ । ३ । ५] इत्याह । तन्नैव ‘हिसन्’ ।

१० को हि नमैवमुक्त्वा स्वयमेव हिंस्यात् । हिनस्ति च । लोके यान्येवंवि-
धानि वाक्यान्त्युन्मत्तप्रभृतीनां तान्यनर्थकानीत्युच्यन्ते । तथैवेमानि ।
तस्मादिमान्यप्यनर्थकानीत्युपपद्यते ।

‘अथापि’ अयमपरो हेतुरानर्थक्ये मन्त्राणाम् । आह । कतम इति ।

- १ क. ख. घ. झ. ट. ठ. सन्तं मन्त्रं विनि^०. २ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ‘हि’
नस्ति. ३ घ. झ. ट. ठ. ‘नर्थक्याभ्युपगमे; च. ‘नर्थकत्वाभ्युपगमने. ४ ग. ज.
उपलभ्यते. ५ ग. ज. ‘च’ नास्ति. ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ‘देशस्य मन्त्र-
स्यात्यन्त’; च. ‘देशस्य ब्राह्मणास्यस्यात्यन्त’. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ.
‘अपि’ नास्ति. ८ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ‘एव’ नास्ति. ९ क. ख. घ. झ.
ट. ठ. एतामात्र काम^०. १० क. ख. घ. झ. ट. ‘यमेवेवधः’. ११ क. ख. घ.
झ. ट. ठ. किं पुनर्वृत्तं. १२ घ. झ. ट. ‘कतमः’ नास्ति.

सच्यते । ' विप्रतिपिद्धार्थी भवन्ति ' इति ।

विप्रतिपिद्धार्थीश्च अन्यस्यान्येन विरुद्धार्थेन प्रतिपेधोऽन्यस्य चान्येन

विप्रतिपेध इतरेतरव्यावात इत्यर्थः । तदंथा ।

१ ' एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः ' ' असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा

विप्रतिपिद्धार्थत्व- अधि भूम्याम् ' [य० घा० सं० १६।५४] ५

स्योदाहरणानि " अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे [ऋ० सं० १० ।

१३३ । २] ' इतं सेनां अजयत्साकमिन्द्रः '

[ऋ० सं० १० । १०३ । १] इत्येतान्युदाहरणानि ।

१० ' एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयो रणे निघ्नपृतनासु शत्रून् । संसृज्य

विश्वा भुवनानि गोप्ता प्रत्यङ्जनान्संचुकोचान्तकाले ॥ एक एवा-

पतस्थे रुद्रः स्थितवान् रणाय रणार्थं नान्यो द्वितीयः कश्चिदस्ति ।

इति रुद्रबहुत्वप्रतिपेधः । कथमवतस्थे । निधयेन घ्नन् पृतासु स्पर्धनायेषु

संप्रामेषु । किं निघ्नन् । शत्रून् । किंच स एकः संसृज्य सृष्ट्वा विश्वा

विश्वानि भुवनानि गोप्ता रक्षिता । सृष्ट्वा च सर्गकाले पालयित्वा च

स्थितिकाले प्रत्यङ् सैर्गप्रातिलोभ्येन जनान्संचुकोच संकोचयत्यन्तकाले

प्रलयकाले । य एवंगुणयुक्तो रुद्रस्तं वयं स्तुर्मः ।

असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम् । तेषां सहस्रयोजनेऽव

धन्वानि तन्मसि ? [य० घा० सं० १६ । ५४] ॥ एषा शतरुद्रियेऽ-

नुष्टुप् । तेन चाग्निचयनेऽर्कपर्णेनाजाक्षीरमिथा गवेषुकाः सक्तवो ह्यन्त

उत्तरस्यां श्रोणावन्त्यायामिष्टकायाम् [का० श्रौ० १८ । १ । १ । ५] ।

प्रजापतेरार्यम् । असंख्यातानि सहस्राणि बहूनीति यावदुक्तं स्यात् ।

केषाम् । ये रुद्रा भूम्यामधि उपरि तेषाम् । सहस्रयोजनेऽध्वनि अवस्थिता-

नामेवावतनुमो धनृषि । अप्राप्तानामेवास्मान्प्रतीत्यभिप्रायः । तावदेव च

तानभिष्टुमो यावदवततानि तानि धनृषीति ।

१ घ. झ. ट. ठ. चान्येन. २ ग. च. ज. °धनि । २१ । एक°. ३ ग. च. ज. २५

'इति' नास्ति. ४ घ. झ. ट. ठ. किं भव°. ५ ग. ज. स्रयाति°. ६ ग. ज. स्तुमः

। २२ । असं°; च. स्तुवः । २३ । अर्क°. ७ ग. च. ज. घ. झ. ट. सहस्राणि ।

एषा शतरु°. ८ ग. ज. शतरुद्रिये. ९ ग. च. ज. 'इति' नास्ति. १० घ. झ.

ट. पावट युक्तं. ११ ग. च. ज. °धीति । २२ ।

एवमितरेतरविप्रतिपिद्धान्येतानि मन्त्रवाक्यानि । यद्येको रुद्रो नासं-
ख्यातानि सहस्राणि । अधासंख्यातानि नैकः । यद्यशत्रुः कथं शतं
सेना अजयत् । अथ शतं सेना अजयत्कथमशत्रुः । लोके यान्येवंलक्ष-
णानि वाक्यान्युन्मत्तादीनां तान्यनर्थकानीत्युच्यन्ते । तथाचेमानि ।
तस्मादिमान्यप्यनर्थकानीति ।

‘अथापि’ अयमपरो हेतुर्मन्त्राणामानर्थक्ये । कतम इति । उच्यते ।
‘जानन्तं संप्रेष्यति’ इति । अध्वर्युर्होतारम् । कथम् । ‘अग्नये समिध्यमा-
नायानुब्रूहि’ (शतपथब्रा० १ । ३ । २ । २)
विधिज्ञाय प्रैषः इति । होता हि विधिज्ञ एव भवति । न ह्यविद्वान्
विहितोऽस्तीति । स विजानात्येवामुष्मिन्नवधाविदं

मयानुष्ठातव्यमिति । तदेतद्विज्ञातार्थस्य सतः संप्रेषणमनर्थकमेव भवति ।
यथैतदनर्थकमेवमन्येऽपि मन्त्रा इति ।

‘अथापि’ अयमपरो हेतुर्मन्त्राणामानर्थक्ये । आह । कतम इति । उच्यते ।
‘अथाप्याह’ मन्त्रनिगमः ‘अदितिः सर्वमिति’ ।
परस्परासंबद्धत्वम् । आह । किमुदाहरणम् । ‘अदितिर्द्यौरदितिरन्तारि-
क्षम्’ (ऋ० सं० १ । ८९ । १०) इति ।

‘तत्’ एतदुदाहरणं ‘उपरिष्ठाद्’ ऐक्यपदिके ‘व्याख्यास्यामः’
(निरु० ४ । २३) । इह त्वेवमर्थमियमुदाहृता । कथं यैव द्यौः सान्तरिक्षं यैव
माता स एव पुत्रः स एव च पितृत्येवमादि । किमपि च बद्ध्वं परस्परा-
संबद्धमुच्यते । तदर्थवत्त्वे सत्युपपादयितुमशक्यम् । तस्मादनर्थका मन्त्रा
इति ।

‘अथापि’ अयमपरो हेतुरानर्थक्ये मन्त्राणाम् । आह । कतम इति ।
उच्यते । ‘अविस्पष्टार्थाः’ अपि हि केचिद्
अविस्पष्टार्थत्वम् । ‘भवन्ति’ । तद्यथा । ‘अम्यग् याद्वरिम्
जारयायि काणकेति’ एवमादयः । न ह्येतेषां

विस्पष्टार्थता मन्त्रेषु शक्यते परिज्ञातुम् । न च केचिदर्थवन्तः केचि
दनर्थका इति न्याय्यमभ्युपगन्तुम् । अर्थवैशसं हि स्यात् । तस्मात्सर्व
एवानर्थकाः । इति परिसमाप्तः पूर्वपक्षः ॥ १५ ॥

१ क. ख. प. ह. ट. ठ. लोके हि यान्ये०. २ ठ. ‘इति’ नास्ति.
३ प. ट. विधि. त एव; स. विधि. न एव; ठ. विहित एव. ४ च. भवतीति.
५ प. ट. ‘दनर्थमेव’. ६ क. ख. घ. छ. ट. ठ. ‘च’ नास्ति. ७ क. ख. ग. च.
ज. प. ह. ट. अत्रो न वर्तते; ठ. ‘पक्षः इति निरुक्त्याख्यायां पञ्चदशः खण्डः.

अर्थवन्तः शब्दसामान्यादेतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपस-
मृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमुग्र्यजुर्वामिर्वदतीति च ब्राह्मणेम् ।

— कीलन्तौ पुत्रैर्नष्टमिरिति । यथो एतन्नियतवाचोयुक्तयो
नियतानुपूर्व्या भवन्तीति लौकिकेष्वप्येतद्यथेन्द्राग्नी पिता-

पुत्राविति यतो एतद्ब्राह्मणेन रूपसंपन्ना विधीयन्त इत्यु-
दितानुवादः स भवति यथो एतदनुपपन्नार्था भवन्ती-

त्यान्नायवचनादहिंसा प्रतीयेत यथो एतद्विप्रतिपिद्धार्था
भवन्तीति लौकिकेष्वप्येतद्यथा सपत्नोऽयं ब्राह्मणोऽन-

मित्रो राजेति यथो एतज्जानन्तं संप्रेष्यतीति जानन्तमभि-
वाद्यते जानते मधुपर्कं प्राहेति यथो एतद्विधिः सर्वमिति

लौकिकेष्वप्येतद्यथा सर्वरसा अनुप्राप्ताः पानीयमिति यथो
एतद्विस्पष्टार्था भवन्तीति नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो

न पश्यति पुरुषापराधः स भवति यथा जानपदीषु विद्यातः
पुरुषविशेषो भवति पारोवर्यवित्सु तु सलु वेदितृषु मूषा-

विद्यः प्रशस्यो भवति ॥ १६ ॥

इति प्रथमाध्यायस्य पञ्चमः पादः ॥

स्वपक्षनिर्दानं स्थापयिष्यामस्तदर्थमिदमारभ्यते 'अर्थवन्तः शब्दसा-

मान्यात' इति । अर्थवन्त एव मन्त्रा इति प्रतिज्ञा ।

मन्त्रा अर्थवन्तः शब्द- हेतुरुच्यते शब्दसामान्यादिति । समान एव हि

सामान्यात् शब्दो लोके मन्त्रेषु च । तद्यथा । य एव

गोशब्दो लोके स्वरसंस्कारसंयुक्तः स एव मन्त्रे-

ष्वपि । तत्रैवं सति स एवार्थवाह्यो लोके स एव चानर्थको मन्त्रेऽप्यिति विशेषो-

पहेतुर्नास्ति । असति च विशेषहेतावर्थवन्त एव मन्त्राः शब्दसामान्यादि-

त्युपपद्यते । यत्पुनरेतदुक्तं प्रयोगानियमाहोकेऽर्थवत्त्वं प्रयोगानियमाच्च

१ क. ख. 'णम् ॥ १॥ की'; छ. त. णम् ॥ २० ॥ की'; द. णम्
॥ ५॥ की'. २ क. ख. छ. त. द. कीलन्तौ. ३ छ. 'नुवाकः. ४ द. 'इति' नास्ति.

५ क. ख. छ. त. द. 'इति' नास्ति. ६ छ. त. उ. परो'. ७ क. ख. २;
छ. त. २१; द. ६. ८ छ. द. घ. उ. 'इति. पादः' नास्ति; त. इति

प्रथमोऽध्यायस्य तृतीयः पादः; द. तृतीयः पादः. ९ घ. ख. ट. ड. 'क्षमिन्ना

स्पष्ट'. १० क. ख. घ. छ. ड. ट. 'इति' नास्ति.

मन्त्राणामानर्थक्यमिति प्रतिवक्ष्याम एतत् । लोकेऽपि हि प्रयोगनियमो दृष्टः । तदथापितापुत्राविति ।

किं चान्यत् । ' एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाण-
मृग्यजुर्वाभिवदतीति च ब्राह्मणम् ' [मोषयत्रा०
ऋग्यजुर्भिरभ्युदितं २-२।१॥२।४।२] । एतदेव हि ५
कर्म समृद्धं भवति । यज्ञस्य कर्मणः समृद्धम् । तैत्तिरिमिति । उच्यते ।
यद्रूपसमृद्धं मन्त्रलिङ्गैरभिधीयते तदेवमिह समस्त-
ऋद्धया युक्तं भवति नेतरत् । एतदेव सुतरां स्पष्टीकरोति । ' यत्कर्म
क्रियमाणमृग्यजुर्वाभिवदतीति च ब्राह्मणम् ' इति । शब्दसामा-
न्याद्ब्राह्मणप्रामाण्याच्चेति चशब्दः । ब्राह्मणमपि च मन्त्राणामर्थवत्त्वमेव १०
दर्शयति । अनर्थका हि सन्तः कथं कर्माभिवदेयुः । कथं
चानभिवदन्त समर्थयेयुः । अर्थवत्त्वं चाम्युपगतं भवता ब्राह्मणस्य
' अथापि ब्राह्मणेन रूपसंपन्ना विधीयन्ते ' इत्यत्र । ब्राह्मणेन
सिद्धमेवार्थवत्त्वमुक्तं मन्त्राणाम् । तदेतदुपदर्शितमस्माभिः । तस्मादर्थवन्त
एव मन्त्रा इति । आह । किं पुनः समृद्धरूपत्वे मन्त्राणामुदाहरणमिति । १५
उच्यते । क्रीलन्ताविति ।

' इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यस्तुतम् । 'क्रीलन्तौ पुत्रैर्नसृभिर्मोद-
मानौ स्वे गृहे ' [ऋ० सं० १० । ८६ । ४२] ॥ सूर्याया आर्यम् ।
विवाहे विनियुक्ता । अनुष्टुप् । इहैव स्तं भवतं युवां स्वे गृहे मोदमानौ
हर्षमाणौ मा वि यौष्टं मा च वि युज्यते । सर्वमायुः व्यस्तुतं क्रीलन्तौ २०
पुत्रैर्धै पौत्रैश्च सहेत्याशीः ।

स्थापितमर्थवत्त्वं मन्त्राणाम् । अधुना परपक्षहेतवो निराकर्तव्यास्त-

१ घ. ट. ' यद्रूपसमृद्धं ' नास्ति. २ क. ख. ग. घ. झ. ट. ठ. यज्ञकर्मणः.
३ ग. ज. तदवत्किमिति. ४ घ. झ. ठ. ' यद्रूप.....धीयते ' नास्ति; ठ.
यद्रूपसमृद्धं तदेव हि समं. ५ क. ख. घ. झ. तदेव हि समं; ट. तदेव हि समं २५
मिह. ६ घ. झ. ट. मन्त्राः कथं; ट. मन्त्राः कथं सन्तः. ७ ग. कर्म वदेयुः; ठ.
कर्माणि वदेयुः. ८ क. ख. ' इति ॥ १ ॥ की०. ९ क. ख. घ. झ. ट. क्रील-
न्ताविति; ग. घ. ज. क्रीलन्ताविति ॥ २५ ॥ इहै. १० ग. स्तं मा वि यौष्टं
स्वे गृहे; घ. झ. ट. स्तं गृहे. ११ क. ख. ग. घ. ज. घ. झ. ट. क्रीलन्तौ.
१२ कं. ख. घ. ट. ठ वि युज्येताम्; घ वि युज्यतां तं; झ. वि युज्येनं. १३ क.
७. घ. झ. क्रीलन्तौ; ग. घ. ज. क्रीलन्तौ. १४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ' च '
स्ति.

परपक्षहेतुनिराक-
रणम्

दर्थमिदमाह । ‘ ययो एतत् ’ इति । यत्पुनरे-
तदुक्तं ‘ नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या
भवन्तीति ’ अत्र ब्रूमः । ‘ लौकिकेष्वपि ’

हार्थवासु शब्देषु

नियतवाचोयुक्तित्वं नियतानुपूर्व्यत्वं च दृष्ट-

लौकिकेष्वपि प्र-
योगेषु नियतवाचो-
युक्तित्वं नियतानुपू-
र्व्यत्वं च दृश्यते

मेव । ‘ तद्यथा इन्द्राग्नी ’ इति ‘ पितापुत्रा-
विति ’ च । तत्र यदुक्तं नियतवाचोयुक्तिर्वाञ्छि-
यतानुपूर्व्यत्वाच्चानर्थका मन्त्रा इत्येतदयुक्तम् ।
लौकिकेष्वपि हि नियतप्रयोगाः सन्तः शब्दाः
केचिदर्थवन्तो दृष्टा यथैन्द्राग्नी पितापुत्राविति ।

१०

स एव प्रयोगनियमादनर्थका मन्त्रा इत्यनैकान्तिको हेतुः । तस्मादर्थवन्त
एवेति ।

यत्पुनरेतदुक्तं ‘ ब्राह्मणेन रूपसंपन्ना विधीयन्ते । अत्र ब्रूमः । ‘ उदि-
तानुवादः स भवति ’ । नासमर्था आत्मानमेते स्वेन रूपेण विधातुमित्यतो
ब्राह्मणेन विधीयन्ते । किं तर्हि । आत्मनियोगाश्रयमुक्तमेव सन्तं मन्त्रेणार्थं

१५

ब्राह्मणेन मन्त्रो-
क्तमनूयते

ब्राह्मणमनुवक्ति विस्तरेण प्रकृतार्थसंतुष्ट्या ।
न ह्यनुक्तं स्तोतुं शक्यते । सोऽयमेवमुदितानु-
वाद एव भवति । उक्तानुवाद इत्यर्थः । अपि
चानेकेऽपि समानलिङ्गाः प्रकरणे मन्त्रा भवन्ति ।

२०

ते ह्यहपूर्विकयैकं प्रयोगं प्रति खले कपोतयत्संनिपतन्ति । तेषां
समुच्चये विकल्पे च प्राप्ते सत्यभिमत एको नियमार्थं ब्राह्मणेन विधी-
यते । एवमुभयोरर्थवत्त्वं मन्त्रब्राह्मणयोः । तत्र यदुक्तं रूपसंपन्नविधाना-
न्मन्त्रानर्थक्यं मन्त्रार्थवत्त्वे वा ब्राह्मणानर्थक्यमित्येतदयुक्तम् । तस्मादुभय-
मर्थवन्मन्त्राश्च ब्राह्मणं चेति ।

२५

यत्पुनरेतदुक्तं ‘ ओषधे त्रायस्त्वनं स्थिते भेनं हिंसीरिति ’ ऐवमा-
दयः ‘ अनुपपन्नार्था इति ’ अत्र ब्रूमः । ओषध्यधिदेवतोच्यते । हे ओषधे

१ ग. ज. नियतानुपूर्व्यत्वं; घ. ठ. नियतानुपूर्वत्वं. २ घ. झ. ट. ठ.
‘ युक्तत्वा ’. ३ घ. झ. ट. ठ. एव. ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ‘ दन्त इति ।
अन ’. ५ घ. झ. ट. ठ. ‘ यैवं ’. ६ घ. झ. ट. ‘ एतत् ’ नास्ति. ७ क. ख. घ.
झ. ट. ठ. ‘ एवं ’ नास्ति. ८ घ. ‘ इति ’ नास्ति.

प्रायस्येनं त्वत्पूर्वको ह्येष वृक्षश्छिद्यमानः सम्य-
न कश्चिदनुप- किञ्चनो भविष्यति ततश्च यज्ञे विनियुक्तः
नार्थः प्रतिविशिष्टमुत्कर्षमेतस्मात्स्थावरत्वात्प्राप्त्यत इत्ये-
तदत्र त्राणमभिप्रेत्योक्तमोपवे त्रायस्यैवमिति न
च्छेदने प्रतिपत्स्यतेऽयमित्यनेनाभिप्रायेण । तस्मादनुपपन्नार्थ एवायम् । तत्र
यदुक्तमनुपपन्नार्था इत्येवमादयो मन्त्रा इत्येतदयुक्तमिति ।

५

यदपि चोक्तं ' स्वधिते मेनं हिंसीरित्याह हिंसन् ' इति । अत्र ब्रूमः ।
' आम्नायवचनादहिंसा ' एषा ' प्रतीयते ' । आह । कथमहिंसा ।
प्रत्यक्षतो हि चिच्छते वृक्षः । शृणु । इयमहिंसेयं
आम्नायवचना हिंसेत्यागमादेतत्प्रतीयते । प्रतिविशिष्टधायमेव
द्विसाहिंसैव वैदिक आम्नाय आगम एतत्पूर्वकत्वादन्वेषा-
भागमानाम् । स एष कृतस्यस्य जगतः प्रतिविशि-
ष्टाय श्रेयसेऽभ्युद्यतः संहितायां कर्तारं विनियोक्ष्यत इति कुत एतत् ।
नूनमियमहिंसैव यतोऽस्यां नियुक्ति कर्तारम् । तदेतदागमप्रत्यक्षमेव
यथेयमहिंसेति । अपि चैतदोपधिचनस्पतिपशुमृगपक्षिसरीसृपाः सम्यगुप-
युक्ताः सन्तो यज्ञे परमुत्कर्षं प्राप्नुवन्ति । सोऽयमभ्युद्य एव संपद्यते न
हिंसा । तत्र यदुक्तं मेनं हिंसीरित्याह हिंसन्निति न ह्यसौ हिनस्ति । किं
तर्हि । अनुगृह्णाति यज्ञविनियोगार्थं विधानतश्छिन्दन् । तस्मादनुपपन्नार्थ-
मेवमपि । तत्र यदुक्तमनुपपन्नार्थत्वादनर्थका मन्त्रा इत्येतदयुक्तमिति ।

१०

१५

२०

यत्पुनरेतदुक्तं ' विप्रतिपिद्वार्था भवन्तीति ' । अत्र ब्रूमः । नैव विप्र-
तिपिद्वोऽर्थः ' एक एव रूढोऽवतस्थे ' ' असं-
न कश्चिद्विप्रतिपेधः स्थाता सहस्राणि ' इति । देवता हि माहाभागा-
योगादेकापि सत्यनेकधा भवत्यनेकापि चैकधा ।
तत्पुनरेष्टाद्व्याख्यास्यामो ' माहाभागादेवतायाः [निरु० ७ । ४]
इत्यत्र ।

२५

यत्पुनरेतदुक्तं ' अशत्रुरेन्द्र जज्ञिषे ' ' शतं सेना अजयत्साकामिन्द्रः '

१ ग. घ. विनियुक्ताः. २ च. प्रतिभत्स्यते. ३ क. ख. तवे; घ. झ. ट. अतय.
४ क. ख. प. झ. उ. ' इति ' नास्ति. ५ क. ख. च. उ. महाभाग. ६ घ.
स. ट. उ. 'त्यनेका भव'. ७ ग. घ. ज. 'नेष्टया चैह'.

इति । अत्र ब्रूमः । ' लौकिकेष्वपि ' अर्थवत्सु
 लौकिकेष्वप्युक्ति- शब्देषु ' एतत् ' एवमेवोच्यमानं दृष्टम् ।
 ष्वेवमतिशयोक्तियुक्ता- तद्यथा । ' असपत्नोऽयं ब्राह्मणोऽनभित्रो
 नि विध.नानि राजेति ' । न हि कश्चिदसपत्नोऽस्ति लोके ।
 उक्तं च । ' मुनेरपि वनस्थस्य स्वानि कर्माणि
 कुर्वतः । उत्पद्यन्ते त्रयः पक्षा मित्रोदासीनशत्रवः ' इति॥ तथापि स्वल्पसपत्नं
 दृष्ट्वा केचिदेवंवक्तारो भवन्ति 'असपत्नोऽयं ब्राह्मणः' इति । एवमेव कस्मिं-
 धिदतिप्रवृद्धे संश्रातिते मेघे ह्यन्येषामसारतामभिप्रेत्येदमुक्तं स्यात् ' अशत्रु-
 रिन्द्र जज्ञिषे ' यस्त्वमेतमेवमतिप्रवृद्धं ' अहन्नाहि ' इति ।

१० मापुनरेतदुक्तं ' शतं सेना अजयदिति ' । अत्र ब्रूमः । कुतो हि सेना
 या इन्द्रो जेष्यति । न हि देवानां शत्रवः सन्ति ये जेतव्या इति । किं
 कारणम् । विभवो देवा वीरिनोऽधिकरणधर्मा-
 युद्धप्रवादः णश्च परेण महिम्ना युक्ताः । आह । कथं तर्हि
 केवलं रूपकम् शतं सेना अजयत् ' इत्येतदुक्तम् । उच्यते ।

१५ रूपकल्पनयैवैषा युद्धप्रवादो स्तुतिः । वक्ष्यति
 च ' अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्पकर्म जायते तत्रोपमार्थेन
 युद्धवर्णा भवन्ति ' (निरु० २ । १६) इति । तदेतद्व्यवृत्ता न सम्य-
 ग्दृश्यते । सम्यग्विध्यतां देवतासत्त्वं नैरुकेभ्यस्ततो मन्त्रार्थानविरोधेन
 सम्यगवभोत्स्यते । नैवमवाक्यतत्त्वज्ञेन मन्त्रार्थोऽवगाहितुं शक्यः । गम्भी-
 २० रपदार्थो हि वेदः कथमेवभोत्स्यते । वेदार्थविशोधविभ्रान्ता एवं हि प्रया-
 दिनः स्वयुद्धिष्टावयमाविर्भावयन्तो ब्राह्मणाः सन्तः सर्ववर्णसाधारणानि
 दर्शनान्तराणि प्रतिपदिरे । यदुक्तं विप्रतिपिद्धार्यत्वादनर्थका मन्त्रा इत्येतद-
 युक्तम् । न हीमे विप्रतिपिद्धार्याः । भवत एष मतिविभ्रमो मन्दशिक्षित-
 त्वात् । तस्मादर्थवन्त एव मन्त्रा इति ।

२५ १ क. ख. घ. झ. ट. ठ. डि. २ ग. ज. ' इन्द्रे भृशं संश्रातिते; घ. झ. ट.
 ' इन्द्रे भृशं संश्रातिते. ३ क. ख. घ. झ. ट. ' हि ' नास्ति. ४ घ. झ. युद्धप्रवादो; झ.
 युद्धप्रवादो. ५ क. ख. ग. ज. घ. झ. ट. ठ. ' भोत्स्यते. ६ क. ख. ज. ' यो
 विगाहि'. ७ ग. ज. कथमवलोक्यते कथमेवभो'; घ. झ. ट. ठ. कथमवभोत्स्यते.
 ८ ट. ' योवि'. ९ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ९१.

यत्पुनरेतदुक्तं ' जानन्तं संप्रेष्यतीति ' अत्र ब्रूमः । लौकिकेष्वप्यर्थ-
 वत्सु शब्देष्वेतदेव स्वाभाव्यं दृष्टम् । तद्यथा ।
 लोकेऽपि हि ज्ञा- ' जानन्तं ' गुरुं ' अभिवादयते ' स्वगोत्रमभि-
 तार्थह्यापनम् वदन् । तथा च ' जानते मधुपर्कं प्राह ' ५
 त्रिमधुपर्को मधुपर्को मधुपर्कः [आश्व० गृ०
 सू० १।२४.७] इति । तदतदर्थवत्स्वपि शब्देषु विहितार्थह्यौपनार्थ-
 शब्दसामान्यादर्थवन्तो मन्त्रा इति ।

यत्पुनरेतदुक्तं ' अथाप्याह अदितिः सर्वमिति ' अत्र ब्रूमः । द्विविधा
 हि शब्दप्रवृत्तिर्मुल्या गौणो च । तत्रैवं सति यत्र
 अदितिः सर्वमि- मुख्यासंभवस्तत्र गौण्याधीयते । स एव भक्तिवादः १०
 तीदृशा गुणवादा स्यात् ' अदितिः सर्वमिति ' । यथा कश्चिद्भूयात्कांचि-
 ' लौकिकोक्तिष्वपि दनेकोपकारे प्रवृत्तं ' त्वमेव मे माता त्वं पिता ' १५
 एवमेतदपि द्रष्टव्यम् । लौकिकेष्वपि चार्थवत्सु
 शब्देष्वप्यमानं दृष्टं ' यथा सर्वरसा अनुप्राप्ताः पानीयमिति ' । ततो
 हि तेषां प्रभव इत्यनया गुणवृत्तैवमुच्यते । एवमिहापि गुणवृत्त्या कया १५
 चिददितिः सर्वत्रमुच्यते । यदुक्तमितरेतरविरुद्धं किमपि बहुत्रेत्येतदयुक्तम् ।
 सर्वमेतदुपपद्यत एव गुणवृत्त्या । तस्मादर्थवन्त एव सर्वे मन्त्रा इति ।

यत्पुनरेतदुक्तं ' अथाप्यविस्पष्टार्था भवन्तीति ' अत्र ब्रूमः । ' नैव
 स्थाणोरपराधः ' इति । न ह्यत्र स्थाणुरपराध्यति
 मन्त्रा अविस्पष्टार्था ' यदेनं ' स्थाणुं ' अन्धो न पश्यति ' यदत्रा- २०
 इत्यज्ञानां प्रलीपितम् सावभिहन्यते । किं तर्हि । पुरुष एवापराधी तत्र
 यदसावचक्षुष्मान् । एवमिहापि नैव मन्त्राणा-
 मपराधो यदशिक्षितेन भवता न विज्ञायन्ते । भवत एवापराधोऽस्ति ।
 भो भवान् सर्वमात्मीयमपराधं मन्त्रेष्वस्मामु चासञ्जयितुमिच्छति । न ते १२
 प्रज्ञास्ति किञ्चित् । २५

१ क. ख. घ. झ. ट. ' एतत् ' नास्ति । २ क. ख. घ. झ. ट. ' मधु-
 पर्कः ' द्विवारमेव । ३ घ. ' तार्थान्वाप ' ; ट. ' तार्थान्वाप ' ह्या । ४ क. ख. घ. झ.
 ट. ठ. मुख्यार्था. ५ ग. चेति. ६ क. ख. घ. झ. ' एतत् ' नास्ति ; ट. ' वादोऽ-
 दितिः ' दः स्याद्. ७ घ. झ. ट. किञ्चित्. ८ क. ख. घ. झ. ट. ठ. एवं मे
 पिता. ९ ग. ज. ह्यत्रस्थाणु ; च. ह्येतत्स्थाणु. १० क. ख. घ. झ. ट. ठ. नैव.
 ११ ग. ज. यो भो १२ क. ख. घ. झ. ट. ठ. तत्र.

‘यथा जानपदीषु’ कामुचित्प्रवृत्तिष्वितिकर्तव्यतामु कौशलशिक्षा-
कृतो ‘विद्यातः पुरुषविशेषो भवति’ पुरुषाणां विशेषः । एवमिहापि
मन्त्रार्थशिक्षाकौशलकृतः पुरुषाणां विज्ञानविशेषो भवत्येव । तत्रैवं सति
केचित्पुरुषाः सुविस्पष्टार्थानपि मन्त्रान्न शक्नुवन्ति

५ लोके विद्यातः निर्वक्तुमपरे पुनरविस्पष्टार्थानपि शक्नुवन्ति
पुरुषविशेषः विस्पष्टीकर्तुम् । तदुक्तं ‘उत त्वैः’ [निरु०
१ । १९] इत्यत्र । तत्रैवं सति य एते पौरोव-

र्यविदो ब्राह्मणाः । पौरोवर्येण विजानत आचार्यपरम्परया ते पौरोवर्य-
विदः । न साक्षात्कृतधर्माण इत्यभिप्रायः । किं तेषाम् । तेषां य एव

१० भूयोविद्यो भवति बहुश्रुतः कश्चिस्त्व एव प्रश-
विद्वत्सु भूयोविद्यः स्यते । स एव मन्त्रार्थविज्ञाने प्रशस्यो भवति
प्रशस्यते नेतरो मन्दबुद्धिरशिक्षितः । स हि बहुश्रुतो बहु-
दृष्टत्वादनेकविषये मन्त्रार्थं न कश्चित्प्रतिब्रूयते ।

न हि तस्याविस्पष्टार्थो नाम कश्चिदस्ति । तस्माद्धेतोः स त्वं बहु नृणु
१५ ततः सम्यगवभोत्स्यसे मन्त्रार्थान् । तत्र यदयोचोऽविस्पष्टार्था मन्त्रा न
हि तेऽविस्पष्टार्थाः । ताश्चेपरिष्ठात्स्पष्टीकृत्य व्याख्यास्यामहे । तत्रैव मतिं
विभ्रययति संमोहः । तस्मादर्थवन्त एव मन्त्रा इति सिद्धम् । तस्माच्चैतदपि
शास्त्रं मन्त्रार्थप्रत्ययायारम्भमाणमर्थवदेव भवतीति सिद्धः शास्त्रारम्भः ।

तत्र यदुक्तं ‘मन्त्रार्थप्रत्ययायानर्थकं भवतीति’ एतदुक्तम् ।

२० इति प्रभिन्नेषु परस्य हेतुषु स्वपक्षसिद्धावुद्दिष्टे च कारणे ।

अवस्थिता मन्त्रगणस्य सार्थता तदर्थमेतत्सर्वं शास्त्रमर्थवत् ॥ १६ ॥

इति निर्लेकटीकायां पष्ठस्याध्यायस्य पञ्चमः पादः ॥ ५ ॥

- १ ग. च. ज. घ. झ. ट. ‘रुश ये सु’ २ ट. ‘त्वः पश्यन्ति यत्र’ ३ ठ.
२५ परो. ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. तेषां किं. ५ क. ख. घ. झ. ट. ‘विज्ञाता म’;
ट. विज्ञता ॥ पाठः प्रशाने. ६ ग. ज. प्रतिपिच्यते. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ.
मतिं प्रम’; च. मतिविभ्रम इति स’. ८ क. ख. घ. झ. ट. ठ. यदुक्तं यदि
मन्त्रार्थ’. ९ घ. झ. ट. ‘द्वाजुद्धिने; ठ. ‘द्वा उद्धिने. १० च. ‘मेतच्छास्त्र’
अनु शा. ११ क. ख. २; ग. २१; घ. झ. ट. ठ. च. ज. अदो नास्ति.
१२ क. ख. ग. घ. झ. ट. ‘धैवदिति । इति निरु’; च. ज. ‘धैवदिति निरु’;
११ ठ. ‘धैवदिति । इति निरु० टी० ६ ध्यायः.

अथापीदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते । अवसाय
 पद्वते रुद्र मृष्टेति पदद्वयं गावः पश्यदनमवतेर्गत्यर्थस्यासौ
 नामकरणस्तस्मान्नावगृह्णन्त्यवसायाश्चानिति स्पतिरुप-
 सृष्टो विमोचने तस्मादवगृह्णन्ति दूतो निर्कृत्या इदमाजगा-
 मेति पञ्चम्यर्थपेक्षा वा षष्ठ्यर्थपेक्षा वाःकारान्तं परो
 निर्कृत्या आचक्ष्वेति चतुर्थ्यर्थपेक्षेकारन्तं परः संनिकर्षः
 संहिता, पदप्रकृतिः संहिता पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां
 पार्यदान्यथापि याज्ञ देवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति तदे-
 तेनोपेक्षितव्यं ते चेद्ब्रूयुर्लिङ्गज्ञा अत्र स्म इति । इन्द्रं
 न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्तीति वायुलिङ्गं चेन्द्र-
 लिङ्गं चाग्नेये मन्त्रेऽग्निर्वि मन्यो त्विषितः सहस्वेति तथा-
 ग्निर्मन्त्रवे मन्त्रे त्विषितो ज्वलितस्त्विषिरित्यप्यस्य दीप्तिः-
 नाम भवत्यथापि ज्ञानप्रशंसा भवत्यज्ञाननिन्दा च ॥ १७ ॥

अथापीदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते । शास्त्रारम्भप्रयोजनाधि-
 कारे वर्तमाने 'अपीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थविधारणं नास्ति' इत्युक्ते यदि मन्त्रे-
 ल्यादिनानर्थक्यहेतुभिर्वहुभिरानर्थक्य उपपादिते निरुक्तशास्त्रस्य कौत्सेन
 मन्त्राणामर्थवत्तां स्थापयित्वा परपक्षहेतवः प्रत्युक्ताः । तेषु स्थितमर्थवत्त्वं
 मन्त्राणाम् । तेषामर्थनिर्वचनायेदमारम्भमाणमर्थवदित्युपपन्नमर्थवत्त्वं निरुक्त-
 शास्त्रस्य । तदेतत्सर्वमपि चोदकशास्त्रकारव्याजेन प्रसक्तानुप्रसक्तमुक्तं प्रज्ञाया
 विवृक्षये शिष्यस्य कथं नामास्तवैविवृक्षप्रज्ञः शब्दार्थन्यायसंकाटेऽपि हेतुसमया-
 नभिज्ञः परैः प्रतिव्यमनोऽपि पदार्थान्वाक्याथांश्चासंमोहेन निर्द्वयादिति ।
 एवं तावदेतदन्तरेण मन्त्रार्थप्रत्ययो नास्ति । अथेदमपरमारम्भप्रयोजनमित्येवं
 विशेषाधिकारार्थोऽयमथशब्दः । अपि मन्त्रार्थप्रत्यय इदमन्तरेण नास्ति
 नाप्यस्ति यदिदं वक्ष्यमाणमित्यापिशब्द एवं प्रमावर्त्तने ।

१ क. ख. छ. त. द. मृष्टेति. २ क. ख. छ. द. 'स्यासौ; त. 'स्यासौ' सो.
 ३ क. ख. छ. त. द. 'ण्डन्ति । अव'. ४ छ. त. द. 'सहस्वेत्यग्निः'. ५ क.
 ख. छ. त. दीप्तिर्नाम. ६ क. ख. द. १; छ. त. २२. ७ ठ 'मानेयापीद'. ८ ग.
 'मनर्थवत्तां. ९ क. ख. नापा सा विवृ'; घ. झ. ट. ठ. नामासौ विवृ'. १० ठ.

आह । किं पुनस्तद्वक्ष्यमाणमिति । उच्यते । ' पदविभागः ' । एवं

पदानि वक्तव्यानीत्येतत्पदविभागपरिज्ञानं नास्ती-
पदविभागोऽर्थज्ञा-
नावलम्बी । अर्थज्ञानं च-
निरुक्तशास्त्रावलम्बि-
तस्मादत एव पदविभागप्रसिद्धिरिति । इदमर्थ-
वत्त्वं मन्त्राणामन्तरेण पदविभागोऽप्याकिंचित्करः ।

प्रसिद्धश्चैव सर्वशास्त्रामु । तस्मात्पदविभागार्थवत्त्वाय चार्थवन्तो मन्त्रा इति
केचिद्वर्णयन्ति ।

एवं प्रतिज्ञाय समानसंहितेषु ग्रन्थेष्वर्थहेतुकं पदविभागविशेषं दर्शयति ।

१०

तद्यथा । ' अवसाय पद्वते रुद्र मृच्छति ' । पद-
समानसंहितेषु ग्र-
न्थेष्वर्थकृतः पदवि-
भागः-
एवैवत्पादसंयुक्तम् । ' अवसं पध्यदनं ' इति
निगमप्रसक्तस्य पर्यायवचनम् । ' अवतेर्गत्वर्थस्यासौ
नामकरणप्राप्यः ' । ' तस्मात् ' असमासत्वादस्य
' नावगृह्णन्ति ' एतत्पदकारा इति शेषः ।

१५

मयोभूर्धातो अभि वातुस्ता ऊर्जस्वतीरोपधीरा रिशन्ताम् । पीवस्वती-
र्जीवधेन्याः पिवन्त्यवसायं पद्वते रुद्र मृच्छ [ऋ० सं० १० । १६९ ।

१] ॥ मुभरौ नाम गौतमः स मयोभूरित्यस्यास्त्रिष्टुभः पूर्व्वेद्धिभिः पादैः
गवामाशिपमाश्रास्योत्तमेन तासामेव रुद्रात्सुखम-

समानसंहिताया-
१० उदाहरणे-
याचत । गवामुपस्थाने विनियुक्ता [आश्व० गृ०.
२ । १० । ५] । मयोभूः मयोभावायिता
पाश्चात्यो वातः एता उन्म्याः अभिवातु अभि-

मुष्येन वातु । किं च तेन मुखमुवा वातेनानुर्जर्जनीयेन स्पृश्यमाना
ऊर्जस्वतीः प्रभूतरताः ओपधीरारिशन्तामास्वादयन्तु । आस्वाद्यास्या च
सलवणस्वादमाग्नाभिप्रेते काल उदकं पिवन्तु । तद्य पीतमोषधिसहितमासां

२५ तथा कौष्ठे विपण्यतां रसशोणितमासमेदोमज्जास्थिरमेण ययेताः पीवस्वती

१ क. रु. ग. च. ज. घ. ङ. मृच्छति. २ क. रु. ज. घ. ङ. ट. ठ. "इत्पाद-
य". ३ क. रु. ग. "स्नाष्टी नाव". ४ ग. च. ज. रोषः ॥ २६ ॥ मयो". ५ ग.
मयोभूर्धातो ॥ रुद्र मृच्छ, ग. ङ. मयोभूः ० रुद्र मृच्छ; ट. मयोभूः ० रुद्र मृच्छ. ६
क. रु. ग. च. ज. घ. ङ. मृच्छ. ७ ट. शब्दलो नाप कालादित्वापिः ॥ मयो".
८ ट. गौतमः "शपटा क्रयः कर्तव्यः. ९ ग. ज. कतेन. १० घ. ङ. ट. ठ.

२१ "जनीः येन. २१ ग. ज. "पीवस्वत्यो भयेयुः" नञि.

भवेयुः पीवगुणयुक्ताः स्थूला बलवत्सो बहुपयस्काः । सति च बहुपयस्त्वे जीवधन्या जीवधनिन्यो रोगदुष्टपातृकाः । हे^२ रुद्र वयमेतासां गवामेतामा- शिपमाशास्महे । त्वमप्यस्मै गोलक्षणाय अवसाय पादयुक्ताय मूळ सुखो भव । मैना हिंसीस्त्वमासामीश्वर इत्यभिप्रायः ।

‘अवसायाश्चानिति’ इदमस्मदमुदाहरणम् । अस्मिन्पूर्वेण रूपेण सरूप- मेव पदमर्थकृतादिशेषादवगृह्णन्ति । द्वयोः पदयोर्वह्नां वा यदविच्छेदेनो- च्चारणं स समासः । तयोरेवार्थप्रविभागोपप्रदर्शनार्थमवच्छेदेन ग्रहणमवग्रहः । तदेतदवगृह्यते पदम् । ‘स्यतिः’ धातुः ‘विमोचने’ अर्थे वर्तते । स पुनः ‘उपसृष्टः’ उपसर्गेणावेत्यनेनोपसृष्टः संयुक्त इत्यर्थः । यतो धातुपसर्गविभागोपप्रदर्शनार्थमेव तत्पदमवगृह्यतेऽवसायेत्येतत् ।

योनिर्ष्ट इन्द्र निपदे अकारे तमा नि पीद स्वानो नार्वा । विमुच्या वयोऽवसायाश्चान्दोपा वस्तोर्वहीयसः प्रपित्वे [ऋ० सं० १ । १०४ । १] एतया त्रिष्टुभा कुत्स आङ्गिरस इन्द्रं तुष्टाव । योनिस्ते हे इन्द्र स्थानं ते तव यदिदं निपदे निपदनाय मयाकारि कृतं तं योनिं तत्स्थानं आनिपीद एव निश्चयेन सोद । कथं पुनर्निपीद । स्वानो न स्वल्पमान इवार्वा अरः । संशय्यमान इवार्वेऽन्वेनाश्वः । स यथा स्वे स्थाने निपी- देदेवं मया त्वमुपशब्ध्यमानः स्तुतिभिरेतास्मिन्मया संस्कृते स्वास्तीर्णे बहिषि स्थाने निपीद । कथं पुनर्निपीद । विमुच्यैतान्वयोऽश्वान् । कुतः । रथात् । पुनरपि चैतानवसाय विर्युज्य रदिमभ्योऽश्वान् लब्धोदकयवसान्कृत्वा दोपावस्तोर्वहीयसः । अहनि च रात्रौ च ये केचिद्ब्रह्मन्ति तेभ्योऽपि वहीयसः शीघ्रतरेण जवेन योद्धतमान् । ततस्त्वं स्वस्थो भूत्वा निपीदैत-

१ ठ. 'तुष्टयातृकाः'. २ घ. झ. ट. हेतु रुद्र. ३ ग. ज. अवसाय पथ्य- दनाय पक्षते पाद°. ४ क. ख. ग. घ. ज. घ. झ. मूल. ५ घ. झ. ट. ठ. पदाविच्छे°. ६ क. ख. घ. झ. ङ ठ. 'वार्थ- विभागो'. ७ ग. च. ज. 'त्येतत् ॥ २७ ॥ योनि'. ८ ग. योनिष्ट इन्द्र निपदे अकारि. प्रपित्वे; घ. झ. ट. योनिष्टे प्रपित्वे°. ९ घ. ट. योनिः दे इन्द्र°; झ. योनिः हे°; ट. योनिष्टे हे°. १० ठ. इन्द्र वेषाख्यं स्थानं°. ११ ग. 'यदिदं निपदने निपदनायानि मया'; ज. 'यदिदं निपदनायानि मया'; घ. 'यदिदं निपदे निपदना- योपवेशनाय मया'. १२ ठ. 'श्वन्वेने यथा स्वे'. १३ घ. झ. ट. त्वमनुशब्ध्य°. १४ घ. ट. 'रपि वा एतान्'; झ. 'रपि वा एतान्'. १५ क. ख. ग. ज. घ. झ. ट. विजोन्व. १६ घ. क. ख. घ. झ. ट. शीघ्रतमेन.

५

१०

१५

२०

२५

३१

‘ परे निर्ऋत्या आचक्षेति ’ । एतास्मिन्पदे चतुर्थ्यर्थदर्शनम् । अत एतत्पदमैकारान्तम् । अपेहि मनसस्पतेऽयं काम परश्चर । परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व बहुधा जीवतो मनः [ऋ० सं० १० । १६४ । १] ॥ प्रचेता आङ्गिरस एतामनुष्टुभमपश्यत् । दुःस्वप्नदर्शने विनियुक्ता । मन इति हि विज्ञानमुच्यते बुद्ध्यादि । तस्य पतिर्मनसस्पतिरात्मा । इह पुनर्मृत्युर्व्याधिर्वा मनसस्पतिः । उभावपि स्वकृतकर्मपेक्षया प्राणिनां बुद्ध्यादिविज्ञानोपसंहारस्येसाते । तयोरन्यतरः संबोध्यते । हे मनसस्पते अपेहि अपगच्छास्मत्तः । मा च त्वमीपदपगम्यास्मत्तः समीप एव स्या अस्माकम् । किं तर्हि । अपक्राम दूरमपेक्ष काम । अपक्राम्य च परः परतोऽन्यतोऽस्मत्तश्चरापुनरावर्तमानोऽस्मान्प्रति । किं च परः परागत्य यस्यासंख्यं दूतो निर्ऋत्या तस्यै आचक्ष्व । किमिति । बहुधा जीवतो मम मनः । अथवा परः प्रकृष्ट आसत्त्वं तस्या निर्ऋत्या दूतो मां प्राप्तोऽविज्ञातमरणकाल एवातिसेमोहात् । अतो ब्रवीमि । तस्यै निर्ऋत्यै गत्वा बहुधानेकप्रकारमाचक्ष्व कथय । जीवतो यादृशं मनो भवति तादृशं मम मनो बुध्यधिकरणं ज्ञानं दिनकरकिरणस्यैष्टवृत्ति । न तावत्सं मुमुर्षुस्त्येतदाचक्ष्व । मुमुर्षोर्बुध्पक्षीण-कर्मणो नातिस्पष्टा इन्द्रियवृत्तयो भवन्ति । न च मम तथेत्यमिप्रायः । एवं समानसंहितानामपि पदानामर्थभेदकृतं विभागवैलक्षण्यम् । स चार्थ इदमन्तरेण न विज्ञायते । अत इदमुक्तं ‘ अथापीदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते ’ इति ।

पदविभागप्रसक्तमधुना संहितालक्षणमाह । ‘ परः संनिकर्षः संहिता ’ इति । परः प्रकृत्यो यः संनिकर्षः संश्लेषः परस्परेण स्वराणां स्वराधिरूढानां व्यञ्जनानां सा संहितेत्युच्यते । सा च

१ ग. च. ज. ०. रन्तम् । २१। अपे० २ ग. मनसस्पते० मनः; घ. ट. मनसस्पते० बहुधा जीवतो मनः; झ. मनः०तो मनः. ३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. प्रचेता नाम आङ्गिरस० ४ क. ख. घ. ट. ‘ हि ’ नास्ति. ५ ग. ज. अन्यः सं० ६ च. संवध्यते. ७ घ. ट. ममतः । अय०; झ. मम मतः अय०. ८ क. ख. ग. ज. प्रकृष्टं आसत्. ९ क. ख. घ. झ. ट. ठ. बुद्ध्यादिकरणज्ञानं; च. बुद्ध्याधि०. १० घ. ट. ०किरणस्यैष्ट०. ११ घ. झ. न स मुमुर्षुस्तावदित्येत्त०; ट. न स मुमुर्षुस्तावदित्ये० तावत्तयापठः; ठ. तावत्सं मु०. १२ ग. ज. सर्वार्थ०; च. सर्वार्थ० वा. १३ क. ख. घ. झ. ठ. रुढाणां; ट. रुढाणां० ना. १४ ठ. ‘ च ’ नास्ति.

संहितालक्षणम् पुनरप्ये ' पदप्रकृतिः संहिता ' [भ० प्राति०

२ । १] । अत्र द्विधा वर्णयन्ति । पदानां

या प्रकृतिः सेयं पदप्रकृतिः संहिता । किं कारणम् । संहितातो हि पदानि प्रक्रियन्ते । तस्मात्संहितैव प्रकृतिर्विकारः पदानीत्येवमेके मन्यन्ते ।

अपरे पुनः पदप्रकृतिः संहितेति पदानि प्रकृ-

तिरित्याः सेयं पदप्रकृतिरिति । किं कारणम् ।

तिः पदानि वा पदान्येव हि संहन्यमानानि संहिता भवति ।

तस्मात्पदान्येव हि प्रकृतिर्विकारः संहितेति ।

एवं च कृत्वा ' पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि ' । सर्वेषां चरणानां

सर्वशाखान्तराणामित्यर्थः । किम् । पार्षदानि

सर्वशाखासु पदानि स्वचरणपर्ययेव यैः प्रतिशाखानियतमेव पदव-

प्रकृतिः ग्रहप्रगृह्याप्रगृह्यक्रमसंहितास्वरलक्षणमुच्यते तानी-

मानि पार्षदानि । प्रातिशाख्यानीत्यर्थः । आह ।

किं तेषामिति । उच्यते । तानि पदप्रकृतीनि । पदं येषु संहितायाः

प्रकृतित्वेन चिन्त्यते तानीमानि पदप्रकृतीनि । तेषामपि स एव समय इत्यभिप्रायः ।

आह । किं पुनरत्र साधीयः पदानां प्रकृतित्वं संहिताया विकारत्वमुत

या विकारत्वं पदानां प्रकृतित्वं संहिताया इति । उच्यते संहितायाः प्रकृतित्वं

ज्यायः । आह । किं कारणम् । उच्यते ।

अत्र निर्णयः (१) मन्त्रो ह्यभिव्यज्यमानः पूर्वमृपेर्मन्त्रदशः संहि-

तयैवाभिव्यज्यते न पदैः (२) अतश्च संहितामेष

पूर्वमध्यापयन्त्यनूचानां ब्राह्मणा अधीयते चाध्येतारः । अपि च यज्ञकर्मणि

संहितयैव विनियुज्यन्ते मन्त्रा न पदैः । यदि हि पदानि प्रकृतिरमाविष्यन्त

संहिता पदैरेव मन्त्रोऽभिव्यज्येत पदानि च पूर्वमध्यापयिष्यन्नाह्मणा

अध्येष्यन्त चाध्येतारः पदैरेव विनियोज्यन्त मन्त्राः कर्मणु । न त्वेतत्सर्व-

१ क. स. घ. झ. ठ. 'कृतिर्यस्याः'. २ क. स. घ. झ. ट. च. 'संहत्यमा';

ठ. 'संहत्य'त्व. ३ क. स. घ. झ. 'दि' नास्ति; ट. 'न्येन' यं हि. ४ घ. झ. 'शाखानां';

ट. 'शाखानां' चरणानां. ५ ग. झ. 'शाखान्तराणां'; च. 'शाखान्तराणां'. ६ ग.

ज. 'प्रगृह्याप्रगृह्य' क्रमं. ७ घ. झ. ट. 'स्वमध्यापय'.

८ घ. झ. ट. 'वाध्येतारः';

९ ठ. 'वाध्ये' चा. १० ठ. 'वाध्ये'.

मस्ति । तस्मादेतैर्विशेषहेतुभिः संहितैव प्रकृतिर्न पदानीति पश्यामः । समयमात्रमितरस्त्वशास्त्रनियतमेव । यदुक्तं पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि तेष्वेव हि व्याख्यायमानेषु पदानां प्रकृतित्वं भवति न सर्वत्रैव । तस्मात्संहितैव प्रकृतिरित्येतदेव साधीयं इति ।

‘अथापि याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति’ । अथेदमपरमारम्भप्र- ५
योजनमस्य शास्त्रस्येत्येवं विशेषाधिकारार्थोऽ-
याज्ञे कर्मणि मन्त्रां यमशब्दः । अपीदं वक्ष्यमाणमपि धान्युक्तानी-
लिङ्गेन विनियुज्यन्ते त्वेवमपिशब्दः संभाषणे । आह । किं पुनस्त-
दिति । उच्यते । याज्ञे कर्मणि प्रवर्तमाने दैव-
सेन बहवः प्रदेशा भवन्ति । दैवतेन लिङ्गेन बहवो विधिप्रदेशा १०
भवन्ति । तद्यथा । ‘उपतिष्ठते व्युच्छैः न्यामैन्द्रया सद आग्नेयाग्नीध्रं
वैष्णव्या हविर्धानम्’ इत्येवमादि । न्यायविदः
‘न्यायविदां याज्ञि- स्त्वपि याज्ञिकाः पठन्ति लिङ्गतो मन्त्राणां
कानां तदेव मतम् शेषभावमधिकृत्य ‘लिङ्गक्रमसमोऽस्यानात्काम्ययुक्तं
समाप्तानम्’ [जै० न्या० ३ । २ । १९] १५
इति ‘अधिकारे’ च मन्त्रविधिरतदाख्येषु शिष्टत्वात्’ [जै० न्या० ३ ।
१ । २०] इति चैवमादि ।

तत्रैवं सति ‘तेचेद्भूयुर्लिङ्गज्ञा अत्र स्म इति’ । ते यद्यत्र
‘ब्रूयुः । किमिति । लिङ्गज्ञा लिङ्गज्ञातारो वयमत्रैतस्मिन्नाम्नाये । लिङ्गतो
वयमत्र या यस्मिन् देवता र्तां विजानीमो विज्ञाय च तदैवत एव कर्मणि २०
विनियुज्यमहे तं मन्त्रम् । एवं च सति न नो निरुक्तशास्त्रेण प्रयोजन-
मस्तीति लिङ्गमस्माकं ज्ञापकमिति केचिद्वर्णयन्ति । त एवं ब्रुवन्तो वक्त-
व्या यदि यूयं लिङ्गतो मन्त्रदेवतां विजानीध्वे । ‘इन्द्रं न त्वा शवसा
देवता धातुं पृणन्ति’ इत्येतस्मिन्मन्त्रे का देवतेति । आह । केन पुनर-
भिप्रायेणास्मिन्मन्त्रे देवता पृच्छयत इति । उच्यते । ‘वायुलिङ्गं चेन्द्रलिङ्गं २५

१ द. ‘वैवमस्मात्सं’ । २ ग. ज. साधीयत इति; च. स(सा)धीयते इति. ३ ग. ज. व्युच्छैः न्यामैः । ४ प. स. ‘क्रमसंस्थानात्कस्य युक्तं’; च. ‘क्रमसमास्थानात्काम्ययुक्तं’ । तस्य; द. ‘क्रमसंस्थानात्कस्य युक्तं’ समास्थानात्काम्य; ह. ‘क्रमसंस्थानात्काम्य’ । ५ क. ख. ‘कारे एवं च म’; प. स. द. ‘कारे एवं च म’ । ६ क. ख. प. स. द. ठ. तां तम रि’ । ७ क. ख. ग. ज. प. द. द. विनियुज्यते. १०

चाग्नेये मन्त्रे । अथ तावदेयमाग्नेयो मन्त्रः । अथ च तावदेतस्मिन्मन्त्र
इन्द्रवायू अपि श्रूयेते । तदेतद्दुःपरिज्ञानं लिङ्गमात्रेण षतमदत्र प्रधानं
देवताभिधानं कतमदत्र नैघण्टुकमिति । ते चेद्याज्ञिका लिङ्गमात्रानिरुक्त-
मनैपेक्ष्य स्फत्रान्कर्मसु विनियुञ्जाना गुणप्रधानभावमजानन्तो देवताभि-

५

निरुक्तशास्त्रज्ञानं
विना केवलं लिङ्गतो
मन्त्रविनियोगात्कर्मास-
मृद्धिरपध्वंसस्थ

धानानामेकमन्त्रगतानामन्यदेवतं मन्त्रमन्यदेवते
कर्मणि विनियुञ्जीरस्ततश्चायथाकरणात्कर्मासमृद्धिः
स्यात् । न च केवलं कर्मासमृद्धिरिव । किं तर्हि ।
अपध्वंसोऽपि स्यादेव दुरिष्टहेतुकः । तस्मात्प-
रिज्ञेयं निरुक्तम् । तेन हि गुणप्रधानभावः
शक्यते विवेक्तुमेकमन्त्रगतानां देवताभिधानाना-

१०

मिति । तदेतदेवं देवतापरिज्ञानद्वारेण पुरुषस्य प्रतिविशिष्टोपकारकारि ।
तस्माद्युज्यते प्रारब्धमिति ।

त्वां हि मन्द्रतममर्कशोर्कैर्विहृतमहे माहिं नः श्रोष्यसे । इन्द्रं न त्वा
शवंसा देवतां यायुं पृणन्ति राधंसा नृतेमाः (ऋ० सं० ६ । ४ । ७) ॥ भरद्वा-

१५

लिङ्गवाहुल्यादेव-
तापरिज्ञानं दुर्यतमम् ।
तस्योदाहरणम्

जस्यार्पम् । आग्नेयी । प्रातरनुवाकाशिनयोर्वि-
नियुक्ता [आश्व० श्रौ० ४ । १३] । हे अग्ने
त्वां हि त्वामेव मन्द्रतमं मृदुतमं मुग्धाराभ्यतमम् ।
त्वं हि देवेषु सर्वेषु मृदुहृदयतमो यतोऽतस्या-
मेव बह्वर्हः संभजामहे । केन । अर्कशोकैः ।

२०

एकपदमेतत् । अर्चनेर्मन्त्रैः शौकैर्दोषैर्विधोक्तप्रदाचर्यजनितवीर्यैः । र्शं
नस्यं संभज्यमानैर्मन्त्रैः संसेव्यमानो महि महत्सोऽग्रं तीरेव मन्त्रैर्युष्मद्दु-
णानुस्मृतिर्मत्तानगर्भैरुपप्रथितं श्रान्तिं नृणु । किं चैवं त्वं महती देयता
येन त्वामेवैकं देवता अपि सर्वा इन्द्रमिव च वायुमिव च शयसा बलेन
बलैर्हनिमिस्तुतिभिरम्यर्चन्ति किं पुनः र्शैः कर्मभिः । येऽपि च

२५

योश्चिदस्यै नृलोके नृणां मध्ये कञ्चनश्रुतेर्नृनमास्तेऽपि च त्वामेव पृणन्ति
पार्थिवेति पूजयन्ति वा राधमा द्रविडक्षणेन धनेन । एवं सदेयमनुष्यस्य
जगतः पूज्यत्वं न केवलमस्माकमिति ।

१ ष. 'अर्च' नास्ति. २ ष. ट. दुन्दरिजानं; ठ. दुण्डरि. ३ ष. त. प.
ह. 'कुरुते' ४ ट. 'कुरुते' मन. ५ क. त. प. ह. ट. ट. विज्ञातुमेक. ५
ग. च. ज. 'मिति' १०. 'त्वा'. ६ ग. मन्द्रतममर्कशोकैः नृतेमाः; प. ह. ट.
मन्द्र. तमाः; ष. मन्द्रतममिति. ७ क. म. प. ह. ट. ट. विनियोगः. ८ ठ.
अनार्यं. ९ क. म. प. ह. ट. ट. 'त्वं भज्य'. १० प. ह. ट. 'तैः' नास्ति.

११ ११ प. ह. ट. ट. पटवतीभिः. १२ ग. ज. 'पाटवन्ति' नास्ति.

एवमयमाग्रेयो मन्त्रः । स एष लिङ्गमावदर्शनेनाविज्ञातप्रधानदेवतो
विनियुज्यमान ऐन्द्रे वायव्ये वा कर्मणि कर्तुरभिप्रेतफलासिद्धये नाहं स्यात् ।
कर्मवैगुण्याच्च कर्तुरपध्वंसाय स्यात् । तस्माद्विज्ञेयं मन्त्रदेवतानिश्चयज्ञानाय
निरुक्तमिति ।

‘अग्निरेव मन्यो विप्रितः सहस्र’ [ऋ० सं० १० । ८४ । २]

५

इति । यथा पूर्वस्मिन्नाग्रेये वायुलिङ्गमिन्द्रलिङ्गं
अन्यदुदाहरणम् च ‘तथा’ एतस्मिन्नपि ‘मान्यवे मन्त्रे’
अग्निलिङ्गं नैघण्टुकम् । एवमनेकदेवतालिङ्गसंका-

टेषु दुरवधारं देवतातत्त्वमनैरुक्तेनाप्रसिद्धमन्त्रन्यास्यानसमयेन । यदुक्तं
लिङ्गज्ञातारो वयमत्र लिङ्गत एव मन्त्रान्कर्मसु विनियोज्यमाहे न नो निरु- १०
क्तेन प्रयोजनमस्तीत्येतदयुक्तमिति ।

‘विपिरित्यस्य दीप्तिर्नाम’ अपठितमपि दीप्तिर्नाममु । न केवलं
यान्येव पठितान्यन्यान्यपीति ।

‘अथापि’ इदमपरमारम्भप्रयोजनमस्य । आह । किमिति । उच्यते ।

‘ज्ञानप्रशंसा भवत्यज्ञाननिन्दा च’ । ज्ञानं च १५

निरुक्तशास्त्रस्यापरं प्रशस्यतेऽज्ञानं च निन्द्यते । तत्रैवं सति कैयं
प्रयोजनम् नामानिन्याः स्याम प्रशस्याधेति परिज्ञेयं निरु-
क्तम् । अतो ह्येवमाभिदेवाधियज्ञाभिधायिनां

मन्त्राणामर्थाः परिज्ञायन्ते । ते च परिज्ञाताः सन्तः पुरयस्योत्तमाय श्रेयसे
भवन्ति । तदेवमखिलपुरुषार्थोपकारसमर्थं शास्त्रमिति न्याय्यमारब्धुम् । २०

आह । ए पुनर्ज्ञानं प्रशस्यतेऽज्ञानं च निन्द्यत इति । उच्यते । लोके
शास्त्रे च । लोके तावद्यः कश्चिद्विद्वान्भवति स पूज्यते पुण्यफलैर्विभिर्जनैः ।

तदेतत्प्रत्यक्षत एव दृष्टम् । शास्त्रेऽपि ॥ १७ ॥

१ म. ‘अपि’ नास्ति. २ क. स. ग. ज. दीप्तिर्नामः ३ क. स. ग. ज. २५
‘सति वपमानिन्याः; घ. स. ट. ठ. ‘इति वपं कथं’. ४ क. स. प. स. ट. दि
आप्या. ५ क. स. प. स. ठ. हर्म्यशास्त्र. ६ क. स. ‘रूपम् ॥ १ ॥
आह’. ७ ग. घ. ज. लोके वेदे च; घ. स. ट. लोके वेदे शास्त्रे च. ८ ठ.
इदम् ॥ अज्ञाननिन्दा ज्ञानप्रशंसा शास्त्रेऽपि स्यात्. ९ क. स. प. स. ट. ठ.
अहो न विपते; म. घ. ज. ३१.

स्थाणुर्यं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति
 योऽर्थम् । योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानवि-
 धूतपाप्मा । यद्गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्ध्यते । अन-
 ग्राविव शुष्केधो न तज्ज्वलति कहिंचित् । स्थाणुस्ति-
 ५ ध्तेरर्थोऽन्तररणस्थो वा ॥ १८ ॥

स्थाणुर्यं भारहार इत्येवमादि । स्थाणुर्वृक्षः । स यथा पत्रपुष्पफ-
 लानामात्मीयानां धारणमात्रेणैव संबध्यते न
 स्मृतावज्ञाननिन्दा तज्जैर्गन्धरसरूपस्पर्शोपभोगमुखैः । एवं च

१० वेदस्याप्ययैनमारमात्रमेव ह्यसौ विमर्ति । योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते ।
 य एवार्थज्ञो भवति न ग्रन्थमात्राध्येता स एव सकलमनवस्रज्जितं भद्र-
 मश्नुतेऽर्थपरिज्ञानफलमश्नुते प्राप्नोति । किं पुन-
 ज्ञानप्रशंसा च स्तत् । इह लोके पूज्यतामुपेत्य शिष्टानामितो
 लोकादन्तकाले नाकमेति । यत्रामुखं किंचिदपि

१५ माहृपाध्यामिकमाधिदैविकमाधिभौतिकं वा तत्स्थानमेति निरतिशयम् ।
 कस्मात्पुनरसावीदृशं स्थानमेतीति । इतो यस्मादसौ ज्ञानविधूतपाप्मा ।
 ये हि नाकगमनप्रतिबन्धिनः पाप्मानस्ते तस्य ज्ञानेन विधूताः । अतोऽ-
 सावेति नाकम् । उक्तं चान्यत्रापि ' न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह
 विद्यते ' (भ० गी० ४ । ३८) इति । अथवा स्थाणुर्गर्दभः । स
 २० यथा चन्दनभारं वहत्येव नै तद्रूपभोगेर्नाभिसंबध्यत एवं किलासौ यो
 ग्रन्थमात्राध्येता नार्थज्ञः । एवं तावदस्मिन् ज्ञानं प्रशस्तम् ।

अथैतस्मिन्ज्ञानं निन्द्यते । यद्गृहीतं गुरुमुखादज्ञातं चार्थतः किंचि-
 सिगदमात्रेणैव नित्यकालं शब्ध्यत उच्चार्यते न पुनरन्तरर्थतो विचार्यते ।

१ क. ख. द. २; छ. त. २३. २ क. ख. घ. झ. ट. 'एवं' नास्ति. ३ ग. ज.
 १५ 'ध्ययनं भा'. ४ घ. द. रथसपरिज्ञा. ५ क. ख. ग. ज. घ. झ. द. 'ना' नास्ति.
 ६ क. ख. ग. ज. घ. झ. ट. 'भोगेर्नाभि'. ७ छ. 'ध्येतानर्थज्ञः'. ८ क. ख. घ.
 झ. द. छ. निन्द्यते । यद्गृहीतमविज्ञातमिति । यद्गृहीतं गुह्यं; ग. च. ज. निन्दते
 ॥ २२ ॥ यद्गृहीतं गुह्यं. ९ क. ख. घ. झ. ट. छ. 'दविज्ञातं'. १० क. ख. घ.
 २१ झ. ट. छ. 'तेः' नास्ति.

आह । किं तस्य । उच्यते । अनग्राविव शुष्केषः । शुष्कं काष्ठमनग्रा
प्रदेशे नालं ज्वलनाय प्रकाशाय । एवं यो
अज्ञाननिन्दा वेदार्यस्यानभिज्ञोऽप्येता स वेदाध्ययनभारमात्रेणैव
संबध्यते न तु वदीयेन फलेन । परिज्ञानं
तु श्रेयसा चाम्युदयेन च युनज्जीति । तस्मादेतत्परिज्ञानापावश्यं
निरुक्तशास्त्रमारब्धव्यमिति ।

५

स्थाणुशब्दमर्थशब्दं चोदाहरणाप्रसक्तौ निर्वक्ति । 'स्थाणुस्तिष्ठतेः' ।
स्थितो ह्यसौ नित्यकालमेव भवति न कदाचिदप्यासीदिति । 'अर्थोऽर्जः'
गतिकर्मणः । अर्थते ह्यसावर्थिभिः । 'अरणस्थो वा' । यदा ह्यस्य
स्याम्यरति गच्छतीतो लोकादमुं लोकं तदायमिहैव तिष्ठति नानेनैव सहामुं
लोकं गच्छति दीनारादिरर्थः । तत्सामान्यादितरोऽपि शब्दार्थोऽर्थ
उच्यते ।

१०

एवं तावच्छ्रुतानुगमस्मृतौ ज्ञानं प्रशंस्यतेऽज्ञानं च निन्द्यते । न केवलं
स्मृतवेप ज्ञानप्रशंसाज्ञाननिन्दा च । किं तर्हि । वेदेऽपि प्रदर्शयति ॥ १८ ॥

१५

उत त्वः पश्यन्न वदंश् वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्ये-

नाम् । उतो त्वेस्मै तन्वं १ वि संखे जायेव पत्य उशती
सुवासाः (क्र० सं० १० । ७१ । ४) ॥ अप्येकः पश्यन्न
पश्यति वाचमपि च शृण्वन्न शृणोत्येनामित्यविद्वांसमा-
हार्थमप्येकस्मै तन्वं विसन्न इति स्वमात्मानं विवृणुते ज्ञानं
प्रकाशनमर्थस्याहानया वाचोपमोत्तमया वाचा जायेव
पत्य कामयमाना सुवासा ऋतुकालेषु सुवासाः कल्पाण-
वासाः कामयमाना ऋतुकालेषु । यथा स एनां पश्यति
स शृणोतीत्यर्थज्ञप्रशंसा । तस्योत्तरा मूयसे निर्वच-
नाय ॥ १९ ॥

१०

२५

१ क. 'प्यासीदिति'; घ. झ. ट. ठ. 'प्यासितिति'; च. 'प्यासीदिति' ते. २ क.
स. 'न्यते ॥ २११॥'; ठ. 'न्यते । न केवलं स्मृतवेप ज्ञानप्रशंसा । इति नि० व्याख्यायां
पद्याप्याये अटादत्तः खण्डः ॥ न केवलं'. ३ क. स. घ. झ. ट. ठ. अत्रो नास्ति;
ग. घ. ज. ३३. ४ ट. त. द. 'सुवासाः कल्पानवासाः कामयमाना ऋतुकालेषु'
नास्ति. ५ क. स. द. २; छ. त. २४.

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमिति विद्याभूक्ते द्वे अध्येते ऋचौ । बृहस्पते-
रार्षम् । उतशब्दोऽपिशब्देन समानार्थः । त्वः
येदेऽज्ञाननिन्दा एक इत्यर्थः । बहूनामपि समानपृष्ठोदरपाणिपा-
दानां समानमेवाध्ययनमधीयानानामेकः कश्चित्प-

५ द्यन्नपि वाचं मनसा स्वम्यस्ताध्ययनोऽपि तीक्ष्णविद्यः सन्न पश्यत्येवार्था-
नभिज्ञत्वात् । स हि तां सम्यक्पश्यति यस्तस्या अर्थं विजानाति ।
अर्थपारिज्ञानफला हि वागित्यभिप्रायः । एवमेकः शृण्वन्नपि न शृणोत्येवैनां
वाचम् । य एव ह्यर्थमवबुध्यते वाचस्तेनैव हि सा सम्यक्श्रुता भवति
नेतरेण । इतरो ह्यविद्वान्व्यनिमात्रमेवोच्चारयति शृणोति वा वाचः । एवमने-
१० नार्धर्चेन 'अविद्वान्समाह' निन्दन्मन्त्रदृक् । सांप्रतमुत्तरेणार्धर्चेनार्धज्ञं प्रशंस-
न्नाह । उतो त्वस्मै अप्येकस्मै कस्मैचिदर्थज्ञाय
ज्ञानप्रशंसा च तन्वं शरीरं विसृजे विस्रंसयति विवृणोतीत्यर्थः ।
अर्थो वाचः शरीरम् । तं विवृणोत्यात्मानं दर्शयत्ये-

कस्मै कस्मैचिदर्थज्ञाय । 'अर्थप्रकाशनमाहानया वाचा' । अनेन तृतीयेन
१५ पादेनेत्यर्थः । कथं पुनर्विवृणुते तन्वमिति । यत 'उपमोत्तमया वाचा'
उत्तमेन पादेनोच्यते 'जायेव पत्य उशती सुवासाः' इत्यनेन । यथा
हि जाया विवृतसर्वाङ्गावयवा भूत्वा उशती कामयमाना इष्टाय भर्त्रे
प्रेम्णा दर्शयेदात्मानम् । कस्मिन्काले । यदा सुवासा भवति निर्गिक्त-
यासा भवति निर्गिक्तवासा नीरजस्का 'ऋतुकालेषु' तदा क्षातितरां
२० स्त्री पुरुषं प्रार्थयते । अत एतयाऽवस्थयोपमीयते । यथा स पुरुषस्तां
यथावत्पश्यति क्षियं नेतरो यो धनपटप्रावृतसर्वगात्राम् । एवं स एवैतां
वाचं यथावत्पश्यति येः पदशोऽवच्छिद्यैतां विगृह्य वार्धमस्याः पश्यति
समस्तव्यस्तम् । एवमस्यामृचीयं 'अर्थज्ञप्रशंसा' ।

१ क. ख. घ. ङ. ट. पश्यन्निति । विद्या°. २ च. समानाध्यय°. ३ क. ख.
२५ "रयति वाचम् । एव"; ग. "रयति शृणोति वाचम् । एव"; घ. ट. त्यन्न शृणोति
वाचम् । एव; ङ. त्यन्नशृणोति वाचम् । एव; ठ. "रयन्न शृणो". ४ ग. ज.
अप्येकस्मैचिद; घ. अप्येकस्मैचिद; ट. अप्येकस्मैचिद; ५ क. ख. घ. ङ.
ट. विवृणोत्यात्मा°. ६ घ. ट. 'त्येकस्मैचिद'. ७ घ. ङ. कथं हि पुन°. ८ ग.
ज. 'निर्गिक्तवासा भवति' नास्ति. ९ घ. ङ. ट. "रयति यः पश्यति कः
३० पदशो". १० ग. ज. ङ. चार्थ°.

अपीयमपरा ऋगस्या एव 'उत्तरा' अस्यैवार्थस्य प्रकृतस्य ज्ञानप्र-
 दंसाख्यस्य फलमिधानद्वारेण 'भूयसे' बहुतरायामुना फलेनाभिसं-
 चन्धाप्रतिविशिष्टं ज्ञानमित्येवं निर्विविध्यं निर्धार्य वचनाय निर्वचनाय ।
 सयथा ॥ १९ ॥

dharmasiddhanti

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु ।
 अधेन्वा चरति माययेष वाचं शुश्रुवाँ अंफुलामंपुष्पाम्
 [क्र० सं० १० । ७१ । ५] ॥ अप्येकं वाक्सख्ये स्थिरपीत-
 माहू रममाणं विपीतार्थं देवसख्ये रमणीये स्थान इति वा,
 विज्ञातार्थं यं नाष्ट्वन्ति वाग्ज्ञेयेषु बलवत्स्वप्यधेन्वा ह्येष
 चरति मायया वाक्प्रतिरूपया नास्मै कामान्दुग्धे वाग्दो-
 ह्यान्देवमनुष्यस्थानेषु यो वाचं श्रुतवान्मवत्यफलामपुष्पा-
 मित्यफलास्मा अगुष्पा वाग्मयतीति वा किंचित्पुष्पफलेति
 वार्थं वाचः पुष्पफलमाह याज्ञदेवते पुष्पफले देवताध्यात्मे
 वा साक्षात्कृतधर्माणं ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृ-
 तधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्तसंप्रादुरूपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे
 बिल्मग्रहणाधेर्म ग्रन्थं समाप्तासिपुर्वंदं च वेदाङ्गानि च
 बिल्मं मिल्मं भासनमिति धैतावन्तः समानकर्माणो धातवो
 धातुर्धधातिरेतावन्यस्य सत्त्वस्य नामधेयान्येतावतामर्था-
 नामिदमभिधानं नैघण्टुकमिदं देवतानामप्राधान्येनेदमिति
 तद्यदन्यदेवते मन्त्रे निपतति नैघण्टुकं तत् ।
 अश्वं न त्वा वारं वन्तम् । अश्वमिव त्वा बालं वन्तं बाला
 दंशवारणार्था भवन्ति दंशो दशतेः । मृगो न मीमः
 कुचरो गिरिष्ठाः । मृग इव मीमः कुचरो गिरिष्ठा मृगो

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. 'त्येवं निर्वचनाय । निर्विविध्यं निर्धार्य वचनं कदने २५
 निर्वचनं तामे निर्वच' २ क. ख. ३; ग. ३४ । २४; च. ज. ३४; घ. स. ट.
 अहो नास्ति; ठ. इति निरुक्तव्याख्यायां पद्याध्याये एकोनविंशः खण्डः. ३ ठ.
 वाग्न्येयेषु' ग्ये; छ. वाह्न्येयेषु; त. वाह्न्येयेषु' ज्ञे. ४ ठ. 'तिभूयसा. ५ ठ. देव'
 दे. ६ क. रा. द. 'ध्यात्मे वा ॥४॥ साक्षा'; छ. त. 'ध्यात्मे वा ॥२५॥ साक्षा'.
 ७ क. रा. द. दम् ॥ ५ ॥ अश्वं; छ. त. तत् ॥ २६ ॥ अश्वं. ८ ठ वातवन्तं. ३०

मार्द्वर्गतिकर्मणो भीमो बिम्बत्यस्मान्द्दीर्घोऽप्येतस्मादेव ।
 कुचर इति चरति कर्म कुत्सितमथ चेद्देवतामिधानं कायं न
 चरतीति गिरिष्ठा गिरिस्थायी गिरिः पर्वतः समुद्गीर्णो
 भवति पर्ववान् पर्वतः पर्व पुनः पृष्ठातेः प्रीणातेर्वाधमासपर्व
 ५ देवानस्मिन् प्रीणन्तीति तत्प्रकृतीतरत्सन्धिसामान्यान्मे-
 घस्थापी मेघोऽपि गिरिरेतस्मादेव तद्यानि नामानि
 प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्देवतमित्याचक्षते तदुपरि-
 ष्टाद्याख्यास्यामो नैवएदुकानि नैगमानीहेह ॥ २० ॥

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुरिति । अप्येकं अपि बहून् । विदुषः
 ३० सख्ये सखिभाये । कतरस्मिन् । देवसख्ये । देवानां समानख्यानतायां देवसा-
 युज्य इत्यर्थः । वक्ष्यति हि ' यां यां देवतां निराह तस्यास्तेस्यास्ताद्भ्य-
 मनुभवति ' (निरु० १३ । १३) इति । अथवा

ज्ञानप्रशसार्थान्या देवसख्ये रमणीये स्थाने । यस्मिन्देवानां सखि-
 १५ ऋक् । भावस्तद्देवसख्यं स्थानम् । तस्मिन्देवसख्ये रम-
 णीये स्थाने देवलोक इत्यर्थः । किमिति । स्थिरं

अविचालिनमप्रच्ययनधर्माणम् । कमेवमाहुः । विपीतार्थं आपीतार्थं गृही-
 तार्थमित्यर्थः । क एवमाह । इयमेव याक् ऋक्संज्ञिका । किञ्च । नैनं हिन्वन्त्यपि
 वाजिनेषु । एनं वागर्थज्ञं न हिन्वन्ति नानुगन्तुं शक्नुवन्ति । केषु । वाजि-
 २० नैषु वाग्निष्वेव्येषु बलवत्स्वपि दुर्ज्ञेषु दुरवर्घटनीयेषु समुद्रपिहितरत्नसं-
 निभेषु देवतापरिज्ञानादिषु व्याकर्तव्येषु । स हि तान् व्याकर्तुं शक्नोति ।
 नेतरे मन्दयुद्धयो बहवोऽपि समागताः शक्नुवन्ति तानर्थान् व्याकर्तुं यानसौ
 व्याकरोति । अत एतदुक्तं ' नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु ' इति । एवं ताव
 दर्धज्ञः प्रशस्तः ।

अधेदानीमविद्वानुचरेणार्धचेन निन्द्यते । अधेन्वा चरति । अधेन्वा स्थेप
 २५ चरति । न हि सा वाग्धिनोतीह न परत्र च यस्या अर्थो न परिज्ञायते ।
 तया गृहीतयैव तामर्थीयान इतश्चेतथ चरति । तद्यथान एव सर्वतः पर्य-

तृतीयभिप्रायः । किं च माययैव चरति गृहीतया ।
 तस्यामेवाज्ञाननिन्दा यथा हि कश्चिन्मायया सुवर्णं विभृयादेवमयमत्रा-
 चमेतां विमर्ति । सा तादृशी भियमाणा याकिं
 करोति । नास्मै कामान्दुग्धे । कतमान् । ये तस्या वाचो दोग्धव्याः । क ।
 देवतास्थानेषु मनुष्यस्थानेषु च । यः किं करोति । य एवं शुश्रुवान् ५
 श्रुतवान्भवति । कथम् । अफलमपुष्पमिति । एवं यः श्रुतवान्
 भवत्यन्येभ्यः सफाशाच्छ्रुत्वा च दृढग्राहेण गृहीत्वावास्थितो भवत्यव्ययनादृते
 मान्यदस्ति वाचि किञ्चिन्मृग्यमिति । तस्मै किमिति । अफलैवास्मै अपुष्पा
 च वाग्भवति । यथैव ह्यसौ पश्यत्यफलेयमपुष्पा चेति तथैव भवतीत्यभिप्रायः ।
 अथवा किञ्चित्पुष्पफलेति वा । एतदुक्तं भवत्यत्यफलमत्यपुष्पमिति । १०
 किं कारणम् । अस्ति ह्यध्ययनमात्रेऽपि किञ्चिदस्य फलम् । नासी
 परिश्रमो व्यर्थ एवेति भाष्यकाराभिप्रायः । आह । किं पुनर्वाचः पुष्पफल-
 मिति । उच्यते । 'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह' एतास्मिन्मन्त्रे मन्त्रदक् ।
 आह । कः पुनरसावर्थ इति । याज्ञं देवतामध्यात्ममित्येव वाचः समास-
 तोऽर्थः । स पुनरेव रूपकैक्यनया पुष्पफलविभागेन द्विधा प्रविभ- १५
 ज्यते 'याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यामे वा'
 वाचः पुष्पफले इति । यज्ञपरिज्ञानं याज्ञं देवतापरिज्ञानं देवतमा-
 याज्ञदैवते देवता- तन्म्यधि यद्वर्तते तदध्यात्मम् । स एव सर्वोऽपि
 ध्यामे वा मन्त्रब्राह्मणराशिरेव त्रिधौ विभक्तः । तत्रैवं सति
 यदाम्युदयलक्षणो धर्मोऽभिप्रेयते तदा याज्ञं पुष्पं २०
 दैवतं फलम् । किं कारणम् । पूर्वं हि पुष्पं भवति फलार्थम् । याज्ञमपि
 च पूर्वं तन्मते देवतार्थं चेत्येतस्मात्सामान्यायाज्ञं पुष्पं दैवतं फलम् ।
 यदा पुनर्निःश्रेयसलक्षणो धर्मोऽभिप्रेयते तदोभे अपि याज्ञदैवते पुष्पत्वमेव
 विभूतः । देवते हि याज्ञमन्तर्भूतमेव तदर्थत्वादतो न पृथगुच्यते । तत्पुन-
 रेतदधिदैवतं सर्वमपि प्रतिविशिष्टज्ञानेनोपासकेन मुमुक्षुणा निरूप्य २५
 चेतसात्मानमेव प्रत्यभिसंपाद्यते कार्यकरणाधिदैवताद्वारेण । सोऽयमेवमाधि-

१ ग. ज. 'द्वयफलम्'; ठ. 'द्वयं' लं. २ क. रा. प. झ. ट. ठ. रूपफलं.
 ३ क. रा. प. झ. ट. 'देवता'. ४ ग. ज. झेपा, ५ क. रा. ग. ज. प. झ.
 ट. ठ. यत्पुन'. ६ क. रा. प. झ. ट. ठ. 'एतद्' नास्ति. ७ ग. ज. प. झ.
 ट. 'पिदैवता'.

दैवतमधिर्यज्ञं चोच्छिद्याध्यात्ममेवाभिसंपादयति यथा पुष्पमात्रमुच्छिद्य
पुष्पं फलमायायेति । एवं सोऽयमात्मैवाज्येवाभिसंपद्यते । तत्रैवं सत्यभ्या-
त्मार्यत्वादधिदेवस्याध्यात्मै च पुरुषार्थस्य निष्ठानादैवतं पुष्पमध्यात्मं फल-
मित्येव युक्तम् ।

आह । कुतः पुनरेदमायाते निरुक्तशास्त्रं प्रधानमितराणि चाक्षानीति ।
उच्यते । “साक्षात्कृतधर्माणं ऋषयो बभूवुः” । साक्षात्कृतो यैर्धर्मः साक्षा-
दृष्टः प्रतिविशिष्टेन तपसा स इमे साक्षात्कृतधर्माणः । के पुनस्त इति ।

उच्यते । ऋषयः । ऋषयस्समुष्मात्कर्मण एवमर्थ-

साक्षात्कृतधर्मे-

यता मन्त्रेण “संयुक्तादमुना प्रकारेणैवंलक्षणः

भिरसाक्षात्कृतधर्मे-

फलविपरिणामो भवतीत्युपपन्नः । “ऋषिर्दर्शनात्”

भ्यो मन्त्रदायम्

इति वक्ष्यति (नि० २ । ११) । तदेतत्कर्मणः

साक्षात्कृतविपरिणामदर्शनमौपचारिकया दूरयोक्तं

साक्षात्कृतधर्माण इति । न हि धर्मस्य दर्शनमस्त्यत्यन्तापूर्वो हि

धर्मः । आह । किं तेषामिति । उच्यते । “तेऽयरेभ्योऽसाक्षात्क-

तधर्मस्य उपदेशेन मन्त्रान्संप्रादुः” । ते ये साक्षात्कृतधर्माणस्तेऽ-

यरेभ्योऽयरकाङ्क्षिण्यः स्रक्किर्हनिभ्यः धृतैर्विभ्यः । तेषां हि धृत्वा ततः

पथाद्विचमुपजायते न यथा पूर्वेषां साक्षात्कृतधर्मिणां भवणमन्तरणम् ।

आह । किं तेभ्य इति । तेऽयरेभ्य उपदेशेन शिष्योपाध्यायिकया वृत्त्या

मन्त्रान्मन्थतोऽर्थतथ संप्रादुः संप्रचक्षन्तः । तेऽपि चोपदेशेनैव जगृदुः ।

अथ तेऽपि “उपदेशाय ग्लायन्तोऽयरे विस्मयहृणायेन मन्थं समाम्नासि-

१ स. ट. “वनवाधि”. २ स. ट. “शान्ता याग्ये”. ३ स. र. ग. ज. घ. झ.

ट. ठ. “रथापगत्यस्य. ४ ग. ज. “य” नास्ति. ५ स. र. निष्प्रपत्तयान्; ग. ज.

नि-वृत्तात्; घ. क. ट. न निष्प्रपत्तयान्; उ. न निष्प्रवृत्तयान्. ६ स. र. फलमि-

त्युक्तम् ॥ ४ ॥ ऊर्ध्वे; घ. स. ट. ठ. फलमित्युक्तं आह. ७ ग. ज. निरुक्तं

शास्त्रमर्थान्; घ. निरुक्तं शास्त्रमर्थान्; ट. निरुक्तं. ८ ग. “ते ॥ २५ ॥ ता”.

९ स. ट. मन्त्रेण युक्ता. १० ट. भवन्ति निष्प्रपत्ति त भवन्ति. ११ ग. ज.

युक्तसिद्धिः; घ. युक्तसिद्धिः. १२ ग. घ. ज. घ. ट. ठ. “भर्षा १३ ग.

१४ स. “एत” नास्ति; ट. “देव” ज. “निह”.

पुरेदं च वेदाङ्गानि च ' इति । उपदेशोपदे-
सौकर्येणोपदेशप्र-
हणाय वेदवेदाङ्गाना-
मसाक्षात्कृतार्थभिः
समाधानम् ।
शार्थम् । कथं नामोपदिश्यमानमेतैः शक्तुयुग्मही-
तुमित्येवमर्थमधिष्ठितं भ्यायन्तः विद्यमानास्तेष्व-
गृह्यन्तु तदनुकम्पया तेषामायुषः संकोचमवेक्ष्य
कालानुरूपं च ग्रहणशक्तिं विस्मग्रहणायेमं प्रत्यः
गवादिदेवपत्न्यन्तं समान्नातवन्तः । किमेतमेव ।

नेत्युच्यते । वेदं च वेदाङ्गानि चेतराणीति । कथं पुनः समान्नासिपुरिति ।
आह । शृणु । वेदं तावदेकं सन्तमतिमहत्त्वाद्गुरव्येयमनेकशाखाभेदेन
समान्नासिपुः । सुखग्रहणाय व्यासेन समान्नातवन्तः । तद्यथा । एक-

विंशतिधा बाह्वृच्यभेकशतधाचर्यमं सहस्रधा सा-
समाधानप्रकारः
मवेदं नवधाचर्यमम् । वेदाङ्गान्यपि । तद्यथा ।
व्याकरणमष्टधा निरुक्तं चतुर्दशधेयवमादि । एवं

समान्नासिपुर्भेदेन ग्रहणार्थम् । कथं नाम भिन्नान्येतानि शाखान्तराणि
रूपाणि सुखं गृहीयुरेते शक्तिहीना अल्पायुषो मनुष्या इत्येवमर्थं समान्नासि-
पुरिति ।

विल्मशब्दं भाष्यवैक्यप्रसक्तं निर्वर्णाति । यदेतत् ' विल्म ' इत्युक्तमेतत्
' विल्म ' वेदानां भेदनम् । भेदो व्यास इत्यर्थः । ' भासनमिति वा ' ।
अथवा भासनमेव विल्मशब्देनोच्यते । वेदाङ्गविज्ञानेन भासते प्रकाशते
वेदार्थ इत्यत इदमुक्तं विल्ममिति । एवं भिदेर्भासतेर्वा विल्मशब्दः । एवमिदमु-
पिप्यो निरुक्तशास्त्रमायार्तमितराणि चाङ्गानीति परिशोधित आममः ।

अथेदानीं निवण्टुसमाज्ञायविरचना वक्तव्या प्रकरणत्रयोविभागेन
सुखव्याख्यानार्थमस्य शास्त्रस्य । सेयमुच्यते ।

निवण्टुसमाज्ञाय- ' एतावन्तः समानकर्मणोः यातव ' एतावन्त्यस्य
स्य प्रकरणत्रयम् सत्त्वस्य नागधेयानि ' इति । स एष पदराशिनै-

१ क. ख. प. झ. ट. ठ. 'मानमधेयते' २ क. ख. प. झ. ट. ट. 'मृंहितं' २५
३ क. ख. मित्येवमपि; घ. झ. ट. 'मित्येवमर्थ' ४ क. ख. प. झ. ट.
ठ. विस्मग्रहणं ५ घ. झ. ट. ठ. भाष्यकारः ६ क. ख. 'पात' घ. ट.
'मागपात' ७ घ. झ. ट. ट. 'त्रयसंविभागेन' ८ घ. ख. ज. ट. 'दशेन' २६
१५. एकः

घण्टुकं नाम प्रकरणम् । एतावन्त इति या चैपु

नैघण्टुकम्

अनुपु चाख्यातपदेपु प्रतिनियता संख्या सामि-

प्रेयते । तद्यथा । ' गतिकर्माण उत्तरे धातवो द्वाविंशं शतम् ' [नि०

३ । ९] ' कान्तिकर्माण उत्तरे धातवोऽष्टादश ' [निरु० ३ । ९]

५ इत्येवमादि । एतावन्त्यस्य रुच्यस्येति नैमधेयप्रतिनियता संख्याभिप्रेयते ।

तद्यथा । ' पृथिवीनामधेयान्येकविंशतिः ' [निरु० २ । ७] ' हिर-

ण्यनामानुत्तराणि पञ्चदश ' [निरु० २ । १०] इत्येवमादि । यत्रैता-

वर्था प्रायेण चिन्त्येते प्रसङ्गतोऽन्यथाकिंचित्तदेतदेवंलक्षणं नैघण्टुकं नाम

प्रकरणं गवादि प्राग्जहाशब्दात् [निघ० अध्या० १-३] ।

१० अथ पुनर्यत्र ' एतावतामर्थानामिदमभिधानं ' इत्यर्थः प्रायेण

चिन्त्यते । तद्यथा । ' आदित्योऽप्यकूपारः

एकपदिकम्

समुद्रोऽप्यकूपारः [निरु० ४ । १८] इत्ये-

वमादिः । अनवगतसंस्काराश्च निगमा जहा-

दयः प्रायेण चिन्त्यन्तेऽनुपङ्गतोऽन्यथाकिंचित्तदेतदेवंलक्षणमैकपदिकं नाम

१५ प्रकरणं जहादि प्राग्जिह्वाशब्दात् [निघ० अध्या० ४] ।

अथ पुनर्यत्र नैघण्टुकं देवतानामास्मिन्मन्त्र इदमन्यत्र प्राधान्येन

वर्तते इत्ययं विभागः प्रायेण चिन्त्यते तदेवंलक्षणं

देवतम्

प्रकरणं देवतं नानाभिन्नशब्दादि देवपल्लवम् ।

(निघ० अध्या० ५) । ताभ्यानि

२० श्रीणि प्रकरणानि नैघण्टुमैकपदिकं देवैरिति । अनेन प्रकरणत्रयवि-

भागप्रत्ययेनैदमवस्थितं निरुक्तमात्रमिति ।

२५ ' तद्यदर्थं देवते मन्त्रे निरुतानि नैघण्टुकं तत् ' । इदमुक्तं ' नैघण्टु-

नैघण्टुदेवता-

कमिदं देवतानाम प्राधान्येनेदमिति ' । तत्र न

१५ नाम्नो लक्षणम्

ज्ञायते किमिदमुक्तं भवति । तदेतद्विशेषण उप-

दिश्यते इति पर्युत्पत्तमाशङ्क्यः । यदभिधानम-

न्यदेवतः । तस्मिन्मन्त्रे मन्त्रे इदमर्थमन्तरां प्रधानायां मन्त्रदेवतायां

१ प. म. ट. ' १५. २ क. म. ट. ' व्याख्यातः ' ; घ. ' कारवानपदेपु. ३ क. ल.

म. ज. नमसु नति ' ; घ. म. ' ' इति या नमसु नति ' ; ट. ' इति या नमसु

नति ' नमसु. ४ प. म. ट. ' मन्त्रा नमसु ' ; ५ ट. ' एतत् ' नास्ति. ६

प. म. ट. ' तदेतदेत ' ; ७ प. ट. ट. ' देवमिति. ८ क. म. म. घ. ङ. ट.

' नमसु. ९ क. म. ट. ' नमसु ' .

निगमयेत्तत्ति प्रयुज्यमानमद्भवावे गच्छति मन्त्रवाक्ये नैघण्टुकं तदित्यु-
च्यते । गुणभूतमित्यर्थः । संज्ञा हि तस्येयमस्मिञ्छास्त्रे । तद्यथा ।

अध्वं न त्वा चारवन्तं वन्दध्यां अग्निं नमोभिः । सम्राजन्तमध्वराणाम्

(ऋ० सं० १ । २७ । १) ॥ अस्थामृच्यश्वो

नैघण्टुकदेवतोदा- नैघण्टुकोऽग्निः प्रधानम् । शुनःशेषस्यार्पम् । ५
हरणम् वायत्री । चारवन्तीयानुशंसने त्रिनिशुक्ता । साम्नश्च

चारवन्तीयस्यैषा योनिः । अध्वं न त्वा अश्वमिव

त्वा हे अग्ने अग्निं अग्नेनेतारं देवानां चारवन्तं चालवन्तं वृषाश्चम् । स

ह्यतितरां बालवान्मवति वन्द्यते परिचर्यते च न तथान्ये । तमिव त्वां

वन्दयै वन्दामहे स्तुमो नमोभिर्नमस्कारैरन्नैर्वा हविर्भिर्हव्यैः । क पुनर-

वस्थितं कथं वा वन्दामह इति । सम्राजन्तं दौष्यमानमध्वराणां यज्ञानां

मध्येऽवस्थितमुत्तरवेद्यादिषु धिष्येष्वभिप्रेतार्थसिद्धये वन्दामह ।

दशशब्दस्य निगमप्रसक्तस्य निर्वचनम् । ' दश्या दंशवारणार्था
भवन्ति ' । तैर्हि दंशादयो निवार्यन्ते । दंशशब्दस्य प्रसक्तानुप्रसक्तस्य
निर्वचनं ' दंशो दशतेः ' इति । दशति दसौ । १५

द्वितीयमुदाहरणम् । मृगो न भीमः कुञ्चते गिरिष्ठाः परावत आ
जंगन्या परस्याः । सूक्तं संज्ञायं पविमिन्द्र तिम्रं वि शयून्ताब्धि वि मृधो

नुदस्व [ऋ० सं० १० । १८० । २] ॥

तत्रैव द्वितीयोदा- जैवो नामेन्द्रपुत्रः । तस्येयमार्पम् ।

दाहरणम् त्रिशुप् । वैमृधस्य हविषो यास्या [आश्व० १०

श्रौ० २ । १०] । इन्द्रोऽस्य प्रधानं मृगो

नैघण्टुकः । मृगो न मृग इव व्याघ्रो वा सिंहो वा । भीमो भीमर्षेः

कुञ्चरः कुत्तितचरणो हिंस्रः प्राणिवधजीवनः । गिरिष्ठाः पर्वताश्रयः । स यथा

१ ग. ज. निगमयत्यभिप्रयुज्य. २ क. रा. ' दशते ॥ ५ ॥ तपः' ग.
' दशते ॥ २५ । २६ खण्डः ॥ तपः' च. ज. ' दशते ॥ २५ ॥ तपः'. २५
३ ग. रवा० अष्टादश्याम् ; घ. ह. ट. रवा० अष्टादश्याम्. ४ क. रा. ग. ज. ठ.
' अवे ने'. ५ घ. ह. ट. देवतानां. ६ घ. ह. ट. ' नमोभिः' नस्ति. ७ ठ. क. न.
८ ठ. वासा. ९ ग. घ. ज. ' नम् ॥ २६ ॥ मृगो'. १० ग. घ. ज. घ. ह.
ट. भीम इति. ११ क. रा. ग. घ. ज. ठ. मृगो. १२ घ. ह. ट. भीमर्षे. २६

केचिदन्यं प्राणिविशेषं हन्ति तेनैवभिभूयमानः । परावतः परस्मादतिदूरः
स्थानात्परस्याः दिवः संवन्धिन आगच्छे । एतदर्थमागत्य चेह कर्मणि हेः
इन्द्रैतदस्मद्वचः कुरु । सूक्तं यः शत्रुकर्मिषु सत्तुं शक्नोति तं पविं वज्रं
संशाय तीक्ष्णीकृत्य तिग्मं छेदनायोत्साहवन्तं मुनिशितं कृत्वा ततो
वितौल्लिह वितौल्लिह एतानस्मच्छधून् । एकप्रहारवर्जितदेहान्कुरुष्व ॥
यानपि च न हिनस्सि कथंचित्तानपि हिंसकान्विनुदस्व नानाप्रकारं
प्रेरयस्व दूस्मपुनरावमताय ।

‘अथ चेदेवताभिधानं’ एतत्कुचर इति ततः ‘कायं न चरतीति’
सर्वत्र चरतीति । ‘गिरिष्ठा मेघस्थायी’ इति च । अनुपक्षीणशक्तयो
हि विमवो चेदशब्दा यथाप्रज्ञं पुरुषाणामर्थ्या-
धैदिकशब्दानां स- भिधानेषु विपरिणममानाः सर्वतोमुखा अनेका-
र्थतोमुखत्वम् धर्मान्मुन्यन्तीत्येतदनेन प्रदर्शितं भवतीत्यथ चेदेव-
ताभिधानमिति ।

मृगादिशब्दाभिगमप्रसक्तानिर्ब्रवीति । ‘मृगो माधेर्गतिकर्मणः’ । नित्यं
ह्यसौ गच्छति । ‘भीमो विम्यत्यस्मात्’ । सर्व एव ह्यस्माद्विभेति ।
भीष्मशब्दं सारूप्यप्रसक्तं निराह ‘भीष्मोऽप्येतस्मादेव’ इति । ‘कुचर-
इति चरतिकर्म कुस्सितम्’ । चरति ह्यसौ कर्म कुस्सितं व्याघ्रो वा
सिंहो वा । कायं न चरतीति देवताभिधानत्वे । ‘गिरिः समुद्रीर्णो भवति’ ॥
समस्तो ह्यसाद्युद्रीर्ण इव भूमौ भवति । पर्वतशब्दं पर्यायाख्यानुप्रसक्तं
निराह ‘पर्ववान्पर्वतः’ इति । शिखाशिखरसंधिभिरसौ तद्वान्हि भवति ।
पर्वशब्दं विग्रहप्रसक्तं निराह । ‘पर्व पुनः पूणातेः’ पूणार्थस्य ।
पूरयन्ति हि ते शिखाशिखरसंधयोऽखिलं पर्वतम् । ‘प्रीणातेर्वा’ तर्प-
णार्थस्य । तपुनरेतत् ‘अर्धमासपर्व’ । किं कारणम् । ‘देवानस्मिन्’

- १ ठ. तेनाभिभू. २ ग. ज. ‘परावतः.....स्थानात्’ नास्ति. ३ प.
२५ स. ट. ठ. परस्याः अति. ४ ग. ज. ‘दिवः.....मागत्य च’ नास्ति. ५ प. स.
ट. आजगन्ध; ठ. आजगन्ध आगच्छ. ६ घ. झ. ट. ठ. ‘कायं तु. ७ ग. च.
ज. घ. झ. वितौल्लिह. ८ ठ. ‘च मृगः संग्रामशुक्रान् युयुत्सुन दिन’. ९ ग. ज.
प्रमुचन्ति; च. स्रवन्ति. १० क. ख. घ. झ. ट. ठ. गिरिः पर्वतः समुद्री.
११ क. ख. ग. ज. ‘स्थानप्रसक्तं; ठ. पर्यायानुप्रसक्तं. १२ च. शिखरं ख. १३
३० क. ख. घ. झ. ट. ‘हि’ नास्ति.

हविर्भिः 'प्रीणन्ति' । 'तत्पृथुतीतरत्सधिमात्रसामान्यात्' । काले-
धिश्च शिलासंधिश्च समानं संधित्वमिति । देवताभिधानपक्षे 'मेव-
स्थाया' गिरिष्ठाः । 'मेवाऽपि गिरिरेतस्मादेव' । असावपि समुद्रीणां
भवत्यन्तरिक्षलोके ।

• 'तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्देवतामित्याचक्षते ।
तदुपरिष्ठाख्यास्यामः । नैघण्टुकानि नैगमा-
देवतसंज्ञाया अर्थः नीहेह' । तदेतदुच्यते । सामान्यलक्षणोपलक्षि-
तप्रकरणत्रयविभागेनावस्थितो गवादिदेवपत्न्यन्तः

समाप्तायोऽयमानुपूर्व्या व्याख्यास्यत इति पर्युपयुक्तस्तच्छब्दः । यानि नामानि
प्राधान्यस्तुतीनामन्यादीनाम् । प्रधानभावेन याः स्तूपन्ते न निपातभा-
क्तवेन सा एता प्राधान्यस्तुतयो देवताः । तासां किल यानि नामान्यन्या-
दीनि देवपत्न्यन्तानि तानि सर्वाण्यपि समुदितानि सन्त्येतैकया
सामान्यया प्रकरणसंज्ञेयाचक्षत आचार्याः । कतमया । उच्यते
दैवतामित्येतया । निरुद्धा हीयमेतस्मिन्निघण्टुशब्दसमुदाये संज्ञेत्यभि-
प्रायः । तत्पुनरेतदैवतं प्रकरणमुपरिष्ठाख्यास्यामोऽस्य शास्त्रस्य ।

आह । किं कारणमिति । उच्यते । गुणपदेपु व्याख्यातेपु
प्रधानदेवतापदानि मुखे व्याख्यास्यन्त इत्यनेनाभिप्रायेण देवतापरिज्ञानत-
त्कलाभिधाननिष्ठं च कथं नामेदं शास्त्रं स्यादिति । यानि पुनर्नैघण्टुकानि

गवादीनि नैगमानि च जहादीनि तानीह प्रक-
त्रयाणामेकप्रक- रणद्वये नैघण्टुके चैकपदिके च व्याख्यास्याम
णानां व्याख्यानक्रमः इत्येतदेवानुवर्तते । त एते गवाद्यो देवपत्न्यन्ता
निघण्टवः । तदेकदेशे नैघण्टुकं प्रकरणम् ।

निघण्टुनैघण्टुक- निघण्टुसंज्ञया च व्यवहारे लोके निघण्टुमधी-
शब्दयोरर्थः महे निघण्टुमप्यापयाम इति । शास्त्रे खल्वपि
नैघण्टुकं प्रकरणमिति । नैगममित्येकपदिकम् ।

नैघण्टुकानि च पदानि नैगमानि चेह प्रकरणद्वये व्याख्यास्यामः । अध्या-
यपरिसमाप्तिलक्षणाधेः परितोपायो वा द्विरम्यास इति ॥ २० ॥
इति ऋज्वर्थायां निरुक्तवृत्तौ जम्बुमार्गाश्रमवासिन आचार्यमगवदुर्गस्य
कृतौ पद्योऽध्यायः ॥ ६ ॥

संमोक्षायस्तत्रैचतुष्टमतोऽन्येऽथनिर्पातावायुवैत्वाननूतं
नूनंसातऋचांस्वोऽक्षर्षन्तोनिर्धुक्कासोहंविमिरितीमोन्यथा-
पियोयैधोहिन्वथापीदमर्थवन्तोऽयांपादं स्थाशुरपमुततः-
पश्यन्नुतरं सस्ये विंशतिः ।

१० इति निरुक्ते पूर्वपट्टे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

तत्र प्रथमः पादः ।

१५ १०५ हरिः ॐ । अथ निर्वचनं तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारी
समर्थो प्रादेशिकेन गुणेनान्वितो स्यातां तथा तानि निर्धु-
यादधानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनिरूपः परीक्षेत केन-
चित्रत्तिसामान्येनाविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्या-
१० चिन्तयान्न त्वेव न निर्धुयान्न संस्कारमाद्विधेत विशयवत्त्यो
हि वृत्तयो मयन्ति यथार्थं विमक्तीः संनमयेत्प्रत्तमवत्त-
मिति ध्यात्वादी एव शिष्येर्ले अप्राप्यस्तेर्निर्दृष्टिस्थानेऽप्य-

* इयं सण्डशृङ्खला छ. त. द. पुस्तकेषु न विद्यते.

१ क. स. च. स. ट. ठ. नैघण्टुकानि नैगमानि पदानि चेह°. २ क. स.
१५ प. स. ट. ठ. अद्वो नास्ति; ग. च. ज. ३७. ३ क. स. च. स. ट. ठ. इति
निरुक्तीकायां. ४ य. पद्योऽध्यायः । निरुक्ते प्रथमोऽध्यायः समाप्तः; प. ट. पठ-
स्याध्यायस्य पठः पादः समाप्तः; स. पठस्य पठः पादः समाप्तः अध्यायः समाप्तः; ठ.
पठस्याध्यायस्य पठः पादः समाप्तिमगमन्. ५ छ. त. द. पुस्तकेऽपि सण्डशृङ्खला
नास्ति. ६ क. 'इति अध्यायः' सण्डशृङ्खलायाः प्राग्वर्तते; य. इति निरुक्ते
पूर्व; छ. द. इति प्रथमोऽध्यायः समाप्तः; त. इति प्रथमोऽध्यायः. ७ छ. 'केन
११ विकारेणान्वितो. ८ क. स. छ. त. द. 'ते ॥ १ ॥ अथा'.

दिलोपो भवति स्तः सन्तीत्यथाप्यन्तलोपो भवति गतां
गतमित्यथाप्युपधालोपो भवति जग्मतुर्जगमुरित्यथाप्युप-
धाविकारो भवति राजा दण्डीत्यथापि वर्णलोपो भवति
तत्त्वा यामीत्यथापि द्विवर्णलोपस्तु च इत्यथाप्यादिविपर्य-
यो भवति ज्योतिर्धनो बिन्दुर्वाद्य इत्यथाप्याद्यन्तविपर्ययो ५
भवति स्तोका रज्जुः सिकतास्तर्कित्यथाप्यन्तव्यापत्ति-
र्भवति ॥ १ ॥

“अथ निर्वचनम्” । नामाख्यातौपसर्गनिपातलक्षणमुक्त्वा शास्त्रा-
रम्भप्रयोजनानि च वेदवेदाङ्गव्यूहं च सप्रयोजनं निघण्टुसमाम्नायविरचनां १०
च प्रकरणत्रयविभागेनोक्त्वा दैवतमुक्तव्य नैघण्टुकनैगमे प्रकरणे पुरस्कृते
‘नैघण्टुकानि नैगमानीह’ इति । ते पुनरेते निर्वचनलक्षणमनुक्त्वा न शक्येते
व्याख्यातुं यस्मात् ‘अथ’ एतस्मात्कारणात् ‘निर्वचनं’ लक्षणतौ
व्याख्यास्याम इति बोध्यशेषः । अपिहितस्यार्थस्य परोक्षवृत्तावतिपरोक्षवृत्तौ
वा शब्दे निष्कृष्य विगृह्य वचनं निर्वचनम् । स १५
निर्वचनशब्दस्यार्थो एष निर्वचनाभ्युपाय इत्युच्यते । इह द्विविधाः
निर्वचनप्रकाराश्च शब्दाः समर्थस्वरसंस्कारौ असमर्थस्वरसंस्काराश्च ।
तत्रैवं सति ‘येषु’ तावत् ‘पदेषु स्वरसं-
स्कारौ समर्थौ’ संगतार्थौ अवैपरीत्येन ‘प्रदेशिकेन’ च ‘गुणेना-
न्वितौ स्यातां प्रदेशाभिर्वायिना धातुरूपाणां न्वितौ संवद्धानुगतावभि- २०
वस्थे धातुरूपा स्यातां ‘तानि’ तावत् ‘तथा’ एव यथालक्षण-
मेव ‘निर्न्यात्’ । आह । कुतौ वा संशय
कैवाचिच्छब्दानां इति । उच्यते । अर्थप्रधानत्वादनादृशैव लक्षणमेषु
लक्षणशास्त्रानुसारे- नैरुक्तो निर्न्यात्तन्मा भूदित्यत इदमुच्यते ‘येषु
ण निर्वचनम् पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ स्यातां तथा तानि २५
निर्न्यात्’ इति ।

१ ठ. ड. दण्डीति ॥ अथ. २ क. ल. छ. त. इ. २. ३ ट. नैगमानीह इति
हे, ठ. ड. नैगमानीहेति. ४ ठ. ड. ‘चालङ्कार’ ५ क. ए. झ. इति शेषः. ६
क. ल. झ. द्विधा. ७ क. ल. ग. ज. ‘संस्कृतार्थं अप’ ८ क. ख. झ. ‘संगतार्थो’
नास्ति. ९ घ. ज. ठ. ड. ‘च’ नास्ति १० उ. ड. ‘भाषिना गुणेन धातु’ ११ ग.
ज. ‘न्वितौ स्यातां संवद्धानु’ १२ घ. झ ट. ड. लक्षणमेवमु.

“अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः” परीक्षेत केनाचिद्वृत्ति-
सामान्येन १ । अथ पुनरनन्वितेऽर्थे व्याप्यस्वरसंस्कारयुक्तेन शब्देन ।

यत्र निपुणमन्विष्यमाणः शब्दोऽर्थवान्कल्पयितुं
केपांचिदर्थसामा- न शक्येत । अन्यथैवार्थो व्यतिष्ठतेऽन्यथैव
शब्दः । प्रादेशिकेन विकारेण विक्रियमाणोऽपि
चासौ शब्दो विपरिणम्यमानोऽप्रादेशिक एव

स्यादसमर्थे “एव तौ प्रदेशाद्व्यापमभिधेयसत्त्वस्थां क्रियामभिधातुम् ।
आह । तत्र किं कर्तव्यमिति । उच्यते । तत्रैवं सत्यर्थनित्यो

भूतार्थप्रधानः । तद्यथा मुद्रनित्यमेवास्य भोजनमित्युक्ते मुद्रप्रधान-
मिति गम्यत एवमिहाप्यर्थनित्य इत्युक्तेऽर्थप्रधान इति गम्यते ।

अर्थप्राधान्येनानादत्य स्मरसंस्कारौ परीक्षेत । ततस्तदभिधानं बुद्ध्या
केनचिदर्थवृत्तिसामान्येन क्रियागुणसामान्येनेत्यर्थः । कतमस्य धातोरर्थ-
सामान्यमिहास्तीति । ततस्तर्कयित्वा सामान्यं तेन निर्वृत्त्यात् । अर्थो
हि प्रधानं तद्वृणुतः शब्दः । तस्मादर्थसामान्यं बलीयः शब्दसामान्यात् ।

अथ पुनर्यत्रार्थसामान्यमपि नास्ति तत्र ‘अविद्यमानेऽर्थसामान्येऽ-
प्यक्षरवर्णसामान्यान्निर्गूयान्तेव न निर्गूयान्

केपांचिदक्षरवर्ण- संस्कारमाद्रियेत विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति
सामान्येन यथार्थं विभक्तीः संनमयेत् । स्वरवर्णसामान्ये-

नापि निर्गूयादेव । अमुष्मिन्धातादयं स्वरो

वर्णो वा मया दृष्टः स एवायमस्मिन्नभिधाने उच्यत इत्येवमुक्तेश्च स
धात्वर्थः सूत्रबद्ध इव तस्मिन्नभिधान आहत्य स्फारीकृत्य इत्यत्रः प्रकाश-
यितव्यः । एवमविद्यमानेऽर्थसामान्ये स्वरवर्णसामान्यमात्रेणापि निर्गूयादेव ।

न त्वेव न निर्गूयात् । इतरथा क्षनार्थकमेव निरुक्तताम्ब्रं स्यात् । तन्मा
भूदित्यत उच्यते लक्षणपराद्मुख्येन शब्देन ‘न संस्कारमाद्रियेत’ । किं

तर्हि । अर्थसामान्यमाद्रियेत शब्दसामान्यं वा । तद्यथा । प्रथीणोद्धारनि-

१ क. स. प. स. ट. ठ. ड. निपुणमन्विष्य. २ क. स. प. स. ट. ठ.
ड. सप्तते. ३ क. स. प. स. ‘शब्दमत्रास्ती’; ट. ‘मान्यमत्रास्ती’ मिह.

४ ट. ड. ‘ज्ञादिनि । स्वर वर्ण’. ५ प. फापीकृत्य. ६ घ. क्ष. ट. ट. ड.

त्रिंशद्व्या उत्सृष्टस्वार्थाभिधेयसंख्याः सन्तः
 अर्थसामान्यस्यो- क्रियागुणसामान्यहेतुमात्रमाश्रित्यान्येष्वेवार्थान्तरे-
 दाहरणानि. पु वर्तन्ते । तद्यथा प्रकृत्यो बीणायां प्रवीणो
 गान्धर्वे । अत्र ह्यस्य मुख्या वृत्तिः । स एष
 स्वमर्थमभिधेयमुत्सृज्यैव गान्धर्वमभ्यासपाटवमात्रं सामान्यमाश्रित्य सर्व-
 त्रैवाभिप्रवृत्तः । यो हि यस्मिन्कृतयत्न उद्भवाकौशल्ये भवति स
 तत्रोच्यते प्रवीण इति । तद्यथा । प्रवीणो व्याकरणे प्रवीणो निरुक्त-
 इति । एवमेवोदार इति । प्रागारोसंनिपाताद्वाहृतमौत्रेणैवाकूतेनैव
 सारथेयौ बह्व्यस्योऽनङ्गान्वा सः उद्गातास्त्वाद्गुदारः । तत्र हि सम्-
 ज्ञता वृत्तिरस्य शब्दस्य । स एष उत्सृज्यैव स्वमर्थमाकूतानुविधायि-
 क्षमात्रमेव सामान्यमाश्रित्य प्रवृत्तः । यो हि कश्चित्कस्मैचिदाकूतमेवै लक्ष-
 यित्वा प्रागेव प्रार्थनाददाति स उदार इत्युच्यते । एवमेव निखिंशः ।
 त्रिभिः प्रदेशैर्द्विभ्यां धाराम्यामग्रेण च निश्चितः स्थेतीति निखिंशः
 खङ्गः । तत्र ह्यस्य शब्दस्यैव समज्ञता वृत्तिः । स एष छेदनसमानरूपे
 कौर्षसामान्यमाश्रित्य सर्वत्रैवैभिप्रवृत्तः । यो हि लोकं क्रूरो भवति स
 निखिंश उच्यते । एवमेते क्रियागुणसामान्यमात्रेण वर्तन्ते ।

यथैत एवमन्येऽप्यन्यहितव्याः । अभ्युह्य चैवमर्थसामान्येन निर्वक्तव्याः ।
 स्वरवर्णसामान्ये तु प्रचुराण्यभेदाहरणानि ।
 नैगमशब्देषु स्वर- सर्व एव हि नैगमाः शब्दा जहादयः स्वरवर्ण-
 वर्णसामान्यमेव सामान्यमात्रेणैव निरुच्यन्ते । न च निरुक्ते-
 कारकहारकलावकादिशब्दा व्युत्पाद्यन्ते सुबोधेव

१ क. ख. ग. ज. क्रियागुणसामान्यं हेतुः । २ घ. ट. ठ. ड. 'हेतुमात्रं'.
 ३ ग. घ. ज. प्रवृत्तिः । ४ ठ. ड. प्रागारोसं. ५ क. ख. ग. ज. 'पाताङ्गाकूतेनैव';
 ठ. ड. 'पाताङ्गाहृतमात्रेणैव वासंकेतेनैव सार'. ६ ठ. ड. उद्गातस्त्वा'.
 ७ क. ख. घ. 'एष' नास्ति. ८ ग. ज. निश्चितः. ९ च. स्थेतीति. १० घ. झ. २५
 ट. ठ. ड. स निखिंशः. ११ क. ख. सङ्गःमुख्यग्रन्थात् । तत्र; घ. झ. ट. ड.
 सङ्गः मुलग्रन्थात् । तत्र; ठ. सङ्गःमुख्यग्रन्थात् । तत्र टि. १२ घ. 'सङ्ग-
 स्प' नास्ति. १३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'अभि' नास्ति. १४ क. ख. घ. झ.
 ट. ठ. ड. इत्युच्यते. १५ घ. झ. ट. ठ. ड. 'अपि' नास्ति. १६ च. अम्युग्र;
 ट. अम्युह्येव. शुद्धा च १. १७ घ. झ. ट. ठ. ड. 'च' नास्ति.

[पा० ७ । ४ । ४७] इत्याकारस्य तकारो भवति । झरो झरि सवर्णे ।
 [पा० ८ । ४ । ६५] इति धात्वन्त्यस्य तकारस्य छेपे कृते ' खारि
 च ' [पा० ८ । ४ । ५५] इति तकारस्य - चत्वे कृते ' परः संनि-
 कर्षः संहिता ' [पा० १ । ४ । १०९] इति धातुतकारः प्रत्यय-
 तकारेण साकं संयोगतामुपैति ' ह्रलोऽनन्तराः संयोगः ' [पा० १ ।
 १ । ७] इति । ततः प्रादिसमासे कृते ' प्रत्तं ' इति भवति । एवमेव
 ' दो अवखण्डने ' [धा० ४ । ४२] इत्यस्यावपूर्वस्य ' अवत्तं ' इति ।
 अत्रापि दकार ओकारश्च धातुः परो निष्ठातकारः । अत्र ' आदे च
 उपदेशोऽस्ति ' [पा० ६ । १ । ४९] इत्याकारस्याकारे कृते समा-
 वलोपचत्वेपरगमनप्रादिसमासाः पूर्ववदेव । एवमनयोर्धात्वोरादी एव शिष्येते ।
 यथानयोरेवमन्येषामपि दृष्ट्वा यथासंभवमनुविधेयम् ।

‘ अथाप्यस्तेर्निवृत्तिस्थानेष्वदिहोपो भवति स्तः सन्तीति ’ । अस्
 ‘ भवि ’ [धा० २ । ५५] इत्यस्य निवृत्तिस्थानेषु
 आदिहोपः गुणवृद्धिनिवृत्तिस्थानेषु ‘ किङ्किति ’ [पा० १ । १ । ५]
 इति वर्तमाने ‘ श्रसोरल्लोपः ’ [पा० ६ । ४ । १११]
 इत्यादिहोपो भवति । योऽयं धात्वादावकार एव छुप्यते । तस्मिन् छुप्ते कथं
 प्रयोगः । ततः सन्तीति । एवमन्येषामपि दृष्ट्वाऽनुविधेयं यथासंभवम् ।

‘ अथाप्यन्तलोपो भवति गत्वा गतमिति ’ । अत्र गमेः ‘ क्त्वाप्रत्यये
 निष्ठाप्रत्यये च परतोऽनुनासिकलोपो भवति ‘ अनु-
 अन्तलोपः दात्तोपदेशः ’ [६ । ४ । ३७] इत्यधिकृत्य
 ‘ विङ्किति ’ [पा० १ । १ । ५] इति । एवमन्येष्वपि
 दृष्टव्यमनुविधेयं च यथासंभवम् ।

‘ अथाप्युपधालोपो भवति जग्मतुर्जग्मुरिति ’ । अत्र गमेः अलोपः ।
 ‘ अलोन्त्यात्पूर्वं उपधा ’ [पा० १ । १ । ६५]
 उपधालोपः इत्यकारस्योपधासंज्ञा । तस्य ‘ गमहनजनखन-
 घत्तां लोपः ’ [पा० ६ । ४ । ९८] इत्युप-
 धालोपः । एवमन्येषामपि दृष्टव्यमनुविधेयं च यथासंभवम् ।

‘ अथाप्युपधाविकारो भवति राजा दण्डीति ’ । राजन् दण्डिन्

इति स्थिते 'नोपधायाः' [पा० ६ ।
 उपधाविकारः ४ । ७] 'सर्वनामस्थाने चासंबुद्धौ' [पा०-
 ६ । ४ । ८] इति दीर्घत्वम् । दण्डिन् इत्यत्रापि ।
 'इहन्पूषार्यम्णां शौ' [पा० ६ । ४ । १२] 'शौ च' [पा० ६ ।
 ४ । १३] इति दीर्घत्वम् । 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' [पा० ८
 २ । ७] इत्युभयोरपि नकारलोपे कृते राजा दण्डीति । एवमुपधावि-
 कारो भवति ।

'अथापि वर्णलोपो भवति तत्त्वा यामीति' । अत्र चकारलोपः ।
 याचामीत्येवमेतद्विषयम् । अयं च छान्दस एव ।
 १०. वर्णलोपः अत एव च छान्दसत्वादेवमेव याचामीत्येवमेव
 पठितः 'यामि मन्महे' [निघ० ३ । १९]
 इति । भाषायां हि याचे इति भवति ।

'तस्या यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदा शास्ते यजमानो हविर्भिः' ॥
 अहेल्लमानो वरुणो ह वोऽप्युक्तांस मा न आयुः प्र मोषीः' [ऋ० सं०

१ । २४ । ११] ॥ अनया त्रिष्टुभोपा-
 १५ 'यामि' इत्यस्यो- कृतः शुनःशेषो वरुणं तुष्टव । आज्याहुतिर-
 दाहरणम् नया सामिकेषु क्रतुषु समिष्टयज्ञेषु उत्तरकालं
 हृषते । चातुर्मास्येषु च वरुणप्रवासेषु वारुणस्य
 हविषो याज्येषां [आश्व० श्रौ० २ । १७] । हे वरुण तदहं त्वां

२० वरुणं यामि याच इत्यर्थः । किम् । यन्ममाभिप्रेतम् । कथं पुनर्याचे ।
 ब्रह्मणा ऋग्यजुःसामास्येन वन्दमानः स्तुवन् । किं च । यदेव त्वं
 मया याच्यसे तदेवायमपि यजमानो हविर्भिः संस्तुतेः साम्ना-
 म्पादिभिरागास्ते । तावावां भवन्तमेतमेवायं याचावहे स्तुतिभिर्हवि-
 र्भिश्च । स त्वमहेल्लमानोऽप्युच्यन् । सर्वो हि याच्यमानः कुप्यतीत्यतः

२५ एवमुच्यते । हे वरुण वोधि वुच्यस्व । बुद्धा चैनमावयोरभिप्रेतार्थं कुरु ।
 उररंसित्येकं षट् संबोधनं च । हे उररंस वदस्व वरुण मा नोऽस्माकं
 याचमानानामायुः प्रमोषीः । कुरु नोऽभिप्रेतार्थमिदं विन्यभिप्रायः ।

१ प. झ. ट. इति हि दी०. २ ग. ज. 'कृते' नास्ति. ३ प. झ. ट.
 'त्येमेव दष्ट'. ४ प. झ. ट. 'दायां च दा०'. ५ ग. घ. ज. घ. झ. ट. ठ.
 ६. यामीत्यनया विदुषा. ६ घ. 'च' नास्ति. ७ ठ. ड. 'याच्येषा' इत्य-
 ११ १५. नन्तरं ह्यर्था ऋषयस्तु. ८ ड. ग. घ. च. ज. घ. झ. 'महेल्लमानो'.

‘अथापि द्विवर्णलोपस्तृण इति’ । अत्र ऋवर्णरेफयोर्लोपः ।
द्विवर्णलोपः रेफ एक ऋवर्णोदरं कृमिवदनुप्रविष्टो द्रष्टव्यः ।
स लुप्यते ऋवर्णेन साकम् ।

‘अथाप्यादिविपर्ययो भवति । ज्योतिर्घनो बिन्दुर्वाच्य इति’ । ‘युत दोसौ’ [धा० १ । ७४१] । तस्यादि-
ध्यापस्या ज्योतिः । ‘हन हिंसागत्योः’ [धा०
आदिविपर्ययः २ । २] । तस्य घन इति । ‘भिदिर्वि-
दारणे’ [धा० ७ । २] । तस्य बिन्दुः ।
‘भट भृतौ’ [धा० १ । ३०७] । तस्य वाच्यः ।

‘अथाप्याद्यन्तविपर्ययो भवति स्तोका रज्जुः सिकतास्तकिंति’ । ‘ध्रुतिर-
क्षरणे’ [धा० १ । १४१] । तस्याद्यन्तविपर्ययेण
आद्यन्तविपर्ययः स्तोकाः । ‘सृज विसर्गे’ [धा० ४ । ७२]
६ । १३४] । तस्य रज्जुः । ‘कस विकसने’
सारय सिकताः । ‘कृती छेदने’ [धा० ६ । १५५] । तस्य रज्जुः ।
‘अथाप्यन्तव्यापत्तिर्भवति’ ॥ १ ॥

अथ द्वितीयः पादः ।

ओघो मेघो नाधो गाधो वधूर्मध्वित्पथापि वर्णोपजन
आस्थहारो मरूजेति तद्यत्र स्वरादनन्तरान्तस्थान्तधनु
भवति तद्विप्रकृतीनां स्थानमिति प्रदिशन्ति तत्र सिद्धा-
यामनुपपद्यमानायामितरयोपपिपादयिपेक्षत्राप्येकेऽल्पनि-
ष्पत्तयो भवन्ति तद्यथेतदूतिर्मुदुः पृथुः पृथतः कुणारुमित्य-
थापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः कृतो भाष्यन्ते दमूनाः
क्षेत्रसाधा इत्यथापि नैगमेभ्यो भाषिका उष्णं घृतमित्य-
थापि प्रकृतय एवैकेषु भाष्यन्ते विकृतय एकेषु शवातिर्ग-

१ घ. ट. ऋवर्णोदरं कृमिवदरं कृमिवद°; ट. ऋवर्णोदरं कृमिवत् बदरं
कृमिवद°; क. ऋवर्ण उदरं कृमिवत् बदरं कृमिवद°. २ ग. घ. च. ज. वाच्यः.
३ ग. घ. ज. ‘तस्य’ नास्ति. ४ इत्युतिरक्षणे. ५ क. ख. ग. २; घ. झ. ट.
प. ज. ‘१’ नास्ति; ठ. ड. ॥ १ ॥ इति निरुक्त्यास्यायां द्वितीया(६ येऽ)व्याये
प्रथमः खण्डः. ६ क. ख. छ. त. द. एकेषु ॥ ३ ॥ शव°.

तिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते कम्बोजाः कम्बलंभोजैः कम-
नीयभोजौ वा कम्बलः कमनीयो भवति विकारमस्वार्येषु
भाषन्ते श्व इति दातिर्लवनाथं प्राच्येषु दानमुदीच्येष्वेव-
मेकपदामि निर्ब्रूयादथ तद्धितसमासेष्वेकपर्वसु चानेकप-
र्वसु च पूर्वं पूर्वमपरमपरं प्रविमज्य निर्ब्रूयादण्ड्यः पुरुषो
दण्डेपुरुषो दण्डमर्हतीति वा दण्डेन संपद्यत इति वा दण्डो
ददते धौरयतिकर्मणोऽङ्कुरो ददत मणिमित्यभिभाषन्ते दम-
नादिस्त्रीपमन्यवो दण्डमस्याकर्षतेति गह्वर्याः कक्ष्या
रज्जुरश्वस्य कक्षं सेवते कक्षो गाहतेः कस इति
नामकरणः ख्यातेर्वानर्थकोऽभ्यासः किमस्मिन्ख्यानमिति
कपतेर्वा तत्सामान्यान्मनुष्यकक्षो बाहुमूलसामान्याद-
श्वस्य ॥ २ ॥

- १५ 'ओघो मेघो नाधो गाधो वधूर्मध्विति' । 'वह प्रापणे' [धा० १ ।
१०२९] । तस्यान्तव्यापत्या ओघः । 'मिह संचने'
अन्तव्यापत्तिः [धा० १ । १०१७] । तस्य मेघः । 'गह
वन्धने' [धा० ४ । ६०] । तस्य नाधः ।
'गाहू विखोदने' [धा० १ । ६५०] । तस्य गाधिः । 'वह
प्रापणे' [धा० १ । १०२९] । तस्य वधूः । 'मद तृप्ती' [धा०
१० । १७२] । तस्य गधु ।
'अधापि वर्णोपजन आस्थत् द्वारो भर्तुतेति' । 'अमु क्षेपणे'
[धा० ४ । १०३] । तस्य आस्थत् ।
वर्णोपजनः 'वृद्धे संमर्त्ता' [धा० ९ । ३७] ।
तस्य द्वारः । 'अस्त्र पाके' [धा० ६ । ४] ।

१५ तस्य भर्तुजः ।

एवं ध्यानरणेऽपि लक्षणप्रधाने सत्यर्थवशेन लोपामर्शो विपरिणामश्च
शास्त्रानां दृष्टः किमुन निरुक्ते यदर्थप्रधानमेव । तस्मान्नाभूत्कं 'अथान-
नितेऽर्थेऽप्रार्थनिके विनाशेऽर्थनित्यः परिक्षेत केनचिद्वृत्तिनामान्येनाविद्यमाने

१ छ. भाषन्ते. २ क. ख. छ. त. द. ठ. 'दण्डपुरुषो' नास्ति. ३ क. ख.
छ. त. द. 'दोषाद् ॥ १ ॥ कक्ष्या'. ४ छ. तद्वन्धु. ५ छ. 'निवन्धन'. ६ छ.
ठ. कर्षते. ७ क. ख. छ. त. द. जडो नास्ति. ८ ग. ख. ज. गाधि. ९ ग. ख.
१२ ज. य. ट. वृद्ध. १० ग. भर्तुजः भ. प्रार्थो. १० ट. २. नेस्ते.

सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यानिर्वाद्यादिभक्तैरपि यथार्थं 'सेनमयेत्' इति ।
एवमयमादिमध्यान्तलोप आदिमध्यान्तविकारो वर्णलोपो द्विवर्णलोप आदि-
विपर्यय आद्यन्तविपर्ययो वर्णोपजनश्छन्दसि भाषायां च द्रष्टव्यः । इष्ट्वा
च यथासंभवमनुविधेयः ।

अतः परं संप्रसारणचिन्ता वर्तिष्यते तदर्थमिदमारभ्यते । 'तत्र प्र-
स्वरादनन्तरान्तस्थान्तर्धातु भवति तद्विप्रकृतीनां स्थानमिति प्रदिशन्ति'
संप्रसारणप्रकारेण इति । संप्रसार्यप्रकृतयश्चासंप्रसार्यप्रकृतयश्चोभयप्र-
कृतयश्च धातवः । तत्रैवं सत्युभयप्रकृतिषु स्वशास्त्र-
निर्वचनम् विषयगते यद्वक्तव्यं तदिदमुच्यते इति पश्येत्पुनस्त-
च्छब्दः । आह । इदमेवं तावदुच्यतामुभयप्रकृतीनां किं लक्षणमिति ।

उच्यते । 'यत्र' यस्मिन्धातौ 'स्वरात्' अकारादेः 'अनन्तरा' अनन्तर्हिता-
न्येन व्यञ्जनेन परा वा पूर्वा वा 'अन्तस्था' यस्मात्तानामन्यतमो वर्णः 'अन्त-
र्धातु' धातुमध्ये भवति । किं तत्र । एतदेव लक्षणं
एके धातवो द्वि- धातुरूपं 'द्विप्रकृतीनां' द्विस्वभावाणां शब्दानां
प्रकृतीनां स्थानम् स्थानं आश्रयः 'इति' एवमाचार्याः प्रविभा-
गेनोपदिशन्ति । तद्यथा । 'यज देवपूजासंगति-
करणदानेषु' [धा० १ । १००२] इति । 'अत्र द्वे शब्दप्रकृती
भवतः । संप्रसारणपक्षे तावत् 'इष्टवान् इष्टः इष्टिः इष्ट्वा' एताः शब्दप्रकृ-
तयो भवन्ति । असंप्रसारणपक्षे पुनः 'यद्या यष्टुं यष्टव्यं' इत्येताः ।

'तत्र' एवं सत्येकप्रकारेण 'सिद्धायां' अर्थसिद्धौ 'अनुपपद्यमा-
नायामितरयोपपिपादयिषेत्' उपपादयितुमिच्छे-
द्विप्रकृत्योः प्रयो- दर्धम् । द्वयोः संप्रसारणासंप्रसारणप्रकृत्योर्यथै-
जनम् धोपपद्यतेऽर्थस्तिथेवोपपादयेत् । उभयधाप्यनु-
पपद्यमानेऽर्थे स्वयमुत्पाद्य निर्वाप्य यथा यथो-

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'इति' नास्ति. २ ग. ज. इदमेवमुच्यता. ३ घ. ङ. ट. ठ. ड. 'वर्णोऽन्तर्धातुमध्ये'. ४ क. ख. घ. ङ. 'रूपं हि दिप'; ट. 'रूपं हि दिप'; ठ. ड. 'रूपं तद्दिप'. ५ घ. ट. इष्टवान् इष्टिः इष्ट एता; ६ घ. इष्टवान् इष्ट एता; ङ. ठ. ड. इष्टवान् इष्टिः एता. ७ ट. ठ. तत्र सिद्धायामिति । तत्र एष. ८ ठ. ड. 'यथैवो'. ९ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'अप्योभय'. १० घ. ङ. ट. ठ. ड. 'पद्यमानोऽर्थः तस्य'.

पदयोस्तार्थस्तथा सथोपपादयेदर्थलक्षणशास्त्रविहितेनार्थसाधनोपायेनार्थस्य
प्रधानत्वात् ।

‘ तत्राप्येकेऽल्पनिष्पत्तयो भवन्ति ’ । एतस्मिन्नपि संप्रसारणलक्षणे

सति ‘ एके ’ धातवः ‘ अल्पनिष्पत्तयो भवन्ति ’ ।

अल्पनिष्पत्तयो अल्पेषु शब्दरूपेषु संप्रसारणप्रकृतिरभिनिष्पद्यते ।
धातवः तदप्युपेक्षितव्यम् । ‘ तद्यथैतत् ’ उदाहर-

णजातं ‘ ऊतिः मृदुः पृथुः पृथतः कुणारं ’

इति । अयतेर्गत्यर्थस्य [धा० १ । ६००] किप्रत्यये परे ‘ च्छोः
शूडनुनासिके च ’ [१ । ४ । १९] इति वर्तमाने ‘ ज्वरत्व-

रल्लिख्यविमयामुपधायाश्च [६ । ४ । २०] इत्यूढभावः क्रियते । तत
ऊतिरिति भवति । ‘ म्रद मर्दने ’ [धा० १ । ७६८] । तस्य

मृदुः । रेफः संप्रसार्यमाण ऋकारो भवति । एवमेव ‘ प्रथ प्रथ्याने ’
[धा० १ । ७६६] । तस्य पृथुः । ‘ मुँप जेहने ’ [धा० ९ । ५९१] । तस्य

पृथतः । ‘ कर्णः शब्दार्थः ’ [धा० १ । ५१] । तस्य कुणारम् । एव-
मयमपि संप्रसार्यासंप्रसार्यविशेषः परिज्ञेयः शब्दान्निर्णयार्ता ।

‘ अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः कृतो भाष्यन्ते ’ । अथापि इदं

मपरमुपेक्षितव्यमनेन शब्दान् निर्णयता । आह ।

येदे वर्तमानाः कः किमिति । उच्यते । भाषिकेभ्यो धातुभ्यः । भाषायां

दन्ता भाषायां वर्त- येयां प्रायेण प्रसिद्धप्रयोगेस्ते भाषिकास्तेभ्यः ।

मानेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः छन्दोविषयाः । कृतः कृत्प्रत्ययान्ताः
निर्वक्तव्याः शब्दाः । ‘ भाष्यन्ते ’ विविच्यन्ते निरुच्यन्त इत्यर्थः ।

तद्यथा ‘ दम्नाः क्षेत्रसाधा इति ’ । ‘ दम् उप-

- १ म. ज. ‘ पदयेदलक्ष ’ २ म. ज. ‘ तेनाप्यर्थ ’ ३ क. ख. प. झ.
ठ. ‘ शितव्यम् । तद्यथैतद्वृत्तिर्मुँपुः पृथुः पृथतः कुणारमिति । तद्यथा ’ ; ठ. ड. तद्य-
२५ धेतवृत्तिर्मुँपुति । तद्यथा ’ ४ क. ख. परतः ; ग. ज. घ. ट. पर. ५ क. ख.
मुप दाहे ; ग. परिपन्नेहने ; घ. मुँप पु ; ज. परिपन्नेहने ; घ. ट. पृथ स्नेहने ;
झ. पृथ स्नेहने ; ठ. ड. पृथ. ६ म. ज. कणशब्दास्तस्य ; घ. झ. ट. ठ. च.
कणशब्दास्तस्य. ७ क. ख. प. झ. ट. ‘ तस्य ’ नास्ति. ८ क. ख. घ. झ. ट.
ठ. ड. निर्भुक्ता पुंल. अया. ९ ठ. ड. भाषिकेभ्य इति । अया. १० क. ख.
१० प. झ. ट. ‘ प्रयोगस्ते ’ ; ग. ज. ‘ द्योगस्ते ’ ; ठ. ड. ‘ शयेम सिद्धयोगास्ते ’.

शमे' [धा० ४ । ९७] । तस्य भाषायां दाम्यत्यनङ्गान् दमयत्यनङ्गाहं
दान्तोऽनङ्गानित्येवमादयः प्रयोगा भवन्ति । छन्दसि पुनर्दमूना अग्नि-
रुच्यते । स भाषाशब्दसामान्येन केनचिन्निर्वक्तव्यो-
यथा दमूनाः दममन्त्र इत्येवमादिना । एवमेव साधतेर्भाषाप्रयो-
क्षेत्रसाधाः वृत्तेः ' मित्रं न क्षेत्रसाधसम्' [ऋ० सं० ५
८ । ३१ । १४] इत्येवमादयो मित्रमिव
क्षेत्रसाधैपितारमित्येवमादिना प्रकारेण निर्वक्तव्याः ।

' अथापि नैगमेभ्यो भाषिकाः' । निगमे छन्दसि ये प्रायोवृत्त्या
प्रसिद्धास्तेभ्यः सामान्यं गृहीत्वा भाषिकाः कृत्र-
नैगमेभ्यो भाषि- ह्ययान्ता भाष्यन्ते विव्रियन्ते । तर्था १०
का व्युत्पाद्या यथा घृतमिति' । 'उप दाहे' [धा० १ ।
'उष्णं घृतम्' ६९६] । एष प्रायेण छन्दसि प्रसिद्धः । प्रत्यु-
ष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयः' [य० वा०

सं० १ । ७ तै० सं० १ । १ । २] इत्येवमादि । भाषायां पुनरु-
च्यमिति श्रूयते । स एष नैगमशब्दसामान्येन निर्वक्तव्यः । एवमेव 'घृ- १५
क्षरणदीप्योः' [धा० ३ । १४] । तस्य छन्दसि " आ त्वा
जिघर्षि" [य० वा० सं० ११ । २३] इति प्रसिद्धः प्रयोगः ।

भाषायां पुनर्घृतमिति श्रूयते । स एवं जिघर्षतेरिव छान्दसस्य सामान्येन
निर्वक्तव्यः । एवं भाषाविषयेभ्यश्छन्दोविषया निर्वक्तव्याश्छन्दोविषयेभ्यश्च
भाषाविषयाः । २०

' अथापि' इदमपरमुपेक्षितव्यमनेन शब्दान्निर्वृक्ता । आह ।
केषुचित्प्रदेशेषु किमिति । उच्यते । ' प्रकृतय एवैकेषु भाष्यन्ते
धातुस्य उत्पन्नान्या- विकृतय एकेषु' । एकेषु देशेषु प्रकृतय एव धातु-
स्यातरूपाणि प्रयु- शब्दानां भाष्यन्ते विकृतय एकेषु । धातोरारूपा- २५
ज्यन्ते केषुचिद्भाष्य- तपदभावेन यः प्रयोगः सा प्रकृतिः । नामी-
न्नानि नामानि भूतस्य तस्यैव यः प्रयोगः सा विकृतिः ।

१ क. ख. ग. ज. साध्यते. २ क. ख. ग. ज. 'साधमित्येव'. ३ घ. झ. ट.
'ये' नास्ति. ४ घ. झ. ट. 'तपथा' नास्ति. ५ ठ. ड. 'मादिः'. ६ क. ख.
ज. सिद्धः; ग. घ. प्रसिद्धम्. ७ घ. एव; ठ. ड. एव. ८ क. ख. घ. झ. ट.
ठ. ड. अथापि प्रकृतम्. ९ क. ख. ग. ज. घ. झ. ट. प्रदेशेषु. १० क. ख.
'कृतिः' ॥ ३ ॥ ४'.

सं एष 'शवतिर्गतिर्कर्मा' गत्यर्थो घातुः 'कम्बोजेष्वेव भाष्यते' ।
स्तेच्छेषु प्रकृत्या प्रयुज्यते आख्यातपदभावेन ।

'शवतिः' कम्बोजेषु शवति गच्छतीत्यर्थः । उदाहरणविशेषप्रसक्तः
'शवः' आर्येषु कम्बोजशब्दो निरूप्यते । 'कम्बोजाः कम्बल-
भोजाः' । ते हि प्रायेण कम्बलानुपुभुञ्जते हिम-

प्राप्तत्वात्तस्य देशस्य । 'कमनीयमोजा वा' । कमनीयानि प्रार्थनीयानि
च ते हि द्रव्याण्युपभुञ्जते । प्रचुररत्नो हि स देश इति । कम्बलशब्दं
विग्रहप्रसक्तं निर्गवीति । 'कम्बलः कमनीयो भवति' । प्रार्थनीयो हि
स शीतार्तर्भयति । 'विकारमस्यार्थेषु भाष्यते शव इति' । आर्येषु
जनपदेष्वस्यैव शवतोर्विकारं भाष्यते । मृतयत्नामधेयभूतभेत्तं प्रैयुञ्जते ।
कथम् । शव इति । एवमेकेष्वख्यातस्य एव प्रयुज्यते नामाभूत एके-
ष्वित्येतत्प्रकृतित्वं विकारत्वं च । अथवा चेतनायत्नेकेषु गमनक्रियायो-
गिनि द्रव्ये प्रयुज्यत एकेषु पुनश्चेतनारहित एवेत्येतत्प्रकृतित्वं विकारत्वं च ।

द्वितीयमुदाहरणम् । 'दातिर्लवणार्थं प्राप्येषु' । दातिर्धातुराख्या-

तस्यो लवणार्थं प्राप्येषु जनपदेषु प्रयुज्यते ।
'दातिः' प्राप्येषु तद्यथा । ग्रीहीन्दाति यवान्दाति । अयमेव
'दात्रं' उदीच्येषु नामाभूतः 'उदीच्येषु' प्रयुज्यते 'दात्रं' ।
इति । दीप्यतेऽनेनेति दात्रम् । लूयत इत्यर्थः ।

'एवमेकपदानि निर्गूपात्' । अनेनैकप्रकारेणैकपदानि निर्गूपाद्भाष्य-
निगमव्यवस्थया रूढिव्यवस्थया वा देशभाष्यप्रसिद्धिविभागेन वा ।

आह । एवं तस्य दत्तद्वितयुक्तेषु पदेष्वसमासयुक्तेषु निर्वचनम् । अथ
पुनर्यानि तद्वितयुक्तानि समासयुक्तानि च पदानि तानि कथं निर्वक्तव्यानि ।
किं तद्वितयुक्तेषु पूर्वं पदार्थो निर्वक्तव्य उत तद्वित्यर्थः । समासयुक्तेष्वपि

१ म. क एषः ॥ २ ॥ शव'. २ ट. ट. 'भूते देते मयु'. ३ प. स. मयु-
न्त्यते; ट. मयुन्त्यते' दुर्जने. ४ च. 'एषा' नास्ति. ५ ट. ट. 'भूतः' दात्रमुदीच्ये-
भिर्ति । उदी'. ६ क. रा. प. स. ट. 'प्येषु जनपदेषु मयु'. ७ क. रा. म.
ज. 'एक' नास्ति; ट. ट. अनेने म'. ८ क. रा. म. ज. 'दुष्टेषु च निर्व'.

२७ १ क. रा. प. स. ट. 'दुष्टेषु पदेषु पूर्व'

किं पदार्थः पूर्वमुत समासार्थो वा पूर्वमिति ।
तद्वितसमासपदानि- उच्यते । ' अथ तद्वितसमासेष्वेकपर्वसु चानेक-
पर्वचनप्रकारः पर्वसु च पूर्वं पूर्वमपरमपरं प्रविमज्य निर्त्रयात् ।'
अथशब्दो विशेषाधिकारार्थः । ' तद्विताः '

[पा० ४ । १ । ७६] इत्यधिकृत्य ये प्रत्यया विहितास्ते तद्विताः । ५
' समर्थः पदविधिः ' [पा० २ । १ । १] इत्यधिकृत्य ये विहितास्ते
समासाः । तेषूभयेष्वपि तद्वितसमासेष्वविशेषेण ' एकपर्वसु चानेकपर्वसु
च ' एकपदेष्वनेकपदेषु च । तद्यथा । दण्ड्य इत्येकपदस्तद्वितः ।
वार्ष्णायणिरित्यनेकपदः । अनेकानि ह्येव पदानि स्वात्मन्यन्तर्णयि प्रवर्तते ।
तद्यथा । वृषस्यापत्यं वार्ष्ण्यः । वार्ष्णस्यापत्यं वार्ष्णायणः । तस्यापि वार्ष्ण- १०
यणिरिति । एवं समासेष्वप्येकपदेषु चानेकपदेषु चैवं निर्त्रयाद्याः वक्ष्यार्मः ।
एकशेषः एकपदः समासः । ' सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ ' [पा०
१ । २ । ६४] इति । तद्यथा । पुरुषश्च पुरुषश्च पुरुषौ पुरुषश्च पुरुषश्च
पुरुषश्च पुरुषा इत्येवम् ।

' द्विगुर्द्वन्द्वोऽन्ययीभावः कर्मधारय एव च । १५
पञ्चमस्तु बहुव्रीहिः पष्ठस्तत्पुरुषः स्मृतः ' [बृह० २ । १०७] ॥

एतेऽनेकपदाः समासाः । तत्र ' संख्यापूर्वो द्विगुः ' [पा० २ । १ ।
५२] पञ्चपूली पञ्चरथी दशरथीत्येवमादि । ' चार्थे द्वन्द्वः ' [पा०
२ । २ । २९] । स च पुनर्विभाषयैकवद्भवति । तद्यथा । शूक्ष्म्यम्रौघौ
अहिनकुलं भीमार्जुनवामुदेवा इत्यादि । उपसर्गनिपातपूर्वकोऽन्ययीभावः । २०
तद्यथा । उपमणिकं अनुसमुद्रं व्यधमित्येवमादि । तुल्यविभक्तिलिङ्गयोरुभयोः
पदयोः समानाधिकरणः कर्मधारयः । तद्यथा । कृष्णमृगो रक्ताश्वः श्वेतप-
ताकेत्येवमादि । एतेष्वेकपर्वसु चानेकपर्वसु च तद्वितसमासेषु पूर्वं पूर्वमेव
निर्त्रयादपरमपरमेव प्रविमज्य विगृह्येत्यर्थः । पूर्वं तद्वितार्थं निर्त्रया-
त्पश्चात्पदार्थम् । समासेष्वपि पूर्वं समासार्थं पश्चात्पदार्थम् । २५

तदेतदुदाहरणैरेव दर्शयति । तद्यथा । ' दण्ट्यः पुरैयः ' इति ।

दण्ड इत्येव तद्धितः पुरुषान्दविशेषणम् । पूर्वं
तद्धितनिर्वचनस्यो- तावत्तद्धितार्थं निर्वक्ष्यति ततः पदार्थं निर्वक्ष्यति ।
दाहरणम् । कस्मिंश्चिदपराधे दण्डमर्हतीति दण्ड्यः । दण्डेन

वा कार्पापणादिना यः संपद्यते संयुज्यते स
५ दण्ड्यः । अधुना पदार्थनिर्वचनम् । ' दण्डो ददते ' धारयत्यर्थे वर्त-
मानस्य । धार्यते होषोऽपराधेषु राजभिः । आह । दृष्टः पुनः कश्चित्प-
योगो ददतेर्धारयत्यर्थ इति । उच्यते । दृष्टो वेदे लोके च । वेदे
तावत् । विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्त [ऋ० सं० ७ । ३३ । ११]

इति । तथा लोके ' अक्रूरो ददते मैत्रिम् ' ।

१० ददतिर्धारणार्थः अक्रूरो नाम राजा वृष्ण्यन्धकाधिपतिः । स
ददते मैत्रिं स्वमन्तकनामानं शिरसा । लोकेऽप्येवं
धारणार्थं ददतिर्भाष्यते । ' दमनात् ' दण्डः ' इत्यौपमन्यवः ' आचार्यो
मन्यते । तेन दान्तो दम्यते राजभिः । ' तेनादान्तान्दमयेत् ' इत्युक्तम्
[गौत० धर्म० ११ । २८] । लोके हि प्रसिद्धम् । यः कश्चिददान्तो
१५ भवति तमधिकृत्य वृत्तारो भवन्ति ' दण्डमस्याकर्षत हे सभासदः । तेन
संपद्यतामयं ततो दान्तो भविष्यति ' इति । एवमयं गृह्यायां दृष्टः । एवं च
दमनादण्ड इत्यौपमन्यव आचार्यो मन्यते ।

तद्धितस्यैव द्वितीयमुदाहरणं ' कक्ष्या रज्जुराशस्य ' इति । कक्ष्या
इत्येव तद्धितः । आह । का पुनरियं कक्ष्येति । उच्यते । याशस्य संना-

२० हरज्जुः सा कक्ष्येत्युच्यते । एवं कक्ष्याशस्य
तद्धितस्य द्वितीयो- तत्त्वमुक्त्वाधुना तद्धितार्थं ब्रवीति । ' कक्षं
दाहरणम् सेवते ' । सौ हि कक्षं सेवते । कक्षसंयुक्ता भवति ।
कक्षे भवा धौ कक्ष्या । अधुना पदार्थं निर्वक्ति ।

१ क. ख. घ. ङ. ट. ड. दण्डो ददतेर्धारयति कर्षणः । ददतेः २ च. ददाते-
२५ धा०. ३ ठ. ड. मणिमित्यभिभाषन्ते । अक्रूरो. ४ क. ख. घ. ङ. ट. ड. ददति-
धारणार्थे भा०; च. धारणार्थे ददातिर्भा०; ठ. ददातिर्धारणार्थे भा०. ५ घ. ङ.
ट. ठ. दमनादित्यौपमन्यवः । दमनादण्ड. ६ म. ज. ' सिद्धं दान्तो यः. ७
क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. दण्डमस्याकर्षतेति गृह्यायाम् । दण्डमस्या. ८ घ. ङ. ट.
ठ. ड. इत्येव. ९ क. ख. ' न्यतोऽष्टाद्वि. १० म. ' रज्जम्. ११ कक्ष्या. १२ घ.
ङ. ट. ठ. ड. ' इति ' नास्ति. १२ म. ज. ' सा हि कक्षं सेवते ' नास्ति. १३ च.
२१ ' सा ' नास्ति.

‘कक्षो गाहतेः’ विलोडनार्थस्य [धा० १ । ६६९] । कक्षयोरेव हि
चलेन-विलोडयति स्त्री दद्यादि । अत्र पुनः ‘कस इति नामकरणः’ ।
सर्वमन्यदायन्तविपर्ययादि यथोपप्रदर्शितं यथासंभवं योज्यं तत्र तत्र ।
‘ख्यातेर्नानर्थकोऽभ्यासः’ ककारः । कैश्यः सन्कक्ष इत्युच्यते । अर्थ-
चानेव वा ककारः । कथम् । ‘किमस्मिन्स्यानमिति’ एवम् । किम-
स्मिन्स्यापनीयमस्ति । न किंचिदप्यदर्शनीयत्वात् । गूहनीयोऽयमित्यर्थः । स-
एष एव कृत्वा-कैश्यः सन्कक्ष इत्युच्यते । ‘कपतेर्वा’ [धा० १ ।
६८६] । नित्यकालं हासौ स्वेदशीलत्वात्कण्डूं ददाति ततो नखैः
कर्ष्यते यतस्तस्मात्कर्षणक्रियायोगात्कक्षः । तत्सामान्यान्मनुष्यकक्षः ।
स्त्रीकक्षस्य सामान्यान्मनुष्यकक्षोऽपि कक्ष इत्युच्यते । ‘बाहुमूलसामान्या-
दन्धस्य’ अपि यो बाहुमूलप्रदेशः स कक्ष इत्युच्यते । तं सेवत इति कस्यां ।

अन्ये तु भुवते । ‘पूर्वं पूर्वमपरमपरं प्रविभज्य निर्वृयात्’ । पूर्वं
पदं पूर्वमेव प्रविभज्य निर्वृयादपरं पदमपरमेवेति ।
पूर्वं पूर्वमित्यादेर- एतस्मिन्नेवार्थे कल्प्यमाने पदानामेव पौर्वापर्यं
परो ध्याख्यामार्गः निर्वचने । तद्वितसमासयोस्त्वनियमः पूर्वं वा
पश्चाद्वेति । पूर्वं एव त्वर्थः साधीयान् ।

उक्तं तद्वितनिर्वचनलक्षणं सोदाहरणम् । अधुना समासोदाहरणमु-
च्यते ॥ २ ॥

अथ द्वितीयः पादः ।

१०

राज्ञः पुरुषो राजपुरुषो राजा राजतेः पुरुषः पुरिषावः
पुरिषायः पूरयतेर्वा पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य ।

१ ग. ज. ‘तत्र’ कङ्कदेव. २ घ. झ. ठ. ड. ‘भ्यासः’ । ख्यातेरनर्थोऽ-
(ठ. ड. र्थकोऽ) म्यासः ककारः. ३ घ. ट. वश्यः. ठ. ड. ख्यः. ४ घ. झ. ट. २५
ठ. ड. ‘इति’ एवं किम्. ५ ठ. ड. कृष्यते. ६ ठ. ड. ‘त्कर्षण’ ७ क. ख. घ.
झ. ठ. ड. ‘कक्ष इत्युच्यते । तत्सा’ ८ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘मान्या-
दन्धस्य । अन्धस्यापि’ ९ क. ख. घ. झ. ठ. ड. ‘एव’ नास्ति; ठ. स्थित्यर्थे
नेवा. १० घ. ‘निर्वचनं सोदा’ ११ क. ख. म. घ. ज. घ. झ. ट. अत्रो
नास्ति; ठ. ड. ॥ २ ॥ इति निरुक्तटीकायां द्वितीयाध्याये द्वितीयः खण्डः ॥
अधुना समासोदाहरणमुच्यते । पञ्चः ११

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति
 किञ्चित् । वृक्ष इव स्तब्धो विवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरु-
 षेण सर्वमित्यपि निगमो भवति । विश्वकद्राकर्षो-वीति-
 चकद्र इति श्वगतौ भाष्यते द्रातीति गतिकुत्सना कद्रा-
 तीति द्रातिकुत्सना चकद्राति कद्रातीति सतोऽनर्थकोऽ-
 भ्यासस्तदस्मिन्नस्तीति विश्वकद्रः कल्याणवर्णरूपः कल्या-
 णवर्णरूपेणास्य रूपं कल्याणं कमनीयं भवति वर्णो वृणोते
 रूपं रोचतेरेवं तद्धितसमासान्निर्ब्रूयान्नैकपदानि निर्ब्रूया-
 न्नावैपाकरणाय नानुपसन्नायानिदंभिदे वा नित्यं ह्यवि-
 ज्ञातुर्विज्ञानेऽसूयोपसन्नाय तु निर्ब्रूयाद्यो बालं विज्ञातुं
 स्यान्मेधाविने तपस्विने वा ॥ ३ ॥

‘ राज्ञः पुरुषो राजपुरुषः ’ । राज इत्युक्ते सर्वं स्वं गम्यते पट्टीसाम-

र्थ्यात् । तथा पुरुष इत्युक्ते सर्वः स्वामी गम्यते

१५ समासनिर्वचन-
 स्योदाहरणम्

निर्देशसामर्थ्यात् । अथेदानीं राजपुरुष इत्युक्ते

राजा पुरुषमन्येभ्यः स्वामिभ्यो विनिवर्त्य स्वात्मनि

संयुनक्ति । पुरुषोऽपि राजानमन्येभ्यः स्वैभ्यो

निर्वर्त्य स्वात्मना संयुनक्ति । ता उभायप्यन्योन्यविमिश्रपदार्थकौ मियः-

संस्पृष्टपदार्थौ समस्येते । अथेदानीं राजपुरुष आनीयतामियुक्ते न राजा-

२० नमानयन्ति नापि पुरुषमात्रं नाप्युभयम् । किं तर्हि । राजस्वामिकं पुरुषमान-
 यन्ति । एवं समासार्थः । कुतः पुनरेतद्राजस्वामिकमिति । प्रधानोपसर्जने
 हि सहभूते विवक्षितमेकमर्थं ब्रूतः ।

१ ड. कश्चित्. २ क. स. उ. त. द. °वति ॥ ५ ॥ वि°. ३ क. स.
 उ. विश्वक°. ४ क. स. उ. त. द. ६. ५ घ. स. सर्वसं. ६ घ. स. ट. ठ.
 ड. स्वामिभ्यः. ७ क. स. स. ट. ड. विनिवर्त्य; घ. ट. निर्वर्त्य. ८ स. ठ. ड.
 स्वात्मनि. ९ घ. स. °कि । पुरुषोऽपि राजान्येभ्यः स्वामिभ्यो विनिवर्त्य स्वात्मना
 २० संयुनक्ति । ता°. १० क. स. ज. संस्पृष्टः; ग. संभृष्टः; घ. ट. संस्पृष्टः.

राजपुरुषशब्दावधुना विग्रहप्रसक्तावाह । ' राजा राजतेः ' दीप्यर्थस्य
[धा० १ । ८४७] । दीप्यते ह्यसौ पञ्चानां लोकपालानां वपुषा ।
' पुरुषः पुरिषादः ' । २. शरीरं बुद्धिर्वा । तयोरसौ विषयोपलब्ध्यर्थं सीद-
तीति पुरिषादः पुरुषः । ' पुरिषयः ' । अथवा तयोरसौ शेते विशेषे-
णास्त इति पुरिषयः सन्पुरुष इत्युच्यते । ' पूरयतेर्वा ' । पूर्णमनेन पुरुषेण
सर्वगतावाज्यमदिति पुरुषः । ' पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य ' । अन्त-
रित्यन्तरपुरुषाभिप्रायेणैवमुच्यते प्राप्तिकम् ।

पूरयतेः पूरय इ. निगमश्च भवति । यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चि-
त्सर्व उपनिषच्छ्लोकः यस्मान्नाणीषो न आर्योऽस्ति किञ्चित् । वृक्ष
इव स्तम्भो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनैवं पूर्णं पुरुषेण

सर्वम् [श्वेता० उप० ३ । ९ ॥ महाना० उप० १० । ४] ॥ यस्मा-
त्परमपरं वा न किञ्चिदप्यस्ति यस्माच्च न किञ्चिदप्यणीषो नापि आर्योऽन्य-
दस्ति स एव सर्वमित्यभिप्रायः । वृक्ष इव स्तम्भो निरयमसंकोचविकाम-
धर्मा दिवि द्योतनयति स्वात्मनि सर्वदिग्भावेन तिष्ठति यस्तेन पुरुषेणेदं
पूर्णं सर्वं जगदिति ।

समासस्यैव द्वितीयमुदाहरणं ' विश्वकदाकर्षः ' इति । विश्वकदमाक-
र्षतीति विश्वकदाकर्षः । आह । कः पुनर्य
समासस्य द्विती- विश्वकद 'इति । वीति' चकद इति चन्द्रद्वयं
यमुदाहरणम् भगवतौ माप्यते । श्वभिः साकं यो
गच्छति मनुष्यस्तस्मिन्माप्यते । अत्र पुनर्वातीति
गतिरुक्तम् । ' दा कुक्षपां गती ' [धा० २ । ७४] इत्युक्तम् । इदं हि
तस्य कुक्षितगतिव्यं यदैस्य श्वभिः सह गर्भेनम् । इदानीं कदातीति प्राप्ति-

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. राजतेः । राजोर्द्धी° । २ ग. ज. ' इति ' नास्ति. ३ ग. ज. पुरिषाद इति पुरषः; घ. ' पुरिषादः ' नास्ति. ४ घ. ङ. ' पुरिषयः ' नास्ति. ५ च. ' पूर.....येत्य ' नास्ति. ६ ठ. ड. दधित्. ७ क. ख. घ. ङ. सर्वदिग्भावेन; घ. सर्वदिग्भावेन° वि; ट. सर्वदिग्भावेन° दिग्भावे. ८ क. ख. ' दिवि ॥ ५ ॥ ह्यम् ' । ९ ग. ' गम् ॥ ५ ॥ वि° । १० क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. इति । वीति चकद इति श्वपती भाष्ये । वीति° । ११ घ. ङ. ट. वीतीति. १२ क. ख. घ. ङ. ट. ड. भाष्येन । प्रातीति मनिङ्कुप्ता । मन्° । १३ ठ. ड. यदृषे श्वभिः सह गच्छति । कदातीति द्रामेङ्कुप्ता । इति° । १४ घ. ङ. ट. यतिः । कदातीति प्राप्तिङ्कुप्ता । इति° ।

कुत्सना । कुत्सितकुत्सनेत्यर्थः । इदमेव तावत्तस्य कुत्सितत्वे यदसौ अभिः सह गच्छति । इदमपरं कुत्सितैतरं यद्गत्वा श्वभिः सत्त्वानि हन्ति । तस्मात्कद्रातीति कुत्सितकुत्सनेत्युपपद्यते । अथेदानीं च इत्येव कद्रातीत्येवमेव सतः शब्दस्वरूपस्यानर्थकं एवाभ्यासः । यदेवोक्तं भवति कद्रातीति तदेव चकद्रातीति । तदस्मिन्द्वितयमप्यस्ति कुगतित्वं कुत्सिततरगतित्वं च नानाप्रकारमिति विश्वकद्रः श्वजीवनः पुरुषः । तमपराधे कस्मिंश्चिद्वर्तमानमन्यो य आकर्षति स विश्वकद्राकर्षः । अन्ये तु म्रुवते । श्वैव विश्वकद्रः । तस्यैव हि स्वभावत एव हिंस्रत्वाद्गतिः कुत्सिता । स च पुनः पादविकलोऽस्तस्य कुत्सितकुत्सितत्वम् । वीत्युभयोरर्थयोर्मत्वर्थः । तमाकर्षति यः पुरुषः स विश्वकद्राकर्षः ।

अधुना रूपसमासं दर्शयति । 'कल्याणवर्णरूपः' । कल्याणवर्णरूपसमासस्योदाहरणम् सुवर्णं तस्यैव यस्य रूपं स कल्याणवर्णरूपः । अग्निरन्यो वा कथित् ।

कल्याणादिशब्दान्विग्रहप्रसक्तान्निर्ब्रवीति । 'कल्याणं कमनीयं भवति' । प्रार्थ्यते हि तत्सर्वेणैव । 'वर्णो वृणोतेः' । आवृणोति हि स आश्रयम् । 'रूपं रोचतेः' । तद्वि रोचिष्यु भवति । 'एवं तद्वितसमासा-निर्ब्रूयात्' इत्युपसंहारघचनम् ।

'नैकपदानि निर्ब्रूयात्' । प्रकरणोपपदरहितानि सन्ति केवलान्येव परेणाभिदोहबुद्ध्या पृच्छ्यमानानि न निर्ब्रूयान्ति । निर्वचनं कथं क- निर्वक्तव्यानीति । किं कारणम् । तेषां सर्वेषां कथं न प्रकरणादुपपदार्थः शक्यतेऽवधारयितुम् । सोऽसौ प्रकरणानभिज्ञोऽन्यथैव निर्ब्रूयात्ततश्च प्रत्यवायेन योगादपहास्यं स्यात् । तथा । 'जहा' इत्येतदेकं पदं प्रकरणोपपदरहितं न विज्ञायते किं 'हन्तेः' उत 'ओहा-क्यागे' [धा० ३ । ८] इत्यस्य धातोः स्यादिति । तत्पुनरेतत् 'मा न एकस्मिन्नागसि मा द्वयोरुत्त त्रिषु । वर्धामा शूर भूरिषु' [ऋ० सं०]

१ घ. ट. कुत्सितकुत्सितत्वं; ठ. ड. कुत्सितकुत्सितत्वं. २ घ. झ. ट. कुत्सिततरत्वं. ३ घ. झ. ट. श्वभिः मद् सत्त्वानि. ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'पथने' चकद्रगति कद्रातीति सतोऽनर्थकोऽभ्यासः । अथे. ५ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'तीति' । तदस्मिन्द्वितीयेति निबन्धनः । तद्. ६ ग. घ. ज. 'अतः' नास्ति. ७ क. ख. ग. ज. 'हारश्च. ८ ग. घ. ज. घ. झ. ट. ड. एषस्मिन्नित्येतस्यां.

८ । ४५ । ३४] इत्येतस्यां पूर्वस्यामृचि यदेतद् 'मा वधीः' इति पद-
मेतस्माद्गम्यते हन्तेः स्यादिति । किं कारणम् । विज्ञातप्रकरणोपपदस्य हि
समञ्जसं ह्युपाकरणं न्याय्यमित्येवमनवगतसंस्काराणामेकपदानां प्रकरणाद-
र्थाविधारणमुपपदाद्वा शक्यते कर्तुम् । अत इदमुक्तं 'नैकपदानि निर्ब्रू-
यात्' इति ।

'नावैयाकरणाय' इति । उक्तं निर्बचनलक्षणम् । अधुना यस्मै निर्वक्त-
व्योऽयमुक्तनिर्वचनलक्षणः समाम्नायस्तस्य लक्षणं
कस्मै न कर्तव्यम् । वक्तव्यमिति तदर्थमिदमास्थ्यते 'नावैयाकर-
णायैवाकरणाय' । यस्तावदवैयाकरणस्तस्मै न निर्वक्त-

व्योऽयं समाम्नायः । न ह्यसावलक्षणज्ञत्वा-
च्छ्रुत्या, निरूप्यमानमेतद्वृष्येत ततो व्यर्थ एव ध्रमः स्यादिति । किंच ।
'नानुपसन्नाय' । किमपि महदद्भुतमनेन कृतं यद्व्याकरणमधीतमिष्येता-

वता गौरवेण वैयाकरणायापि न निर्ब्रूयात् ।
अनुपसन्नाय धर्मो हि सर्वथैवापरित्याज्यस्तस्माद्वैयाकरणा-
यापि सम्यगुपसन्नाय परां शिष्यवृत्तिमास्थिता-
यैव निर्ब्रूयात् । नैवमेव । किंच । 'अनिदंविदे वा' । वैयाकरणोऽपि-

जडः कश्चिदसमर्थ एव वेदितुं स्यात् । बहु-
अनिदंविदे वेदितव्यमत्रास्ति देवतादि किंचित् । तस्माद्वै-
याकरणायापीदं वेदितुमसमर्थायानिदंविदे नैव

निर्ब्रूयात् । अथवा । इदमित्यात्मपर्यायवाचि । इदंविद आत्मविदे योगिने ।
स ह्यात्मज्ञानविधूतकल्मसोऽल्पेनैव रत्नेन बोद्धुं सूक्ष्मानर्थान्नाक्त इतीदं-
विदे निर्ब्रूयात् । अथवा । यत्किञ्चिच्छास्त्रमिदमिति निर्दिश्यते । येन
ह्यन्यत्किञ्चिदश्रुतपूर्वं शास्त्रं तस्मै न निर्ब्रूयादित्ति निरुक्तमाश्रमनास्मादिति-
कुड्मलाय नाक्षालितद्वयकुड्मलाय ।

१ क. ख. घ. ट. ठ. ड. किमतिषह°. २ ग. ज. 'नैवनेव' नास्ति. ३ ग. २५
ज 'वैयाक... किंचित्' इदं वाक्यं 'तस्मात्... निर्ब्रूयात्' इत्यस्य पञ्चा-
दनी. ४ घ. ट. एवं. ५ क. ख. ट. तस्मै वै. ६ घ. ट. ठ. ड. 'यत्नेन'
नास्ति. ७ क. ख. घ. ट. ठ. 'भुनं पूर्वशास्त्रं; ड. 'भुनं पूर्व शास्त्रं. ८ क. ख.
घ. ट. ड. [स. पञ्च गतिर्ब]. अनास्काहितद्वयकुड्मलं; ग. ज. अनास्का-
तद्वय. ९ घ. ट. ठ. अनास्काहितं.

किं कारणम् । ' नित्यं ह्यविज्ञातुर्विज्ञानेऽसूया ' । यो हि न विजानाति नाबबुध्यते तस्याविज्ञातुर्नित्यकालमेव विज्ञानेऽसूया । स ह्यनवबुध्यमान आत्मीयदोषमाचार्य एवासजैति स्वयमेव तावदयं नाबबुध्यते किमस्मान् बोधयिष्यतीति । एतस्मात्कारणादश्रुतपूर्वान्यशास्त्रार्थोखिन्नमनसे नेदं निर्मूयात् ।

‘ उपसन्नाय तु निर्मूयाद्यो बालं विज्ञातुं स्यान्मेधाविने तपस्विने वा ’ ।

य एव तु मेधावी स्यादन्यजन्मान्तरानुभावितया

उपसन्नाय निर्वचनं प्रज्ञया युक्तो यो वा तपस्वी कामं ताभ्यामवैया-
१० कर्तव्यम् । मेधाविने करणाभ्यामपि निर्मूयादेव । न हि तयोरसाप्यं तपस्विने च किंचिदस्ति । तपसा हि स्वयमपि वेदार्थः

प्रादुर्भवेदेव यथा मन्त्राः प्रादुरभूवन् पूर्वेषा-

मृषीणाम् । मेधान्प्रपि च स्वयमप्युत्प्रेक्षितुं शक्नुयात्किमुतोऽप्यमानमवबो-
१५ स्थिरबुद्धिस्तस्मै निर्मूयादेव सर्वथा र्येतामने विदितवेदाङ्गाय वेदार्थं ब्राह्मणाय । अनुपसन्नायेव न निर्मूयाद्यपि तपस्वी मेधावी दृढग्राही वा ।

उक्तं हि । ‘ यथान्यायेन निर्मूयाद्यध्यान्यायेन पृच्छते । तयोरन्यतरो मृत्युं विद्वेषं चाधिर्गच्छति ’ ॥ अथाप्येतमर्थमधिकृत्योदाहरन्ति ॥ ३ ॥

१० ॥ विद्या ह वै ब्राह्मणमांजगाम गोपांय मा शोबधिष्टेऽ-
हमस्मि । असूयकायानृजवेऽपताय न मां ब्रूया धीर्विवती
तथा स्याम् । य आनुणस्यवित्तयेन कर्णापदुःखं कुर्वन्न-
मृतं तं प्रयच्छन् । तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न हृदो-
क्तमवचनाह । अध्यापिता ये गुरुं नाद्रिपन्ते विप्रा
१५ याच्चा मनसा कर्मणा वा । यथैव ते न गुरोर्मोजनीयास्त-
थैव तान्न भुनक्ति भुतं तत् । यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं

१ क. र. घ. ट. ठ. ड. आत्मीयं दोषं. २ ट. ठ. 'तज्जनि. ३ घ. 'शास्त्राय । लिपि'; ट. ठ. ड. 'शास्त्राय लिपि'. ४ ग. ज. यथात्मनं विदितवे-
दाद्वेदार्थब्राह्मणं. ५ घ. विद्. ६ क. ख. 'मच्छति ॥ ६ ह अया'. ७ घ.
१० ट. ठ. ड. घ. ज. ऊहो नास्ति ; ग. ह. ट. ठ. 'दिश्येन.

मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् । यस्ते न द्रुह्येत्कृतमञ्चनाह
तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्निति निधिः शेषधिरिति ॥४॥

इति द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगामेति । विद्या किल कामरूपिणी भूत्वा
विद्याधिदेवता या संयतात्मानं त्रिदितवेदाङ्गवेदार्थं ब्राह्मणं प्रति कञ्चिदाज-

गाम । तमेव प्रह्वीभूतोवाच । किमिति ।
अनृजवेऽसूयका- गोपाय मा रक्ष माम् । ततस्तेऽहं गुप्ता सती
यायताय विद्या न शेषधिर्भविष्यामि सुखनिधानमित्यर्थः । आह
देवेत्यर्थे गाथाः कुतैः पुनस्त्वां रक्षामि । असूयकायानृजवेऽ-

यताय । असूयकः परापवादशीलः । अनृजुः यस्य मनोवाग्देहेष्वसमाः
प्रवृत्तयः । अयतो विप्रकीर्णोन्द्रियः । यस्किञ्चनकार्यशुचिः । एवंलक्षणाय
न मां ब्रूयास्त्वम् । किं तथा भविष्यति । वीर्यवती तथाहं तव स्यां भवे-
यमित्यर्थः ।

य आतृणत्पथितथेन । अधुना शिष्योपदेशमाह । य आतृणत्ति आभिः

नत्ति अपिहिताविव सन्तौ कर्णौ विवृणोति अथित-

यो विद्यां ददाति धेन सत्येन ब्रह्मणा । कथं पुनरातृणत्ति । अदुः-

स मातापितृसदृशः खं कुर्वन् । यो हि किञ्चिदातृणत्ति स दुःख-

यति । अयं पुनः सुखमातृणत्ति । किञ्च ।

अमृतत्वप्राप्तिहेतुज्ञानं संप्रयच्छन् । य आतृणत्ति तस्मै किमिति । उच्यते ।

तं मन्येतै पितरं मातरं च । नेतरौ मातापितरावित्यभिप्रायः । उक्तं

च । ' सत्यादकब्रह्मदाग्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता । प्रेत्य चेह च विप्रस्य

ब्रह्मजन्म हि शाश्वतम् ' [म० सं० २ । १४६] ॥ तस्मै मातापि-

तृमृताय गुरवे न द्रुह्येत्कृतमञ्चनाह कदाचिदपि । आपयपि कष्टायामि-

त्यभिप्रायः ।

१ क. ख. छ. त. द. ७. २ ड. घ. ष. ठ. ड. 'इति.....पादः' नास्ति. २५

३ ठ. ड. कथं. ४ ठ. ड. रक्षामि । उच्यते । असू. ५ म. ज. ब्रूयात् तवम्;

६ म. त्वां रिः अ किं; ७. ब्रूयात् रिः अ किं. ८ ठ. ड. हेतु. ७ म. ज.

मन्ये. ८ क. रा. ष. ट. ठ. ड. ब्रह्मजन्म रिः विप्रस्य देव्यं येह च शाश्वतम्. २८

अधुनेतरान् दुष्टशिष्यान् विद्याभिशपन्त्याह । अध्यापिताः सन्तो
ये गुहं प्रति नाद्रियन्ते नादरं कुर्वन्ति । के पुनस्त इति ।
उच्यते । विप्रा मेधाविनः सन्तो गृहीतविद्याः ।

ये गुरुं नाद्रियन्ते कथं पुनर्नाद्रियन्ते । वाचा मनसा कर्मणा
ते श्रुतफले नानुवन्ति वा । आह । किं तेपामिति । उच्यते । यथैव ते
तस्य मुरोर्न भोजनीया न भोज्याः न भोजना-
र्हास्तथैव तांस्तच्छ्रुतमपि न मुनक्ति न पाठयति । श्रुतफलेन न
संयुनक्तीत्यर्थः ।

अधुना यस्मै वक्तव्या तस्य लक्षणं ब्रवीति । यमेव विद्यां जानी-
यास्त्वं शुचिमग्रमत्तं यमनियमेषु मेधाविनं च
विद्या कस्मै देया ब्रह्मचर्येणोपपन्नम् । किञ्च । यस्ते न हृत्वेन
द्रोहमुपगच्छेत्कृतमचनाह कदाचिदपि सर्वास्वप्या-
पसु गोपायमानः तस्मै मा ब्रूयास्व निधिपाय गोप्त्रे ब्रह्मन् ।

१५ आह । निधिः क इति । उच्यते । शेषधिरिति । शेषे इति मुख-
नाम । मुखनिधानमित्यर्थः । मैत्रकोशो हि निधिः सुखानां कृष्णस्य
जगतो यज्ञद्वारेण । अत इदमुक्तं निधिः शेषधिरिति ॥ ४ ॥

इति निरुक्तदृष्टौ सप्तमैस्याध्यायस्य प्रथमः पौदः ॥

अथातोऽनुकमिष्यामो गौरिति पृथिव्या नामधेयं यद्द्वं
१० गता भवति यस्यास्यां भूतानि गच्छन्ति गातेर्धाकारो नाम-

१ क. ख. घ. ट. ठ. ड. अभिज्ञापन्ती विद्या इदमाह. २ क. ख. घ. ट. ठ. ड. अभ्यापिना ये वृक्षं नादियन्त इत्यादि । अध्या". ३ घ. ट. ' के पुनरिति ' नास्ति; ठ. ड. आह । कतमे इति. ४ ग. ज. ' तस्य ' नास्ति. ५ घ. ट. ' न भोग्याः ' नास्ति; ख. ' न ' नास्ति. ६ ठ. ड. ' कुतं फले '. ७ घ. ट. १५ ठ. ड. विद्याः सुखिमन्मलमिति (ठ. ड. ' इति ' नास्ति) एषेव विद्या जानीया". ८ ग. ज. ' तेवहि ". ९ ग. ज. ' तेव ". १० ख. सुपनाम. ११ क. ख. घ. ट. ठ. ड. ब्रह्मलोक. १२ क. ग. घ. घ. ट. ख. ज. अद्वो नास्ति; ठ. ड. ' इति । इति निरुक्त ". १३ ग. ज. ' नमाध्यायस्य; घ. ' द्वितीयमाध्याय "; ट. ' द्वितीयमाध्याय " कतम; ठ. ड. ' निरुक्तविद्यानि निर्निषाध्यायस्य वस्तुषः सप्तः । इति द्वितीयमाध्यायस्य सप्तमः पादः १४ घ. ट. पादः समाप्तः.

करणोऽथापि पशुनामेह भवत्येतस्मादेवाथाप्यस्यां तादृ-
 तेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति गोभिः श्रीणीत मत्सर-
 मिति पयसो मत्सरः सोमो मन्दतेस्तृप्तिकर्मणो मत्सर
 इति लोमनामाभिमत एनेन धनं भवति पयः पिबतेर्वा
 प्यायतेर्वा क्षीरं क्षरतेर्वसेर्वरो नामकरण उशीरमिति यथांशुं ५
 दुहन्तो अध्यासते गवीत्यधिपवणचर्मणोऽशुः शमष्टमात्रो
 भवत्यननाय शं भवतीति वा चर्म चरतेर्वोचृत्तं भवतीति
 वाथापि चर्म च श्लेष्मा च गोभिः संनद्धो असि
 वीळ्यस्वेति रथस्तुतावथापि स्नाव च श्लेष्मा च गोभिः
 संनद्धा पतति प्रसूतेतीपुस्तुतौ ज्यापि गौरुच्यते गव्या १०
 चेत्तादृशमथ चेन्न गव्या गमयतीपूनिति ॥ ५ ॥

‘अथातोऽनुक्रमिष्यामः’ । ‘समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्या-
 तव्यः’ इति प्रतिज्ञातम् । सा च पुनरियं व्याख्या सामान्या वैरो-
 पिकी च । तत्र सामान्या सर्वनाम्नामिदं सामान्यलक्षणमिदमाख्याता-
 नामिदमुपसर्गाणामिदं निपातानामिति । सोऽयमनयैवंप्रकारया व्याख्याया १५
 कृत्स्नः समाम्नायो व्याख्यातः । तदनुपक्तान्येव च शास्त्रारम्भप्रयोजना-
 न्युक्तानि । आगमश्च परितोषितः । वेदवेदाङ्गव्यूहश्च सप्रयोजन उक्तः ।
 निघण्टुसमाम्नायविरचना चोपदिष्टा प्रकरणत्रयैविभागेन । निर्वचनलक्षणं
 चानेकप्रपञ्चमुक्तम् ।

अथेदानीं विशेषव्याख्याया प्रतिपदमयं समाम्नायो व्याख्यातव्यस्तदधि- २०
 कारार्थोऽयम् ‘अथ’ शब्दः । ‘अतः’ शब्दः क्रमे हेतौ वा । सामान्य-
 व्याख्यानादनन्तरं विशेषव्याख्यानमेवावसरप्राप्तमित्येवं क्रमे । अथवा
 हेतौ । यस्मात्सामान्यतः समाम्नायो व्याख्यातोऽत इदानीं विशेषतः
 ‘अनुक्रमिष्यामः’ आनुपूर्व्येण क्रमिष्यामो वर्णयिष्यामः । व्याख्येयेति शेषः ।

आह । किंलक्षणा पुनरसौ व्याख्येति । उच्यते । तत्त्वपर्यायभेदसंख्या- २५
 संदिग्धोदाहरणतर्जिर्वचनविभागेन यदास्यानं
 व्याख्यालक्षणम् सा व्याख्या नैवण्टुके प्रकरणे । तद्यथा ।
 तत्त्वं ‘गौरिति पृथिव्या नामवेयम्’ इत्येवमादि ।

पर्यायवचनं प्रसिद्धेनाभिधानेनाप्रसिद्धस्यार्थस्य व्यापनम् । तद्यथा । 'पृथिव्या नामधेयं गौरिति' । भेदो व्युत्पत्तिरिति समानार्थः । तद्यथा । 'यद्गृं गता भवति' इत्येवमादि । संख्या । तद्यथा । 'पृथिवीनामधेयान्येकविंशतिः' । संदिग्धं 'तत्र निर्ऋतिर्निर्मणादृच्छतेः कृच्छापत्तिरितरा सा पृथिव्या संदिह्यते' इत्येवमादि । संदिग्धोदाहरणं 'य ई चकार' इत्येवमादि । तन्निर्वचनं 'बहुप्रजाः कृच्छमापद्यत इति परित्राजकाः' इत्येवमादि । एवंप्रकारया व्याख्ययेदं नैवण्टुकप्रकरणं व्याख्यास्यते ।

'गौरिति पृथिव्या नामधेयम्' । आह । यस्मात्कारणाद्भव्ये शब्द-

निवेशो नैरुक्तानां तदुच्यतां कारणं केन कार-

१० पृथिव्यभिधायक- णेन गोशब्दः पृथिव्यां संनिविष्ट इति । उच्यते ।

गोशब्दव्युत्पत्तिः यस्मादियं 'दूरम्' अच्चां प्रति 'गता भवति' । न ह्यस्या धन्त उपलभ्यते । यस्मात्

'चास्यां भूतानि गच्छन्ति' आधारभूतायाम् । एवं कर्तृकारकमधिकरणं वा योग्यम् । 'गातेर्वा' । 'गाह् गतौ' [घा० १ । ९५०]

१५ इत्यस्य धातोः । 'ओकारो नामकरणः' प्रत्ययः ।

'अथापि' गौरित्येतत् 'पशुनाम भवतीह'

गौरिति पशुनाम एव कारकद्वये तस्मादेव धातुद्वयाद्वेगोतिर्वा ।

'अधोप्यस्यां' एव पशुगवि 'ताद्वितेन' प्रयोगेणा-

कृत्स्नायां सत्यां 'कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति' । तद्यथा । 'गोभिः श्रीणीत मत्सर-

२० मिति' गोरेकदेशस्य 'पयसः' कृत्स्नवत्प्रयोगः । तदेतच्छिष्यबुद्धिबुधापाद-
नार्धमनेकप्रकारशब्दवृत्तिविषयोपपन्नदर्शनं क्रियते कथं नामोपदर्शितशब्दवृ-
त्तिविषयोऽसंमुखैर्मन्त्रार्थान्निर्वादादिति ।

आ धावता सुहस्तः शुक्रा गृन्गीत मन्थिना । गोभिः श्रीणीत मत्सरम् ।

[ऋ० सं० ९ । ४६ । ४] । इमां गायत्री-

२५ पयोर्थे गोशब्द- मयास्य आह्निरसोऽपश्यत् । प्रावस्तुतौ विनि-
प्रयोगः युक्ता [आश्व० श्रौ० ५ । १२] । हे
अध्वर्यव एभिर्गविभिः संस्कृत एव सोमः । ते

यूयं हे सुहृदयः सुवर्णेनालंकृतहस्ताः । किम् । आधावत् । गृष्णीत
गृष्णीतैतौ शुक्रामन्थिनौ प्रहायनतिक्रान्तकालम् । किञ्च । गोभिर्गोभ्योऽभि-
निष्पन्नेन क्षीरेण श्रीणीतैर्न मत्सरं मादयितारं सोमं भैत्रावरुणप्रहतामुप-
गतं श्रुतशान्तेन तृतीयसर्वेने वा पूतमृत्पाशिरेण । ततोऽनतिक्रान्त-
कालं जुहुत । एवमत्र विधानादशक्यत्वाच्च गोभिः श्रयणस्य गन्धेन
पयसेति गम्यते ।

‘ मत्सरः सोमो मन्दतेस्तृप्तिकर्मणः ’ । तृप्यन्ति दानेन देवताः ।
शब्दसामान्यप्रसङ्गप्रसक्तमुच्यते । ‘ मत्सर इति लोभनाम ’ । तेन द्वाविधो
धनाभिमुख्येन मत्तो भवति । पर्यायायाख्यानप्रसक्तं निरुच्यते । ‘ पयः
पित्रोर्वा ’ पानार्थस्य [धा० १ । ९२५] । पीयते हि तत् । ‘ ध्याप-
तेर्वा ’ वृद्धपर्यस्य [धा० १ । ४८८] । तेन हि वर्धन्ते प्राणिनः ।
प्रसक्तानुप्रसक्तं निरुच्यते । ‘ क्षीरं क्षरतेः ’ श्पोतनार्थस्य [धा० १ ।
४१] । श्पोतते हि तदूधसः । ‘ घसेर्वा । ईरो नामकरण ’-प्रत्ययः । अदे-
र्घस्य आदेशः कियते [पा० २ । ४ । ३७] । अतस्तेनैव सिद्धरूपेण
निर्दिश्यते ‘ घसेर्वैरो नामकरणः ’ इति । धात्वन्तरमिति वा केचित्
[धा० १ । ७१६] । ज्ञापकं च ददाति ‘ उशीरमिति ’ । ‘ यश कान्ती ’
[धा० २ । ७०] । तस्य कृतसंप्रसारणस्यैरप्रत्ययेनोशीरमिति भवति । तद्धि
सौगन्ध्याक्रान्तं भवति ।

‘ अशुं दुहन्तो अध्यासते गवीत्यधिपवणचर्मणः ’ कृच्छरशभिर्धायकः ।
ते सोमादो हरी इन्द्रस्य निसर्तेऽशुं दुहन्तो
अधिपवणचर्मणि अध्यासते गवि । तेभिर्दुग्धं पवित्रान्तोम्यं
प्रयोगः मध्विन्दो वर्धते प्रथते वृषायेत [ऋ० सं०
१० । ९४ । ९] । एषा जगती ।
अशुंदो नाम काद्रवेयः सर्प ऋषिस्तत्पार्यम् । प्रावस्तुतौ विनियुक्ता
[आश्व० श्रौ० ५ । १२] । त एते प्रावाणः सोमादः सोमभक्षयि-
तारो यदाभिपवणकर्मणि प्रवर्तन्तेऽथ तदा हरी इन्द्रस्याद्वौ यज्ञ-
गमनार्थमेतौ शब्दमुपश्रुत्य संस्रुतं सोमं मन्वानी रथे योगनिष्ठन्तौ

१ ऋ. ट. ठ. ड. ‘ हे ’ नास्ति. २ ऋ. ट. ठ. ड. ‘ अनिष्पन्ति कालं. ३ ऋ.
‘ अभि ’ नास्ति. ४ ऋ. ट. ठ. ड. ‘ मत्सेन वा. ५ ऋ. ल. धात्वन्तर. ६ ठ. ड.
‘ यज्ञो मत्सा. ७ ऋ. यजेते. ८ ऋ. ल. ९. ठ. ड. ड. ‘ क्रान्तः । अ. ११

आत्मना ऋजोपे भक्षयिष्यन्ताविन्द्रं च सोमं पाययिष्यन्तौ स्वयमेव
 निंसते नैचैर्नमेते येत्तौ आथां हे^३ इन्द्र गच्छ यज्ञायतने संस्कृतः सोम
 इति । तदैव च ऋत्विजोऽपि त्वरमाणा इन्द्रोपस्थानकालमभ्यग्रं मन्वानाः
 अंशुं सोमांशुमभिषुत्य दुहन्तः प्रपूरयन्तो गव्यधि गोरुपरि गोरवयत्रेऽधिपवै-
 णचर्मणि एतत्कर्म कुर्वोणा इन्द्रं प्रतीक्षमाणा आसते । अथ स इन्द्र एव
 तेभिः दुग्धमृत्विग्भिः प्रक्षारितं पपिवान्पीतवान्सोम्यं मधु सोममयम् ।
 तेनै तृप्तस्तरुणानान्तरं वर्धते वीर्येण । प्रथते च शरीरेण विस्तीर्यते ।
 विस्तीर्णश्च स्वेन वीर्येण मेघं विदार्य वृषायते वर्षं प्रवर्तयते । तदिदं सर्व-
 मपि वर्षादि जगदनुग्राहकमैन्द्रे कर्माभिपवद्दारेण सोमाभिपवद्वावाधीन-
 मित्येवं प्रावस्तुतिः ।

निगमप्रसक्तं निरुच्यते । ' अंशुः शमष्टमात्रो भवति ' । व्याप्तमात्रो
 हि स यजमानेन तस्यैव शं भवति मुखो भवति । इष्टसोमो ह्यनृणोऽह-
 मिति विगतमनोदुःखो भवति । अनैनाय जीवनाय शं सर्वेषां भूतानां भवति
 मुखो भवतीति वा । यज्ञो हि 'वर्षप्रवृत्तिहेतुस्ततश्च सर्वभूतानि सुखं
 जीवन्ति । व्याख्यानप्रसक्तं निरुच्यते । ' चर्म चरतेर्वा ' । चरितं हि तत्सर्व-
 स्मिच्छरीरे गतमित्यर्थः । ' उच्चृत्तम् ' उत्कर्तितं शरीरादिति वा ।

' अथापि चर्म च श्लेष्मा च ' गोशब्देनोच्यत इति शेषः । ' गोभिः
 चर्मश्लेष्मार्थे प्रयोगः संनद्धो असि वीर्यपत्न्य [ऋ० ६ । ४७ ।
 २६] इति रथस्तुतौ ' । स हि चर्मणावनद्धो
 भवति । श्लेष्मणा च तस्यारादयः संश्लेषितौ भवन्ति ।

' अथापि स्नाव च श्लेष्मा च ' गोशब्देनोच्यते । ' गोभिः संनद्धा
 स्नावश्लेष्मार्थे प्रयोगः पतति प्रसूता [ऋ० सं० ६ । ७५ । ११]
 इतीष्टस्तुतौ ' । सा हि स्नावा वेष्टिता भवति
 श्लेष्मणा च संश्लेषिता ।

- २५ १ च. ' च ' नास्ति. २ ग. ज. युक्त्वौ; च. उपत्वा तौ. ३ च. ' हे ' नास्ति.
 ४ ग. ज. तथैव. ५ प. ड. 'धिपणवच'; ज. 'धिपवच; ट. ठ. धिपवैर्णव'.
 ६ ठ. ड. प्रक्षारितं. ७ च. ' तेन ' नास्ति. ८ ट. ड. 'नुग्रहकारकमैन्द्र'.
 ९ क. ख. घ. ट. ठ. ड. अननाय सं भवतीति वा । अननाय जीव'. १० क. ख.
 प. ट. ठ. ड. वर्षे मधु'. ११ क. ख. ग. च. ज. घ. ड. वीर्य'. १२ ग. ज.
 २० संश्लेष्मकाः; च. संश्लेष्मकाः; स; प. संश्लेषिता; ट. संश्लेषितौ' ध्मका.

‘ ज्यापि गौरुच्यते ’ । सा पुनर्यदि ‘ गव्या तादितम् ’ अभिधानम् ।

‘ अथ ’ पुनः “ न यव्या गम्यतीत्युच्यते । ” गौरुच्यद्रव्यमयी ॥ ५ ॥

वृक्षेवृक्षे नियता भीमयद्वौस्ततो वयः प्रपतन्तान्पूरुषादः ।

वृक्षे वृक्षे धनुषि धनुषि वृक्षो वैश्वनाद्वृत्वा क्षां तिष्ठतीति वा ५

क्षा क्षियते निवासकर्मणो नियता भीमयद्वौः शब्दं करोति

भीमयतिः शब्दकर्म ततो वयः प्रपतन्ति पुरुषानदनाय

विरिति शकुनिनाम धेतुर्गतिकर्मणोऽथापीपुनामेह भवत्ये-

वस्मादेवादित्योऽपि गौरुच्यते । उतादः पुरुषे गच्छि ।

पर्ववति भास्वतीत्योपमन्यवोऽथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं १०

प्रति दीप्यते तदेतेनोपेक्षितव्यमादित्यतोऽस्य दीप्तिर्भव-

तीति । सुपुष्पः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व इत्यपि निगमो

भवति । सोऽपि गौरुच्यते । अत्राह गोरमन्वतेति तदुप-

रिहाद्याख्यास्यामः सर्वेऽपि रश्मयो गाव उच्यन्ते ॥ ६ ॥

वृक्षेवृक्षे नियता भीमयद्वौस्ततो वयः प्रपतन्तान्पूरुषादः । अथेदं विश्वं

भुवनं भयात् इन्द्राय मुन्वदयथे च शिस्तम् ”

ज्यार्थे प्रयोगः [ऋ० सं० १०. १. २७. १. २२.] । यमुकः

स्येन्द्रपुत्रस्येयमार्यम् । त्रिष्टुवैन्द्री । महावते.

मरुत्वतीये शस्यते. [ऐ० आ० ५. १. १.] इन्द्रो भगवानैश्वर्ययोगा- २०

त्संप्रामेधनेकवाहुर्भूत्वानेकानि. धनं प्यादेते । तानि मय्यदगद्वैवमाह । वृक्षेवृक्षे

१ घ. ट. गौरुच्यते. २ ग. ज. गौरुच्यद्रव्यं; घ. ट. गोरुच्यं; ठ. द. गोरुच्यद्रव्यं. ३ क. ख. १; ग. ८; घ. ट. च. ज. अहो नास्ति; ठ. द. इति निरुक्त्याख्यायां २ ध्याये ५ खण्डः. ४ क. त. छ. त. द. ‘वृत्वा सां००० कर्मणो’ इति नास्ति. ५ छ. त. द. पर्ववती. ६ क. ख. छ. त. द. सुपुष्पः. ७ क. ख. द. २; छ. त. १. ८ ग. वृक्षेवृक्षे. ९ अथेदं विश्वं भुवनं शिस्तम् ॥ ३ ॥ वसु. १. च. व्यापते.

वृक्षावयवे धनुषि धनुषि । यावन्तीन्द्रेण गृहीतानि धनूपि तेषु सर्वेषु प्रत्येकं
 नियता निबद्धा गौः गन्वा गमयित्री वा शराणामिन्द्रवाहाकृष्टा भीमयत्-
 भीमयति शब्दं करोति । जाल्याभिप्रायेणैकवचनम् । ततः शब्दकरणान-
 न्तरमेव प्रपतन्ति वयः । अथवा तैतः ततो धनुषो वयः पक्ष्यवयवपत्रसं-
 ५ [वन्धादिपवो वयः पक्षिणः । अथवा वेतेर्गतिकर्मणः । साक्षादेव इपयो
 वयो न गुणवृत्त्या । तेनै, प्रपतान्प्रपतन्ति पुरुषानदनाय भक्षणाय । ते
 हि शत्रूणां प्राणान्भक्षयन्ति । अथायमेवमतिप्रभाव इन्द्र इति ज्ञात्वा
 विश्वं सर्वं भुवनं भूतजातं यावत्किञ्चिदधिकृतं कर्मणि भयाते विभेति ।
 अथ विश्वं करोति । इन्द्राय इन्द्रार्थं सुन्वत् अभिपवमुचिते काले,
 १० कुर्यात् आपये च ऋत्विजे शिक्षात् दक्षिणां दैदत् इन्द्रेऽमुखमादरवदास्ते,
 सर्वमन्यत्परिहोय । य एवंप्रभाव इन्द्रस्तं वयमभिप्रेतार्थसिद्धये स्तुमः ।

निगमप्रसक्तं निराह 'वृक्षो वधनात्' इति । स हि वृक्ष्यते,
 छिद्यत इत्यनर्थम् । मध्न्याख्याने गतार्थत्वान्न शेषो विविधते । एवं
 तावदेकदेशे कृत्स्नवदभिधानं भवतीति प्रदर्शितम् ।

१५. 'अयेदानीमन्येष्वर्थान्तरेषु गोशब्दोऽभिप्रसृतो बहुष्वित्येतद्वसन्नतो
 दर्शयति । एतद्वचैकपदिके वक्तव्यमिह तु गोशब्दप्रसक्तमुच्यते । नआदि-
 ल्योऽपि गौरुच्यते' एतास्मिन्मन्त्रे । उतादः परये गवि सूत्र्यकं हिरण्यम् ।
 न्यैरयद्रथीतमः [ऋ० सं० ६ । ५६ । ३] भरद्वाजस्येयमार्यम् ।
 गायत्री । पौष्णे सूक्ते । पूषा पुनरादित्यो नैरुक्तानां दृष्ट्या । अन्यत्र,
 २० 'इयं वै पूषा' [मै० सं० २ । ५ । ५ ॥ ३ । ७ । ६ । काठ० सं० ७ ।
 ९] इति भूमिरुच्यते । उतादः । उत अपि अथ इति च्छन्दसि समा-
 नार्थाः । अपि चक्रमीरयत्यपि रसानादत्तेऽपि
 आदित्यार्थे प्रयोगः तमास्यपहन्ति । अदः अमुष्मिन्नादित्यमण्डले
 परये पर्ववाति । अहोरात्रादिपर्वभिस्तद्गति । अथवा
 २५ सास्वति । आसा तद्वतीत्यौपमन्यवः । गवि गमनशीले मुहूर्तमप्यनवस्था-

१. प. ट. ठ. ड. नियतानिबद्धानि गौः. २ ठ. ड. 'ततः'
 वृक्षदेव. ३ क. ख. ते; च. 'तेन' कान्ति. ४ ग. ज. प. ट. ड. ददाति; ट.
 ददाति दत्. ५ ठ. ड. 'त्यरीक्षय. ६ घ. ट. उतादः. रथीतमः. भार.
 ७ घ. ट. 'भीरययदपि'; ठ. ड. 'भीरययपि'. ८ घ. ट. ठ. ड. 'रात्रादि-
 १० भिस्तद्वति. १ क. ख. प. ट. ड. आसा तद्वतीनि । अहोरात्रादिपर्ववर्तित्वी'.

यिनि सूरः सूर्योऽवस्थितः पूषा आदित्यमण्डलान्तःपुरुषस्तदेवं पर्ववद्वा-
 स्वद्वा चक्रं चक्रनं क्रमणं वा गमनशीलं मण्डलं हिरण्यं हिरण्यं तेजो-
 मयं चक्रं चक्राकृति न्यैरयत् । नियतगर्जनवृत्तिना मार्गेण नित्यकालमी-
 रयत्युदयास्तमयमव्यंदिनकालोपलक्षणार्थम् । अथवामुष्मिन्मण्डलेऽवस्थितः
 पर्ववति मण्डलान्तःपुरुषः सूर्यो भगवान् चक्रं क्षेणलवनिमेपत्रुटिमु-
 हूर्ताहोरात्रार्धमासमासर्वयनसंवत्सरलक्षणं कालचक्रं सर्वभूतहारि हिरण्यं
 हिरण्यं सर्वभूतस्थितिधिनाशहेतुं न्यैरयत् नित्यमीरयति । कीदृशः
 पुनः स सूर्यो य ईरयति । रथीतमः । अन्येऽपि रथिनः सन्ति । अयं तु
 मुहूर्तमप्यनवस्थितरथ इत्यतो रथीतमः । य एवंगुणयुक्तः पूषा तं वयम-
 भिप्रेतार्थसिद्धये स्तुमः ।

१०

‘ अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते ’ । एको रश्मिरादि-
 त्यस्य सुपुंनो नाम चन्द्रमसि प्रत्यवस्थितो दीप्यते । ‘ तदेतेन ’ मन्त्रार्थ-
 विदा मन्त्रानुपेत्य ‘ ईक्षितव्यं ’ द्रष्टव्यम् । येयमस्य चन्द्रमसो

‘ दीप्तिः ’ ज्योत्स्ना इयमादित्यरश्म्यनुग्रहादेव

‘ आदित्यश्चन्द्र- ‘ अस्य भवति ’ । अम्मयं हि चन्द्रमसो मण्डलं
 मसो दीप्तिः तत्तेजःसंबन्धादीप्तिमद्भवति । ततः सर्वा दिशः

१५

प्रकाशयति । यथा चैतदेवं तथा ‘ सुपुंनः
 सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्वर्ष इत्यपि निगमो भवति ’ । सुपुंणः सूर्यरश्मिश्च-
 न्द्रमा गन्वर्षस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुर्यो नाम ।

तदभिवादिनी ऋक् स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्
 ताम्यः स्वाहा [य० वा० सं० १८।४०] ॥

२०

राक्षभैस्तु [शत० ब्रा० ९।४।१ ॥ कात्या० श्रौ० १८।५।१६] ।

- १ ग. ज. ‘ हिरण्यं ’ नास्ति. २ क. ख. ठ. ड. ‘ हिरण्यं ’ नास्ति. ३ क. ख.
 घ. ट. ठ. ड. ‘ गमनवृत्तिः ’. ४ घ. ट. ठ. ड. ‘ छेज्जगस्थितः ’. ५ क. ख. घ. झ. ट.
 ठ. ड. ‘ लवणनिमे ’. ६ ग. ज. हिरण्यं; घ. ट. ठ. ड. हिरण्यं. ७ क. २५
 ख. ग. ज. घ. ट. ठ. ड. ‘ भूतविनाशस्थितिहेतुः ’. ८ ग. ज. घ. ट. ठ. ड. ‘ हेतुः ’. ९
 क. ख. ग. घ. ज. सुपुंनो. १० क. ख. अस्मदुपरि यच्च; ग. च. ज. अम्मयं;
 ठ. ड. अस्मयं. ११ क. ख. ग. घ. ज. सुपुंणः. १२ घ. ट. सुपुंनः; ग. च.
 ज. ठ. ड. मन्त्रो न पठ्यते. १३ घ. ट. ठ. ड. ‘ भूस्तु ह्यतग्रहोमे अप्यं ’. २९

अप्ययमप्यन्ये बहव इत्यपिशब्दः । सुपुंश्चः सुपुमुंश्च इत्यर्थः । सर्व-
भूतानि नित्यमसौ स्थादयति । कोऽस्ताविति । सूर्यरश्मिः सूर्यानि; सूर्य चन्द्र-
मसं प्रति गतः । चन्द्रमाः गन्धर्वः । सति सुपुत्रेगमने गोशब्दवाच्यता ।
तस्य गोसतश्चन्द्रो धारयिता गन्धर्वः । स हि तस्य प्रतिष्ठा । स न इदं
सोऽस्माकमिदं ब्रह्म क्षत्रं च पातु रक्षतु । किं च तस्मै सुपुत्राय सूर्य-
रश्मये स्वाहा शोभेनामिदमामिमुख्येनाहौ हविराज्यलक्षणमस्तु । स चेदं
वाट् वेतु पिबित्वित्यर्थः ।

‘सोऽपि’ सुपुण्या रश्मिरेक एव ‘गौः’ इति ‘उच्यते’ ।

यथासौ गौस्तथेदमुदाहरणम् ‘अत्राह गौरमन्व-

सुपुण्याख्यरश्मे- तेति’ । ‘तत्’ पुनरेतत् ‘उपरिष्ठात्’
गौरिति नाम ऐकपदिके ‘व्याख्यास्यामः’ [निरु० ४।२५] ।
‘सर्वेऽपि रश्मयो गाव उच्यन्ते’ । ययैतदेवं तथैवमुदाह्रियते ॥ ६ ॥

ता वां वास्तून्नुद्गमसि गमंध्ये यत्र गावो मूरिशृङ्गा
अपासः । अत्राह तदुद्गमस्य घुष्णः परमं पदमव-
माति मूर्ति [क्र० सं० १।१५४।६] । तानि वां
वास्तूनि कामयामहे गमनाय यत्र गावो मूरिशृङ्गा बहु-

१ क. ल. ग. ज. ट. ड. सुपुण्याः. २ ग. ख. ज. ट. सुपुमुल; प. ड. ड. सुपुमुल;
सुपुमुल. ३ क. ल. प. ट. ड. ड. हर्षाणि भूना. ४ ख. ज. निरुत्य; प. ड.
२० ‘निःसृत्य’ इत्यस्य पश्चात्तर्वा आदीयते. ५ क. ल. ख. ज. सुपुण्या; ग.
‘सति... धारयिता गन्धर्वः’ नास्ति. ६ क. ल. प. ज. ट. ड. तस्य गन्ध-
र्वस्य स्तश्चन्द्रो. ७ प. ड. ‘सोऽस्माकमिदं’ नास्ति. ८ क. ल. ग. ज. सुपुण्याप.
९ क. ल. प. ट. ‘स्वाहा सुशोभन’. १० क. ल. प. ट. ड. ड. ‘नार । हवि’.
११ प. तथैवमुद्गमस्य. १२ क. ल. ग. घ. ज. ‘दाहरणम्; ट.
‘दाहरणं’ ह्रियते. १३ ग. १; प. ट. ख. ज. अहो नास्ति; ड. ड. ‘ह्रियते ।
इति नैष्ठिकस्यास्यादा २ प्यत्वे षट् सन्तः. १४ क. ल. ट. त. द. ‘मूर्तिशृङ्गा’
२७ नास्ति.

शृङ्गा भूरीति बहुनो नामधेयं प्रभवतीति सतः शृङ्गं
 श्रयतेर्वा शृणातेर्वा शस्त्रातेर्वा शरणापोद्धतमिति वा शिरसो
 निर्गतमिति वायासोऽयनास्तत्र तदुरुगायस्य विष्णोर्महा-
 गतेः परमं पदं परार्ध्यस्थमवभाति भूरि पादः पद्यतेस्तन्नि-
 धानात्पदं पशुपादप्रकृतिः प्रमागपादः प्रमागपादसामा-
 न्यादितराणि पदान्येवमन्येषामपि सत्त्वानां संदेहा विद्यन्ते
 तानि चेत्समानकर्माणि समाननिर्वचनानि नानाकर्माणि
 चेन्नानानिर्वचनानि यथार्थं निर्वक्तव्यानीतीमान्येकविंशतिः
 पृथिवीनामधेयान्यनुक्रान्तानि तत्र निरुक्तिर्निरमणादृच्छतेः
 कृच्छ्रापत्तिरितरा सा पृथिव्या संदिह्यते तयोर्विभागस्तस्या
 एषा भवति ॥ ७ ॥

ता वा वास्तूनीति । दीर्घतमस आर्यम् । वैष्णवी । त्रिष्टुप् । यूपा-
 धौने विनियुक्ता [आप० श्रौ० ७ । १० । ७] सोमातिरेकशस्त्रे
 [आश्व० श्रौ० ६ । ७] च । वामिति दम्पती अभिप्रेत्य द्विवचनम् ।
 तानि युवाम्यामर्थाय वास्तूनि निवासस्थानानि

रत्न्यर्थे गोश- उस्मसि कामयामहे गमय्यै गमनाय यत्र येषु
 रत्नस्य प्रयोगः स्थानेषु । किम् । गावो रत्नयो भूरिशृङ्गा
 बहुदीप्ता अयासः अयना मुहूर्तमप्यनवस्थाधिनः ।

किंच । अत्राह तेषु स्थानेषु तत्पदमुल्गायस्योल्गमनस्य महागतेर्मगवतो
 विष्णोः परमं पदमादित्यमण्डलस्थानम् । स्थाने हि पदसंज्ञा । पदस्थ
 इति लोकेऽपि वक्तव्यं भवन्ति । अवभाति अर्वागिदं सर्वं कृत्वा भाति
 दीप्यते । भूरि बह्वित्यर्थः । इति समस्तार्थः ।

अथैकपदनिरुक्तम् । 'भूरीति' एतत् 'बहुनो नामधेयम्' । 'प्रभ-
 वति' हि तद्वद्भाषि दीयमानम् । 'शृङ्गं श्रयतेः' । तद्व्याघ्रितं भवति
 शिरसि । 'शृणातेर्वा' हिंसार्थस्य [घा० ९ । १६] । तेन हि
 हिनस्ति । 'शिरसो निर्गतमिति वा' शृङ्गम् । परमेऽर्थे स्थितं परार्ध्यस्थम् ।

१ क. ख. द. ३; छ. त. १०. ९ घ. ट. 'इति' नास्ति. ३ घ. ट. ठ. ड.
 'धानशिरसि.' ४ च. 'तिरिक्तशस्त्रे'; ठ. ड. 'तिरेके शस्त्रे'. ५ ग. ज. वास्तूनि
 इति निवास'. ६ ग. स्थानेषु तेषु. ७ क. ख. घ. ट. ठ. ड. मण्डलं स्थानं स्थाने
 हि'; ग. ज. 'मण्डलस्थाने हि. ८ च. 'अपि' नास्ति.

- अथवा परमयद्गर्था युक्ते स्थाने स्थितं परोर्ध्यस्थम् । ' पादः पद्यतेः ' गत्यर्थस्य [घा० ४ । ६३] । पद्यते हि तेन । ' तन्निधानात्पदः ' यदुत्पद्यते तत्स्वरूपमेव पांसावन्यत्र वा तत्पदमित्युच्यते पशोर्मनुष्यस्य वा । ' पशुपादप्रकृतिः ' चतुर्भांगसामान्यात् ' प्रभागपादः ' दीनारादि-
 ५ पादः । ' प्रभागपादसामान्यादितराणि ' ग्रन्थपदानि क्षेत्रपदानि वा । विभागो हि तेष्वपि समान एव । प्रसक्तानुप्रसक्तमिदमुक्तम् ।

- अधुनोपसंहरति । ' एवमन्येषामपि सत्त्वानां ' यानि नामानि तेषु ' संदेहा विद्यन्ते ' न केवलं गोशब्दे पदशब्दे संदेहपदानां निर्व- वा । तेषु त्वेतदौत्सर्गिकं निर्वचनलक्षणं द्रष्टव्यम् ।
 १० चनप्रकारः ' तानि ' यदि सामान्यक्रियया युक्तानि ततः ' समाननिर्वचनानि ' एव कर्तव्यानि । अथ पुनः ' नानाकर्माणि ' ततो ' नानानिर्वचनानि ' । एवं ' यथार्थं निर्वक्तव्यानीति ' ।

- अधुनैवमुक्तबोधाहरणैरेव तत्र संदेहपदान्यनुक्रम्य मन्त्रेष्वेव दर्शयन्नाह ।
 १५ ' इमान्येकविंशतिः पृथिवीनामधेयान्यनुक्रान्तानि ' । ' तत्र निष्कृतिर्निरमणा- दृच्छतेः कृच्छापत्तिरितरा ' । लोकेषु हीदं सर्वं भूतजातमन्तर्भूतं यदभिधानानि यदाश्रयक्रियावचनाश्च शब्दा निघण्टव्य उच्यन्ते । तेषां च पृथिवी प्रथमा । तस्मान्नत आरम्भः । एकविंशतिरिति संख्या । पृथिवीनामधेयानि । स्वार्थे धेयप्रत्ययः । नामैव नामधेयम् । अनुक्रान्तानि आनु-
 २० पूर्वेण पठितानीत्यर्थः । एकविंशतिर्यान्यनुक्रान्तान्येभ्योऽन्यान्यपि यानि कानिचित्स्युस्तान्युपलभ्य निर्वक्तव्यानि । तद्यथा कु इत्येतदसामान्तं पृथिव्या नामधेयम् । उक्तं हि ' नाग्निचिन्नरक्तं याति न सद्बोदी न पुद्गदः ' इति । तत्रैतस्मिन्नेकविंशके नामगणे ' निष्कृतिः ' इत्येतदभिधानं ' निरमणात् ' । निविष्टानि रमन्तेऽस्यां
 २५ ' निष्कृतिः ' इत्ये- भूतानीति निष्कृतिः पृथिवी रमेधातोः । तस्य संदेहपदस्य निर्व- ' ऋच्छतेः इतरा कृच्छापत्तिः ' दुःखसंज्ञिकां । चनम् निष्कृतिः पाप्मां । ' सा ' पुनरियं समाननाम- धेयत्वात्समानश्रुतिव्यात् ' पृथिव्या संदिहते ' ।

१ च. परमयद्गर्था. २ च. ज. परार्द्धस्थं; ट. ड. परार्ध्यस्थ. ३ क. ख. घ. ट. ठ. ड. तेउ हि तेउ. ४ क. ख. घ. सर्वभूत. ५ क. ख. घ. ट. ड. सत्पुत्रो; ट. पुत्रो दादी. ६ घ. ट. ठ. ड. एकविंशतिके. ७ क. ख. घ. ट. ठ. ड. संख्या ८ च. भ्रुत्वात्.

‘ तयोः ’ समाननामधेयत्वे सत्येव कर्मकृतो भेदो, ‘ विभागः ’ । एका निविष्टानां भूतानां रमयित्री । एका पुनः कृच्छ्रमापादयित्री । एवं नाना-
कर्मोप्यभिधानानि निर्वक्तव्यानि ।

‘ तस्याः ’ कृच्छ्रापत्तेः पृथिव्या ‘ एषा ’ निर्वाचिका ऋक्
‘ भवति ’ ॥ ७ ॥

य ई चकार न सो अस्य वेद य ई वदर्श हिरुगिन्नु
तस्मात् । स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमा-
धिवेश (ऋ० सं० १ । १६४ । ३२) ॥ बहुप्रजाः कृच्छ्र-
मापद्यत इति परित्राजका वर्षकर्मति नैरुक्ता य ई चका-
रेति करोतिकिरती संदिग्धौ वर्षकर्मणा न सोऽस्य वेद १०
मध्यमः स एवास्य वेद मध्यमो यो वदर्शादित्योपहितं स
मातुर्योना मातान्तरिक्षं निर्भीयन्तेऽस्मिन् भूतानि योनि-
रन्तरिक्षं महानवयवः परिवीतो वायुनायमपीतरो योनिरे-
तस्मादेव परियुतो भवति बहुप्रजा भूमिमापद्यते वर्षक-
र्मणा शाकपूणिः संकल्पयांचक्रे सर्वा देवता जानामीति तस्मै १५
देवतोमयलिङ्गा प्रादुर्बभूव तां न जज्ञे तां पप्रच्छ विविदि-
पाणि त्वेति सास्मा एतामृचमादिदेशैषा मद्देवतेति ॥ ८ ॥

य ई चकारेति । दीर्घतमस आर्षम् । त्रिष्टुप् । महात्रते वैश्वदेवे शस्त्रे
शस्यते [ऐ० आ० ५ । ३ । २] । ‘ अयं स शिङ्गे ’ [ऋ० सं०
१ । १६४ । २९] इतीयमप्यनयैव समानार्थविनियोगा । जगती । २०
द्वे अप्येते अस्यवामीये । कश्चित् । बहूपत्यो दरिदः पुरुषः । स
दुष्णोपत्वादपत्यानां व्यापन्नत्वाद्दुःखं ‘ कृच्छ्रमापद्यते ’ । सा या तस्य
कृच्छ्रापत्तिः सैवैतस्यामृचि निर्ऋतिशब्देनोच्यते ‘ इति ’ एष परित्राजका-

१ क. ख. घ. ट. ठ. ड. ‘धेयत्वेऽपि सत्येव कर्म’ । २ क. ख. घ. ट. ठ. ड.
पृथिव्या अपि एषा । ३ क. ख. ३; घ. ट. च. ज. अद्वौ नास्ति; ठ. ड. भवति
इति निरुक्तव्याख्यायां २ ध्याये सतमः खण्डः. ४ क. ख. छ. त. द. सो अस्य.
५ क. ख. द. ४; छ. त. ३३.

नामस्यामृचि संक्षेपार्थः । स एष विस्तरेण प्रदर्श्यते । यः करोति गर्भं
न सोऽस्य गर्भस्य तत्त्वं ' वेद ' । केवलं स्वसौ
तत्पदस्योदाहरणम् कामार्तः पुत्रार्थी वा करोत्येव गर्भम् । य ई

५ ददर्श यश्चैनं पश्यति हिरण्म अन्तर्हितमेतस्मिन् जठरे एतस्मिन् वा शरीरे
जन्तुं तस्मात्तस्यैव एष गर्भो याथात्म्यतः प्रत्यक्षो भवत्यध्यात्मशास्त्रदृष्ट्या
नेतरस्य गर्भकर्तुः । स पुनरेवं गर्भो मातुर्योनौ गर्भाशयस्थाने अन्तः उदरे
पुण्यति स मातुरशितपीतलीढमक्षितेन चतुर्विधाहारेण । ततः परिवीतो
जरायुणा परिवेष्टितो यथाकालं जायते । अथैवं

१० ऋचो गर्भाधानार्थे बहुशः प्रजायमानः स गर्भकर्ता गर्भतत्त्वमजा-
निर्ऋतिसिद्ध्यर्थः दुःख- नानो निर्ऋतिं दुःखमाविशेश आविशतीत्यर्थः ।
मित्यर्थः एवं गर्भतत्त्वापरिज्ञानाद्यो गर्भं करोति स दुःख-
मापद्यते । यस्त्वध्यात्मदृष्ट्या गर्भतत्त्वं वेद स

१५ गर्भकर्मणो निवर्तते । स निर्ऋतिं नापद्यते । एवमस्यामृचि निर्ऋतिर्देव-
तेत्येव परित्राजकार्यः । अन्ये तु भुवते । यः करोति गर्भं स गर्भभूतो
जन्मान्तरेषु बहुषु प्रजायमानो जन्ममरणसंतानानुबद्धा निर्ऋतिमाविशति ।
यो रेतः सिद्धाति तद्भूयो भूयो जन्मान्तरेषु बहुशः प्रजायमानो जन्ममरण-
संतानानैनुभवतीत्युक्तम् ।

‘ वर्षकर्मति नैरुक्ताः ’ । वर्षकर्मतदुच्यते निर्ऋतिश्चात्र भूमिरुच्यत एवं
नैरुक्ता मन्यन्ते । यः करोति वर्षं यो वा किरति

२० वर्षार्थे पृथिवीत्यर्थः क्षिपति । कः पुनरसौ । मेघः । स हि वर्षस्य
कर्ता विक्षेप्य वा । मेघाद्दि वर्षं प्रवर्तते । किं
तस्य । न सोऽस्य वर्षस्य तत्त्वं वेद कुतोऽप्येतदुदकं मध्यागच्छति
यन्मया विसृज्यते किं बोदकस्य तत्त्वमिति । केवलं स्वसौ विसृजत एवो
दकम् । य ई ददर्श य एव पश्यत्येतद्वर्षं हिरण्मिन्नु तस्मादन्तर्हितमन्तरे-

२५ क्षलोके तस्मात्तस्येत्यर्थः । तस्यैव प्रपञ्चं तयाथात्म्यतो वर्षं नेतरस्य
मेघस्य मय्यस्थानस्य । स एव ह्यस्य वर्षस्य सत्तत्त्वं वेद यो ददर्श यः

१ क. ख. घ. ट. पुनरेव; ग. ज. पुनरेवं. २ क. ख. 'हारपरिणामे ततः';
घ. ट. ठ. ड. 'हारपरिणामेन ततः'. ३ क. ख. 'नुभवविद्धां; घ. 'नुविद्धां; ट.
'नुविद्धां' व. ४ ग. ज. तज्ज्य एव भवतीत्युक्तम् । वर्षं; घ. तज्ज्य एव यो भूपो
२० जं. ५ घ. ट. ठ. ड. संतानान्यनुभ. ६ ग. ज. सतत्त्व. ७ घ. ट. ठ. ड. ततः

पश्यत्यादित्यरश्म्यन्तर्गतं वर्षमनाभिव्यक्तम् । 'कश्चासौ । इन्द्रः । असावपि हि मध्यम एव । तत इदमुक्तं 'न सोऽस्य वेद मध्यमः' मेघः 'स. एवास्य वेद मध्यमः' इन्द्र इति । स एव महानुदकसंस्त्याय इन्द्रप्रशक्षो मातुरन्तरिक्षलोकस्योदकाभिव्यक्त्याशयस्थाने परिवीतः परिवेष्टितः सौर्येण रश्मिजालेन वायुना च मेघोदरान्तर्गतः प्रावृट्काले वर्षमावेनाभिव्यक्तो बहुप्रजा बहुशः प्रजायमानो निर्द्धतिं भूमिमाविशतीति समस्तार्थः ।

अथैकपदनिरुक्तम् । 'करोति किरती संदिग्धौ' धातू 'वर्षकर्मणा' संबध्येते । उभययापि ह्युपपन्नं यः करोति यो वा क्षिपति । 'माता-न्तरिक्षम्' । 'एतस्मिन् हि 'भूतानि निर्मायन्ते' । एतद्वयव्रकाशदानेन विशिष्टमुपकारं करोति भूतानां जायमानानाम् । 'योनिरन्तरिक्षम्' । आकाशस्यैव प्रदेशविशेषः कश्चित् । स वायुसंयुतः सन्नुदकयोनिभावं पुष्पाति । तदेतत् 'वायुना' तस्य संयवनः दृष्टोक्तं 'परियुतो भवति' इति । शब्दसारूप्यप्रसक्तमुच्यते । 'अयमपीतरः' स्त्रीयोनिः 'एतस्मादेव' । असावपि, 'परियुतः' एव 'भवति' ज्ञात्वा मंसितं च ।

एवमेतस्मिन्मन्त्रे नैरुक्तानां निर्गतशब्देन भूमिरुच्यते परिव्राजकानां कृच्छ्रौपचिः । तदेवं मन्त्रेषु शब्दगतिविमुत्वा-शब्दगतिविमुत्वा-दुभयमप्युपपद्यत एव । तथा । 'दधिक्राव्णो ह्येकां विविधार्थां विवि- 'अकारिपम्' [ऋ० सं० ॥ ३९ । ६] धिनिनियोगाश्च । इत्येव मन्त्रोऽन्युपस्थानेऽग्निहोत्रे । [मैत्रा० सं० १ । ५ । ६] । अयमेक चाग्निष्टोमे. 'दधि-क्राव्णो अकारिपमित्याग्नीध्रे' भक्षयन्ति' [आश्व० सू० १२ । १२] इति दधिभक्षणे । तथा चाश्वमेधे 'दधिक्राव्णो अकारिपमित्युत्थितायां सर्वा जपन्ति' इत्यश्वसंनिधावेतं पत्न्यो जपन्ति महिष्यामुत्थितायाम् । तत्रैवं सति प्रतिविनियोगमस्यान्येर्नान्येनार्थेन भवितव्यम् । त एते वक्तुः रधिप्रायवशादर्शान्यत्वमपि भजन्ते मन्त्राः । न ह्येतेष्वर्थस्यैवत्तावधारण-

१ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'दित्यस्य १'; क. ख. अन्तर्गतः २ घ. ट. ठ. 'सौ अन्तर्गत इन्द्रः; ठ. 'सौ अन्तर्गत वेदः इन्द्रः. ३ म. ज. रश्मिजालेन वायु'. ४ ठ. ड. 'तदेतत्.....मुच्यते' नास्ति. ५ म. ज. कृच्छ्रापचिः. ६ घ. अकार्य. ७ म. घ. ज. अकार्य. ८ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'अग्निः दधि भक्ष'. ९ म. ज. 'मित्युत्थायां. १० क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'अन्येन' सहदेव.

मस्ति । महार्था ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च । यथाभारोहवैशेष्यादश्वः साधुः
साधुतरश्च बह्वैवेवमेते वक्तृवैशेष्यात्साधून्साधुतरांश्चार्थान्स्त्ववन्ति । तत्रैवं संति
रक्षणोद्देशेमात्रमेवैतस्मिञ्छास्त्रे निर्वचनमेकैकस्य क्रियते । कचिच्चाप्यात्मा-
धिदेयाधियज्ञोपदर्शनार्थम् । तस्मादेतेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन्नधिदेवाध्या-
५ त्माधियज्ञाश्रयाः सर्व एव ते^१ योज्याः । नात्रापरोधोऽस्ति ।

एवमेव संदेहाधिकारमुपजीवन्नाह । ‘ शाकपूणिः संकल्पयांचक्रे सर्वा
शाकपूणेर्ज्ञानगर्वोक्तिः देवता जानामीति ’ । शाकानि यः पूणयति संहन्ति
स शाकपूणः । तस्यापस्यं शाकपूणिराचार्यः । स
संकल्पयाचक्रे संकल्पं कृतवान् । किमिति । सर्वा देवता जानामीति ।

१०. ‘ तस्मै ’ संकल्पमेवं कृतवते ‘ देवतोभयलिङ्गा ’ द्विलिङ्गा स्त्रीपुंलिङ्गा-
धवा मध्यस्थानलिङ्गा शुस्थानलिङ्गा च ‘ प्रादुर्बभूव ’ प्रादुर्भूतवती । ‘ तां ’
पुरतोऽवस्थितां सतीं ‘ न जज्ञे ’ न ज्ञातवान् किमियं स्त्री स्यादथवा
पुरुष इत्यथवा किमयमन्तरिक्षस्थानाथवा शुस्थानेति । ‘ ताम् ’ अजानन्
‘ पप्रच्छ विविदिपाणि ’ वेदितुमिच्छामि त्वां किमसि पुरुषोऽथवा
१५ स्त्रीत्यथवा किमस्यन्तरिक्षस्थानाथवा शुस्थानेति । ‘ सा ’ एवं पृष्टा
सती ‘ अस्मै ’ शाकपूणये ‘ एतामृचमादिदेश ’ आदिष्टवती । किमिति ।
‘ एषा मदेवतेति ’ । अस्यामृचमहं देवतेति

अस्यामृचि का त्वं च नैरुक्तो माभेतेत्या ऋचः सकाशादर्धर्गे-
देवतेत्याह्वानम् त्यावधारयेति । कतमा पुनरसावृणिति ।
उच्यते ॥ ८^{१४} ॥

२०

१ क. ख. घ. ट. ठ. ड. ‘ वैशिष्ट्याद् ’. २ च. ‘ बहति ’ नास्ति. ३ घ. ‘ देश-
मात्रेवेत ’; ट. ‘ देशमात्रेवेत ’ त्रये. ४ ग. ज. ‘ ते ’ नास्ति. ५ ग. च. ज. ‘ परोधो ’.
६ घ. ट. ठ. ड. ‘ संदेहाधिकार ’. ७ च. ‘ जानामीति ’ नी. ८ क. ख. ‘ दिलिङ्गा ’
नास्ति; घ. ट. ठ. ड. ‘ दिलिङ्गा स्त्रीपुंलिङ्गा ’ एतत् ‘ मध्यस्थानलिङ्गा ’ इत्यस्य
पश्चाद्वर्तते. ९ क. ख. घ. ‘ प्रादुर्भूतवती ’ नास्ति; ट. ‘ भू-तां ’ प्रादुर्भूतवती.
१० क. ख. ग. ज. घ. ट. ठ. ड. ‘ किमियं मध्यस्थाना ’. ११ ग. ज. ‘ देशा एव
ज्ञादि ’. १२ घ. ट. ‘ तेनस्या ’. १३ क. ख. घ. ट. ठ. ड. ‘ दर्शयन्त्या ’.
१४ क. ख. ४; ग. ११; घ. स. ट. ठ. ड. च. ज. अज्ञो नास्ति.

अयं स शिङ्खु येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसना-
 धधि श्रिता । सा चित्तिमिर्नि हि चकार मर्त्यं विद्युद्भ-
 वन्ती प्रति वव्रिमौहत [ऋ० सं० १ । १६४ । २९] ॥
 अयं स शब्दायते येन गौरभिप्रवृत्ता मिमाति मायुं शब्दं
 करोति मायुमिवादित्यमिति वा वागेषा माध्यमिका
 ध्वंसने मेघेऽधिभिता सा चित्तिभिः कर्मभिर्नीचैर्निकरोति
 मर्त्यं विद्युद्भवन्ती प्रत्यूहते वव्रिं वव्रिरिति रूपनाम वृणो-
 तीति सतो वर्षेण प्रच्छाद्य पृथिवीं तत्पुनरादत्ते ॥ ९ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

अयं स शिङ्खु इति । अयं स मेघः शब्दायते शब्दमिव करोति । १०
 न च तावदसौ शब्दं करोति । अयं च तावन्माध्यमिकायां वाचि तत्स्थायां
 शब्दं कुर्वत्यां तत्साहचर्याद्विज्ञायते स एव शब्दं करोतीति । येन मेघेन किं
 कृतमिति । येन गौरभीवृता । येन माध्यमिका वागभिप्रच्छादिता सती
 मिमाति मायुं निर्मिमीते निर्वर्तयति मायुम् । शब्दं करोतीत्यर्थः । ' मायुः

काकुत् ' इति च वाङ्नामसु पठितम् [निघ० १५

एकस्मिन् पक्षे १ । ११] । अथवा मायुरादित्यो भवति सर्व-
 प्रथमोऽर्धचोऽव्यक्त- भूतनिर्माता । तमिवात्मानं निर्मिमीते । फाव-
 विद्युद्रूपाया वाचोऽभि- स्थिता । ध्वंसने । उदकध्वंसने उदकसंसने
 धायकः । मेघस्य मेघेऽध्याश्रिता । अयं तावदर्धचो मेघान्तर्वर्तिन्या
 प्राधान्यात्पुरुषत्वाभि- वाचोऽनभिव्यक्तविद्युद्रूपाया अभिधायकः । मेघ- २०
 प्रायः रूपत्वात्पुरुषाभिप्रायः । अथ चोयमुत्तरः स्त्रीत्वा-
 मिप्रायः । यैवलक्षणं वाग्मेघरूपा मेघशरीरा
 वा सा चित्तिभिः स्वैध्वटचटाशब्दकर्मभिः नि हि चकार नीचैः

१ क. ख. छ. त. व. 'कर्मभिर्नीचैः' नास्ति. २ क. ख. द. प; छ. त. १२.
 ३ ड. घ. प. ठ. ड. 'इति...पादः' नास्ति; छ. इति द्वितीयः पादः. ४ घ. अय.
 ५ क. ख. प. ड. ठ. ड. शयं. ६ घ. स्वैव चट्.

करोति मर्त्यं मनुष्यम् । सर्वो हि विम्यत्तस्या आसीदत्यवनमति वा ।
कदा पुनर्निकरोति मर्त्यमिति । उच्यते । विद्युद्भवन्तीति । विद्युदात्मना
ख्याख्येनाभिनिर्वर्तमाना । तदा हि दारुणश्चट्चटाशब्दो भवतीति विशे-

षेण भयंकरो न तथा विद्युद्रहितः । सैवमात्मान-

५ [द्वितीयो व्यक्तवि- माविष्कृत्य विद्युद्रूपेण विक्षिप्य सर्वासु दिक्षा-
द्युद्रूपाया अभिधा- त्मानं वर्षेण प्रच्छाद्य पृथिवीं ततो वर्षण्युपरमे-
यकः । विद्युत्प्राधान्या- प्रत्यूहते घर्त्रि प्रत्युप्रसंहरति रूपमात्मीयम् ।
त्वात्वाभिप्रायः अदृश्यं करोतीत्यर्थः । ' वविरिति रूपनाम ' ।
तैष्यावृत्य स्वमाश्रयं वर्तते । यैस्मिन्पक्षे मध्यस्था-

१० द्वितीयपक्षे मेघ- नलिङ्गा युस्यानलिङ्गा वेति तस्मिन्पक्षे मेघरू-
विद्युद्रूपे गौणे । मेघस्था पत्वमविवक्षितमेव वाचो विद्युद्रूपत्वं च । किं
वाक्यशब्दं कृत्वा वर्षं ह्येतावीद्विवक्षितम् । मेघाश्रया शब्दवती
करोत्यादित्यात्मना च भूत्वा माध्यमिका वाग्विद्युदात्मना स्थित्वा
वर्षजलमाकर्षति वर्षेण प्रच्छाद्य पृथिवीं तद्वर्षमुद्रकरूपभूतं

१५ जलाशयेभ्य आदित्यात्मना स्थित्वा पुनरादत्ते
विद्युदात्मना मध्यस्थाने स्थित्वा वर्षत्यादित्यात्मना युस्थाने स्थित्वा
पुनरादत्त इत्यभिप्रायः । वक्ष्यति हि 'तमकुर्वन्नेधाभावाय पृथिव्यामन्त-
रीक्षे दिवि' [नि०. ७ । २८] इति । सेयमेकैव देवता मध्य-

स्थाना विद्युद्रूपा युस्थाना वादित्यरूपेत्ययमेवंलक्षणो-
२० संदेहकारणम् देवतातत्त्वसंदेह उपेक्षितव्यो मघ्नदर्शनाच्च निर्व-
क्तव्य इत्ययं मघ्नसंक्षेपार्थः ।

'सा पृथिव्या संदिक्षते' [निरु० २।७] इत्यनेन संदेहसामान्येनोदाहृतमि-
दमत्र मतं शाकपूणेः इत्येवमादि । अनुक्रमणं त्वधिकृतम् । तस्मिन्गोशब्द एको
निरुक्तः प्रकाशरोपप्रैर्दर्शनार्थम् । इतराण्यप्यभ्युह्य निर्वक्तव्यानि । तदथा । ग्मा

१ ख. मर्त. २ क. ख. ग. ज. तव्यावृत्य; घ. ट. ठ. ड. ताव्यावृत्य. ३ क.
ख. घ. ट. ठ. ड. यस्मिन्पक्षे. ४ ग. ज. चेति. ५ क. ख. ग. ज. घ. ट. ठ.
ड. 'देव्याद्यादित्या'. ६ ख. निर्गोक्तव्यः. ७ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'षेपदर्श'.

गमनात् । अस्यां गच्छन्ति भूतानीति ग्मा जमनात् । जमन्ति गच्छ-
न्त्यस्यां भूतानां लोचमादि ।

नैघण्डुकांस्तु याञ्छन्त्यान्तर्यं गणशः स्थितान् ।

छन्दोभ्योऽन्विष्य तत्त्वार्थोन्निर्वायायोगतस्तु तान् ॥ ९ ॥

इति निरुक्तवृत्तौ सप्तमोऽध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

५

हिरण्यनामान्युत्तराणि पञ्चदश हिरण्यं कस्मादधियत
आयम्यमानमिति वा ह्रियते जनाज्जनमिति वा हितरमणं
भवतीति वा हृदयरमणं भवतीति वा हर्षतेर्वा स्यात्प्रे-
प्ताकर्मणोऽन्तरिक्षनामान्युत्तराणि षोडशान्तरिक्षं कस्मा-
दन्तरिक्षान्तं भवत्यन्तरेमे इति वा शरीरेष्वन्तरिक्षयमिति १०
वा तत्र समुद्र इत्येतत्पार्थिवेन समुद्रेण संविद्यते समुद्रः
कस्मात्समुद्रवन्त्यस्मादापः समभिद्रवन्त्येनमापः संमोदन्तेऽ-
स्मिन्भूतानि समुद्रको भवति समुन्तीति वा तयोर्वि-
मागस्तत्रेतिहासमाचक्षते देवापिश्रार्द्धिषेणः शंतनुश्च
कौरव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः स शंतनुः कनीयानभिषेचया- १५
चक्षे देवापिस्तपः प्रतिषेदे ततः शंतनो राज्ये द्वादश
वर्षाणि देवो न ववर्ष तमूनुर्माह्वणा अधर्मस्त्वया चरितो
ज्येष्ठं भ्रातरमन्तरित्याभिषेचितं तस्मात्ते देवो न ववर्षतीति
स शंतनुर्देवापिं शिशिक्ष राज्येन तमुवाच देवापिः पुरो-
हितस्तेऽसानि याजयानि च त्वेति तस्यैतद्वर्षकामसूक्तं २०
तस्यैषा भवति ॥ १० ॥

१ य. अस्यां ग (न?) मंति गच्छ°. २ क. स. य. ट. ठ. ड. 'इति ग्मा'
नास्ति. ३ य. ज्मा यमनायमन्ति गच्छ°. ४ ग. १२; इतोपु अशो नास्ति. ५ य.
ट. सप्तमस्याप्याय°. ६ य. पाद्: समाप्तः. ७ क. स. छ. त. द. 'हृदयरमणं
भवतीति वा' नास्ति. ८ क. स. त. बोद्धंशः; छ. षोडशः; द. बोद्धंशः छ.
९ छ. त. द. 'अन्तरिक्षय'. १० छ. त. द. समुपची°. ११ क. स. द. १;
छ. त. १२.

- ‘हिरण्यनामान्युत्तराणि पञ्चदश’ । हिरण्यस्य नामानि हिरण्यनामानि ।
 उत्तराणि । कुतः । प्रकृतेभ्यः पृथिवीनामभ्यः । पृथिव्यामेव हिरण्यमु-
 त्पद्यते । अतः पृथिव्यभिधानानन्तरं हिरण्यनामानि समान्नातानि । कियन्ति
 पुनस्तानि । पञ्चदश । पञ्च च दश च पञ्चदश यानि समान्नातानि ।
 ५ असमाम्नातान्यपि सन्ति हाटकसुवर्णचामाकरशातकुम्भादीनि । कतमानि
 पुनस्तानि समाम्नातानीति । उच्यते । ‘हेम चन्द्रं रुक्मम्’ [निघ० १।२]
 इत्येवमादीनि । हितं ममेदमिति सर्व एवैतन्मन्यते तस्माद्धेम । चन्द्रं
 चन्दतेः कान्तिकर्मणः [धा० १ । ६८] । सर्व एव ह्येतत्कामयते ।
 रुक्मं रोचतेर्ज्वलत्यर्थस्य [धा० १।७४६] । तद्धि रोचिष्णु भवतीति ।
 १० एवमूहितव्यं सर्वत्र निर्वचनम् ।

- आह । ‘हिरण्यं कस्मात्’ । उच्यते । ‘ह्रियते आर्येभ्यमानमिति वा’ ।
 आर्येभ्यमानं ह्रियत एव शिल्पिभिः कटकरुचकस्वस्तिकादिभावेन विस्ती-
 र्यमाणम् । ‘ह्रियते जनाज्जनमिति वा’ । तेन हि व्यवहारः क्रियते ।
 ततस्तन्नैकत्रावतिष्ठते ह्रियत एव सर्वदा । ‘हितरमणं भवतीति वा’ ।
 १५ यस्य हि तद्भवति तस्य हितं च दुर्भिक्षादिषु तद्भवति रमणं चेति । तेन
 हि गृहीतेन मूर्खकोऽपि रमते किमुत मनुष्यः । ‘हर्यतेर्वा स्यात्प्रेप्ता-
 र्थस्य’ । तद्धि सर्वैरेव प्रार्थ्यते लोके ।

- अनुक्रमेण ‘अन्तरिक्षनामान्युत्तराणि षोडश’ । षट् च दश च
 षोडश । कतमानि पुनस्तानि । ‘अम्बरं विषद् व्योम’ [निघ० १।३]
 २० इत्येवमादीनि । अम्बरमभ्युवेद्वति । नानाभावेन सर्वतो वियातमिति
 वियत् । नानाप्रकारमेतदवति भूतानीति व्योम । एवमाद्यभ्युहितव्यम् ।

आह । ‘अन्तरिक्षम्’ एव तावत् ‘कस्मात्’ इति । उच्यते ।
 ‘अन्तरा’ हीदं यात्रापृथिव्योरवस्थितं ‘क्षान्तं’ च ‘भय-
 ति’ । पृथिव्यन्तमित्यर्थः । अथ ‘वा अन्तरा’ यात्रापृथिव्यी

- १५ १ क. ख. ‘पत इत्यतः’; घ. ट. ठ. ड. ‘मुपपतत इत्यतः’ । २ ख. ‘पञ्चदश’
 नास्ति. ३ ग. ज. ‘पञ्च च दश च’ नास्ति. ४ ख. आयाध्यमानं. ५ क. ख.
 घ. ट. ठ. ड. ‘हि’ नास्ति ६ क. ख. ग. ज. मूर्खको. ७ क. ख. लोकादु-
 क्रमेणैव । अन्तः; ग. ज. लोकादुक्रमेणान्तः; घ. ट. ठ. ड. लोकेऽनुक्रमेणै-
 वान्तः. ८ ग. च. ज. षोडश. ९ क. ख. घ. ट. ठ. ड. अम्बुमत. १० घ. ट.
 २० अम्बुहितव्यं. ११ ख. ‘तावत्’ नास्ति.

इमे क्षियति निवसति ' इति ' अन्तरिक्षम् । अथ ' वा ' शरीरेषु ' एतदेव ' अन्तर ' मध्येऽवस्थितम् ' अक्षयम् ' इतराणि पृथिव्यादीनि भूतानि क्षीयन्ते तस्मादक्षयत्वादन्तरिक्षम् ।

' तत्र ' तस्मिन् पोटशकेऽन्तरिक्षनामसमुदाये ' समुद्रः ' इत्येत-
समुद्र इति दभिधानमुभयामिधायित्वात् ' पार्थिवेन समुद्रेण ' ५
संदेहपदम् एतेन जलाशयेन ' संदिह्यते ' । एतदत्र संदे-
हपदम् ।

आह । ' समुद्रः कस्मात् ' इति । उप्यते । ' समुद्रवन्त्यस्मादापः ' धीचिंतरङ्गसीकरादिभावेन । ' समभिद्रवन्त्येनमापः ' । सर्वा एव ह्यापो निम्नानुसारित्वात्समुद्रमेवाभिमुख्येन द्रवन्ति । स हि निम्नो भवति । १०
' समोदन्तेऽस्मिन्भूतानि ' । संहृष्यन्ति जलचराणि सत्त्वानि बहूदकात्वात् । ' समुद्रको भवति ' । उदै ह्युदकनाम । तदस्मिन्संहतमिति समुद्रः । ' समुनत्तीति वा ' । संवेदयतीत्यर्थः । अतो हि प्रसृतैरम्भोभिः सर्वमिदं संक्षिप्यते ।

' तयोर्विभागः ' यस्मिन्नुदाहरणे उच्यते ' तत्रेतिहासमाचक्षते ' १५
आचार्या निदानभूतम् । इति हैवमासीदिति यः

यस्यामृचि समुद्र- कथ्यते स इतिहासः । कतमः पुनरस्ताविति ।
शब्दो द्वयोरर्थयोः प्रयु- उप्यते । ' देवापिश्चाष्टिपेणः ' इत्येवमादि ।
ज्यते तन्निदानभूत ' देवापिश्चाष्टिपेणः शंतनुश्च ' आष्टिपेण एव
इतिहासः ' कौरव्यौ ' कुरुवंशप्रभवौ ' भ्रातरौ बभूवतुः ' । २०

तयोरेको यः ' कनीयान् शंतनुः ' नाम स
आत्मानम् ' अभियेचयांचक्रे ' अभियेचितवानित्यर्थः । सोऽभिपिक्तः सन्
राजा बभूव । इतरः पुनर्ज्येष्ठो ' देवापिस्तपः प्रतिपेदे ' । स किल
तीव्रिण तपसा ब्राह्मणत्वमापेदे विश्वामित्रवत् । ' ततः ' तेनापचारेण
ज्येष्ठातिक्रमजेन ' शंतनो राज्ञे ' राष्ट्रे ' द्वादश वर्गाणि देवो न २५

१ प. 'इमे' नास्ति; ट. 'पृथिव्यो-ऽक्षय' इमे. २ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'दभि-
धानमुभयामिधानम् । उभयामि'. ३ क. ख. घ. ट. ठ. ड. उद्र'. ४ क. रा. ग.
ज. निदानभूतः. ५ क. ख. ठ. 'मादीनि; घ. ट. ठ. 'मादीति ६ घ. ट. ठ. ड.
'न्तमुनामिधानः' ७ क. ख. घ. ब्राह्मण्यया; ट. ब्राह्मण्यया' एतत्. ८ ग. ज.
'राज्ये' नास्ति

वर्ष ' । अवर्षति-देवे शंतनुम् ' ऊचुः ' उक्तवन्तो ' ब्राह्मणाः
 ' ११ ' अयेष्टं भ्रातरमन्तरित्य ' अतिक्रम्य ' अभिपेक्षितम् ' अभिपेक्ष आत्मनः
 कारितो यतस्त्वया ' तस्मात् ' तेन मर्यादातिक्रमेण ' ते ' तव राज्ये ' देवो न
 वर्षति ' प्राप्तकालं प्रतिपद्यस्व ' इति ' । ' सः ' एवमुक्तः ' शंतनुः-
 ' १२ ' देवापि शिक्षा ' पुनः पुनः शशासाभिगमितवानित्यर्थः । कथम् ।
 ' राज्येन ' अभ्युद्यतेन । तेनार्थ्यमानो ' देवापिस्वाच ' काममहं
 ' पुरोहितस्तेऽस्तानि ' भवानि ' याज्यानि च ' त्वां वार्षिकेण कर्मणा ।
 न च राजा भविष्यामि भवनेवास्तु राजेत्यभिप्रायः । ' तस्य ' देवापेः
 पतत् वर्षेकामस्य ' सूक्तम् ' आविरभूत् । तत्र ' तस्य ' समुद्राभि-
 ' १० ' धानस्य संदिग्धस्य प्रविमागोपदर्शनाय ' एषा ' निर्वाचिका ऋग्
 ' भवति ' ॥ १० ॥

आर्हिषेणो होत्रमृषिर्निषीद्वन्देवापिर्देवसुमतिं चिकि-
 त्वान् । स उत्तरस्माद्धरं समुद्रमपो दिव्या असृजद्वर्षा
 अभि [क्र० सं० १० । १८ । ५] ॥ आर्हिषेण ऋहिषेणस्य
 ' ११ ' पुत्र इपितसेनस्येति वा सेना सेश्वरा समानगतिर्वा पुत्रः
 पुरु ब्रायते निपरणाद्वा पुत्ररक्तं ततस्त्रायत इति वा होत्र-
 मृषिर्निषीद्वन्मृषिर्दर्शनात्स्तोमान्ददर्शेत्यौपमन्यवस्तद्यदेना-
 स्तपस्यमानान्ब्रह्म स्वयंभ्वभ्यानपत्त ऋषयोऽमवन्तद्वर्षा-
 णामृषित्वमिति विज्ञायते [तै० आ० २ । ९] देवापिर्देवा-
 ' २० ' नामाध्या स्तुत्या च प्रदानेन च देवसुमतिं देवानां
 कल्याणीं मतिं चिकित्वांश्चेतनावान् । स उत्तरस्माद्धरं
 समुद्रम् । उत्तर उद्धततरो भवत्यधरोऽधोरोऽधो न धाव-
 तीत्यूर्ध्वगतिः प्रतिपिद्धा तस्योत्तरा भूयसे निर्वच-
 नाय ॥ ११ ॥

१ ग. ज. पुनर शशास न अभि; ठ. ट. ' पुनः ' सङ्गदेव. २ घ. ट. वार्षि-
 केन. ३ क. ख. १; घ. ट. च. ज. अष्टौ नास्ति; ठ. ट. ' भवति । इति निरुक्त-
 टीकायां द्वितीयाध्याये दशमः सङ्ख्यः. ४ क. ख. छ. त. द. ' त्वं कथयोऽभवत् '
 ' २० ' नास्ति. ५ क. ख. द. २; ट. त. १४.

आर्ष्टिपेणो० वर्ष्वा अभि । त्रिष्टुप् । एतया देवानस्तौत् । आर्ष्टिपेण
 ऋष्टिपेणस्य पुत्र इपितसेनस्येति३ वा ।
 द्वयर्थसमुद्रमदोदा- अन्यकल्पान्तरीणोऽन्यकल्पान्तरीणस्यैव शंतनो-
 हरणम् वर्षार्थाय कर्मणि होतृत्वे वृतो होत्रं३ कर्म
 प्रति निपीदन् उपविष्टवान् । ततो देवापिः
 नाम नाम्ना देवसुमतिं देवानां कल्याणीं मतिमुदकसंप्रदानाभिमुखीं कर्तुं
 चिक्षित्वान् जानानः । स हि तैथास्तौचया देवानामुदकसंप्रदानाभिमुखी
 मतिरभूत् । ततः पारितुष्टेषु देवेषु स देवापिः उत्तरस्मादधरम् उत्तरस्माद-
 न्तरिक्षाख्यत्समुद्रादधरं समुद्रं पार्थिवं प्रति । एष विभागः समुद्रयोः ।
 अपो दिव्याः प्रशास्ताः सत्सपत्न्यकरीः असृजदक्षारयत् । किलक्षणाः ।
 वर्ष्वा वर्षभूताः । अभि सर्वभूतानामुपरि । स देवाप्याधिकारे वर्तमान
 एतदकरोत् । अन्यस्मिन्कल्पे देवापिर्ममाप्येतदेवमेवास्मिन्त्येवं वर्तमानेनाभि-
 संबध्यत इति समस्तार्थः ।

अथैकपदनिरुक्तम् । ऋष्टिरायुधविशेषः । तद्वहुव्य सेना यस्य सौऽयमृ-
 ष्टिपेणः । इपितसेनो वा नित्यमेव प्रेषितसेनः शत्रुप्रति । ' सेना
 सेश्वरा ' । इनेतीश्वरनाम । तेन हि सा नित्यमेव संयुक्ता भवति ।
 ' समानगतिर्वा ' । समानमेकमर्थमुदिश्य जयाख्यामिति३ सेना । ' पुत्रः
 पुरु प्रायते ' । बह्वपि यत्पित्रा पापं कृतं भवति ततोऽयं प्रायत इति
 पुत्रः । ' निपूरणाद्वा ' । निपूणाति ददाति ह्यसौ पिण्डाम्भितृम्य इति
 पुत्रः । अथवा ' पुत् ' इति नरकस्थानमुच्यते । ' ततस्त्रायत इति ' २५
 पुत्रः । ' ऋषिर्दर्शनात् ' । पश्यति ह्यसौ सूक्ष्मानर्थार्थान् । ' स्तोमानन्दद-
 शैलौपमन्यवः ' । मन्त्राः स्तोमाः । तानसौ तारकेण ज्ञानेन पश्यती-
 त्येवमौपमन्यव आचार्यो मन्यते । ब्राह्मणमपि चैतस्मिन्नर्थे दर्शयति ।
 ' तयदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म ' इत्येवमादि । तदेतदुच्यते यत्कृतमृषीणामु-
 पित्तम् । यद्यस्मादेनांस्तपस्यमानांस्तप्यमानान्ब्रह्म ऋग्यजुःसामाद्यं २५
 स्वयम् अकृतकमभ्यागच्छत् । अनर्घीतमेव तत्त्वतो ददशुस्तपोविशेषेण ।

१ ठ. ट. आर्ष्टिपेण इति । त्रिष्टुप् । २ च. ' इति ' नास्ति. ३ ग. घ. रीवं.
 ४ च. तथा तथा. ५ घ. ट. जणस्पयेति सेना. ६ क. ख. घ. ट. निददाति. ७
 क. ख. ग. ज. ' अभि ' नास्ति. ८ क. ख. घ. ट. ' एवं ' नास्ति. ९ ट.
 २. ' एतत् ' नास्ति. १० घ. ' तप्यमानान् ' नास्ति.

तदपीणामृपित्वमित्येवं ब्राह्मणेऽपि निचार्यमाणे ज्ञायते । ' देवापिर्देवाना-
माप्या ' । स हि स्तुतिभिर्देवानामोति हविःसंप्रदानेन च । ' उत्तर
उद्धततरः ' । उद्धततरोऽसौ भवत्युपरिष्ठादवस्थानात् । ' अधरः अधोऽरः ' ।
किमुक्तं भवति । अध एवासावरति । ' अधः ' पुनः ' न धावति ' ।
५ तस्य द्वाधोगतित्वादेव ' ऊर्ध्वगतिः प्रतिपिद्धा ' ।

‘ तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ’ । किमुक्तं भवति । तस्यैवार्थस्य
प्रकृतस्य यथोत्तरस्मात्समुद्रादृष्टिमयाचत देवेभ्यो देवापिर्यथा च पौरोहि-
त्यमकरोद्यथा वायाजयच्छंतनुं वर्षार्थायैव कर्मणा । भूयसे बहुतराय निर्व-
चनाय निर्विविध्यं वचनाय ॥ ११ ॥

११

यद्देवापिः शंतनवे पुरोहितो होत्राय घृतः कृपायन्नवीन-
धेत् । देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो वृहस्पतिर्वाचमस्मा अप-
च्छत् [ऋ० सं० १०। १८। ७] ॥ शंतनुः शं तनोऽस्त्विति
वा शमस्मै तन्वा अस्त्विति वा पुरोहितः पुर एनं वधति
१५ होत्राय घृतः कृपायमाणोऽन्वध्यायद्देवश्रुतं देवा एनं
शृण्वन्ति वृष्टिवनिं वृष्टियाचिनं रराणो रातिरभ्यस्तो वृहस्प-
तिर्ब्रह्मासीत्सोऽस्मै वाचमयच्छद्द्वृहदुपव्याख्यातम् ॥ १२ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

२०

येदेवापिरिति । यत् यस्मादेवापिः शंतनवे रात्रे पुरोहितः । पुरोहितो
देवापेः पौरोहि- देवाग्निकर्मणि व्याप्रियते । स पुरोहितः सन्
त्येऽन्या ऋक् देवापिर्होत्राय होतृकर्मणे वर्षार्थायैव कर्मणि कृतः
संक्रपायमाणो रंजिऽदीधेत् अन्यध्यायत्
वृष्टिर्भवेदिति । तं देवश्रुतं देवापिमेनं वृष्टिवनिं वृष्टियाचिनं मत्वा रराणो

२५

१ च. ' द्वाधुपस्थानात्. २ ग. ज. आपारः. ३ क. ख. ९; ग. १४; च १५;
ठ. ड. ' वचनाय. इति निरुक्तटीकाया द्वितीयाध्याय एकादशः खण्डः. ४ क. ख.
छ. त. द. ' वृष्टिवनिं ' नास्ति. ५ क. ख. द. ३; छ. त. १५. ६ ड. घ. प.
' इति...पादः ' नास्ति; त. इति द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः. ७ च. स्त्रिकादि-
२९ क. ८ क. ख. ग. ज. राः. ९ घ. ट. अदिधेत्.

ददत् । इह बृहस्पतिस्तस्मिन्नेव कर्मणि ब्रह्मत्वेऽवस्थितः । सोऽस्मै वर्षसौ-
धिकां वाचमयच्छदददादित्यर्थः । तया वाचा तदनुगृहीतया देवान्स्तुत्वा
तेभ्यो वर्षमलभतेति समस्तार्थः ।

अथैकपदनिरुक्तम् । 'शंतनुः' कस्मादिति । उच्यते । स हि
कंचिद्रोगात् दृष्ट्वा ब्रवीति हे 'तनो शं' तव 'अस्त्विति' । ततोऽसा-
वगदो भवति । अथवा 'शमस्तु' तन्वा 'इत्येवमसावाशास्ते । शमिति सुख-
नाम । तनुः शरीरम् । तदसौ नित्यं शरीरायाशास्ते । 'पुरोहितः' ।
शान्तिकपौष्टिकाभिचारिकेषु कर्मसु 'पुर एनं दधति' राजानः । पुरस्कु-
र्वन्तीत्यर्थः । 'देवभुतं देवाः' हि 'एनं' स्तुतीस्त्वारयन्तं 'शृण्वन्ति'
इति देवभुत् तं देवभुतम् । 'रराणः' इति 'रांतिः' दानार्थः
'अभ्यस्तः' । 'बृहदुपप्ल्याख्यातम्' 'बृहदिति महतो नामधेयं परिवृढं
भवति' [निरु० १ । ७] इति ।

मन्त्रनिदानद्वारेण धर्मोऽयमत्र दर्शितो ज्येष्ठे तिष्ठति कनीयसो राज्य-
नैरुक्तकृतोऽस्या प्राप्तिर्धर्मातिक्रमो धर्मातिक्रमे च देवो न वर्ष-
तीति । नैरुक्तपक्षे ऋष्टिप्रेणो मय्यमस्तदपत्यमयमभिः
ऋचोऽर्थः पार्थिव आर्ष्टिप्रेणो देवायिः शंतनवे सर्वस्मै
यजमानायेति योज्यम् । बृहस्पतिर्वाचस्पतिरिति मध्यमः । स्तनयितुल-
क्षाणां वाचमित्यर्थः ॥ १२ ॥

इति निरुक्तवृत्तौ सप्तमोऽध्यायस्य तृतीयः पादः ।

साधारणान्युत्तराणि यद् दिवश्चरादित्यस्य च यानि
त्वस्य प्राधान्येनोपरिष्ठात्तानि व्याख्यास्याम आदित्यः
कस्मादादत्ते रसानादत्ते मांसं ज्योतिषामादीतो मासेति
वादितेः पुत्र इति बाल्यप्रयोगं त्वस्यैतदार्चान्याम्नाये
सूक्तमाकसूर्यमादितेयमादितेः पुत्रमेवमन्यासामपि देवताना-

१ घ. ठ. उ. ड. 'सः' नास्ति. २ घ. ठ. ड. वर्षसौ वाचं; ट. वर्षसौ वाचं
साधिकां. ३ ग. ज. किंचि. ४ क. ख. ग. ज. घ. ट. उ. ड. शमस्यै तन्वा.
५ ग. घ. ज. परिवृद्धं. ६ ग. 'च' नास्ति; ज. 'कमेव देवो'. ७ ग. ज.
'वर्षनीति नित्यपक्षे । ऋष्टि'. ८ क. ख. ग. ज. देवायिः स स्तनं. ९ क. ख. ३;
ग. १५; घ. ट. उ. ड. च. ज. अहो नास्ति. १० घ. ट. छत्रमस्याध्यायस्य. ११
च. पादः सनातः. १२ क. ख. छ. त. द. 'आदितेः पुत्रमेव' नास्ति.

मादित्यप्रवादाः स्तुतयो भवन्ति तद्यथैतन्मित्रस्य वरुण-
 स्वार्यम्णो वृक्षस्य मगस्यांशस्येत्यथापि मित्रावरुणयोः ।
 आदित्या वानुनस्पती दानपती । अथापि मित्रस्पैकस्य ।
 प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वाव्यस्त आदित्य शिक्षति
 धतेनेत्यपि निगमो भवत्यथापि वरुणस्पैकस्य । अथा वय-
 मादित्य धते तथं । व्रतमिति कर्मनामं निवृत्तिकर्म वारय-
 तीति सत इदमपीतरद्वतमेतस्मादेव वृणोतीति सतोऽ-
 न्नमपि व्रतमुच्यते यदावृणोति शरीरम् ॥ १३ ॥

१० लोकाभिधानाधिकारेणेदमुच्यते । 'साधारणान्युत्तराणि षड् दिवश्चादि-
 त्यस्य च' इति । समानं ध्रियन्त इति साधारणानि । नामानीत्यधिकारो-
 वर्तते एव । उत्तराणि प्रकृतमपेक्ष्य । किं वार्त्रं प्रकृतम् । अन्तरिक्षना-
 मानि । तेभ्य इमान्युत्तराणि । कियन्ति पुनस्तानि । षट् । कयोः पुनः
 साधारणानि । दिवश्चादित्यस्य च । कतमानि पुनस्तानि । 'स्वः पृथि-
 नाकः' [निघ० १।४] इत्येवमादीनि । 'यान्यस्य' आदित्यस्य 'प्राधान्येन'
 वर्तन्ते प्रधानस्तुतिभाञ्जि नामानि 'सविता भगः सूर्यः पूषा' इत्येवमादीनि
 'तान्युपरिष्ठाह्याख्यास्यामः' सप्तदशोऽध्याये [निरु० १२ । १२-१८
 खण्डेपु] । इमानि तु नैघण्टुकानि संस्पृष्टरूपाणि च शुनामभिः
 साकमित्यत इह नैघण्टुकप्रकरणे निरूप्यन्ते ।

१० आह । 'आदित्यः' एव तावत् 'कस्मात्' आदित्य उच्यते ।
 शृणु । 'आदत्ते' ह्यसौ 'रसान्' रश्मिभिरित्यादित्यः । 'आदत्ते
 भासं ज्योतिषाम्' । तदुदये हि चन्द्रादीनां प्रभानाशो भवति । अन्यं प्र-
 होपक्षमेतत् । 'आदीप्तो भासेति वा' । सर्वतो होप भासा आदीप्त
 औद्यतो भवति । 'अदितेः पुत्र इति वा' । अदितिर्देवमाता तस्याः
 २५ पुत्रः । सोऽयमादितेयः सन्नादित्य इत्युच्यते ।

१ छ. त. द. 'सती' । दान'. २ क. ख. 'नाम वृणोतीति सत'. ३ क. ख.
 'देव निवृत्तिकर्म वारयतीति सतो'. ४ क. ख. द. १; छ. त. १६. ५ घ. ट.
 'च्यते ॥ १ ॥ साधा'. ६ क. ख. ग. ज. घ. ट. ठ. ड. चात्र. ७ क. ख. घ. ट.
 ठ. ड. यानि तस्य. ८ ग. च. ज. 'सूर्यः' नास्ति. ९ घ. ट. ठ. ड. इत्युच्यते.
 १० १० ग. ज. अवग्रहः; च. अवग्रहः न्य. ११ ग. ज. घ. ट. आवृत्तो.

‘अल्पप्रयोगं त्वस्यैतदार्चाम्याम्नाये सूक्तभाक्सूर्यमादितेयम्’ इति ।

अल्पप्रयोगोविषयम् । ‘तु’ शब्दो विशेषणार्थः ।

आदितेय इत्यल्प- एतदेवाल्पप्रयोगविषयमितराणि सवितृभगपूर्णा-
प्रयोगं सूक्तभाक्च दीनि बहुप्रयोगविषयाण्यस्यादित्यस्य । काल्प-
प्रयोगविषयम् । आर्चाम्याम्नाये । ऋचो यस्मि-

न्नाम्नाये अभि उपर्युपर्याम्नाताः सोऽयमार्चाम्याम्नायो द्वांशतयः । तस्मिन्-
ल्पप्रयोगविषयमेतददितेः पुत्रत्वाभिप्रायमभिधानम् ‘आदितेयः’ इति ।

सूक्तमार्गेण चैतदभिधानं न हविर्भाक् । न ह्यादितेय इत्यनेन नाम्ना
हविराग्न्यवे चोदितपूर्वमस्ति । यथा चैतत्सूक्तमेव नैघण्टुकवृत्त्या भजते
तथेदमुदाहरणं ‘सूर्यमादितेयम्’ इति ‘यदेदेनमदधुर्याज्ञियासः’ [ऋ० सं० १० । ८८ । ११] इत्यस्यामृचि । अन्ये तु मन्यन्ते । आदित्य
इत्येतदेवाल्पप्रयोगमिति । तत्र त्वेतद्विरुद्धघते

अल्पप्रयोगमित्या- सूक्तभागिति । हविरपि ह्यनेनाभिधानेन चोद्यते
देरन्यद्विवरणम् ‘आदित्यं बहुरूपमालभेत’ [मैत्रा० सं० २ । ५ । ११] इति । ‘तस्य पशोरेतत्सर्वं’ १५
मादित्यो देव उदगात्पुरस्तात्’ [मैत्रा० सं० ४ । १४ । १४२] इति ।

अर्धैवैवमन्यथा वाक्यद्वयप्रविभागेन स्यात् । ‘अल्पप्रयोगं त्वस्यैतदार्चा-
म्याम्नाये’ । आदित्य इति हविर्भाक्सूक्तभाक्च । अल्पहविःसूक्त-
विषयमित्यर्थः । इदं त्वन्यत्सूक्तमेव नैघण्टुकवृत्त्या भजते न कदाचिदपि
हविः । तद्यथा । ‘सूर्यमादितेयम्’ इति । २०

आदित्यशब्दप्रसक्तमाह ‘एवमन्यासामपि देवतानाम्’ इति । देवता-

१ घ. ट. ठ. ड. “प्रयोगस्य विष” २ ग. ज. पूनापभृतीनि; च. पूषामभृ-
तीनि” पन. ३ ठ. ड. अर्चाम्या”. ४ क. रा. घ. ठ. ड. ‘आम्नाये’ नास्ति; ट.
यस्मिन्निभ्यु” आम्नाय अभि उ”. ५ ग. च. ज. ‘यमर्चाम्या”. ६ च. दासतयी. ७
घ. भागे एव”; ट. भागे एव”. ८ ग. चं. ज. च तद्”. ९ क. रा. घ. ट. ठ. २५
ड. त्वेत”. १० ठ. ड. सर्वा ऋक् पठयते. ११ क. रा. घ. ट. ठ. तस्य च
पशो”. १२ ट. पञ्चर्चना”. १३ क. रा. घ. ट. ठ. ड. अथ चैव”. १४ क. रा.
घ. ठ. ‘य’ नास्ति; ट. ‘इये-वि” घ. १५ क. रा. घ. ट. ठ. ड. “सूक्तभागि-
यप”.

आदित्यनाम्नान्या
अपि देवता अभिधीयन्ते ।

भेदपक्षमपेक्ष्येवमुच्यते । ' आदित्याभिधानप्रवादाः
स्तुतयो भवन्ति ' । ' तद्यैतत् ' उदाहरणजातं
' मित्रस्य वरुणस्यार्यम्णो दक्षस्य भगवतांशस्येति ' ।

यथा ' इमा गिरः '

इमा गिरं आदित्येभ्यो घृतसूः सनाद्राजम्भ्यो जुह्वं

इत्यस्यां मित्रावरुणा-
र्यमदक्षभगांशाः

जुहोमि । शृणोतुं मित्रो अर्यमा भगो नस्तुवि-

जातो वरुणो दक्षो अंशः [ऋ० सं० २ ।

२७ । १] ॥ अस्यामृचि सर्व एवादित्यप्रवादया

स्तुत्या स्तुयन्ते ।

' अथापि मित्रावरुणयोः ' आदित्यप्रवादाः स्तुतयो भवन्ति । तद्यथा ।

१० ' आदित्या दानुनस्पती । दानपती ' । ' ता

' ता सम्राजा ' सम्राजा घृतासुती आदित्या दानुनस्पती । सचेते

इत्यस्यां मित्रावरुणौ अनवह्वरम् ' [ऋ० सं० २ । ४१ । ६] ॥

गायत्रीयं गृहसमदेन दृष्टा । अभिप्लवस्य पडहस्य

द्वितीयेऽहनि प्रउगं नाम शस्त्रम् । तत्र ' अयं वा मित्रावरुणा सुतः

१५ सोमः ' [ऋ० सं० २ । ४१ । ४] इत्येव तृचः शस्यते [आश्व०

श्रौ० ७ । ६] तस्योत्तमेया । ता सम्राजा तौ संदीप्तौ घृतामुती । तौ

हि घृतमुदकमामुवाते वर्षकर्मणा जनयतः । आदित्यौ अदितेः पुत्रौ

दानुनस्पती दानानामीशाते । तौ यजमानैः सम्यक्स्तुतिभिर्हविर्भिधं संसे-

वितौ सन्तौ प्रतिसंसेवेते यजमानानभिमतैर्दानैः । अनवह्वरम् अनवह्वर्यमाना-

२० वित्यर्थः । यजमानविशेषणं चायुक्तम् । न वृत्तप्रौ शक्नौ च दातुमित्येवं

मित्रावरुणावत्र स्तुयेते ।

' अथापि मित्रस्यैकस्य ' आदित्यप्रवादा स्तुतिर्भवतीति । तद्यथा ।

१ घ. ट. ठ. ड. देवताभेदमपेक्ष्य. २ ग. च. ज. घ. ङ. घृतास्तुतियस्यां.

३ ठ. ड. प्रसङ्गा; ग. ता सम्राजा. वद्वरं. ४ घ. ट. ड. पडहस्य; ठ. पडहस्य.

५ च. प्रयुगं. ६ ठ. ड. ' तौ हि ' नास्ति. ७ ग. ज. अनवह्वरं. यजमानविशेषणं

चायुक्तं. अनवह्वर्यमानावित्यर्थः. ८ न वृत्तं; घ. ट. ठ. ड. ' नस्तुव्यं'. ९ च.

' यजमानविशेषणं चायुक्तं ' नास्ति. १ कं. ख. ग. ज. ठ. ड. ' इति ' नास्ति. १०

२८ ग. च. तद्यथा. १७; घ. ट. तदा.

प्र 'स मित्र' मर्तो- अस्तु प्रयस्यान्यस्त आदित्य
'प्र स मित्र' इत्य- शिक्षति व्रतेन । न हन्यते न जीयते त्वोतो
स्यां मित्रः नैनमहो अश्रोत्यन्तितो न दूरात् [ऋ० सं०

३ । ५९ । २] ॥ अप्ययमप्यन्ये ब्रह्मो निगमा

इत्यपिशब्दः । प्र स मित्रेति विश्वामित्रेण दृष्टा । त्रिष्टुप् । मित्रस्य चरोः
पुरोनुवाक्या [आश्व० श्रौ० ३ । १२] । प्रास्तु प्रकर्षणास्तु भवतु हे मित्रं
आदित्य अदितेः पुत्र स मर्तः सै भनुष्यः प्रयस्यान् अन्नवान् । यः किं करोति ।
यस्तुभ्यं शिक्षति ददाति व्रतेन कर्मणा निर्वपणप्रोक्षणादिना संस्कृत्येदं
हविश्चरुलक्षणम् । किंच । एवमतिमहाप्रभावस्त्वं येन सै मर्त्यो यस्तव
यंष्टा ध्येतः त्वत्परिग्रहे वर्तमानस्त्वया रक्षितो न केनचित्प्रत्यनीकभूतेना-
तिवलेनापि शत्रुणा हन्यते हिंस्यते । न चार्हतोऽपि सन् जीयते यशी-
क्रियते केनचित् । न केवलं शत्रूणामनाधृष्यः । नचैनं त्वोतं सन्तमं-
होऽपि पापमपि अश्रोति न व्याप्नोति । यदन्तितः अन्तिकात्समीपात् ।
यस्त्वशरीरादेव बाह्यनक्षेत्रानिमित्तमुत्पद्यते पापं तदुत्पत्तिसमकालमेव तद-
नुग्रहादपव्यस्यते । तर्तस्तन्नैनं व्याप्नोति । न च केवलमन्तिके यत्तदुत्पद्यते
तदेवैनं न व्याप्नोति । किं तर्हि । यदपि दूरात्पुत्रभ्रातृजायादिद्रोणेनमास्का-
न्दति तदपि नैनमभिध्याप्तुं शक्नोति त्वोतं सन्तम् । एवं महानुभावस्त्वम् ।
ततस्त्वां स्तुम इत्यभिप्रायः ।

‘ अथापि वरुणस्यैवस्य ’ आदित्यप्रवादा स्तुतिर्भवति । तथा

‘ अथा वयमादित्य व्रते तव ’ इति । उदुत्तमं

आदित्यनाम्ना

वरुणस्य स्तुतिः

वरुण पाशंमस्मदवाधयं नि मन्थयं ध्रुवाय ।

अथा वयमादित्य व्रते तवानांगसो अदितये स्याम

[ऋ० सं० १ । २४ । १५] ॥ अनया त्रिष्टुभोपाकृतः शुनःशेपो वरुणं

१ क. स. प. ट. ठ. ड. ‘ अपि ’ नास्ति. २ घ. ट. ड. मित्रस्याविश्वः.
३ ठ. ड. ‘ स ’ नास्ति. ४ ठ. ड. कर्मणा यागस्येन निर्व. ५ घ. ट. ठ. ड. २५
‘ स ’ नास्ति. ६ ग. ज. बाहोः घ. ट. ठ. च. च हतो. ७ घ. ट. स न
जीय. ८ क. स. ठ. ड. ततस्त्वेन न; घ. ततस्त्वेन न; ट. ततस्त्वेन न या
स्त्वैनं. ९ क. स. प. ट. ठ. ड. कोऽं यदन्तिके तत. १० ग. घ. ज.
घ. ट. वरुणेति । अनया.

स्तुतवानात्मानं मोचयिष्यन् । वरुणप्रधासेष्वभृवेष्टौ वारुणस्य निष्काप-
 हविषः पुरोनुवाक्येयम् । हे वरुण त्रिपुं स्थानेषु अवो मध्ये उपरिष्टाच्च
 वयं त्वया वद्धाः स्यैः पाशैर्यतो^१ ब्रूमः । स्तुत्या हविषा नोपसृतस्त्वमस्माभिर-
 तस्तावदुत्तमं पाशमुपरिष्टादवस्थितमस्मदस्मत्त उच्छ्रथय ऊर्ध्वमेव क्षथय ।
 १५ उच्छ्रस्य च विमुञ्चास्मानपीडयन् । योऽपि चायमधमस्ते पाशोऽस्मासु
 वर्तत एतमप्यवाञ्चमेव श्रथयावमुञ्च । तथा च योऽप्ययं मध्यमस्ते पाशोऽस्म-
 न्मध्ये वर्तत एतमपि तथैवावस्थितमनभिसर्पयन् ऊर्ध्वमवो वा अदुःखयन्-
 स्मान्विश्रथय विमुञ्च । अथैवं त्वया वयं सर्वयिमुक्तपाशाः सन्तो हे
 आदित्य अदितेः पुत्र वरुण अनागसः अपापाः संशुद्धसंश्रुकिस्त्रियाः ।
 १६ एतदेव हि यौष्माकीणं पाशत्रयमागः । तेन विमुक्ताः सन्तस्तवैव ब्रूते
 तवैव परिचरणकर्मणि अदितये चात्मनोऽदीनत्वाय अनुपक्षमाय अम्बरवन्तः
 स्थिताः स्यामैवाशीः ।

निगमप्रसक्तमुच्यते । ' व्रतमिति कर्मनाम वृणोतीति ' एवं कर्तारि-
 कारके ' सतो ' वृणोतेः । तद्धि कर्म शुभमशुभं वा कृतं सदावृणोति
 १५ कर्तारम् । ' इदमपीतरद् व्रतमेतस्मादेव निवृत्तिकर्म ' यमनियमाख्यं बाहिर्वे-
 दिकमान्तर्वेदिकं वा यदग्निसंनिधावुपेयते । तत्पुनः ' वारयतीति ' एवं
 ' सतः ' । तद्धिप्येषु प्रवर्तमानं पुरुषं स्त्र्यादिषु वास्यति । तदनुस्मृत्य
 स पुरुषो निवर्ततेऽवकीर्णो भविष्यामीत्येतस्माद्वायात् । ' अन्नमपि व्रतमु-
 च्यते ' । तदपि ' आवृणोति शरीरं ' रसशोणितमांसमेदोमज्जास्थिभावेन
 २० विपारेणममानम् । आदित्यशब्दप्रसक्तानुप्रसक्तमिदमुक्तम् । अधुना प्रकृत-
 मेवोच्यते ॥ १३ ॥

- १ क. ख. वारुण्यामिष्ट्यां ह; ग. ज. वरुणस्य तुपनिकासह; घ. ट. वारुण-
 निष्कारह; च. वारुणस्य ऊर्ध्वं निष्कापह; ठ. ड. वारुणनिष्कापह. २ क. ख.
 २५ घ. ट. ठ. यतोऽतो ब्रूमः. ३ घ. ट. ठ. ड. 'पीडयत्. ४ ग. ज. एतम; घ.
 एतमप्येवमेव; ट. एतमप्येवमेव' पदवाच्य. ५ घ. ट. ठ. ड. 'माख्यं वा बाहि'
 (ठ. ड. बाहि). ६ ग. च. ज. कर्तमानं. ७ ग. च. ज. 'नु स्मृत्या. ८ घ. ट.
 ठ. ड. तदस्यावृणोति. ९ क. ख. 'मुक्तम् ॥ १ ॥ अधु'; ठ. ड. 'मुक्तम् ॥
 इति निरुक्तपूतो १३ खण्डः । अधु'; ग. ज. 'प्रसक्तमुक्तम्. १० क. ख. ग. च.
 १० घ. ट. ठ. ड. अत्रो नास्ति.

स्वरादित्यो भवति सु अरणः सु ईरण स्वृतो रसान्स्वृतो
 मासं ज्योतिषां स्वृतो मासेति वैतेन द्यौर्व्याख्याता ।
 पृथिनैरादित्यो भवति प्राश्नुत एनं वर्णः इति निरुक्ताः
 संस्पृष्टा रसान्त्संस्पृष्टा मासं ज्योतिषां संस्पृष्टो मासेति
 वाथ द्यौः संस्पृष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च । नाक
 आदित्यो भवति नेता रसानां नेता मासां ज्योतिषां
 प्रणयोऽथ द्यौः कमिति सुखनाम तत्प्रतिपिद्धं प्रतिपिध्येत
 न वा अमुं लोकं जग्मुपे किंचनाकम् । न वा अमुं लोकं
 गतवन्ते किंचनासुखं पुण्यकृतो ह्येव तत्र गच्छन्ति । गौरा-
 दित्यो भवति गमयति रसान्गच्छत्यन्तरिक्षेऽथ द्यौर्यत्पु-
 थिव्या अधि दूरंगता भवति यच्चास्यां ज्योतींषि गच्छन्ति ।
 विष्टवादित्यो भवत्याविष्टो रसानाविष्टो मासं ज्योतिषा-
 माविष्टो मासेति वाथ द्यौराविष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृ-
 द्भिश्च । नम आदित्यो भवति नेता रसानां नेता मासां
 ज्योतिषां प्रणयोऽपि वा मन एव स्याद्विपरीतो न न
 मातीति वैतेन द्यौर्व्याख्याता ॥ १४ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

‘स्वरादित्यो भवति’ इति । ‘सु अरणः’ सुगमन इत्यर्थः । अथवा
 सुष्टुः तमांसि ईरयति नाशयतीत्यर्थः । अथवा विशेषणविशेष्यभावेनैतं
 वाक्ये स्याताम् । किमुक्तं भवति । ‘सु अरणः’ इति । उच्यते । सु
 ईरणः’ इत्येवम् । ‘स्वृतो रसान्’ । सुष्टु रसानादातुम् कृतो गतो

१ छ. त. व्याख्याता ॥ १७ ॥ पृथि; द. व्याख्याता ॥ २ ॥ पृथि. २ छ.
 त. कृद्भिश्च ॥ १८ ॥ नाक; द. कृद्भिश्च ॥ ३ ॥ नाक. ३ क. ए. छ. त.
 द. ‘रसानां नेता’ नास्ति. ४ क. ए. छ. त. द. जग्मुपे. ५ छ. त. गच्छन्ति
 ॥ १९ ॥ गौ; द. गच्छन्ति ॥ ४ ॥ गौ. ६ छ. त. गच्छन्ति ॥ २० ॥ विष्ट; २५
 द. गच्छन्ति ॥ ५ ॥ विष्ट. ७ छ. त. कृद्भिश्च ॥ २१ ॥ नम; द. कृद्भिश्च
 ॥ ६ ॥ नम. ८ छ. त. द. प्रभवोऽपि. ९ क. ए. २; छ. त. २२; द. ७.
 १० ड. य. प. ‘इति ००० पादः’ नास्ति. ११ क. छ. घ. ट. ठ. ड. ‘इति’
 नास्ति. १२ घ. ट. उच्यते । सु ईरण इत्युच्यते । सु. १३ ग. च. ज. इत्येवम्. २९

भौमानान्तरिक्षांश्च । 'सृष्टो भासं ज्योतिषाम्' । सुष्टु ग्रहनक्षत्रादीनां ज्योतिषां भासमादातुम् ऋतो गतः । 'सृष्टो भासेति वा' । सुष्टु परिगतो भासेति वा । सर्वतो ह्येव परिगतो दीप्या भवति ।

५ 'एतेन द्यौर्व्याख्याता' । उक्तं हि 'तानि चैतन्मन्त्रकर्मणि समान-
निर्वचनानि' [निरु० २ । ७] इति । सापि हि सु अरणा शोभनगर्मेना भवति । शोभनं वा अस्वामर्यत इत्येवमादि यथासंभवं योऽयम् ।

१० 'पृथिरादित्यो भवति' । आह । कस्मात् । उच्यते । 'प्राश्रुत एनं वर्ण इति नैरुक्ताः' । प्राश्रुते प्रकर्षेण व्याप्नोति एनम् आदित्यं वर्णः प्रोज्ज्वल इति नैरुक्ता मन्यन्ते । 'संस्पृष्टा रसान्' । स हि नित्यकाल-
मेव रसानां संस्पृष्टा भवति । तस्य हि तदेव कर्म । वक्ष्यति 'अथास्य कर्म रसादानम्' [निरु० ७ । ११] इति । 'संस्पृष्टा भासं ज्योतिषाम्' । आदित्यसंस्पर्शदेव ग्रहनक्षत्रचन्द्रमसां भासो नश्यन्ति । 'संस्पृष्टो भासेति वा' । दीप्या ह्येव सर्वतो संस्पृष्टो भवति । आह । 'अथ द्यौः' कस्मात्पृथिरिति । उच्यते । सापि हि संस्पृष्टा ज्योतिर्भिः
१५ पुण्यकृद्भिर्धै' ।

२० 'नाक आदित्यो भवति' । आह । कस्मात् । उच्यते । 'नेता भासाम्' । नेता ह्यसौ भासां सर्वान् दिक्षु । 'ज्योतिषां' च 'प्रणयः' । अस्त्यैव हि भगवतो रश्मिजालप्रान्तोपलम्बं ज्योतिर्धकं बन्धनीति । 'अथ द्यौः' कस्मान्नाकः इति । उच्यते । 'कश्चिति सुखलम' । आह । ततः किमिति । शूणु । 'तत्प्रतिपिदं' सपुनरपि 'प्रतिपिष्यते' । आह । किमिति । उच्यते । तत्प्रतिपिष्यमानम् 'अकं' भवति । असुप्त-
मिसर्धः । पुनरपि च प्रतिपिष्यमानं 'नाकं' भवति । ततो द्विः प्रतिपेयः प्रेरुतिमायादयति । नाकमित्युक्ते सुखमिति प्रतीयते । ब्राह्मणमपि चैतस्मिन्नर्थे भवति । 'न वा अमुं लोकं जग्मुषे किञ्च-
२५ नाकम्' [वाट० सं० २१ । २] इति । आह । किमुक्तं भवति ।

१ ग. च. ज. 'भासं' नास्ति. २ ग. ज. शोभनवत् ३ ग. योग्यम् । १५ ।
पृथिः । ४ क. ए. घ. ट. ठ. ड. 'इति' नास्ति. ५ ग. 'जिह्व' ॥ १८ ॥
नाकः । ६ ग. ज. ट. ठ. ड. भासां ज्योतिषां. ७ क. ग. चन्द्राणि; ग. ज.
वज्रपते; च. वज्रपते; ट. ड. वज्रभिः. ८ ग. ज. किमिदं उच्यते. ९ क. ए.
घ. ट. ठ. ड. ५५ भासां. १० घ. ट. ठ. ड. 'अथेव' भवति.

अमुमेव शुलोकं जग्मुपे गतव्रते न किञ्चनोक्तं किञ्चिन्नामुखमिदर्थः ।
किं कारणम् । य एव हि 'पुण्यकृतो' भवन्ति ते 'एव हि तत्र गच्छन्ति' ।
न च पुण्यकृतां दुःखेन भवितुं न्याय्यम् ।

'गौरादित्यो भवति' । आह । कस्मात् । उच्यते । 'गमयति'
ह्यसौ 'रसान्' आत्मानं प्रति । उपक्षयं वा गमयति । किञ्च । ५
'गच्छत्यन्तरिक्षे' स एवात्मना । 'अथ यौः' कस्माद्गौरिति । उच्यते ।
यत् यस्मादियं यौः 'पृथिव्या अधि' उपरि 'दूरम्' अध्वानं 'गता
भवति' । किञ्च । 'यत्' यस्मात् 'चास्यां ज्योतीषि' ग्रहनक्षत्र-
तारकादीनि 'गच्छन्ति' तस्माद्गौरैः ।

'विष्टादित्यो भवति' । आह । कस्मात् । उच्यते । अभिमुख्येन १०
ह्येष 'रसान्' भौमानान्तरिक्षांश्च विष्टैः 'प्रविष्टो रश्मिभिरादातुम् ।
किञ्चाभिमुख्येन विष्टः प्रविष्टो 'मासं ज्योतिषां' ग्रहादीनाम् । अथवा-
यमेव अभिमुख्येन 'आविष्टो मासेति वा' । सर्वतो ह्येष संदीप्तो भवति ।
आह । 'अथ यौः' कस्माद्विष्टविति । उच्यते । इयमपि ह्याविष्टा
ज्योतिर्भिः ग्रहनक्षत्रादिभिः । ये चान्ये पुण्यकृतस्तैश्च । तस्माद्विष्टविति । १५

'नभ आदित्यो भवति' । आह । कस्मात् । उच्यते । 'नेता'
ह्येष 'मासां' सर्वासु दिक्षु । 'ज्योतिषां' च 'प्रणयः' । व्याख्या-
तमेतत् । अपि वा मन एव स्याद्विपरीतः । मनः भासनः सन् नभ
इत्युक्तो विपर्ययेण । 'न न भातीति वा' । न न भाति भात्येवेति नमः ।
'एतेन चौर्याख्याता' । सापि ह्यादित्यवज्जेत्री भासाभित्यादि योज्यम् ॥ १४ ॥ २०

इति निरुक्तवृत्तौ सप्तमार्थायस्य चतुर्थः पैदः ।

रश्मिनामान्युत्तराणि पञ्चदश रश्मिर्यमनात्तेषामादितः
साधारणानि पञ्चाश्वरश्मिर्मिर्दिह्यनामान्युत्तराण्यष्टौ दिशः

१ ग. ज. किञ्चन नाकं. २ ग. न्याय्यम् ॥ १९ ॥ गौ. ३ ग. 'स्माद्गौरैः' २५
॥ २० ॥ विष्ट. ४ क. ख. घ. ट. ठ. ड. आविष्टः. ५ घ. ट. ठ. ड.
सुपुण्यकृतः. ६ ग. 'विति' ॥ २१ ॥ नभ. ७ च. 'दीप्तो नभः । भास'.
८ घ. ट. ठ. ड. 'हि' नास्ति. ९ क. ख. २; ग. २२; घ. ट. ठ. ड. च.
ज. अशो नास्ति. १० घ. ट. सप्तमस्याध्यायस्य. ११ च. पादः सप्तमः. २९

कस्मादिशतेरासदनादपि वाभ्यशनात्तत्र काष्ठा इत्येतद्वे-
कस्यापि, सत्त्वस्य नाम भवति काष्ठा. दिशो भवन्ति
क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति काष्ठा उपदिशो भवन्तीतरेतरं
क्रान्त्वा स्थिता भवन्त्याक्षिप्तोऽपि काष्ठोच्यते क्रान्त्वा
स्थितो भवन्त्याज्यन्तोऽपि काष्ठोच्यते क्रान्त्वा स्थितो
भवत्यापोऽपि काष्ठा उच्यन्ते क्रान्त्वा स्थिता भवन्तीति
स्थावराणाम् ॥ १५ ॥

आदित्यसंबन्धेनैव 'रश्मिनामान्युत्तराणि पञ्चदश' । 'रश्मिर्ममनात्'
१० उदकस्याश्वानां वा । 'तेषां पञ्च' यानि 'आदितः' तानि. 'साधार-
णानि अश्वरश्मिभिः' । कतमानि पुनस्तानि । खेदयः किरणाः इत्येव-
मादीनि । खेदयन्ते खे गच्छन्तीति खेदयः । किरणाः । ते हि-विक्षिता-
भवन्ति ।

'दिङ्नामान्युत्तराण्यष्टौ' । आदित्योपलक्षणा एव हि दिश इत्या-
१५ दित्यनामभ्य उत्तराणि दिङ्नामानि । कियन्ति पुनस्तानि । अष्टौ ।
कानि । 'आता आता उपराः' इत्येवमादीनि । आता आगता-
द्येतास्तं तमर्थं प्रति भवन्ति । आशा अभ्यश्रुते द्येताः सर्वमेव यावदस्ति,
किञ्चित् । उपराः सर्वमेव द्येता उपगम्य रता भवन्तीत्युपराः । आह ।
'दिशः कस्मात्' । 'दिशतेः' अतिसर्जनार्थस्य [धा० ६. ३] ।
२० अतिमृज्यन्ते ह्यमु द्विरादीनि देवतानाम् । अथवा 'आसदनात्' ।
तं तमर्थं प्रत्येता आसना भवन्ति । 'अपि वाभ्यशनात्' । अभ्यश्रु-
ते द्येतास्तं तमर्थम् ।

'तत्र' तस्मिन्पृष्ठके दिङ्नामगणे 'काष्ठा इत्येतन्नामानेरस्यापि,
सत्त्वस्य भवति' । तथा । 'काष्ठा दिशो भवन्ति' । आह ।
२५ किं कारणमिति । उच्यते । क्रान्त्वा द्येतास्तं तमर्थं प्रति गत्वा स्थिता
भवन्ति । न हि तदस्ति यत्रैता न सन्ति । 'काष्ठा उपदिशो भवन्ति' ।

१ ड. 'भ्यशना'. २ क. ए. छ. त. द. 'नम' नास्ति. ३ क. ख.
द. १; छ. त. २३. ४ च. 'पंच' नास्ति. ५ ग. च ज. द्यन्ति. ६ ग.
च. ज. तमर्थं प्रति. ७ घ. ट. ठ. ड. तत्र काष्ठा इत्येतद्वेकस्यापि सत्त्वस्य-
नाम भवति । तत्र तस्मिन्नपृष्ठके. ८ घ. दिशाम्; ट. दिशोऽम् द्या. ९ क.
११ ख. घ. ट. ठ. ड. क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति । क्रान्त्वा येता.

ता अपि हीतरेतरं कान्त्वा दिग्भिः साकं स्थिता भवन्ति । 'आदि-
स्योऽपि काष्ठोच्यते' । असौवपि स्वस्थानं कान्त्वा गत्वा स्थितो भवति ।
आज्यन्तोऽपि शरपथान्तः काष्ठोच्यते । असावपि स्वप्रदेशं कान्त्वा
गत्वा स्थितो भवति । 'आपोऽपि काष्ठा उच्यन्ते' । ताः पुनर्द्विष्यैः
स्थावराश्चास्थावराश्च । तत्र 'कान्त्वा' गत्वा जलाशयमेताः 'स्थिता
भवन्तीति स्थावराणां' काष्ठात्वम् । अस्थावराणां पुनः क्रामन्येवैता
न क्वचित्तिष्ठन्तीति काष्ठा मेध्या आपः । मन्त्रोऽपि चैतस्मिन्नेवार्थे
भवति ॥ १५ ॥

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरी- २०
रम् । वृत्रस्य निष्यं विचरन्त्यापो दीर्घं तम् आशय-
दिन्द्रं शत्रुः [क्र० सं० १ । ३२ । १०] ॥ अतिष्ठन्तीनाम-
निविशमानानामित्यस्थावराणां काष्ठानां मध्ये निहितं
शरीरं मेघः शरीरं शरीरं शृणातेः शस्त्रातेर्वा वृत्रस्य
निष्यं निर्णामं विचरन्ति विजानन्त्याप इति दीर्घं द्राघते- २५
स्तमस्तनोतेराशयदाशेतेरिन्द्रशत्रुरिन्द्रोऽस्य शमयिता वा
शातयिता वा तस्मादिन्द्रशत्रुस्तत्को वृत्रो मेघ इति नैरु-
क्तास्त्वाम्नोऽसुर इत्येतिहासिका अपां च ज्योतिषश्च मिथी-
भ्रावंकर्मणो वर्षकर्म जायते तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा मव- २०
न्यद्विबलु खलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च विवृद्ध्या
शरीरस्य स्रोतांसि निवारयांचकार तस्मिन्हते भंसस्पन्दि
आपस्तदभिवादिन्येवर्भवति ॥ १६ ॥

१ क. ख. घ. ट. ठ. ड. इतरेतरं कान्त्वा स्थिता भवन्ति । ता अपि°. २ क.
ख. घ. ट. ठ. ड. कान्त्वा स्थितो भवति । असावपि°. ३ घ. ट. ठ. ड. 'गत्वा' २५
नास्ति. ४ घ. ट. ठ. ड. आज्यन्तोऽपि काष्ठोच्यते । आज्यन्तोऽपि शर°. ५ घ.
ट. ठ. ड. दृग्वा. ६ क. ख. ग. ठ. मेध्या. ७ क. ख. ठ. ड. पुस्तकेषु. 'आपः'
इत्यस्थानन्तरं खण्डसमाप्तिः. ८ क. ख. १; ग. २३; घ. ट. ठ. ड. च. ज.
अत्रो नास्ति. ९ छ. त. द. 'निष्यं' नास्ति. १० क. ख. छ. द. प्रशस्य°; त.
प्रशस्य° स. ११ क. ख. द. २; छ. त. २४.

अतिप्रन्तीनामिति । हिरण्यस्तूपस्येयमार्णम् । दासपत्नीरिति च । त्रिष्टुभा-
 वेते । अग्निष्टोमे निष्केवल्यं नाम शस्त्रं तत्र निविद्धानीयं यत्सूक्तं तत्रैते द्वे
 अपि शस्येते [आश्व० श्रौ० ५।१५] । न तिष्ठन्तीत्यतिष्ठन्त्यः । तासामतिष्ठ-
 न्तीनां मेघोदरान्तर्गतानामपायम् । ता हि मेघे गच्छति गच्छन्त्येव तदाधार-
 त्वात् । अनिवेशनानामनिविशमानानाम् । न हि ताः कचिन्निविशन्ते
 यावज्जलाशयं नामुवन्ति । तासामेवंविधानां काष्ठानां मध्येऽवस्थितानां
 बाह्यतो मेघाख्यं निहितमवस्थापितं धात्रा शरीरमावृत्यापस्तासामेव गुप्तये ।
 ताः पुनस्तस्य मेघस्य वृत्रस्य निष्यं निर्णमं धैत्रासौ नीचैर्नैति तं प्रदेशं
 विजानन्तीव यतस्तेन प्रदेशेन विचरन्ति प्रचरन्ति । निम्नानुसारिण्यो हि
 १० ताः । असावपि वृत्रस्तासु प्रक्षरन्तीषु तत्प्रक्षरेणनिरोधं चिकीर्षुः स्वशरीर-
 विवृद्धया दीर्घं तमः । स हि तमः सतत्त्व एव धूमादिप्रभवत्वात् । यावत्तं
 प्रदेशं निम्नमनुसरन्त्यो मेघस्य ताः स्तुता भवन्ति निपित्सन्त्यस्ततो बहुतर-
 मसौ वर्धते तदवरुस्तया । एवं दीर्घं तम आतल्याशयत् आशेते इत्यर्थः ।
 कः पुनरेवमाशयत् । इन्द्रशत्रुरिति समस्तार्थः ।

- १५ अवैकपदनिरुक्तम् । 'शरीरं शृणातेः' हिंसार्थस्य [धा० ९ ।
 १६] । हिंस्यते हि तत् । 'शम्रातेर्गो' हिंसार्थस्यैव । 'दीर्घं द्राघतेः'
 वृद्धयर्थस्य [धा० १।११४] । वृद्धं हि तद्भवति । 'तमस्तनोतेः' ।
 तेन हि सर्वमेव ततं भवति । 'आशयत्' आहूपूर्वस्य 'शेतेः' ।
 'इन्द्रशत्रुः इन्द्रेऽस्य शमयिता वा' हन्तेत्यर्थः । 'शातयिता वा'
 २० हन्तैव । धात्वन्त्यत्वमर्थकत्वम् ।

इह मन्त्रे वृत्र इत्येतच्छ्रुतम् । तदेतन्निगमानुप्रसक्तं विचार्यत इत्युपयुक्तं
 स्ताच्छ्रुतः । आह । को वृत्रः । उच्यते । 'मेघ इति नैरुक्तासवाष्ट्रोऽमुं

- १ घ. ट. ठ. ड. 'तस्य' नास्ति. २ क. ख. घ. ट. ठ. ड. वृत्रस्य मेघस्य.
 ३ क. ख. घ. ठ. ड. येनासी; ट. येनासी° यत्र पाठः; ग. अ. येनासी. ४ ग.
 २५ च. ज. नीचेर्गमति. ५ घ. ट. ठ. 'रणांनिरो'; ठ. 'रणांनिरो' ण. ६ क. रा. घ.
 ट. ठ. ड. तमः सतत् १३°. ७ ग. च. ज. यावत्. ८ क. ग. ताः स्तुताः; घ.
 ताः स्तुताः° सु; घ. ट. ठ. ड. तां स्तुताः. ९ घ. ट. निपित्सन्त्यपिन्त्यन्ति
 हतो; ठ. ड. विपित्सन्त्यः ततो°. १० घ. ख. आहूया°; घ. आनय आहूया°.
 ११ रायत्. ११ घ. ट. ठ. ड. वृत्रं. १२ ग. च. ज. तदेव तमि°.

इत्यैतिहासिकाः । निरुक्तमधीयते विदुश्च ये

को वृत्रः । मेघ ते नैरुक्ताः । आह । यदि मेघो वृत्रो य एष
इति नैरुक्तास्वाष्ट्रोऽ- मन्त्रेषु संग्रामः श्रूयते तत्र तत्र कः समाधिरिति ।
सुर इत्यैतिहासिकाः उच्यते । ' अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावक-

र्मणो वर्षकर्म जायते तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा
भवन्ति ' । अपां च मेघोदरान्तर्गतानां ज्योतिषश्च वैद्युतस्योद्भूतवृत्तेर्मिश्री-

भावकर्मणो वर्षकर्म जायते । तेन हि वैद्यु-
तेन ज्योतिषा वाय्वावेष्टितेनेन्द्राख्येनोपताप्यमाना

आपः प्रस्यन्दन्ते वर्षभावाय प्रकल्पन्ते । तत्रैवं
सत्युदकतेजसोरितरेतरप्रतिद्वंद्वभूतयोरुपमार्थेन रूपककल्पनया युद्धवर्णा

भवन्तीति । युद्धरूपकाणीत्यर्थः । न ह्यत्र यथाभूतं युद्धमस्ति ।
न हीन्द्रस्य शत्रवः केचन सन्ति । मन्त्रोऽपि चैतस्मिन्नर्थेऽस्ति

नेन्द्रस्य शत्रवः । ' यदचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो
जनेषु । मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाथ शत्रुं

इन्द्रस्य न कोऽपि न नु पुरा विवित्से [ऋ० सं० १०।५।१२] ॥
शत्रुरित्यर्थे ऋक् वामदेवपुत्रस्य बृहदुक्त्यस्फार्गम् । त्रिष्टुप् । व्यूढ-

स्याष्टमेऽहनि निष्केवस्ये शस्यते [आश्व० श्रौ०
८ । ७] । यदचरस्त्वं नानाप्रकारं तन्वा वावृधानः शरीरेण विग्रहवान्

भूत्वा वावृधानः पुनः पुनर्वर्धमानः । कथं पुनरचरः । बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो
जनेषु । बलान्यात्मीयानि वीर्याणि हे इन्द्र प्रब्रुवाण इव प्रकथयान्निव ।

क । जनेषु । किं त्वं तथैव । न । मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुः । माया
सा तव । ऐश्वर्ययोगात्तथा धीन्यथा वा भवसि । न ते त्वं निजं रूप-

१ क. ख. ग. ज. घ. ट. ठ. ड. एषः. २ घ. ट. ठ. ड. 'तत्र तत्र
संग्राम'. ३ ग. ज. संग्रामे भू'; च. संग्रामे भू' मः. ४ क. ख. घ. ट. 'तत्र' सङ्-
देव. ५ च. वाय्वावेष्टितेन. ६ क. ख. कल्पन्ते; घ. ट. ठ. ड. कल्पन्ते; च. प्रकल्पन्ते.
७ क. ख. घ. ट. ठ. ड. रूपकल'. ८ क. ख. घ. ट. ठ. ड. युद्धे रू'; सर्वेऽ
लिखितपुस्तकेषु 'रूपकानि' इति पाठः. ९ च. शत्रवः । १० ।. १० ग.
वावृधानोः विवित्से ॥ १४ ॥ वाम'. ११ ठ. ड. 'देवस्य पुत्रस्य; च'. देवस्य
पुत्रस्य. १२ ठ. व्यूहस्या'; ड. व्यूहस्या'. १३ ग. ज. 'यानि युद्धान्याहुः'
नास्ति. १४ ग. ज. चान्य'. १५ ग. ज. 'तव' नास्ति.

मेकमवधृतमस्तीत्यभिप्रायः । 'यानि च युद्धान्याहुरेतेहासिका नानारूपा-
ण्युपप्रदर्शयन्तः सापि च तव मायैव । किं कारणम् । नाद्य शत्रुस्तथास्ति
प्रत्यनीकभूतो न नु पुरा नापि पुरा कश्चिदासीत् । यावद्दीर्घं किञ्चित्कचि-
दस्ति सद्यै तैस्त्वमेव । 'वीर्यं वै प्राणो वीर्यमिन्द्र इति ह विज्ञायते' [मैत्रा०
सं० १ । ६ । ९] । कुतस्ते शत्रुर्येन साकं युध्येयः । एतच्च त्वमपि

एतस्मिन्नेवार्थे
ब्राह्मणवाक्ये

विविक्ते वेत्स्येव न केवलमहमित्यभिप्रायः । एव-
मेतस्मिन्मन्त्रे मायामात्रत्वमेव युद्धमिति श्रूयते ।

'विज्ञायते च तस्मौ दाहुर्नैतदस्ति र्थद्वैवासुरमिति' ;

[जत० ११ । १ । ६ । ९] । तस्मात्ताधू-

क्तम् 'अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीमायकर्मणो वर्षकर्म जायते तत्रोपमा-
र्थेन युद्धयर्णा भवन्ति' । आह । किं वृत्रवदेव युद्धरूपाणि भवन्ति ।

नेत्युच्यते । 'अहिवत्तु खलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मण-

मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु च वादाश्च' । तुल्यशब्दः समुच्चयार्थो द्रष्टव्यः । वृत्र-
मेवोऽहिरित्यपि वर्ण्यते वच्चाहिवच्चेति मन्त्रवर्णा मन्त्रलिङ्गानि भवन्ति

ब्राह्मणवादाश्च शास्त्रान्तरेषु भवन्ति तदप्युपेक्षि-

तव्यम् । 'तस्मिन्' अहिवृत्राख्ये मेघे 'हते प्रसस्यन्दिरे' प्रसस्यन्दि-
तवत्य 'आपः' । 'तदभिवादिन्येषा' तत्स्यार्थस्याभिमुख्येन वादिन्येषा

'कामयति' ॥ १६ ॥

दासपत्नीरहिगोषा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव
गायः । अपां विलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जयन्वा अप
तद्ववार [अ० सं० १ । ३२ । ११] ॥ दासपत्नीर्दासाधि-
पत्न्यो दासो दस्यतेरुपदासयति कर्माण्यरहिगोषा अति-
ष्ठन्नहिना गुप्ता अहिरयनादेत्यन्तरिक्षेऽयमपीतरोऽहिरेत-
स्मादेव निर्हंसितोपसर्ग आहन्तीति । निरुद्धा आपः

१ घ. ट. ठ. ड. 'एक' नास्ति. २ घ. ट. ठ. ड. यावदर्ण; ट. यावदर्ण' इति.
३ ट. ठ. 'तत्' नास्ति. ४ क. रा. घ. ट. ठ. ड. युगोपेय. ५ क. रा. ग.
ज. तदाह. ६ क. रा. ग. ज. दद्या. ७ क. रा. घ. ट. ठ. ड. चः समु.
८ ठ. ड. तदभिवादिन्येषां भवति तदभि. ९ क. रा. २; ग. २४; घ. ट. ५.
२० ज. अङ्गो नास्ति; ठ. ड. 'वति' इति निरुद्धास्मायां द्वितीयाध्याये षोडशः खण्डः.

पणिनेव गावः । पणिर्वाणिग्भवति पणिः पणनाह्वाणिश्यपथं
नेनेक्ति । अपां चिलमपिहितं यदासीत् । चिलं मरं भवति
विमर्तेधृत्रं जग्निवानपर्ववार तद् वृत्रो वृणोतेर्वा वर्ततेर्वा
वर्धतेर्वा यद्वृणोत्तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते यद-
वर्तत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते यदवर्धत तद् वृ-
त्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते ॥ १७ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य पञ्चमः पादः ॥

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठनिति । दासपत्नीरापः । अहिगोपा मेघ-
गोपाः । अतिष्ठन् स्थितवत्यो निरुद्धास्ता दास- १०
अहिशब्देन मेघः पत्नीरापः । यथा केनचित्पणिना वणिजा कस्मि-
वाधिका ऋक् श्रद्धीध्वन्तरे विक्रयार्थं गायो निरुद्धास्तिष्ठेयुरेवं
स्थितवत्यः । ताः पुनरेवं निरुद्धाः सत्यस्तेन
मेघेन तासामपां यद्विलं निर्गमितद्वारमपिहितमासीत्तेन मेघेन तद्यदे-
न्द्रस्तं मेघं वृत्रं निजग्निवान् अहंहत्वा चापववारापावृतवान् अथ तदा १५
तस्मिन्निहतेऽपावृते च द्वारे ता आपः प्रसस्यन्दिरे वर्षमावेनेति सम-
स्तार्थः ।

अथैकप्रदानिरुक्तम् । ' दासपत्नीर्दासाधिपत्यः ' । दासः कर्म-
करः । तं हि ता अधिष्ठाय पान्ति रक्षन्ति । स हि कर्मणा श्रान्त-
स्तासु पीतासु विश्रान्त आप्यायितो भवति । विग्रहप्रसक्तं निरुच्यते । २०
' दासो दस्यतेः ' [धा० ४ । १०७] । स हि ' उपदासयति '
उपैकपयति कृष्यादीनि । ' कर्माणि ' । ' अहिगोपाः ' अहिना गुप्ताः ।
' अहिः ' कस्मात् । उच्यते । ' अयनात् ' । ' एति ' ह्यसौ ' अन्त-
रिक्षे ' । शब्दसामान्यानिरुच्यते । ' अयमपीतरोऽहिः ' सर्पः ' एतस्मा-
देव ' । असावपि ह्येति । अथवा ' निर्हसितोपसर्गः ' स्यात् । कथम् । २५

१ क. ख. दं. २; छ. त. २५. २. ड. घ. प. ठ. ड. त. ' इति० पादः '
नास्ति; छ. इति पञ्चमः पादः; दं० इति 'निरुक्तस्य द्विती' २. ठ. ड. दासपत्नी-
रिति । दासपत्नीरहि' ॥ ठ. ड. 'स्मिन्निह दीपान्तरे. ५ न. ज. पुनः स्वे निरु'.
६ क. ख. निर्गमितद्वारं; ग. च. ज. निर्गमजद्वारं. ७ घ. ट. ठ. ड. अहन्त. ८ ग.
ज. ' प्र ' नास्ति. ९ क. ख. घ. ट. ठ. ड. उपकृयति.

‘ आहन्ति ’ असौ भोगेनेत्यहिः । आहपूर्वस्य हन्तेः । स पुनरयमुपेत्य
 निहस्य हस्त्वं कृत्वाहिरैर्युच्यते । ‘ पाणिर्धणिग्भवति ’ इति पर्यायेण
 तत्पयचनम् । ‘ पाणिः पणनात् ’ । पणति ह्यसौ व्यवहारं करोति ।
 पर्यायप्रसक्तं निरुच्यते । ‘ वाणिक् पण्यम् ’ । वाणिजो यद्व्ययं तत्पण्यम् ।
 तदसौ ‘ नेनेक्ति ’ नित्यकालं शुचिं करोति मूल्याहं स्यादिति । ‘ बिलं
 भरं भवति ’ विभर्तेर्धातोः । भ्रियते हि तदुदकादिभिः । ‘ वृत्रो
 वृणोतेर्वा वर्ततेर्वा वर्धतेर्वा ’ इत्येयौ धातूनामन्यतमस्य । ब्राह्मणमपि
 चैतस्मिन्नर्थे भवति । ‘ यदवृणोत् ’ अन्तरिक्षमुदकं वा महत्त्वात् ‘ तद्वृ-
 त्रस्य वृत्रत्वमिति ’ एवं ब्राह्मणेऽपि विचार्यमाणे ज्ञायते । अथवा ‘ यद-
 वर्तत तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति ’ । त्वष्ट्रेन्द्रशत्रुवर्धस्वेत्यनेनालम्ब्यमानः सोमो
 यदसुररूपेणावर्तत । अर्थया यदवर्तयदिन्द्रेण हतो वृत्रो मेघः अपां बिडे
 अपावृतेऽपौ वृष्टिभावेनावर्तयत्प्रायर्तयत् ‘ तद्वृत्रस्य वृत्रत्वम् ’ । अथवा
 ‘ यदवर्धत ’ असायतिमात्रप्रमाणं ‘ तद्वृत्रस्य वृत्रत्वं ’ स्यादिति ॥ १७ ॥
 इति निरुक्तपृष्ठौ सप्तमार्थायस्य पञ्चमः पार्श्वः ।

१५

रात्रिनामान्युत्तराणि त्रयोविंशती रात्रिः कस्मात्प्रम-
 यति भूतानि नक्तं चारीण्युपरमयतीतराणि ध्रुवीकरोति
 रातेर्वा स्थाह्वानकर्मणः प्रदीपन्तेऽस्यामवश्याया उपोनामा-
 न्युत्तराणि षोडशोपाः कस्मादुच्छतीति सरया रात्रेरपरः
 फालस्तस्या एषा भवति ॥ १८ ॥

‘ काष्ठा इत्येतदनेकस्यापि गत्यस्य भवति ’ [निर० २।१५] इत्यत
 आरभ्य दिग्नामप्रगणानुप्रसक्तं चम् । प्रकृतमिदानीमुच्यते । ‘ रात्रि-

- १ क. स. प. ट. ठ. ड. ‘ इति ’ नास्ति. २ क. स. प. ट. ठ. ड. भूतं.
 ३ प. ट. ठ. ड. ‘ विंशतिः ’. ४ क. स. ग. ज. ‘ तद्वृत्रस्य.....प्रायर्तयत्. ।
 अपरा यदवर्धयत् ’ नास्ति. ५ प. ट. ठ. ड. त्वष्ट्रेन्द्र. ६ क. ‘ अपरा.....
 प्रायर्तयत्तद्वृत्रं वृत्रत्वं ’ नास्ति. ७ क. स. ३; ग. २५; प. ट. ठ. ड. च.
 ज. ऊहो नास्ति. ८ प. ड. इत्यस्याप्यापरः. ९ प. ट. पादः द्वयः; ट. ठ.
 पादः सप्तः. १० क. स. प. ड. दोहरी; घ. त. दोहरी; ड. दोहरी.
 ११ ११ क. स. ड. १३ घ. त. २६. १२ प. ट. ठ. ड. ‘ इति निरुक्तं.

नामान्युत्तराणि त्रयोविंशतिः । रात्रेर्नामानि उत्तराणीति प्रकृतेभ्यो
 दिङ्नामभ्यः । तमः सतत्त्वा हि रात्रिः । तस्य च तमसो दिक्ष्वेवात्मलाभो
 भवति । अतो दिङ्नामभ्य उत्तराणि रात्रिनामानि । कियन्ति पुनस्तानि ।
 त्रयोविंशतिः । त्रीणि^१ च विंशतिश्च त्रयोविंशतिः । कतमानि पुनस्तानि ।
 'श्यावी क्षपा शर्वरी' इत्येवमादीनि । श्याववर्णा हि रात्रिरिति श्यावी । त्वैः
 त्वैः कर्मभिरहनि क्षीणान्प्राणिन इयं स्वापेन पातीति क्षपा । अस्यां हि
 सुप्ताः पुनर्नवा इव प्राणिनः प्रातरुत्तिष्ठन्ति । शरणमस्यां स्वापार्थं त्रियत्
 इति शर्वरी इत्येवमादि सर्वत्र योज्यम् । आह । 'रात्रिः कस्मात्' इति ।
 उच्यते । इयं ह्यागच्छन्ती प्रकर्षेण 'रमयति' । कानि । 'भूतानि
 नक्तंचारोणि' पिशाचादीनि । तानि हि विगतेऽहनि रात्र्यामुपस्थितायां
 प्राप्सोऽयं विहारसमय इति प्रकर्षेण रमन्ते । 'उपरमयतीतराणि ध्रुवीकरोति' ।
 इतराप्यपि दिवाचारीणि सैवोपरमयति । तस्यां ह्युपस्थितायां दिवाचराणि
 भूतानि मनुष्यादीनीतिकर्तव्यताभ्य उपरमन्ति उपरम्य च स्थिरीभवन्ति
 निवासाय । 'रातेर्वा स्यादानकर्मणः' दानार्थस्य । आह । किमस्यां
 प्रदीयते । उच्यते । 'प्रदीयन्तेऽस्यामवस्थायाः' । अवश्यमायन्तीत्यवस्था-
 यास्तुपारा इत्यर्थः । ते हि रात्रौ निपतन्ति ।

'उपोनामान्युत्तराणि षोडशः' । उपसो नामानि । रात्रेरेव द्वपरः काल
 उपआरुयो भवतीति रात्रिनामभ्य उत्तराणि उपोनामानि । कियन्ति
 पुनस्तानि । षोडश । षट् च दश च । कतमानि पुनस्तानि ।
 'विभावरी सूनरी' इत्येवमादीनि । विविधभोग्यं भासं कृणोतीति
 विभावरी । शोभनं नराणामस्यामुत्थानं भवतीति सूनरीत्येवमादि
 निर्वचनं योज्यम् । आह । 'उयाः कस्मात्' इति । उच्यते । 'उच्छ-
 तीति सत्याः' । उच्छी विवासे [धा० १।२।१६] । विवासयति हीयं
 तमासि । तस्मादुच्छतीत्येवमस्या एतस्मिन् कर्मणि सत्याः कर्तरि कारके

१ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'मानि रात्रिनामानि । उच' । २ क. ख. 'सतत्त्वा; २५
 घ. 'सतत्त्वा; ट. सतत्त्वा' इवा. ३ घ. ट. ठ. ड. 'त्रीणि च...विंशतिः' नास्ति.
 ४ ग. ख. ज. पुनर्नवा. ५ ग. ख. ज. नक्तंचारणि. ६ ख. यातायां वि.
 ७ ग. ज. 'रमयाः । विप्रयः तुया'; घ. 'रमयाः । मुष्वाः इत्य'. ८ क. ख. ग.
 ज. घ. ट. षोडश; ख. षोडश; ड. शोभन. ९ क. ख. घ. ट. ठ. ड. च षोडश ।
 दत्. १० घ. ट. ठ. ड. विविधां भासमिषं कृणी. ११ घ. ट. ठ. ड. 'उच्यते' नास्ति. ३०

उपा इत्येतदभिधानं भवति । आह । का पुनरियमुपा इति । उच्यते ।
 ' रात्रेरपरः कालः ' त उपा इत्युच्यते । आह । कथमेतद्वर्त्यते रात्रे-
 रपरः काल उपा इति । उच्यते । ' तस्याः ' उपसो राज्यपरकालत्वे
 ' एषा ' निर्वाचिता ऋग् भवति ॥ १८ ॥

५

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागमश्चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट-
 विभ्वा । यथा प्रसूता सवितुः सवायं एवा राज्यपसे योनि-
 मारैक् [ऋ० सं० १ । ११३ । १] ॥ इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां
 ज्योतिरागमश्चित्रं प्रकेतनं प्रज्ञाततममजनिष्ट विभूततमं यथा
 १० प्रसूता सवितुः प्रसवाय रात्रिरादित्यस्यैवं राज्यपसे योनि-
 मारिचस्थानं स्त्रीयोनिरमियुत एतां गर्भस्तस्या एषापरा
 सवति ॥ १९ ॥

इदं श्रेष्ठमिति । आङ्गिरसस्य वृत्तस्येयमार्पमुचरौ च । उभे अपि त्रिष्टु-
 १५ भावेते । प्रातरनुवाकादिवनयोः शस्येते [आश्व० श्रौ० ४ । १४] ।

इदमुलक्षणं ज्योतिः श्रेष्ठमादित्यादीनां ज्योति-
 उपसो राज्यपर- यामिति निर्धारणे पट्टी । आदित्यो हि तापंकः
 कालत्वे ऋक् प्रकाशकः । चन्द्रमा अर्धतिशीतः प्रकाशकश्च ।
 इदं पुनर्नात्युष्णं नातिशीतं प्रकाशकं चेत्ये-

२० वमादित्यादीनामिदमेव श्रेष्ठम् । आगादागच्छतीत्यर्थः । चित्रं चायः
 नीयं पूजनीयं दर्शनीयं वा श्रेष्ठत्वादेव । प्रकेतनं प्रज्ञाततमं
 प्रकाशतमम् । अजनिष्ट जातमित्यर्थः । जातं सदागच्छति सर्वासु
 दिक्षु । विभ्वा विभूततमम् । इदमतिमहत्त्वादिभूततमं विस्तीर्णतम-
 मितराणि परिच्छिन्नतराणि ज्योतीष्यपेक्ष्य । किंच । यथा प्रसूता प्रकर्षेण
 २५ सूता प्रसवमनुप्राप्ता । सूतिशब्दः प्रसवार्थः । रात्रिरादित्यस्य प्रसवायादि-
 त्योऽसृष्टे देशे जायत एवमेव रात्रिरूपसोऽपि जन्मार्थं योनिं स्थानमवकाश-

१ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'भूतमुच्यते रात्रे' २ क. ख. १; ग. २६; च. २२; घ. ट.
 ज. अशो नास्ति; ठ. ड. 'भवति । इत्यष्टादशः खण्डः ३ क. ख. द. २; छ.
 त. २७. ४ घ. ट. ठ. ड. 'उत्तम च' नास्ति. ५ ग. ज. शस्यते । च; घ.
 ३० शस्येते । च. ६ घ. ट. अप्यविशीतः.

भुपस आत्मलाभायैकं आरेचयति । दंदातीत्यर्थः । यथोपा आदित्यस्य
जन्मनो हेतुस्तदनन्तरजन्मत्वादेवं रात्रिरस्यसो जन्मनो हेतुरित्येवमस्यामृचि
रात्रेरेवापरः काल उपःसंज्ञित इति गम्यते । स्थानं योनिशब्देनोच्यते ।
यद्वि यस्मिन्निधीयते तच्चेन साकं युतं भवति । मिश्रीभूतमित्यर्थः । इयमपी-
तरा 'स्त्रीयोनिरेतस्मादेव' । किं कारणम् । 'अभियुतो' हि 'गर्म
एनां' भवति । आमिश्रीभूत इत्यर्थः । पूर्वत्र 'अयमपीतरो योनिरे-
तस्मादेव । किम् । परियुतो भवति' [निरु० २ । ८] इति

परियवनक्रियासामान्येन निरुक्तो योनिशब्दः ।
योनिशब्दः किमर्थं इह पुनः 'अभियुत एनां गर्मः' इति मिश्री-
पुनर्व्युत्पाद्यते । भावसामान्येन । उभयलिङ्गत्वं चास्योपदर्शितमिह
स्त्रीलिङ्गं तत्र पुलिङ्गमिति । 'तस्याः' उपस
एपापरा ऋग् 'भवति' अस्वैवार्थस्य दृढतायै रात्रेरपरः काल उप
उच्यत इति ॥ १९ ॥

रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागादारैर्गु कृष्णा सदनान्यस्याः ।
समानबन्धू अमृते अनुची द्यावा वर्णं चरत आमिनाने
[क० सं० १ । ११३ । २] ॥ रुशद्वत्सा सूर्य-
वत्सा रुशदिति वर्णनाम रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः सूर्यमस्या
वत्समाह साहचर्याद्वसहरणाद्वा रुशती श्वेत्यागात् ।
श्वेत्या श्वेततेररिचत्कृष्णा सदनान्यस्याः कृष्णवर्णा रात्रिः
कृष्णं कृष्णतेर्निकृष्टो वर्णोऽथैने संस्तौति समानबन्धू
समानबन्धने अमृते अमरणधर्माणावनुची अनुर्क्षयावितीतरे-
तरमभिप्रेत्य द्यावा वर्णं चरतस्ते एव द्यावी द्योतनादपि
द्या द्यावा चरतस्तया सैह चरत इति स्यादामिनाने
आमिन्वाने अन्योन्यस्याध्यात्मं कुर्वाणे अहर्नामान्युत्तराणि

१ ड. 'संत इति. २ ग. ज. 'किं कारणम्.....किम्' नास्ति. ३ क.
ख. २; ग. २५; घ. २३; ङ. ड. ज. अशो नास्ति; ठ. ड. ॥ १९ ॥ इति
निरुक्टीकायां पूर्वपटके द्वितीयाध्याय एकोनविंशतिः खण्डः. ४ क. ख. छ. त.
द. 'अनूप्यो' नास्ति. ५ क. ख. छ. त. द. 'सह' नास्ति. ६ क. ख. छ.
त. द. 'आमिन्वाने' नास्ति.

द्वादशाहः कस्मादुपाहरन्त्यस्मिन्कर्माणि तस्यैव निपातो
भवति वैश्वानरीयायामुचि ॥ २० ॥

रुशद्वत्सा रोचिष्णुवत्सा । सूर्यो हि रोचिष्णुः । तम् ' अस्या वत्समाह '
 ५ मघ्नदक् ' साहचर्यात् ' । मातृसहचरो हि वत्सो भवति । अयमपि
 चानयोपसा सह चरतीत्येतस्मात्सामान्याद्वत्स
 उपसो राज्यपरका- इत्युच्यते । ' रसहरणाद्वा ' । यथा हि मातुल-
 लत्वेऽपरा ऋक् धंसः क्षीराख्यस्य रसस्याहर्तो भवति वत्स एव-
 मेयोऽप्यौपसिकानामवश्यायाख्यानां रसानामहर्तो

- १० भवति रश्मिभिरित्येतस्मात्सामान्याद्वत्सत्वम् । रुशती रोचनशीलात्मनापि ।
 ' श्वेत्या श्वेततेः ' धातोः । ' श्वितो वर्णो ' इत्येतस्य [धा० १ । ७४३] ।
 श्वेतवर्णेत्यर्थः । या चैवंलक्षणोपाः सा आगादागच्छति । आगतायाश्च तस्या
 अपि आरैक् आरेचयति कृष्णवर्णा रात्रिः । किमारेचयति । सदनानि
 स्थानान्यस्या उपसः । येष्विवमुपा स्थानेष्वामगता सत्यासीदति तान्यारेचयति
 १५ रात्रिः । एवं तावदयमर्धर्चो राज्युपसोर्विभक्तस्तुतिः । ' अथ ' अनेनोत्तरेणा-
 र्धर्चेन एते राज्युपसी ' संस्तौति ' । ' समानबन्धू ' एते राज्युपसी ' समान-
 बन्धने ' । समानमनयोर्विबन्धनम् । आदित्यस्येयं हस्तमयं प्रति रात्रिर्बद्धा
 संक्षिप्तोदयं प्रत्युपाः । एवं समानबन्धू । ' अमृते अमरणधर्मागौ ' । न हि
 राज्युपसी म्रियेते । ' अनूची इतीतरेतरमभिप्रेत्य ' । इतरेतरसंक्षिप्ते हीमे
 २० ' द्यावा ' वर्ण ' चरतः ' । ' ते एव ' राज्युपसी ' द्यावौ द्योतनात् ' । उपा
 हि स्येन प्रकाशेन द्योतते । रात्रिरपि स्वेन तमेवार्पेण नक्षत्रगणेन वा
 स्वैमधिकारं प्रति द्योतते । एवं हि द्यावेति द्विवचनम् । अथ ' वा '
 तृतीयान्तमेकवचनमेतत् ' स्यात् ' द्यौः । ' तथा द्यावा सह ' युक्ते तथा सह
 स्पर्धमाने चरतो गच्छतः । कथं च पुनश्चरतः । आभिर्नैने । आढ्यर्थे ।

- २५ १ क. ख. द. ३; छ. त. २८. २ ठ. ड. ' वत्सेति रोचि '. ३ क. ख. घ.
 ट. ठ. ड. ' इति ' नास्ति. ४ ग. ज. क्षीराख्यरसस्य. ५ क. ख. घ. ट.
 ठ. ड. श्वेनो वर्ण एत्यस्यां सा श्वेत्या । श्वेतवर्णो; ग. ज. श्वितो वर्णेत्येतस्या श्वे-
 तवर्णो. ६ क. ख. घ. ठ. ड. ' अपि ' नास्ति. ७ क. ख. घ. ट. ठ. ड.
 येष्ठियमुपा. ८ ग. ज. ' एते ' नास्ति. ९ क. ख. घ. ट. ठ. ड. ह्येते. १० ठ.
 २० ड. एवं. ११ घ. ट. ड. रसमधि; ठ. खं रसमधि. १२ क. ख. घ. ट.
 ठ. ड. ' च ' नास्ति. १३ घ. ट. ठ. ड. वर्ण रूपं आदिमाने.

उया अपि राज्ञेरधि आत्मानं निर्मिमीते रात्रिरप्युपसः । इतरेतरसंश्लिष्टे
हीमे राज्युपसी । तस्मादेवमुच्यते ' अन्योन्यस्याध्यात्मं कुर्वाणे ' इति ।

उपःशब्दैस्तत्त्वावधारणार्थं प्रसक्तावेतौ मन्त्रावुपवर्णितौ । प्रकृतमिदानी-
मुच्यते । ' अहर्नामान्युत्तराणि द्वादश ' । अहो नामान्यहर्नामानि ।
' उत्तराणि ' प्रकृतेभ्य उपोनामभ्यः । उपस एवानन्तरमहर्भवति । ५
तस्मादुपोनामभ्य उत्तराण्यहर्नामानि । कियन्ति पुनस्तानि । द्वादश । द्वे
च दश च द्वादश । कानि पुनस्तानि । ' वस्तोः शुः भानुः '
इत्येवमादीनि । वस्ते ज्योतिरेतदिति वस्तोरित्युच्यते । यथैव हि श्रुतं मन्त्रे
तथैवेह समाम्नातम् । शुः । द्योतते ह्येतज्ज्योतिषा । भानुः । भासते
ह्येतज्ज्योतिषेत्येवमादि योज्यम् । आह । ' अहः कस्मात् ' । उच्यते । १०
' उपाहरन्त्यस्मिन्कर्माणि ' । न हि तथा राजावनुतिष्ठन्ति कर्माणि
कर्मकरा यथाहनि । ' तस्य ' अहः ' एष निपातो भवति ' नैघण्टुक-
वृत्त्या ' वैश्वानरीयायां ' वैश्वानरदेवतायाम् ' ऋचि ' । अहःशब्दो
हि रात्रिमहश्चोभयमभिधत्ते । अतः संदेहपदम् । तस्यैव विभागोऽ-
स्यामृत्युपपदविशेषात्प्रदर्श्यते ॥ २० ॥ १५

अहंश्च कृष्णमहरजुनं च वि वर्तते रजसीं वेद्यामिः ।
वैश्वानरो जायमानो न राजावातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि
[क्र० सं० ६।९।१] ॥ अहंश्च कृष्णं रात्रिः शुक्लं चाहरजुनं विव-
र्तते रजसीं वेद्यामिर्वेदितव्यामिः प्रवृत्तिमिर्वैश्वानरो जाय- २०
मान इवोद्यन्नादित्यः सर्वेषां ज्योतिषां राजावाहन्नग्निर्ज्यो-
तिषा तमांसि मेघनामान्युत्तराणि त्रिशन्मेघः कस्मान्ते-
हतीति सत आ उपर उपल इत्येताभ्यां साधारणानि
पर्वतनामभिरुपर उपलो मेघो भवत्युपरमन्तेऽस्मिन्नभ्रा-
ण्युपरता आप इति या तेषामेवा भवति ॥ २१ ॥ २५

१ ठ. ड. ' सुषेते. २ ठ. ड. ' इति ' नास्ति. ३ घ. ट. ठ. ड. ' शब्द-
त्वात्पा. ४ घ. ' एतत् ' नास्ति. ५ घ. ट. ठ. ड. ' आह ' नास्ति. ६ क. ख. २;
ग. २८; घ. २४; घ. ट. ज. अहो नास्ति; ठ. ड. ' ऋचि ॥ इति निरुक्तम्
२० खण्डः समाप्तः, ७ क. ख. द. ४; घ. त. २९.

अहश्च कृष्णमिति । भरद्वाजस्येयमार्णम् । त्रिष्टुप् । पृथ्व्यस्य
पष्ठेऽहन्पाणिमारुते शस्त्रे शस्यते [आश्व० श्रौ० ८ । १ । ८] ।

अहश्च कृष्णं रात्रिः शुक्लं चाहरर्जुनम् । अर्जुनशब्दो हि शुक्ल-
पर्यायः । विवर्तते विपर्ययेण वर्तते । रात्रि-

५ 'अहन्' शब्द- रतीताहरायात्महरतीतं रात्रिरापातेत्येवम् । रजसी
स्य नैघण्टुकवृत्तिः रज्जके । ज्योतिषा हि भूतान्यहो रज्जयति तमसा

रात्रिः । वेद्याभिर्वेदितव्याभिः प्रवृत्तिभिः । न हि
तासां प्रवृत्तीनामन्तोऽस्त्यहनि च रात्रौ च प्राणिनाम् । अतस्ता वेदितव्या
एव भवन्ति बहुत्वात् । न हि विदिता नाम ताः कदाचित् । किञ्च ।

१० वैश्वानरोऽग्निरेवाहरत् अपहन्ति स्वेन 'ज्योतिषा तमांसि' । कथं पुनर-
पहन्ति । जायमानो न राजा जायमान इव उद्यन्निव सर्वभूतानां राजा-
दित्यः । यैषाम्युद्यनादित्यस्तमांस्यपहन्ति दिवैवमग्निरपि रात्रावपहन्तीत्य-
ग्निरादित्येन तमोपघातं प्रत्युपमीयते ।

१५ 'मेघनामान्युत्तराणि त्रिंशत्' । मेघानां नामानि मेघनामानि । तान्युत्त-

राणि प्रकृतेभ्योऽहर्नामभ्यः । मेघा ह्यहनि चै रात्रौ चाविशेषेण भवन्त्यतो
रात्र्युपोऽहर्नामभ्य उत्तराणि मेघनामानि । कतमानि पुनस्तानि । 'अद्रिः प्रावा
गोत्रः' इत्येवमादीनि । अद्रिः । आदारयितव्यो ह्यसौ भवत्युदकार्थ-
मित्यद्रिः । प्रावा गृणातेर्वा गृह्णातेर्वा । गृणात्यसौ शब्दं करोति गृहीतं
योदकमनेनेति प्रावा । गौर्वागग्रेति गोत्र इत्येवमायम्यूहितव्यं पर्वतनाम-

२० त्वेऽपि यथासंभवं योग्यम् ।

आह । 'मेघः कस्मात्' । उच्यते । 'मेहति' सिञ्चत्यसौ ।
एवं कर्तरि कारके 'सतः' अस्थितदभिधानं भवति मेघ इति ।

तेषां मेघनाम्नाम् 'आ उपर उपल इति' प्राक् उपर उपल इत्ये-
ताम्पां यानि नामानि तानि 'साधारणानि पर्वतनामभिः' । तदेषां

२५ प्रकरणोपपत्त्यां विशेषोऽवेधार्यः । 'आ उपर इत्येतस्मात्' इति वक्तव्ये

१ ग. ज. 'मित्राहन् अप' । २ घ. ट. ठ. ड. अपहन्ति. ३ क. ख. घ.
ट. ठ. ड. यथा रुप'. ४ घ. ट. ठ. ड. 'इति' नास्ति. ५ क. ख. ग. ज. 'च'
नास्ति. ६ घ. ट. 'चाविशेष्यभ'; ठ. ड. 'चाविशेष्यं भ'. ७ क. ख. घ. ट. ठ.
ड. 'उषः' नास्ति. ८ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'तयो भवति ह्यसावुद'. ९ च.

१० 'वोऽप्येषार्थः'.

‘ आ उपरं उपल इत्येतान्मां ’ इत्युक्तम् । उभावपि ह्येतौ समाननिर्व-
चनौ शब्दावेकस्मिन्निरुक्ते निरुक्तौ भविष्यत इति रत्नोद्भाविशेषख्यापना-
र्थम् । ‘ उपरं उपलो मेघो भवति ’ । उपर इति उपल इति च मेघ
उक्तो भवति । उपरशब्दादारम्य मेघनामान्येव न पर्वतनामानि ।

आह । उपरः कस्मात् । उच्यते । ‘ उप ’ गम्योपगम्य ‘ रमन्तेऽस्मिन्नभ्राणि ’ ।
अथ ‘ वा ’ ‘ उप ’ गम्योस्मिन्नता आपो भवन्ति ‘ इति ’ उपरः ।
उपलोऽप्येतस्मादेव रत्नोद्भाविशेषेण । आह । कथं पुनर्गम्यते उपरशब्देन
मेघ एवोच्यते न पर्वतः । उच्यते । ‘ तेषां ’ मेघानामुपरशब्दवाच्यत्वे
विशेषोक्तिर्वाचिका ‘ एषा ’ ऋक् ‘ भवति ’ ॥ २१ ॥

देवानां मानं प्रथमा अतिष्ठन्कृन्तन्नविषामुपरा उदा-
यन् । अयंस्तपन्ति पृथिवीमंनुषा द्वा बृहूकं बहूतः पुरीषम्
(ऋ० सं० १० । २७ । २३) ॥ देवानां निर्माणे प्रथमा
अतिष्ठन्माध्यमिका देवगणाः प्रथम इति मुख्यनाम प्रथमो
भवति कृन्तन्नमन्तरिक्षं विकर्तनं मेघानां विकर्तनेन मेघा-
नामुदकं जायते । अयंस्तपन्ति पृथिवीमंनुषाः । पर्जन्यो
वायुरादित्यः शीतोष्णवर्षरोषधीः पाचयन्त्यनुषा अनुप-
यन्ति लोकान्त्वेन स्वेन कर्मणायमपीतरोऽनुष एतस्मादे-
वानूप्यत उदकेनापि वान्वाविति स्याद्यथा प्रागिति
तस्यानुष इति स्याद्यथा प्राचीनमिति । द्वा बृहूकं बहूतः
पुरीषम् । वाय्वादित्या उदकं बृहूकमित्युदकनाम ब्रवी-
तेर्वा शब्दकर्मणो भ्रंशतेर्वा पुरीषं मृणातेः पूरयतेर्वा ॥ २१ ॥
इति द्वितीयाध्यायस्य षष्ठः पादः ।

१ घ. ट. ठ. ड. ‘ इति ’ नास्ति. २ क. ख. घ. ट. ठ. ड. ‘ इति च उपरं ’.
३ घ. ट. ठ. ड. आरमन्ते. ४ घ. ट. ठ. ‘ शब्दे मेघः ’; ड. शब्दो मेघः. ५ क.
ख. घ. ट. ठ. ड. पर्वत इति. ६ क. ख. ४; ग. २९; च. २५; घ. ट. ज. अत्र
नास्ति. ठ. ड. भवति. इति निरुक्तभाष्ये सप्तमाध्याय एकविंशतेः खण्डः. ७ द.
निर्माणे. ८ क. ख. माध्यमिका. ९ क. ख. छ. त. द. ‘ कृन्तन्नमन्तरिक्षं विकर्तनं
मेघानां ’ नास्ति. १० छ. त. द. ठ. ड. ‘ वा ’ नास्ति. ११ क. ख. ५; छ.
त. २०. १२ ड. घ. घ. ठ. ड. ‘ इति...पादः ’ नास्ति; छ. इति षष्ठः पादः;
त. इति द्वितीयाध्याये तृतीयः पादः; द. इति निरुक्तस्य द्वितीः.

देवानां मान इति । वसुक्रस्यैन्द्रेत्येयमार्षम् । त्रिष्टुप् । महाव्रते शस्यते
 [ऐ० आ० ५ । १ । १] । देवानां दानादिगुणयुक्तानां मौने निर्माणे ।
 यदा देवाः सृष्टाः प्रजापतिना तदैत एव माध्यमेका देवगणाः प्रयमाः
 अतिष्ठन् । एतेऽपि हि दानादियोगाद्देवा उच्यन्ते । प्रथमाः प्रतमाः प्रकृ-
 ५ घटमा मुख्या इत्यर्थः । मेघाभावे हि सर्वमेवेदं जगद्वर्षाभावान्न स्यात् ।
 तस्मादेत एव प्रकृष्टतमा अतिष्ठन् अर्वास्थितवन्तः । सृष्टौ हि सर्व-
 देवानामेत एवाग्रे सृष्टा इत्यभिप्रायः । किंच । कृन्तत्रात् उक्ताच्चाप्र-
 देशादेर्पा मेघानामिन्द्रेण उपरा आप उदायन् आगता आगच्छन्ति
 च । किं कारणम् । 'विकर्तनेन मेघानामुदकं जायते' । उपरोक्षब्देनाग्नो-

- १२ दकमुक्तम् । तांस्त्याक्ताच्छब्दं भेदक्रोशन्वत् । उपरेषु मेवेषु या आपस्ता
 उपचारादुपरा इत्युच्यन्ते । किंच यैदाभिरुपराभिरद्विरोपधयः प्ररोहिता
 भवन्त्यथ तदा त्रयस्तपन्ति । त्रयः पर्जन्यादयस्तपन्ति पृथिवीलोके ।
 अनूपाः । ते ह्यनुवपन्ति लोकान् । स्वेन स्वेन कर्मणा यथाकालमनुगृ-
 ह्णन्ति । एतदनुवपनं लोकानां यद्वर्षादिभिः पर्जन्यादयो यथार्थमोपधीः
 १४ पाचयन्ति । किंच । द्वा बृहत् बहवः पुरीषम् । द्वौ वाय्वादित्यौ बहव
 आक्षिपत इतः पृथिवीलोकाद् बृहत्मुदकम् । किलक्षणम् । पुरीषं प्रीण-
 यितुं पूरयितुं वा ।

‘अयमपीतरः’ नयनूपः समुद्रानुपो वा ‘एतस्मादेव’ वपतेर्धातोः ।
 असावपि* ‘अनूप्यते’ प्रकीर्यते नित्यकालम् ‘उदकेन’ । ‘अपि.

- २० १ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'कस्यैन्द्रेत्येयम्'. २ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'व्रते
 मरुत्वातीये शस्य'. ३ क. ख. घ. ट. ठ. ड. माने विमाने नि'. ४ क. ख. माध्य-
 मिका. ५ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'अव' नास्ति. ६ क. ख. घ. ट. ठ. ड.
 उत्कृष्टात्. ७ क. ख. घ. ट. ठ. ड. आगतवत्याः. ८ क. ख. घ. ट. ठ. ड.
 'तनेनैव हि मेघा'. ९ क. ख. घ. ट. ठ. ड. उपरोक्षब्दे. १० च. तात्स्थ्ये तां.
 २५ ११ क. ख. घ. ट. ठ. ड. यथाः क्रोशन्त इतिवत्. १२ च. 'उपचारात्'
 नास्ति. १३ क. ख. घ. ज. घ. ट. ठ. ड. यदा ताभिः. १४ ग. ज. पुरोहिताः;
 घ. ट. ड. प्रोहिताः; ठ. प्रहिताः. १५ ग. ज. पृथिवी लोक अनू; घ. ट.
 ठ. ड. पृथिवी पृथिवीलोकं । अनू. १६ घ. ट. ड. 'पूरयितुं वा अयम';
 ठ. 'पूरयितुं वा यतः अयम'. १७ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'वपि हि अनू'. १८ क.
 ३० ख. घ. ट. ठ. ड. अनुवकीर्यते.

वा ' एवमन्यथा 'स्यात्' आप्नोतेः । अन्वाप्यतेऽसावुदकेनेति 'अन्वाप्' ।
 ' यथा ' पुरस्तादक्षतीति ' प्राक् ' । ' तस्य ' अन्वाबिलेतस्य सतः
 ' अन्प् इति ' एव शब्दः ' शशयथा प्राचीनमिति ' । प्रागित्येवं सतः
 प्राचीनम् । ' बृवूकमिति उदकनाम ' इति पर्यायवचनेन तत्प्राभिधानम् ।
 ' ब्रवीतेर्वा ' शब्दार्थस्य [धा० २ । ३४] । शब्दकारि हि तद्भवति ।
 ' भ्रंशतेर्वा ' । भ्रंशयति [धा० ४ । ११९] हि तन्मेघादिति ॥ २२ ॥
 इति निरुक्तवृत्तौ सप्तमाध्यायस्य पष्ठः पादः ॥

वाङ्नामान्युत्तराणि सप्तपञ्चाशद्वाक्स्माद्भवेस्तत्र सर-
 स्वतीत्येतस्य नदीवद्देवतावच्च निगमा भवन्ति तद्यद्देवता-
 वदुपरिष्ठात्तद्याख्यास्यामोऽथेतन्नदीवत् ॥ २३ ॥

वाङ्नामान्युत्तराणि सप्तपञ्चाशत् । मेघनामप्रसक्तो ' देवानां माने ' इत्येव
 मन्त्रो व्याख्यातः । प्रकृतमिदानीमुच्यते वाङ्नामान्तीति । याचो नामानि
 याङ्नामानि । उत्तराणि प्रकृतेभ्यो मेघनामभ्यः । मेघेष्वेव हि भूयसी
 वाग्भवतीति मेघनामभ्य उत्तराणि वाङ्नामानि भवन्ति । कियन्ति पुन-
 स्तानि । सप्तपञ्चाशत् । कानि पुनस्तानि । ' श्लोकः धारा इडा ' इत्ये-
 षमादीनि । धूयत इति श्लोकः । ध्रियते तं तमर्थमवधारयितुमिति धारा ।
 तं तमर्थं प्रतीयमीष्टे गच्छतीति इत्येवमाद्यभ्यूहितव्यम् । आह । ' वाक्-
 स्मात् ' । उच्यते । ' वचेः ' धातोः । उच्यतेऽनयेति वाक् । ' तत्र
 सरस्वतीत्येतस्य ' । तत्र तस्मिन्सप्तपञ्चाशत्के वाङ्नामगणे सरस्वतीत्येतस्य
 नाम्नो ' नदीवद्देवतावच्च निगमा भवन्ति ' । नद्य-
 सरस्वतीत्येतस्य न- र्थयुक्ताश्च देवतार्थयुक्ताश्चेत्यर्थः । तत्रैवं सति
 दीवद्देवतावच्च निगमाः ' यत् ' अभिधानं ' देवतावन् ' ' तत् '
 अधिकृत्य ' उपरिष्ठात्तद्याख्यास्यामः ' पौडरोऽ-

१ प. ट. ठ. ड. च. 'अपि चैव'. २ क. ए. प. ट. ठ. ड. 'यथा' नास्ति.
 ३ क. ए. प. ट. ठ. ड. इत्येव शब्दः. ४ च. भ्रंशतेर्वा. ५ ग. च. ज. प्रस्यति.
 ६ क. ए. ५; ग. २०; घ. ट. च. ज. अङ्गो नास्ति; ठ. ड. इति द्वारिणतिः
 खण्डः. ७ प. ट. पादः संसृजः; घ. ठ. ड. पादः समाप्तः. ८ क. ए. द.
 ११ उ. त. ३१. ९ च. नामाना; ठ. ड. 'वाङ्नामान्युत्तराणि सप्तपञ्चाशत्'
 नास्ति. १० क. ए. प. ट. ठ. इत्येव.

ध्याये " पायका नः सरस्वती ' इत्येतस्मिन्मन्त्रे [निरु० ११।२६] ।
 ' अथ ' पुनः यत्र नदीवत् तद्व्याख्यायते ॥ २३ ॥

- इयं शुष्मेभिर्विसखा इवारुजत्सानुं गिरीणां तंविषेभि-
 ५ र्मुमिभिः । पारावतग्रीमवंसे सुवृक्तिभिः सरस्वतीमा वि-
 वासेम धीतिभिः (ऋ०सं०६।६१।२) ॥ इयं शुष्मैः शोषणैः
 शुष्ममिति बलनाम शोषयतीति सतो विसं विस्यतेर्मदनक-
 र्मणो वृद्धिकर्मणो वा सानु समुच्छ्रितं भवति समुन्न-
 मिति वा महाद्धिकर्मिभिः पारावतग्रीं पाराधारघातिनीं
 १० पारं परं भवत्यवारमवश्मवनाय सुप्रवृत्ताभिः शोभनाभिः
 स्तुतिभिः सरस्वतीं नदीं कर्मभिः परिचरेमोदकनामान्यु-
 त्तराण्येकशतमुदकं कस्मादुनत्तीति सतो नदीनामान्युत्त-
 राणि सप्तभिंशन्नद्यः कस्मान्नदना इमा भवन्ति शब्दवत्पो
 बहुलमासां नैघण्टुकं वृत्तमाश्रयमिव प्राधान्येन तत्रेतिहा-
 १५ समाचक्षते विश्वामित्रः कपिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो
 बभूव विश्वामित्रः सर्वमित्रः सर्वं संसृतं सुदाः कल्याणवानः
 पैजवनः पिजवनस्य पुत्रः पिजवनः पुनः स्पर्धनीयजवो
 वामिश्रीमावगतिर्वा स वित्तं गृहीत्वा विपाट्कृतुश्रयोः
 संभेदमापयावनुपयुरितरे स विश्वामित्रो नदीस्तुष्टाय गाथा-
 २० भवतेत्यपि द्विवदपि बहुवचनद्विवदुपरिष्ठात्तद्व्याख्यास्या-
 मोऽथैतद्वहुवत् ॥ २४ ॥

इयं शुष्मेभिरिति । मरद्वाजस्यार्यम् । जैगती । इयं सरस्वती नदी ।
 शुष्मेभिर्भैः । किं करोति । विसखा इवारुजत् । यथा विसखानको ।
 विसाननादरेणैव मृदुत्वात्वेनत्येवमियमनादरेणैव यदपि सानु भवति संमु-

- १५ १ क. ख. घ. ट. ठ. ड. यचद्दीव°. २ क. ख. १; ग. ३१; घ. २६; ङ.
 ठ. ड. ड. ज. अशो नास्ति. ३ क. ख. छ. त. द. ' शोभनाभिः ' नास्ति.
 ४ क. ख. छ. त. द. ' नदी ' नास्ति. ५ क. ख. छ. त. द. ' इमाः ' नास्ति.
 ६ क. ख. द. २; छ. त. ३२. ७ ठ. ड. जगनीउन्दः पृष्ठयः पृष्ठदे (ड. पृष्ठे)
 चतुर्पेऽहनि व्यूह्यक्षे प्रउगृचे विनियुक्त्यम् । इयं°. ८ क. ख. ग. ज. घ. ट.
 ठ. ड. विसमना°. ९ घ. छ. ट. ड. °त्वात् वनत्ये°; ठ. °त्वात् घनत्ये°. १०
 २१ ग. घ. ज. समुच्छ्रितं.

च्छ्रुतं वज्रसंघातकल्पं गिरीणां शिखरं तदपि तविषेभिर्महद्भिस्त्वर्मिभिर्विस-
 खानक इवानादरेणैव रजति मनस्वीत्यर्थः । येयमेवं-
 अस्यामृचि सर- गुणविशिष्टं तामेतां वयं पारावतघ्नीं पारावारघाति-
 स्वतीत्येतन्नदीवदभि- भीम् । सा ह्यूर्मिभिः पारं चार्वोरं चोभे अपि
 धानम् हन्ति । अवसे अवनाय रक्षणायात्मनः । कथं
 नाम रक्षेदसावस्मानित्येतमयं पुरस्कृत्य सुवृत्तिभिः
 सुप्रयुक्ताभिः स्तुतिभिः स्वरसौष्टवादियुक्ताभिः । किम् । सरस्वतीमा-
 विवासेम धीतिभिः । सरस्वतीमाभिमुद्ध्येनावास्थिताः परिचरेम । धीतिभिः
 कर्मभिः स्तुतिभिश्चानेकप्रकाराभिरित्यर्थः । एष समस्तार्थः ।

अथैकपदनिरुक्तम् । ' शुष्ममिति बलनाम ' । तद्धि ' क्षोपयतीति
 सतः ' । सत इति कारकावधारणम् । विपर्ययेणापि ह्यभिधानानामर्थो
 भवत्येवं मन्यमानो भाष्यकारो बलनामसु पठितमपि सदेतदभिधानमेव-
 माह शुष्ममिति बलनामेति । ' विसं विस्यतेर्भेदनकर्मणः ' । तद्धि
 भिद्यते । ' वृद्धिकर्मणो वा ' । वर्धते हि तत् । ' सानु ' समस्तं हि
 तद् ' वैच्छ्रितं ' भवति । अथ 'मा' समस्तमूर्ध्वं 'नुन्नं' प्रेरितं भवति । ' पारं
 परं भवति ' अवरस्मात्कूलादेव । अवारमवरं भवति परस्मात्कूलात् ।

अस्यामृचि तविषेभिः ऊर्मिभिः पारावतघ्नीमित्येतद्विशेषं लिङ्गं नदी-
 सावं पश्यता भाष्यकारेण ' अथैतन्नदीवत् '
 एतन्न नदीवदभि- इत्युक्तेयमृगुपात्तौ सरस्वतीशब्दस्य नैधभिधाय-
 धानं किंतु देवतावदि- काले । इयं पुनर्मंत्रायणीयके ' उतस्यानः
 त्यर्थे मैत्रायणीसंहिता- सरस्वती ' इत्यस्य पठ्यंस्वोत्तमा । एतच्च पुनः
 प्रमाणम् पठ्यं पठ्यार्चानुक्रमेण पश्चानुक्रमेण च ' सार-
 स्वती धेनुष्टरीमालभेत यः क्षेत्रे पशुषु वा

१ घ. आरुजति. २ क. स. ग. ज. चागरं उभे; घ. स. ट. ठ. ड.
 चारं चोभे. ३ क. ख. सुप्रवृत्ताभिः स्तु; घ. स. ट. ठ. ड. सुप्रवृत्ताभिः सुप्र- २५
 वृत्ताभिः स्तु. ४ घ. स. ट. ठ. ड. स्वेन संस्थिताः. ५ घ. ' हि ' नास्ति.
 ६ ग. घ. ज. उच्छ्रितं. ७ ग. ज. अवरस्मात्; घ. अवरस्मात्. ८ क. स.
 स. ट. ठ. ड. ' एव ' नास्ति. ९ घ. अवनय. १० क. ख. ' दिशमालिङ्गे; ग.
 ' दिशमालिङ्गे; क. ' दिशमालिङ्गे. ११ घ. उगाधताः सर. १२ घ. स. ट. ठ. तद्-
 भिषापहरं; ट. तद्भिं नय; घ. नयभिषापहरं. १३ ग. घ. ज. वैश्रावणीपदे. ३०

विवदेत् ' [मैत्रा० सं० २।५।४] इत्येतस्य पक्षोः संपद्यते । सेयमनेन प्रकारेण सारस्वतस्य पशुहवियो याज्या भवति । एवं च सतीदेमपि देवताव-
देवेत्येतदापद्यते । न ह्यदेवतेज्यते । तदेतदेवं कृत्वा भाष्यकारेण यदुक्तं 'तददे-

वतावदुपरिष्ठात्तद्व्याख्यास्यामोऽथैतन्नदीवत्' इति

५ भाष्यकारस्य मै- तद्विरुध्यते । तत्रोक्तः समाधिः [निरु०
श्रावणीसंहितया वि- २ । ८ वृत्तिः] । विभवो ह्यनुप-
रोधे कः समाधिः क्षीणशक्तयो मन्त्रशब्दाः । प्रदर्शनमात्रमेतत्कि-
यते सर्वथैव मन्त्रशब्दानां योऽर्थ उपपद्यते न
योज्यो यथासंभवमिति । देवतापक्षे विनियोगानुविधानाभिप्रायेण सरस्वती

१० माध्यमिका याक् । सा गिरीणां मेघानां सानूनि
देवतापक्षे ऋङ्- मञ्जेत्यूर्भिभिः स्तनयितुभिः पारावारे द्वावापृ-
निरूपणम् धिव्यौ हन्तीति योज्यम् । तत्रिपेभिर्भूमिभिः
महद्भिरित्येवमादि योज्यम् । ' सुप्रवृत्ताभिः
स्तुतिभिः सरस्वतीं कर्मभिः परिचरेम ' गतार्थम् ।

१५ 'उदकनामान्युत्तराणि एकदातम्' । उदकस्य नामान्युदकनामानि ।
उत्तराणि प्रकृतेभ्यो षाङ्नामभ्यः । मेवाश्रया हि यागमेवात्थं चोदकं
स्तनयितुशब्दपूर्वकं चेति षाङ्नामभ्य उत्तराण्युदकनामानि । कियन्ति
पुनस्तानि । एकदातम् । एकं च दातं च । कतमानि पुनस्तानि ।
' अर्णः क्षोदः क्षम ' इत्येवमादीनि । अरणशीलमर्णः । क्षिप्रमुनचीति
२० क्षोदः । क्षीणमन्नं करोतीति क्षेपेयमाद्यम्यहिन्यन् । आह । ' उदकं
कामात् ' । उपपत्तेः । ' उनर्त्तानि सतः ' । तद्वि यत्र गच्छति तत्रोनसि
प्रेरयति । ' उन्दी प्रेरणे ' [धा० ७ । २०] । गत इति पारफा-
पधारणं पूर्ववत् ।

' नदीनामान्युत्तराणि मनत्रिणात् ' । नदीनां नामानि नदीनामानि ।

२५ उत्तरानिनि' प्रकृतेभ्य उदकनामभ्य उत्तराणि नदीनामानि । कियन्ति
पुनस्तानि । सन्त्रिणात् । कानि पुनस्तानि । ' अवनयः देव्याः र्याः

१ क. स. प. ट. ड. ड. 'स्त्रीपदसि'. २ क. ' सः ' नास्ति. ३ क. स.
भ. अ. प. ट. ४ क. स. प. ड. ट. ड. इति 'पेक्षानम् । क. ५ क. स.
प. ड. ट. ड. इति. ६ ग. ज. ' आह... पूर्ववत् ' नास्ति. ७ ग. ड.
' नदीनां नामानि ' नास्ति. ८ क. ड. ' इति ' नास्ति; ट. ट. प. ट. ' न' इति.

सीराः । इत्येवंमादीनि । अत्रन्तेन निम्नेन प्रदेशेन यान्तीत्यवनयः ।
यातव्या भवन्तीति यव्याः । खातव्या भवन्तीति खाः । सरन्तीति सीराः ।
एवमादि योज्यम् ।

आह । ' नद्यः कस्मात् ' । उच्यते । ' नदनाः ' होता ' भवन्ति '

' शब्दबलः ' शब्दसंयुक्ताः । किंच । ' बहु- ५

नदीनां प्राधान्येन लमासां ' नदीनामन्यदेवतेषु मन्त्रेषु नैवण्डुकं
देशतात्वे मन्त्रा अल्पाः । वृत्तम् अप्रधानम् । ' आश्चर्यमिव प्राधा-
नैषण्डुकवृत्तिर्वहुला न्येन' । कचिदेव नदीदेवतो मन्त्रः स्यात् । ' तत्रे-
तिहासमाचक्षते ' । यस्मिन्सूक्ते प्रधाना नद्य एव
तत्रेमं निदानभूतमितिहासमाचक्षते वदन्त्याचार्याः । १०

' विश्वामित्रो ' नाम ' ऋषिः सुदासः पैजवनस्य ' राज्ञः ' पुरोहितो
वभूव ' । ' विश्वामित्रः सर्वमित्रः ' । सर्वस्यैव
प्राधान्येन यत्र हि स मित्रं सर्वमेव वा तस्य मित्रमिति विश्वा-
देशतात्वं तस्य सूक्तस्य मित्रः । ' सर्वम् ' इति किमुक्तं भवति ।
निदानभूत इतिहासः । उच्यते । तद्धि ' संसृतं ' संगतं भवत्येकस्मिन् । १५
' सुदाः कल्याणदानैः ' । तस्य हि नित्यमेव
प्रशस्तं दानं भवति । ' पैजवनः पिजवनस्य पुत्रः ' । ' पिजवनः पुनः
स्पर्धनीयजवः ' । तस्य हि स्पर्धाहो जवो वेगः । अथ ' वा अमिश्राभा-
वगतिर्वा ' । न तस्य मिश्रीभूतपूर्वा गतिरन्यैर्वेगवद्विरतिर्गृह्यात् । तस्य
पैजवनस्य विश्वामित्रः पुरोहितो वभूव । ' सः ' पौरोहित्योपाजितं २०
' वित्तं ' धनं ' गृहीत्वा विपार्द्धस्तुक्षोः ' नद्योः ' संभेदं ' संगममा-
गतवान् । यत्र विपार्द्धस्तुक्षौ इतराभिः सिन्ध्वाद्याभिर्नदीभिः संभिन्ने
एकीभूते इत्यर्थः । ' अनुययुरित्तरे ' तदनुयायिनस्तस्करा वा । ' स विश्वा-
मित्रः ' तास्तित्तीर्षुः ' नदीस्तुष्टाव गाधोदकाः ' यूयं ' भवतेति '
एतमर्थं पुरस्कृत्य । कथं पुनस्तुष्टाव । ' अपि द्विवत् ' अपि द्विवचन- २५

१ घ. ट. ठ. ड. अबनुतेन. २ क. ख. इत्यन्त्यो यान्तीति यव्याः. ३ क. ख.
ग. ज. 'क्षत इति आवा'. ४ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'संसृतं भवति संगतमेक'
५ घ. कल्याणदाता. ६ ग. ज. स्पर्धं तव्यत्तन्यानीय इति स्पर्धनीयः शब्दो निः
पन्नः । नीयजवो वा । तस्य'. ७ ग. ज. ' वित्तं ' नास्ति. ८ घ. ङ. ट.
'पार्द्धस्तु'. ९ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. संगममागयौ आग'. १० घ. एकभूते. ३०

विश्वामित्रेण कृता
नदीस्तुतिः केषुचि-
न्मन्त्रेषु द्विवचनसंयु-
क्ता केषुचिद्बहुवचन-
संयुक्ता

संयुक्तैर्मन्त्रैः । ' अपि बहुवत् ' बहुवचनसंयुक्तै-
र्मन्त्रैः । तत्रैवं सति ' यद् द्विवत् ' द्विवचनवत्
' तदुपरिष्ठात् ' चतुर्दशोऽध्याये प्रपर्वतानामि-
त्येतस्यामृचि ' व्याख्यास्यामः ' [निरु० ९ ।
३९] । ' अथ ' पुनः ' एतद्बहुवत् '
व्याख्यायते ॥ २४ ॥

रमध्वं मे वचसे सोम्याय ऋतावरीरुपं मुहूर्तमेवैः । प्र सि-
न्धुमच्छां वृहती मनीषावस्युरद्वे कुशिकस्य सूनुः [ऋ०
१० सं० ३ । ३३ । ५] ॥ उपरमध्वं मे वचसे सोम्याय सोम-
संपादिन ऋतावरीर्ऋतवस्य ऋतमित्युदकनाम प्रत्युतं भवति
मुहूर्तमेवैरयनैरयनैर्वा मुहूर्तो मुहुर्ऋतुर्ऋतुर्तेर्गतिकर्मणो
गुहूर्मूढे इव कालो यावदमीक्षणं चेत्यमीक्षणमभिक्षणं भवति
क्षणः क्षणोतेः प्रक्षुण्णतः कालः कालः कालयतेर्गतिकर्मणः
१५ शाभिह्वयामि सिन्धुं वृहत्या महत्या मनीषया मनस ईषया
स्तुत्या प्रज्ञया वाधनाय कुशिकस्य सूनुः कुशिको राजा
बभूव क्रोशतेः शब्दकर्मणः क्रंशतेर्वा स्यात्प्रकाशयतिकर्मणः
साधुविक्रोशयितार्थानामिति वा नद्यः प्रत्यूचुः ॥ २५ ॥

२० रमध्वं मे वचसे इति । त्रिष्टुभ एताः । उपरमध्वं मे । उपेत्यपमु-
पसर्गो मध्वस्य मध्यादाकृत्य भाष्यकारेण रमध्व-
अस्यामृचि बहुव- मित्यनेन क्रियापदेन योजितः । उपरमध्वं मे मम
चनसंयुक्ता । विश्वामि- वचसे सोम्याय सोमस्य संपादिने । सोमा ह्यनेना-
त्रेण नद्य उच्यन्ते पार- स्मद्रचसा देवतानामन्नभूता बहवः संपादिताः ।
२५ गमनाय साहाय्यं ता यूयमस्मै प्रतिविशिष्टाय वचसे सत्यतार्थं
पुरतेति कथं नाम सत्यमिदं स्यादित्येवमर्थमुपरमध्वम् ।
मन्दवेगा गाधाश्च भवतेत्यभिप्रायः । हे ऋता-

१ च. ' द्विवत् ' नास्ति. २ ठ. ड. ' स्थामः ' । इति निरुक्तभाष्ये द्वितीया-
ध्याये २४ खण्डः. ३ क. ख. २; ग. ३९; च. २२; घ. ट. ठ. ड.
ज. अद्वो नास्ति. ४ ड. ' सौमसंवादिने ' नास्ति. ५ क. ख. छ. त. द.
मूढ इव. ६ क. ख. द. २; छ. त. ३३. ७ घ. ट. ठ. ड. मन्त्रमध्यान्. ८ ग.
ज. सोम्यान्.

मरीः उदकवलयः । कियन्तं पुनः कालमुपरमध्यम् । मुहूर्तमेवैः । मुहूर्तम् ।
न च नित्यमेव मन्दवेगतां गाधोदकतां वा प्रार्थये । किं तर्हि । याव-
दुत्तरेयमहं तावदेवेत्यभिप्रायः । एवैः एभिर्दकैरतिप्रवृद्धैरुपरमध्यम् ।
'अवनैर्वा' । कामैरेतैरस्मद्वार्थानां विशेषैरुत्तरेम. गृहान्गच्छेम विचं प्रापयेमे-
त्येवमादिभिर्निमित्तैः प्रार्थ्यमाना अस्माभिस्परमध्यम् । अथ 'वा अवनैः' ५
चित्रैर्गमनैर्वेगवद्विषैर्यूयमभिप्रवृत्तास्तैरुपरमध्यं मुहूर्तम् । यदैवमविशेषेणो-
ध्यमाना न शुश्रूवुस्तदैकामुद्दिश्यं प्रवर्तते. वक्तुम् । प्रसिन्धुमच्छ । अच्छ
अमेः स्थाने । अहे इत्येतत्पदमाकृष्य प्राभिह्वयामीत्येवं योजितं भाष्य-
कारेण । किं प्राभिह्वयामि । सिन्धुम् । केन । बृहती मनीषा । बृहत्या
मनीषया मनस ईषया मनःपूर्विकया स्तुत्येत्यर्थः । अथवा प्रज्ञया । १०
कमर्थमिच्छन्प्राभिह्वयामि । अवस्युः अवनमिच्छन् । गमनमित्यर्थः ।
कुशिकस्य. सूनुरहमिति. पितुरपि गौरवान्मम गौरवमेताः कुर्युरिति
समस्तार्थः ।

अथैकपदनिरुक्तम् । 'ऋतमित्युदकनाम' । तद्वि देशं देशं. 'प्रवृत्तं
भवति' । गतमित्यर्थः । 'मुहूर्तो मुहुर्ऋतुः' । एवं विगृह्य ऋतुशब्दं १५
तावन्निर्वीति । 'ऋतुरर्तेः' गत्यर्थे वर्तमानस्य । स हि गच्छत्येव ।
अधुना मुहुःशब्दं निर्वीति 'मुहुर्मूढ इव कालः' अल्पत्वात् । मूढ
इव यः काल-ऋतुः स मुहूर्त इत्युच्यते । किंच । 'यात्रत्' एव च
'अभीक्षणं' तावन्मुहूर्तः । यावांश्च मुहूर्तस्तावदेवाभीक्षणमित्यर्थः । सारु-
प्यप्रसक्तं निरुच्यते । 'अभीक्षणमभिक्षणं भवति' । तद्वि क्षणमाभि- २०
मुख्येन स्थितं भवति । 'क्षणः क्षणोत्तेः' हिसार्थस्य [धा० ८ । ३] ।
स हि 'प्रक्षुत्तः' प्रकर्षेण हिसितः 'कालः' अल्पत्वात् । 'कालः
कालयतेर्गतिकर्मणः' । स हि सर्वाण्येव भूतानि कालयति । क्षयं
नयतीत्यर्थः । 'कुशिको राजा' इति-तत्त्वचनम् ।- 'क्रोशतेः' वा
शब्दार्थस्य [धा० १ । ८५६] । स हि साच्चेव क्रियतामिवैवं २५
नित्यकालमेव क्रोशयति । 'क्रोशतेर्वा स्यात्' प्रकाशयत्यर्थस्य । स.
दि प्रकाशयिता साधूनां धर्माणामात्मनैव प्रकाशतः । अथ 'वा' साधु-
ब्राह्मणेषु 'विक्रोशयितार्थानां' दातेत्यर्थः ।

१ क. स. प. क्ष. ट. ठ. ड. श्ववृत्ते. २ ग. ज. बृहत्या महत्या. ३ क. (।
प. स. मूढ इव; ट. मूढ इव. ४ क. स. प. स. ट. ठ. ड. 'च' नास्ति.
५ प. स. ट. ठ. ड. अभीक्षणमभि. ६ प. स. ट. ठ. ड. 'इति' नास्ति.
७ क. स. प. स. ट. ठ. ड. प्रकाशकः.

एवमुक्तवन्तं ' नयः प्रत्युचुः ' ॥ २५ ॥

इन्द्रोऽस्माँ अरदद्वज्रं बाहुरपाहन्वृत्रं परिधिं नदी-
नाम् । देवोऽनयस्सविता सुपाणिस्तस्य वयं प्रसवे याम
५ उर्वीः [ऋ० सं० ३ । ३३ । ६] ॥ इन्द्रो अस्मानरद-
द्वज्रं बाहू रदतिः खनतिकर्मापाहन् वृत्रं परिधिं नदीनामिति
व्याख्यातम् । देवोऽनयस्सविता सुपाणिः कल्याणपाणिः
पाणिः पणायतेः पूजाकर्मणः प्रगृह्य पाणी देवान्पूज-
यन्ति । तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः । उर्व्य ऊर्णोतिर्दृणो-
१० तेरित्यौर्णवामः प्रत्याख्यायान्तत आशुश्रुवुः ॥ २६ ॥

इन्द्रो अस्माँ अरददिति । अरदत् अखनदित्यर्थः । ' रदतिः खनति-
कर्म ' । कथं पुनरखनत् । अपाहन्वृत्रम् ।

१५ तासां प्रत्यादेश- अपावधीन्मेघम् । परिधिं नदीनां परिधारयितारं
रूपं प्रतिवचनम् नदीनां नदनानामपाम् । स हि निपतन्तीरपो
निरुणद्धि । तस्मिन्दो वज्रेण हन्ति । तस्मिन्हते

पृथिवीं प्राप्यापो यथानिम्नानुसारिण्यः खातानि कुर्वन्त्यो बहन्ति । तैः
खातैर्वयं गच्छामः । एवं कृत्वास्मानिन्द्रोऽरदत् । एवं च कृत्वा स एव
२० 'चेन्द्रो देवः सविता सर्वार्थप्रसविता र्वपद्वारेणास्माननयस्समुद्रम् । सुपाणिः
प्रशस्तपाणिरित्यर्थः । यत एवं सोऽस्माकं खनिता नेता चातस्तस्येन्द्रस्य
प्रसवे अनुज्ञायामादेशे वर्तमाना वयं यामो गच्छामः । उर्वीः ऊर्णवत्यः
संभजमाना या तावि तानि देशान्तराण्यम्भोभिः । सोऽस्माकमीश्वरः ।
स एवंमस्मानाज्ञापयितुमर्हति न त्वमित्यभिप्रायः ।

२५ ' पाणिः पणायतेः ' [धा० १ । ४४०] पूजार्थस्य । ' प्रगृह्य
पाणी ' संयतौ कृत्वा ततो ' देवान्पूजयन्ति ' इति ।

१ क. स. ३; ग. ३२; घ. स. ट. ॥ ज. अद्भो नास्ति; ठ. ड. 'त्युचुः ॥
इति निरुक्तभाष्ये द्वितीयाध्याये पञ्चविंशतिः खण्डः. २ क. ख. द. ४; छ. त.
३४. ३ घ. स. ट. कर्मा । वज्रबाहुः । वज्रशुक्रो बाह्वयस्यासौ । कथं. ४ ग.
ज. अग्रन्; च. अहन्. ५ क. ख. घ. ट. ठ. ड. च. कुर्वन्त्यो. ६ क. ख. घ.
स. ट. ठ. ड. ' च ' नास्ति. ७ घ. ज. ट. ठ. ड. सर्वार्थाय प्रस. ८ घ.
वर्षादारे; ट. वर्षादारे. ९ क. ख. ड. यत एव; ग. ज. य एव. १० क. स.
१२ एव. स्मान्; घ. स. ट. ठ. ड. एव चास्मान्.

‘प्रत्याख्याय’ एवं तृपिम् ‘अन्ततः’ सूक्तस्य अन्ततः अन्तेऽ-
नयर्चा ‘आशुश्रुतुः’ । ता नयः श्रुतवत्य इत्यर्थः । तदा चै श्रुतं
भवति यदा तद्वचः क्रियते । श्रूयमाणमपि हि तत्रैव श्रुतं भवति यत्र
क्रियते ॥ २६ ॥

आ ते कारो शृण्वामा वचांसि ययार्थं दूरादनेसा
रथेन । नि ते नसै पीप्यानेव योपा मर्पायेव कन्या
शश्वचै ते [ऋ० सं० ३ । ३३ । १०] ॥ आशृण-
वाम ते कारो वचनानि याहि दूरादनसा च रथेन
च निनमाम ते पाययमानेव योपा पुत्रं मर्पा- १०
येव कन्या परिष्वजनाय निनमा इति वाङ्मनामान्युत्तराणि
पट्विंशतिस्तेषामष्टा उत्तराणि बहुवदश्वः कस्मादश्रुतेऽध्वानं
महाशनो मयतीति वा तत्र दधिका इत्येतद्वधत्कामतीति
वा दधत्कन्दतीति वा दधदाकारी मयतीति वा तस्याश्व-
वद्देयतावच्च निगमां भवन्ति तद्यद्देयतावदुपरिष्ठात्तद्वचाख्या- १५
स्यामोऽथैतदश्ववत् ॥ २७ ॥

आ ते कारो शृण्वाम । आभिमुख्येनावस्थिताः सत्यः शृण्वाम हे
कारो स्तोमानां कर्तः । किमाशृण्वाम ।
पारगमनायानुमतिः वचांसि वचनानि । श्रुतानि चैतानि ताय- २०
साहाय्याश्रायणं च कानि वचांसि र्यतो ब्रूमः । ययार्थं याहि त्वम्
अनसा शर्कटेन सह रथेन च । कस्मात्पुनरेवमा-
दरवत्यो ब्रूमो ययार्थेति । इतो यस्मादूरादायातस्त्वं परिश्रान्तस्तस्मात्का-
रण्यं नस्तवपि । तेन ययमेता नि ते नसै ‘नininमाम ते’ नीचैर्नमाम ।

१ क. ख. ततः; प. झ. ट. ठ. ड. ततः. २ च. अन्ततः. ३ ग. ज. प्रति- २५
श्रुतुः च. प्रतिश्रुतुः आ. ४ क. ख. घ. झ. ङ. ‘च’ नास्ति. ५ क. ख.
२६; ग. २१; घ. २१; प. झ. ट. ज. अश्रो नास्ति. ६ क. ख. ङ. ५; ट.
त. २५. ७ ठ. ड. ‘वामेति’ । अणि. ८ क. ख. घ. झ. ट. अश्रो. ९ ग. ज.
शर्कटेन च सह. १० क. ख. घ. झ. ट. गार्हीति; ग. ज. ययार्थयेति; घ.
ययार्थयेति.

गाधोदका भवामेत्यर्थः । कथं पुनर्निनमाम । पीथ्यानेव योषा । पाययमानेव योषा पुत्रं यथा निनमेदेवं वयं तव निनमाम । एवमुक्त्वा पुत्रोपमया कदाचिदयं क्रोधमियादिति मन्वानाः सत्यः पतिकन्यासंबद्धमन्यामुपमांमुपाददरे । मर्यायेव कन्या शश्वचै ते । मर्याय मनुष्याय कन्या नवोढा शश्वचै ते परिष्वजनाय । कथं नाम परिष्वजेत मामयमित्यभिप्रायेण यथा सा निनमेदेवं वयं तव निनमाम । निनमै इति वा । यदि वा निनमाम इत्येवं विपरिणामो निनंसै इत्येतस्य पदस्याथवा निनमै इति ।

- ‘ अश्वनामान्युत्तराणि पड्विंशतिः ’ । अश्वस्य नामान्यश्वनामानि । उत्तराणि प्रकृतेभ्यो नदीनामभ्यः । अञ्जा एव ह्यश्वाः । एवं ह्युक्तम् । ‘ अप्सु जाता अश्वाः स्वादेवैनान्योनेर्जनयन्ति ’ इति । तस्मान्दीनामभ्य उत्तराण्यश्वनामानि । कियन्ति पुनस्तानि । पड्विंशतिः । पडधिका विंशतिः । कृतमानि पुनस्तानि । ‘ अत्यः ह्यः अर्वा ’ इत्येवमादीनि । अतति गच्छतीत्यत्यः । ह्यति गच्छंति हन्ति वाञ्छानमिति ह्यः । ईरणवानर्वा । गमनवानित्यर्थः । एवमादि । ‘ तेपाम् ’ अश्वनाम्नामष्टौ यानि ‘ उत्तराणि ’ अन्यथयै इत्येवमादीनि तानि बहुवचनसंयुक्तानीत्यर्थः । आह । ‘ अश्वः कस्मात् ’ । उच्यते । स हि ‘ अश्रुतेऽश्वानम् ’ । व्याप्नोतीत्यर्थः । ‘ महाशनो वा भवतीति ’ । स हि बहु भुङ्के । ‘ तत्र ’ तस्मिन्पड्विंशकेऽश्वभिधानगणे ‘ दधिका इत्येतत् ’ पदं संदिग्धम् । तत्पुनरेतत् ‘ दधक्तामतीति ’ । अथ ‘ वा ’ धारयन्त्यमश्वारोहं क्रामतीति दधिकाः । अथ ‘ वा ’ धारयन्त्यमश्वारोहं दधिका इत्येतत्संदिग्धं ‘ क्रन्दति ’ शब्दं करोति ‘ इति ’ दधिकाः । पदम् अथ ‘ वा ’ दधद्धारयन्मश्वारोहम् ‘ आकारी ’ आकारवान् ‘ भवतीति ’ दधिकाः । स ह्यधि- २५ रूटेऽश्वारोह आकुञ्चितग्रीवो विष्णुवितसर्वगात्र आकृतिमान् भवति । ‘ तस्य ’ दधिकाराब्दस्य ‘ अश्ववत् ’ अश्वसंयुक्ताः ‘ देवतायत् ’

१ च. संवन्धावद्वाम्. २ ग. च. ज. परिस्वजनाय. ३ क. ख. घ. झ. ट. उ. ङ. ‘ वि ’ नास्ति; ग. ज. ‘ त्येव विपरि’. ४ क. ख. घ. झ. ट. उ. ङ. गच्छतीति. ५ ग. ज. अन्यथः; च. व्यथयः. ६ क. ख. घ. झ. ट. उ. ङ. २०. ‘ दधयमश्वम्’.

तस्याश्वदेवतावच निगमाः देवतासंयुक्ताः ' च निगमा भवन्ति ' । ' तत् ' एतदुच्यते । ' यदेवतावत् ' अस्य दधिक्राशब्दस्य ' तदुपरिष्ठात् ' पञ्चदशोऽध्याये ' आ दधिक्राः शवसा ' इत्यस्यामृचि ' व्याख्यास्यामः ' [निरु० १० । ३१] । ' अथ ' पुनर्यत् ' अश्ववत् ' अस्य तत् ' एतत् ' व्याख्यायते ॥ २७ ॥

उत स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो अपि-
कक्ष आसनि । क्रतुं दधिका अनु संतवीत्वत्पथामङ्गा-
स्यन्वापनीफणत् [ऋ० सं० ४ । ४० । ४] ॥ अपि स १०
वाजी वेजनवान्क्षेपणमनु तूर्णमश्रुतेऽध्वानं ग्रीवायां बद्धो
ग्रीवा गिरतेर्वा गृणातेर्वा गृह्णातेर्वापिकक्ष आसनीति
व्याख्यातं क्रतुं दधिकाः कर्म वा प्रज्ञा वा । अनु संतवी-
त्वत् । तनोतेः पूर्वया प्रकृत्या निगमः । पथामङ्गासि पथा
कुटिलानि पन्थाः पततेर्वा पद्यतेर्वा प्रन्थतेर्वाङ्गोऽश्वतेरापनी- १५
फणदिति फणतेश्चर्करितवृत्तं दशोत्तराण्यादिष्टोपयोजना-
नीत्याचक्षते साहचर्यज्ञानाय ज्वलतिकर्माण उत्तरे धातव
एकादश तावन्त्येवोत्तराणि ज्वलतो नामधेयानि नामधे-
यानि ॥ २८ ॥

२०

उत स्य वाजीति । गौतमपुत्रस्य वामदेवस्यैर्षम् । जगती । वाजपेये
वाजियुक्तं रथमधिरुद्ध यजमानोऽनुवाकं जपति तत्रैवा [तै० सं० १
७ । ८] । उत स्यः अपि सः इत्यर्थः । वाजी वेजनवान् । ' ओविजी
भयचलनयोः ' [धा० ७ । २३] । भयवान् । परेभ्यो भयदाता । परेषां
हि तं दृष्ट्वा भयमुत्पद्यते । चलनवान् वा । स २५
अस्यामृच्यश्व- हि नित्यं चलनशीलः । क्षिपणिं क्षेपणमनु
त्प्रेयाः कशाधातमनु तुरण्यति तूर्णमश्रुतेऽध्वानम् ।
व्याप्नोतीत्यर्थः । अपि कशाप्रहारमनु तुरण्य-

त्यप्यनाहत एवेत्यपि शब्दः । किंच । ग्रीवायामुरसि वध्नेर्ण वद्धः अपि कक्षे
 कक्षायाम् । अप्यासनि मुखे खलीनेन वद्धः । एवमनेकेषु स्थानेषु वद्धस्त-
 थापि तुरण्येव । अन्यो ह्येकस्मिन्नपि प्रदेशे वद्धः स्पन्दितुमपि न शक्नोति
 किमुत त्वरितुम् । किंच क्रतुमात्मीयं गमनकर्म प्रज्ञां वाश्वारोहस्य संत-
 नोति । काममभिप्रेतेनार्थेन शीघ्रगामित्वाद्दधिक्रा अवशोऽनुसंतनोतीत्यर्थः ।
 किंच । यान्यपि च कानिचित्पथा कुटिलानि मार्गाणाम् अङ्कांसि अञ्चि-
 तानि कुटिलानि तान्यपि सन्त्यनुलोमानीव कुर्वन्नाशुगामित्वादाभिमुख्येन
 पुनः पुनर्वा भृशं वा फणति गच्छतीत्यर्थः । एष समस्तार्थः ।

अथैकपदनिरुक्तम् । ' ग्रीवा गिरतेर्वा ' गिलनार्थस्य [धा० ६ ।

१२९] । तथा हि गिलित्यन्तम् । गृणातेर्वा शब्दार्थस्य [धा० ९ । २६] ।
 तथा हि शब्दो गीर्यते । गृह्णातेर्वा । तथा ह्युद्कादि गृह्यते तस्यामेव वा
 गृह्यते यः शृङ्खलीक्रियते । ' अनुसंतवीत्वत् ' इति ' तनोतेः ' ।
 धातोः ' पूर्व्या प्रकृत्या निगमः ' । पङ्क्तिधो हि धातुः । ' प्रकृत्यन्तः
 सनन्तश्च यङन्तो यङ्लुगोश्च । ण्यन्तो ण्यन्तसनन्तश्चैव पङ्क्तिधो धातु-

१५ रूच्यते' ॥ आस्तां ण्णां धातुप्रकृतीनां या पूर्वा

पदप्रकारो धातुः । प्रकृतिस्तथैव निगमो न सन्प्रकृतीत्यादीनामन्य-
 अनसंतवीत्वदिति तमया । ' पन्थाः पततेर्वा [धा० १ । ८७०]
 पूर्व्या प्रकृत्या निगमः पततेर्वा [धा० ४ । ६३] पन्थतेर्वा ' [धा०
 १० । ४२] । त्रयोऽपि ह्येते गत्यर्थाः । एतेषां

२० मन्यतमस्य । अङ्कोऽव्यतेः गत्यर्थस्य [धा० १ । ८८७] । ' आपनी-
 फणदिति फणतेः' [धा० १ । ८४६] गत्यर्थस्य चर्करीतीन्तत्वेन धृतम् ।
 दश यानि ' उत्तराणि ' नामानि तान्यध्वनामसंवन्धेनैवोच्यन्ते ।

तान्यपि ह्यध्वानामेव । तानि पुनः ' आदिष्टोप-
 आदिष्टोपयोजना- योजनानीति' एवम् ' आचक्षते' आचार्याः । इदं

२५ न्यध्वनामानि मिन्द्रस्याध्वानां नामेदमग्रेऽदमादित्यस्येत्येवमादि-
 ष्टोपयोजनानि । कतमानि पुनस्तानि । ' हरी

१ ग. ज. वरजह्वग; घ. झ. ट. ठ. ड. वरजेण. २ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
 अयासनि. ३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. चलिनु. ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ.
 ड. ' कुटिलानि ' नास्ति; ग. ज. ' निचित् ' । यथा कुटिलानि मार्गा. ५ क.
 ख. घ. झ. ट. ठ. ड. सन्ति तान्यप्यनुज्ञे. ६ ग. च. ज. मिलेऽप्यनु. ७ घ.
 ट. ' सनन्त्यश्च. ८ ग. च. ज. पन्थतेर्वा पततेर्वा. ९ क. ख. घ. ट. ठ. ड. एषा.
 १० १० च. चर्करीतीन्तत्वेन. ११ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ' नामेवेति.

इन्द्रस्य ' इत्येवमादीनि । हरी हरितवर्णाविन्द्रस्याधौ । रोहितावग्रेः ।
रोहितवर्णावित्येवमादि ।

'ज्वलतिकर्मणि उत्तरे धातश्च एकादश' । य एव ह्यश्वन्तो भवन्ति
त एव ज्वलन्तीश्च तेजसा । ततोऽश्वनामस्य उत्तरे ज्वलत्यर्था धातवः ।
कतमे पुनस्त इति । ' भ्राजते भ्राशते भ्राश्यति ' इत्येवमादयः ।

'साधन्येवोत्तराणि' 'जमत् कल्मलीकिनं जङ्गणार्भवन्'
इत्येवमादीनि 'ज्वलतो नामधेयानि' । जमति गच्छतीति जमत् ।
कमहं मलिनं शोधयामीति कल्मलीकिनम् । जनं जनं भाषयतीति
'जङ्गणार्भवन्' इत्येवमादि । ज्वलतो नामधेयानीत्यध्यायपारिसमा-
ख्ययो द्विरभ्यासः ॥ २८ ॥

इति ऋज्वर्यायां निरुक्तवृत्तौ जम्बुमार्गाश्रमवासिन आचार्यभगवद्-
दुर्गास्यं कृतौ सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अथनिर्वचनमोघोराज्ञोविद्याहवाअथातोऽनुक्रमिष्या-
मोवृक्षेवृक्षेतवावास्तूनिर्बईचकारायंसोशिङ्कोहिरण्यनामा-
न्यादिपेणोयद्देवापिःसाधारणानिस्वरादित्योरश्मिनामा-
न्यातिष्ठन्तीनांदासंपत्नीरात्रिनामानांदेश्वरेश्वरशङ्खहस्ताहर्ष-
कृष्णदेवांनामानेवाङ्नामानांयशुष्मेमीरमध्वरेश्वरेश्वरो-
स्मानातेकरोऽतस्तस्यवाज्यष्टाविंशतिः ॥

इति निरुक्ते पूर्वपदके द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

१ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. रोहितोऽग्रेः. २ घ. झ. ट. भ्राशते. ३ ग. ज.
भ्राश्यते; घ. झ. ट. च. भ्राशते. ४ च. 'भवम्'. ५ क. ख. घ. ट. 'जं'
सङ्देव. ६ ग. घ. ज. भवम्. ७ क. ख. ७; ग. ३६; घ. झ. ट. ठ. ड. च.
ज. अङ्को नास्ति. ८ घ. झ. ट. 'इति' नास्ति. ९ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
'भ्रमनिग'. १० ग. घ. ज. 'दृग्गच्छती'. ११ घ. झ. ट. ठ. ड. च. 'ध्यातः'
समाप्तः. + ठ. 'नामान्युत्तराण्याधि'.

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

तत्र प्रथमः पादः ।

ॐ । कर्मनामान्युत्तराणि पञ्चविंशतिः कर्म कस्मात्क्रियत इति सतोऽपत्यनामान्युत्तराणि पञ्चदशापत्यं कस्मादपततं भवति नानेन पततीति वा तद्यथा जनयितुः प्रजैवमर्थीये कृत्वा उदाहरिष्यामः ॥ १ ॥

‘कर्मनामान्युत्तराणि पञ्चविंशतिः’ । कर्मणो नामानि कर्मनामानि । उत्तराणीति प्रकृतेभ्यो ज्वलन्नामधेयेभ्यः । ज्वलत्येव ह्यमौ कर्माणि क्रियन्त इति ज्वलन्नामस्य उत्तराणि कर्मनामानि । कियन्ति पुनस्तानि । ‘पञ्चविंशतिः’ । पञ्चदश विंशतिः पञ्चविंशतिः । कतमानि पुनस्तानि । ‘अपः अमः दंसः’ [निघ० २ । १२] इत्येवमादीनि । आप्यते पुरुषेणैतदामोति वा पुरुषमेतदित्यपः । अमः इत्येतदप्यामोतेरेव । एवमादि योज्यम् । आह । ‘कर्म कस्मात्’ । उच्यते । ‘क्रियत इति सतः’ । सत इति कारकावधारणार्थमिति ।

‘अपत्यनामान्युत्तराणि पञ्चदश’ । अपत्यस्य नामान्यपत्यनामानि । उत्तराणीति प्रकृतेभ्यः कर्मनामभ्यः । सर्वकर्मणां ह्यपत्योत्पादनकर्मैव प्रधानमृणापाकरणद्वारेणेति कर्मनामस्य उत्तराण्यपत्यनामानि । कियन्ति पुनस्तानि । पञ्चदश । कतमानि पुनस्तानि । ‘तुक् तोकम् तनयम्’ [निघ० १ । २] इत्येवमादीनि । तुक् तक्तर्थातोस्तुज्यतेर्वा । तोकं तुचतेः । तनयं तनोतेरिति वक्ष्यति [निरु० १० । ७] । आह । ‘अपत्यं कस्मात्’ । उच्यते । ‘अपततं भवति’ । पितुः सकाशादपत्यं पृथगिदं सतं भवति । अथ ‘वानेन’ ज्यतेन सत्या पितरे नरके ‘न पतन्तीति’ अपत्यम् ।

अत्र पुनर्विवदन्ते । द्वयोः संनिपाते किं क्षेत्रिणोऽपत्यमुत बीजिन

१ ग. अ. ‘कर्मनामानि’ नास्ति. २ ग. च. अ. ज्वलतिनाम्. ३ क. ख. ह. ‘पञ्चविंशतिः’ नास्ति. ४ उ. ह. तनयः. ५ प. ट. ‘स्तुजतेः’, च. ‘स्तुज्यतेः’ य. ६ ग. अ. ‘थगेव’.

अपन्यं क्षेत्रिणो इति । 'तत्' एतदुच्यते । 'यथा जनयितुः'
धीजिनो वेति प्रश्नः एव 'प्रजा' भवतीति 'एवमर्थान्ते ऋचा-
बुदाहारिष्यामः' ॥ १ ॥

- ५ परिपद्यं ह्यरणस्य रेक्णो नित्यस्य रायः पतयः स्याम ।
न शेषो अग्रे अन्यजातमस्त्येत्तानस्य मा पथो वि दुक्षः
[ऋ० सं० ७ । ४ । ७] ॥ परिहर्तव्यं हि नोपसर्तव्यमर-
णस्य रेक्णोऽरणोऽपाणो भवति रेक्ण इति धननाम
रिक्पते प्रयतो नित्यस्य रायः पतयः स्याम । पित्र्यस्येव
१० धनस्य । न शेषो अग्रे अन्यजातमस्ति । शेष इत्यपत्यनाम
शिष्यते प्रयतोऽचेतयमानस्य तत्प्रमत्तस्य भवति मा नः
पथो विदूदुष इति तस्योत्तरा मूपसे निर्वचनाय ॥ २ ॥

- १५ 'परिपद्यं हि' 'न हि प्रभाय' इति चैते त्रिष्टुभौ । वसिष्ठाग्निसंवादे
वसिष्ठेन हतपुत्रेणाग्निरभ्यर्थितः पुत्रं मे देहीति ।
श्रीतककृत्रिमादीनि तेन किलसौ प्रत्युक्तः श्रीर्तेककृत्रिमदत्तकादीनां
नैव स्वापत्न्यानि पुत्राणामन्यतमं कुरुष्व पुत्रमिति । स एवमुक्त
एताभ्यामृग्भ्यामन्यजान्पुत्रान्निन्दन्नौरसं पुत्रं यया-
चे । परिपद्यं० वि दुक्षः इति । परिपद्य हि परिहरणीयं परित्याज्यं परिहर्तव्य-
२० नित्यर्थः । किं पुनस्तत् । अरणस्य रेक्णः । अरणस्यापगतार्णस्यापगतोदक-
संवन्धस्य परकुलजस्य रेक्णो यदपत्याख्यं धनं तत्परिहर्तव्यम् । न पुत्रत्वेन
परिकल्पयितव्यमित्यर्थः । न हि तत्पुत्रत्वेन कल्प्यमानमपि पुत्रकार्येष्वव-
तिष्ठते परकीयत्वात् । यत् एवमतो ब्रूमः । नित्यस्य रायः पतयः स्याम ।
पित्र्यस्येव धनस्य । यथा हि यदेव पित्र्यं धनं पुत्रत्वे भवति तस्यैव
२५ एतपर्यगौणं रामित्वं भवत्येवं यदेव स्वयंजातमप्यसं भवति तदेव मुख्यं

१ क. स. ग. ज. 'इति' नास्ति. २ ठ. ट. ॥ १ ॥ इति निरुक्तवृत्तिः वृत्ती-
याध्याये प्रथमः खण्डः. ३ ग. ज. 'रम्यचिनः. ४ च. 'श्रीनृचि'. ५ घ. ट.
सर्वा ऋक् पञ्चमे. ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'परिहर्तव्यं' परिहरणीयमित्यस्य
२९ प्राग्वर्तते. ७ क. ख. 'कुलजस्य; ट. 'कुलजस्य' जात.

भवति नेतरस्त्रेजं वा क्रीतकं वा । यत एवमतो
स्वव्रीजजातमेव स्वा- ब्रूमः । यदेव नित्यमात्मीयमगौणं स्वयमुत्पादितं
पत्यं नान्यव्रीजजातम् पुत्राख्यं रायो धनं तस्यैव वयं पतयः पालयि-
तारः स्याम । मा परकीयस्येत्यभिप्रायः । कस्मात्पुन-
रेवं ब्रूमहे । इतो यस्मान्न शेषो अग्रे अन्यजातमस्ति । नास्ति शेषो
नास्त्यपत्यमन्येन जातं हे अग्रे । य एव जनयति तस्यैव हि तद्भवति
नेतरस्येत्यभिप्रायः । अचेतनस्य य एव ह्यचेतयमानो भवत्यविद्वान्प्रमादी
तस्यैवाचेतनस्य प्रमत्तस्याश्रुतवतो धर्मं परितोपमात्रं भवति ममेदमपत्य-
मिति । नापत्यकार्येऽवतिष्ठते । यत एवमतो ब्रूमः । मा पथो विदुक्षः ।
मास्मानेतस्मात्पितृपितामहप्रपितामहानुसंततात्पथो मार्गाद्येन केनचित्प्रत्या-
ख्यानद्वारेण विदूदुपत्वम् । देहि नः पुत्रमौरसमित्यभिप्रायः । इति
समस्तार्थः ।

अथैकपदनिरुक्तम् । ' अरणोऽपार्णः ' । अपगतोदकसंबन्ध इत्यर्थः ।
' रेवण इति धननाम ' । तद्धि ' रिच्यते ' अतिरिच्यत इतो
लोकादमुं लोकं ' प्रयतो ' त्रिग्रमाणस्येत्यर्थः । ' शेष इत्यपत्यनाम ' ।
तद्धि ' शिष्यते ' इहैव लोकेऽवतिष्ठते पितुरमुं लोकं ' प्रयतो ' गच्छत
इत्यर्थः ।

एवमस्यामृचिं ' न शेषो अग्रे अन्यजातमस्ति ' इत्यनेन विशेषलि-
ङ्गेनोपपन्नमेतद्भवति जनयितुरेव प्रजा भवति न क्षेत्रिणो नापि क्रैतुर-
न्यस्य वा कस्यचिदिति । एवं चैष शब्दार्थ उपपद्यते यस्मादेवापेत्य ततं
भवति तस्यैवापत्यमिति । अनेनैव चापत्यशब्दनिर्वचनप्रसङ्गेनैष मन्त्रो
व्याख्यातः । उत्तरं च सावशेषमपत्यशब्देऽप्रसक्तानुप्रसक्तमेवोच्यते । ' तस्यो-
त्तरा भूयसे निर्वचनाय ' ॥ २ ॥

१ च. ' वा ' नास्ति; ठ. ड. वा क्रीतं वा. २ ट. रायो^१ राः. ३ ग. ज. २५
पतयः' पालयितार इत्यस्य यच्चादर्तते. ॥ घ. झ. ठ. ड. "स्येत्यर्थः; ड.
"स्येत्यर्थः" भिप्रायः. ५ सर्वेषु पुस्तकेषु विरामः ' जातम् ' इत्यस्य यच्चादर्तते
नात्र. ६ क. रा. धर्मात्; घ. झ. ट. ठ. ड. धर्मान्. ७ क. रा. घ. झ. ट.
ड. ' इयः । त्वं देहि. ८ ट. मन्त्रार्थः. ९ च. ' य' नास्ति. १० क. रा. घ. झ.
ड. ठ. ड. शब्दे ष'. ११ ठ. ड. इति २ निरुक्तवृत्तौ तृतीयाध्याये द्वितीयः खण्डः. २०.

न हि ग्रामायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ ।
 अधा चिदोकः पुनरित्स एत्वा नो वाज्यभीपाळेत्तु नव्यः
 [क्र० सं० ७ । ४ । ८] ॥ न हि ग्रहीतव्योऽरणः सुसुख-
 तमोऽप्यन्योदर्यो मनसापि न मन्तव्यो ममायं पुत्र इत्यथ
 स ओकः पुनरेव तदेति यत आगतो भवत्योक इति
 निवासनामोच्यत ऐतु नो वाजी वेजनवानभिपहमाणः
 सपत्नान्नवजातः स एव पुत्र इत्यथैतां दुहितृदायाद्य उदा-
 हरन्ति पुत्रदायाद्य इत्येके ॥ ३ ॥

- १० न हि ग्रामायेति । न हि ग्रहीतव्यो नात्मीर्यः कर्तव्यः पुत्रो ममायमि-
 ल्येनाभिप्रायेण । कः पुनरसौ नात्मीर्यः कर्तव्यः ।
 अन्यजायोदरसं- भूतं स्वापत्यमिति न यः
 कदापि मन्तव्यम् यपि मुशेव एव स्यात्सुखतमः परिचारितो हितैवी
 तथाप्यन्योदर्योऽन्येनोदीरितात्रेतसो जातोऽन्यजा-
 योदरसंभूतो वा । यो हि स्वस्यां जायायां
 संभवति स स्व एवोदरे संभूतो भवति । 'अर्धो ह वा एष आत्मनो
 यज्जायेति विज्ञायते [शत० ब्रा० ५ । २ । १ । १०] । तस्माद्योऽ-
 न्यजायोदरसंभूतः स मनसापि न मन्तव्यो ममायमिति किं पुनः पुत्रत्वे
 परिकल्पयितव्य इति । किं कारणं मनसापि न मन्तव्य इति । अधा
 १० चिदोकः पुनरित्स एति । अधशब्दोऽधशब्दस्यार्थे वर्तते । स च हेत्वर्थः ।
 यस्मादोकः स्वं निवासस्थानं स्वं वंशं बहुनापि
 तादृशमपत्यं स्वं कालेन स एति तद्वंश्य एव भवति तस्मादपुत्र
 वंशमेव गच्छति एवासौ । यत एवमतो ब्रवीमि । आ नो
 वाज्यभीपाळेत्तु नव्यः । ऐतु आगच्छतु नो
 २५ वाजी वेजनवान्परेभ्यो मयदाता अभीपाद् अभिपहमाणः अभिमयन्

१ क. ख. छ. त. द. 'पाळेत्तु. २ क. ख. द. 'तव्यो अर'; तः. तव्यो अर'.
 २ क. ख. छ. त. द. 'ममायमित्यथ'. ४ क. ख. ग. ज. घ. झ. ट. नात्मीर्य-
 कर्त'. ५ ठ. ड. 'चरता. ६ घ. झ. ट. ठ. ड. स्वस्य. ७ च. 'शब्दार्थे.
 ११ ८ क. ख. ग. च. ज. घ. 'फलेत्तु. ९ ग. ज. ठ. ड. एतु.

सपत्नान् नव्यो नवजातः । शिशुरित्यर्थः । स एव पुत्रे आगच्छतु । किं नः परकीयैः पुत्रैः संकल्पितैरित्यर्थः ।

‘अथैतां दुहितृदायाद्य उदाहरन्ति’ । इदमुक्तमपेक्ष्य यस्मात्पितुः सकाशात्तत् भवति तस्मादपत्यमिति । तदिदमुभयोरपत्यत्वं प्राप्नोति दुहितुः पुत्रस्य च । दुहिताऽपि ह्यपेक्ष्य तता भवति पितुः सकाशात् । तत्रैवं सत्युभयोर्दुहितृपुत्रयोरपत्य-

शासद्वहिरित्येषा कार्योणि दायादादीनीत्येव विशेषेण प्राप्नुवन्ति । तदिदं विचार्यते । तदधिकारार्थोऽयमधशब्दः । एतामृचं शासद्वहिरित्यादि या वक्ष्यमाणा तां दुहितृदायाद्येऽर्थे उदाहरन्ति धर्मविदः । अस्या-

मृचि वक्ष्यमाणायां दुहितुरपि दायाद्यत्वमस्तीति दृश्यते । पुत्रदायाद्य इत्येके । एके पुनर्धर्मविदो मन्यन्ते यत्पैतृकं धितं तापुत्रस्यैव दायाद्यं न दुहितुरिति । यथा दुहितापि दायाद्यमर्हति तथेय-
मैमिरुच्यते ॥ ३ ॥

१५

शासद्वहिरित्युदाहरणं गाद्विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन् । पिता यत्र दुहितुः सैकमुत्तन्तसंश्रम्भेन मनसा वधन्वे [ऋ० सं० ३।३१।११] ॥ प्रशास्ति षोढाँ संतानकर्मणे दुहितुः पुत्रमावं दुहिता दुर्हिता दूरे हिता दोग्धेर्वा नत्तार-
मुपागमद्वौहित्रं पौत्रमिति विद्वान् प्रजननयज्ञस्य रेतसो धाङ्गादङ्गात्संभूतस्य हृदयादधिजातस्य मातरि प्रस्यूतस्य विधानं पूजयन्नाविशेषेण मिथुनाः पुत्रा दायादा इति तदे-
तद्वह्क्श्लोकाभ्यामभ्युक्तम् । अङ्गादङ्गात्संभवति हृदयाद-
धिजायते । आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शत-
मित्यविशेषेण पुत्राणां दापो भवति धर्मतः । मिथुनानां

२५

१ ग. अ. ‘पत्यत्वं दुहितृपुत्रयोः प्राप्नोति दुहि’ । २ क. ख. ‘इति’ नास्ति;
घ. ‘दीनि न्य इत्यपि’; ट. ‘दीनि इत्येव’ न्य. ३ घ. ट. ठ. ड. ‘मृच् निठ’.
४ ठ. ड. ३ इति निरुक्तवृत्तौ तृतीयाध्याये तृतीयः खण्डः. ५ क. ख. उ. त. द.
बोला. ६ क. ख. छ. त. द. वा अङ्गा. ७ छ. त. द. ‘भ्युक्तम् ॥ ४ ॥ अ’.

२६

विसर्गादौ मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् । न दुहितर इत्येके
तस्मात्पुमान् दायादोऽदायादा स्त्रीति विज्ञायते तस्मा-
त्स्त्रियं जातां परास्यन्ति न पुमांसमिति च स्त्रीणां दानवि-
क्रयातिसर्गा विद्यन्ते न पुंसः पुंसोऽपीत्येके शौनःशेषे दर्श-
नात् । अभ्रातृमतीवाद इत्यपरम् । अमूर्या यन्ति जामयः सर्वा
लोहितवाससः । अभ्रातर इव योषास्तिष्ठन्ति हतवर्त्मनः ॥
अभ्रातृका इव योषास्तिष्ठन्ति संतानकर्मणे पिण्डदानाय
हतवर्त्मान इत्यभ्रातृकाया अनिर्वाह औपमिकस्तस्योत्तरा
भूयसे निर्वचनाय ॥ ४ ॥

१०

शासद्वहिरिति । एषा त्रिष्टुवेन्द्रे सूक्ते विश्वामित्रेण दृष्टा । माघ्यादिने
सवन उक्थपर्यायेष्वच्छावाकस्य यच्छस्त्रमभिजिद्विश्वजिदादिष्वहीनैकेष्वहः
स्वहीनसूक्तं नाम तत्रेयं शस्यते [आश्व० श्रौ० ७।४] । 'न जामये तान्वः'
इतीयमप्यनयैव समानार्पविनियोगदैवैतच्छन्दस्का । शासद्वह्निः प्रशास्ति
प्रख्यापयति । प्रज्ञापयतीत्यर्थः । कः पुनरसौ प्रशास्ति किं वा प्रशास्तीति ।
घोडा । य उद्धोडा स्त्रिया भवति स तस्यां या जायते दुहिता तस्याः
पुत्रभावं प्रशास्ति संतानकर्मणोऽर्थाय । 'दुहिता दुर्हिता' । सा हि
यत्रैव दीयते तत्रैव दुर्दत्तो भवति । 'दूर्' वा सती सा पितुः 'हिता'
पप्या भवतीति दुहित्युच्यते । 'दोग्धेर्वा' । सा हि नित्यमेव पितुः सना-

२०

शाद् द्रव्यं दीग्धि प्रार्थनापरश्चात् । आह । कथं
दुहिता दायाद्य- पुनर्गम्यते प्रशास्ति वीर्ता संतानकर्मणे दुहितुः
मर्हतीत्यर्थे ऋक् पुत्रभावमिति । उच्यते । इतो यस्मात् नप्यं गात्
नमारुपागमदुपागच्छति चेतसा । दीहित्रं दुहि-
तपुत्रं पौत्रमिति पौत्रो ममायमित्येवमुपागच्छति । न चापुत्रस्य पुत्रः
पौत्रः स्यात् । उपागच्छति च दुहितुः पिता पौत्रो ममायमिति दीहित्रम् ।
तस्माद् दुहितापि पुत्र एव यस्याः पुत्रः पौत्रो ममायमित्येवं चेतसोपगम्यते ।
विद्वो ऋतस्य दीधिति सपर्यन् । विद्वान्कस्य । ऋतस्य प्रजननपञ्चस्य ।

१ ट. त. द. अमूर्त्यर्थं नास्ति. २ ट. त. द. ५. ३ क. ए. ठ. ड.
'विष्महीनकेषु. ४ ग. घ. ज. 'देस्त' नास्ति. ५ क. ख. ग. ज. दुर्हिता. ६ घ.
१०. वेत्ता. ७ क. ख. प. ट. ठ. ड. 'पुत्रः' नास्ति.

श्रुत इत्येतदपठितं यज्ञनाम । दीधिति विधानमित्यर्थः । प्रजननपञ्चवि-
धानमविशेषेण सपर्यन्पूजयन्नित्यर्थः । यथैव हि पुत्रजन्मने प्रजननपञ्च-
स्तन्यते तथैव हि दुहितृजन्मनेऽपि । यैरेव हि मन्त्रैर्येनैव च विधानेन
पुत्रगर्भ आधीयते तैरेव मन्त्रैस्तेनैव च विधानेन दुहितृगर्भोऽपि । अथवा
श्रुतशब्देन रेत उच्यते । तद्वद्वद्भास्मभूतं सर्वगात्रेभ्यो हृदयानुस्मरण-
निमित्तेन गर्भजन्मने भातरि प्रत्येतं प्रवृत्तं भवति रेतः । तस्य रेतसो विधा-
नमविशेषेण पूजयन् स बोडा दीहित्रं पौत्रो ममायमित्येवमुपागच्छति
चेतसा । येनैव हि विधानेन पुत्रजन्मने रेत उक्त्युच्यते तेनैव हि दुहितृ-
जन्मनेऽपि । तत्रैवं सति रेतउत्सर्गविध्यविशेषात्प्रजननपञ्चाविशेषाद्वा 'अवि-
शेषेण मिथुनाः' पुरुषाः स्त्रियश्चोभयेऽपि

पुत्रा दुहितरश्चो- 'दायादा' इत्येवमेके धर्मविदो मन्यन्ते । तदे-
भयेऽपि दायादा इत्यु- तत् 'ऋक्छोकाभ्याम् अभि' आभिमुख्येन
क्छोकाभ्यामुच्यते 'उक्तं मिथुनाः पुत्रा दायादा इति' 'अङ्गा-
दङ्गात् संभवसि' [कौपी० आर० ४ ।

११] 'अविशेषेण पुत्राणाम्' इत्येताभ्याम् ।

शासद्बहिरित्येतस्या ऋचः प्रथमोऽर्धर्चो व्याख्यातः । पिता यत्र दुहि-
तुरित्यपं द्वितीय उपरिष्ठादस्य पौदस्य व्याख्यास्यते । अनयोरर्धर्चयोरन्तरा
तदेतद्वक्छोकाभ्यामभ्युक्तमित्यत आरभ्य प्रसक्तानुप्रसक्तं दायादाधर्माधि-
तमेव पूर्वोत्तरपक्षसंबन्धादाचारगतं बहु व्याख्या-
लोकव्यवहारोऽपि यते मन्त्रविषयख्यापनायेदृशोऽपि मन्त्राणां विषयो
मन्त्राणां विषयो भवति भवतीति धर्मसंविज्ञानाय च । सर्व एवाय-
मेवंप्रकारो धर्मो मन्त्रेभ्य एव निर्वभाविष्येतदेतेन
प्रकारेण ख्यापितं भवति ।

अङ्गादङ्गात्संभवसीत्येतामृचं प्रवासादेत्य पुत्रस्य मूर्धनि जंपति ।

[आश्व० गृ० १ । १५ । ११ ॥ मान० गृ० १ । १८ । ६]

१ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'जनने'. २ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'द्वद्वा-
यत्संभूतं तत्सर्व'. ३ च. 'नुसरण'. ४ च. 'महर्षि'. ५ ग. इति । ४ । अङ्गा'. ६ घ.
ट. ठ. ड. 'पादस्य' नास्ति. ७ घ. ट. ठ. ड. च. 'रन्तरा' । तदे'. ८ ठ. ड.
'सं' नास्ति. ९ घ. ट. 'अङ्गात्' सङ्केदेन. १० क. ख. ग. ज. घ. ट. ठ. ड.
अयत् जिमति । अनु°.

अतुष्ट्वेया । स पुत्र उच्यते । हे पुत्र अङ्गादङ्गात्संभवसि त्वं हृदयाच्चा-
धिजायसे । यच्चदुक्तम् 'अङ्गादङ्गात्संभूतस्य हृदयादधिजातस्य' इति
तदेतदनेनापि स्पष्टार्थतरेण मन्त्रेणोच्यत इति पूर्वस्यास्पष्टार्थतायां स्पष्टार्थ-
करणार्थोऽयं मन्त्रः । तत्र हि 'ऋतस्य दीधिति
सपर्यन्' इत्यत्र ऋतस्य 'प्रजननयज्ञस्य रेतसो
वा विधानमविशेषेण पूजयन्' इत्युक्तम् । तत्पु-
नरेतदस्पष्टम् । इह पुनरङ्गादङ्गात्संभवसि हृदया-
दधिजायस इत्येवमुच्यते । तत्रैवं सति यथैवं

- ५ अङ्गादङ्गादित्य- सपर्यन्' इत्यत्र ऋतस्य 'प्रजननयज्ञस्य रेतसो
नेन दुहितुः पुत्र- वा विधानमविशेषेण पूजयन्' इत्युक्तम् । तत्पु-
त्वं स्पष्टीक्रियते नरेतदस्पष्टम् । इह पुनरङ्गादङ्गात्संभवसि हृदया-
दधिजायस इत्येवमुच्यते । तत्रैवं सति यथैवं
पुमानङ्गादङ्गात्संभवति हृदयाच्चाधिजायते तथैव दुहितापीत्यविशेष उप-
पद्यते । तस्मात्साधुक्तम् 'अविशेषेण मिथुनाः पुत्रा दायादा' इति ।
१० आत्मा वै पुत्रनामासि । यस्मादङ्गादङ्गात्संभूतस्त्वं हृदयादधिजातस्तस्मादा-
त्मैव त्वम् । भगवत्पुत्रवत्तु इत्यभिप्रायः । केवलं तु पुत्रनामा त्वमहं पितृ-
नामैतावानावयोर्विशेषः । नाममात्रं भिन्नमित्यभिप्रायः । स त्वं जीव शरदः
शतमित्याशीः । सर्वस्मिन्नपि संवत्सरे शरदेव दुर्जीव्यं प्रचुररोगत्वाच्छरदः ।
१५ तस्माच्छरदैवोर्षिलक्ष्य संवत्सरशतमेतदायुराशास्यते ।

'अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः । मिथुनानाम्' । क एव-
माह । 'मनुः स्वायंभुवः' । स्वयंभुवोऽपत्यं

सर्वेषामप्यपत्यानां स्वायंभुवः । कस्मिन् काले स एवमाह । 'वित्त-
दायादाह्वमित्यर्थे गौदी' मृष्टादावित्यर्थः । पूर्वमर्थं श्लोकस्य
२० मनुवचनम् ऋज्वेव । एवमेताम्यामयूक्छ्लोकान्यामुक्तमविशे-
षेण पुत्रस्य दुहितुश्च दायादत्वम् ।

'न दुहितर इत्येके' । न दुहितरो दायादमर्हन्तीत्येवमेके धर्मविदो
मन्यन्ते । ब्राह्मणमपि चैतस्मिन्नर्थे दर्शयति ।

- दुहितरो न दाया- 'तस्मात्पुमान् दायादः स्यदायादेति ह विज्ञा-
२५ यार्हा इत्यर्थे ब्राह्मण- यते' । 'यदृच्छन्ति स्थालीं न दारुमयं तस्मा-
चचने त्पुमान्दायादोऽद्रायांदा स्त्रीति विज्ञायते' [मंत्रा०
सं० ४ । ६ । ३] । एतस्मिन् ब्राह्मणे

१ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'एतन्' नास्ति. २ ग. ज. पूर्वस्यामस्य. ३ ग.
ज. पुनः पुनरङ्गा. ४ घ. झ. ट. ठ. ड. दृश्यं; च. यथैवं. ५ च. पुत्रदायादा.
६ घ. झ. ट. ठ. ड. अङ्गं तु. ७ घ. झ. ट. ठ. ड. दुर्जीवा । प्रचुर. ८ क.
२१ ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'रक्षो'. ९ घ. 'दाया स्त्री'.

विचार्यमाणे ज्ञायते न दुहितरो दायाद्यमर्हति पुमानेवार्हतीति । 'तस्मात्स्त्रियं
जातां परास्यन्ति न पुमांसमिति च' [मैत्रा० सं० ४।६। ४] । एतद-
परं दर्शनं दुहितुरदायादत्वं लिङ्गतो दर्शयति । अथ यत्स्थालीं परास्यन्ति
हवनकर्मणो न तथा जुहति न दारुमयं परास्यन्ति हवनकर्मणो दारुमये-

नैव जुहति तस्मात्कारणात्स्त्रियं जातां परास्यन्ति

५३

स्त्रीणां दानविक्र- परस्मै प्रयच्छन्ति । तस्मात्पुमानेव पैतृकस्य वित्त-
यातिसर्गा विद्यन्ते न स्तेष्टे न दुहिता । किंच । 'स्त्रीणां दानविक्रयाति-
पुंसः सर्गा विद्यन्ते न पुंसः' । प्रदीयते हि परस्मै

स्त्री विक्रीयते च वैवाहिकेन शुल्केन । 'विक्र-

यं चाप्यपत्यस्य मर्तिमान्कोऽनुमंस्यते । स्वल्पो वाय बहुर्वापि विक्रयस्तावदेव
सः ॥' इति भगवता वासुदेवेनोक्तं सुम-

१०

महाभारते कन्या- द्राहरणे । तथा च ब्राह्मणमपि दर्शयति चातु-
विक्रयनिषेधः । स्त्री- मस्येषु । 'अनृतं वा एषा करोति या पत्युः
विक्रये ब्राह्मणवचनम् क्रीता सत्यन्यधान्यैश्चरति' [मैत्रा० सं० १ ।

१०।११] इति । तस्माच्छुल्केन प्रदानं विक्रयः

१५

कन्याया इत्युपपद्यते । अतिसर्गः परित्यागः । परित्यज्यते हि कन्या
स्वबन्धुभिः स्वयंवरे यो बलिष्ठः स गृह्णात्विति यो वा तुम्यं रोचते सं
पृणीष्वेति । स एष क्षत्रियाणामेव स्वयंवरधर्मो नैतरेषां वर्णानामिति । स
पुनरयमितरेषामपि वर्णानामर्थाहंत्वे कन्याया लिङ्गं भवति । तस्मान्न
दायाद्यमर्हति कन्येति ।

२६

'पुंसोऽर्पत्येके शौनःशेषे दर्शनात्' । यदुक्तं दानविक्रयातिसर्गे हतु-
भिरदायादत्वं स्त्रिया इत्यनैकान्त एषः । पुंसोऽपि
दानविक्रयातिसर्गाः हि दानविक्रयातिसर्गा विद्यन्ते एव । पुरुषोऽपि
पुंसोऽपि परस्मै दीयते । एवं ह्युक्तं 'दत्तक्रीतकऋत्रिम-
क्षेत्रजौरसाः पुत्राः' इति । तथा च 'शौनःशेषे

२५

१ घ. झ. ट. ठ. ड. च. ज्ञायत इति. २ ठ. ड. 'प्रदानं दानविक्रयः'. ३ क.
रा. अदायादहंत्वे; ग. ज. अदायादहंत्वे; ठ. ड. अदायादहंत्वे; घ. अदायादेवे;
ट. अदायादेवे' ई. ४ ठ. ड. अनेद्यन्त. ५ क. रा. ग. ज. ठ. ड. 'हि'
नास्ति. ६ क. रा. ग. ज. घ. ट. ठ. ड. 'वि हि पर' ७ च. दीयत एव ह्युक्तं.

मजस्रमविरताः स्त्रिय इवातिलोहितवस्त्राः सर्वा एतास्तिष्ठन्तु उपरमन्तु
 हतलोहितवहनमार्गा अस्य मन्त्रस्य वीर्येण । कथं पुनस्तिष्ठन्तु । अभ्रातर
 इव योषाः । यथा काश्चिदभ्रातृका योषा हतभर्तृवंशमार्गास्तिष्ठन्ति संता-
 नकर्मणे पिण्डदानाय एवमेता नाढ्यस्ति-
 भ्रातृकाया घन्तिवति । एवमस्यामृच्यभ्रातृकाया अनिर्वाह
 विवाहनिषेधः उपमया लिङ्गतो दर्शितः ।

५

‘ तस्य ’ अनिर्वाहस्य ‘ उत्तरा ’ ऋक् ‘ भूयसे ’ बहुतराय निर्वि-
 विध्य ‘ वचनाय ’ ॥ ४ ॥

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गन्तारिगिव सन्नये धना- १०
 माम् । जायेव पत्ये उशती सुवासा उपा हस्तेव निरिणीति
 अप्सः [ऋ० सं० १ । १२४ । ७] ॥ अभ्रातृकेव पुंसः
 पितृनेत्यभिमुखी संतानकर्मणे पिण्डदानाय न पतिं गर्ता-
 रोहिणीव धनलाभाय दाक्षिणीजी गर्तः समास्थाणुर्गु-
 णातेः सत्यसंगरो भवति तं तत्र यापुत्रा यापतिका सारो- १५
 हति तां तत्राक्षैराग्नन्ति सा रिक्थं लभते इमशानसंच-
 योऽपि गर्त उच्यते गुस्तेरपगूर्णा भवति इमशानं इमशयनं
 इम शरीरं शरीरं शृणातेः शम्नातेर्वा इमश्च लोम इमनि भितं
 भवति लोम लुनातेर्वा लीयतेर्वा नोपरस्याविःकुर्याद्यदुप-
 रस्याविःकुर्याद्गर्तः स्यात्प्रमायुको यजमान इत्यपि २०
 निगमो भवति । रथोऽपि गर्त उच्यते गृणातेः स्तुतिक-
 र्मणः । स्तुततमं यानम् । आरोहथो वरुण मित्र गर्तमि-
 त्यपि निगमो भवति । जायेव पत्ये कामयमाना सुवासा
 ऋतुकालेपूषा हसनेव दन्तान् । विवृणुते रूपाणीति चतस्र
 उपमा नाभ्रात्रीमुपयच्छेत लोकं ह्यस्य तद्भवतीत्यभ्रातृकाया २५
 उपपन्नप्रतिषेधः प्रत्यक्षः पितृश्च पुत्रमावः पिता यत्र

२५

१ ग. ५; ठ. ड. ४ इति निरुक्तभाष्ये तृतीयाध्याये चतुर्थः मन्त्रः क्वातः.

२ उ. दाक्षिणायाभी; त. दाक्षिणाजी वा; दाक्षिणाजा [दाक्षिणाज्ये].

३ उ. त. द. साराज्ञेनाग्र. ४ क. स. उ. त. द. अरिष्टु. ५ उ. दमनः

मति; त. पदनीमति; द. दमनः मति.

३०

दुहितुरप्रप्ताया रेतःसेकं प्रार्जयति संदधात्यात्मानं संगमेन
मनसेत्यथैतां जाम्या रिक्थप्रतिषेध उदाहरन्ति ज्येष्ठं
पुत्रिकाया इत्येके ॥ ५ ॥

- ५ अत्रातेव पुंस ऐति । दीर्घतमः पुत्रस्य कक्षीवत आर्षम् । त्रिष्टुबोपसी ॥
प्रातरनुवाकाभिनयोः शस्यते [आश्व० श्रौ० ४ । १४.] । अत्रातेव
पुंसः । यथा अत्रातृका कन्या दत्तापि सती पित्रा ऊढापि भर्त्रा पुनः
पुंसः पितृनेव पितृवंशमेव अभिमुखी एति संतां-
विवाहनिषेधे ऋक् न कर्मणे पिण्डदानार्थम् । न पतिवंशमित्यर्थः ।
१० सा हि पितृवंशं पुत्रैः पौत्रैश्च वर्धयति न भर्तृवं-
शमिति । तस्मादत्रातृका पैतृकं दायाद्यमर्हतीत्युपपद्यते । गर्तारोगिव सनये
धनानाम् । गर्तारोहिणीव काचिदाक्षिणौत्या स्त्री । सा यथा गर्तः सभा-
स्थाणुस्तमारोहति । अक्षनिवपनपीठमुपविशतीत्यर्थः । तत्र गता सत्यपुत्रा-
रिक्थं लभते । कितवा दापयन्ति रिक्थमिति दाक्षिणात्येषु देशरीतिः ।
१५ सनये लब्धये धनानाम् । एवमुपाः अपरकाले राज्यां नभ आरोहति ।
किं च । जायेव पत्य उशती सुवासाः । यथा जाया पत्ये भर्त्रे सुवासा-
भूत्वा ऋतुकालेष्व्वात्मानं दर्शयत्येवमुपा आत्मानं दर्शयति जनानाम् ।
किंच । उपा हस्तेव निरिणीते अप्सः । यथा हसनस्वभावा स्त्री हसनस्व-
२० भावाइन्तानात्मनो दर्शयत्येवमुपा अप्यात्मनोऽन्तर्भूतानि सर्वद्रव्याणां
रूपाणि विवृणुते । शार्करेण तमसा दिग्भानि सर्वद्रव्याणि स्वेन प्रकाशो-
दकेन धौतानीव करोति ।

- “ चतस्रः ” एताः “ उपमाः ” अस्यामृचि । अत्रातेव पुंस इत्येका ।
गर्तारोहिणीवेति द्वितीया । जायेव पत्य इति तृतीया । हस्तेवेति चतुर्थी ।
२५ अत्र प्रथमयोपमया “ अत्रातेव पुंसः ” इत्यनयात्रातृकाया अनिर्वाहो-

१ छ. त. द. ६. २ ठ. ड. इति. ३ ग. ज. गौतमपुत्रस्य; ४. गौतमपुत्रस्य;
५. झ. दीर्घतमसः पुं; ६. दीर्घतमसः पुत्रस्य दे. ४ क. र. घ. झ. ट. ठ.
ड. पुंसः प्रतीची पितृ. ५ ग. ज. दाक्षिणा स्त्री; च. दाक्षिणाज्ञी स्त्री त्या. ६
२९ क. स. घ. झ. ट. ड. दक्षिणा स्त्री.

लिङ्गयते । यथाभ्रातृका पितृनेव प्रत्येति न पति-
 अभ्रातेव पुंस इत्य- मेवमुया आदित्यमेव प्रत्येति । एवमभ्रातृका
 नयोपमयाभ्रातृकाया कन्यापि यस्मिन्नेव वंश उत्पन्ना भवति तमेव
 विवाहनिषेधः प्रकाशयति वर्धयति न भर्तृवंशमित्येवमुपमया
 नासापुत्रोद्वेग्येतदुपदर्शितं भवति पुत्रार्थत्वादि- ५
 ग्राहस्य । तस्मादवर्धयितृत्वाद्भर्तृवंशस्य वर्धयितृत्वाच्च पितृवंशस्याभ्रातृका
 पितृदायाद्यमर्हतीत्युपपद्यते ।

निगमप्रसक्तस्य तत्त्वमाचष्टे ' गर्तः सभास्थाणुः ' इति । अक्षनिव-
 पनपीठमित्यर्थः । ' गृणातेः ' [धा० ९ । २६] । स हि ' सत्य-
 संगरो भवति ' । संगीर्यते हि तत्र सत्यमिदमत्र पतितमिदमत्र न पतितमि- १०
 त्येवम् । प्रायेण कितवास्तत्रानृतं भ्रुवते । ' तम् ' एवंलक्षणं गर्तमारोहति
 या स्त्री सा गर्तारुगित्युच्यते । तदेतद्गर्तस्य सभास्थाणोरारोहणं रिक्थलाम-
 हेतुर्दाक्षिणात्येष्वपुत्राया अपतिकायाः स्त्रियाः प्रसिद्धम् । तयैव प्रसिध्या
 निरुच्यते । देशसमाचारव्यवस्थयापि कचिन्मन्त्रार्थो

देशाचारानुरोधेन निर्वक्तव्य इत्येतदनेन प्रदर्शितं भवति । तं ' तत्र १५
 मन्त्रार्थो निर्वक्तव्यः यापुत्रा यापतिका सारोहति ' । तं सभास्थाणुं
 तत्र कितवमध्येऽवस्थितं यापुत्रा स्त्री यापतिका
 सारोहति । तस्मिन्नुपविशतीत्यर्थः । ततः ' सा ' भर्तृवन्धुभ्यः सका-
 शात् ' रिक्थं लभते ' यस्तस्या भर्तृसक्तो धनांशस्तम् । एवमसौ सनये
 लब्धये धनानां गर्तमारोहति । २०

गर्तशब्दप्रसक्तमुच्यते । ' श्मशानसंचयोऽपि गर्त उच्यते ' ।
 ' गुरतेः ' उद्यमनार्थस्य [धा० ६ । ११६] । स हि लोकविना-
 शायाम्युद्यत इव भवति । यानि हि तत्र पिशाचोदीनि सत्त्वान्याश्रितानि
 भवन्ति तानि जनमरणमाशासते । प्रियमाणेषु जनेषु तानि प्रमुदितानि
 भवन्ति । ' श्मशानं श्मशयनम् ' इत्याख्यानप्रसक्तमुच्यते । तत्र हि २५
 श्म शेते इति श्मशयनं सर्तत् श्मशानमित्युच्यते । श्मशान्दार्थमाह । ' श्म
 शरीरम् ' इति । तद्धि तत्र शेते । तत्र हि तन्निक्षिप्यते मृतस्य सतः ।

१ क. ख. ग. ज. ' अपि ' नास्ति. २ ग. ज. ' च ' नास्ति. ३ घ. ट. ठ.
 ड. च. ' पुत्रकाया. ४ घ. ह; ट. हं तत्र ' हि; ठ. ड. ' यानीह. ५ ग. ज. शिवा-
 दीनि; घ. स. ट. ठ. ड. पिशाचशिवादीनि. ६ ग. ज. ' मरणमाशान्माशा ' ;
 स. जननमरणमाशा; ठ. ड. जननमरणमाशास्ते, ७ च. श्मशयं, ८ च. तं.

‘ शरीरे शृणातेः शम्नातेर्वा ’ । कृतव्याख्यानमपि [नि० २ । १६]
 पुनराह मुख्यत्वादस्य । तत्रौपमिकं वृत्रसंवन्धात् । न हि वृत्रस्य मुख्यं
 शरीरम् । श्मशब्दप्रसक्तं निराह । ‘ श्मश्रु लोम ’ इति । तद्धि ‘ श्मनि ’
 शरीरे ‘ श्रिते भवति ’ । पर्यायप्रसक्तमाह । ‘ लोम लुनातेः ’ [धा०
 ९ । ११] । तद्धि लूयते । ‘ लीयतेर्वा ’ [धा० ४ । ३३] ।
 तद्धि शरीरे लीयते तत्र ।

निगममपि चात्रोदाहरन्ति ‘ श्मशानसंचयोऽपि गर्त उच्यते ’ इति ।
 ‘ नोपरस्याविष्कुर्याद्यदुपरस्याविष्कुर्याद्गर्तेष्ठाः स्यात्प्रमायुको यजमानः ’
 इति । उपर इति यूपस्यातर्धः प्रदेश उच्यते । ‘ पञ्चभागोपरा यूपाः ’
 इति द्रुक्तम् । तदतर्धं यूपस्य नाविष्कुर्यादित्यर्थः । पांशुभिस्तदवच्छादनीयं
 बर्हिषा च । यदि पुनरुपरस्य कंचिदप्यवयवमाविष्कुर्याद्गर्तेष्ठाः गर्त-
 प्रतिष्ठः श्मशानप्रतिष्ठः प्रमायुकः प्रमरणधर्मा पुंस्त्वैव यथाविहितादायुषो
 यजमानः स्यादित्यपि निगमो भवति । अप्ययमप्यन्ये बहव इत्यपिशब्दः ।
 ‘ रथोऽपि गर्त उच्यते ’ । ‘ गृणातेः ’ स्तुत्यर्थस्य [धा० १ । २६] ।

तद्धि ‘ स्तुततमम् ’ अश्वादिभ्यो यानेभ्यः । सुखतरं हि तेन गम्यते ।

रथोऽपि गर्त इत्यस्मिन्नर्थे ‘ आरोहथो वरुणमित्र
 रथोऽपि गर्त इत्य- गर्तमित्यपि निगमो भवति ’ । ‘ हिरण्यरूप-
 धे ऋक् मुपसो व्यैष्टावयः स्थूणमुदिता सूर्यस्य । आ रोहथो
 वरुण मित्र गर्तमतश्चक्ष्वाधे आदितिं दितिं च ’

२० [ऋ० सं० १ । ६२ । ८] ॥ श्रुतविदात्रेय एतया त्रिष्टुभा मित्रावरुणा-
 वस्तौत् । राजसूयेऽभिषेचनीयो नाम क्रतुः । तत्र यजमानस्य रथमारुक्षतो
 गृहीतपुंथनुष्कौ बाहू अनयाभिमन्त्र्येते । तावेवात्र मित्रावरुणावभिप्रेताव-
 विदेवताभिप्रायेण । एवं ह्यह । ‘ मित्रोऽसीतीममभिमन्त्र्येते मित्रस्य ह्येत-
 द्रूपं वरुणोऽसीतीमं वरुणस्य ह्येतद्रूपम् ’ [मैत्रा० सं० ४ । ४ । ३] ।

२१ १ च. शृतं. २ क. ख. ‘सक्तं निराह; ट. ‘सक्तमाह’ कनिरा. ३ क. ख. ठ. ड.
 लीयते । तत्र निग०. ४ क. ख. ठ. ड. ‘अत्र’ नास्ति; ट. ‘चात्रो’ च. ५ ड.
 ‘विष्कुर्या’ ६ ग. च. ज. ‘उपर इति’ नास्ति. ७ क. ख. प. झ. ट. ठ. ड.
 ‘तदपदेशः. ८ ज. ‘विः कुर्या’ ९ क. ख. ग. ज. पांशुभि’; च. पांशुभि’ सु.
 १० प. झ. ट. ठ. ड. च. किंचि’ ११ क. ख. ‘विष्कुर्या’ १२ घ. ट. ठ. ड.
 पुंस्त्वैव. १३ ठ. ड. ‘आरोहथो० भवति’ नास्ति. १४ ग. च. ज. प. झ. ट.
 २२ न्युद्यो । श्रुतवि’ १५ क. ख. ‘यति’; ट. ‘यति’ ति; ठ. ड. ‘यतेति मित्र’.

४ । ४ । ३] इति । तावुच्येते । हे मित्र हे वरुण हिरण्यवर्णं हिरण्य-
सदृशवर्णम् । उपसो व्युष्टौ उपसो व्युच्छेदकाले उदिता चोदयकाले
सूर्यस्य यौ युशमेतस्मिन्काल एव रूपमयः स्थूणमयोर्मयस्थूणं स्वं रथमारोह-
थस्तौ युवां ब्रवीमि मैमैतं रथं गर्तमतस्मिन्विधावङ्गभूतं तत्तरूपमेव
सांप्रतमारोहन्तम् । तत एतमारुह्य चक्ष्वाधे । कुरुतमित्यर्थः । अदितिं दितिं
च । अर्दानमनुपक्षीणमात्मपक्षं दीनं चापक्षीणमभिपक्षमित्यर्थः ।

५

गर्तः सभास्थाणुरित्यत आरभ्य प्रसक्तानुप्रसक्तमुक्तम् । जायेव पय
उशती सुवासा उपा हस्तेव निरिणीते अप्स इत्ययमप्यर्थः पूर्वमेव
व्याख्यातो भाष्यकारव्याख्यानुक्रमं भित्वाऽस्माभिस्तथा ह्युक्तावप्यस्यास्यैके-
वाक्यतानवच्छिन्ना भवेदिति । 'चतस्र उपमाः' इति यदुक्तं भाष्यकारेण
तदपि परिसंख्याय ता उपमा उपपादिता अस्माभिः ।

१०

एवमभ्रातेव पुंस एति प्रतीचीत्यनेन पादेनास्थामृच्यनिर्वाहो दर्शितः ।
अन्यत्रापि चोक्तं 'नाभ्रातृकामुपयच्छेत' तोकं ह्यस्य तद्व्रवति इति ।

अयमस्मिन्वाक्ये 'नाभ्रातृकामुपयच्छेतेति' प्रत्यक्ष
पूर्वत्र लिङ्गत उप- एवोपयमनप्रतिषेधः । विवाहार्थे पाणिग्रह-
यमनप्रतिषेधः । अत्र णप्रतिषेधः इत्यर्थः । पूर्वयोर्हि मन्त्रयोरुपमया
पुनः प्रत्यक्षः लिङ्गतो विवाहप्रतिषेधो दर्शितः । एतस्मिन्स्तु
वाक्ये साक्षादेव प्रतिषेध आहल्यविधानेनैव

१५

'नाभ्रातृकामुपयच्छेत' इति । अत एतदुक्तम् 'उपयमनप्रतिषेधः प्रत्यक्षः'
इति । आह । किमुपयमनप्रतिषेध एव । नेत्युच्यते । 'पितुश्च
पुत्रभावः' प्रत्यक्षः श्रूयते । कथम् । 'तोकं ह्यस्य तद्व्रवति' । तोक-
मित्यपत्यनाम । यदपत्यमभ्रातृकायाः पिर्नुर्भवति नेतरस्य बोद्धुरिति । एव-
मितरस्य विवाहप्रतिषेध एव तेनेत्युच्यते पुत्रभावादितरस्य च पुत्रिकापितुर-
पत्यप्राप्तेरिति । तस्मादुपपन्नं भवति । यैवाभ्रातृमती सैव पितृकं धनमर्हति
नेतरेति ।

२०

२५

१ घ. ट. हिरण्यरूपरूपं; झ. 'हिरण्यवर्ण' नास्ति; ठ. ड. हिरण्यरूपरूपं.
२ ठ. ड. 'अवोपयस्थूणं' नास्ति. ३ क. ख. नं. ज. ममाप्येवं. ४ ग. ज.
एवमारु. ५ ग. ज. 'संकेतानव'. ६ ग. ज. तावितुः. ७ क. ख. ग. ज.
घ. ट. ठ. ड. 'एवनेत्यु. ८ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'प्रातिरिति.

२९

अधुना योऽसौ शासद्वहिरित्यस्या ऋच उत्तरोऽर्धेर्च उत्कृष्टः स एवा-
भ्रातृकायादपक्षेणैव निरुच्यते । पूर्वोऽपि च शासद्वहिरित्ययमभ्रातृमती-

वादपक्षेणैव योजयितव्यः । एष एव हि स्थितः

शासद्वहिरित्ययम- पक्षः । तस्या एव ह्यभ्रातृमत्या यः पुत्रो भवति

प्यर्धर्चोऽभ्रातृमतीवाद- तमेव पुत्रिकाविधानेन कृताभिसंधित्वात्पौत्रो ममा-
पक्षेणैव योजयितव्यः यमित्यपुत्रः सन्मातामह उपगच्छति नेतराभ्रा-
तृमतीपुत्रान् । अन्यथा हि सर्व एव बोद्धारोऽ-

पुत्राः स्युः । ततो विवाहपरिश्रमो व्यर्थ एव स्यात् । अथवा सर्व एव

लोको द्वयामुप्यायणः स्यात् । किंच । पुत्रिकापितुरपि यौ भार्या साऽप्यन्यस्य

दुहितेति तस्यामपि या जायते सापि मातामहस्यैव नेतरस्य पुत्रिकापितुः

स्यात् । अनिष्टं चैतत्सर्वम् । तस्माद्यथाभिसंधिपूर्वकं धर्मेण पुत्रिका क्रियते

तस्या एव पुत्रो मातामहस्य भवति न सर्वस्या इति । सैव च दायाधार्य

नेतरा भ्रातृमत्यः । अत इदमुच्यते पिता यत्र दुहितुरिति । पिता यत्र

यस्मिन्काले दुहितुरप्रप्तायाः । प्राक्प्रदानादित्यर्थः । रेतःसेकं रेतसः

सेक्तां यो दुहितारि रेतः सिञ्चति तं जामातृं

तस्मिन्नेवार्धे शास- प्रार्जयति प्रसाधयति प्रकल्पयति । उर्ध्ववर्तप-

द्वहिरित्यस्या उत्तरोऽ- तीत्यर्थः । तदा तस्मै तां दुहितरं ददकिं करो-

र्धर्चः तीति । संशम्येन मनसा दधन्वे । संदधात्य-

भिसंदधात्यात्मानं यदप्रापत्यमुत्पत्स्यते तन्ममेति ।

कथं पुनरभिसंदधात्यात्मानमिति । संशम्येन मनसा । संगमेन मनसा

विगतापुत्रत्वसंतापेन चेतसा । नाहमपुत्र इयमेव पुत्रिका मम पुत्रः । यो

ह्यस्यामुत्पत्स्यते स पौत्रो मम भविष्यतीत्येवं सुखेन मनसा संदधात्यात्मानं

तस्यां पुत्रिकायाम् । तत्रैवं सति यस्तस्यामेव कृतपुत्रिकाधर्भिण्यामुत्पद्यते

दोहित्वस्तमेव नसा ममायमित्येवमुपगच्छति मातामहो न सर्वनिव दौहि-

त्रान्भ्रातृमत्या अपि संतानकौन् । स एव च मुख्यया वृत्त्या मातामहस्य

पौत्रा भवति नेतरे भ्रातृमतीपुत्राः । ते हि गौण्या वृत्त्या जनयितुः पितुः

पौत्राः सन्तो मातामहस्य पौत्रा इत्युच्यन्ते कदाचित्छेके शार्दूले वा ।

१ क. ख. उत्कृष्टः. २ क. ख. य. ट. ठ. ड. ए स्यात्. ३ ग. ज. 'या'
नास्ति ४ ट. उर्ध्वो ५ ग. ज. संतानात्; च. संतानान् तान्; ट. संतानेकां

२० जा. ६ य. ट. ठ. ड. 'पौत्रो' लोके शास्त्रे नास्ति. ७ क. ख. पुत्राः.

तत्रैवं सत्यज्ञादङ्गात्संभ्रमस्यात्मा नै पुत्रनामासीत्येवमादिषु गौणं दुहितुः

अङ्गादङ्गादित्यत्र. पुत्रत्वमुच्यते । किंच । यदि दुहिता पुत्रेणावि-
दुहितुः पुत्रत्वं गौणम्. शिष्टैव स्यात्ततो. दुहितेति विशेषसमाख्या नैव
स्यात् । अस्ति चेयम् । तस्माद्विशिष्टतरः पुत्रो

दुहितुः सकाशादित्युपपद्यते । यदपि चोक्तम् 'अविशेषेण पुत्राणां दायो ५-

मनुवचनमभ्रातृ- भवति' इति तदप्यभ्रातृमतीपक्षे द्रष्टव्यम् । अथवा,
मतीपक्षे योज्यम्.

वेदस्मृत्योर्विरोधे वेद- वेदस्मृत्योर्विरोधे वेददृष्ट एव धर्मो ज्यायान् स्मृति-
दृष्टो धर्म एव ज्यायान्. दृष्टः । तस्मिन् वेदे ' अथैतां, जाम्या रिक्थप्र-
तिषेध उदाहरन्ति ' धर्मविदो येयमृग्वक्ष्यमाणा

न जामये तान्व. 'न जामये तान्वः' इति । अथशब्दो विशेषाधि- १२
इतीयमृक्. ख्रिग्रा कारार्थः । ' ज्येष्ठं पुत्रिकाया इत्येके ' ।
रिक्थप्रतिषेधे.

ज्येष्ठमपत्यं यत्पुत्रिकायास्तदेव. मातामहस्य नेतराणि । जतयितुरेवे-
त्येवमेके मन्यन्ते । अथवा ज्येष्ठं पुत्रिकाया इत्येक

ज्येष्ठं पुत्रिकाया. इति । यदेतत्सृष्टायां पुत्रिकायां पुत्रिकापितुरन्ये पुत्रा १
इत्यस्य द्वावर्थौ जायेरंस्तदा विभागकाले ज्येष्ठं धनभागं पुत्रि- १५
कायै दद्याद्यथाभागमितरान्पुत्रान्विभजेदभागा एव

वितरता दुहितर इति । तदेतदनपर्चा निरुच्यते यथा दुहितृणां भागो
नास्तीति ॥ ५ ॥

न जामये तान्वो रिक्थमरिक्थकार गभं सनितुर्निधा- २०
नम् । यदा मातरो जनयन्त बह्विभन्यः कर्ता सुकृतोरन्य
अन्धन् [अ० सं० ३ । ३१ । २] ॥ न जामये मगिन्यै
जामिरन्येऽस्यां जनयन्ति जामपत्यं जमतेर्वा स्याद्वृत्ति-
कर्मणो निर्गमनप्राया भवति तान्व आत्मजः पुत्रो रिक्थं

१ ठ. ड. 'समानस्या'. २ क. ख. ग. ज. 'धन' नास्ति. ३ क. ख. प.
ट. पुत्रिकायै च; ग. ज. ठ. ड. पुत्रिकायैव. ४ ट. दुहितृणां' भ्रातृपतीनां; ठ. ड.
भ्रातृमतीनां दुहितृणां. ५ ग. ६; ज. ८; ठ. इति निरुक्तं पञ्चमः खण्डः; ड. ५.
खण्डः. ६ छ. व. द. जनयन्त्यजेनमपत्यं. ७ छ. द. निर्धमनः प्राया'. २८

प्रारिचत्पादाच्चकारैनां गर्भनिधानीं सनितुर्हस्तग्राहस्य
यदिह मातरोऽजनयन्त बहिं पुत्रमवाहिं च स्त्रियमन्यतरः
संतानकर्ता भवति पुमान् दायादोऽन्यतरोऽर्धयित्वा जामिः
प्रदीयते परस्मै ॥ ६ ॥

इति तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

- तै जामये भगिन्यै तान्वः आत्मजः । आत्मनो धियो जातः स
आत्मजः । सै किं करोतीति । रिक्थमारैक् ।
दुहितृणां भागो रिक्थं पैतृकं धनं नै प्रादान्न प्रददायिति । किं
१२ नास्तीत्यर्थे ऋक् तर्हि तस्याः करोतीति । उप्यते । चकार गर्भं
सनितुर्निधानम् । करोति गर्भनिधानं सनितुर्ह-
स्तग्राहस्य भगिनीभर्तुः । प्रमथसमर्था करोति पुण्यातीत्यर्थः । किंच । यदी-
मातरो यपुत्रद्वयमिह मातरो जनयन्ति बहिं च यथा बोद्धारं पुत्रमवाहिं
चायदी स्त्रियं तयोर्द्वयोरपि बोद्धोदोः पुत्रयोरन्यतर एकतरः कर्ता
१५ भवति संतानकर्मणः । कतमः । यः पुमान् । स एव च दायादो
दायादाहो नेतरः कन्यास्यः । किंच । तयोर्द्वयोरपि मुकृतयोः सुतरा-
भेदेनापि प्रयत्नेन कृतयोरुपादितयोरन्य ऋन्धन् अन्तरोऽर्धयित्वा मुकृ-
तोऽपि मुपुष्टोऽपि सन् जाम्यास्यो भगिन्यास्यः प्रदीयते परस्मै । न,
२० जामये तान्वो रिक्थमारैगिति न दुहितरो रिक्थभागिन्यो भवन्ति नैताः
संतानकर्मणि पितुरूपतिष्ठन्ते वर्धयित्वा तेनाः परस्मै दीयते तस्माद-
भागा एता इति ।

यपुनरेतैर्दुक्तं पुंशोऽपि दानातिसर्गविक्रया विद्यन्त इति तत्रादायि-

- १ क. स. छ. त. द. यदी मा०. २ छ. त. द. ५. ३ द. थ. प. 'इति.....'
२५ पादः ' नास्ति; छ. इति प्रथमः पादः; त. इति तृतीयोऽध्यायः प्रथः; द. इति
नेतस्स तृती. ४ द. द. न जामय इति । न जान०. ५ य. द. ठ. ड. स च.
६ य. द. 'न' नास्ति. ७ क. स. ग. ज. ' करोति गर्भनिधानं' नास्ति. ८ ज.
'पुनानि' नास्ति. ९ य. पादः. १० क. स. य. ' इह ' नास्ति. ११ क. स.
११ बोद्धोदोः; य. द. ठ. ड. बोद्धोः. १२ क. म. च. ' एवम् ' नास्ति.

पुंसां दानातिसर्ग-
विक्रया न नैसर्गिकाः
त्केनचिन्निमित्तेन भवति । स्त्री तु निसर्गेणैव
दीयते विक्रीयते विसृज्यते वा । सा हि परार्थ-
मेवोत्पद्यते तस्मादसममिति ॥ ६ ॥

इति निरुक्तवृत्तौ अष्टमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

५

मनुष्यनामान्युत्तराणि पञ्चविंशतिर्मनुष्याः कस्मान्मत्वा
कर्माणि सीव्यन्ति मनस्यमानेन सृष्टा मनस्पतिः पुनर्मन-
स्वीभावे मनोरपत्यं मनुषो वा तत्र पञ्चजना इत्येतस्य
निगमा भवन्ति ॥ ७ ॥

१०

प्रसक्तानुप्रसक्तमिदमुक्तं 'तद्यथा जनयितुः प्रजो' इत्येवमादि । प्रकृत-
मिदानीमुच्यते ।

'मनुष्यनामान्युत्तराणि पञ्चविंशतिः' । मनुष्याणां नामानि मनुष्य-
नामानि । उत्तराणि प्रकृतेभ्योऽपत्यनामभ्यः । अपत्यान्येव हि विदु-
द्धानि सन्ति मनुष्या इत्युच्यन्ते । कियन्ति पुनस्तानि । पञ्चविंशतिः ।
पञ्च च विंशतिश्च पञ्चविंशतिः । कतमानि पुनस्तानि । मनुष्याः नराः
[निघ० २।७] इत्येवमादीनि । नृत्वन्ति कर्मास्विति नरा इत्येवमादि । आह ।
'मनुष्याः कस्मात्' । उच्यते । 'मत्वा' ज्ञात्वा तत एते 'कर्माणि सीव्यन्ति' ।
संतिक्षन्तीत्यर्थः । अथवा 'मनस्यमानेन' प्रजापतिना 'सृष्टाः' ।
'मनस्पतिः पुनः' अयं धातुः 'मनस्वीभावे' । मनस्वीभावे नाम
प्रद्वष्टा । द्विष्यता प्रजापतिनैते सृष्टाः । अथवा 'मनोरपत्यं' मनुष्याः ।
'मनुषो वा' अपत्यं मनुष्याः ।

१५

२०

'तत्र पञ्चजना इत्येतस्य निगमा भवन्ति' संक्षिप्ताः ।

पञ्चजनशब्दः

संदिग्धः

तत्रैवभृगुदाहरणम् । तद्यथा ॥ ७ ॥

२५

१ ग. ज. अतिसृज्यते. २ ग. ७; ड. ६ इति निरुक्तवृत्तीयाध्याये पदः
खण्डः ६. ३ ठ. ड. इति कञ्चर्यायां निरुक्तटीकायामट. ४ क. ख. द. १; छ.
त. ८. ५ ठ. ड. प्रजैवमर्थाय इत्ये. ६ घ. ट. ठ. ड. संतन्वन्ती. ७ क. ख.
घ. ट. ठ. ड. मह्यता. ८ ठ. ड. 'दिग्धाः । इति निरुक्तपूर्ववत्के तृतीयाध्याये
सप्तमः खण्डः. ९ ग. ज. 'कक्' नास्ति. १० क. ख. १; ग. ६; ज. ६; घ. ३०
द. ठ. ड. च. अङ्को नास्ति.

तदद्य वाचः प्रथमं मंसीय येनासुरा अभिदेवा अताम ।
ऊर्जाद उत यज्ञियासः पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्

[क्र० सं० १० । ५३ । ४] ॥ तदद्य वाचः परमं मंसीय
येनासुरानभिभवेम देवा असुरा असुरता स्थानेष्वस्ता
स्थानेष्व इति वापि वासुरिति प्राणानामास्तः शरीरे
भवति तेन तद्वन्तः सोर्देवानसृजत तत्सुराणां सुरत्वमसोर-
सुरानसृजत तदसुराणामसुरत्वमिति विज्ञायते । ऊर्जाद उत
यज्ञियासः । अन्नादाश्च यज्ञियाश्चोर्गित्यन्ननामोर्जयतीति
सतः पक्वं सुप्रवृक्कणमिति वा । पञ्चजना मम होत्रं जुष-

१० ध्वम् । गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके चत्वारो-
वर्णा निपादः पञ्चम इत्यौपमन्यवो निपादः कस्मान्नि-
पदनो भवति निषण्णमस्मिन्पापकमिति नैरुक्ताः । परापञ्च-
जन्यया विशा । पञ्चजनीनया विशा पञ्च वृक्ता संख्या
स्त्रीपुंनपुंसकेष्वविशिष्टा बाहुनामान्युत्तराणि द्वादश बाहू
१५ कस्मात्प्रबाधत आभ्यां कर्माण्यङ्गुलिनामान्युत्तराणि द्वारि-
शतिरङ्गुलयः कस्मादग्रगामिन्यो भवन्तीति वाग्रगति-
न्यो भवन्तीति वाग्रकारिण्यो भवन्तीति वाग्रसौरिण्यो
भवन्तीति वाङ्मना भवन्तीति वाञ्छना भवन्तीति वापि-
वाग्यञ्जनादेव एयस्तासामेषा भवति ॥ ८ ॥

२०

तदद्य वाचः प्रथमं मंसीयेति । सौचीकस्याभेदार्थम् । तस्य विश्वेदेवैः
सौवोदः । तत्रेयम् । होतृजपे विनियुक्ता [आश्व० श्रौ० १ । २] ।

१ क. ख. छ. त. द. ' निषद्वो भवति ' नास्ति. २ छ. त. निःपण्ण.
३ क. ख. छ. त. द. ' अग्रसौरिण्यो भवन्तीति वा ' नास्ति ४ क. ख. बाह्वना;
त. वाञ्छनां ज. ५ छ. द. ' भ्यजना ' ; त. ' भ्यजना ' श. ६ क. ख. द. २; छ.
त. १. ७ क. ख. प. ट. वाच० ह्यजम्; ट. द. वाच इति. ८ ख. गृध्रीदस्य.
२५ १ क. ख. घ. ट. ट. द. ' देवैः नृ संवादः.

तद्वीर्यं 'वाचः परममुत्कृष्टमहमद्यं मत्सीय मन्ये ।
 पञ्चजनशब्दवती जान इत्यर्थः । येन वीर्येण किमिति । येना-
 चक्र सुरानभिभवेन वयं देवाः । ऊर्जादोऽजमक्षयि-
 तारः । अपि च हे यज्ञियासो यज्ञसंपादिनो देवा
 यूयमपि च हे पञ्चजना मनुष्या निपादपञ्चमा वर्णा ममेदं होत्रं जुषध्वमा-
 सेवध्वमनुगृहीध्वमिति समस्तार्थः ।

अथैकपदनिरुक्तम् । 'असुरा असुरताः स्थानेषु' । ते हि न सुष्ठु रताः
 स्थानेषु । चपला इत्यर्थः । अथ 'वा अस्ताः स्थानेभ्यः' । प्रच्याविता
 'देवैरित्यर्थः । 'अपि वासुरिति प्राणनाम' । स हि 'अस्तः' क्षित इव
 'शरीरे भवति' । तस्य हि तत्र नित्यमवस्थानमित्यभिप्रायः । 'तेन'
 हि 'तद्वन्तो भवन्ति' । रो मत्वर्थे । अथवेदमन्यद्वाहणोक्तं निर्वचनं
 स्यात् । 'सोर्देवानसृजत' । सुरिति प्रशस्तनाम । प्रशस्तादात्मनः प्रदे-
 शात्प्रजापतिः सुरानसृजत । उर्ध्वेभ्यः प्राणेभ्यः । तदुक्तम् । 'ऊर्ध्वमुदतृण-
 त्पूर्वपक्षः पञ्चदशस्तेन देवानसृजत' [मैत्रा० सं० १ । ९ । ३]
 'तत्सुराणां सुरत्वम्' इति विज्ञायते । एवमेव प्रातिलोभ्येन 'असौरसुरान-
 सृजत' । असुरिति प्रशस्तप्रतिषेधः । अप्रशस्तादात्मनः प्रदेशात्प्रजापति-
 रसुरानसृजत । तदुक्तम् । 'अवाङ्वातिरदपरपक्षस्तेनासुरानसृजत'
 [मैत्रा० सं० १ । ९ । ३] इति । ऊर्जाद उत यज्ञियासः ।
 अन्नादाश्च यज्ञियाश्च । 'ऊर्जित्यन्ननाम' । तद्धि 'ऊर्जयति' । बलिष्ठं
 करोतीत्यर्थः । अथ 'वा पक्वम्' एतत् 'सुप्रवृक्कं' भवति 'इति'
 'ककाररेफसामान्यात्पचेर्व्रश्चतेर्वा' स्यात् । द्वयोरपि वा । तद्धि पक्वं सत्
 मृदुत्वात्सुच्छेयं भवति ।

पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम् । एतदत्र संदेहपदमेकमुद्धृत्य
 पञ्चजनशब्दस्यार्थौ प्रदर्शितम् । 'गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षा-
 नीत्येके' मन्यन्ते । 'चत्वारो वर्णा निपादः
 निपादनाम्ना कोऽ-
 मिधीयते पञ्चम इत्यौपमन्यवः' । निषय निषय हन्तीति
 प्राणिर्वधजीवनः । अथवा 'निषण्णमस्मि-
 न्यापकमिति' निपादः । सौधन्वना इत्येके

१ घ. ट. ठ. ड. 'तृष्टं महद्वय' । २ च. मत्सीय. ३ घ. ट. ठ. ड. हे देवाः.
 ४ क. ख. घ. ट. असृजत्. ५ ग. ज. सुप्रवृक्कं. ६ घ. ट. ठ. ड. 'सुउदेदं'.
 ७ घ. 'प' नास्ति. ८ ग. ज. निषय निषय. ९ ज. प्राणिगन्धजीवनः.

मन्यन्ते । स च रथकारः । तस्य हि' मिनकालमाधानं श्रूयते । ' वर्षासु
रथकारः ' । ऋभूणां त्वेति रथकारस्येति च मन्त्रभेदः [तै० ब्रा० १ ।
१ । ४] । सौधन्वना ऋगवः [ऋ० सं० १ । ११० । ४ ॥
३ । ६० । ४] इति च मन्त्रलिङ्गात् ।

- ५ यथा तु पञ्चजनशब्देन मनुष्या एव निपादपञ्चमा वर्णा उच्यन्ते
तथैष निर्गमः । ' यत्पाञ्चजन्यया विशेन्द्रे घोषा
पञ्चजनशब्देन नि- असृक्षत । अस्तृणाद्वर्हणां विपोऽर्यो मानस्य
पादपञ्चमा वर्णा यस्या- स क्षयः [ऋ० सं० ८ । ६३ । ७] ॥
मुच्यन्ते सा ऋक् प्रगाथेन दृष्टेयमनुष्टुबैन्द्री । पृष्ठयस्य पञ्चमेऽहनि
१० मरुत्वतीयशस्त्रस्य प्रतिपदेवा [आश्व० श्री०
७ । १२] । यदा पञ्चजनीनया विशा पञ्चजनसमुदायलक्षणया सहितैः
स्तोतृभिर्ऋषिभिर्वर्षतीन्द्रे वर्षार्थिभिर्घोषाः स्तोतीरसृक्षतासृज्यन्त । निपा-
दपञ्चमा वर्णा आर्ताः सन्तो वर्षाभावेऽस्तुवतैवेन्द्रं वर्ष भगवन्नित्येवमर्थ-
यन्तः । अत इदमुक्तं यदा पाञ्चजन्यया विशा सह घोषा ऋषिभिर-
१५ सृज्यन्तेति । तदा किमिति । तदोपश्रुत्य स इन्द्रस्ताभिः प्रह्लादितचेता
अस्तृणादहन्वर्षार्थं मेघान्वर्हणा परिवृद्धेन वधेन परिवृद्धानि वा मेघजा-
लानि । विपो विपाटयिता मेघानां मेघाधी वा । अर्थ ईश्वरः कृत्स्नस्य
जगतः । कस्मात्पुनरस्तृणात् । यस्मान्मानस्य स क्षयः । मानस्य दर्पस्य
वीर्यस्य बलस्य स क्षयो निवासस्तस्मादस्तृणात् । अवीर्यो हि स्त्र्युयमानैः
२० परिवृष्टोऽपि किं कुर्यात् । अथवा मानस्य सत्कारस्य पूजायाः स इन्द्रः
क्षयो निवासो भाजनमिति मन्वानैः स्तोतृभिर्वर्षार्थिभिः सत्कृतस्तान्वर्ष-
प्रदानेन प्रतिस्तत्कारयिष्यन्नस्तृणान्मेघान् । अपि वास्य जगन्निर्माणस्य
देवादेः स्थावरान्तस्य स इन्द्रः क्षयो निवास आश्रयो यस्मात्ततो मेघानस्तृ-
णात् । अनावृष्टिद्वारेणास्यै जगतो विनाशो मा भूत्कथं नामेत्यनेनैभि-
२५ प्रायेण ।

१ क. ख. घ. ट. ठ. ड. ' हि ' नास्ति. २ घ. ' च ' नास्ति. ३ क. ख.
घ. ट. ठ. ड. तथैव; ग. तथैव° प. ४ ग. ज. निर्गमः । १० । यत्पा°. ५ क.
ख. घ. ट. ठ. ड. बलस्य वीर्यस्य. ६ क. ख. घ. ट. ठ. ड. °मानः किं कुर्वत्यरि-
तुष्टोऽपि ७ घ. ट. ठ. ड. मत्वा तैः. ८ ठ. ड. प्रतिशंस्कार°. ५ ठ. ड. ' अस्य'
३० नास्ति. १० क. ख. घ. ट. ठ. ड. नामेत्यभिवायः.

‘ पञ्च पृक्ता संख्या ’ । सा हि ‘ स्त्रीपुंनपुंसकेष्वविशिष्टा ’ एव भवति । तद्यथा । पञ्च स्त्रियः पञ्च पुरुषाः पञ्च कुलानीति । एवं पञ्चशब्दे स्त्रीपुंनपुंसकेषु विशेषो नास्ति ।

‘ बाहुनामान्युत्तराणि द्वादश ’ । बाहोर्नामानि बाहुनामानि । उत्तराणि प्रकृतेभ्यो मनुष्यनामभ्यः । मनुष्याणामेव हि बाहवो भवन्तीति मनुष्यनामभ्य उत्तराणि बाहुनामानि । कियन्ति पुनस्तानि । द्वादश । द्वे च दश च द्वादश । कानि पुनस्तानि । ‘ आर्यैती च्यवाना अमीशू ’ [निघ० २ । ४] इत्येवमादीनि । आभिधीभवतः कर्मभिरेताविति आर्यः । च्यावपि तारौ कर्मणां च्यवाना । अमीशू अभ्यश्रुशते कर्माणीत्येवं योग्यम् । आह । ‘ बाहू कस्मात् ’ । उच्यते । ‘ प्रजाधत आभ्यां ’ प्रकर्षेण बाधते प्रक्ष-
पयत्याभ्यां ‘ कर्माणि ’ ।

‘ अङ्गुलिनामान्युत्तराणि द्वाविंशतिः ’ । अङ्गुलीनां नामान्यङ्गुलिनामानि । उत्तराणि प्रकृतेभ्यो बाहुनामभ्यः । बाहोरेव अङ्गुलयो भवन्तीति बाहुनामभ्य उत्तराण्यङ्गुलिनामानि । कियन्ति पुनस्तानि । द्वाविंशतिः । द्वे च विंशतिश्चै द्वाविंशतिः । कतमानि पुनस्तानि । ‘ अम्रवः अण्व्यः क्षिपः ’ [निघ० २ । ५] इत्येवमादीनि । बाह्व्रेऽवस्थिता अवन्त्येताः कर्माणीत्यम्रवः । अण्व्यः परिमाणत एताः । क्षिप्यत आभिः क्षेत्तव्यं द्रव्यमिति क्षिप इत्येवमादि । आह । ‘ अङ्गुलयः कस्मात् ’ । उच्यते । ‘ अग्रगामिन्यो भवन्ति ’ । अग्रे ह्येताः कर्मसु गच्छन्ति । अथवा ‘ अग्रगोलिम्यो भवन्ति ’ अग्रे ह्येता गच्छन्ति उदकानि । ‘ अग्रकारिण्यो वा भवन्ति ’ । अग्रे ह्येताः कर्माणि कुर्वन्ति । ‘ अङ्गुना भवन्तीति वा ’ । यो ह्येताभिरभिहन्त्येतेऽसावङ्कित इव भवति । ‘ अपि बाम्पञ्चनादेव स्युः ’ । एता हि तं तमर्थमाभिमुख्येनाञ्चन्ति गच्छन्ति । ये तु ‘ अभ्यञ्जनाः ’ इत्यधी-
येते तेषामभ्यज्यत आभिरित्यङ्गुलयः ।

‘ १ ग. ज. द्वौ च०; व. ट. ठ. ड. द्वौ दश द्वादश. २ क. ख. घ. ट. ठ. ड. कतमानि. ३ च. आयुजो. ४ च. च्यवाना. ५ घ. ट. ठ. ड. आभिधीयभवतः. ६ ग. ज. एव योग्य. ७ क. ख. घ. ट. ठ. ड. आभ्यां कर्माणि प्रक०. ८ ग. ज. ० रेय. ९ घ. ट. ‘ च द्वाविंशतिः नास्ति. १० च. अग्रगामिन्यो. ११ क. ख. घ. ट. ठ. ड. तथाहि यो. १२ क. ख. अभिधीयन्ते; ग. ज. ठ. ड. अभिधीयते. २३

‘ तासाम् ’ अङ्गुलीनाम् ‘ एषा ’ निर्वाचिका ऋक् ‘ भवति ’
॥ ८ ’ ॥

- ५ दशावनिभ्यो दशकक्ष्येभ्यो दशयोक्त्रेभ्यो दशयोज-
नेभ्यः । दशांभीशुभ्यो अर्चताजरेभ्यो दश धुरो दश युक्ता
वहंद्भ्यः [ऋ० सं० १० । ९४ । ७] ॥ अवनयोऽङ्गुलयो
मवन्त्यवन्ति कर्माणि कक्ष्याः प्रकाशयन्ति कर्माणि
योक्त्राणि योजनानीति व्याख्यातममीशवोऽभ्यश्रुवते
कर्माणि । दश धुरो दश युक्ता वहंद्भ्यः । धूर्ध्वतेर्बध-
१० कर्मण ह्यमपीतरा धूरेतस्मादेव विहन्ति वहं धारयतेर्वा
कान्तिकर्माण उत्तरे धातवोऽष्टादशान्ननामान्युत्तराण्यष्टा-
विंशतिरङ्गं कस्मादानतं मूतेभ्योऽत्तेर्वात्तिरुर्माण उत्तरे
धातवो दश बलनामान्युत्तराण्यष्टाविंशतिर्बलं कस्मा-
द्बलं मरं भवति विमर्तेर्धननामान्युत्तराण्यष्टाविंशतिरेव धनं
२५ कस्माद्धिनोतीति सतो गोनामान्युत्तराणि नव कृष्ण-
तिकर्माण उत्तरे धातवो दश क्रोधनामान्युत्तराण्ये-
कादश गतिकर्माण उत्तरे धातवो द्वाविंशशतं क्षिप्रना-
मान्युत्तराणि पञ्चविंशतिः क्षिप्रं कस्मात्संक्षिप्तो विकर्पोऽ-
न्तिकनामान्युत्तराण्येकादशान्तिकं कस्मादानीतं गवति
२० संग्रामनामान्युत्तराणि पञ्चत्वारिंशत्संग्रामः कस्मात्संगम-
नाद्वा संगरणाद्वा संगतो ग्रामाविति वा तत्र खल इत्ये-
तस्य निगमा भवन्ति ॥ ९ ॥

- दशावनिभ्य इति । अवनय इत्येवमादीनि नद्यादिनामभिः सेदि-
२५ अङ्गुलिवाचकानि दान्ते तदर्थमिष्यमुदाह्रियते । त्रिष्टुत्रेणा । अर्घुदस्य
बहुविधानि नामानि काद्वेयस्य सर्पस्यार्पम् । प्रावस्तुतो विनियुक्ता ।
[आध० ग्री० ५ । १२] दशभिरवनिभिर्य

१ क. स. २; ग. च. ज. ११; घ. ट. अङ्गो नास्ति; ठ. इति निरुक्तं
अष्टमः; ड. इति निरुक्तमाध्याये पूर्वपटके तृतीयाध्यायेऽष्टमः सङ्ख्यः समाप्तः. २ क.
स. घ. ३; छ. त. १०. ३ घ. ट. दशावनिभ्यो. वहंद्भ्यः । अवनयः; ठ. ड.
१०. ‘ दशावनिभ्य इति ’ नास्ति. ४ क. स. घ. ड. ठ. ड. ‘ मिदनु’.

यस्यां प्रयुज्यन्ते सा उपचर्यन्ते। ग्रावाणः सौमार्गिपवकर्मणि प्रवृत्ते
 कक् तै दशावनयस्तेभ्यो दशावनिभ्यो हे ऋत्विजो यूय-
 मप्यर्चत । स्तुतीः प्रोच्चारयतेत्यर्थः । एवमेव
 दशभिः कक्षमाभिर्य उपचर्यन्ते ते दशकक्ष्यास्तेभ्यो दशकक्ष्येभ्योऽर्चत ।
 दशभिर्विंशैश्च उपचर्यन्ते ते दशप्रोक्त्रास्तेभ्यो दशप्रोक्त्रेभ्योऽर्चत । दशभि-
 र्योजनैरुपचर्यन्ते ये ते दशयोजनास्तेभ्यो दशयोजनेभ्योऽर्चत । दशभिर-
 भीशुभिरुपचर्यन्ते ते दशाभीशवस्तेभ्यो दशाभीशुभ्योऽर्चत । अजरेभ्योऽ-
 जरणवर्जभ्यो दश धुरो य एते ग्रावाणस्तेभ्योऽर्चत । दशभिर्दशभिरङ्गुली-
 भिर्य एते युक्ता वहन्ति ग्रावाणस्तेभ्य एभ्यो दश युक्ता वहद्भ्योऽर्चतेति।
 समस्तार्थः ।

अथैकपदनिरुक्तम् । 'अवनयोऽङ्गुलयो भवन्ति' । ता हि 'अवन्ति
 कर्माणि' रक्षन्ति भक्षयन्ति वा । क्षपयन्तीत्यर्थः । 'कक्ष्याः' अप्य-
 ङ्गुलय एव । ता हि 'प्रकाशयन्ति कर्माणि' । प्रकटीकुर्वन्तीत्यर्थः ।
 'प्रोक्त्राणि' इत्येतत्पदं 'योजनानीति' अनेन पदेन 'व्याख्यातम्' ।
 'योजनानीत्येतन्निगदसिद्धमेव । 'अभीशवः' अप्यङ्गुलय एव । ता
 हि 'अभ्यश्रुते कर्माणि' । व्याप्नुवन्तीत्यर्थः । अनेकैर्नामभिरङ्गुलय
 एवोक्ता अनेकक्रियाशक्युपप्रेक्षनाय । एते ग्रावाण एवमनेकक्रिया-
 योगिनीभिरङ्गुलीभिर्गृहीताः । तदर्थमर्चतेति । 'धूर्ध्वर्धतेर्वधकर्मणः' । ध्वरति
 धूर्ध्वतीति । वधकर्मसु पठितैः [निघ० २ । १९] । 'इयमपीतरा धूः'
 अनडुर्दादिसंबन्धिनी 'एतस्मादेव' धातोर्वधकर्मणः । सापि हि
 'विहन्ति बहम्' अनडुहोऽश्वस्य वा । 'धारयतेर्वा' । सा हि धारय-
 त्यश्वमनडुहं वा ।

'कान्तिकर्माण उच्यते धातवोऽष्टादश' । स खल्वयं पुरुषो व्याख्यातः
 सपादः साङ्गुलिः । 'तं खलु काम एव प्रथममाविवेश' इत्युत्तरे कान्त्यर्था
 इत्यर्थः । यदपि ह्यकान्तं भवति तदप्यङ्गुलीभिरेव कान्तं क्रियत इत्यतोऽ-

१ क. ख. घ. ट. ठ. ड. य उपचर्यन्ते ते° । २ च. °धर्म्यः । ३ ग. ज. 'अप्य-
 ङ्गुलय एव' नास्ति । ४ च. 'प्र' नास्ति । ५ क. ख. घ. ट. ठ. ड. पठितम् ।
 ६ क. ख. घ. ट. ठ. ड. अनडुहादि । ७ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'हि' नास्ति ।
 ८ च. बहन् । ९ क. ख. ग. ज. घ. ट. ठ. ड. साङ्गुलिः । १० घ. ट. अङ्गु-
 लिभिः ।

ब्रूहीनामभ्य उत्तरे कान्तिकर्मणः समाम्नाताः । कियन्तः पुनस्ता इति ।
अष्टादश । अष्टौ च दश च । कतमे पुनस्त इति । ' वदिम उस्मसि
अववेति ' [निघ० २ । ६] इत्येवमादयः ।

- ५ ' अन्ननामान्युत्तराण्यष्टाविंशतिः ' । अन्नस्य नामान्यन्ननामानि ।
उत्तराणि प्रकृतेभ्यः कान्तिकर्मभ्यः । अन्नमेव हि कान्तं सर्वभावैभ्यो
भवतीति कान्तिकर्मभ्य उत्तराण्यन्ननामानि । कियन्ति पुनस्तानि ।
द्वैष्टौ च विंशतिश्चाष्टाविंशतिः । कतमानि पुनस्तानि । ' अन्धः वाजः पाजः
प्रयः वृक्षः ' [निघ० २ । ७] इत्येवमादीनि । अन्ध इत्ययं निर्धक्ष्यति [निह०
५ । १] । वाजयितव्यं पूजयितव्यमेतद्भोजनायोपस्थितं भवतीति वाजः ।
१० पीयत इति पाजः । प्रयः पानादेव । आह । ' अन्नं कस्मात् ' । उच्यते ।
अभिमुख्येन ह्येतत् ' नत्तं ' प्रह्वीभूतं भवति भोजनाय भूतानाम् ।
' अत्तेर्वा ' । ' अयतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते ' इति
शुक्तम् [तै० २० २ । २] ।

- १५ ' अत्तिकर्मण उत्तरे घातवो दश ' । अन्धमेव ह्यद्यत इत्यन्ननामभ्य
उत्तरेऽत्तिकर्मणः समाम्नाताः । कियन्तस्त इति । दश । कतमे पुनस्ते ।
' आययति भवति वमस्ति ' [निघ० २ । ८] इत्येवमादयः ।

- २० ' वटनामान्युत्तराण्यष्टाविंशतिः ' । वटस्य नामानि वटनामानि ।
उत्तराणि प्रकृतेभ्योऽत्तिकर्मभ्यः । य एव द्यदन्ति त एव वटवन्तो
भवन्तीत्यत्तिकर्मभ्य उत्तराणि वटनामानि समाम्नातानि । कियन्ति पुन-
स्तानि । अष्टाविंशतिः । अष्टौ च विंशतिश्च । कतमानि पुनस्तानि ।
' ओजः पाजः शवः ' [निघ० २ । ९] इत्येवमादीनि । ओज
ओजतेर्बौज्जतेर्बौज्येवमादि । आह । ' वटं कस्मात् ' । उच्यते । तद्धि ' भवं
भवति ' । श्रियते हि त यो वटिष्ठो भवति । ' विभर्तः ' वा । दान्ये-
षां भर्ता भवति ।

- २५ ' धननामान्युत्तराण्यष्टाविंशतिरेव ' । य एव हि वटवन्तो भवन्ति
त एव धनं प्राप्नुवन्तीति वटनामभ्य उत्तराणि धननामानि । कियन्ति

१ द. ट. ट. ट. ' दृगुल्लिख्य ' । २ क. ख. घ. ट. उ. ट. चोटादश । यतं.
३ क. ख. घ. ट. अष्टाविंशतिः । अष्टौ. ४ च. ' पाजः ' नास्ति. ५ ग. ज.
पदः. ६ घ. ट. ट. ट. भवन्त्येव. ७ क. ख. घ. ट. उ. ट. ' वि ' नास्ति. ८ ग.
च. ज. ' कियन्तस्त इति । दश ' नास्ति. ९ च. ' तेर्बौज्ये ' . १० ग. ज. भवति;
११ च. भवं.

पुनस्तानि । अष्टाविंशतिरेव । बलनामान्युत्तराण्यष्टाविंशतिरेमान्यप्यष्टाविंश-
तिरेवेत्येवशब्दः । ' कतमानि पुनस्तानि । ' मधं रेकणः रिक्थं वेदः ' ५
[निघ० २ । १०] इत्येवंप्रभृतीनि । रिच्यत इति रेकणः । अतिरेच्य-
मानमेतदिहैव तिष्ठति प्रियमाणस्येति रिक्थम् । विद्यते लभ्यत एतदिति
वेदः । इत्येवमादि । आह । ' धनं कस्मात् ' । उच्यते । ' धिनोतीति ' ५
एवं ' सतः ' शब्दस्य कर्तरि कारके । सत इति फारकावधारणम् । धिनो-
तिस्त्वेर्णार्थः [धा० १ । ५९३] ।

' गोनामान्युत्तराणि नव ' । गवां नामानि गोनामानि । उत्तराणि
प्रकृतेभ्यो धननामभ्यः । गाव एव हि प्रकृष्टं^१ धनमिति धननामभ्य उत्त-
राणि गोनामानि । कियन्ति पुनस्तानि । नव । कतमानि पुनस्तानि । १०
' अघ्या उस्त्रा उस्त्रिया ' [निघ० २ । ११] इत्येवमादीनि । अघ्या
अहन्तव्या भवतीत्येवमादि निर्वचनम् । उक्तनिर्वचनो हि गोशब्दः
[निघ० २ । ५] । अतो गौः कस्मादिति न श्रवीति ।

' क्रुध्यतिकर्माण उत्तरे धातवो दश ' । धनार्थमेव हि गवार्थं च
क्रोधो भवतीति गोनामभ्य उत्तरे क्रुध्यर्थाः समाप्ताः । कतमे पुनस्त १५
इति । ' रेल्लते हेल्लते ' [निघ० २ । १२] इत्येवमादयः ।

क्रुध्यर्धसंबन्धेनैव ' क्रोधनामान्युत्तराणि ' । कियन्ति पुनस्तानि ।
एकादश । कतमानि पुनस्तानि । ' हेळः हरः ह्यणिः त्यजः ' [निघ०
२ । १३] इत्येवमादीनि । हे अरे इत्यनेनाविष्टो ब्रवीति^२ हेडः । नीचै-
रनेन नरकं प्रति हियन्ते प्राणिन इति ह्यणिः । त्यजत्यनेनाविष्टो धर्म २०
जहातीति त्यज इत्येवमादि ।

' गतिकर्माण उत्तरे धातवो द्वाविंशं शतम् ' [निघ० २ । १४] ।
क्रुद्धा एवं सन्तः सुतरां गच्छन्तीति क्रोधनामभ्य उत्तरे गच्छतिकर्माणः
समाप्ताः ।

१ क. ख. च. ' अपि ' नास्ति. २ क. ख. घ. ट. ठ. ड. ' त्वेवमादीनि. २५
३ च. प्रकृष्टधनं. ४ च. ' हि ' नास्ति. ५ क. ख. च. रेल्लते हेल्लते; ग. च. ज.
रेडते रेडते. ६ क. हेडः; ग. च. ज. घ. हेल्लः. ७ ग. च. ब्रवीतीति. ८ घ. ट.
त्यजः । त्यजत्यनेन; ठ. ड. त्यजः । त्यज इत्यनेन. ९ च. ' नाविशिष्टो. १० च.
एव हि. ११ क. ख. घ. ट. ठ. ड. गतिकर्मा.

‘ क्षिप्रनामान्युत्तराणि पड्विंशतिः ’ । गतिसंभवादेव क्षिप्रनामान्यु-
त्तराणि, समान्नातानि । कियन्ति, पुनस्तानि । पड्विंशतिः । पट् च विंश-
तिश्च । कतमानि, पुनस्तानि । ‘ नु मक्षु द्रवत् ’ [निघ० २ । १५]
इत्येवमादीनि । नुन इव हि क्षिप्रं गच्छतीति नु । ‘ मां क्षिणोति मां
क्षिणोतीति सर्व एव क्षिप्रगामिनं मन्यन्त इति मक्षु । द्रवद्रवतेरेवे-
त्येवमादि । आह । ‘ क्षिप्रं कस्मात् ’ । उच्यते । विकृष्टो त्रिक्षितोऽर्थः
‘ संक्षितः ’ सक्षिप्रमुच्यते ।

‘ अन्तिकनामान्युत्तराण्येकादश ’ । य एव हि क्षिप्रं गच्छति स
एवाभिप्रेतस्त्यर्थस्यान्तिके समीपे भवतीति क्षिप्रनामभ्य उत्तराण्यन्तिक-
नामानि । कतमानि पुनस्तानि । ‘ सैकित् आसात् ’ [निघ० २ । १६]
इत्येवमादीनि । ताव्यतेऽस्मिन्प्रदेशेऽत्रस्थित इति तडिदित्युच्यते । अन्तिकः
प्रदेशो य आसन्नः स आसादित्येवमादि योज्यम् । आह । ‘ अन्तिकं
कस्मात् ’ । उच्यते । ताद्वि ‘ आनीतं भवति ’ संनिकृष्टस्यात् ।

‘ संग्रामनामान्युत्तराणि पट्चत्वारिंशत् ’ । संग्रामस्य नामानि
उत्तराणि प्रकृतेभ्योऽन्तिकनामभ्यः । अन्तिकभूतानामेव हि संग्रामो
भवतीत्यन्तिकनामभ्य उत्तराणि संग्रामनामानि । कियन्ति पुनस्तानि ।
पट्चत्वारिंशत् । पट् च चत्वारिंशच्च पट्चत्वारिंशत् । कतमानि पुनस्तानि ।
‘ रणः विवाक् नदनुः ’ [निघ० २ । १७] इत्येवमादीनि । रणन्य-
स्मिञ्शूरा इति रणः । विविधां दूराणामत्र वाग्भवतीति विवाक् ।
नदन्यस्मिन् दूरा इति नदनुः इत्येवमादि योज्यम् । आह । ‘ संग्रामः
कस्मात् ’ । उच्यते । ‘ संगमनाद्वा ’ । संगच्छन्ते हि परस्परं तत्र योधाः ।
‘ संगरणाद्वा ’ । संगृणन्ति संशब्दाय तत्र दूरास्तत्र परस्परेण ।
‘ संगतौ ग्रामाविति वा ’ । ग्राम इति संघात उच्यते । सौ हि परस्पर-
विजिगीषया समागतौ तत्र भवतः ।

- २५ १ ठ. ड. ‘ च ’ नास्ति. २ क. ख. घ. ट. ठ. ड. ‘ हि ’ नास्ति.
३ च. विवृष्टो. ४ घ. ट. ठ. ड. ‘ प्रमित्युच्यते. ५ क. ख. घ. ट. ठ. ड.
‘ प्रेतार्थश्च. ६ क. ख. म. घ. च. ज. ट. तटित्. ७ ग. ज. घ. ट. अ. ता इत्ये.
८ क. ख. घ. ट. ठ. ड. ‘ नामानि संग्रामनामानि. उत्तरं. ९ ग. ज. नदनु इत्ये.
घ. ट. च. नदन इत्ये. १० च. विविधाः दूरास्तेषामत्र. ११ म. च. ज. घ.
ट. ठ. ड. नदन इत्ये. १२ घ. ज. ‘ हि ’ नास्ति. १३ ग. च. ज. संशब्द-
२१ न्ति. १४ क. ख. घ. ट. ठ. ड. इत्युच्यते.

‘तत्र’ पदचत्वारिंशेके संग्रामनामगणे ‘खल इत्येतस्य’ नाम्नो
 ‘निगमाः’ संदिग्धा ‘भवन्ति’ । इतरोऽपि
 ‘खलशब्दः संदिग्धः धान्यखलः खल इत्युच्यते । संग्रामोऽपि च ।
 तत्रैवं सत्यस्यामृचि वक्ष्यमाणायां ‘खले न
 पर्षान्’ इति व्यपदेशाद्विभागो लक्ष्यते सस्यखलसंग्रामखलयोः ॥ ९ ॥

अमी^१दमेकमेको^२ अस्मि निष्पालमी^३ द्वा किम् त्रयः
 करन्ति । खले न पर्षान्प्रतिहन्मि मूरि किं मां निन्दन्ति
 शत्रवोऽनिन्दाः [ऋ० सं० १० । ४८ । ७] ॥ अभिमवा-
 मीदमेकमेकोऽस्मि निःपहमाणः सपत्नानभिभवामि द्वौ
 किं मा त्रयः कुर्वन्त्येक इता संख्या द्वौ द्रुततरा संख्या
 त्रयस्तीर्णतमा संख्या चत्वारश्चलिततमा संख्याष्टावश्रोते-
 नैव न वननीया नायाता वा दश दस्ता दृढार्था वा
 विंशतिर्द्विदशतः शतं दशदशतः सहस्रं सहस्रदयुतं नियुतं
 प्रयुतं तत्तदभ्यस्तमम्बुदो मेघो भवत्परणमम्बु तद्दोऽम्बु-
 दोऽम्बुभेद्भातीति वाम्बुमद्भवतीति वा स यथा महान्
 बहुर्मवति पर्षस्तदिधाम्बुदम् । खले न पर्षान्प्रतिहन्मि मूरि ।
 खल इव पर्षान्प्रतिहन्मि मूरि खल इति संग्रामनाम
 खलतेर्वा खलतेर्वायमपीतरः खल एतस्मादेव समा-
 स्कन्नो भवति । किं मां निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्दाः । य
 इन्द्रं न विविदुरिन्द्रो ह्यहमस्म्यनिन्दा इतर इति धौ व्याप्ति-
 कर्माण उत्तरे धातवो दश तत्र द्वे नामनी आक्षाय आशु-
 धान आपान आभुवानो वधकर्माण उत्तरे धातवस्त्रयस्त्रि-
 शत्तत्र विधौत इत्येतद्विधातयत इति वा विधातयेति वा ।

१ क. ख. च. °लिङ्के. २ च. तस्यैव. ३ क. ख. ३; ग. च. ज. १२; २५
 प. ट. अङ्गो नास्ति; ठ. ड. ९ । इति निरुक्तभाष्ये तृतीयाध्याये नवमः खण्डः.
 ४ ऋ. य. ठ. ड. निःपालमी; छ. निःपालमी; त. द. निष्पालमी. ५ क. ख.
 त. द. निष्पङ्. ६ छ. त. द. प्रयुतं नियुतं. ७ क. झ. छ. त. द. °मर्बुदो°. ८ छ. त. द. °अम्बुदः° नास्ति. ९ छ. त. द. °अम्बुमद्भवतीति वाम्बुमद्भातीति
 वा. १० क. ख. छ. त. द. °न विदुः°. ११ छ. °वा° नास्ति; द. इति °व्याप्ति°
 वा. १२ छ. विधातय.

आखण्डल प्रहृयसे । आखण्डयितः खण्डं खण्डयतेस्तडि-
दित्यन्तिकवधयोः संसृष्टकर्म ताडयतीति सतः ॥ १० ॥

- अभी३दर्मेक० निन्द्राः । वैकुण्ठस्येन्द्रपुत्रस्येयमार्षम् । जगती । दश-
रात्रस्य नवमेऽहनि निष्केवल्ये शस्यते [आध०
५ . अस्यामृचि खल- ८।७] । आभ्यामिको मन्त्रः । इदं तावज्जगदेक
शब्दोऽर्थद्वयवाची एवाहमम्यस्मि अभिभवामि अभिमूय च वर्ते ।
अस्य सर्वस्याहमेकोऽधिपतिरित्यभिप्रायः । कथं
पुनरभिभवाम्यहमेतत् । एकमेको निर्णयाद् निःपहमाणः सपत्नान् । शत्रू-
न्निश्चयेनाधिकं वाभिभवामीत्यर्थः । सहतिरभिभवार्थश्छन्दसि । कथं पुनरभि-
१० भवन्तपत्नानहमस्य जगत आधिपत्ये वर्ते । यत एकं तावदागतं
सन्तमेक एवाभिभवामि सपत्नम् । अभी द्वा । द्वावप्यागतौ सन्तावेक एवा-
भिभवामि । किमु त्रयः करन्ति । त्रयोऽपि युगपदागताः सन्त एका-
किनोऽपि मम किं कुर्वन्ति । न किञ्चिदपीत्यभिप्रायः । किञ्च । खले
न पर्यागाह्यमाने हन्यमाने । गम्यमानोऽत्र एकः खलशब्दः उपमानमुप-
१५ मैसंबन्धात् । यथा खले खलस्थाने कर्षकेण पर्वन्बहूनपि संचितान्
लानप्रतिबन्धेन क्षुंघेरजेवमहमपि भूरीनपि शत्रूनागतान्क्षणादेव तैरप्रति-
बन्धमानो हन्मि । तमेवंप्रभावं सन्तं मां किं निन्दन्ति शत्रवः ।
नाहं निन्दार्हः स्तव्योऽहमित्यभिप्रायः । अपि चानिन्द्राः ये मामिन्द्रं न
विदुर्याधात्पतस्ते कथमविज्ञायैव मां निन्दन्ति । नैतन्ग्याप्यमित्यभिप्रायः ।
२० अनिन्द्रा इतर इति वा । अथवानिन्द्राः सन्त आत्मना कथमिन्द्रं
सन्तं मां निन्दन्ति । ननु नामेन्द्रत्वेनैवाहमतिरिक्तस्तेभ्योऽथ कथमितरे मां
निन्दन्ति । अनिन्द्राः सन्तो न लज्जन्तीत्यभिप्रायः । इति समस्तार्थः ।

- १ क. ख. छ. त. द. 'पिनः । तडिदि' (क. ख. तडिदि'). २ छ.
त. द. तालयती'. ३ क. ख. द. ४; छ. त. ११. ४ च. ठ. ड. 'मरुमिनि ।
२५ बकु'; ज. सर्वा क्रकृ पञ्चने. ५ क. ख. घ. ट. ठ. ड. भवामि; ग. ज. वर्ते भवामि.
६ ग. घ. ट. ठ. ड. निष्पाट्. ७ क. ख. घ. ट. निष्पाट्. ८ क. ख. घ. ट. ठ.
ड. यावत्. ९ घ. ट. ड. एवामि । धिमु'; ठ. एवासि । धिमु'. १० ग. ज.
' गह्यमाने हन्यमाने ' नास्ति. ११ क. ख. घ. ट. ठ. ड. गम्यमानेऽप्ये एक'.
१२ ग. ज. ' उपमानं ' नास्ति. १३ ग. घ. ज. उपमानहं बन्धात्. १४ च.
२० कर्मान्. १५ ग. च. ज. मजान्. १६ ग. ज. क्षुंघेर'. १७ क. ख. ग. ज. न तु.

‘अथैकपदनिरुक्तम् । ‘एक इता संख्या’ गता । संख्यात्वं प्राप्ते-
 त्यर्थः । द्वाादिकं वा परं गता । ‘द्वौ द्वुततरा संख्या’ एकस्याः
 सकाशात् । ‘त्रयस्तीर्णतमा संख्या’ द्वयोः सकाशात् । प्रसक्तानुप्रसक्त-
 मुच्यते । ‘चत्वारश्चलिततमा संख्या’ त्रिभ्यः सकाशात् । ‘अष्टावश्रोतेः’ ।
 ते हि सप्तसंख्यां व्याप्य वर्तन्ते । ‘नव’ इति या संख्या सा ‘न ५
 वननीया’ न संभजनीया भवति । नवसंख्यायुक्तायां हि तिथौ न
 कश्चिदप्यारम्भः क्रियते । ‘दश’ इति या संख्या सा ‘दस्ता’ ।
 दशान्तैव हि संख्या भवति । ‘दृष्टार्था वा’ । दृष्टार्थैव हि दशाना-
 मुपरि पुनः पुनर्दृश्यते संख्या । तथाया । एकादशेत्येवमादि । तस्मा-
 द्दृष्टार्थदर्शनादशेत्युच्यते । ‘विंशतिर्द्वादशतः’ । द्विर्दश विंशतिरित्युच्यते । १०
 ‘शतं दश दशतः’ । दैश दशतः समुदिताः शतमुच्यन्ते । ‘सहस्रं
 सहस्रत्’ । सह इति बलनाम तेन तदत् । दुर्बलानामपि सहस्रं
 समुदितं बलवदेव भवति संघातबलीयस्त्वात् । ‘अयुतं नियुतं प्रयुतं
 तत्तदभ्यस्तम्’ । सहस्रं दशकृत्वोऽभ्यस्तमयुतम् । आमिश्रीभूतमयुतमि-
 त्युच्यते । अयुतमपि दशकृत्वोऽभ्यस्तं नियुतमित्युच्यते । नियुतमपि दश- १५
 कृत्वोऽभ्यस्तं प्रयुतमित्युच्यते । अथार्बुदशब्दनिर्विवक्षया अम्बुशब्दं निर्वक्ति ।
 ‘अरणशीलं’ गमनशीलम् ‘अम्बु तैदः’ तस्य दाता मेघः सः
 ‘अम्बुदः’ इत्युच्यते । ‘स यथा’ उदकभावमापद्यमानो ‘महान्
 बहुर्भवति वर्षस्तदिवार्बुदम्’ । तैदपि वर्षेतिव यद्बहु द्रव्यजातं भवति
 तदर्बुदमित्युच्यते । ‘खल इति संग्रामनाम स्खलतेर्वा’ भ्रंश्यैत्यर्थस्य २०
 [धा० १ । ५४५] । भ्रंश्यन्ति हि तत्र योधाः । ‘खलैतेर्वा’ हिंसार्थस्य ।
 हिंस्यन्ति हि तत्र परस्परेण । ‘अयमपीतरः खलः’ धान्यखलः ‘एत-

१ क. ख. घ. ट. ठ. ड. ‘वापीयं ग°’ २ क. ख. ग. ज. संख्या; ठ. ड.
 संख्याकां. ३ क. ख. घ. ट. ठ. ड. दशकृत्वोऽभ्यस्ता या दश ताः समुदिताः
 शतमित्युच्यन्ते । सहस्रं; ट. पुस्तके पुस्तकस्थोऽप्रवे पाठः प्रान्ते लिख्यते. ॥ प. २५
 ट. ठ. ड. ‘नियुतं प्रयुतं’ नास्ति. ५ च. निर्विवक्षया. ६ क. ख. घ. ट. ठ.
 ड. ‘तदः’ नास्ति; ट. ‘अम्बुतस्य’ तदः. ७ क. ख. घ. ट. तदिव वर्षन्
 यदः; ग. ज. तादि वर्षन् तदपि°. ८ क. ख. घ. ट. ठ. ड. खलतेर्वा. ९ ग. च.
 ज. प्रारयत्°. १० ग. च. ज. प्रस्यन्ति. ११ क. ख. घ. ट. ठ. ड. खलतेर्वा.
 १२ क. ख. ग. ज. घ. ट. ठ. ड. हिंस्यन्ते.

स्नादेय ' । तत्रापि हि भ्रक्षन्ति चूर्णमानानि धान्यानि । हिंस्यन्ते वा ।
चूर्णन्त इत्यर्थः । अथवा ' समात्पन्नः ' असौ ' भवति ' विप्रकर्षणो
धान्यैः ।

- ५ ' व्याप्तिर्कर्माण उत्तरे धातवो दश ' । संप्रामे हीतरेतरं व्याप्नुवन्ति
योधा इति संप्रामनामस्य उत्तरे व्याप्तिर्कर्माणः । कतमे पुनस्त इति ।
' इन्वति ननक्षे ' [निघ० २ । १८] इत्येवमादयः । ' तत्र ' दशके व्याप्ति-
कर्मधातुगण एते ' द्वे नामनी ' भवतः ' आक्षाणः ' इति च ' आपानः '
इति च । तत्र ' आक्षाण आश्रुवानः ' । यो ह्यश्रोति व्याप्नोति ॥
आक्षाण इत्युच्यते । तथा च य आप्नोति स आपानानः सन् ' आपानः '
१० इत्युच्यते ।

- १५ ' वधकर्माण उत्तरे धातवस्त्रयस्त्रिंशत् ' । संप्रामे हीतरेतरं व्याप्य
ततो प्रन्तीति व्याप्तिकर्मस्य उत्तरे वधकर्माणः समाप्नाताः । कियन्तः ।
त्रयस्त्रिंशत् । कतमे पुनस्त इति । ' दभोति श्रथति चरति धूर्वति ' [निघ०
२ । १९] इत्येवमादयः । ' तत्र ' वधकर्मधातुमध्ये ' वियात इत्येतत् '
२५ नाम । तत्पुनरेवं निर्वक्तव्यम् । ' वियातयते ' नानाप्रकारं यातयते यः
शत्रून् स वियातः । अथ ' धा ' एवमन्यथा स्यात् । ' विर्यातय ' एव-
मुच्यते यः स्तोतृभिः स वियातः । आखण्डल इत्येतदपि नामैव । निगम-
मपि चात्र दर्शयति । ' आखण्डल ग्रहूयसे ' । आभिमुख्येनावस्थितो यः
खण्डयति मेघान् स आखण्डयिता तस्य संवोधनं हे ' आखण्डयितः ' ।

- २० इरिम्बिठिर्नाम कण्ठो मन्त्रदृक् । तस्येयमार्गम् । गायत्री । ऐन्द्री
रात्रिपर्यायेषु महारात्रिके पर्याये होतुरियं शस्त्रे विनियुक्तौ [आश्व०
श्रौ० ५ । १०] । शौचिगो शाचिपूजनाय रणाय ते सुतः ।
आखण्डल ग्रहूयसे ' [ऋ० सं० ८ । १७ । १२] ॥ शाचिगो इति चैकं
पदम् । शाचीति कर्मनाम [निघ० २ । १ । २२] । तस्य शच्या-

- २५ १ ग. च. ज. भ्रक्षन्ति. २ क. ख. घ. ट. ठ. ड. विप्रकर्षणैः. ३ घ. ट. ठ.
ड. ' कर्माणः । कियन्तस्ते । दश । कतमे '. ४ घ. अश्रुवानः. ५ घ. ' इति '
नास्ति. ६ घ. ट. ठ. ड. यथा. ७ ग. च. ज. ' श्रथति ' नास्ति. ८ घ. विद्या-
तयत्येव '. ९ ग. घ. ट. ठ. ड. ज. स्तोतृभिः शत्रून्स '. १० क. ख. मध्यमरा-
त्रिपर्याये; घ. ट. मध्यरात्रिपर्याये. ११ ग. च. ज. ' युक्ता । १२ । शाचि. '
१२ ग. ज. शाचिगो शाचिपूजन । शाचिगो इति; घ. ट. शाचिगो० ग्रहूयसे.
२१ १३ ठ. ड. ' च ' नास्ति. '

इयस्य कर्मणो येयमिष्टिः पशुसोमादिलक्षणा संततिः सा शाचिः ।
 अथवा स्वार्थिक एव तद्धितः स्यात् । शच्येव शाचिः । तां प्रत्याहूयमानो
 यो गच्छति स शाचिगुरिन्द्रः । तस्य संबोधनं हे^१ शाचिगो इति । तथैव
 शच्या य. आगतः सन् पूज्यते सं शाचिपूजनः । तस्य संबोधनं हे शाचि-
 पूजन । हे^२ आखण्डल आखण्डयितः शत्रूणां मेवानां वा । इयमस्माभिः
 प्रस्तुता शची यां प्रति ते नित्यमिष्टमागन्तुं यया च. पूज्यसे त्वमागतः
 सन् । किंच । एतस्यां च शच्यामस्मिन्कर्मण्ययं रणाय रमेणाय तै तव
 सुतोऽभिषुतः सोमो यतोऽस्माभिस्त्वं प्रहूयसे, प्रकर्षेणादरवद्भिर्हूयस आहू-
 यसे । स एवमेतज्ज्ञात्वास्मदनुप्रहायानतीतकालमागन्तुमर्हसीत्यभिप्रायः ।

आखण्डलशब्देऽल्पतरं वक्तव्यं बहुतरं तडिच्छब्द इति. क्रममेदेनैतौ
 निरूप्येते । ' तडिदित्यन्तिकवययोः संसृष्टकर्म ' । तडिदित्येतच्छब्दरूप-
 मन्तिकाभिधायि बध्नाभिधायि चेत्येकमेव होतदुभाभ्यामर्थभ्यां संप्रयुज्यत ।
 विद्युदपि च तडिदित्युच्यते । सा पुनः कर्तारं कारके ' ताडयतीति
 सतः ' । यथा त्वन्तिफनामेदं तथेयमृगुदाहरणम् ॥ १०^३ ॥

त्वया धर्मं सुवर्धं ब्रह्मणस्पते स्वाहा वसुं मनुष्या दंवी-
 महि । या नो दूरे तळितो या अरतिथोऽमि सन्ति जम्भया
 ता अनप्रसोः [ऋ० ॥ ० २ । २३ । ९] ॥ त्वया धर्मं सुवर्ध-
 पित्रा ब्रह्मणस्पते स्पृहणीयानि वसूनि मनुष्येभ्य आददी-
 महि याश्च नो दूरे तळितो याश्चान्तिकेऽरातथोऽदान-
 कर्मणो वादानप्रज्ञा वा जम्भया ता अनप्रसोऽप्र इति रूप-
 नामाप्रोतीति सतो विद्युत्तडिद्विवतीति शाकपूणिः सा

१ क. ख. ग. ज. घ. ट. ठ. ड. 'मिष्टिपशु'. २ घ. 'हे' नास्ति. ३ क.
 ख. घ. ट. तथैव शाच्यां; ठ. ड. तथैव शाच्यां. ४ ग. ज. घ. ट. ठ. ड.
 'रणाय' नास्ति. ५ क. ए. घ. ट. ठ. ड. 'भेदतो निरूप्यते'; ग. ज. 'भेदेनैतौ
 निरूप्यते. ६ क. ख. ४; ग. ३; च. ज. १४; घ. ट. अद्वो नस्ति; ठ. ड.
 'रण'. इति निरुक्तवृत्तौ भगवद्गुरुकृतौ (ड. पुस्तके ' भगवद्गुरुकृतौ ' नास्ति)
 वृत्तीयाध्याये दशमः खण्डः. ७ क. तडिभो; छ. त. द. तळितो. ८ ड. छ.
 'धर्मित्वा. ९ क. ख. तळितो; छ. त. द. तळितो. १० छ. त. द. तळितः'. २५

ह्यवताडयति दूराच्च दृश्यतेऽपि त्विदमन्तिकनामैवामिप्रेतं
 स्यात् । दूरे चित्सन्तलिद्विवातिं रोचसे । दूरेऽपि सन्नन्तिक
 ह्यव सन्दृश्यस इति वज्रनामान्युत्तराण्यष्टादश वज्रः कस्मा
 ह्यर्जयतीति सतस्तत्र कुत्स इत्येतत्कुन्ततेर्ऋषिः कुत्सो भवति
 ५ कर्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवोऽन्त्राप्यस्य वधकर्मैव भवति
 तत्सख इन्द्रः शुष्मं जवानेत्यैश्वर्यकर्माण उत्तरे धातव-
 श्वत्वार ईश्वरनामान्युत्तराणि चत्वारि तत्रेन इत्येतत्सन्ति
 ऐश्वर्येणेति वा सन्तिमनेनैश्वर्यमिति वा ॥ ११ ॥

- १० त्वया वयं सुवृथा ब्रह्मणस्पत इति । गृहसमदस्यार्पम् । जगती । प्रवैर्ये
 विनियुक्ता [आश्व० ४।६] । हे ब्रह्मणस्पते त्वया वयं सुष्ठु वर्धयित्रा वर्धिता
 अनुगृहीताः सन्तो वसु वसूनि यानि यानि र्ऋहा
 तद्विष्टब्देऽत्रान्ति- स्पृहणीयानि तानि तानि मनुष्या मनुष्येभ्यस्ता-
 काभिधायी नभिभूयादक्षीमहि । किञ्च ! यानो दूरे तल्लितो
 १५ याश्च नो दूरेऽवस्थिता अरातयो याश्चान्तिके ।
 तद्विष्टब्दस्यान्तिकाभिधायित्वम् । दूरे चान्तिके च या अरातयोऽ-
 रातिसेना । रातिर्दानार्थः । अस्माकमभिमतानर्थान्ददतो ये निवारयन्ति
 ते अरातयः । अदानप्रज्ञा यैः । न दातव्यमस्माभिरित्येनं येषां प्रज्ञा ते
 अदानेप्रज्ञाः । द्विविधा हि शत्रवः । दुःखसंनदाद्याः सुखसंनदाद्याश्च । तत्र
 २० ये दुःखसंनदास्तेऽदानप्रज्ञाः । ये अदानकर्माणस्ते सुखसंनदाद्याः । ते
 चोभयेऽपि दूरे चान्तिके चावस्थिता भवन्ति । तान्दूरान्तिकावस्थितानुभया-
 नपि जम्भय स्तम्भय निक्षेष्टान्कुरु त्वं ब्रह्मणस्पते । किञ्च अनमसोऽरूपा-
 श्वैतान्कुरु । 'अम इति रूपनाम' । तर्ह्यधामोत्याश्रयम् ।

- १ छ. त. द. 'तालयति. २ क. तल्लिदि'; छ. त. द. तल्लिदि'. ३ द. 'दृश्य'.
- २५ ४ छ. 'वोऽप्य' ५ क. ख. द. ५; छ. त. १२. ६ क. ख. घ. ट. वयं०
 अनमसः; ठ. ड. वयमिति । गृ. ७ च. प्रवर्गे. ८ घ. ट. ठ. ड. स्पार्हाणि स्पृह'.
 ९ ग. ज. 'स्तानि अभि'; ठ. ड. 'स्तानभिभूयदक्षी'. १० क. ख. तल्लितो; ग. घ.
 ज. घ. तल्लितो. ११ घ. ट. ठ. ड. 'नो' नास्ति. १२ क. ख. घ. ट. ठ. ड.
 'वा' नास्ति. १३ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'भित्तये इत्ये'. १४ घ. ट. ठ. ड.
 'दानकर्माणः. १५ ग. घ. ज. सुखसंनदाद्या दुःखसंनदाद्याश्च (घ. 'नाम्याश्च').
 १६ घ. 'संनदास्ते'. १७ ग. घ. ज. 'ये अदा...संनदाद्याः' नास्ति. १८ ग.
 १२ ज. ठ. ड. दक्षामो'.

‘विद्युत्तडिद्भवतीति शाक्यूणिः’ आचार्यो मन्यते । किं कारणम् । सा ह्यवताडयति अशनिरूपेण । ‘दूरात्’ एव ‘च’ दृश्यते । तस्मान्न तस्यान्तिकनामाभिसंबन्धोऽस्ति । ‘अपि त्विदम्’ अपरेणोदाहरणेन ‘अन्तिकनामैवाभिप्रेतं स्यात्’ । ‘दूरे चित्सन्तलिदिवातिरोचसे’ । ‘दूरेऽपि सन्नन्तिक-इव’ अवस्थितो ‘दृश्यसे इति’ । अत्र दूरेऽपि सन्नन्तिक इवेति स्फुटतरमन्तिकमभिधानत्वम् । न तथा पूर्वस्मिन्मन्त्रे ‘यानो दूरे तल्लितः’ इति । एवमन्तिकनामत्वेन वा विद्युन्नामत्वेन वा वधनामत्वेन वा प्रकरणोपपदे अवश्य यथासंभवं निर्वक्तव्यम् ।

‘यो विश्वतः सुप्रतीकः सदृङ्गसि दूरे चित्सन्तलिदिवाति रोचसे ।

शङ्खाश्चिदन्धो अर्ति देव पश्यस्येग्रं सख्ये मारिपामा वयं तव’ [ऋ० सं० १ । ९४ । ७] ॥ एषा जगती । आग्नेयी । कुत्सेन दृष्टा ।

महान्नत आग्निमारुते शस्त्रे [ऐ० आ० १ । ५ । ३] अभिप्लवस्य च

पष्ठेऽह्न्याग्निमारुत एष । [आश्व० श्रौ० ७ । ७] च शस्यते । यस्य

हे अग्ने विश्वतः सर्वतः सुप्रतीकः सुदर्शनः

अस्यामृचि तडिच्छः शोभनदर्शनः । अपि च सदृङ् । यतो यतो दृश्यसे

द्वोऽन्तिकमिधाय्येव ततस्ततः समानदर्शनस्तुल्य एव लक्ष्यसे । अपि

च । दूरेऽपि सन्नन्तिभ्राजिष्णुत्वात्तडिदिवान्तिक

इवावस्थितोऽतिरोचतेऽतिरोचिष्णुर्दृश्यसे । अपि च । यदेतद्वाग्माश्चिद्रात्र्या

अपि संततम् अन्धः अध्यानलक्षणं तमो यत्र घ्यातुमपि दुःखं

शक्यते किमुत द्रष्टुमेतदप्यतीत्य हे देव सर्वभूतदीपयितव्य पश्यस्येव

त्वम् । न तेऽस्माकमिय तेनान्धेनापि तमसा प्रतिबध्यते दर्शनम् । तस्य

तवैवंगुणयुक्तस्य हे अग्ने वयं सख्ये सखिमावे परिचरणकर्मणि आ

उत्तमादुच्छ्वासात्कृताध्यवसायाः सन्तो मा केनचिद्वशाधिना शत्रुणा वा

रिपाम । मास्मान्कश्चिद्विद्विस्त्रीत्वदनुत्थानादेवेत्यभिप्रायः ।

‘वज्रनामान्युत्तराण्यष्टादश’ । यो हि हन्यते स वज्रेणैवेति वध-

१ क. ख. ग. च. ज. तडिदि°; घ. तलिदि°. २ क. तलितः; ग. च. ज.

घ. तलितः. ३ म. च. ज. न्यम् ॥ १५ ॥ यो°. ४ ग. ज. °प्रतीकः । एषा°;

घ. ट. °प्रतीकः० वयं तव. ५ क. तडिदि°; घ. तलिदि°. ६ घ. ट. ठ. ड. ‘च’

नास्ति. ७ घ. ‘यतः’ सङ्गदेव. ८ घ. दृश्यसे. ९ घ. ट. ‘रोचसे । अतिरोचसे

अतिरोचिष्णु°. १० घ. संकर्मन्धः° संतत; ठ. ड. सतत°. ११ ग. ज. ‘स’

नास्ति.

कर्मभ्य उचराणि वज्रनामानि । कियन्ति पुनस्तानि । अष्टादश । अष्टौ
च दश च । कतमानि पुन स्तानि । 'दिद्युत् नेमिः हेतिः' [निघ० २
२०] इत्येवमादीनि । दिद्युत् यत्तेर्वा योततेर्वा । पुनः पुनरतिशयेन वा
यस्यवखण्डयति योतते दीप्यते वा सा दिद्युत् । अवनामयति खण्डयति
प्रहारेणेति नेमिः । हेतिर्हन्तेऽस्त्येवमादि । आह । ' वज्रः कस्मात् ' ।
उच्यते । ' वर्जयति ' । वियोजयति प्राणैः प्राणिनः । ' तत्र कुंस् इत्ये-
तत् ' संदेहपदम् । अपिरपि कुंस् इत्युच्यते । तत्पुनरेतदघदा वज्रनाम
तदा ' कृन्ततः ' । कृत्यतेऽनेनेति कुंस् ।

कुंस् इत्येतत्संदे- यदा पुनरेतदृष्यभिधानं तदा ' कर्ता स्तोमाना-
१० हपदम् मित्यौषमन्ययः ' आचार्यो मन्यते । ' अत्राप्यस्य
वधकर्मैव ' अभिप्रेतं स्यात् । अत्राप्येतद्वयौ वर्त-
मानमभिधानमस्य ऋषेर्वधकर्मैव वधार्यसंपुक्तमेव स्यात् । किं कारणम् ।
' तत्सख इन्द्रः शुष्णं जघान ' । तेन स्तूपमानो विवृद्धबलः शुष्णं शोष-
यितारं रसानाममुरं मेघं वा जघान । मेघो हि शुष्णः । तदुदये हि
१५ धान्यान्मुदकप्राहनिमित्तेन शुष्यन्ति ।

' ऐश्वर्यकर्माण उत्तरे धातवश्चत्वारः ' । घृतामेव हि वज्रेणापुधेनैवैश्वर्यं
भवतीति वज्रनामभ्य उत्तरे ऐश्वर्यकर्माणः । कतमे पुनस्त ईति । ' इ-
ज्यति पत्यते क्षयति राजति ' [निघ० २ । २१] ।

' ईश्वरनामान्युत्तराणि चत्वारि ' । ऐश्वर्यसंयन्धेनैवोच्यन्ते । कत-
२० मानि पुनस्तानि । ' राष्ट्री अर्यः नियुत्वान् इनः ' [निघ० २ । २२] ।
' तत्र इन इत्येतत् ' अभिधानमेवं व्युत्पादम् । ' सनितः ' संभक्तः ' ऐश्व-
र्येणेति वा ' । अथ वा ' सनितं ' संभक्तं ' अनेनैश्वर्यमिति ' । अधुना
मन्त्रमपि व्याचष्टे यस्मिन्नेतदीश्वरनाम इन इति ॥ ११ ' ॥

२५ यत्रां सुपर्णा अमृतस्य मागमनिमेष्टं विदथांभिस्वरन्ति ।

१ च. पुतेर्वा. २ ग. च. ज. ' पुनः...दिद्युत् ' नास्ति. ३ ग. च. ज.
एत्येतत्. ४ ग. ज. ' औषमन्यव आचार्यो मन्यते ' नास्ति. ५ च. तत्रा.
६ क. ख. घ. ट. ठ. ड. जघानेति. ७ क. ख. घ. ट. ठ. ड. ' इति ' नास्ति.
८ क. ख. ग. घ. ज. प. ट. क्षयति. ९ क. ख. ५; ग. १२ च. ज. १६; द.
१० ठ. अष्टौ नास्ति; ठ. ड. इति । इति निरुक्ता० १०० एकादशः गण्डः

इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमन्त्राविवेश
 [क्र० सं० १।१६४।२१] ॥ यत्र सुपर्णाः सुपतना आदित्यरश्म-
 योऽमृतस्य भागमुदकस्यानिमिषन्तो वेदनेनाभिस्वरन्तीति
 वामिप्रयन्तीति वेश्वरः सर्वेषां भूतानां गोपापितादित्यः स
 मा धीरः पाकमन्त्राविवेशेति धीरो धीमान्पाकः पक्तव्यो ५
 भवति विपक्वप्रज्ञ आदित्य इत्युपनिषद्गर्णा भवतीत्यधिदे-
 वतमथाध्यात्मं यत्र सुपर्णाः सुपतनानीन्द्रियाण्यमृतस्य
 भागं ज्ञानस्यानिमिषन्तो वेदनेनाभिस्वरन्तीति वामिप्रय-
 न्तीति वेश्वरः सर्वेषामिन्द्रियाणां गोपायितात्मा स मा
 धीरः पाकमन्त्राविवेशेति धीरो धीमान्पाकः पक्तव्यो १०
 भवति विपक्वप्रज्ञ आत्मेत्यात्मगतिमाचष्टे ॥ १२ ॥

इति तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

यत्र सुपर्णा इति । त्रिष्टुवेणा । वैश्वदेवे^१ सूक्ते दीर्घतमसा दृष्टा ।
 तृतीयसवने वैश्वदेवे शौखे शस्यते [ऐ० आ० ५ । ३ । २] । १५
 वैश्वदेवेषु हि सूक्तेष्वेकदेवता बहुदेवताश्च मन्त्रा भवन्ति तदनुपेक्षित-
 व्यम् । यत्र यस्मिन्मण्डलेऽवस्थिताः सुपतना आदित्यरश्मयः । ते हि
 यत्र सुपर्णा इत्येत- शोभनमर्थमुद्दिश्य तमोऽर्षचातलक्षणं पतन्ति ।
 स्यामृचि 'इन' शब्द- अथवा शोभमानाः पतन्तीति सुपर्णाः । ते किं
 स्याधिदैवतपरोऽर्थः कुर्वन्ति । उच्यते । अमृतस्य भागमुदकस्या- २०
 मरणधर्मिणो भागं भजनीयमंशमादाय पृथिवी-
 लोकास्तेनान्विताः सन्तः सर्वभूतान्मभिस्वरन्ति । एत शब्दोपतापयोः [धा०
 १ । ९३२] । अभितपन्तीत्यर्थः । अथवामिस्वरन्त्यादित्यमण्डलम् ।

१ छ. त. द. 'सुपर्णाः' नास्ति. २ छ. त. द. 'मिषन्ति. ३ क. ख. द.
 ६; छ. त. १३. ४ छ. य. घ. ठ. ड. 'इति०००पादः' नास्ति; छ. इति २५
 द्वितीयः पादः; त. इति तृतीयाध्याये द्विः; द. इति निरुक्तस्य तृ. ५ ठ. ड.
 'देवसूक्ते. ६ क. ख. घ. ट. ठ. ड. महावते तृतीय'. ७ च. 'शौखे' नास्ति.
 ८ क. ख. घ. ट. ठ. ड. तथोविवात'. ९ घ. ट. ठ. ड. शोभनाः. १० म. ज.
 घ. ट. ठ. ड. अभितपन्ती'.

आभिमुख्येन रसान्गृहीत्वा प्रयान्ति । कथं पुनः प्रयान्ति । अनिमेषम्
 अनिमिषमाणा इव । आदरवन्त इत्यर्थः । विदया वेदनेन विज्ञानेन
 स्वकर्माधिकारयुक्तेनान्विताः सन्त इदमेवास्माभिः कर्तव्यं रसादानादि-
 लक्षणं कर्मेत्यभिस्वरन्ति । यत्रैतदेवंलक्षणं कर्म कुर्वन्त्यादित्यरश्मयस्तत्र
 किमिति । उच्यते । इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः । इन ईश्वरः । इनो
 ह्यसायादित्य ऐश्वर्येण भवति । विश्वस्य भुवनस्य भूतस्य भवति । किञ्च ।
 गोपाः गोपायिता । आदित्यो मण्डलास्तरपुरुषो यस्तत्र मण्डलेऽवस्थितः
 स मा धीरो धीमान्प्रतिविशिष्टया बुद्धयान्वितः । बुद्धिरेव हि तस्य
 शरीरम् । पौकः पक्तव्यः । पक्तव्यप्रज्ञो विपकप्रज्ञः सम्यग्दर्शनोऽनुप्राप्त-
 १० तया आविवेशाविशतु । इतिकरणः प्रैकरणप्रदर्शनार्थ एवमयमुपनिष-
 द्दणो ' मञ्जो भवतीति ' । यद्विज्ञानमुपगतस्य सतो गर्भजन्मजरामृत्यवो
 विनिश्चयेन सीदन्ति सा रहस्या विद्योपनिषदित्युच्यते । उपनिषद्भावेन
 वर्ण्यत इति उपनिषद्पूर्णः । ' अधिदैवतम् ' उक्तम् ।

अथार्घ्यात्मिकच्यते । अधिदैवतमर्घ्यात्ममित्येतौ शब्दौ व्याख्यातौ

१५

तत्रैव तस्या-
 ध्यात्मपरोऽर्थः
 सुपतनानीन्द्रियाण्यवस्थितानि स्वेषु स्वेष्वायतनेषु
 कृष्णसारादिषु । किं कुर्वन्ति । उच्यते ।
 अमृतस्यामरणधर्मणो ज्ञानस्य भागं भज-

नीयं स्वं स्वं रूपादिलक्षणमर्शमादाय विदया वेदनेन विज्ञानेन
 २० युक्तान्यभिस्वरन्ति । न हीन्द्रियाणां चैतन्यमस्तीति । तानि ह्यचे-
 तनानि चैतनस्य पुरुषस्य कर्तुर्विज्ञानमयस्य करणानि । तदधिष्ठात्र्यस्तु
 देवताश्चेतनाः । तदभिप्रायेणोच्यते विदया वेदनेन विज्ञानेनेति ।
 किं कुर्वन्ति । अभिस्वरन्ति अभिर्तपन्ति । विषयेविज्ञानं पुरुषस्य भोक्तुः

- १ क. ख. ठ. ड. 'कथं पुनः प्रयान्ति' नास्ति. २ च. अनिमिषं. ३ ठ. ड.
 २५ रसादानां. ४ ग. ज. पाठः. ५ पक्तव्यः प्रज्ञः । विपकः प्रज्ञः; च. पौकं पक्तव्यं प्रज्ञो
 कः. ५ ग. च. ज. 'प्रकरण' नास्ति. ६ क. ख. घ. ठ. ड. यदा ज्ञानं; ७.
 यदा ज्ञानं दि; च. तद्विज्ञानं. ८ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'वि' नास्ति. ९ घ.
 ट. ठ. ड. 'ध्यात्मम्'. १ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'वतमथाध्यात्म'. १० क. ख.
 घ. ट. ठ. ड. 'स्वयं रत्ना'. ११ क. ख. अभिप्रयन्ति; ग. ज. अभिपतन्ति.
 २० १२ क. ख. घ. ट. ठ. ड. विषयविज्ञानेन पुरुषस्यापि भोक्तृत्वं दर्शयति.

पटुं कुर्वन्ति । अथवा अभिस्वरन्ति बुद्धिमाभिमुख्येन विषयविज्ञानमादाय
बाह्यप्रत्ययाधानार्थं स्वरन्ति । गच्छन्तीत्यर्थः । तत्र किमिति । उच्यते ।
तत्र योऽवस्थित ईश्वर इनः सर्वेषामिन्द्रियाणां गोपायिता य आत्मा
स मा धीरो धीमान् पाकः पक्वव्यः पक्वव्यप्रज्ञो विपक्वप्रज्ञः सम्प्रदर्शी
सर्वज्ञः । सोऽत्रैव हि देहेऽवस्थितो बुद्धयधिदेवताभावेन तेजसादृशो मामा- ५
विवेश आविशत्वनुप्राप्ततया । स मामत्रैवावस्थितोऽनुगृह्णात्वित्यर्थः । तदनु-
ग्रहाद्धि सम्प्रदर्शनं प्रकाशते । तदाशास्यत इति ' आत्मगतिमाचष्टे ' ।
एवमयमात्मविज्ञानमाचष्टे मन्त्रः ।

यत्तदुक्तं ' देवताध्यात्मे वा पुष्पफले ' इति [निरु० १ । २०]

तदेवमुपपाद्यं तत्र तत्र । एक एव ह्यसावादित्य- १०
अधिदैवेऽध्यात्मे चैक मण्डले चाधिदैवतेऽध्यात्मे च बुद्धयधिदेवता-
एव पुरुषः । देवता- भूतः । स एव तत्र तत्रोपेक्षितव्यः । तस्मादमु-
ध्यात्मे वा पुष्पफले ध्यादादित्यमण्डलाद्ये रश्मयः प्रसर्पन्ति ते विश्वे-
इत्यस्यैवमुपपत्तिः देवा इति । ' रश्मयो वै विश्वेदेवाः ' इति
हुक्तम् । अध्यात्मेऽपि ह्यकाशाद्यानीन्द्रियाणि १५
प्रसर्पन्ति त एव रश्मयः । अध्यात्मे त एव च विश्वेदेवा इत्यु-
क्तम् । एवं तत्र तत्र योज्यम् । प्रकारमात्रमेवेदमुपप्रदर्शितं भाष्यकारे-
णेति ॥ १२^{११} ॥

इति निरुक्तवृत्तावर्तमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

१ ग. ज. पटुं कुं; च. पटुं कुं उप. २ घ. ट. ठ. ड. ' वि ' नास्ति. ३ ग. २०
ज. पक्वव्यः प्रज्ञः । असम्प्रदर्शिनमसर्वज्ञं विपक्वप्रज्ञः; च. पक्वव्यो विपक्वप्रज्ञः.
४ क. ख. घ. ट. ठ. ड. ' अधिदैवतामा ' . ५ घ. ट. ठ. ड. ' हायस्य सम्य ' . ६ क.
ख. घ. ट. ठ. ड. ' तत् ' नास्ति. ७ ग. ज. पुष्पफलं; च. पुष्पफलोमिति० ले इ.
८ क. ख. घ. ट. ठ. ड. ' तत्र ' रुद्रदेव. ९ ग. ज. वाधिदैवते; च. चाधिदैवे.
१० घ. ट. ठ. ड. आध्यात्मे. ११ क. ख. घ. ट. ठ. ड. ' च ' नास्ति. २५
१२ क. ख. ६; ग. १२; घ. ट. च. ज. अज्ञो नास्ति; ठ. १२ इति निरुक्तवृत्तौ
वृत्तीयाध्याये द्वादशः खण्डः; ड. १२ खण्डः. १३ ग. च. ज. घ. ट. ठ. ड. ' इति
निरुक्तवृत्तौ ' नास्ति. १४ घ. ट. ' ह्यस्याध्या ' . उ. अयमस्य द्विती०.

बहुनामान्युत्तराणि द्वादश बहु कस्मात्प्रभवतीति सतो
 ह्रस्वनामान्युत्तराण्येकादश ह्रस्वो ह्रस्वतेर्महन्नामान्युत्त-
 राणि पञ्चविंशतिर्महान्कस्मान्मानेनान्याञ्जहातीति शाक-
 पुणिर्महनीयो भवतीति वा तत्र ववक्षिथ विवक्षस
 इत्येते वक्तेर्वा बहुतेर्वा साभ्यासाद्बहुनामान्युत्तराणि द्वाविं-
 शतिर्गृह्याः कस्माद्बहुन्तीति सतां परिचरणकर्माण उत्तरे
 धातवो दश सुखनामान्युत्तराणि विंशतिः सुखं कस्मात्सु-
 हितं खेभ्यः खं पुनः खनते रूपनामान्युत्तराणि पोळंश
 रूपं रोचतेः प्रशस्यनामान्युत्तराणि दश प्रज्ञानामान्युत्तरा-
 ण्येकादश सत्यनामान्युत्तराणि पद् सत्यं कस्मात्सत्सु
 तायते सत्यमथ भवतीति वा अष्टा उत्तराणि पदानि
 पश्यतिकर्माण उत्तरे धातवश्चापतिप्रभृतीनि च नामान्या-
 मिधाणि नयोत्तराणि पदानि सर्वपदसमाम्नानायाथात
 उपमा यदुत्तरस्तद्वृशमिति गार्ग्यस्तवासां कर्म ज्यायसा
 वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वा प्रख्यातं वोप-
 मिमीतेऽथापि कनीयसा ज्यायांसम् ॥ १३ ॥

‘ बहुनामान्युत्तराणि द्वादश ’ । ईश्वराणामेव बहु भवतीतीश्वरनामस्य
 उत्तराणि बहुनामानि । कियन्ति । द्वादश । द्वे च दश च । कृतमानि पुन-
 स्तानि । ‘ उरु तुवि पुरु ’ [निघ० ३ । १] इत्येवमादीनि । उरु
 विस्तारे । यदि बहु भवति तद्विस्तीर्णं भवति । तुवि वृद्धौ । यदि बहु भवति
 वृद्धं तद्ववतीति तुवि । पुरु प्राप्तं च सर्वतो भवति । पूरितमिव हि
 बहुना सर्वं भवतीति पुरु । इत्येवमादि योग्यम् । आह । ‘ बहु कस्मात् ’ ।
 उच्यते । ‘ प्रभवति ’ होतद्बहुभ्योऽपि दीयमानम् ।

- २५ १ क. ख. पोहश; छ. त. द. पोहश. २ छ. ज्यायते. ३ छ. त. वा । १४ ।
 अष्टा; द. वा । १ । अष्टा. ४ छ. त. द. ‘ उत्तरे ’ नास्ति. ५ क. ख. १; उ.
 त. १५; द. २. ६ क. ख. घ. ट. ठ. ड. च द्वादश. ७ क. ख. घ. ट. ठ. ड.
 तद् वृद्धं भा. ८ ग. ज. ‘ तुवि । प्राप्तं ’; घ. ठ. ठ. ड. ‘ तुवि । प्राप्त्यर्थं च ’.
 १९ १ ग. ज. ‘ उच्यते ’ नास्ति.

वहुनामसंबन्धेनैव 'हस्वनामान्युत्तराणि' । कियन्ति । एकादश ।
कतमानि पुनस्तानि । 'कुवित् रिहं हस्वः' [निघ० ३ । २] इत्ये-
वमादीनि । कुवितमिव हि तद्विज्ञायतेऽप्यत्वादिति कुवित् । लीडमिव हि
तदस्यत्वाद्वतीति रिहम् । आह । 'हस्वः' कस्मात् । उच्यते । हसितो
हि भवति स महतः सकाशात् ।

५.

ह्रस्वसंबन्धेनैव 'महन्नामान्युत्तराणि पञ्चविंशतिः' । ह्रस्वापेक्षयैव
हि महत्त्वं भवति । कियन्ति पुनस्तानि । पञ्चविंशतिः । कौनि पुनस्तानि ।
'महः प्रभः श्रध्वः' [निघ० ३ । ३] इत्येवमादीनि । आह । 'महान्
कस्मात्' । उच्यते । 'मानेनान्यान्' ह्रस्वान् जहातीति 'शाकपूणिः'
आचार्यो मन्यते । अथ 'वा महनीयः' पूजनीयो 'भवतीति' महान् ।
बृहत्त्वाद्बृहणत्वाद्वा प्रभः । श्रध्वः रेपणवानित्यादि योग्यम् । 'तत्र'
तस्मिन् महन्नामगणे 'ववक्षिथ विवक्षसे' इत्येते आख्याते । ते पुनरुक्ते
भक्तैर्वा बहतेर्वा धातोः 'साम्यासात्' ।

१६.

य एव हि महान्तस्त एव गृहिणो भवन्तीति महन्नामस्य 'उत्तराणि
गृहनामानि' । कियन्ति पुनस्तानि । 'द्वाविंशतिः' । कतमानि पुनस्तानि
'गयः कृदरः हर्म्यम्' [निघ० ३ । ४] इत्येवमादीनि । गर्भत एतदिति
गयः । कृदरः कृतदरः । हर्म्यं हरणमिलेवमादीनि । आह । 'गृहाः
कस्मात्' । उच्यते । ते हि यावदेव किञ्चिदाडियते तत्सर्वमेव 'गृहन्ति'
दुःपूरत्वात् ।

१५

गृहध्वेवावस्थिताः पारिचर्यन्ते पारिचरन्ति चेति गृहनामस्य 'उत्तरे
पारिचरणकर्माणो धातवः' समाम्नाताः । कियन्तः पुनस्तः इति । दद्य ।
कतमे पुनस्तः इति । इत्येति विभेम सपर्यति [निघ० ३ । ५]
इत्येवमादयः ।

२०

१ क. स. रिहं; ग. च. ज. रिहं; प. ट. ठ. ड. लीडं-२ क. स. रिहम्;
प. ट. ठ. ड. लीडं-३ क. स. प. ट. कतमानि. ४ क. स. महत्. ५ ग. ज. २५.
महन्नामगणे. ६ क. स. प. ट. पुनरुक्ते. ७ प. ट. ठ. ड. कृदरः गतः हर्म्यम्.
८ प. ट. ठ. ड. 'गम्यते...मादीनि' नास्ति. ९ क. स. कृतदरः कृदरः; प.
कृत-१० द. १० ग. च. ज. 'तत्' नास्ति. ११ प. ट. ठ. ड. चेति. १२
क. स. प. ट. ठ. ड. 'इति' नास्ति. १३ ग. च. ज. इत्येति; प. ट.
इत्येति.

परिचर्यमाणानामेव हि सुखं भवतीति परिचरणकर्मभ्य 'उत्तराणि सुखनामानि' । कियन्ति पुनस्तानि । त्रिंशतिः । कृतमानि पुनस्तानि । 'शिम्बाता शतरा शातपन्ता' [निघ० ३ । ६] इत्येवमादीनि । शिम्बाता । सुखानुबन्धाद्धि द्दमग्नानामिव शरीरं शीतीभवति^१ । शतरा । शीतलतरमिव हि जलादपि सुखम् । शातपन्ता । शान्ततापमेव हि सुखमित्येवमादि । आह । 'सुखं कस्मात्' । उच्यते । सुष्ठु हितमेतत् 'खेभ्यः' इन्द्रियेभ्यः । 'खं पुनः' इन्द्रियं 'खनतेः' धातोः । अवदीर्णमेव हि तस्य श्रोत्रादेः कर्णाद्यापतनं भवति ।

१० 'रूपनामान्युत्तराणि षोडश' । य एव हि सुखिनस्त एव रूपवन्तो भवन्तीति^२ सुखनामभ्य उत्तराणि रूपनामानि । कियन्ति पुनस्तानि । षोडश । षट् च दश च । कृतमानि पुनस्तानि । 'निर्णिकृ वन्तिः वर्षः' [निघ० ३ । ७] इत्येवमादीनि । निर्णिकृमिव हि तद्वदति तैजसत्वात् । विवृणोत्याश्रयमिति घग्निरित्येवमादि । 'रूपं रोचतेः' । दीप्यमानमिव हि तत्प्रकाशं भवति ।

१५ 'प्रशस्यनामान्युत्तराणि दश' । य एव हि रूपवन्तस्त एव प्रशस्या भवन्तीति रूपनामभ्य उत्तराणि प्रशस्यनामानि । कियन्ति पुनस्तानि । दश । कृतमानि पुनस्तानि । 'अस्त्रेमाः अनेघः अनिन्यः' [निघ० ३ । ८] इत्येवमादीनि । अस्त्रेभ्यः अपाप इत्यर्थः । अनेघः अनिन्दनार्हः । इत्येवमादि योज्यम् ।

२० 'प्रज्ञानामान्युत्तराण्येकादश' । य एव हि प्रज्ञावन्तस्त एव प्रशस्या भवन्ति य एव च प्रशस्यास्त एव हि प्रज्ञावन्तो भवन्तीति प्रशस्य-

१ प. ट. शिवाता. २ कं. ख. प. ट. ठ. ड. 'नुयंयन्धा'. ३ प. ट. ठ. ड. 'भवतीति. ४ ग. ज. शान्ततापता (ज. त) पमेव'; ख. शान्ततापतेमेव पानामि. ५ क. ख. घ. ट. 'शति' नास्ति. ६ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'धीवादेः' नास्ति. ७ क. ख. घ. ट. ठ. ड. एव हि. ८ ग. ख. ज. 'इति' नास्ति. ९ प. ट. ठ. ड. च षोडश. १० ग. ख. ज. निर्णिकृ'; प. ट. ठ. ड. निर्णिकृ । निर्णिकृ', ११ घ. 'काराकं. १२ क. ख. प. ट. ठ. ड. अस्त्रेमाः । त्रिदु गतिशोषणयोः (पा० ४।३) । न क्षीयति गच्छत्पकीर्तितित्यधेमाः । अपाप इत्यर्थः । क्षयप्रतिशब्दो वा । अने'. १३ ख. [द्वादश. १४ क. ख. घ. ट. ठ. ड. एव हि. १५ क. ख. प. ट. ठ. ड. हि; घ. 'घ' नास्ति.

नामभ्य उत्तराणि-प्रज्ञानामानि । कियन्ति पुनस्तानि । एकादश । एकं च दश चै । कतमानि पुनस्तानि । 'केतः केतुः चेतः' [निघ० ३ । ९] इत्येवमादीनि । कित ज्ञाने [घा० ३ । १९] । तस्य केतः । केतुरपि तस्यैव ।

'सत्यनामान्युत्तराणि पद' । य एव हि प्रज्ञावन्तस्त एव हि सत्य-
यादिनो भवन्तीति प्रज्ञानामभ्य उत्तराणि सत्यनामानि । कियन्ति पुन-
स्तानि । पद । कतमानि पुनस्तानि । 'वट् श्रत् सत्रा' [निघ० ३ । १०]
इत्येवमादीनि । बद्धमिव संबद्धं सैद्धतेनार्थेन भवतीति वट् । श्रवणोर्ह-
मेतद्भवतीति श्रत् । एवमादि । आह । 'सत्यं कस्मात्' । उच्यते ।
'सत्सु तायते' । सत्स्येव हि तत्तायते विस्तीर्यते । न हि सतां समीपे
शक्यमनृतं वक्तुम् । अथ 'वा सत्प्रभवं भवति' । य एव हि सन्तस्त
एव हि सत्यं वदन्ति ।

'अष्टौ' यानि 'उत्तराणि पदानि' चिक्यदित्येवमादीनि [निघ०
३ । ११] ते पदयत्यर्थाश्चै 'धातवश्चायति-
'पश्यतिकर्माणो प्रभृतीनि च' तान्येव 'नामानि' भवन्ति ।
धातवश्चायतिप्रभृती- तानि पुनरेतानि 'आमिश्राणि' । संसृष्टानी-
नि च नामानि' त्वर्थः । तेषां प्रकरणोपपदाभ्यां विशेषावधारणं
इत्यस्य द्विविधं विवर- भवति तत्र कुत्र किञ्चिन्नाम कुत्र किञ्चिदाख्या-
णम् तमित्येवमेके मन्यन्ते । अन्ये पुनः 'चिक्यत्
चन विचर्षणिः विश्वचर्षणिः' इत्येतानि
नामानि । यान्यन्यानि परिशिष्टानि ते धातवः । तानि पुनरेतानि पूर्वा-
चार्यप्रामाण्यादामिश्राणि पठ्यन्त इत्येवं मन्यन्ते ।

'मेव' यानि 'उत्तराणि पदानि' 'हिकं मुकं नुक्तम्' इत्येवमादीनि
'आकृतम्' इत्येवमन्तानि [निघ० ३ । १२] सर्वपदसमाप्तानां ।

१ च. द्वादश. २ च. दे. ३ क. ख. प. ट. ठ. ड. च एकादश. ४ ग. ज. संबद्धं सत्यभूते. ५ घ. ट. ठ. ड. संबन्धं सत्यभूते. ५ च. 'हमेतज्' मेव.
६ च. विस्तार्यते. ७ ठ. भवतीति. ८ च. चिक्यमित्ये. ९ क. ख. प. ट. ठ. ड.
'च' नास्ति. १० क. ख. प. ट. ठ. ड. 'कुत्र' नास्ति. ११ ठ. ड. 'परं'
नास्ति. १२ घ. ट. ठ. ड. अन्ये तु पुनः । किम् । चिक्य. १३ च. 'विचर्षत्'
कथं. १४ घ. ट. ठ. ड. न च. १५ ग. च. ज. 'नुक्तं' नास्ति.

कथं नाम सर्वं चतुर्विधं पदप्रकारमेतस्मिन्सामान्याये समाम्नातं स्यादित्येव-
मर्थम् । एष्वेव हि नवसु समाम्नातेषूपमये निपातोपसर्गा दर्शिता भवन्ति ।

‘अथात उपमाः’ । अथ इदानीम् अतः अनन्तरमुपमा
भवन्ति । तद्यथा । ‘इदमिव इदं यथा अग्निर्नये चतुरधिददमानात्
ग्राहणा व्रतचारिणः वृक्षस्य नु ते पुरुहूत व्याः जार आ भगम्
मेघो भूतोऽभि यज्ञयः तद्रूपः तद्रर्णः तद्वत् तथा ’ [निघ०.

३ । १३] । एता उपमाः । सामान्यलक्ष-

गार्थकृतमुपमा- णमासां प्रवीति । ‘यदतत्तत्सदृशमिति मार्थः’ ।

लक्षणम् यत्किञ्चिदर्शजातम् अतद्भवति तत्स्वरूपं च ।

यथा । अग्निः खद्योतोऽग्निस्वरूपश्च । सोऽ-

ग्निनोपमीयतेऽग्निरिव खद्योत इति । एवमेतत्तत्स्वरूपेण गुणेन गुण-
सामान्यादुपमीयत इत्येवं गार्थ आचार्यो मन्यते । ‘तदासां कर्म’ ।

स आसामुपमानामर्थो यदप्रसिद्धतरगुणस्य कस्यचित्प्रसिद्धतरगुणेनान्येन
गुणप्रकाशनम् । कचित्पुनैरात्मनाप्युपमानं भवत्येव । तद्यथा । ‘वायुरात्मो-

पमगतिः’ । ‘तथा करोति सैन्यानि यथा कुर्याद्धनंजयः’ इति ।

‘ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वाऽप्रख्यातं चोप-

मिमीते’ । ज्यायसा वैत्कृष्टेन गुणेन यो यास्मिन्

तदेव यास्कृष्टम् द्रव्य उत्कृष्टो गुणस्तेन कनीयांसम् अनुत्कृ-

ष्टगुणमुपमिमीते । तद्यथा । सिंहो माणवकः । सिंहो

शौर्यमुत्कृष्टमनुत्कृष्टं माणवके । तेनोपमिमीते सिंह इव माणवको विक्रान्तः

इति । प्रख्याततमेन वाऽप्रख्यातमुपमिमीते । तद्यथा । प्रख्याततम-

श्चन्द्रमा अप्रख्यातो माणवकः । तं तेनोपमिमीते चन्द्र इव फान्तो

माणवक इति । ‘अथापि’ कचित्कनीयसा गुणेन ‘ज्यायांसम्’

अपि सन्तमुपमिमीते । तदेतच्छन्दस्येव द्रष्टव्यम् । आह । किमुदाहरणम् ।

उच्यते ॥ १३ ॥

१ ग. ज. ‘गिरूप’ । २ ठ. ड. एवमेत’ । ३ ग. च. ज. पुनर्आत्म’ । ४ क.

ख. घ. ट. ठ. ड. ‘तद्यथा’ नास्ति । ५ ग. ज. घ. ट. वा उत्कृष्टेन । ६ क.

ख. घ. ट. ठ. ड. ‘पमीयते’ । ७ क. ख. घ. ट. ठ. ड. ‘मुत्कृष्टं माणवकमेते-

नोप’ । ८ घ. ट. ठ. ड. पमीयते । ९ घ. ट. ‘पमिमीयते’ । १० क. ख. ११ ग.

१२ च. १५ घ. ज. ट. ड. अशो नास्ति; ठ. ॥ १३ ॥ इति । निरुक्तवृत्तौ

१२ तृतीयाध्याये त्रयोदशः खण्डः

तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम् ।
 तनूत्यक्तनूत्यक्ता वनर्गू वनगामिनावग्रिमन्थनौ बाहू तस्क-
 राभ्यामुपमिमीते तस्करस्तस्करौ भवति यत्पापकमिति नैरु-
 क्तास्तनोतेर्वा स्यात्संततकर्मा भवत्यहोरात्रकर्मा वा । रश-
 नाभिर्दशभिरभ्यधीताम् । अभ्यधीतामित्यभ्यधातां ज्याया-
 स्तत्र गुणोऽभिप्रेतः ॥ १४ ॥

तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम् । इयं ते अग्ने
 नव्यंसी मनीषा युक्त्वा रथं न शुचयर्द्विरक्षैः [ऋ० सं० १० । ४ ।
 ६] ॥ त्रितस्येयमाप्यस्यार्षम् । त्रिष्टुप् । प्रातरनुवाकाश्विनयोः शस्यते १०
 [आ० सू० ४ । १३] । तनूत्यजा तनूत्यक्ता चौर्योभिप्रायेण हर्तव्यं वा
 मर्तव्यं वेति कृताभ्यवसायौ तस्करौ वनर्गू वनगामिनौ मार्गमो-
 पकौ प्रसृतौ । ताभ्यामुपमिमीते । तौ यथोपमार्थत्वेन सुपुष्टौ भवतौ
 न तथा ग्रामतस्करौ । तौ यथा कंचिदध्वगं
 अस्यामृचि ज्याया- वग्रीयातां रजैवमेतावस्मद्बाहू रशनाभिरङ्गुली- १५
 सौ बाहू कनीयोभ्यां भिर्दशभिर्दशसंख्यायोगिनीभिरभ्यधीतां प्रतिनि-
 तस्काराभ्यामुपमिमीते वग्रीर्तिः । अभिनिवप्य चाग्रिमन्धनयोक्त्रेणा-
 धराण्युत्तराणीभूतं त्वां तस्कराविव कंचिदध्वगं
 गाढं बद्धा मुमृशमाकर्षतः । किमर्थं पुनरेवं मध्यसेऽस्माभिः । हे अग्ने
 इयं यस्मान्नव्यंसी नवतरा अन्यैः स्तोतृभिरदृष्टपूर्वा युष्मद्गुणैः संस्कृत्य २०
 विवक्षिता तव मनीषा स्तुतिः प्रथानसंयुक्ता । स त्वमेतज्ज्ञात्वा एवम-
 भिमध्यमानोऽस्माभिर्युद्धं योजयामानमरणी प्रति अरणिभ्यां शुचयाद्भि-
 र्दीप्यमानैः स्वैरङ्गैर्जालाख्यैः । कथंपुनर्योजय । रथं न । यथा कश्चित्कुत-

१ क. ख. छ. त. द. 'स्तस्करोति यत्पाप'. २ क. ख. छ. त. द. 'अभ्य-
 धीतामिति' नास्ति. ३ क. ख. २; छ. त. १६; द. ३. ४ ग. ज. 'त्यजेव
 तस्करा । त्रित'; घ. ट. 'त्यजेव तस्करैः । त्रित'; ठ. ड. 'त्यजेव । त्रित'.
 ५ ग. ज. तन्वै त्यक्तरा; घ. तन्वै त्यक्तरा. ६ ग. ज. 'थोपमानं सः (ग. ती) भवेत्'.
 ७ घ. ट. ठ. ड. 'दशभिः' नास्ति. ८ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'वग्रीताम्. ९ घ.
 'रेव मध्य'. १० ग. ज. 'दशान'. ११ ग. ज. अर्याग्नां.

श्विदाजिगमिषुः शीघ्रं रथं योजयेद्देवमेवावतरणाय त्वमात्मानमाभ्यामरौणि-
भ्यां योजय । मा नो यज्ञविघ्नं कार्षीरित्यभिप्रायः । 'तनूत्यक्तनूत्यक्तौ'
इत्यर्थः । 'वनर्गु वनगामिनौ' । 'तत्र हि तयोश्चौयं सिध्यति । एवम-
स्यामृचि 'अग्निमन्थनौ बाहू' प्रशस्तौ 'तत्कराम्याम्' अप्रशस्ता-
म्यामुपमिर्मति' मन्त्रद्वक् ।

'तत्करस्तत्' एव करोति यत् एव 'पापकं' भवतीत्येवं
'नैरुक्ताः' मन्यन्ते । वैयाकरणानां पुनरन्यथापि स्यात् । स हि
'संततकर्मा भवति' । रात्रौ ग्रामे मुष्णाति दिवारण्य एवम् 'अहोरा-
त्रकर्मा' । एतदेव 'चै तत्संततकर्मत्वम् । रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम्
इति । एवमत्र बाहोः 'ज्यायान् गुणोऽभिप्रेतः' तयोः प्रशस्तत्वात् ।
अप्रशस्तत्वात्तत्स्फुरयोः कनीयान् । द्वितीयमुदाहरणमेतस्मिन्नेवार्थे ।
'अथापि कनीयसा ज्यायांसम्' इति ॥ १४ ॥

कुहं स्विहोपा कुहं वस्तोरभ्विना कुहंमिपित्वं करतः
कुहोपतुः । को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषां
कृणते सधस्य आ [अ० सं० १० । ४० । २] ॥ कस्वि-
द्वात्रौ भवथः क दिवा क्वाभिप्रातिं कुरुथः क वसथः को
वां शयने विधवेव देवरं देवरेः कस्माद्वितीयो वर उच्यते
विधवा विधातृका भवति विधवनाद्वा विधावनाद्देति चर्म-
शिरा अपि वा धव इति मनुष्यनाम तद्विधोगाद्विधवा
देवरो दीव्यतिकर्मा मर्यो मनुष्यो मरणधर्मा योषा यौतेरा-
कुरुते संहस्थानेऽथ निपाताः पुरस्तादेव व्याख्याता पथेति

१ क. ख. प. ट. ठ. ड. 'आत्मानं' नास्ति. २ क. ख. ग. ज. घ. ट. ठ.
ड. 'रौणिभ्यां'. ३ क. ख. प. ट. यज्ञे विघ्नं. ४ ग. च. ज. 'त्यक्तेत्यर्थः'. ५ घ.
ट. 'च' नास्ति. ६ क. ख. प. ट. ठ. ड. 'शस्तत्वाच्च तत्क'. ७ क. ख.
ग. १८; च. ज. १८; घ. ट. अहो नास्ति; ड. ड. ॥ १४ ॥ इति निरुक्त-
वृत्तौ (रु. नैरुक्तभाष्ये) तृतीयाध्याये चतुर्दशः खण्डः. ८ छ. ग. द. 'मातं'.
९ उ. त. 'देवः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते' नास्ति. १० घ. सधस्यां स;

२९ त. सधस्यां धस्यां.

कर्मोपमा । यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजंति ।
 भ्राजन्तो अग्नयो यथा । आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा
 जीवगृध्रो यथा । आत्माततेर्वातिर्वापि वास इव स्याद्याव-
 द्धातिमूत इति । अग्निर्न ये भ्राजंता रुक्मवक्षसः ।
 अग्निरिव ये मरुतो भ्राजमाना रोचिष्णूरस्का भ्राजस्वन्तो
 रुक्मवक्षसः ॥ १५ ॥

कुह स्विरोपति कश्चीवर्तो दुहिता घोषा नाम । तस्या इयमार्धम् ।
 आश्विनी । जगती । प्रातरनुवाकाश्विनयोः शस्यते [आश्व० श्री०
 ४ । १५] । हे अश्विनौ कुहस्विरोपा । क नु युवां रात्रौ भवथः । कुह
 वस्तोः । के वा दिवा भवथो युवां येन नापि रात्रावस्माकं दर्शनमुपगच्छथो
 नापि दिवा । स्विदिति परिदेवनायामीर्ष्यां वा ।

अस्यामृचि देवरेण कनीयसा ज्यायांसाव-
 धिनावुपमीयेते विध-
 वया च यजमानः ।
 क वाभिपित्वम् अभिप्राप्तिं स्नानभोजनाद्यर्थं
 कुरुथः । कुह बोपतुर्वसथः । सर्वथा न विज्ञायते
 वामागमनप्रवृत्तिः । किंच । को वां शयुत्रा । कतमो
 युवां यजमानः शयुत्रा शयने । किम् । विधवेव
 देवरम् । यथा विधवा मृतभर्तृका काचित्छां

शयने रहस्यतितरं यजन्वती देवरमुपचरति । स हि परकीयत्वानार्था दुरा-
 राध्यंतरो भवतीति यजेनोपचर्यते न तथा निजो भर्ता । तस्मात्तेनोपमी-
 येते अश्विनौ । मयं मनुष्यं देवरं सैव मृतभर्तृका योषा आ कृणते आभि-
 मुख्येन कुरुते । को वामेवमाभिमुख्येन सहस्थाने समाने सहयोगिना-
 वात्मना कृत्वा परिचचार येनेह नोपमत्तवन्तौ स्योऽस्मदर्शनामिति । एव-
 मस्यामृचि देवरेण कनीयसा ज्यायांसावधिनावुपमीयेते विधवया च
 यजमानः ।

‘विधवा विधातृका भवति’ । धात्रा धारयिता पोषयिता वां भर्ता ।

१ छः ते. द. ‘मरुतो भ्राजमाना रोचिष्णूरस्का’ नास्ति. २ छ. ख. ३;
 छ. त. १७; द. ४ ३ घ. क. ठ. ड. ‘क’ नास्ति; ट. ‘वस्तो वा’ स्तोः क
 वा; ग. ज. ‘वा’ नास्ति. ४ ग. ज. ‘भ्राजत. ५ ग. च. ज. दुराणपतरो.
 ६ क. ख. घ. झ. ट. ‘इति’ नास्ति. ७ क. ख. घ. झ. ट. तथा मयं.
 ८ ग. च. ज. ‘भवति’ परो भर्ता स तस्यां. ९ ट. ‘वो भर्ता’ परो.

स तस्या विगत इति विवेका । 'विषयनादा' । सा हि मर्त्यमरणेन
विधूता कम्पितेव भवति । 'विभावनाद्वा' । सा हि मर्त्यरभावादननु-
रूप्यमाना तेन तत्र विभावतीत्येवं चैर्मशिरा आचार्यो मन्यते । 'अपि
या धव इति मनुष्यनाम' । तद्वियोगाद्विधवा । 'देवरः' इत्येव शब्दो
दीर्घ्यस्यार्थः । स हि मर्त्यभूता नित्यकालमेव तया भ्रातृभार्याया देवनाथं
व्रियत इति देवर इत्युच्यते । 'मर्यो मनुष्यः' । स हि 'मरणधर्मा' ।
'योपा यौतेः' मिश्रणार्थस्य [धा० २ । २३] । सा हि मिश्रवत्या-
त्मानं पुरुषेण साकम् । 'आकुर्वते सहस्थाने' समानस्थाने । आभि-
मुख्येनात्मनः कुरुते परिचरणाय ।

१० 'अथ निपाताः' । अथायसा कनीयान्कनीयसा च ज्यायानुपमीयत इति
सामान्यमुक्तम् । अधानन्तरं ये निपाताः समाप्ता यथा 'अग्निर्न ये'
इत्येवमादयस्ते स्वावसरप्राप्ताः । ते च पुनः 'पुरस्तादेव व्याख्याताः'
[निरु० १ । ४—११] सामान्यतः । विशेषत इदानीमुदाहरणतो
व्याख्यायन्ते । तत्र 'यथेति' एषा 'कर्मोपमा' । किमुदाहरणम् ।

१५ 'यथा वातो यथा यनं यथा समुद्र एजन्ति' एषा

यथेति कर्मोपमा । त्वं दशमास्य सहोर्ध्वेहि जरायुणा । [ऋ० सं०
तस्या उदाहरणम् ५ । ७८ । ८] ॥ सत्तयधिरात्रेयोऽप्येवदेना-
मनुष्टमम् । गर्मानुमन्त्रणे विनियुक्ता । यथा

वातत्रनसमुद्रा एजन्ते कम्पन्त एव त्वं हे दशमास्य दशमाससंभूत गर्भ
एतस्मान्मातुरदराददुःखयन्नेतामेजंश्चोर्ध्वेहि भवोर्ध्वेहि सह जरा-

१० युणा उत्त्वेन । प्रजापत्य या रथास्त्रमेतस्मिन्नुदर इत्याभिप्रायः ।

अपरमुदाहरणम् । 'अंश्रमस्य केतवो वि रमयो जनो अनु ।

१ क. स. प. स. ट. ठ. ड. 'विन्वा' नास्ति. २ क. ख. ग. ज. 'दनु०'.

३ ठ. ड. 'चर्मशिरैति । चर्म'. ४ ग. घ. ज. 'वीर्यतीत्यर्थः'. ५ ग. ज. 'मेवं'.

६ ग. घ. ज. 'आहुते'. ७ प. ट. ठ. ड. 'सगास्थाने'. ८ घ. स. ट. ट. ड. 'य'

नास्ति. ९ क. ख. प. स. ट. 'सो प्रतापोऽस्य'. १० ग. घ. ज. 'णम्'. ११ ।

यथा'. ११ क. ख. प. स. ट. ठ. ड. 'दयत्'. १२ ग. ज. 'अनुष्टुप्'.

१३ प. स. ट. अशब्दः. १४ ग. घ. ज. 'णम्'. १५ । अह'.

१६ १५ ग. घ. ज. थ. स. ट. केतव इति । प्रह'.

भ्राजन्तो अग्रयो यथा' [ऋ० सं० १ । ५० । ३] ॥ प्रस्कण्वस्यार्यम् ।

गायत्री । सौर्षोऽनयातिग्राह्यो गृह्यते पृथगस्य

तस्या एवान्य- षष्ठेऽहनि [मैत्रा० सं० १ । ३ । ३३] ।

दुदाहरणम् अदृश्रमस्य केतवः । रश्मयः विविधा दृश्यन्तेऽस्य

भगवतः सूर्यस्य । प्रज्ञानसतत्त्वास्ते हि

तपोऽपहस्य सर्वाणिनां प्रज्ञानमभिव्यज्यन्तीति त एव केतव इत्यु-

च्यन्ते लक्षणया । अथवा प्रकाशसतत्त्वास्त इति साक्षादेव केतुशब्दस्तेषु

स्यात् । केतुरिति विज्ञानमुच्यते । विज्ञानं च पुनः प्रकाशः । प्रकाशसतत्त्वा-

श्चेत इति केतव उच्यन्ते । अथवा केतव इव सर्वतोदिशमुच्छ्रिता आदिस-

मण्डले । ध्वजो हि केतुरित्युच्यते । के पुनस्त इति । रश्मयः । ते पि

कुर्वन्ति य एवमुच्छ्रिता इति । उच्यते । जनान् अनु तिष्ठन्ति गच्छन्ति

तमास्पृहन्तुमन्याधोपकारान्कर्तुमोपधिपाकादीन् । कथं पुनरनुतिष्ठन्ति ।

भ्राजन्तो दीप्यमानाः । कथम् । अग्रयो यथा । येन प्रकारेणाग्रयो

भ्राजन्ते तथा भ्राजन्तोऽनुतिष्ठन्ते ।

अपरमुदाहरणम् । 'यदिमा वाजयन्तहधोर्ध्वहस्तं आदधे । आत्मा

यहमेव नश्यति पुरा जीवगुणो यथा' [ऋ०

तस्या एव तृती सं० १० । ९७ । ११] ॥ आर्यैर्ध्वो भियक् ।

यमुदाहरणम् तेनेयमोपधिसूक्ते दृष्टा । अनुष्टुप् । एतेन पुन-

रुपतसो दीक्षित एकविंशतिभिर्ध्वदर्मपिञ्जल-

मिश्राभिरङ्गिरभिषिष्यत उपतपोऽपान्वयर्थम् [आश्व० धौ० ६ । ९] । अनेनैर्ध्व

सूक्तेनाग्निचर्यनैक्षेत्रं प्राग्वारण्याभिरुपधिभिर्व्युष्यते [मैत्रा० सं० ३ ।

२ । ९ ॥ सौ० सं० ९ । २ । ९] । यद्यदाहमिमा ओपधीर्हस्ते

आदधे आधाय च संनिकर्षेऽपि तिष्ठामि रोगिण एता ओपधीः वाजयन्

पूजयेन् । स्तुवंन्नित्यर्थः । अथ तदैव तदनन्तरमेव पुरैव तांस्तमोपधीनां

१ प. स. ट. ठ. ड. छीरी । धौर्ध्वः । २ ग. च. ज. 'रश्मयो विविधाः'

नास्ति. ३ क. ख. ग. ज. इत्युच्यन्ते. ४ ख. हस्ते. ५ क. ख. प. झ. ट. ठ. ड. 'इति' नास्ति. ६ ग. च. ज. 'णम्' । २१ । यदि. ७ ग. च. ज. प. ट. 'यमहमेति । आथ' (ग. ज. अथ). ८ झ. ठ. अथ. ९ क. ख. 'पिञ्जली-

मिमा'; प. झ. ट. ठ. ड. 'पिञ्जलीभिर्मिमा'. १० प. झ. ट. ठ. ड. उपशा-

न्य'. ११ ग. ज. 'नैवे च. १२ झ. झ. ट. ठ. ड. 'यदनादूर्ध्वं क्षेत्राणां'. १३ च. प्रपूजयन्.

प्रयोगादस्मत्स्तुत्युन्नीतमोपधिर्वीर्यमसह्यं मन्वान आत्मा यक्षमस्थ यक्षमणो
नश्यति रोगस्यापुनरागमनाय । कथं पुनर्नश्यति । यथा जीवगृभो
जीवग्राहस्य पुरैव हननादहतस्यैव जीवो नश्येद्विषादादेवैवमात्मा रोग-
स्यापि पुरैवौषधिप्रयोगान्नश्यतीत्यभिप्रायः ।

५ निगमप्रसक्तमुच्यते । ' आत्माततेर्वा ' । सर्वमेव हि तेनातितं भवति
सर्वगतत्वात् । ' अस्तेर्वा ' । सर्वमेव हि तेन व्याप्तं भवति सर्वगत-
त्वादेव । ' अपि वात्त इव स्याद्यावद्व्याप्तिभूत इति ' । अपि चैवमन्यथा
स्यात् । आसौ व्याप्त इव ह्यसौ कार्यकरणेन स्यात् । किं च सर्वगतत्वेऽपि
सति यावन्मात्रमेव तस्य कार्यकरणेन व्याप्यते तावन्मात्रभूत एवासौ
२० लक्ष्यते । तावन्मात्रे हि प्रदेशे तस्य चैतन्यशक्तिरभिव्यज्यते तत्तायसि
दर्भमुष्टिप्रक्षेपादन्यभिव्यक्तिर्वादिति । सूक्ष्मेण हि स्थूलं व्याप्यते न स्थूलेन
सूक्ष्मम् । स्थूलं च कार्यकरणम् । सूक्ष्म आत्मा । तस्मादिवशब्दः ।

१५ ' यथा ' ' अग्निर्न ये ' ' चतुरध्विदमानात् ' इत्येव समाम्नायानु-
क्रमः [निघ० ३ । १३] । अत्र ' अग्निर्न य ' इत्यस्य निघण्टुमैत्रस्य
' दुर्भदासो न सुरायाम् ' [निरु० १ । ४] इत्यनेनैव गतार्थतेति मन्यमानाः
केचिदत्र निगमं नाधीयते । अपरे पुनः समाम्नायानुक्रमोऽयमिति मन्यमाना
एतेभ्यः निगममधीयते । ' अग्निर्न ये भ्राजता रुक्मवर्क्षसो वातासो न स्वयुजः

२० उपमावाचकस्य मघजंतयः । प्रज्ञातारो न उपेष्टाः सुनीतयः
नेतिनिपातस्योदाहर- सुशर्मणो न सोमो ऋतं यते [ऋ० सं०
णम् १० । ७८ । २] ॥ भार्गवस्य स्पर्मरंभे-
रियमार्थम् । मारुती । जर्मती । अग्निरिय ये

- १ क. ख. 'दशमस्तुनी' ; ग. ज. 'दशमानस्तुन्यु' . २ ग. ज. 'रौपोधि' . ३
च. 'नातितं' त; ठ. 'नाततं . ४ क. ख. प. झ. ट. ठ. ड. सर्वगत्वात् . ५ क. ख.
२५ घ. झ. ट. ठ. ड. कार्यकारणसंबातेन; च. कार्यकरणेन संबाते . ६ ग. ज. घ. झ.
ट. ठ. ड. तत्तायसिः लादर्भ . ७ च. 'वदिति' द; घ. झ. ट. ठ. ड. 'दिति हि ।
सूक्ष्मेण' . ८ घ. ट. झ. ड. स्थूलं च व्या' . ९ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. कार्य-
करणम् . १० क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'अव' नास्ति . ११ क. ख. घ. झ.
ट. ठ. ड. 'ण्टुमन्यस्य . १२ घ. झ. ट. ठ. ड. एतमेव . १३ ग. घ. ज. 'यने
॥ १२ ॥ अग्नि' . १४ ग. घ. ज. घ. ट. ठ. ड. 'वदतः । भार्गवस्य' . १५ क.
२६ ख. 'वप्रद्व्योहि' ; १६ ग. च. ज. गर्वा .

आजिष्णुतया रोचनाः । यथा केचित्प्रकरणेण रुक्मवक्षसो रोचिष्णु-
रस्काः मरुतः । किं च वातासो न स्वयुजः सद्युक्तयः । वाता इव
स्वयुजः । स्वेन स्वेनानुग्रहेणानुरूपेणानुग्राह्याणां स्तोतृणां योजयितारो ये
ते स्वयुजः । किं तोषाम् । वाता इव ते सद्युक्तयः । शीघ्रगतय इत्यर्थः ।
किं च । प्रज्ञातारो न ज्येष्ठाः सुनीतयः । यथा केचित्प्रकरणेण ज्ञातारः सु-
नीतयः स्युः प्रज्ञास्तया नीत्यान्विता एवमेतऽपि मरुतः । बलप्रधाना हि ते
इत्यतः प्रज्ञावद्विरूपमीयन्ते । सुसुर्मणो न सोमा ज्ञतं यते । सुमुखाः
सुबन्धव इव सन्तु सोमाः सौम्याः ज्ञतं यते ज्ञतं यज्ञं कर्तुमिच्छते यज-
मानाय । य एवंगुणयुक्ता मरुतो भवन्ति तान् वयमभिप्रेतार्थसिद्धये स्तुम
इति वाक्यशेषः ।

चिदित्ययमपरो निपात उपमार्थो भवति । पुरस्तादप्ययमुक्तः
‘दधिचिदित्युपमार्थे’ [निरु० १ । ४] । इदानीं तु समाश्रयविशेष-
व्याख्यानावसरप्राप्तस्य छान्दसमुदाहरणमस्य प्रदर्श्यते । कतमप्युनस्तदिति ।
उच्यते ॥ १५ ॥

चतुरश्रिहृदमाणाद्विमीयादा निधातोः । न दुरुक्ताय
स्पृहयेत् [ऋ० सं० १ । ४१ । ९] ॥ चतुरोऽक्षान्
धारयत इति तद्यथा कितवाद्विमीयादेवमेव दुरुक्ताद्विमी-
यान्न दुरुक्ताय स्पृहयेत्कदाचिदा इत्याकार उपसर्गः पुरस्ता-
देव व्याख्यातोऽथाप्युपमार्थे दृश्यते । जार आ मगम् ।
जार इव मगमाद्विधोऽश्च जार उच्यते राज्ञेर्जरपिता स
एव मासां तथापि निगमो भवति । स्वसुजारः शृणोतु
न इत्युपसमस्य स्वसारमाह साहचर्यादिसहरणाद्वापि त्वयं
मनुष्यजार एवाभिधेतः स्यात्स्त्रीमगस्तथा स्याद्भजतेर्भय
इति भूतोपमा । भेषो भूतो ३ भि यज्ञयः । भेषो भिषते-
स्तथा पशुः पश्यतेराशिरिति रूपोपमा । हिरण्यरूपः स
हिरण्यसंहगयाज्ञयास्तेदु हिरण्यवर्णः । हिरण्यवर्णस्त्वेवास्य

१ प. स. ट. ठ. ड. रोचमानाः. २ क. स. घ. झ. ट. ठ. ड. केनापि-
त्यर्कः. ३ घ. झ. ट. ठ. ड. ज्ञातारः । ज्येष्ठाः पूज्याः सुनी. ४ घ. स. ट.
ठ. ड. ‘दित्ययमुप’; च. इति नारित. ५ घ. ट. ठ. ड. ‘सो प्राप्त’. ६ क.
ख. ३; ग. च. ज. २३; घ. ट. अत्रो नारित; ठ. ड. १५ । इति-निरुक्तपूर्वो
उ. निरुक्तभ. ध्ये) शृणीयाधमये पञ्चदशः सङ्ख्यः. ७ छ. त. द. चतुर्भिर्जातयः. ८२

रूपं था इति च । तं प्रत्ययां पूर्वथां विश्वथेमथा । प्रत्य
इव पूर्वं इव विश्व इवेम इत्येवमेततरोऽमुष्मादसावस्त-
तरोऽस्मादमुथा यथासाविति व्याख्यातं वदिति सिद्धोपमा ।
ब्राह्मणवद् वृषलवत् । ब्राह्मणा इव वृषला इवेति वृषलो
वृषशीलो भवति वृषाशीलो वा ॥ १६ ॥

चतुरैर्बिदमानात् । मित्रावरुणार्थिणां तृचे घोरपुत्र एतां गायत्रीम-
पश्यत् । चतुरोऽक्षान्धारयमाणास्तिवक्तिवो विभीषाक्षिमपि पति-
ष्यते तदन्यद्वा किञ्चित्तेन मामयं जेष्यतीति । निहितेषु न तन्मा भयं
भवति यथा कितवर्षं प्राङ्निधानात् । एवं
चित् इत्यस्यो- सर्वदेव दुरुक्तादिर्भाषात् । उद्दिजेदित्यर्थः ।
पमार्थं उदाहरणम् तथा तथा वर्तेत यथा यथा दुरुक्तं न शृणुमान्
ब्रूयात् । दुरुक्ते हि वरुणो देवता । तस्मान्न
दुरुक्ताय स्पृहयेत्कदाचिदपि । किंतु सूक्तमेव हि शृणुयाद्भूयाच्च । तत्र हि
मित्रो देवतार्थमा च ।

‘ब्राह्मणा व्रतचारिणः’ इत्येतदुपरिष्ठाद्व्याख्यास्यते ‘संघस्तरं शश-
याना’ इत्येतस्मिन्मन्त्रे चतुर्दशोऽध्याये [निर० ९ । ६] ।

‘वृक्षस्य नु ते पुरुहूत मयाः’ इत्येतत्पुस्तकाद्व्याख्यातम् [निर० १ । ४] ॥

‘आ इत्याकार उपसर्गः’ । स पुनरेव ‘पुरस्तादेव ध्यास्यात्’ ‘आ
इत्यर्वागर्थे’ । नि० १ । ३] इति । ‘अथापि’

आ इत्ययं कदा- अयमेवाकारः कदाचित् ‘उपमार्थे’ अपि,
चिदुपमार्थे ‘दृश्यते’ । तद्यथा । ‘जार आ भगम्’ इति ।

किमुक्तं भवति । ‘जार इव भगम्’ इति । आह ।

कोऽयमत्र जार इत्युच्यते । ‘आदित्योऽत्र जार उच्यते’ अस्मिन्मन्त्रे ।

१ छ. त. द. ‘इत्ये० शीलो वा’ नस्ति. २ क. ख. ४ (१६); छ. त.
१८; द. ५. ३ क. ख. चतुर स्पृहयेत् । मित्रा°; प. ट. चतुरभिदं स्पृहयेत् ।
मित्रा°; ठ. ड. चतुरभिदिते । निशा°. ४ क. ख. ‘यात् सोऽन्यः कितवो
विभी°; य. ज. ‘यात् यो विभी°. ५ क. ख. ट. ठ. ड. दति°; व. विपिति° प.
२१ ६ न. ज. किञ्चनष्ट°. ७ क. ख. य. द. ट. ‘एत’ नास्ति.

त हि 'सत्रेर्जरयिता' । तदुदये हि रात्रिर्जरयति । विपरिणमतीत्यर्थः ।
 'स एव भासाम्' । चन्द्रादीनां या भासस्ता अपि स एव उद्यन् जरयति ।
 'उदीरय पितरां जार आ भगमियंस्तति हर्षतो हृत् इष्यति । विवक्ति
 वहिः स्वपस्यते मलस्तंविध्यते अमुरो वेपते मती'

आ इत्यस्यो- [ऋ० सं० १०।१।१६] ॥ अङ्गपुत्रो हविर्धान
 पमार्थे उदाहरणम् एतया जगत्या अग्निमस्तौत् । पितृमेधे विनि-
 युक्ता । हे भगवन्ममो सर्वगतं सन्तमविशेषस्थ-
 मात्मानं विशेषात्मलाभाय उदीरय उद्गमपैवारणी पितरी प्रति । अधवा
 पावापुष्यौ पितरौ स्यातामहोरात्रे वा । ते प्रति विशेषात्मलाभायोपगमलय
 त्वमात्मानम् । कथं च पुनरुदीरय । जार आ भगम् । जार इव भगम् । जार
 आदित्यो यथा भगं भजनीयं भौममान्तरिक्षं च रसं स्वं वा ज्योतिरूर्ध्वमीरय-
 त्वेवं त्वमात्मानं पितरौ प्रत्युदीरय । कस्मापुनरेयमादरवाञ्छवामि । यस्मा-
 देय यजमानः इत्यक्षति यष्टुमिच्छति देवान्हर्यतः हवींषि प्रेम्सतः । न च
 त्वदत् इर्ग्या शक्येयम् । त्वमेव हि प्रतिविशिष्टं यज्ञसाधनम् । सर्वमन्यत्-
 नेव गुणभूतम् । किञ्च । अयं यजमानो हृत्तः हृदयेन इष्यति इच्छत्या-
 मनोऽभिलषिताम्कामान् । न च देवाननिष्टा शक्यशस्ते प्राप्नुमि-
 त्यतो ज्ञवामि देवयागाय यजमानकामप्राप्तये चोदीरय त्वमात्मान-
 मिति । किञ्च । अयमपि वहिः यज्ञबोदा होता स्वपस्यते यजमानाया-
 भीष्टकामोपविषादपियया देवसित्तर्पयियया च तत्सूतये जगदनुदहाय
 च ऋषिभिः । कर्म कृपमाणमिच्छते विवक्ति । अतो ब्रवीम्या-
 त्मानमप्युदीरय पितरी प्रति विशेषात्मलाभाय । किञ्च । मलैस्तविध्यते

१ क. ख. प. स. ट. ठ. ड. जीयते. २ ग. घ. ज. जरयति । ३४ उदी.
 ३ प. ट. पितरां वेपते मती. ४ ग. घ. भगम् । अङ्क. ५ क. ख. आङ्गिराःपुत्रो;
 ठ. ड. आङ्गिरात् अङ्क. ६ क. ख. प. स. ट. ठ. ड. 'मधोपस्य'. ७ घ.
 'पावा' नास्ति. ८ क. ख. प. स. ट. ठ. ड. 'मधोपस्य'; घ. ज. 'वृते ज्या श'; स. सके-
 ज्येयम् । इत्या शक्यते पठः । त्वमे'; ट. संकयेयम्' इज्या शक्यते इति पाठा-
 न्तरम्. ९ क. ख. ग. घ. प. स. ट. ठ. ड. 'तत्' नास्ति. १० क. ख. घ. ज.
 प. स. ट. ठ. ड. 'विपुति विवक्ति च अतो'. ११ घ. विवक्ति मलः कानादयः ।
 अप्युदीरयति पितरी प्रति. १२ घ. 'किञ्च । मलः' नास्ति; ट. मलं मलः
 साधारणं इति पाठान्तरम्.

परिसमाप्तिं यास्यत्युपक्रमादारभ्यापवर्गात् । अतो ब्रवीम्युदीरय त्वमात्मान-
मिति । किंच । अयमप्यध्वर्युः अमुरः असुमान्प्रज्ञावान् अतिकुशलं ऽ-
स्मिन्यज्ञकर्मणि वेपते मती मत्या वेपते प्रोक्तम्पमानहृदय आस्ते सादरः

प्रह्वीभूतोऽपि नामायमुदीरयेदात्मानं ततोऽहमेन-

अमुर इति कोऽ- चञ्चकर्म तनुयामिति । अतो ब्रवीम्युदीरय
भिधीयते त्वमात्मानमिति । अपि वा अमुरो-ब्रह्मा । स

हि त्रयीविद्योपजनितप्रज्ञानः । अपि बौद्धाता-

अमुरः । स हि प्राणेनासुना तद्वान् । उद्गानस्य प्राणवृत्त्यधीनत्वाद्विशेष-
णम् । अपि वा यज्ञाधिदैवतैवान्वादिदैवेतामुर इत्यनेन तस्या आनन्त-

र्यात् । अपि वा सर्व एवैते यजमानादयोऽन्वादिश्वेरन् सर्वेषां प्रकृतत्वा-
दसुराः । अमुरो वेपत इति सर्व एते यजमानादयोऽसुमन्तो मतिभिर्वेपन्ते

प्रोक्तम्पमानहृदया आस्ते शुष्मदात्मोदीरणप्रतीक्षा अपि नामायमग्निह-
दीरयेदात्मानं ततो नोऽभिप्रेतार्थसाफल्यं स्यादिति । अतो ब्रवीम्युदीरय

त्वमात्मानमरण्यादीनां पितृणामन्यतमौ पितरौ

अग्नेः कौ पितरौ प्रति । अपि बैतावेव पितरौ दम्पती यजमाना-
वान्याधेयेन तत्र जननसंबन्धेन पितरौ । हे

भगवन्मे तावैतौ यज्ञफलविपरिणामकाल एतस्मिन्प्रत्युरस्थिते देवयानेन
वा पितृयानेन वा मार्गेणोदीरयोद्गमय यथाप्रार्थितफलप्राप्तये । समान-
मन्यद्वक्ष्ये पूर्वैर्गैवार्थेन ।

यथादित्यो जारज्ञान्देनोच्यते ' तथापि ' अयं ' निगमो भवति '
इति । अन्येऽपि बहवः इत्यपिशब्दः । ' मातु-

अस्यामृन्यादित्यो दिधिषुर्ममं स्वमुर्जारः शृणोतु नः । भ्रातेन्द्रस्व

जारः सखा मम ' [ऋ० सं० ६ । ५५ । ५] ॥

एषा गायत्री । भरद्वाजस्यार्षम् । ' एहि वां

२५ १ ग. च. ज. ' अमुरः ' नास्ति. २ क. र. घ. स. ट. ठ. ड. उद्गातृत्वस्य.

३ क. ख. घ. ट. ' दिश्यतेऽमुरः '. ४ क. ख. स. अमुरः अहुराः वेपते वेपन्त

इति । सर्वः; घ. ट. ठ. ड. अमुरा वेपते वेपन्त इति । सर्वः. ५ ग. ज. सुप-

तिभिः; च. सुमतिभिः. ६ क. ख. घ. स. ट. ठ. ड. पत्नीयजमाना. ७ क. ख. घ.

' वति । अधन्ये; स. ' वति । यथान्ये; ट. ' वति । अथान्ये' इत्यः. ८ ग.

१० च. ज. ' शब्दः । २५ । मातु'.

विमुक्तो नृपादावृणो [ऋ० सं० ६ । ६५] इत्येतस्मिन्पौष्णे सूक्ते ।
भातुः दिधिषुम् । माता रात्रिरादित्यस्य । स हि भगवान् रात्र्या जघने
प्रातरुदेति कुमार इव स्त्रियाः प्रसवकाले । तेन ज्ञायते रात्रेरेवासौ
जायते इति । अतो रात्रिर्माता । तस्याः स एवं धारयिता रोद्धा । तं
भातुर्दिधिषुं धारयितारमहम् अग्रवम् उक्तवानस्मि यन्मेऽभिप्रेतम् । स

एव चादित्यो मम सखा समानरूपानः । यथै-

आदित्यस्य होतुः बाहमेतस्मिन्पौष्णे जगदनुग्राहके कर्मण्यभिप्रवृत्त
आदित्यस्य का एवमसावपि तापप्रकाशपाकरसादानवर्पादिदृक्षणे
कर्मणि जगदनुग्राहकेऽभिप्रवृत्त इत्येतस्मादावयोः

समानरूपानत्वम् । स य एवं मम समानरूपानो मध्यमस्य च इन्द्रस्य
भाता उदकभागहर्ता । अथवा मध्यमस्यैवोदकेन भर्तव्यः । तेन हासौ
दीप्यते । स पुनः किं करोतु । यच्च पूर्वमहमग्रं तच्च साधयतु यच्च
सांप्रतं वयं ब्रूमस्तच्च शृणोतु नः । श्रुत्वा तदपि साधयत्वमिषायः ।

स्वसृजार् इत्येतस्मिन्पौष्णे स्वसृजान्देन मन्त्रेण
आदित्यस्य का ' उपसमाह ' । आह । केन पुनः सामान्ये-
स्वप्ना कथं च नेति । उच्यते । ' साहर्चर्याद्रसहरणाद्वा ' ।

भाता स्वप्ना साकं बाल्ये नित्यमेव चरति तथा
चोपसा साकमादित्य इत्येतत्सामान्यम् । आदित्यो हि पूषा । ' अर्थ
यद्रस्मिपोषं पुष्यति तापूषा भवति ' इति हि वक्ष्यति [निरु० १२ ।
१६] । तस्मात्पौष्ण एतस्मिन्पौष्णे जारत्वमेतदादित्यस्य दर्शितम् । रसहर-
णाद्वोषाः स्वसास्योदित्यस्य । आतृत्वस्तोः सहेभोजनाभिप्रायं सामान्यम् ।

१ ग. घ. ज. तस्य. २ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ' तस्य । यत्र एवं'. ३
क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ' सृजनः अतो मध्य'. ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
' नोतु । भुत्वा च तद्'. ५ घ. झ. ट. ठ. ड. ' अथ केन'. ६ ग. घ. ज.
' चर्यादा रत्'. ७ घ. झ. ट. ठ. ड. ' त्रित्योऽपि हि'. ८ ट. अथर्त्तद्' य; ठ. ड.
अथवा रात्रि'. ९ क. ख. घ. झ. ट. ' स्नात्वा १'. १० घ. ' त्वमिमेन्द्रा'.
११ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ' अथ । नास्ति. १२ क. ख. घ. झ. ट. ड.
संभोज'; ट. ' संभोज' छइ.

‘अपि त्वयं मनुष्यजार एवामिप्रेतः स्यात्’ । अप्यादित्यसर्वपि मनुष्य-
जारः पारजायिक इत्यपिशब्दः । अयमेवास्मि-

अत्र जारशब्देन नम्रं ‘उदीरय पितरा जार आ भगम्’

मनुष्यजार एवामि- इत्यभिप्रेतो मन्त्रदृशो नैरुक्तानां वा स्यात् ।

५ प्रेतः स्यान्नादित्यः ‘तथा’ पुनः सति ‘स्त्रीभगः’ एव ‘स्यात्’ ।

भगः ‘भजतेः’ सेवनार्थस्य [धा० १ ।

१०२३] । स हि सेव्यते मैथुनार्थिभिः पुरुषैः । जारो मनुष्यः ।

स हि परकीयां स्त्रियं भोगेन सर्वाङ्गिकेण निर्दयो भूत्वा जरयति
विपरिणामयति म्लानरूपां करोति न तथा निजो भर्ता । तं च

१० दृष्ट्वा तद्दर्शनैवोदीरितं एव स्त्रिया भग उपस्थः पुरुषशिश्रसंप्रयोगोत्कण्ठ-

‘तयाद्रौभवति । ‘तथैवमरणयोक्त्रादिहस्तान्मान्युष्मन्मिथियूदृष्टोदीरय
‘त्वमात्मानं हे भगवन्नग्ने इत्येवं योज्यं जारशब्दे मनुष्यविषये सति ।

‘मेघ इति भूतोपमा’ । मेघ इत्येवा भूतशब्देनोपमा । ‘मेघो भूतो-

भि यन्नयः’ इत्येव निगमः । निगमप्रसक्तमुच्यते । ‘मिपो मियतेः’

१५ दर्शनार्थस्य । पर्यायप्रसक्तमुच्यते । ‘तथा पशुः पश्यतेः’ इति । पश्यति

द्वौ । ‘इत्था धीवन्तमद्रियैः काण्वं मेघ्यातिथिम् । मेघो भूतोऽभि

यन्नयः’ [ऋ० सं० ८ । २ । ४०] ॥

भूतोपमाया उदा- काण्वस्यैव मेघ्यातिथेरोर्मम् । ऐन्द्री गायत्री । हे
हरणम् । अद्रिवः अद्रिवन् वज्रिन् इत्था अमुना प्रकारेण

२० मेघो भूतः । ‘इत्यम्’ अनेन शब्देनामुनेत्ये-

तच्छब्दपर्यायवाचिनाभिगमनप्रकारमेतस्मादेव मन्त्रदृग्दर्शनाद्विज्ञायाभिनयेन

मन्त्रदृग्वर्तमानः काण्वो मेघ्यातिथिर्दिशयति । हे अद्रिवन् एवमन्येकल्पान्त-

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. ‘तु’ नास्ति. २ च. ‘द्रिक्चिन्. ३ क. ख. घ.

अ. ट. ठ. ड. दृष्टान्तदर्शनैवो०. ४ क. ख. घ. ङ. ट. ‘उदीरय । यथैव

२५ स्त्रिया’; ठ. ड. ‘उदीरित एव यथैव स्त्रिया’ ५ ग. ज. ठ. ड. ‘योगात् आद्रौ’;

प. ङ. ‘योगात् आद्रौ’; ड. ‘योगात् आद्रौ’ कण्टतया. ६ ग. घ. ज. दृष्टो

॥ २६ ॥ इत्या’ ७ ग. घ. ज. ‘द्रिवः । काण्व’; घ. ङ. ट. ‘द्रिवः० मि

यन्नयः; ठ. ड. कट् न पठ्यते. ८ क. ख. ग. ज. मेघ्यानि’; घ. मेघ्याति’ धा.

९ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. ‘तिथेतिथिनाम्न. १० च. कण्वो. ११ ग. ज.

२० मेघ्याति’; घ. मेघ्याति’ धा. १२ प. ङ. ट. ‘मन्यः कल्पान्त’.

रीणमेव मेध्यातिथि धीवन्तं कर्मवन्तं प्रज्ञावन्तं वा अभिर्यन् आहूतो याज्ञे
कर्मण्याभिमुख्येनाभ्युच्यतैर्बहद्विदायैः यन् गच्छन् आह्वानसमन्तरमेधावि-
ट्म्वमानो मेधो भूतो मेध इव किञ्चिदप्युत्तरमनुवन् तं गौरवावनतमित्या
अनेन प्रकारेण अयस्त्वम् आप्तवानसि । न च तदस्माकमप्रत्यक्षम् । एत-
स्मादेव मन्त्रदर्शनादखिलं तद्विजानीमो वयं यतोऽतो ब्रूमः । अपवृत्ते
संस्मिन्काण्डे मेध्यातिथौ संहान्यमन्वन्तरीणैरधिकारिभिरिदातोमस्य मतो-
रन्तरेऽयमेधातिथिप्रापकेण कर्मणा मेध्यातिथिपदं तदहं प्राप्तवान् ।
सोऽहं ब्रूवे । यास्ताः काण्डमेध्यातिथिद्वारेण स्तुतयो नित्याः प्रादुर्भवन्ति
ता एताः सांश्रुतमपि वर्तेते । स त्वमेताः शुश्रूषूर्हर्षापि चास्मत्प्रतानि प्रति-
जिघृक्षुः पूर्वकाण्डमेधातिथिवदस्मानप्यस्येहि किमर्थं वा नाम्भेषीत्य-
मिप्रायः ।

‘ अग्निरिति ’ एषा ‘ रूपोपमा ’ । ‘ हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदर्शपां-
नपात्सेद् हिरण्यवर्णः । हिरण्ययात्पारि योर्नानिर्णया हिरण्यदा ददापन्नमसौ ’

[ऋ० सं० २ । ३५ । १०] ॥ गृत्समदस्ये-

रूपोपमाया उदा- यमार्पम् । त्रिष्टुप् । अपांनपादेवता । कुम्भेष्टकौ-
हरणम् पधानेऽग्निचयने विनियुक्ता [मैत्रा० सं० २ ।
१३ । १ ।] । हिरण्यरूपः हिरण्यसमानरूपः ।

अपि च । सः अपांनपात् मध्यस्थानो वैद्युतोऽग्निरादित्यस्य पुत्रोऽप्यं नत्ता ।
प्राष्टृकाळे धर्मातीर्णा प्रजानामत्रार्थिनीनां च हिरण्यसंदर्क् हिरण्यमिव
संदृश्यमानः प्रीतिजनकः । अपि च । स एव हिरण्यवर्णः हिरण्यमिव
वरणीयः प्रार्थनीयो भूतानाम् । य एवंगुणयुक्तोऽपानपात्सि किं करो-
त्रिति । हिरण्ययात्तेजोमयात् योनेः आदित्यार्हयोद्विनिर्गम्य पारिनिपद्य-

१. च. मेध्याति° या. २. ग. ज. धीवन्तं, ३ ठ. ड. अभिर्यन्. ४ घ.
(अतो) नास्ति. ५ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘ अन्य ’ नास्ति. ६ ग. ज.
मेध्याति°; च. मेध्याति° या°. ७ ग. ज. घ. झ. ट. ठ. ड. मेध्याति°; च. २५.
मेध्याति° या. ८ घ. झ. ट. ठ. ड. ‘ ताः ’ नास्ति. ९ ग. च. ज. ‘ पमा
॥ २७ ॥ दि०. १० ग. घ. ज. घ. ट. ठ. ड. ‘ संदर्शति । गृत्स ’. ११ क.
घ. झ. ठ. अपाश्रयात्. १२ घ. ट. ठ. ड. मध्यमस्था°. १३ घ. ट. ठ. दि०-
पमा°; ठ. ड. अरमात्पदात्माक् ‘ हिरण्ययात्पारि ’ इत्यर्थं वदन्ते. १४ क.
ख. घ. ट. आदित्यादिनिर्गम्य (घ. ट. ‘ गम्यत्य ’).

सर्वतो निषय मध्यस्थाने व्याप्यान्तरिक्षलोकमध्रजालेन । हिरण्यदाः इत्येकं पदं विसर्जनीयान्तम् । हिरण्यदाः हिरण्यदाता । सोऽर्पानपात् परिनिषय ददति दैवात् अन्नम् अन्नहेतु उदकम् अस्मै यजमानायेति । ' समुद्रा-
दूर्भिर्मधुमां उदारदित्वादित्यमुक्तं मन्यन्ते ' [तिरु० ७ । १४] इत्ये-
तस्मादर्शनादपां पुत्र आदित्यः ' आदूतो अग्निममराद्विवस्वतः ' [ऋ० सं० ६ । ८ । ४] इत्यतश्चादित्यस्यापि वैद्युतोऽग्निः पुत्र इत्येवमसावपा-
नपात् अपां नप्ता ।

' धा ' इत्ययं चौर्षमाशब्दः । आह । किमुदाहरणम् । उच्येते ।
' तं प्रानथां पूर्वथां विश्वयेमथां ज्येष्ठतांति बर्हिपदं स्वर्बिदम् । प्रतीचीनं

१० वृजनं दोहसे गिराशुं जयन्तमनु यासु वर्षसे ' [ऋ० सं० ९ । ४७ । १] ॥ अवत्सौरः पञ्चदशचं सूक्तमपश्यद्वैश्वदेवम् । तस्मिन् वैश्वदेवे सूक्ते

प्रथमासेवेतां जगतीमपश्यत् । वैश्वदेवेषु च सूक्ते-

अस्य मन्त्रस्य ध्वेकदेवता अपि मन्त्रा भवन्त्येव । बाह्वृष्ये वाज-

तासु तासु शाखासु पेये सप्तदशे शस्त्रे विनियुक्तेषु [आश्व०

१९ मित्रा मित्रा देवताः श्रौ० ९ । ९ । ११] । चरकाध्वर्ययः पुनरनया मन्थिनं गृह्णन्ति [मैत्रा० सं० १ । ३ ।

११] । तेषां पुनः श्रुतिः । ' प्रजापतेर्वा एते चक्षुषी यच्छुक्रामन्थिना-
वसावादित्यः शुक्रध्वन्द्रमा मन्थी ' [मैत्रा० सं० ४ । ६ । ३ ॥

काठ० सं० २७ । ८] इति । एवं चन्द्रदैर्वतोऽयं मन्त्रः । अपि वा ' तस्मै

२० सूर्याय सुतमाशुहोत ' [मैत्रा० सं० १ । ३ । १२] इति ह्यनमन्त्रे सूर्यश्रवणात्सूर्यदैर्वतोऽयम् । शौनकस्तु द्वाशतये समाभ्यासे मन्त्रदेवता

अनुक्रममाणः ' को नु वां मित्रायरुणौ ' [ऋ० सं०

५ । ४१] इत्यत आरभ्य ' वैश्वदेवान्ये-

शौनकमतम् कादशसूक्तानि ' [बृहदे० ५ । ३६] इत्य-

२५ वोचत् । तेषां ' तं प्रानथा ' इत्येतच्चतुर्थं सूक्तम् ।

१ ष. ट. ठ. ड. ' सर्वतो निषय ' नास्ति. २ ष. ट. ठ. ड. ददाति.

३ ष. ट. ठ. ड. ' च ' नास्ति. ४ च. बोपमा. ५ ग. च. ज. उच्यते ॥ २८ ॥

तं. ६ ग. च. ज. ठ. ड. पूर्वथा विश्वयेमयेति । अव. ७. ट. पूर्वयेति ।

अव. ७ ठ. ड. त्सारऋषिः पञ्च. ८ ग. ज. चन्द्रदेव. ९ क. ख. घ. ङ.

१० ट. ठ. ड. हरिराशु. ११ क. ख. ग. ज. सूर्यदेव. १२ क. ख. घ. ट. ठ. ड.

' इति ' नास्ति.

तेन तन्मत्या वैश्वदेव एष मन्त्रः स्यात् । वाजसनेयिनां पुनरनया शुक्रो
गृह्यते [वा० सं० ७ । १२ । शत० ब्रा० ४ । १ । ६ । ९] । स
च ' सा प्रथमा संस्कृतिः ' इत्यनेनैन्द्रेण हूयते [शत० ब्रा० ४ ।
१ । ६ । २७] । तेन तेषामैन्द्रेण एव । चारके पुनराच्यवे श्रुतिः
शुक्रामन्थिनोः । ' तस्मादेतावन्यदेवैस्तौ गृह्येते अथेन्द्राय हूयेते ' [मैत्रा०
सं० ४ । ६ । ३] इति । तेनै जायते यद्यपि हवनमन्त्र ऐन्द्रो मन्थिन-
स्तथापि ग्रहणमन्त्रो नैन्द्र इति । स एष सर्वथाप्येवं दूरवधारेदेवतो मन्त्रोऽ-
निरुक्तदेवतालिङ्गत्वात् । शण्डामर्कयोस्त्वसुरपुरोधसोः संमोहनार्थमनेनानि-
'रुक्तदेवतालिङ्गेन मन्त्रेणान्यतरः शुक्रामन्थिनोर्गृह्यते । ' शण्डामर्कौ वा
असुराणां पुरोहितावास्ताम् ' इत्युपक्रम्य ' तावेतौ शुक्रामन्थिनाववृणा-
ताम् ' इत्युक्त्वा ' तावपनुयाथेन्द्रायानुहुतुः ' [मैत्रा० सं० ४ । ६ ।
३] इत्युक्तम् । तस्मात्तावनेनानिरुक्तदेवतालिङ्गेन मन्त्रेण संमोह्येते । सौम्यो
वा स्यादयम् । सोमो ह्युच्यते मन्थिपात्रेण शुक्रपात्रेण गृह्यमाणो गृहीतो
वा सप्तदशशस्त्रशंसनाभिप्रायेण । हे भगवन् सोम तमिन्द्रं वा वैश्वदेवं
गणं वा ज्येष्ठराजं ज्येष्ठदीप्तिम् । अथवा ज्येष्ठः श्रेष्ठः सर्वेषां देवानामिन्द्रः
स यस्य राजा सोऽयं ज्येष्ठराट् वैश्वदेवगणस्तं ज्येष्ठराजम् । बर्हिपदम् ।
बर्हिष्याहूतो यज्वभिर्भ्यः सीदति स बर्हिपत् तं बर्हिपदम् । स्वरिव यो
दृश्यते सः स्वर्देक् तं स्वर्दशम् । सूर्यसमानदर्शनमित्यभिप्रायः । आरां
शीघ्रं जयन्तं जेतव्यान्सुरादीन् । तन्नेवंगुणसंयुक्तमिन्द्रं वैश्वदेवं वा गणं हे
सोम यैस्तु यास्वनुवर्धसे पुनः पुनः संस्क्रियसे स त्वं क्रियासु ताम्
तार्त्थैवस्थितस्त्वं गिरा स्तुत्या सहितस्त्वं प्रतीचीनं यज्ञाभिमुखमिन्द्रं वैश्वदेवं
वा गणमवस्थाप्य स्वर्धर्धेण तर्पयित्वास्मै यजमानाय वृजैनं धनं दोहसे
धोक्षि प्रक्षारयसि । वैश्वं पुनर्धोक्षीन्द्रं वैश्वदेवं वा गणम् । प्रत्यथा

१ क. स. घ. ट. ठ. ड. 'वन्द्यमैन्द्र'. २ ग. ज. तस्मादेव तो अन्य'; ठ.
ड. तस्मादेव तावन्व'. ३ क. स. घ. ट. ठ. ड. 'वन्द्यदेवतो गृ'; ग. घ. ज.
'वन्द्यदेवतो'. ४ ग. घ. ज. तेन न जा'. ५ ग. घ. ज. 'मन्त्र एष ऐन्द्रो.
६ ग. ज. घ. ट. ठ. ड. 'मन्थिनो गृह्य'. ७ सर्वे पुस्तकेषु 'आरांयेयाम्' इति
पाठः । 'अदृष्टताम्' इति मैत्रायणीपाठः. ८ ठ. ड. 'यादेण' इत्यनन्तरं छर्षा
नक् पठ्यते. ९ ठ. ड. स्वर्देक्षः. १० घ. 'याम्' छङ्गदेव. ११ घ. ट. तावेव
स्थि'. १२ ग. घ. ज. इजिनं. १३ घ. ट. ठ. ड. यथं च पुनः.

चिरन्तना इव । ये महर्षयो भृगवादयस्तेषां यथा दुग्धवानसि तथास्माक-
मपि धोक्षि । अपि च । पूर्वेषां सप्तृणां यथा दुग्धवानसि तथास्माकमपि
धोक्षि । अपि च । विश्वया ऋषिपुत्रकाणामृषीणां च सर्वेषां यन्ना दुग्धवा-
नसि तथास्माकमपि धोक्षि । अपि च । इमथा यथा वर्तमानकालीनानां
यजमानानां धोक्षि तथैवास्माकमपीति । एवमेव यथाभिमतदैवतं
योग्यः ।

इमथेत्येतस्मात्प्रसक्तमुच्यते । ' अयम् ' इत्यस्य शब्दस्य का व्युत्पत्ति-
रिति । ' एतत्तरः ' ह्यागततर आसन्नतरो यः ' अमुष्मात् ' दूरस्था-
द्भवति सोऽप्रमित्युच्यते । आह । ' असौ ' इत्यस्य का व्युत्पत्तिरिति ।
१० उच्यते । ' असावस्ततरोऽस्मात् ' क्षिततर इव विप्रकृष्टत्वाद्वति ।
आह । कुतः क्षिततरः । उच्यते । ' अस्मात् ' एततरात् । असावित्येत-
स्मात्प्रसक्तमुच्यते । ' अमुथा यथासाविति व्याख्यातम् ' । अमुथेत्येत-
द्यथासावित्यनेन व्याख्यातम् । य एवार्थोऽसावित्यनेन शब्देनोक्तो भवति स
एवार्थोऽमुथेत्यनेनाप्युक्तो भवति ।

१५ ' वदिति ' एषा ' सिद्धोपमा ' । सिद्धैवोपमा लोके । आह । कथं
कृत्वा । उच्यते । ' ब्राह्मणब्रह्मपत्यत् ' । ब्राह्मणवदधीते वृषलवचाक्रो-
शतीति^१ । छान्दसमुदाहरणं ब्रवीति ॥ १६ ॥

प्रियमेधवद्विषज्जातं वेदो विरूपयत् । अङ्गिरस्वन्महिषत्
२० प्रस्कण्वस्य भूधी हवम् [ऋ० सं० १ । ४५ । ३] ॥ प्रिय-
मेधः प्रिया अस्य मेधा यथेतेषामृषीणामेधं प्रस्कण्वस्य शृणु
ह्वानं प्रस्कण्वः कण्वस्य पुत्रः कण्वप्रमवो यथा प्राग्रम-
क्षिपि भृगुः संवमूय भृगुर्भृज्यमानो न वेहेऽङ्गारेष्वङ्गिरा
अङ्गारा अङ्गुना अङ्गेना अत्रैव तृतीयमुच्छतेस्पृचुस्तस्मा-

२५ १ क. ख. ग. ज. 'अपि० धोक्षि' नास्ति. २ क. ख. प. ट. ठ. ड. ' यः '
नास्ति. ३ क. ख. ' शतीति ॥ ४ ॥ छा०; ठ. ड. ' शतीति ॥ १६ ॥ इति.
निरुक्तभाष्ये (ड. निरुक्तभाष्ये) तृतीयाध्याये षोडशः सण्डः । छा०. ३ ग. च.
ज. २९ (१८), इतरेष्वङ्गो नास्ति. ५ छ. त. द. ' अङ्गना ' नास्ति.

द्वित्रिंशद्वय इति विखननाद्वैखानसो भरणाद्भारद्वाजो
 विरूपो नानारूपो महिवतो महावत इति ॥ १७ ॥

इति तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

‘ प्रियमेधवत् ’ इति । एषा प्रस्कण्वस्यार्धम् । अनुष्टुप् । आग्नेयी । ५
 प्रातरनुवाकाभिनयोः शस्यते [आश्व० श्री०
 सिद्धोपमाया उदा- ४ । १३ । ७] । हे जातवेदः महिवत महावत
 हरणम् सहाकर्मन् । महद्वयस्य भगवतोऽमेर्जातवेदसः कर्म
 हविर्वहन्नादिलक्षणम् । तेनैवमामन्त्र्यते महि-
 वतेति । यथैतेषामृषीणां प्रियमेधादीनां श्रुतवानसि पूर्वमाह्वानं शृणोपि वैवं १०
 ममापि प्रस्कण्वस्य शृण्वानमित्याशीः । एषै समस्तार्थः ।

अथैकपदनिरुक्तम् । ‘ प्रियमेधः प्रिया अस्य मेधाः ’ । यद्वाः
 इत्यर्थः । यद्युमिति याम्यशेषः । ‘ प्रस्कण्वः कण्वस्य पुत्रः ’ । प्रसन्दस्य
 तद्वितार्थत्वं निराह ‘ कण्वप्रभवः ’ । कण्वस्याफपमित्यर्थः । ‘ यथा ’
 प्रगतमग्रं ‘ प्राग्रम् ’ इत्युच्यते गतशब्दलोपं कृत्वेवमिहापि ‘ कण्वप्रभवः ’ १५
 इति पक्ष्ये भयशब्दलोपं कृत्वा व्यस्येन च प्रस्कण्व इत्युक्तम् । ‘ भृगु-
 भृग्यमानो न देहे ’ । प्रजापतिना किल शुक्रमारभीयमादायानौ द्रुतम् ।
 ततः ‘ अर्चिषि ’ अग्रायां भृगुः नाम महर्षिः ‘ संवभूव ’ । व्यप-
 गतेऽर्चिषि ‘ यः अग्रायेषु ’ संवभूव सोऽग्निरा नामैवमवत् । विप्रहप्रसक्त-
 मुच्यते । ‘ अग्राया अङ्गनाः ’ । ते हि यत्र निधीयन्ते तदङ्गितं भवति । २०
 तस्मिन्नुत्पन्ने द्वित्ये ‘ अत्रैव तृतीयमृच्छतेत्युच्यते ’ ये पूर्वोपनास्ते ।
 ‘ तस्मात् ’ अत्रैव तृतीये इत्येतस्मादनुव्याहारात् ‘ अत्रिः ’ अत्रैव ।
 अथैवमन्यथा स्यात् । अत्रिः । प्रतिषेधार्थोऽत्राकारः । कपम् । ‘ न
 प्रयः ’ एवात्र । किं तर्हि । सन्ध्यामेतदग्निस्थानं चतुर्थोऽप्यत्र भविष्यती-
 त्येवमुत्पाहारादत्रैवमवत् । व्युदुह्याग्निं तस्मिन्निग्निस्थाने तिष्ठते य उत्पन्नः २५
 सः ‘ विखननाद्वैखानसः ’ एवं नाम्ना अमूत् बभूव । ‘ अर्चिःषु अग्रायेषु

१ क. त. द. ५; उ. त. १९. २ ठ. य. प. ‘ इति० पादः ’ नास्ति; उ.
 इति तृतीयः; त. इति तृतीयाध्याये तु; द. इति, निरुक्तस्य तु. ३ प. द. ठ.
 द. एवं. ४ य. नास्ति भास्ति न. ५ प. द. ठ. द. ‘ नि ’ नास्ति; प. पय
 योपनि. ६ कं. तं. ग. ज. एव. ७ म. ज. आर्चिषि.

अत्रैव तृतीयं विखननाद्विखानंसः' इत्यनयैवानुपूर्वतानि निर्वचनान्युप-
पादयितुं शक्यन्ते । तस्मान्मन्त्रपाठविपर्ययसैनैतानि निरुक्तानि । ' विरूपो
नानोरूपः ' इति ऋज्वेव । ' महिन्नतो महाव्रत इति ' अर्थः । व्रतमिति
कर्मनाम ॥ १७ ॥

५

इति निरुक्तवृत्तौ अष्टमाध्यायस्य तृतीयः पौदः ॥

१०

अथ लुप्तोपमान्यर्थोपमानीत्याचक्षते सिंहो व्याघ्र इति
पूजायां श्वा काक इति कुरसायां काक इति शब्दानुकृति-
स्तदिदं शकुनिषु बहुलं न शब्दानुकृतिर्विद्यत इत्युप-
मन्यवः काकोऽपकालयितव्यो भवति तित्तिरिस्तरणासिल-
मात्रचित्र इति वा कपिशूलः कपिरिव जीर्णः कपिरिव
जवरा ईपत्पिङ्गलो वा कमनीयं शब्दं पिञ्चयतीति वा श्या-
ह्रयापी शवतेर्वा स्याद्व्रतिकर्मणः श्वसितेर्वा सिंहः सहना-
द्विसेर्वा स्याद्विपरीतस्य संपूर्वस्य वा हन्तेः संह्राय हन्तीति
वा व्याघ्रो व्याघ्राणाद्यावाय हन्तीति वा ॥ १८ ॥

२०

' अथ लुप्तोपमान्यर्थोपमानीत्याचक्षते ' । उपमाधिकारो वर्तते ।
' यदेतच्चतुष्टयमिति ' [निरु० ३ । १३] इत्येतदुपक्रान्तम् । तत्र
शब्दवत्पक्षोपमा भवन्ति लुप्तोपमाशब्दाश्चेति । तत्र ' अग्निर्नये ' इत्ये-
वमादिभिः शब्देरुपमिस्तिष्ठानामर्थानां समान-
अर्थोपमालक्षणम् रूपैरर्थरूपमानं क्रियत इत्येतदनुक्रान्तम् । अथे-
दानीं येषु पदेषु सुष्यन्ते उपमाशब्दा इवादय-
स्तान्यत्रसरप्राप्तानि व्याख्यास्यामः । तानि पुनरेतान्यर्थोपमानीत्येवमा-

- १ ग. ज. 'विरूपो नाम इति'. २ क. ख. ५; ग. १९; इतरेष्वङ्गो नास्ति.
२५ ३ ग. च. ज. 'इति निरुक्तवृत्तौ' नास्ति; ठ. इति निरुक्तवृत्तौ तृतीयाध्याये
सप्तदशः खण्डः ॥ १७ ॥ आदितो निषण्डुमारभ्याष्टमाध्यायस्य तृतीयः पादः.
४ ड. पादः । इति निरुक्तभाष्ये तृतीयाध्याये सप्तदशः खण्डः. ५ छ. त. द.
' स्यात् ' नास्ति. ६ क. ख. द. १; छ. त. २०. ७ क. ख. घ. ट. ठ. ड.
यदेत'. ८ क. ख. ग. ज. 'इति' नास्ति. ९ ग. 'मिस्तिष्ठाना'; ज.
२० 'मिस्तिष्ठाना'; घ. 'मिस्तिष्ठाना' इति. १० क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'पुन-
रिमान्य'.

चक्षत आचार्याः । निरुद्धा हीयं तेषु संज्ञेत्यभिप्रायः । तानि च पुनरस-
माम्नातान्येव निवण्टुसमाम्नाये । तेषु वक्तुरभिप्रायंगता एत एवोपमा-
शब्दा अर्थतो लिङ्गयन्त इत्यर्थोपमा इत्युच्यन्ते । तान्येतानि माष्यस्य
विस्तरविषयत्वादसमाम्नातान्यपि सन्त्यवसरप्राप्तानि प्रदर्श्यन्ते । तद्यथा ।

‘ सिंहो व्याघ्र इति पूनायाम् ’ । यो हि पूज्यो
पूज्यवाचकान्युप- भवति स उच्यते सिंहो देवदत्त इति । अत्र
मानानि न सिंह एव देवदत्तः । किं तर्हि । सिंहगुण-
स्तत्र कश्चिदस्ति शौर्यादिः । तदभिधानायं
वाक्यं कृत्वोपमाशब्दानामिवादीनामन्यतममनुच्चारयन्नेवं ब्रवीति ‘ सिंहो
देवदत्तः ’ इति । यत्तदनुच्चारणमुपमाशब्दस्य स एव लोप इत्युच्यते । १६

‘ इवा काक इति कुस्तायाम् ’ । यो हि लौल्यादिदोषसमन्वयेन
कुस्तनीयो भवति स एवमुच्यते श्यामिति ।
कुस्तावाचकानि च अत्रापि श्वेवायमितीवशब्दस्य लोपो द्रष्टव्यः ।
‘ घाटर्षादिदोषसमन्वयेन यः कुस्त्यते स काकोऽ-
यनित्युच्यते । काकादिशब्दानुदाहरणप्रसक्तान् निर्ब्रवीति ‘ काक इति
शब्दानुकृतिः ’ । अनुकरणमनुकृतिः । शब्द-

काकादिनामानि स्यानुकृतिः शब्दानुकृतिः । यादृशमेवासौ शब्दं
शब्दानुकृतिमूल्यानि करोति तैर्यवानुकृत्या तस्य नामापि भवति ।
स हि कार्कुत्तास्त्रिति वादयेत तस्मात् काक
इत्युच्यते । ‘ तदिदम् ’ एवं शब्दानुकृतिहेतुकं नाम ‘ शकुनिश्च ’ एव । १७
नान्येषु सत्त्वविशेषेषु । ‘ बहुलं ’ प्रायेणेत्यर्थः । ‘ न शब्दानुकृतिर्वि-
द्यत इत्यौपमन्यवः ’ । शकुनिष्वपि न शब्दानुकृतिहेतुकं नाम विद्यत
इत्यौपमन्यव आचार्यो मन्यते । किं कारणम् । व्यभिचारिणाम् ।

१ क. ल. घ. ट. ठ. ड. ‘यादिः । अतस्तदभिधानेनोपमायै कुरगः’; ग. ज.
‘यादिः । तदभिधाने धानीयं वाक्यं’; २ क. ल. घ. ट. ठ. ड. ‘वेद. १ ग. ज.
सम्बलेषो’; ४ क. ल. घ. ट. ठ. ड. ‘दोषसमन्वयेन; घ. ‘दोष’ नास्ति; ५
क. ल. घ. ट. ठ. ड. तपेता’; ६ ग. ज. काकु काके’; घ. ट. काकु काकु
इति; ठ. काकुकाकिति; ड. काकुकाकिति. ७ ग. घ. ज. ड. वाक्यते. १८

- श्यामा दर्वी पुच्छः पूवो हंस इत्येवमादिषु
 शब्दानुकृतिर्न वि- शब्दानुकरणहेतुको नामधेयप्रतिलम्भो नास्ति ।
 यत इत्यौपमन्यवः शकुनिपक्षेऽपि शब्दानुकारो न विद्यते । बह-
 वो ह्येवंप्रकारा अन्यक्रियाजनानामभिरन्विताः
 ५ शकुनयः । तत्र यदुक्तं ' तदिदं शकुनिषु बहुलम् ' इत्येतदयुक्तम् । आह ।
 तैर्हि कथं काकस्यान्यक्रियाहेतुको नामधेयप्रतिलम्भ इति । उच्यते । स
 हि ' काकः अपकालयितव्यो भवति ' उपघातभयात् । स हि यद्यत्पु-
 शति तत्तदुपहन्तीत्यपकाल्यते । तस्मात्काक इत्युच्यते । शकुनिध्वसामा-
 न्यप्रसक्तमुच्यते । ' तित्तिरिस्तरणात् ' । ' तृ प्लवने ' [भा० १ ।
 १९४] । उल्लुत्यासौ गच्छति । ' तिलमात्रचित्र इति वा ' । अथवा
 तिलमात्रचित्रः स भवतीति तित्तिरिः । ' कपिञ्जलः कपिरिव जीर्णः ' ।
 यादृशो हि कपिर्मर्कटो जीर्णः सन्वर्णतो भवति तादृशोऽसावपीति कपि-
 ञ्जल इत्युच्यते । अथ ' वा कपिरिव जवते ' कपिञ्जलः । ' ईषत्पि-
 ञ्जलः ' इति ' वा ' कपिञ्जलः । अथ ' वा कमनीयं ' प्रार्थनीयं
 १५ भङ्गल्यं मधुरं वा ' शब्दं पिञ्जयति ' अभिग्ननत्तीति कपिञ्जलः ।
 ' एषमादीनि शकुनिनामधेयानि ' एवमादिना प्रकारेणाशब्दानुकृतिपूर्व-
 कस्य सति निर्बलव्यानि । ' श्र.शुयायी ' । शु इति क्षिप्रनाम । क्षिप्र-
 मसौ शीघ्रत्वादेतीति श्वा । ' शषमेर्या गतिकर्मणः ' । स हि मित्यमेव
 गच्छति । ' शसितेर्या ' गतिकर्मण एव । ' सिंहः सहनात् ' । अभि-
 २० भवति ह्यसावन्मान्प्राणिविशेषान् । ' संपूर्वस्य वा हन्तेः ' उपसर्गस्येत्वेन ।
 ' संहाय हन्तीति वा ' । वैयाकरणानामेषा व्युत्पत्तिः । ' व्याघ्रो
 व्याघ्राणात् ' । विविधमतौ जिघ्रते व्याघ्रः । तस्य हि प्राणेन्द्रियं पटु
 भवति । स हि प्रज्वाप्राय हन्ति । प्रणेन्द्रिये हि तस्य विशिष्टं ज्ञानम् ।
 ' व्यादाय हन्तीति वा ' । स किल व्यादाय वक्त्रं विवृतं कृत्वा ततो
 २५ हन्ति । अथवा ' व्यादाय हन्तीति ' । यः किल प्रथमे ग्रहे न शङ्कित-

१ क. ख. ग. ज. घ. ट. ठ. ड. "किमर्थनाम" - क. ग. ग. ज. घ. ट.

ठ. ड. कथं तर्हि. २ घ. ट. उ. ह. तत्तदपह. ४ घ. ट. ठ. ड. "ने योऽपि कपि".

५ क. ख. घ. ट. ठ. ड. ' एव ' नास्ति. ६ घ. ट. ठ. ड. ' संस्थान इत्यन-

येन । संह ' उ क. ख. घ. ट. ठ. ड. निगनीति. ८ ट. ख. ग. ज. भवतीति.

१० त. १ क. ख. ' ग्रे शस्त्रिनः ; ठ. ड. शङ्कितः.

स्तेन हन्तुः भवति-मृगो वान्यो वा कश्चित्तमसावमर्षाद्विकृष्य तस्मिन्नेव
प्रदेशे प्रथमग्रहस्थान आनीय ततो हन्ति । सिंहो व्याघ्रः श्या काक इत्येव-
मनुक्रम्यार्वाचीनान्येतानि गद्यानि. निरुक्तान्यथमपि. निर्वचनप्रकारोऽस्तीति.
प्रदर्शनार्थम् । सिंहव्याघ्रान्दयोरुत्तममेव. निर्वचनमनुलोमव्याख्योपप्र-
दर्शनार्थम् । एवं ब्रूमे. अपि प्राप्ता दर्शिते भवतः ॥ १८. ॥

५

अर्चतिकर्माण उत्तरे घातवश्चत्वारिंशन्मेधाविना-
मान्युत्तराणि चतुर्विंशतिर्मेधावी कस्मान्मेधया तद्वान्म-
वति मेधा मतौ धीपते. स्तोतृनामान्युत्तराणि त्रयोदश
स्तोता स्तवनाद्यज्ञनामान्युत्तराणि पञ्चदश यज्ञः कस्मा-
त्प्ररूपातं यजतिकर्मेति. नैरुक्ता याज्यो भवतीति वा यजु-
रज्ञो भवतीति वा बहुकृष्णाजिन इत्योपमन्ववो यजू-
ष्येनं नयन्तीति वा त्विहनामान्युत्तराण्यष्टावृत्तिरुस्मादीरण
कृग्यष्टु भवतीति शाकपूणिर्कृतुयाजी भवतीति वा याज्याकर्माण
उत्तरे घातवः सप्तदश दानकर्माण उत्तरे घातवो दशाध्येपणाक-
र्माण उत्तरे घातवश्चत्वारः स्वपितिसस्तीति द्वौ स्वपितिकर्माणौ
कूपनामान्युत्तराणि चतुर्दश कूपः कस्मात्कूपानं भवति कुप्यतेर्वा
स्तेननामान्युत्तराणि चतुर्दशैव स्तेनः कस्मात्संस्त्यानमस्मिन्पाप-
कमिति. नैरुक्ता. निर्णीतान्तर्हितनामधेयान्युत्तराणि. पद निर्णीतं
कस्माद्विर्णिकं भवति दूरनामान्युत्तराणि पञ्च दूरं कस्माद्दुतं
भवति दुरयं वा पुराणनामान्युत्तराणि पद पुराणं कस्मात्पुरा
नवं भवति नवनामान्युत्तराणि पल्लव नवं कस्मादाभीतं. भवति
॥ १९. ॥

१०

१५

२०

१ क. स. घ. ट. ड. 'वा' नास्ति. २ च "व्याख्योपमादर्श".

३ म. ज. 'हि' नास्ति. ४ क. स. १; य. २०; ट. ड. १० इति निरुक्तवृत्तो

[ड. निरुक्तमध्ये] तृतीयाध्याये अष्टादशः खण्डः; इत्येवञ्चो नास्ति. ५ क. स.

घ. त. द. 'स्तोता स्तवनात्' नास्ति. ६ क. स. षडे; ट. त. द. षडे.

७ क. स. द. २; ट. त. २१.

३३

‘ अर्चतिकर्माण उत्तरे धातयश्चतुर्ध्वत्वारिंशत् ’ । अर्चतिकर्माणः
अर्चत्यर्थाः पूजयत्यर्थाः । उत्तरे उपमाशब्देभ्यः । पूजायामवश्यंभावि-
न्युपमेत्युपमाशब्देभ्योऽनन्तरमर्चतिकर्माणः समान्नाताः । कियन्तः पुनस्ते ।
चतुर्ध्वत्वारिंशत् । कतमे पुनस्ते । ‘ अर्चति गायति ’ [निघ० ३ । १४]
इत्येवमादयः ।

य एतेऽर्चतिकर्माण एतैर्हि मेधाविन एवार्चन्ति । एत एवाधिक्रियन्ते ।
तैस्त एव हि स्तोतुं शक्नुवन्ति । नेतरेऽमेधसः । तस्मादर्चतिकर्मभ्यः
‘ उत्तराणि मेधाविनामानि ’ । कियन्ति पुनस्तानि । ‘ चतुर्विंशतिः ’ ।
कतमानि पुनस्तानि । ‘ विप्रः धीरः विप्रः ’ [विघ० ३ । १५] इत्ये-
वमादीनि । विविधानर्थानस्य प्राप्तुं प्रज्ञेति विप्रः । धीः प्रज्ञा । तद्वान्धीरः ।
रो मत्वर्थे । विगृह्य सदसि कथयतीति विप्रः । इत्येवमादि । आह ।
‘ मेधावी कस्मात् ’ । उच्यते । स हि ‘ मेधया तद्वान् भवति ’ ।
आह । ‘ मेधा ’ कस्मात् । सा हि ‘ मतौ धीयते ’ । मतिर्बुद्धिः ।
तस्यां या पुरुषशक्तिरभिधायते सा मेधा इत्युच्यते ।

य एव मेधाविनस्त एव स्तोतुं शक्नुवन्तीति मेधाविनामभ्यः ‘ उत्त-
राणि ’ स्तोतृनामानि । कियन्ति पुनस्तानि । ‘ त्रयोदश ’ । कतमानि
पुनस्तानि । ‘ रेभः जरिता कारुः ’ [निघ० ३ । १६] इत्येवमादीनि ।
रेभो रेभतेः स्तुत्यर्थस्य [धा० १ । ३८५] । जरिता जरतेः स्तुत्यर्थ-
स्यैव । कारुः कर्ता स्तोमासामित्येवमादि योरपम् । प्रत्यक्षशक्तित्वादस्य
शब्दस्य नोक्तं स्तोता कस्मादिति ।

यज्ञेष्वेव द्यतिशयेन देवतानां स्तुतयः प्रयुज्यन्त इति स्तोतृनामभ्यः
‘ उत्तराणि यज्ञनामानि ’ । कियन्ति पुनस्तानि । ‘ पञ्चदश ’ । कत-
मानि पुनस्तानि । ‘ यज्ञः वेनः अग्नयः मेधः ’ [निघ० ३ । १७]
इत्येवमादीनि । आह ‘ यज्ञः कस्मात् ’ । उच्यते । यदेतत् ‘ प्रम्यात् यजति-
कर्म ’ लोकवेदयोरेतदेव भावसाधनशब्देनोच्यते यजनं यज्ञ इति ।
अथ न । याव्यो भवतीति यज्ञः । याच्यते ह्यत्र । ‘ यज्ञो वै देवानामन्नं
समभूतं भृत्याः समभावयाजति ह निज्ञायते ’ । तस्माद्याचनायज्ञः । अथ

१ ठ. ड. ‘ रींशदिति । अर्चं. २ ग. घ. ज. ‘ उत्तरे नास्ति. ३ घ. ट.

ठ. ड. तैस्त एव. ४ क. ख. घ. ट. ड. एन एव. ५ क. ख. ग. ज. व.

१० ट. ठ. ड. ‘ साधनेन इत्ये.

‘वा यजुर्मिः’ अयम् ‘उन्नः’ इव संस्कृन् इव ‘भवति’ बहुत्वादत्र यजु-
पाम् । अथवा ‘बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवः’ । यद्यदत्र दृश्यते प्रति-
विशिष्टं साधनं किञ्चित्तत्तकृष्णाजिनमिति यज्ञः । सोमे तावदजिनद्वयं
यजमानेऽप्यजिनद्वयमवहन्यमानेषु हि हविःष्वजिनं धर्मपात्रेष्वप्यजिनमेवं
बहुकृष्णाजिनैम् । अथ ‘वा यजुष्येनम्’ उपक्रमादारम्यान्तं ‘नय-
न्तीति’ यज्ञः । वनतिः कान्त्यर्थः । काश्यन्ते हि यज्ञाद्ग्रामपशुस्वर्गा-
दयः । तस्मात्स वेनः यज्ञ इत्युच्यते । ममेदं दास्यतीत्येवं यज्वमिस्तत्फलं
प्रार्थ्यत इति मेधः । इत्येवमादि ।

यज्ञसंबन्धेनैव ‘ऋत्विङ्नामान्युत्तराण्यष्टौ’ । ऋत्विजां नामानि
ऋत्विङ्नामानि । कियन्ति पुनस्तानि । अष्टौ । कतमानि पुनस्तानि । १०
‘भरताः कुरवः’ [निघ० ३ । १८] इत्येवमादीनि । त्रिंशन्ते दक्षि-
णाभिस्तै इति भरताः । कुर्वन्ति कर्माणीति कुरवः । इत्येवमादि । आह ।
‘ऋत्विक्स्मात्’ । उच्यते । ईरणः । ईरयिता हि स स्तुतीनां भवतीति
ऋत्विक् । ‘ऋग्यष्टा भवतीति शाकपूणिः’ । ऋग्भिर्हसौ यजतीति ऋत्विक् ।
‘ऋतुयाजी भवतीति वा’ । स हि काले काले देवता यजतीति वा । १५
ऋतौ याजयतीति वा । स हि काले काले एव याजयते नाकाले ।

ऋत्विक्संबन्धेनैव ‘याच्याकर्माण उत्तरे धातवः सप्तदश’ । कतमे
पुनस्त इति । ‘ईमहे यासि मग्महे’ [निघ० ३ । १९] इत्येवमादयः ।

याच्यासंबन्धेनैव ‘दानकर्माण उत्तरे धातवो दश’ । कतमे पुनस्त
इति । ‘दाति दाशति दासेति’ [निघ० ३ । २०] इत्येवमादयः । २०

दानसंबन्धेनैव ‘अप्येपणाकर्माण उत्तरे धातवश्चत्वारः’ । कतमे
पुनस्त इति । ‘परिस्त्रव पवस्व’ [निघ० ३ । २१] इत्येवमादयः ।
सर्वैस्तु प्रार्थनाप्येपणेत्युच्यते ।

१ क. ख. घ. ट. ठ. ड. ‘इव’ नास्ति. २ क. ख. घ. ट. ठ. ड. पयो-
पानितं धर्मपा. ३ क. ख. घ. ट. ठ. ड. ‘कृष्णाजिनः’. ४ क. ख. घ. ट. ठ.
ड. ‘ज्वभिरस्मात्फलं’; ग. ज. ‘ज्वभिस्तस्मात्फलं’. ५ ग. ज. त्रियन्ति. ६ क. ख.
घ. ट. ठ. ड. ‘ते’ नास्ति. ७ क. ख. ग. ज. ‘काले’ सङ्कदेव. ८ क. ख.
घ. ‘काले’ सङ्कदेव. ९ च. दासते १० क. ख. घ. ट. ठ. ड. ‘सामृदय
दातृभिर्दातुं प्रतिमहीतृणां प्रार्थ’.

याच्यमानो हि सर्व एव स्वपितृत्ययेपणाकर्मस्य उत्तरौ ' स्वपिति-
कर्माणौ ' । कतमौ पुनस्ताविति । स्वपिति सस्ति इति [निघ० ३ ।
२२] । स्वशब्देनैवोच्चार्य द्विग्रहणमवधारणार्थमेतावेव ' द्वौ ' निगमे
न पुनस्तृतीयोऽस्तीति । अल्पत्वादौ द्विग्रहणम् ।

५ कूपमेव ह्याश्रित्य मरौ मुप्यते । सुप्तः कूप इव पतितो भवतीति वा ।
स्वपितिकर्मभ्यामनन्तराणि कूपनामान्युच्यन्ते । कियन्ति पुनस्तानि ।
' चतुर्दश ' । कतमानि पुनस्तानि । ' वैवः कौरुः खातः ' [निघ०
३ । २३] इत्येवमादीनि । त्रियते ह्यसाबुदकार्थमिति वैवः । कमुदक-
मत्रेति कार्हेः । इत्येवमादि । आह ' कूपः कस्मात् ' । उच्यते । ' कुपानं
भवति ' । यत्र ह्यसौ भवति तत्र कुस्तितं पानं भवति साधनापेक्षत्वात् ।
' कुप्यतेर्वा ' । यैस्तेवान्धात्तत्रोदकार्थिनः कुप्यन्ति ।

१० ' स्तेननामान्युत्तराणि चतुर्दशैव ' । कूपमाश्रित्य मुप्यन्ति स्तेना
इत्यतः कूपनामस्य उत्तराणि स्तेननामानि । कियन्ति पुनस्तानि ।
चतुर्दशैव । कतमानि पुनस्तानि । ' त्रिपुः रिपुः ' [निघ. ३ ।
१५ २४] इत्येवमादीनि । परेभ्यो धनाम्यपहृत्यातिशयेनासावात्मानं भृत्याश्च
तर्पयतीति त्रिपुः । लिप्पत्यसावात्मानं पापेनेति रिपुः । इत्येवमादि । आह ।
' स्तेनः कस्मात् ' । उच्यते । ' संस्त्यानं ' संहतम् ' अस्मिन् पापकं-
कर्म भवति ' इति ' एवं ' नैरुक्ताः ' ग्रन्थन्ते । वैयाकरणानामन्यथापि
स्यादित्यभिप्रायः ।

२० ' निर्णीतान्तर्हितनामभेदान्युत्तराणि षट् ' । निर्णीतस्य चान्तर्हितस्य
नामभेदानि निर्णीतान्तर्हितनामभेदानि । उत्तराणि प्रकृतेभ्यः स्तेन-
नामभ्यः । स्तेना एव चान्तर्हिता भवन्तीत्येष संवन्धः स्तेननाम्नामन्तर्हित-
नाम्नां च । कतमानि पुनस्तानि । ' निष्पं सस्त्रः सनुतः ' (निघ. ३।२५)
इत्येवमादीनि । निर्णीतमिव निष्पम् । सुप्तमिव सस्त्रः । सन्ततमिव सनु-
ताः । इत्येवमादीनि ।

१ क. ख. घ. ट. ठ. ड. आपि. २ ग. च. ज. ' वा ' नास्ति. ३ ग. घ.
ज. वशिः; ट. धमः. ४ क. ख. ज. कातः. ५ च. संवन्धात्. ६ ग. च. ज.

२८ परिमन्. ७ ठ. ड. इष. ८ च. निर्णीतमिव; ठ. ड. निर्णीतमेव.

‘दूरनामान्युत्तराणि पञ्च’ । अन्तर्हितं यद्वचति दूरं इव हि तद्वचतीत्येष संवन्धः । कतमानि पुनस्तानि । ‘आके पराके परावैः’ [निघ. ३ । २६] इत्येवमादीनि । आ कियतो देशादेतद्वर्तत इति विज्ञातव्यमेतद्वचतीत्याके । पराके पराक्रान्ते । पराङ्मुखमञ्चितं पराचैरित्येवमादि । यथैव श्रुतानि छन्दसि तथैवैतानि समाम्नातानि । आह । ‘दूरं कस्मात्’ । उच्यते । ‘द्रुतं’ हि तत् ‘भवति’ अघ्नो महत्त्वात् । ‘दुरयं वा’ । दुःखं हि तद्रम्यते । प्राप्यत इत्यर्थः ।

‘दूरसंवन्धेनैव, ‘पुराणनामान्युत्तराणि षट्’ । समानं हि कालाघ्वनोर्भ- हृत्यं दूरपुराणयोः । कतमानि पुनस्तानि । ‘प्रत्नं प्रदिवः प्रययाः’ [निघ. ३ । २७] इत्येवमादीनि । प्राक्तनं प्रज्ञम् । प्राग् श्रुतिमदासीदिति प्रदिवः । प्रकृष्टययाः प्रययाः । इत्येवमादि । आह । ‘पुराणं कस्मात्’ । उच्यते । तदिह ‘पुरा नवे भवति’ न कर्तमानकाले ।

‘नवनामान्युत्तराणि षडेव पुराणसंवन्धेनैव । कतमानि पुनस्तानि । ‘नवं नूतं नूतनम्’ [निघ. ३ । २८] इत्येवमादीनि । आह । ‘नवं कस्मात्’ । उच्यते । तद्वि सद्य एव कुतश्चित् ‘आनीतं भवति’ । ‘क्षिप्रो- त्वेन नूतनमित्येवमादि ॥ १९ ॥

द्विष उत्तराणि नामानि ‘प्रपित्वेऽभीक इत्यासन्नस्य प्रपित्वे भातेऽभीकेऽभ्यक्ते । आपित्वे नः प्रपित्वे तूपमा गंहि । अभीके विदु लोककृदित्यपि निगमौ भवतः । दध्नमर्भकमित्यल्पस्य । दध्नं दध्नोतेः सुदध्नं भवत्यर्थकमवहृतं भवति । उपोप मे परासुश मा मे दध्नाणि मन्ययाः । नमो महद्भयो नमो अर्भकेभ्य इत्यपि निगमौ भवतः । तिरः सत इति प्राप्स्य तिरस्तीर्णं भवति सतः संसृतं भवति । तिरश्चिर्दय्या परिवर्तिर्यातमदाभ्या । पात्रेव भिन्दन्तसत एति रसस इत्यपि निगमौ भवतः । त्वो नेम इत्यर्धस्य त्वोऽपततो नेमोऽपनीतोऽर्थं हरतेर्विपरीताद्धारयतेर्वा स्यादुद्धृतं भवत्पृष्ठोतेर्वा स्यादद्धतमो विमामः । पीर्यति त्वो अनु त्वो

१ क. ख. घ. ट. ठ. ड. दूतसद्व. २ ग. घ. ज. ण्डेव. ३ क. ख. २; ग. २१; ठ. ड. १९ इति निरुक्तवृत्तौ [ड. निरुक्तभाष्ये] मृतीशब्दाद्ये एकेन- रिशः सण्डः इत्येवमडो नास्ति.

शृणाति । नेमे देवा नेमेऽसुरा इत्यपि निगमौ भवतः । ऋक्षाः
स्तृभिरिति नक्षत्राणां नक्षत्राणि नक्षतेर्गतिकर्मणो नेमानि क्षत्रा-
णीति च ब्राह्मणमृक्षा उदीर्णानीव ख्यायन्ते स्तृभिस्तीर्णानीव
ख्यायन्ते । अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा । पश्यन्तो धामिव

- ५ स्तृभिरित्यपि निगमौ भवतः । वम्प्रीभिरुपजिह्विका इति सीमि-
कानां वम्प्रीयो वमनात्सीमिका स्यमनादुपजिह्विका उपजिह्वयः ।
वम्प्रीभिः पुत्रमग्र्युवो अदानम् । यदस्युपजिह्विका यद्वम्प्री आति-
सर्पतीत्यपि निगमौ भवत ऊर्दरं कृदरमित्यावपनस्योर्दरमुदीर्णं
भवत्पूजे दीर्णं वा । तमूर्दरं न पृणता यवेनेत्यपि निगमो भवति ।
१० तमूर्दरमिव पूरयति यवेन कृदरं कृतदरं भवति । समिद्धो अञ्ज-
नकृदरं मतीनामित्यपि निगमो भवति ॥ २० ॥

- ‘ द्विश उत्तराणि नामानि ’ । द्वे द्वे द्विशः । उत्तराणि ‘ प्रपित्वे
अभीके ’ [निघ० ३ । २९] इत्येवमादीनि । व्याख्यातानि पृथिवी-
१५ नामभ्य आरभ्य एकैकस्यार्थस्य बहूनि नामधेयानि । इदानीमेकैकस्य द्वे
द्वे नामनी वाचके समाह्रते प्रपित्वे अभीके इत्येवमादीन्याद्यावापृथिवी-
नामभ्यो यावत् ।

- अधुनैवमुक्त्वा सामान्यतो विशेषत एकैकं व्युपाद्य उदाहरणैरेव दर्श-
यति । तद्यथा । ‘ प्रपित्वे अभीके इत्यास्तत्रस्य ’ एते नामनी भवत इत्ये-
२० यमादि । प्रपित्वे प्राप्ते इत्यर्थः । ‘ अभीके अभ्यक्ते ’ । आभिमुख्येना-
ञ्जिते अभ्यागते । इदानीमुदाहरणे ब्रवीति । ‘ आपित्वं नः ’ ‘ अभीके
चित्तं ’ ‘ इति निगमौ अभ्यक्तः ’ ।

यथा गौरो अपो कृतं तृष्यन्नेत्यवारेणम् । आपित्वे नः प्रपित्वे

- १ छ त्र. भवतः २२ । वम्प्री; द. भवतः । ३ वम्प्री. २ क. ख. छ त. द. ‘ वम्प्रीभिः ०
२५ अदानं नास्ति. ३ क. ख. छ. त. द. निघणो भवत्पूदरं. ४ क. ख. २; छ.
त. द. अहो नास्ति. ५ क. ख. घ. ट. ठ. ड. उत्तराणीति प्रवि. ६ घ. ट. ठ.
ड. ‘ इति ’ नास्ति ७ घ. ट. ‘ दीनि व्याख्या; ठ. ड. ‘ दीनि व्याख्यातानि । पृथि.
८ क. ख. घ. ट. ठ. ड. एकैकार्थस्य. ९ क. ख. घ. ट. ठ. ड. विशेषण.
१० घ. येत्. ११ ग. च. ‘ वतः । २० । यथा. १२ ग. च. अ. कृतं । ऐन्द्रो;
२० घ. ट. कृतं ० तथा प्रिच.

तृयमा गृहि कर्षेपु सु संचा पित्रे' [ऋ० सं०
प्रपित्रे इत्यस्योदाहरणम् ८ । ४ । ३] ॥ ऐन्द्रेया । वृहती ।

देवातिथेः काण्वस्यार्धम् । महाव्रते वृहतीसहस्रे
शस्यते [ऐ० आ० ५ । २ । ४] । हे इन्द्र यथा
येन प्रकारेण गौरः गौरगृगः अत्रैरिणमपगतार्णमपगतोदकं महदेशं
हित्वा तृष्यन् तृया वाव्यमानः अपा कृतमपानोयमापानयोग्यं यत्र नास्ति
स्वस्योदकवार्त्तत्र कृतमुदकेन वा कृतं जलाशयस्थानं तडागमन्यद्वा
दीप्तमेवेवं त्वमप्येतस्मिन्नापित्रे आपानकाले प्रपित्रे प्राप्ते त्वं क्षिप्रमा-
गहि आगच्छ । आगत्य च य एव सौमः कर्षेपु एध्वत्विषु वर्तते तमेभि-
रेव ऋत्विग्भिः सचा साकं सु सुप्तु सह स्थित्वा पित्रेति संयोगेन तृष्यन् । १०

‘प्रोष्यस्मै पुरोरथमिन्द्राय शूपमर्चत । अमीके चिद्रु लोककृत्सङ्गे समस्तु’

वृत्रहास्माकं वोधि चोदिता नमन्तमन्यकेषां

‘अमीके’ इत्यस्य ज्याप्ता अधि धन्वन्तु । [ऋ० सं० १० ।

१३१ । १] ॥ सुदासः पैग्वनस्येयमार्थम् ।

अतिच्छन्दाः । सर्वपृष्ठायां मैत्रायण्यिके देवतान्यस्यैवयागे शाकुरस्यैन्द्रस्य
चरोर्यस्यैवा देवतस्य पुरोनुवाक्या [मैत्रा० सं० २ । ३ । ७ । ४ । १२ । ४ ।] ।

ब्राह्मणे पुनरियमेव वोर्धेशिनः वोर्धेशिखले शस्यते [आश्व० श्रौ० ६ ।

२ । ६ ।] । हे स्तौतारः प्रो प्रकर्षेणं सु प्रशस्ताभिः स्तुतिभिः अस्मै

इन्द्राय तुष्ट्यर्थं पुरोरथम् अग्रतोरथमेतत् शूपं बळम् अर्चत स्तुत ।

कं च पुनरर्थमभिसंधायार्चतेति । अमीके चिद्रु लोककृत् । अमीके अम्यागते

एतस्मिन् सङ्गे सङ्ग्रामकाले प्राप्तेषु समस्तु संमक्षयितुं उद्यतासुधेषु शत्रुषु

लोककृत् स्थानकृत् एषु वृत्रहा शत्रुहन्ता इन्द्रो भविष्यतीत्येतमर्थम-

भिसंधाय प्रार्चतास्मै शूपमिन्द्राय पुरोरथं शूपमिति । एवमन्यागस्तौतृ-

न्संबोधप्रमनापि प्रवृत्ते वक्तुम् । हे मग्नमिन्द्रास्माकं वोधि बुध्यस्वैताः

स्तुतीर्मा परेणाम् । बुद्धा चैताः चोदिता अनुज्ञाता जनस्य मय । नमन्तां १५

१ प. ट. ग्रीष्मृतः. २ ग. ज. अविरणम्. ३ च. कृतं प्राप्तीययोग्यं नास्ति. ४
च. 'वृत्रहा' । अश्वनीयमात्रकृतम् उ३°. ५ च. अपान°. ६ प. ट. उ. उ. सह
संयोगेन. ७ ग. तुष्यन्. ११ । प्रो°; ज. तुष्यन्. १२ । प्रो°; च. तुष्यन्
। १३ । प्रो°. ८ ग. च. ज. 'रथं' । सुश्रुतः; घ. ट. उ. उ. 'रथं' । यमस्तु. ९ क.
म. ग. ज. उ. वेदायस्त्रीवक्त्रे. १० क. ख. घ. ट. उ. उ. 'व्यत्यये यागे. ११
क. ख. ग. ज. 'वोर्धेशिनः' नास्ति. १२ प. ट. 'मिन्द्रस्य.

मा भूवनन्यकेषाम् अन्येषां ज्याकाः ज्याः अधिधन्वसु । अवतत-
वपेधनुषो हतसर्वोद्यमा एते अस्मद्दिपो युष्मदनुग्रहाद्भवन्वित्यभिप्रायः ।

‘ दक्षमर्मकमित्यल्यस्य ’ एते नामनी । ‘ दक्षं दम्नोतिः ’ वधार्थस्य
तद्धि ‘ मुदम्भं भवति ’ सुच्छेदं भवत्यल्पत्वात् । ‘ अर्मकमवद्वतम् ’ ।
५ हस्वमित्यर्थः । ‘ उपोप मे परामृश ’ ‘ नमो महद्भयो ’ ‘ इत्यपि
निगमौ भवतः ’ ।

‘ उपोप मे परा मृश मा मे ’ दक्षाणि मन्यथाः । सर्वोहमस्मि रोमशा
गन्धारीणामिवाविका । [ऋ० सं० १।१२६ ।

‘ दक्षम् ’ इत्यस्य ७ ।] ॥ भावयव्यस्येयमार्पम् । अनुष्टुप् । भाव-
यव्यमेव सा भर्तारं तेनानुपेयमाना ब्रवीति ।

१० हे राजन् उपगम्य उपलिप्य च मे मम परामृश यः प्रदेशः पुरुषेण स्त्रियाः
परार्मिष्ठ्यः । किंच मा मे दक्षाणि मन्यथाः । अल्पकानि लोमानि मा
मन्यथाः । जानेऽहमेतद्यथालोमिकाया उपगमः प्रति^{१०}पिद्धः स्मृतौ ‘ नाजात-
लोम्योपहासमिच्छेत् ’ [गोभि० गृ० ३ । ५ । ३] इति । यतस्ते

१५ वेदयामि सर्वाहमस्मि रोमशा । सर्वेष्वेवावयवेषु ममोत्पन्नानि रोमाणि येषु
स्त्रीणामुत्पद्यन्ते । कथं च पुनरहमस्मि रोमशा । गन्धारीणामिवाविका ।
गन्धारदेशजातानामविकानां मध्ये या मुष्टु रोमशा भवेत्तथाहमस्मि रोमशा ।
निःशङ्को मामुपगच्छेत्यभिप्रायः ।

‘ नमो महद्भयो नमो अर्मकेभ्यो नमो युवभ्यो नम आशिनेभ्यः ।

यजाम देवान्यर्क्षि शक्रवाम मा ज्यापंसः शंसमा

‘ अर्मकम् ’ इत्यस्य वृक्षि देवाः । [ऋ० सं० १ । २७ । १३] ॥

त्रिष्टुप् । शुनःशेषस्यार्पम् । होतृजपे त्रिनिर्योगः

[आश्व० श्रौ० १ । ४ । ९] । नमो महद्भयः नमो महद्भयिमाणेभ्यो

देवेभ्यः । नमो अर्मकेभ्यः अल्पपरिमाणेभ्यः । नमो युवभ्यः यौवनवद्वयः ।

२५ नम आशिनेभ्यः न्यापिभ्यः । यजाम देवानेतस्मिन्नुत्पिते यागकाले यदि

शक्रवाम । अलप्युतविज्ञाना वयमत एव ब्रूमो यदि शक्रवामेति । वयमीदृशाः

१ च. ‘ अन्येषा ’ नास्ति. २ ग. ज. ‘ ततश्चतुः ’. ३ ठ. ढ. ‘ त्यस्येति । एते ’.

४ ठ. ढ. महद्भयो नमो अर्मकेभ्य इत्यर्थः. ५ ग. ज. ‘ वतः । ३२ । उशे ’. ६ ग.

घ. ज. मे परामृश । भावः ; घ. ट. मे० पिक्का भावः. ७ ठ. ढ. ‘ मार्पम् । रोमशा
क्रपिका । अनु०. ८ ग. घ. परामृष्टव्यः ; ज. परामृष्टव्यः ; ट. परामृष्टव्यः. ९

१ च. लोमकानि. १० च. प्रतिनिपिद्धः. ११ घ. ट. यतोऽहस्ते. १२ ग.

३२ ‘ पायः । ३३ । नमो. १३ ग. च. ज. घ. ट. अर्मकेभ्यः । त्रिष्टुप्.

सन्तो. युष्मान्वृमहे । हे ज्यायसो देवा युष्माकमेव संसितारं सन्तमस्ये
वा महति वा कस्मिंश्चिदुःशस्ते मा वृक्षि मा अस्मान् छिन्त यक्ष्णजात् ।
को हि नाम नापराध्यतीत्यभिप्रायः ।

‘तिरः सतः’ इति प्राप्तस्य एते नामनी भवतः । अप्रातस्यैकेऽधी-
यते । तथापि. योज्यम् । ‘तिरस्तीर्णं’ हि तद् ‘भवति’ दूरमध्वानम् । ५.
‘सतः. संसृतं भवति’ एकीभूय सृतं भवति । ‘तिरश्चिदर्यया परिवर्तिर्या-
तमदाम्या’ ‘पात्रेव. भिन्दन्सत एति रक्षसः’ ‘इत्यपि निगमौ भवतैः’ ।

अभिज्ञात्रेह गच्छतं नासत्यौ मा वि वेनतम् । तिरश्चिदर्यया परि-
र्वीतमदाम्या माधी मम श्रुतं हवम् [ऋ० सं० ५ । ७५ । ७] ॥
पङ्क्तिराधित्ती । अवस्योरात्रेयस्यार्यम् । प्रातःपुनःकाश्विनयोः शस्यते १०.
[आश्व० श्रौ० ४ । १५ । १] । हे अश्विनौ

‘तिरः’ इत्यस्य. नासत्यौ आगच्छतं युताम् इह अस्मिन्यज्ञे
सोमं पातुं मम । किंच । मा विवेनतं मा
त्रिगतकामौ भूतं युवामाहूयमानौ मया । किंच. तिरश्चिदर्यया । तिरोऽपि
अप्रातेऽपि दूर एव स्थाने यद्यत्रस्थितौ स्थस्तथापि अर्यया ईश्वरायापि १५.
स्थगत्या देवगत्या शीघ्रमायातम् । द्विवचनं वा सावमहत्वापदस्य ।
किंच परिवर्तिर्यातम् । यद्यपि कचिदनिर्हृतौ स्थस्तथापि परिवर्ततं कृत्वा
सत आयातम् । हे अदाम्या अहिंस्यौ अनुराहिसितौ । अथवा अर्द्धव्या
अनुपहिसितया गत्या आयातम् । हे. माधी मधुसोममिश्रं पेयं ययोः ।
श्रुतं शृणुतं हवम् आह्वानम् । श्रुत्वा चाविष्टमवानौ शीघ्रमायातमि- २०
त्यभिप्रायः ।

‘इन्द्रो यातुनामवक्तराशरो हविर्मयीनामभ्या ३ वित्रोक्षताम् । अभीष्टुं
क्षक्रः परशुर्यया वनं पात्रेव भिन्दन्सत एति
‘सतः’ इत्यस्य. रक्षसः’ [ऋ० सं० ७ । १०४ । २१] ॥
वसिष्ठस्यार्यम् । जगती । इन्द्रो यातूनां यातु- २५.

१ क. ख. घ. ट. ठ. ड. ज्यायसो ज्यायासो देवा. २ ठ. ड. ‘मास्मान्वा-
च्छितयस’. ३ ग. ‘वतः’ । ३४ । आश्वि०. ४ ग. ख. ज. नासत्या । ५ छि’;
५. ट. नासत्या = हवम्. ५ ठ. ड. हवमवस्यो. ६ क. ख. घ. ट. ठ. ड. ‘अपि’
मास्ति. ७ क. ख. घ. ट. ठ. ड. शीघ्रमायातम्. ८ ख. ट. ‘दानवृचौ’ भिरस्थितौ
पाठः. ९ क. ख. अश्वाम्या, ट. अर्द्धव्या. १० क. ख. ठ. ड. ययो-
स्तो. मम; ट. ययोः ‘श्रुतं’ तो मम. ११ ग. ‘प्रायः’ । १५ । इन्द्रो.

धानानाम् अभवत् पराशरः पराशातयिता । कौटशानां पुनर्यातूनामभ्य-
 रराशातयितेति । हविर्मयीनां हवींषि ये मघ्नन्ति तेषाम् । अभ्या-
 धिदासतामभ्युदासयताम् । यज्ञोत्सादकानामित्यर्थः । अथवा विवा-
 सतिः परिचर्यायां स्यात् । ये तमिन्द्रं परिचरन्ति तेषां ये यातवस्तेषामेव
 ५ पराशातयितेति । योऽयमेवंलक्षण इन्द्रः सोऽस्माभिराराधितः परिचर्यया
 अभ्येति अभ्येतु अस्मान्प्रति । शक्रः शक्रः सर्वयातूनां पैतने । कथं
 पुनरभ्येतु । परशुहस्तो यथा कश्चिद्वनं छिन्दन्नभ्येयाद्यथा पात्राणि
 कौलालानि लघुडेनाप्रतिषिर्ष्यमानो भिन्दन्कश्चिदभ्येयादेवमभ्येतु रक्षसो
 भिन्दन् सतः प्रदेशात् । दूरादित्यर्थः ।

१० 'त्वो नेम' इति एते नामनी अर्धस्य । 'त्वः अपततः' । अपेत्य ततः
 अपततः । 'नेमः अपनीतः' । अपमज्य नीतः । पूयकृत इत्यर्थः ।
 'अथ हरतेर्विपरीताद्वारयतेर्वा स्यात्' । 'उद्धृतं' हि तद्
 'भवति' । 'ऋग्नोतेर्वा स्यात्' । 'ऋद्धतमः' अभिसंपन्नतमः
 'विभागः' भवति । 'पीयति त्वो अनु त्वो गृणाति' 'नेमे
 १५ देवा नेमेऽसुराः' 'इत्यपि निगमौ भवेतः' ।

'त्वः' इत्यस्य बोधा मे अस्य यर्धसो यविष्ट मंहिष्टस्य प्रभृतस्य
 स्वभावः । पीयति त्वो अनु त्वो गृणाति वन्दः-

रंस्ते तन्धं वन्दे अग्ने' [ऋ० सं० १ । १४७ । २] ॥ त्रिष्टुप् । दीर्घत-

मस आर्धम् । अग्नेयी । प्रातरनुवाकाश्विनयोः शस्यते । [आश्व० श्रौ०
 ४ । १३ । ७] । हे भगवन्नग्ने यविष्ट युवतम योध बुभ्यस्व मे मम
 २० अस्य वक्षसो मंहिष्टस्य दातृतमस्य पूजयितृतमस्य वा महत्तमस्य वा
 प्रकृष्टैर्भवद्गुणेः संभृतस्य । हे स्वभावः अन्नवन् ये गुणा अस्य वक्षसस्ता-
 न्योध । किञ्च । इदमपरं शृणु । उभयेषां प्राजापस्यानां देवासुराणां द्वेधा
 विभक्तानां पीयति त्वः हिनस्त्येकमर्धमसुराण्यम् । अनु त्वः अनुगृणात्ये-
 २५ कर्म देवास्यम् । अनुधौतीत्यर्थः । तत्रैवं सत्युभयथा विप्रतिपन्नेषु प्राजा-
 पत्येषु वन्दारः वन्दनशीलस्तेऽहं वन्दे दैवं पञ्चमाश्रितो हितासुरं तत्रैतां

१ ग. ज. "सति परि". २ ग. च. ज. "ये त्वामिन्द्रं.". ३ क. ख. ग. ज.
 यातने. ४ ट. प्रतिविष्ट" व. ५ ग. ज. "दतः". ६ ग. च. ज.
 ७ ग. च. ज. "वचसो". ८ ग. च. ज. "वच". ९ ग. च. ज. "नुस्तीती".

तन्वं तन्ं ज्वलनदहनप्रकारीकरणसमर्था नित्यकालमेव प्रातर्मध्यंदिने
सायं च वन्दे । स्तौमीत्यर्थः । तथास्य ममैवं भक्तस्य बुद्ध्यस्व । अस्य
वचसो ये गुणास्तांश्च बुद्ध्वा प्रसादमभिमतेनार्थेन नः कुरुष्वेत्यभिप्रायः ।

‘नेमे देवा नेमेऽसुराः’ इति ब्राह्मणवाक्यमेवेदं वाजपेये मैत्रा-

‘नेमे’ इत्यस्य यणीयानाम् [मैत्रा० सं० १ । ११ । ९] । ५
अर्धसो देवा अर्धतोऽसुरा आसन्नित्यर्थः ।

‘ऋक्षाः स्तृभिरिति नक्षत्राणां’ नामनी । नक्षत्रशब्दं पर्यायानिधानप्र-
सक्तं निर्ब्रवीति । ‘नक्षत्राणि नक्षतेर्गतिकर्मणः’ गत्यर्थे वर्तमानस्य । एतानि
हि नित्यमेव गच्छन्ति । ‘नेमानि क्षत्राणीति च ब्राह्मणम्’ । नेमानि क्षत्राणि
धनानि । क्षत्रमिति धननाम [निष० २ । ९ । ९] । किं तर्हि । धन- १०
सरूपाण्येतानि सूर्यरश्म्यनुवेधादभ्ययानि सन्ति हिरण्यमानीव भ्राजन्त इति
सु ब्राह्मणम् । तुशब्दार्थे चशब्दः । ‘ऋक्षा उदीर्णानीव’ एतानि उदी-
रितानीव केनचिदूर्ध्वं गमितानीव ‘रूपायन्ते’ । दृश्यन्त इत्यर्थः ।
‘स्तृभिः स्तौर्णानीव रूपायन्ते’ । दृश्यन्ते ।

‘अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृशे कुहं चिद्वैद्युः । अद- १५.

ब्धानि वरुणस्य व्रतार्तिं विचाकशच्चन्द्रमा नक्तं-

‘ऋक्षाः’ इत्यस्य मेति’ [ऋ० सं० १ । २४ । १०] ॥ शुनैः शेषस्या-

र्मम् । त्रिष्टुप् । वारुणी । वरुणश्चास्यां सूर्य उच्यते ।

अमूनि यानि नक्षत्राणि निहितासः निहितानि अवस्थापितानि उच्चा । उच्चै-
रित्यर्थः । किंच । तानि नक्तं ददृशे । रात्रावेतानि दृश्यन्ते । कुहं चिद्वि- २०
द्युः । न विज्ञायते कं चिद्वैतानि गच्छन्तीति । किमेतत्स्यात् । अदब्धानि
अनुपहिंसितानि वरुणस्य आदित्यस्येतानि व्रतानि कर्मण्यार्थभूतानि स्युः ।
किमन्यद्भविष्यति । स हि भगवानादित्य एतानि कुतश्चिदानयन्निष्ठास्तं
गच्छति पुनश्चेतान्यर्पणयन्निबोदेति । तदेवं दर्शनमदर्शनं वैतेषां सूर्यकृत-
मेव । यदपि चैतद्विचाकशदीप्यमानश्चन्द्रमा नक्तमेति तदप्यस्यैव भगवतः २५

१ ठ. ड. ‘दूर्ध्वगमितानीव. २ ग. ख. ज. दृश्यन्ते । ३ उ. अमी’. ४ ग.
च. ज. निहितास उच्चा । शुनः°; घ. ड. निहितासः । शुनः°. ५ ठ. ड.
नक्तमेति । अमी य ऋक्षा इत्येषा शुनः°. ५ क. स. विज्ञायन्ते हि क°; घ.
ड. ठ. ड. विज्ञायन्तेऽहि क°; च. विज्ञायन्ते क°. ६ ठ. ड. ‘भैतान्यान् १°.
७ घ. ड. ठ. ड. दधपि.

सूर्यस्य कर्म । अयमेव हि चन्द्रमसि दीप्तिमादधान इवास्तं
गच्छति पुनश्चाक्षिपन्निव चन्द्रमसो दीप्तिमुदेति । योऽयमेवंस्वभावो
वरुणस्तं वयमभिप्रेतार्थेसिद्धये स्तुमः स इदं नामास्माकं करोत्विति ।

५। ऋतावानं विचेतंसं पश्यन्तो धामिब स्तुभिः । विश्वेषामध्वराणां हस्त-
र्तारं दमेदमे [ऋ० सं० ४ । ७ । ३] ॥ गौतमपुत्रस्य वामदेव-

स्यार्पम् । अनुष्टुप् । आग्नेयी । ऋतावानं यज्ञ-
'स्तुभिः' इत्यस्य वन्तं विचेतसं विभूतप्रज्ञानं विश्वेषां सर्वेषाम्
अध्वराणां यज्ञानां हस्तर्तारं हसनकर्तारम् ।

१० उपज्वलिते हि तस्मिन्प्रहसित इव यज्ञश्चारुरूपो भवति । अथवा हस्तर्तारं
स्पर्धाकर्तारम् । उपज्वलिते हि तस्मिन् आतृव्यपक्षैः सह संस्पर्धन्त इव
यज्ञाः । तमेवंगुणयुक्तमग्निं पश्यन्तो वयमनेकधा विद्वतं दमेदमे यज्ञगृहे
यज्ञगृहे तासु तासु क्रियासु व्यापृतं स्तुमः । किंच । योऽनेकधा दीप्य-
मानो धामिब स्तुभिः नक्षत्रैः पृथिग्भिः चित्ररूपां वेदीं वा करोति स नोऽभि-
ष्टुतोऽभिप्रेतानर्थान् साधयत्वित्याभिप्रोयः ।

१५ 'वस्त्रीभिरुपजिह्विको' इति । एते 'सीमिकानां' नामनी भवतः । या
एताः पिपीठिका उर्ध्वन्ते लोके ता इमाः सीमिकाः । 'वस्त्रो वमनात्' ।
ता हि वमन्युदकं येन मृदादीभ्यति । 'सीमिकाः स्पमनात्' । स्पमन्ति
हि ताः । नित्यमेव गच्छन्तीत्याभिप्रायः । 'उपजिह्विकाः उपजिह्व्यः' ।
उपजिह्वन्ति हि ताः । पट्टु हि तासां प्राणेश्चिदयं भवति । द्वयोरपि नाम्नो-
२० रैकनिगमः ।

यदृत्युपजिह्विका यद्वस्त्रो अतिसर्पति । सर्वे तदस्तु ते घृतं तज्जुपस्त
यविष्टम् ॥ तैत्तिरीयके पठ्यते [तै० सं० ४ ।

'वस्त्रः' 'उप- १ । १० । १ ।] । यदृत्युपजिह्विका । मार्ग-
जिह्विका' इत्यनयोः वस्य प्रयोगेऽस्यैवार्पम् । उरुष्येऽग्नौ समिदनया
२५ हूयते [मान० श्रौ० ६ । १ । ३] । यत्

१ ग. ख. °निति । ३८। ऋता०. २ ग. ख. ज. घ. ट. विचेतसं गौतम०. ३
ठ. ड. विभूतज्ञानं. ४ ग. °प्रायः । २५। वस्त्री०. ५ घ. ट. °ल्लिकानां । एते नाम०.
६ क. ख. घ. ट. ठ. ड. इत्युच्यन्ते. ७ क. ख. ग. ज. रेक एवं नि०. ८ म.
°ममः । ३८ । यद०. ९ ग. ज. 'यदृष्टि० पठ्यते' नास्ति. १० ट. ड. यद-
३० चीति । मार्ग०. ११ ग. च. ज. प्रउगस्ये०.

यद्यर्थे । अति मध्ययति उपजिह्विका अन्तरणुप्रविश्य यच्चातिसर्पति
आर्द्रया शृदा परिवेष्टयन्नेव वस्त्रः । वह्निं शक्नोत्यक्तुं खदिरसारादि । सर्वं
तदुभयजातीयमपि तत्र हे भगवन्मो घृतमस्तु । तत्र त्वं घृतीभूतं जुपस्व
संसेवस्व हे यविष्ठय युवतमै ।

‘ऊर्दरं कृदरमिषावपनस्य’ एते नामनी भवतः । उच्यते यस्मि- ५
न्यवादि धान्यं कुरूलोऽन्यत्र वा वैणवाद्यौ कस्मिंश्चित्तदूर्दरमिति कृदरमिति
न । यदावपनमाहुः प्राकृतेन लौकिकास्तदावपनमित्युच्यते । ‘ऊर्दरम्’
ऊर्ध्वं हि तद् ‘दीर्णं भवति’ । अथ ‘वा ऊर्जे’ तदर्थाय ‘दीर्णं’
भवति । ऊर्गित्यननाम । तद्भुत्तये हि तर्द्धुविरीभूतं भवति । शुविरमि-
त्यर्थः । ‘तमूर्दं न पूणता’ ‘समिद्धो अङ्गेन’ इति निगमौ । १०

‘अर्ध्वर्यवो यो दिव्यस्य वसो यः पार्थिवस्य क्षम्यस्य राजा ।
तमूर्दं न पूणता यवेनेन्द्रं सोमैर्मिस्तदपो वो अस्तु’ [ऋ० सं० २ ।
१४ । ११ ।] ॥ गृत्तमदस्येयमार्षम् । त्रिष्टुप् ।

‘ऊर्दरम्’ इत्यस्य ऐन्द्री । हे अर्ध्वर्यवो य इन्द्रो दिव्यस्य धुलो- १५
काश्रयस्य वसो वसुनो धनस्य यश्च पार्थिवस्य
अन्तरिक्षलोकाश्रयस्य । पृथिवीत्यन्तरिक्षनामसु पठितम् [निष० १ ।
३ । ९ ।] । यश्च क्षम्यस्य भूष्णाश्रयस्य राजा अधिपतिस्तमेवंगुणयुक्तमि-
न्द्रम् ऊर्दरं न ऊर्दरमिव पूणत पूरयत यवेन । यथा कश्चिन्ननुष्य ऊर्दरं
यवेन पूरयेत्तथा यूयमिन्द्रं सोमैः पूरयत । तदपो वोऽस्तु । तदः कर्मस्तु
सर्वमन्पन्मुक्त्वेत्यभिप्रायः । २०

‘समिद्धो अङ्गकृदरं मतीनां घृतमग्ने मधुमपिन्वमानः । वाजी
महन्वाजिनं जातवेदो देवानां वक्षि प्रियमा
‘ऊर्दरम्’ इत्यस्य सधस्थम् [य० वा० सं० २९ । १ । तै० सं० ५ । १ ।
११] ॥ आप्रीसूक्तमाध्यवेऽधमेधे । तत्रेयं

१ म. य. ज. घ. ठ. ड. ‘सारादि सर्व । तदु’ . २ म. ‘तम । ३९ । ऊर्द’ . ९५
३ घ. ड. ऊर्ध्वं . ४ घ. ठ. ड. कुरूलो; ट. कुरूलो’ म. ५ म. ज. ‘तत्’ नास्ति.
६ म. ज. ‘दीर्णमिषो वा यमाहुः प्राकृ’; च. ‘दीर्णमिति वैणवाहुः प्राकृ’ आवपन.
७ घ. ट. ‘दीर्णमिषाति’; ठ. ड. ‘दीर्णमिषेति’ . ८ म. ज. तत्सुपि’ . ९ ठ. ड.
पूणता यवेन. १० ठ. ड. अग्रकृदरं मतीनामिति. ११ ग. च. ज. ‘वनी । ४० । अण’
१२ ग. च. ज. घ. ठ. ट. वसो । सुत्स’ . १३ य. च. ज. ‘मास्यः । ४१ ।
सावि’ . १४ घ. ट. ठ. ड. अत्रचित्पायीमूक’; च. ऋट् न पठवते. २१

प्रथमा ओषी । हे भगवन्नम्रे समिद्धः संद्रीतस्त्वम् अञ्जगमयन्नात्मानं
 प्रति कृदरम् आवपनं मतीनाम् । देवानां हि सर्वेषां घृतमावपनं मती-
 नाम् । ते हि तत्र सर्वा मतीः प्रक्षिपन्ति मेमेदं स्यादिति । तदेवमुण्युक्तं
 घृतं मधुमत् मधुस्वादयुक्तं पिबमानः । पिवन्नित्यर्थः । अथवा देवान्प्रति
 प्रक्षारयन् वार्जा आत्मना वेजनवान् चैलनवान्परेभ्यो वा भयर्दाता । हे जात-
 वेदो वहन्नेनमाश्रमेधिकं वाजिनमुच्यसे अस्माभिः । प्रियमेतं वाजिनं
 देवानां समानं^१ स्थानमाभिमुख्येन शीघ्रतरं वक्षि वह । प्रापयेत्यर्थः ॥२०॥

- १० रम्भः पिनाकमिति दण्डस्य । रम्भ आरभन्त एनम् । आ
 त्वा रम्भं न जित्रयो रम्भेर्त्यपि निगमो भवत्यारभामहे त्वा
 जीर्णा इव दण्डं पिनाकं प्रतिपिनष्टयेनेन कृत्तिवासाः पिनाक-
 हस्तोऽवततधन्वेत्यपि निगमो भवति^२ मेना ग्रा इति स्त्रीणां स्त्रिय-
 स्त्पायतेरपत्रपणकर्मणोमेना मानयन्त्येना ग्रा गच्छन्त्येनाः । अमे-
 नाश्चिज्जनिवतश्चकर्थ । ग्नास्त्वाकृन्तन्नपसोऽतन्वतेनेत्यपि निगमो
 १५ भवतः श्रेयो वैतस इति पुंस्त्रजननस्य । श्रेयः श्रपतेः स्पृशतिकर्मणो
 वैतसो वितस्तं भवति । यस्यामुद्यन्तः ग्रहराम श्रेयम् । त्रिः स्प
 माहः श्रथयो वैतसेनेत्यपि निगमो भवतोऽप्येनेत्युपदेशस्य ।
 अया ते अग्ने समिधा विधेमेति स्त्रियाः । एना वो अग्निमिति
 नपुंसकस्य । एना पत्या तन्वं १ सं सृजस्वेति पुंसः । सिपक्तु
 २० सचत इति सेवमानस्य । स नः सिपक्तु यस्तुरः । स नः सेवता
 यस्तुरः । सचस्वा नः स्वस्तये । सेवस्व नः स्वस्तये । स्वस्तीत्य-

१ च. ट. ठ. ड. 'आषी' इत्यस्यानन्तरमुक्तंयते. २ क. ख. घ. ट. अग्रे
 भगवन्. ३ च. सर्वगनीः. ४ घ. ट. ममेदं मेमेदं स्या. ५ क. ख. घ. ट. ड.
 वहन्; ट. वहन् क्षरय; ग. च. प्रक्षययन्. ६ ग. ज. वाजी वहन् आत्म;
 २५ च. 'वाजी' नास्ति. ७ क. ख. घ. ट. ठ. ड. वलनवान् ८ घ. ट. भयप्रदाता.
 ९ च. 'मेधिवाजि'. १० क. ख. घ. ट. ठ. ड. समानस्थान. ११ क. ख.
 ३; ठ. ड. 'त्यर्थः । इति निरुक्तवृत्तौ (ड. नैऋत्पाध्ये) तृतीयाध्याये विंशति-
 तमः खण्डः । २० । (ड. अहो नास्ति); इतरेष्वहो नास्ति. १२ क. ख. छ.
 द. द. 'वति । आर'. १३ छ. त. भवति । १३ । मेना; द. भवति । ४ ।
 २० मेना. १४ क. ख. छ. त. द. भवनः । अर्थ.

विनाशिनामास्तिरभिपूजितः स्वस्तीति भ्यसते रेजत इति भय-
वेपनयोः । यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेताम् । रेजते अग्ने पृथिवी
मखेभ्य इत्यपि निगमौ भवतः । द्यावापृथिवीनामधेयान्युत्तराणि
चतुर्विंशतिस्तयोरेषा भवति ॥ २१ ॥

‘रम्भः पिनाकमिति दण्डस्य’ एते नामनी । ‘रम्भ आरम्भत एनम्’
अस्खलनार्थम् । ‘आ त्वा रम्भं’ ‘कृत्वासाः पिनाकहस्तः’ इति
निगमौ ।

‘आ त्वा रम्भं न जित्रयो ररम्भा शवसस्पते । उश्मसि त्वा सधस्य
आ’ [ऋ० सं० ८ । ४५ । २०] ॥ काण्वस्य त्रिशोकस्यार्पम् ।
पेन्द्री । गायत्री । अतिरात्रे महाव्रते [ऐ० आ० ५ । २ । ३] च

शस्यते । हे भगवन्निन्द्र आरभामहे वयं त्वा
रम्भं न दण्डमिव जित्रयः । जीर्णा इत्यर्थः ।
रम्भ इत्यस्य यथा वृद्धाः केचिदण्डमारभेरन्नवृद्धमन्नार्थमेव-

भारभामहे त्वां हे भगवन् शवसस्पते बलस्य पते । त्वं न
आश्रय इत्यभिप्रायः । किंच । उश्मसि त्वा कामयामहे त्वां नित्यमेव सधस्ये
समान एकस्मिन्स्थाने यन्नायतवेऽवस्थितं त्वामाभिमुख्येन यष्टुं स्तोतुं
वेत्यभिप्रायः ।

‘पिनाकं प्रतिपिनद्वयेनेन’ । हन्तीत्यर्थः । ‘एष ते रुद्र भागस्तेनाव-
सेन पुरो मूर्जवतोऽस्तीहि । अवततधन्वा पिना-
पिनाक इत्यस्य कहस्तः कृत्वासाः’ ॥ एषं ते रुद्र भागस्तेनेति

त्रैयम्बकाः पुरोडाशा अनेन मन्त्रेण वृक्ष आस-
र्यन्ते । हे भगवन् रुद्र एष ते तव भागः । तेनावसेन तेन पश्यदनेन परः

१ छ. त. द. ‘नाशनामा’ । २ क. ख. छ. त. द. सु अस्ती° । ३ क. ख.
४; छ. त. २४; द. ४. ग. घ. ज. ‘गमी’ । ४२ । आ° । ५ ग. ज. घ. द.
जित्रयः । काण्व° । ६ ग. ज. काण्वस्य त्रिशोकस्यार्पम् । ७ घ. द.
ठ. ड. ‘निन्द्र रम्भ आ’ । ८ ग. ज.° त्यर्थः । ४२ । एष° । घ. ट. ‘घ.
°त्यर्थः । ४२ । एष° । ९ ठ. ड. भागस्तं वृषत तेनाव° । १० ठ. ड. ‘वनोऽस्ती-
हवत° ।

‘परस्तान्भुजवतः पर्वतात् अतीहि अतिगच्छ । मात्रैव स्थाः’ । कथं च पुन-
रंतीहि । पिनाकहस्तो मूल्या कृत्तिवासाधर्मवासा अवततधन्वा चैवमतीहि ।

‘मेना आ इति’ एते ‘स्त्रीणां’ नामनी । पर्यायभिधानप्रसक्तमुच्यते ।
‘क्षिपः स्थायतेः’ अपत्रपणार्थस्य लज्जनार्थस्य । ‘लज्जन्ते’ हि ताः ॥
‘मेना मानयन्त्येनाः’ पुरुषाः । ‘आगच्छन्ति हि एनाः’ मैथुनेन धर्मेण ॥
‘अमेनाधिद्’ ‘आस्त्वा कृन्तन्’ इति निर्गमौ ।

‘आ प्र द्रव हरेवो मा वि वेनः पिसङ्गराते अमि नः सचस्व । नहि
त्वदिन्द्र वस्यो अम्यदस्यमेनाधिजनिवतध्वकर्षे

मेना इत्यस्य [अ० सं० ५।११।२] ॥ अयस्योरात्रेयस्यार्पणम् ॥
त्रिष्टुप् । ऐन्द्री । हे हरिव आभिमुख्येनास्मा-

ध्वकर्षेण द्रव । किञ्च । मा वि वेनः मा विगतकामो भूरस्मत्तः । हे पिसङ्ग-
राते शोभनदान अभिसचस्व नः । किञ्च । नह्यन्यदेवतान्तरं त्वत्तः प्रति-
विशिष्टतरमस्ति यत्प्रतिपद्येमहि हे भगवन्मिन्द्र वस्यो वसुमन् । किं कार-
णम् । अमेनाधित् अस्त्रीकानपि स्तोतृन्जनिवत एव स्त्रीमत एव
चकर्षे । करोपीत्यर्थः । यस्मात्त्वमेवंगुणविशिष्टस्तस्माच्च त्वामेव स्तुम इत्य-
भिप्रायः ॥

‘देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रति-
गृहामि आस्त्वा कृन्तन्नपतोऽतन्वत धियोऽवय-
आ इत्यस्य न्वरुणस्त्वा नयतु देवि दक्षिणे बृहस्पतये वासस्ते-
नामृतत्वमशीम मयो दात्रे भूषाण्मयो मह्यं प्रति-

प्रहीत्रे । क इदं कस्मा अदात्कामः कामायादात्कामो दाता कामः
प्रतिप्रहीता कामः समुद्रमाविशत्कामेन त्वा प्रतिगृहामि कामैतत्त्वे ॥
वाससः प्रतिप्रहमन्त्रेऽनुपङ्ग एष मैत्रायणीयके [१ । ९ । ४] । तद्वास
उच्यते । हे वासः देवस्य सवितुरादित्यस्य प्रसवे तेन प्रसूतोऽम्यनुज्ञा-
तोऽहं त्वां प्रतिगृहामि । अश्विनोर्देवयोर्बाहुभ्यां प्रतिगृहामि नैता-

१ क. स्त. च. लज्जन्ति. २ ग. ज. ‘गमौ । ४४ । आ ४०; च. ‘गमी
। ४५ । आप. ३ ग. ख. ज. घ. ट. वेनः । अवस्यो. ४ च. जनिमत.
५ क. स्त. ग. ज. ‘तन्वत वदिष्योऽवय’; घ. ट. उ. ङ. धियो वदिष्योऽवय.
६ क. स्त. घ. ट. ठ. ड. ‘यणीयके ताण्ड्यब्राह्मणे च अग्न्यास्वापि क्षालामु. ॥
तद्वा. ७ ग. ज. मैत्रायणीयके तद्वा. ७ ठ. ड. तच्चदात’.

म्यामेव बाहुभ्यां स्वाभ्याम् । पुष्णो देवस्य हस्ताभ्यां प्रतिगृह्णामि ।
 किंचः । ग्नास्त्वा कृन्तन् । स्त्रीभिस्त्वं कर्तितं सूत्रकरणाभिप्रायेण । अपसः
 अत्यक्तो अनुपजातपुंस्त्वाः जननासमर्थाः कुविन्दपुत्रकास्त्वामतन्वतः । ते
 हि कुविन्दानां परिकर्मकराः । प्रियोऽव्यन्धीमन्तो बुद्धिमन्तः कुश-
 लास्त्वामवयन् । कुविन्दा उतवन्तः । तदेवमभिनिष्पन्नं त्वां मह्यं बृहस्पतये
 बृहस्पत्य आत्मन्यवस्थिताय वरुणो देवताविशेषो ददाति उदकपूर्वकं
 त्वं दीयते । सोऽहमेवंगुणयुक्तत्वां प्रतिगृह्णामृतत्वममृतभावं यथामिसं-
 हितमेव अशीयः अभुग्राम् । त्वं प्रतिगृह्णमाणं मा मे मानस्याव-
 खण्डनं कारीरित्यभिप्रायः । किञ्च । मयः सुखं दात्रे भूमाद्भ-
 वतु । सुखं मह्यं प्रतिग्रहीत्रे । किञ्च । कः प्रजापतिरयं कस्मै प्रजापतये
 एवादात् ददाति । योऽप्ययं ददाति सोऽप्ययं यथादातायमपि प्रजापतिरेव-
 मभिप्रायः । वक्ष्यति हि ' क ईपते तुष्यते कः ' इति [निरु० १३]
 २६] इति । किञ्च । कामः कामायैवादात् ददाति । पुष्यं भविष्यती-
 तमेन कामेन दाता ददाति आच्छादनं भविष्यतीतीतरः प्रतिगृह्णाति ।
 एवं कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता । स काम उष्यते । हे काम एतत्ते
 दासः सकामो भवेति ।

' शेषो वैतस इति ' एते नामन्ती ' पुंस्प्रजनतस्य ' । ' शेषः
 शपते ' स्पृशत्यर्थे वर्तमानस्य । स्पृश्यते हि तेन स्त्री । ' वैतसो वितस्तं
 भवति ' । उपक्षीणं तद्वति प्रागनुस्मरणात्स्त्रियाः । ' यस्यामुशन्तः प्रहराम'
 ' त्रिः स्म माहः ' इति निर्गमि ।

१ क. ख. घ. ट. ठ. ड. कर्तितः तन्नुकरणा०. २ क. ख. धीमन्तो बुद्धिमन्तः
 कुश०. ३ घ. ट. ठ. ड. धीमन्तो. बुद्धिमन्तः कुश०. ४ क. ख. घ. ट. ठ. ड. कुश-
 ला वयिष्यस्ता. ५ क. ख. घ. ट. ठ. ड. कुविन्दास्त्रिः कृतदेवः (क ख. कृत-
 वतः); ग. ज. कुविन्दा कृतदन्तः. ६ घ. ट. ठ. ड. त्वं हि प्रतिगृह्णमाणः तव
 प्रसादान्ममैवमेतत्स्यात् । अमृतत्वभावान्म मा खण्डनं. ७ ग. ज. मा मे मा मे
 तस्य मान०. ८ क. ख. घ. ट. ठ. ड. ' बह । मयः सुखं ' ; घ. सुखं मम प्रति
 ८ क. ख. घ. ट. ठ. ड. ' ग्रहीत्रे च. ९ क. ख. ग. ज. ' व्ययं दातायम ' ; घ.
 ट. ठ. ड. ' व्ययं दाता अयमपि प्रतिग्रहीता प्रजा ' . १० ग. ज. ' दाता ' नास्ति.
 ११ क. ख. घ. ट. ठ. ड. स एव काम०. १२ ग. ज. ' यमो ' ४५ । तां. १३

‘ तां पूज्जिष्वेतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या ३ वपन्ति । या न ऊरु
 उशती विश्रयाते यस्यामुशन्तः प्रहराम शेषम् ’ [श्र० सं० १० । ८५
 ३७ ।] ॥ सूर्याया आर्षम् । कन्याप्रथमोपगमे विनियोगः । हे भगवन्
 पूजन्तामीरयस्व योनिं यस्यां योनौ बीजं शुक्रं मनुष्या वपन्ति । त्वत्कृत-
 योनिपोषे बीजमेतस्यामर्थवत्स्यात् । त्वदर्धानो हि
 शेष इत्यस्य योनिपोष इत्यभिप्रायः । येयमस्माकमूरु उशती
 कामयमाना स्त्री विश्रयाते नानाप्रकारमाश्रयते
 तस्या या योनिस्तामीरयस्व उद्गमय । बीजग्रहणाय सुपुष्टं कुरुष्व । यस्यां
 योनौ उशन्तः पुत्रजन्म कामयमानाः प्रहराम प्रतिप्रक्षिपेन शेषम् ।

१० त्रिः स्म माहः श्रययो वैतसेनोत स्म मेऽन्यैः पृणासि । पुरुरवोऽनु-
 ते केतमायं राजा मे वीर तन्व १ स्तदासीः [श्र० सं० १० । ९५ । ५] ॥

उर्वेश्या आर्षम् । त्रिष्टुप् । सा पुरुरवसा मा गा-
 वैतस इत्यस्य स्तिष्ठेयुका सत्यनयर्चा पुरुरवसं प्रत्यब्रवीत् ।
 हे पुरुरवः त्रिः स्म माहः त्रिरहो मांमवधीस्यं

१५ वैतसेन शिश्रदण्डेन पूर्वम् । उत स्म मे अपि च यावान् कश्चिदभिलाषो
 मम मनस्यासीत् सर्वमेव त्वमन्यैः पृणासि व्यतिपूरितवानेवासि । अत-
 स्तथाहमन्यायमनुगतयती केतम् । वैतस्य अनुकूल्य तत्राहमभवमित्यर्थः ।
 किंच । हे वीर तत्रा तवानुभूतायाः सत्या राजा ईश्वरत्वमस्पास्तन्वो
 अस्म मच्छरीरस्य तदा आसीः नेदानीम् । त्वं संप्रति न तथा वर्तसे

२० यथा पूर्वमतस्त्ववेदानीं नाहं समेष्य इत्यभिप्रायः ।

‘ अवैनेति ’ एते नामनी ‘ उपदेशस्य ’ । स पुनरुपदेशः स्त्रीपुनरुपसंकेष्ट
 भिक्षलिङ्गोऽतस्त्रिष्वपि प्रदर्श्यते ।

१ ग. च. ज. ‘वतमा० शेषम्’ । सूर्याया°; घ. ट. ‘वतमा० शेषम्’ । २ ग. च.
 ज. शेषम् । ४६ । त्रिः° । ३ ग. च. ज. श्रययो वैतसेन । उर्वेश्या°; घ. ट. श्रय०
 १५ स्तदासी° । ४ घ. ट. ठ. ड. मा मानवधी° । ५ क. ख. घ. ट. ठ. ड. ‘स्तन्वो
 मच्छरी°’ । ६ क. ख. घ. ट. ठ. ड. ‘आसीः तदानीं त्वं । संप्रति न तथा°’; ग. ज.
 ‘आसीः तदानीं त्वं मां संप्रति प्रति न तथा वर्तसेव यथा°’; च. ‘आसीः । नेदानीं
 त्वं संगति तथा वर्ते°’ । ७ क. ख. घ. ट. ठ. ड. भिक्षो भवति । अतस्त्रि°.
 २१ ८ ग. च. ज. ‘स्यते ! ४७ । तव°’.

तत्र 'अया ते अग्ने समिधा विधेम' प्रति स्तोमं शस्यमानं गृह्य ।
दहाशसो रक्षसः पादो १ स्मान्द्रुहो निद्रो मित्रमहो अवचात् ॥ ऋ० सं० ४ ।

अया इत्यस्य ४ । १९] ॥ इति 'स्त्रियाः' उपदेशः ।
स्त्रियामुपदेशः वायदेवस्येयमार्यम् । त्रिष्टुप् । रौक्षोन्ने कर्मणि विनि-
योगः । हे भगवन् अग्ने अया अनया समिधा
ते तव विधेम परिचर्यां कुर्मः । स त्वमेवमस्माभिः परिचर्यमाणः शृणु
यंकुरुष्व । प्रतिगृह्यायं प्रतिगृह्योमे स्तोमे स्तोत्रमस्माभिः शस्यमानमुच्चार्य-
माणं दह एतान् अशसः अशंसितुर्न अस्तोतृनात्मनो द्रुहश्च द्रोघून्स्मा-
स्तमेतान् राक्षसानिदः निन्दितुंश्च । किंच । पाहि रक्षास्माग्हे मित्रमहः
मित्राणां पूजयितः अवचादवदनीयात्कर्मणः । पाहि पापादित्यर्थः । १०

'एना वो' अग्निं नमसोर्जो नपातमा हुवे । प्रियं चेतिष्ठमरतिं
एना इति स्वर्ध्वरं विश्वस्य दत्तममृतम् । [ऋ० सं०
नपुंसकस्य ७ । १६ । १] ॥ इति 'नपुंसकस्य' उपदेशः ।
वसिष्ठस्यार्पम् । बृहती । प्रातरनुयाकाश्विनयोः
शस्यते [आश्व० श्रौ० ४ । १३] । एना वः अनेन युष्माकं
नमसा अनेनाभ्युद्यतेन ऊर्जोनपातम् अपां पौत्रम् अथवा अन्नस्यैव
पौत्रम् । आहुतिभ्यः आपोऽद्रयोऽग्निरेनया प्रणादिकयाजस्य पौत्रोऽग्निः ।
तमूर्जोनपातमग्निमाहुवे आहुये । फिलक्षणम् । प्रियमिष्टं देवानां च
मनुष्याणां च चेतिष्ठमतिशयेन चेतनावन्तम् अरतिम् अहंमिति
पर्याप्तमति स्वर्ध्वरं शोभनयज्ञं विश्वस्य यजमानगणस्य एष योऽधिष्ठतः
कर्मणि तस्य दत्तम् । हे ऋत्विग्यजमानास्तं व आतासमुदयेऽहमाहुये ।
॥ चाहूतो देवान्प्रति दैत्यं कारिष्यतीत्यभिप्रायः ।

१ ठ. ड. 'तत्र' नास्ति. २ ग. घ. ज. घ. ट. 'विधेमति स्त्रियाः'. ३ क.
रं. रक्षो; म. ज. रक्षोऽग्रक; घ. रौक्षो र. ४ क. रा. घ. ट. ठ. ड. 'द्रुह-
नेमं'. ५ क. स. घ. ट. ठ. ड. 'द्रोघू'. ६ क. रा. घ. ठ. ठ. ड. 'पाहि'
नास्ति. ७ ग. घ. ज. 'त्यर्थः'. ८ ग. घ. ज. घ. ट. 'अग्निमिति
नपुंसक'. ९ क. रा. घ. ट. ठ. ड. 'अपानां पौत्रं'; म. ज. 'पौत्रं'. १० क. रा. घ.
ट. ठ. ड. 'अहमति'. ११ क. स. घ. ज. 'दौतरं'.

“ एना पत्या तन्वं संसृजस्वेति पुंसः ” उपदेशः । इह प्रियं प्रेजया ते।
समृध्यतामस्मिन्गृहे गार्हपत्याय जागृहि । एना पत्या तन्वं १ संसृजस्वाधा-

जित्री विदध मा वंदाधः । [ऋ० सं० १० ।

तस्यैव पुंसः ८५ । २७] ॥ सूर्याय आर्यम् । जैगती ।

यधूरनया गृहान्प्रवेस्यते [आश्व० गृ० १ । ८ ।

८] । सोच्यते । हे वधु इहैतस्मिन्गृहे प्रजया युक्तायाः सत्यास्तत्र यत्प्रियं
तत्समृध्यताम् । किंच । अस्मिन्गृहे त्वं गार्हपत्याय जागृहि । गृहपतिमावायावै-
हिता भवेत्यर्थः । किंच । एना पत्या अनेन मर्त्ता सह स्वां तन्तुं संसृजस्वा-
मिश्रीकुरु । अथैवं सौमनस्ये वर्तमानौ जित्री जीर्णौ यावत्तावदविमुञ्चमानौ-
१० परस्परं विदधं यज्ञम् आभिमुख्येनावस्थितौ सन्तौ यज्ञसंबद्धानि-
वृत्तांसि वदतमित्याशीः ।

‘ एना वो अग्निं नमसा ’ ‘ एना पत्या ’ इति समानेऽप्येनाशब्दे-
स्वरान्ते एतस्मिन्नुपपदविशेषादेकस्य नपुंसकविषयत्वमेकस्य पुरुषविषयत्वम् ।
एकत्र नम इत्युपपदमेकत्र पतिशब्दः ।

१५ ‘ सिपक्तुः सचते इति ’ एते नामनी ‘ सेवमानस्य ’ । ‘ स. नः-
सिपक्तु ’ ‘ सचत्वा न ’ इति निर्गमौ ।

‘ यो रेणान्यो अग्नीवेहा वसुबितुष्टिर्धनः । स. नः सिपक्तुः यस्तुरः ।
[ऋ० सं० १० । १८ । २] ॥ मेधातिथेरापम् । अग्न्युपस्थाने विनियुक्ता ।
[मान० श्रौ० १ । ६ । २ । ११] । सोमानं स्वरणमित्यस्या ब्राह्मणस्याया-
२० इयमनन्तर । तेनेयमपि ब्राह्मणस्यैव स्यात् । उक्तं चाह्वरकाणां ‘ ब्राह्मण-

स्यत्याभिरग्निमुपतिष्ठेत् ’ इति । हे भगवन-
सिपक्तुः इत्यस्य ब्राह्मणावते यो रेणान्यभिधानं धनं अग्नी-
वेहा अग्न्यमनहा रोगहा वसुविधे वसुनो
धनस्यापूर्वस्यापि लब्धा यथ पुष्टिवर्धनः धनपोषस्य वर्धयिता

२५ १ ग. च. ज. ‘ देशः । ४९ । ३६ ’ । २ ग. च. ज. प्रजया समृध्यतामिति ।
सूर्याः ५. ट. प्रजया० वक्ष्यः २. ग. ज. विष्टुः ४ ग. ज. ‘ या निहिता-
५ क. ख. घ. ट. ठ. ड. तन्वं तनुं. ६ क. ख. घ. ट. ठ. ड. एकस्मिं०.
७ ग. च. ज. सिपक्ति. ८ ग. च. ज. गमौ । ५० । यो०. ९ ग. च. ज. घ. ट.
अग्नीवेहेति । मेधा०. १० ठ. ड. सोमानं स्वरणमिति. सर्वा ऋक् पठ्यते. ११ ठ.
२० ड. ‘ इति ’ नास्ति. १२ ठ. ड. ‘ च ’ नास्ति.

सोऽस्मान्सिपत्तुः सेवतां पुत्रो युष्मत्प्रसादायश्च तुरः पूर्णकरी । पटु-
रित्यर्थः ।

“स नः पितेर्वसून्वेऽग्ने सुपायनो बंध ॥ स्वर्चां नः स्वस्तये”
[ऋ० सं० १ । १ । ९] ॥ मधुच्छन्दस आर्यम् । अग्न्युपस्थाने
विनियुक्ता [आन० श्री० १ । ६ । २ । ९] । हे मगवानग्रे यं
त्वां ययं परित्वरामः सोऽस्माकं त्वं पितेः
सचतैरित्यस्य सूनवे पुत्राय सुपायनः सुपगमनः सुपचारो
भव । उपचीर्णश्च सचस्या नः स्वस्तये सेवस्व
नः स्वस्तये स्वस्त्ययनाय ।

निगमंप्रसक्तमुच्यते । “स्वस्त्योति एतत् अविनाशिनः” अर्थस्य
“नाम” । अन्ये त्वर्थायते “अविनाशनाम” इति । तेषामविनाशस्यैव
नाम । तत्त्वमुक्तमधुना व्युत्पत्तिं ब्रवीति । “अस्तिः” अयम् “अभि-
पूजितः” सुपूर्वः सन्नुच्यते स्वस्तीति ।

“भ्यसते रेजते इति” एते नामनी “भ्यवेपनयोः” । “यस्य शुभमा-
द्रोदसी” “रेजते अग्ने पृथिवी” इति “निगमौ” । यो जात एवेति ।
उपनिषद्भिः [निरु० १० । १०] ।

“प्र चित्रमर्कं गृणन्ति तुराय भारुताय स्वतवसे भरवम् । ये सहांसि
सहसा सहन्ते रेजते अग्ने पृथिवी मखेभ्यः”
रेजते इत्यस्य [ऋ० सं० ६ । ६६ । ९] ॥ भारुताजस्ये-
यमार्यम् । त्रिष्टुप् । चातुर्मास्ये वैश्वदेवे पर्वणि
याग्या [आप० श्री० २ । १६] । “आग्निमारुतां पृथिमाळमेत
वृष्टिकामः” [भैत्रा० सं० २ । ५ । ७] इत्यस्य पशोरियं पदार्थं च
[भैत्रा० सं० ४ । १० । ३] । हे स्तोतारः प्रमरष्वं चित्रमर्कं चापनीयं
स्तोमं गृणते स्वतवसे स्तनयितुशब्देन कृत्स्नं जगदुपशब्दयते तुराय त्वर-
भाषाय स्वतवसे स्वात्मवलावष्टम्भिने भारुताय गगाय । कीदृशानां पुन-
र्भस्तां गर्णाय प्रमरष्वमिति । ये मरुतः सहसा स्वेन बलेन सहांसि

१ म. य. ज. “स्वर्गः” ५१ । ४०. २ क. रा. प. ठ. उ. ड. “यं पितेः”
भास्ति. ३ ठ. ड. “पुत्राय पितेः सुपाय” ४ म. “गमो” ५२ ॥ यो. ५ ठ. ड.
तां मरु पठयते. ६ य. ज. “वेपः” ५२ ॥ य. ७ म. य. ज. गृणते तुराय ।
भरुता” ८ य. ठ. भुजने. मखेभ्यः. ८ म. य. ज. गमो यस्मिन्म. ९

परेषां बलान्यभिभवन्ति रेजते विभेति कथं वा येभ्यो मरुद्भ्यः पृथिवी
 भवेभ्यः १ महद्भ्य इत्यर्थः । य एवंगुणयुक्तौ मरुतस्तेषां यो गणस्तस्मै
 प्रमरध्वं चित्रमर्कम् । त्वमपि हे अग्ने वहैतद् द्रव्यं तेभ्यः । यदा तावन्मारुत-
 भेव केवलं हविस्तदैवमग्निप्रधानः । यदा पुनराग्निमारुतं तदा प्रमरध्वं
 चित्रमर्कमग्रये मारुताय च गणायेति स्तोत्रसंश्लेष्य ततोऽग्निं श्रवीति ।
 हे भगवन्नग्ने शृणु त्वमप्येतमर्कमेवंगुणयुक्तैर्भरद्भिः सहेति ।

‘ यावापृथिवीनामधेयानि ’ एभ्यः ‘ उत्तराणि ’ द्विसंश्लेषेनैवोच्यन्ते ।
 कियन्ति पुनस्तानि । ‘ चतुर्विंशतिः ’ । कतमानि पुनस्तानि ।
 ‘ स्वधे पुरन्धी ’ [निघ० ३ । ३०] इत्येवमादीनि । सर्वस्यास्य
 भूतप्राप्तस्य धारविष्ट्र्यौ स्वधे । पुरन्धी पुरु बर्हु धारविष्ट्र्यौ इत्येवमादि
 योज्यम् । द्विवचनेन युक्तानि यावापृथिव्योर्नामानि । तयोः साहच-
 र्याख्यापिका ‘ एषा ’ ऋग् ‘ भवति ’ । साहचर्ये हि सति द्विवचनयोग
 उपपन्नरूपो भवति नाम्नाम् ॥ २१ ॥

कतरा पूर्वा कतरापरायोः कथा जाते कवयः को वि वेद ।
 विश्वं त्पना विभृतो यद्ध नाम वि वर्तते अहनी चक्रियेव [ऋ०
 सं० १ । १८५ । १] ॥ कतरा पूर्वा कतरापरैनयोः कथं जाते
 कवयः क. एने विजानाति सर्वमात्मनाः विभृतो यद्धैनयोः कर्म
 विवर्तते चैनयोरहनी अहोरात्रे चक्रयुक्ते इवेति यावापृथिव्योर्म-
 हिमानमाचष्ट आचष्टे ॥ २२ ॥

इति तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

कतरा पूर्वा कतरेति । अगस्त्यस्यार्पम् । त्रिष्टुप् । पृष्ठयाभिप्लवयोः
 पष्ठेऽहनि [आश्व० श्री० ७ । ७] महानते च तृतीये सवने

- १ ग. ज. मरुद्भ्य इ०. २ च. 'पुता म'. ३ ग. ज. द्रव्यं. ४ च. ट. ठ.
 २५ ड. सद्गुणोति. ५ च. ट. ठ. ड. धारविष्ट्र्यो. ६ ठ. ड. 'श्रद्धा' नास्ति. ७ क.
 ख. म. प. ट. ठ. ड. 'ख्यापिका. ८ क. ख. ४; ग. ५३ । २४ सण्डः; च.
 ज. ५३; घ. ट. अग्ने नास्ति; ठ. ॥ २१ ॥ इति निरुक्तवृत्तौ तृती. एकविंशतिः
 सण्डः; ड. ॥ २१ ॥ इति ऋज्वर्यायां निरुक्तटीकायां तृतीयाध्याये एकविंशतिः
 सण्डः. १ क. ख. ५; छ. त. २५; द. ६ । २५. १० ड. घ. प. ठ. ड.
 २० ' इति पादः ' नास्ति.

[ऐ०. औ०. ५ । ३ । ३] वैश्वदेवे शस्त्रे शस्यते । स्वयमेव ताव-
द्वितर्कयन्त्यनसंसयो मन्त्रद्वयव्रीति । कर्तरानयोः द्यावापृथिव्योः पूर्वा
कर्तरा त्वपरा । न हि पौर्वार्थमनयोः स्फुटं
द्यावापृथिव्योः साह- लक्षयितुं शक्यते । केन प्रकारेणैते जाते स्याताम् ।
चर्यस्यापिक्का शक्नुः किं पौर्वार्थेणोत युगपद्वेताम् । अपि तावत्
हे कवयः को विवेद । केचिद्विस्पष्टं जानाति ।

अहं त्वेतावच्छक्नुयामागमाद्वक्तुं तस्मादुद्भूतस्य हिरण्यस्याण्डस्यैते शकले
इति । एवं ह्यहं । 'ते औण्डकपाळे रजतं च सुवर्णं चामरतां तद्यद्रजतं
सेयं पृथिवीं । यत्सुवर्णं सां योः ' [छा० उ० ३ । १९ । १—२]
इति । तेन ज्ञायतेयुगपदेवैते उत्पन्ने स्यातामिति । किंच । विश्वं सर्वं
रमना आत्मनैव विभृतो धारयतः । यद्वा नाम यदर्थमनयोर्नाम नमनं
यस्माद्भूतग्रामधारणार्थमेते नैते परिणामत्वेन तत्सर्वमेते विभृतः । किंच ।
विवर्तेते च विपर्ययेण वर्तेते चैनयोरेवान्तर्भूते अहोरात्रे चक्रियेव चक्र-
युक्ते इव । चक्रयुगलमिव अवियोगेन संयुक्ते संबद्धे इत्यर्थः । मन्त्रव्या-
ख्यानेन गतार्थमेतद्भाष्यमिति ' द्यावापृथिव्योर्महिमानपाचष्ट आचष्ट '
इत्येतत् । अनेन मन्त्रेण द्यावापृथिव्योर्महिमानं माहाभागं मन्त्रद्वयाचष्टे ।
एवमेतन्नैचण्डुकं प्रकरणं परिसमाप्तम् । अतः परमैकपदिकं भवति यस्या-
धमादिः ' एकार्थमनेकशब्दमित्येतदुक्तम् ' इत्येवमादि ॥ २२ ॥

इति श्रीजम्भूतार्गाश्रमवासिनि आचार्यभगवद्गुरुस्य कृतौ

मन्त्रव्याख्या निरुक्तवृत्तौ अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

१ घ. ट. कतराः अन^०; ठ. ड. कतरा अन^०. २ क. ख. घ. ट. ठ. ड. कश्चि-
दपि विस्प^०. ३ क. ख. घ. ट. ठ. ड. न जानाति. ४ क. ख. घ. ट. ठ. ड.
अण्ड^०. ५ क. ख. ग. ज. घ. ट. ठ. ड. 'मतेन विपरिण^०'. ६ क. ख. ग. च.
ज. ड. महा^०. ७ ग. 'सम् । ५४ । अतः^०. ८ ग. ज. तस्य^०. ९ ठ. ड. 'तदु-
क्तमथ यान्तिनेकार्थाभ्येकशब्दानि तान्यतोनुक्रमेण्यथाम इति ॥ २२ ॥ इति श्री^०.
१० क. ख. घ. ग. २५; च. ज. ५४; इतोऽप्युक्तो नास्ति. ११ ग. ख. ज.
' इति श्री ' नास्ति. १२ च. ड. 'ध्यायः समाप्तः; ठ. 'ध्यायः समाप्तः । शार्दि-
सानेतदः खण्डः । निरुक्तव्याख्याष्टमोऽध्यायः.

कर्मनोमानिपीरपेयेनहिग्रैभायशासैद्वक्षिरभ्रोतेवनर्जाप्रयेमनुप्य-
नामानितर्दद्यदशावनिभ्योऽभीदंत्वयीवयंयत्रासुपर्णोवहुनामानित-
नूत्यजेवकुहस्विच्चतुरश्रित्पिथमेधवदयर्हुसोपमान्यर्चतिद्विशोरम्भैः
कतरापूर्वा द्वाविंशतिः * ।

इति निरुक्ते पूर्वपट्टे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

* १ छ. त. द. खण्डशृङ्खला नास्ति.

१ छ. निरुक्तपूर्व; ° छ. मेरुक्तपूर्व°. २ छ. °ध्यायः समाप्तः.

कर्म १ एकोऽर्थः पृथिव्यादिरनेकेषां गवादिशब्दानां यत्र तत्त्व-
भूतः कथ्यतेऽनेके च गवादिशब्दाः पृथिव्यादेरेकस्यार्थस्य यत्राभिधा-
यिनः कथ्यन्ते तदिदमेकार्थमनेकशब्दं प्रकरणम् । अत्रैकेनार्थेनानेके शब्दा
लक्ष्यन्तेऽनेकैः शब्दैरेकोऽर्थः । ततो लक्षितलक्षणया वृत्त्या प्रकरणं लक्ष्यते ।

५ अत्र पुनर्नवपि गतिकर्मणा द्वाविंशतिशतसंख्यानामविशिष्टं गमनमेकोऽर्थः
उक्तस्तथापि प्रसिद्धयनुपरोधाय कसति लोठते
एकांर्थानामनेकेषां शब्दानां विशिष्टोऽर्थो एव द्रष्टव्यः । तद्यथा य एवोक्तदिकं उरसा वा
यथा गव्यर्थानाम् गच्छति स एव कसतीत्युच्यते नेतरो य ऊर्ध्वो
गच्छति । तथा च य एव निम्नेन प्रदेशेन कश्चिद-

१० चेतनो लोष्ट्रादिरन्यो वा चेतनः पुरुषादिरकामकारेण गच्छति स एव लोठत
इत्युच्यते बान्यः । तथा च । यदेव द्रवद्रव्यं किञ्चित्तवति तदेव श्रोतत
इत्युच्यते नान्यत् । एवं गच्छतिकर्मणामेकार्थत्वेऽपि सति प्रसिद्धिस्तामर्प्या-
न्नमनविशेषेषु यथार्थं विनिवेशो द्रष्टव्यः । देशान्तरप्राप्तिस्तु चलनपूर्विका
१५ सर्वेषां समानं कार्यमित्यत एकार्थत्वमेवामुक्तम् । सामान्यशब्दाश्च कचिद्विशो-
पवाचिनो भवन्ति विशेषसंज्ञाश्च कचित्सामान्यवाचिनस्तदनुपेक्षितव्यम् ।

‘एकार्थम्’ अनेन स्यात्सतो नैषण्डुकं प्रकरणमनुमृतेम् । अथेदानीं
यद्व्याख्यातव्यं तत्समासतः प्रतिज्ञायते । ‘यान्यनेकार्थान्येकशब्दानि’ पुर-
स्तात्समासतः सूचितान्येतावतामर्थानामिदमभिधानमित्येष [निर० २।५]
२० ‘सान्यतः’ परम् ‘अनुक्रमिष्यामि’ व्याख्ययेत्यभिसंबन्धः । किंलक्षणा
पुनरिह व्याख्येति । तदुच्यते ‘तत्त्वं पर्यायशब्देन व्युत्पत्तिश्च द्वयोरपि
निगमो निर्णयश्चेति व्याख्येयं नैगमे पदे’ ॥ यान्ये-

व्याख्याया लक्ष- ता नि दयत्यकूपादीनि पदान्यनेकेरर्थैरुपदयादान-
णम् दहनहिंसादिभिरर्थवन्ति यानि चैतान्यर्थजातान्युप-
२५ दयादानदहनहिंसादीन्येकशब्दवाच्यानि तान्येव-
मितरेतरविशेषणविशेष्यभावलक्षणोपलक्षितान्येकप्रकरणतामुपगतायेवंप्रका-
र्यैकपदिकप्रकरणव्याख्ययानुक्रमिष्यामः । वर्णयिष्याम इत्यर्थः । अत्रार्थ-

१ ग. ज. ‘इत्युक्तं’ नास्ति. २ घ. ट. ड. ह. ज. ‘लोष्टादि’. ३ ग. ज.
स १६; घ. स १६. ४ ग. ज. ‘महिंसा’. ५ ग. ज. ‘लुप्तं’; च. ‘लुप्तं’ म.
६ १५, ट. ‘तान्येता’.

स्यामतीयमानस्य पर्यायाभिधानेन विमज्ज्य प्रतिपादनं व्याख्या । शब्दस्यापि व्युत्पादनं व्याख्या । एवमेते द्वे व्याख्ये । तयोर्परिज्ञानमेकस्याः कार्यं शब्दपरिज्ञानमेकस्याः । तदेतदुभयमध्येकैकस्मिन्नैगमे पदे यथासंभवं व्याख्यास्यते । आह । किमनेकार्थान्येव एकपदिकप्रकरणविषयः केवलान्यस्मिन्प्रकरणे व्याख्यायन्ते । नेत्युच्यते । अनवगतसंस्कारांश्च निगमान् । अनवगतसंस्कारान् अविज्ञातसंस्कारानित्यर्थः । येषां प्रकृतिप्रत्ययादिसंस्कारो न साकल्येन ज्ञापितस्तांश्च निगमांस्तैश्च व्याख्यास्यामः । पूर्वाणि चानेकार्थान्यनवगतसंस्कारांश्चेति चशब्दः । तदेतदेवप्रकारं प्रकरणं यत्रैतदुभयं व्याख्यायते 'तदैकपदिकमिति' अनेन नाम्नान्येऽप्याचार्या 'आचक्षते' । निरुद्धा हीयमस्मिन्प्रकरणे संज्ञेत्यभिप्रायः । पूर्वस्मिन्प्रकरणे गणशः तान्नः प्रयोजनम् प्रदानां विरचनामपेक्ष्यैतदैकपदिकमुच्यते । अत्र द्वैकैकमेव पदं समाधत्तम् । तद्यथा । 'जहा निधा' इत्येवमादीनि । यत्र पुनः कचिदनेकान्यपि सामान्नातानि तद्यथा 'देवो देवाध्या कृपा' 'सोमो अक्षाः' इत्येवमादीनि तत्रैव तत्प्रयोजनं यद्व्यासः । एवं प्रकरणार्थं संक्षेपतः प्रतिज्ञाय क्रमेण वर्णयित्वाच प्रथमं यत्पदं तदुपादीयते 'जहा' [निघ० ४ । १ । १] इति । आह । किमेतदनवगतसंस्कारमुत्तानेकार्थम् । उच्यते । अनवगतसंस्कारम् । केपम् । शृणु । जघानेत्येवमवस्थितेनावगतसंस्कारेण योऽर्थ उच्यते स च जहेत्यनेनानुपपन्नसंस्कारेणोक्तो भवति । अत्र हन्तेर्जहातेश्च संदेह इति भाष्यकारेणावधूतं 'जघानेत्यर्थः' इति । आह । कुतः पुनार्थोपाधधारणं हन्तेरेवात्र रूपं न पुनर्जहातेरिति । उच्यते । निगमात् । कतमः पुनरसौ निगम इति ॥ १ ॥

१ क. ए. 'सायते'; घ. ट. 'ज्ञापितं' यत्ते. २ क. ए. घ. ट. ड. 'मान् अत्रैव'; घ. 'मान् तत्रैव' अ; ट. 'मान्त्रैव' मान् त. ३ ग. घ. ज. कर्ममर्तु. ४ ग. ज. 'शृणु' नास्ति; घ. कथं 'जघाने' शृणु. ५ ट. ड. ॥ १ ॥ इति निरुक्तटीकायां चतुर्थाध्याये प्रथमः खण्डः.

को नु मर्या अमिथितः सखा सखायमवधीत् । जहा को
अस्मदीपते [ऋ० सं० ८ । ४५ । ३७] ॥ मर्या इति मनुष्य-
नाम मर्यादाभिधानं वा स्यान्मर्यादा मर्यादीयते मर्यादा मर्या-
दिनोर्विभागो येथतिराक्रोशकर्मापापकं जघान कमहं जातु
कोऽस्मद्भीतः पलायते निधा पाश्या भवति यन्निधीयते पाश्या
पाशसमूहः पाशः पाशयेतेर्विपाशनात् ॥ २ ॥

- को नु मर्येति । त्रिशोकस्येयमार्पम् । मायत्री । महाव्रते महदुक्थे
तृचाशीतिषु शस्यते [ऐ० आ० ५ । २ । ३] । अस्यामृचि जहेत्यस्य
शब्दस्य पूर्वोत्तरपदाविरोधप्रकरणशब्दसारूप्या-
१० 'जहा' इत्यनव- योपपत्तिभिः संस्कारानवगमेऽपि सति हन्तेरेव
गतसंस्कारम् विरोधेणार्थोऽवतिष्ठते न जहातेः । कथमिति ।
शृणु । भौ न एकस्मिन्नागसि वधीः हे शूर
मा ह्योरागसोर्वधीः । अपि च त्रिष्वप्यागस्तु मा वधीः । भूरिष्वपि च
१५ बहुतरेष्वप्यपराधेषु मा वधीरित्येतस्मिन्प्रकरणे ब्रवीति 'को नु मर्याः' इति ।
हे मर्या मनुष्या युष्मानेव तावत्पृच्छामि अमिथितः अनाकुष्टः परमपि
वा किञ्चिदनुक्तः अपि च सखा समानस्यानः सखायमेव समानस्यानमेव
सन्तं यथा भवतामहं यज्ञे समानस्यान एवं सन्तमब्रवीत् । को न्वेवमाह
अमिथितः अनाहतः अनाकुष्टो ब्रूयाद्यः कथिद्यथा यूयमनाहताः सन्तो
२० मा ब्रूत मा वधीरिति । जहा को अस्मदीयते । अपापकशब्दोऽत्र भाष्यका-
रेणापाहतः प्राग्जहाशब्दस्यार्थोपशोक्तार्थम् । अपापकं सन्तं कमहं जघान
हतवान् जातु । कदाचिदित्यर्थः । 'अपापकं कमहं जातु' इति सर्वमेत-
दध्याहतं भाष्यकारेण जहाशब्दस्य निराकाङ्क्षीकरणार्थमवस्तावोपरिष्ठात् ।
एवं हि जहाशब्दः परिसमाप्तार्थो भवति । न कदाचिदपि कथिदपापको
२५ मया हतपूर्वं इति पापकारिणं तु हन्मीत्यभिप्रायः । ते यूयमपापा एवाजस्रं

१ छ. त. व. 'मर्यादीयते' नास्ति. २ क. ख. ठ. ड. 'शृणु' इत्यस्या-
नन्तरं 'मा न एकस्मिन्' [ऋ० सं० ८ । ४५ । ३४] इत्युक्तमव्यते. ३ ठ. ड. हे
शूर इन्द्र नोऽस्मान् एकस्मिन्नागसि अपराधे मा वधीः मा हिसीः । मा ह्योः. ४ ग.
जं. मरीरिति; च. मरीरिति. ५ ठ. ड. 'मेवं सन्तं. ६ ग. ज. 'अमिथितः'
७ नास्ति. ८ ग. 'ज. हतः पूर्व'; च हतः पूर्व त.

भूयास्य न वो हनिष्यामि । यत्पुनरेतदुक्तं भवद्भिः 'भूरिष्वप्यागस्तु मास्मान्वधीः' इति कथमागस्कारी न हन्यते । सा पुरोडाशं समवलिहान्न च कस्यचित्कस्मिंश्चिदपि स्वता स्यात्सर्वं वासमञ्जसमेव स्याददि पापकारिणो न हन्येरन् । अथ मनुष्यानपापानपि त्वं हंस्येवेत्यत्र भ्रमः । कोऽस्मदस्मत्तोऽपापकारी सन् भीतः ईषते । पलायत इत्यर्थः । न कश्चिदप्यपापकारी मत्त उद्विजमानः पलायते । स हि शुद्धेन चेतसाभिमुख एव गमन्येति । य एव तु पापकारी भवति स एवात्मापराधशङ्कितया बुद्ध्यास्मत्तो भीतः पलायत इत्यभिप्रायः । अत्रापि कोऽस्मदित्येतस्मात्पञ्चमीयोगादीपतेर्गमनमात्रसामान्यवाचिनः सतो गमनविशेषे पलायनेऽवस्थानम् । यो हि यस्माद्विभेति स तस्मात्पलायते । भीतशब्दश्चात्राप्याहतो न ह्यभीतः कश्चिपलायत इति । एष समस्तार्थः ।

अथैकपदनिरुक्तम् । 'मर्या इति' मनुष्यनामसु पठितम् (निघ० २ । ३ । १२) । इहापि चैतत् 'मनुष्यनाम' एव । तस्योक्ता ध्युत्पत्तिः 'मर्या मनुष्यो मरणधर्मा' (निरु० ३ । १५) इति । अथ 'वा मर्यादाभिधानम्' एतदत्र 'स्यात्' न मनुष्यनाम । यदा मर्यादाभिधानमेतदभिप्रेतं भवति तदैवमर्थवत्तास्य योजयितव्या । 'मर्यादा मर्यादादियते' । कौं श्वेया मर्यादा यतो धर्मज्ञाः सन्तो यूयमनाहता अनाकुष्टाश्चासदभिधोर्गं सर्वोयः सन्तो मम सख्युदत्तं मा वधीरिति । नैतन्न्याय्यमित्यभिप्रायः । 'मर्यादा मर्यादिनोर्विभागः' । मूर्ता या भूमिरुपक्षीणा सा मर्यादुच्यते । विषयान्त इत्यर्थः । आदिरन्यस्य विषयस्योपक्रम उच्यते । मूर्तापाश्च भूनेरादेश विभागकारिणी या भूमिः सा मर्यादेत्युच्यते । 'मेधतिराक्रोशकर्म' । चतस्रः पत्न्योऽध्वमभिमेधन्ताति प्रसिद्धमध्वमेधे मेधतेराक्रोशकर्मत्वम् । लोकेऽपि च ईषालो मेधनक इत्युच्यते । स ह्यमीक्षणाक्षुरयते आक्रोशति च सः ।

'अपापकम्' इत्यस्य भाष्यपदस्यापरो व्याख्यामार्गः । को ज्वेवं भूयादपापकं सन्तं मा वधीरिति । जघान कर्महं जातु पापकमपापकं वा ।

१ क. ख. घ. ङ. उ. ङ. भृता; च. रीता° श्व. २ घ. ट. ठ. ड. °विशिष्टे.
३ ग. ज. स्वेपा. ४ ग. सख्याय; च. सख्यायः° खा; ज. संख्यायः. ५ क. ख. उ. ङ. संभिता; च. ट. मूर्ता° संभि. ६ क. ख. संभिताया°; ट. मूर्ता° मि; उ. ङ. धिताया°. ७ क. ख. ग. ज. शालो; घ. उ. ङ. स्वालो; च. स्पोलो° र्या; ट. स्पोलो° सा.

कोऽस्मद्भ्रातः पलायते । न काश्चिदपि । सौम्योऽहमित्यभिप्रायः । बलकृति-
संबन्धादिन्द्र एवायं त्रिशोकः स्याद्यस्येयमार्थम् ।

एवमेतस्मिन्मन्त्रे प्रकरणपूर्वोत्तरपदाविरोधशब्दसारूप्यार्थोपपत्तिर्भिहन्ते-

रेव विशेषेणार्थोऽवतिष्ठते न जहातेः । जहातौ

५ 'जहा' इत्यस्य ह्येतस्मिन्कल्प्यमाने प्रकरणं पूर्वोत्तराणि च
निर्वचने निर्णयः पदानि विरुध्यन्ते शब्दसारूप्येऽपि सति ।

तस्मान्नात्र जहातेरवकाशोऽस्ति । पारिशेष्याद्धन्तेरे-

तद्रूपमित्युपपन्नं भवति । एवमेव सर्वेष्वेवानवगतसंस्कारेषु योग्यम् ।

'निधा' (निघ० ४ । १ । २) इत्येतत्पदमनवगतसंस्कारावसर-

१० प्राप्तं व्याख्यानीयमैकपदिकव्याख्याधर्मेण । प्रकृतानुवृत्त्या 'स व्याख्या-
तव्यः' (निघ० १ । १) इति तदभिधानाभिधेयनिगमनिर्वचनानुक्रम-

प्रवृत्त्या ब्रूमः । 'निधा पाश्या भवति' इति पर्यायेण तत्त्ववचनम् । यो
यालमयः ज्ञायुमयो वा पाशसमूहः पक्षिग्रहणार्थः स पाशेऽयुध्यते । अधुना

द्वावप्येतौ शब्दौ निर्वक्ति निधाशब्दं पाश्याशब्दं

१५ 'निधाशब्दस्य पा- च । 'यत्' यस्मादियं 'निधीयते' । नीचैर्वीर्यते
श्याशब्दस्य च नि- पक्षिग्रहणार्थं तस्मान्निधिरिति वा प्राप्ता निधा-

र्वचनम् नीति वा । सेयमेवं प्राप्ता सती निधेत्यनवगतसं-
स्कारेणोच्यते । पाश्याशब्दं पर्यायाभिधानप्रसक्तं

निर्गवीति प्रत्ययोत्पादनार्थं 'पाश्या पाशसमूहः' इति । पदानिष्कृष्य

२० तद्विधितार्थो निरुक्तः । अधुना 'पदार्थं निर्वक्ति । 'पाशः पाशयैतेर्विपाश-
नात्' । तेन हि विविधमतिशयेन वा पाशशते । बध्यत इत्यर्थः । अधुना

यस्मिन्मन्त्रे निधाशब्दः पाशसमूहवाची तमानीय प्रवीति निधाशब्दविगम-
नार्थम् । कतमः पुनरसौ मन्त्र इति ॥ २ ॥

२५ वयं सुपुर्णा उप सेदुरेन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नार्धमानाः । अयं
ध्वान्तपूर्णुहि पूषि चक्षुर्मुमुग्ध्य १ स्नान्निधयेव वृद्धान् (ऋ०

१ क. ख. घ. ट. ठ. ध. चार्धते. २ क. ख. ग. ज. 'वा' नास्ति. ३ ग. ज.
"यतेर्धन्व्यनार्थस्य विषा"; च. "यतेर्धन्व्यनार्थस्य विषा". ४ क. ख. ग. "निग-
मार्थः; च. "निगमार्थ" मना. ५ ठ. ड. २ ॥ इति ऋग्वर्गाणां निष्कटीकायां चतुर्था-
२० ध्याये द्वितीयः पटङ्गः.

सं० १०। ७३। ११] । वयो वेर्वहुवचनं सुपर्णाः सुपतना
आदित्यरश्मय उपसेदुरिन्द्रं याचमाना अपोर्णुह्याध्वस्तं चक्षुश्चक्षुः
ख्यातेर्वा चष्टेर्वा पूर्धि पूरय देहीति वा मुञ्चास्मान्पाशैरिव वद्वान्
पार्श्वतः श्रोणितः शितामतः पार्श्वं पशुमयमङ्गं भवति पशुं स्पृशतेः
संस्पृष्टा पृष्ठदेशं पृष्ठं स्पृशतेः संस्पृष्टमङ्गैरङ्गमङ्गनादञ्चनाद्वा श्रोणिः
श्रोणतेर्गातिचलाकर्मणः श्रोणिश्चलतीव गच्छतो दोः शिताम भवति
दोर्द्रवतेर्योनिः शितामेति शाकपूणिर्विपितो भवति श्यामतो पकृच
इति तैटीकिः श्यामं श्यायतेर्यकृद्यथाकथा च कृत्यते शितिमांसतो
मेदस्त इति गालवः शितिः श्यतेर्मांसं माननं वा मानसं वा मनोऽ-
स्मिन्त्सीदतीति वा मेदो मेद्यते ॥ ३ ॥

वयः सुपर्णा इति । शाक्यस्य गौरिशीतेरियमार्पम् । त्रिष्टुप् ।
अग्निष्टोमे, मरुत्वतीयस्यै शस्त्रस्य परिधानीयेषा निविद्वानीये सुक्ते
[आश्व० श्रौ० ५। १४] । वय आदित्यरश्मयः । वेतेर्गल्य-
र्थस्य नामीभूतस्य बहुवचनं विः बी वयः इति । सुपर्णाः
सुपतनाः एत एव उपसेदुः उपसीदन्ति व्युष्टायां
निधाशब्दयुक्तो रात्रावहन्यहनि । कमुपसेदुः । इन्द्रम् आदित्यम् ।
निगमः प्रियमेधाः प्रिययज्ञास्त एव यज्ञसहचारिवात् ।
उद्वेतेषु हि तेषु यज्ञास्तापन्ते । ऋपयस्त एव
अर्पणात्प्रकाशकत्वात् । नाधमाना आदित्यमुपसेदुः । कमर्थं याच-
माना इति । अपोर्णुहि अपावृणु जनानामेतद् ध्वान्तम् आध्वस्तमाच्छा-
दितं तमसां चक्षुः । पूर्धि पूरय । युष्मदननुगृहीतमसकलमिवैतेषां जना-
नामेतच्चक्षुः । तत्पूर्धि । सकलं कुर्वित्यर्थः । अथवा पूर्धि देहीति
यदुक्तं स्यात् । अस्तं हि गच्छता त्वयैतेषां जनानामात्मनिव यच्चक्षु-
स्तत्पुनरुद्यस्त्वमेतेभ्यो जनेभ्यो देहि । कथं च पुनर्देहि । मुमुग्धस्मा-
न्मुञ्चास्मान्निधया पाशसमूहेन पक्षिण इवैतास्मिन्मण्डले वद्वान्यावदेतद्देशेपं

१ ठ. ड. "मङ्गना". २ ठ. ड. शाक्यस्य. ३ क. ख. प. ट. ठ. ड. "तृतीय-
शस्त्रस्य, ४ क. ख. प. ट. ठ. ड. उद्वेतेषु दितेषु हि"; च. उद्वेतेषु "हि" उद्वेतेषु.
५ ग. घ. अ. ऋपयत्; च. ट. अर्पणात् अर्प. ६ क. ख. प. "मानास्त आ";
ट. नाधमानाः याच. ७ क. ख. प. ट. ठ. ड. "मङ्गना". ८ क. ख. प. ट. ठ.
ड. "देतत्पावदशे"; च. "देतद्दशे" ताव.

तमो नाशयित्वेतेषां जनानामेतच्चक्षुर्दग्धः सकलं वा कुर्मः । एवं
होतस्त्वयैव दत्तं भविष्यतीत्यभिप्रायः । एतमर्थं याचमाना उपसेदुः ।

‘चक्षुः ह्यतेर्वा’ दर्शनार्थस्य ‘चष्टेर्वा’ दर्शनार्थस्यैव । एवमेतस्मिन्मन्त्रे
‘मुमुग्धस्मान्निघयेव बद्धान्’ इत्येतेषां पदानां मध्ये वर्तमानस्य तृतीयान्तस्य

- ५ निधाशब्दस्य पाशस्मूहादन्यः कोऽर्थः स्यात् । ‘मुमुग्धि बद्धान्’ इत्येतौ
शब्दौ येन बद्धा यस्माच्च मुच्यन्ते तदर्थोभिधायिनं शब्दमाकाङ्क्षतः । तत्रैवं
सति धर्मविद्यमानस्याध्याहाराद्विद्यमानस्य निधाशब्दस्यानयाः शब्दयो-
र्मध्ये वर्तमानस्याकाक्षितार्थोभिधायित्वकल्पनेति निधाशब्दः पाशस्मूहा-
भिधायित्वेऽवतिष्ठते । इतरथा ख्यमितरैः पदैरसंबन्धमानोऽनर्थक एव
१० स्यात् । तस्मादेवं सर्वत्रानवगतसंस्काराणामप्रसिद्धार्थानां पदानां सामर्थ्या-
दाकाक्षितरूप एवार्थेऽवस्थानं भवति । तदुपपाद्यं सर्वत्र । ग्रन्थातिगौरव-
भयात्तु संक्षेपतोऽत्र दर्शयिष्यामः ।

‘शिताम’ [निघ० ४ । १ । ३] इत्येतदनवगतम् । अनुप-
न्यस्यैव पदमभिधेयं चानुक्तैव निगममेव प्रथमं पठत्वाचार्यो विप्रतिपत्त्या-
१५ नेकार्थत्वमस्येति । ‘पार्श्वतः श्रोणितः शितामतः’ इति निगमः ।
पशुहविषः प्रेषोऽयं मन्त्रशेषः । कतमः पुनरसौ प्रेषः । ‘होता यक्षदि-

शिताम इति

न्द्राग्नी छागस्य हविष आत्तामय मय्यतो मेद
उद्धृतं पुरा द्वेषोभ्यः पुरा पीर्येभ्यः गुभो घर्स्ता
नूनं घासे अत्राणां यर्वसप्रयमानां सुमत्क्षराणां

- २० शतरेद्रियाणामग्निश्चात्तानां पीवोपवसनानां पार्श्वतः श्रोणितः शितामत
उत्सादतोऽङ्गादङ्गादवेत्तानां कर्त एवेन्द्राग्नी जुयेतो हविर्होतयज्ज’ [तै०
ब्रा० ३ । ६ । ११] इति । सर्व एव मयः । वामदेवस्यार्पम् । मैत्रा-
वरुणो ब्रवीति । होता यक्षत् । होता यजत्वित्यर्थः । तेन चैज्य-
मानाविन्द्राग्नी अस्माद्धविषः पश्चाद्व्यात् यदेतन्मेद उद्धृतम् उद्धृतम्
२५ अस्यां स्तुभ्याहितम् । ‘तस्मान्मेदः पर्यस्यति अपयति प्रेषा मेदः करोति’
इति श्रुतम् । एतन्मेदोऽय एतास्मिन्नहनि सयः उद्धृतम् आत्तां मक्षये-

१ क. ख. घ. ङ. ट. ‘यायकत्वक’; च. ‘यागित्वक’ बह. २ क. ख. ज.
घ. ङ. ट. ठ. ड. प्रेषय. ३ ग. च. ज. प्रेष. ४ होता. ५ ग. घ. ज. प.
ट. ठ. ड. ‘दिन्द्राग्नी इति । सर्व’. ५ क. ख. ङ. ‘उद्धृतं’ नस्ति. ६ ग. ज.

२० उद्धृतं.

ताम् पुरा हेयोभ्यः हविर्मधिभ्यः पिशाचादिभ्यः पुरा पौरुषेभ्यः गृमः
अर्वागिडावदानात् । इडा हि पुरुषार्थं गृह्यते । प्राक्तस्माद् ग्रहणादिन्द्राग्नी
घस्तां भक्षयेतां नूनं निश्चयेत् । एतस्मिन् घासे घसनकाले भक्षणकाले
प्राप्ते अज्राणाम् अनभिभूतानां रक्षोभिः । आदरेण प्रैतिविशिष्टैर्मन्त्रैः
संस्कृतानाम् । अथवा घासेअज्राणाम् इत्येकं पदम् । तदायमर्थः । घासे
हि सति पशत्रो न जीर्यन्त इति घासेअज्राः । यत्रसप्रथमानाम् । यवसः
अशनम् । तस्थानेकप्रकारस्य श्रेष्ठत्वादेताभ्येव देवतृप्तये प्रथमानि । तेषां
यवसप्रथमानाम् । सुमक्षराणाम् । स्वयमेवैतानि भक्ष्यमाणानि स्वादुत्वा-
दुदरं प्रति क्षरन्तीति सुमक्षराणि । एषां सुमक्षराणाम् । शतरुदियाणां
बहुस्तुतीनाम् । अथवा शतरुदियाणां बहुशो रुग्णानाम् । अग्निध्यात्तानाम्
अग्निपाकेन मृदुत्वात्स्वादूकृतानाम् । पीवोपवसनानां पीत्रा छागेनोप-
वस्तानाम् । अथवा पीवान् छागमुपगम्योपितानाम् । पार्श्वतोऽङ्गादवत्तानां
श्रोणितोऽवत्तानां शितामतोऽवत्तानाम् उत्तौदतधोच्छेदस्थानात् अङ्गा-
दङ्गादवत्तानाम् । करतः कुरुतामिन्द्राग्नी तृप्तिमेतेयामेवंलक्षणानामवदाना-
नाम् । हे होतः यथैताविन्द्राग्नी जुपेताम् आसेवेतामेतद्विस्तथा
त्वमपि यज ।

निगमप्रसक्तमुच्यते । ' पार्श्वं पशुमयमङ्गं भवति ' । पश्वो वङ्कय
उच्यन्ते । तन्मयं हि तद्वति पार्श्वपटलम् । आह । पशुः कस्मात् ।
उच्यते । ' पशुः स्पृशतेः ' । आह । किमनया स्पृष्टमिति । उच्यते ।
' संस्पृष्टा पृष्टदेशं ' प्रति भवति । आह । ' पृष्ठं ' कस्मात् ।
उच्यते । ' स्पृशतेः ' एव । तदि ' संस्पृष्टमङ्गः ' । आह । अङ्गः
कस्मात् । उच्यते । अङ्गितं हि तर्कायैव भवति । गतमित्यर्थः । ' अङ्गताङ्ग ' ।
अङ्गतिरपि गत्यर्थः एव । धात्वन्यत्वमर्थेकत्वम् । पार्श्वशब्दप्रसक्तानुप्रसक्त-
मुक्तम् । अधुना श्रोणिशब्दं निगमप्रसक्तं निर्व्वीति । ' श्रोणिः श्रोणतेः '
धातोः गतिचलाकर्मणः । गतिनिमित्तं चलनं यस्य कर्म सोऽयं गतिच-
लाकर्मा । तस्य गतिचलाकर्मणः । किं कारणम् । ' श्रोणिश्चलतीव्रः '
स्यानात्पशोः ' गच्छतः ' ।

१ ग. ज. भविष्येभ्यः; च. भविष्येभ्यः. २ च. 'इजाना' वा. ३ ग. ज.
उज्ज्वलः; च. उज्ज्वलः त्वा. ४ ग. ज. 'ओच्छेदस्या'. ५ च. 'वति पार्श्व-आह'
पटल. ६ क. स. स. कालेन; प. ठ. ड. कालन; ट. कालेन; ये. ग. ज. कार्येण;
च. कार्येण येन.

शितामशब्दस्य तत्त्वमाचष्टे । 'दोः शिताम भवति' । बाहुरित्यर्थः ।

आह । दोः कस्मात् । उच्यते । 'दोर्द्वतेः' ।

शितामशब्दस्य तस्य हि प्राणेन पशुर्द्ववति । श्रितमंसभावेनैत-
बाहुरित्यर्थः त्काये भवतीति शिताम । यदा दोर्विषयः शिताम-

शब्दस्तदैवं निर्वक्तव्यः । आह । कयोप-

पत्स्या दोः शितामशब्देनोच्यते । शृणु । पशोर्हि बाह्यानि चावदानान्या-
भ्यन्तराणि च भवन्तीति । तत्र पार्श्वे श्रोण्यावसाविति बाह्यानि जिह्वाह-
शकृदादीन्याभ्यन्तराणि । तत्रैवं सति पार्श्वतः श्रोणित इत्येतयोरन्तरा
वर्तमानः शितामशब्दः किमन्यद्दोष्णोऽभिदध्यात् । प्रायोऽपि हि निपा-

१० मको भवति । एवं बाह्यावदानप्राये च शितामशब्दो वर्तत इति दोर्विषयः
कल्प्यते । 'योनिः शितामेति शाकपूणिः' आचार्यो मन्यते । तत्र योनि-

रनवदानौयैव । योनिसमानदेशस्तु गुदो नामा-

योनिरिति शाकपूणिः वदानमस्ति स योनिशब्देनोच्यते । स च गुदो
'विपितो भवति' । 'विष्ट व्यासौ' । (धा०

१५ ३ । १३) । व्यासः स पुरुषेण भवति । अथवा विपितमांसो विपुषित-
मांसो विल्लस्तमांसः ॥ भवति । आह । कयोपपत्त्या शाकपूणेर्भते योनिः
शितामशब्देनोच्यत इति । शृणु । स हि श्रोष्यन्तरो भवति ।
श्रोष्यन्तरं च शितामशब्द उच्यते 'श्रोणितः शितामतः' इति ।
शब्दसारूप्यमपि च किञ्चिदस्ति विपितो भवति शितामेति । अनयोप-

२० पत्त्यानेन च शब्दसारूप्येण योनिः शितामेति शाकपूणिर्भन्यते ।
'श्यामतो यकृत् इति तैटीकिः' आचार्यो मन्यते । यदुक्तं भवति

श्यामत इति तदुक्तं भवति शितामत इति ।

यकृदिति तैटीकिः एवं हि बहुतरं शब्दसारूप्यं लक्ष्यते । एवं च
सति यकृत् एतदवदानं चोदितं स्यादिति

२५ गम्यते । किं कारणम् । तद्वि श्यामम् । 'श्यामं श्यायते' [धा० १ ।
९८८] धातोः । तद्वि संपर्कादुपपद्यते । आह । 'यकृत्' कस्मात् । उच्यते ।

तद्वि-मुद्रत्यात् 'यथाकथंचित्' अयत्नेनैव 'कृत्यते' । छिद्यत इत्यर्थः ।

१ क. ल. घ. स. ट. ठ. ड. 'तत्कार्ये'. २ ग. ज. 'शिताम यदा दोर्विषयः'

२९ नारि. ३ क. ल. च. 'श्यामं' नास्ति.

‘ शितिमांसतो भेदस्त इति गालवः ’ आचार्यो
 भेद इति गालवः ‘ मन्यते । श्वेतान्मांसात् शितिमांसतः ।
 कतमत्पुनस्तच्छ्रुतं मांसमिति । उच्यते । भेदः ।
 तस्माद्यदुक्तं भवति शितिमांसत इति तदेवोक्तं भवति शितामत इति ।
 एवमपि बहुतरं शब्दसारूप्यमस्ति । ‘ शितिः स्यतेः ’ तन्करणार्थस्य (धा०
 ४ । ३९) । परो हि विधेकस्तेजसो भेदस्येवावतिष्ठते । ‘ मांसं माननं
 वा ’ । य एव हि मान्यो भवति तदर्थमेतत्संस्कृपते । ‘ मानंसं
 वा ’ । सुमनसा हि तदुपादीयते । अथवा य एव हि मनस्विनो
 भवन्ति तैरुपादीयते । ‘ मनोऽस्मिन्सीदतीति वा ’ । सर्वस्यैव हि मांसि
 मनः सीदति । ‘ भेदो भेद्यतेः ’ स्नेहनार्थस्य [धा० ४ । १३७] । १०

एवमेव शितामशब्दोऽनवगताभिधेयोऽनवगतसंस्कारो भवति । एवमे-
 तस्मिन्प्रकरणेऽन्यान्यर्थादनवगतसंस्काराण्युपेक्षितव्यानि । उक्तं हि

‘ अनेकार्थस्य कार-
 गानि प्रकारा वा
 ‘ शब्दरूपं पदार्थश्च व्युत्पत्तिः प्रकृतिर्गुणः ।
 सर्वमेतदनेकार्थं दशानवगमे गुणाः ’
 [बृहदे० २ । १०८] ॥ १५

अनवगतपदानां दश कारणानि प्रकारा
 वा । ईदृशानामभिधे-
 यमपेक्ष्य निर्वचनं
 कर्तव्यम् ।
 कतमे पुनस्त इति । पदजात्यभिधेयस्वर-
 संस्कारगुणविभागक्रमविक्षेपाव्याहारव्यवधानानि ।
 तेषु चाभिधेयमपेक्ष्य निर्वचनं कर्तव्यम् । उक्तं हि

‘ धातूपसर्गावयवगुणसत्त्वं द्विधातुजम् ।

बहेकधातुजं वापि पदं निर्वाच्यलक्षणम् ’ [बृहदे० २ । १०३] ॥ २०

‘ धातुजं धातुजाज्जातं समर्थार्थजमेव वा ।

वाक्यजं व्यतिकीर्णं च निर्वाच्यं पञ्चधा पदम् ’ [बृहदे० २ । १०४] इति ॥

पदजात्यनवगतं ‘ त्वे ’ इति यथा नाम निपातो वेति । अभिधेयान-

अनवतगपदवर्गा- वगतं ' शिताम ' इति यथा । स्वरानवगतं ' बने
 णामुदाहरणानि न वायो ' इति यथा । संस्कारानवगतम् ' ईर्मा-
 न्तासः ' इति यथा । गुणानवगतम् ' कर्तृलती ' इति यथा । विभागानवगतं ' मेहना ' इति यथा ।

५ क्रमानवगतम् ' उपरमच्चं मे वचसे ' इति यथा । विक्षेपानवगतं ' चावा-
 नः पृथिवी ' इति यथा । अभ्याहारानवगतं ' दानमनैसो नो मनुष्यान् ' इति यथा । व्यवधानानवगतं ' वायुश्च नियुत्त्वान् ' इति यथा । एकमपि पदं पदद्वितयं कियते ' पुरुषादः पुरुषानदनाय ' इति यथा । पदद्वितयमपि द्वैकं पदं कियते ' गर्भनिधानो सनितुः ' इति यथा । आद्ययातमपि च नाम कियते ' सर्वाणीन्द्रस्य धनानि विभक्ष्यमाणाः ' इति यथा ।

एवमेव निगमेषु शब्दार्थसंकरोऽनेकप्रकार उपेक्ष्यः । दृष्टानुविधाना-
 ष्टुन्दसि यथासंभवमनुविधेयः । ' मेहना ' [निघ० ४।१।४] इत्यनव-
 गतम् । मेहनीयमित्यवगमः ॥ ३ ॥

१५ यदिन्द्र चित्र मेहनास्ति त्वादतमद्रिवः । राघस्तमो विदद्वस्त्र-
 उभयाहस्त्या मर [क्र० सं० ५।३९।१] ॥ यदिन्द्र चित्रं चापनीयं
 मेहनीयं धनमस्ति यन्म इह नास्तीति बात्रीणि मध्यमानि पदानि
 त्वया नस्तद्वातव्यमद्रिवश्चद्रिराहणात्येनेनापि वाचेः स्यात्ते सोमाद
 इति ह विहायते राघ इति धननाम राध्नुवन्त्येनेन तन्मत्त्वं वित्त-
 १० धनोभाभ्यां हस्ताभ्यामाहरोभौ समुन्धौ भवतो दमूना दममना वा
 दानमना वा दान्तमना वापि वा दम इति गृहनाम तन्मन्ताः स्यान्मनो
 मनोतेः ॥ ४ ॥

यदिन्द्र चित्र मेहनेति निगमः । अत्रेमोमस्यार्यम् । अनुष्टुप् । हे इन्द्र

१५ १ ट. कर्तृलती०. २ ग. ज. दानमनो नो०. ३ ग. ज. ४; च. अहो नास्ति;
 ट. ट. १३। इति निरुक्तदीक्षायां चतुर्थ्याध्याये तृतीयः खण्डः. ४ छ. त. द. ' चित्र '
 नास्ति. ५ क. ख. घ. ट. ठ. अनुष्टुप् । ऐन्द्री । स्वपृष्ठानां स्वपृष्ठाणां प्रथमे
 स्वपृष्ठाभि यज्यायथा अपूर्ण्येति त्रिजिह्वः स्वपृष्ठानां यदिन्द्र चित्र मेहनेति दे या इन्द्र
 मुनेति तृतीयाणुरूपस्येति त्रिनिर्घोषः । हे इन्द्र; च. पुस्तके ' ऐन्द्री० त्रिनिर्घोषः '
 २० इति चर्च पञ्चस्योपरिगणान्ते द्रिहितम्.

चित्रं चायनीयं पूजाहं यन्मेहना यन्महनीयं
शाकल्यमतेन मे- पूजाहं तव राधो धनमस्ति किञ्चित् त्वादातं
हना । इत्येकं पदम् त्वया च यद्वातव्यमेवावश्यं सुचिरमपि स्थित्वा-
स्मभ्यं तद्यतोऽतो ब्रूमः । हे अदिवः वज्रिन्
तन्नो राधः हे विदद्वसो प्राप्तधनं संप्रतमेवोभाम्यां हस्ताभ्याम् अकृपण-
माभर आहर । ना चिरायेत्यभिप्रायः । अथ ' वा यन्म इह नास्तीति ' एत-

स्मिन् वाक्यैकदेशे ' त्रीणि पदानि मध्यमानि ' ।
गार्ग्यमतेन त्रिपद- मध्ये भवन्तीत्यर्थः । कथम् । मेहना इत्येषा
युक्ता संहिता संहिता । मे इह न इत्येतान्यस्याः संहितायाः
पदानि । एवमेव वाक्यावयवः पञ्चपदो भवति ।

अत्र ' यत् ' इति प्रथमं पदम् । अतः परं ' मे इह न ' इत्येतानि त्रीणि
मध्यमानि पदानि । ' अस्ति ' इति पञ्चमं पदम् । एवमभिप्रेत्य ' इन्द्रश्चित्र ' -
शब्दावैपकृत्योक्तं ' त्रीणि मध्यमानि पदानि ' इति । आह । यदैवं पदवि-
भागस्तदा कोऽर्थ इति । उच्यते । यन्मे मम इह गृहे नास्ति धनं तव च तदस्ति
धनं दातव्यं च त्वया तावत्ततोऽभ्यर्त्तद्वस्ताभ्यामस्मभ्यमाभरेति । बहव-
धानां ' मेहना ' इत्येकं पदं छन्दोगानां त्रीण्येतानि पदानि ' म इह न '
इति । तदुभयं पश्यता भाष्यकारेणोभयोः शाकल्यगार्ग्ययोरभिप्रायावत्रानु-
विहितावेधंजातीयनिर्वचनोपप्रदर्शनार्थमुभयोश्च प्रामाण्यपक्ष्यापन्नार्थम् ।

आह । पदकारयोः पदविकल्पे कोऽभिप्राय इति । उच्यते । विधावान्
विद्यमानधनो वा प्रतिविशिष्टतरं प्रार्थयते । यच्च
पदविकल्पे शा- यस्य गृहे नास्ति स तद्विशिष्टमवैशिष्टं वा प्रार्थ-
कल्पस्याभिप्रायः येत । न चानयोरुभयोरपि विशेषलिङ्गमस्ति तस्मा-
न्महनीयमित्येतयार्थमस्या मेहेनत्येवमेकं पदमभि-
प्रेतं शाकल्यस्य । गार्ग्यस्य पुनर्यन्म इह गृहे नास्ति तदाहरेत्यभिप्रायः । एवमत्र
विशेषलिङ्गाभावादिप्रतिपत्तिः । एवमन्येष्वपि शा-
गार्ग्यस्य च खान्तरपदविकल्पेष्वनुविधानमर्थाविरोधेन कर्त-
व्यम् । एवमयं मेहनाशब्दो राधः शब्दसामाना-

१ ग. ज. चित्रं चायनीयं पूजाहं; ब. निर्व (व) चायनीयं (१) पूजाहं (६).
२ ग. ज. तदस्ति. ३ क. ख. घ. झ. ङ. उ. ङ. 'सम्प्राप्तम्'. ४ उ. 'स्तिद्ध'
स्तत्त्वं ६. ५ ग. ज. यद्वा; ब. यच्च' दा. ६ ग. ज. 'मवशिष्ट'.

विकारप्ये वर्तमानो यन्महनीयं राधो यद्वा मद्रूहे नास्तीति धनविशेषण-
त्वात्कमन्यमर्थं ब्रूयात् । तस्मान्मेहनेति सामर्थ्याद्धनविशेषणमेतदित्युपपत्तिः ।

अधुना निगमप्रसक्तानि निरुच्यन्ते । ' अद्रिरादृणात्येनेन ' । अद्रिसार-
मयमेव ह्यायुधं भवतीति । अद्रिर्वज्र उच्यते । आह । अद्रिः कस्मात् ।
उच्यते । आदृणाति । औदारयतीत्यर्थः । अथवा सोमाभियवप्रावभिस्तद्धान्
अद्रिवान् स्यात् । तैरपि हि सोम आदार्यते । ' अपि वा अत्तेः स्यात् '
अद्रिः । कुतः एतत् । निगमात् । कतमोऽसौ निगम इति । ' ते
सोमाद इति ह विज्ञायते ' । ' ते सोमादो हरी इन्द्रस्य निसते '[ऋ० सं०
१० । ९४ । ९] इत्येतस्मिन्मन्त्रे विचार्यमाणे ज्ञायतेऽत्तेराद्रिः
स्यादिति । व्याख्यात एव शेषः [निरु० २ । ५] । ' राधः इति '

एतद् ' धननाम ' स्मारयति । व्यभिचारित्वाद्वा
राधःशब्दव्युत्पत्तौ शब्दानां धननामसु पठितमपि सदेतदवधारयती-
पुनरुक्तिस्तस्याः कार- हाप्येतद्धननामैव नात्र व्यभिचारोऽस्तीति । पठि-
णम् ताभिधाननिरूपणेपु सर्वेष्वेतौ समाधी योज्यौ ।
१५ ' वित्तधन ' इति प्रातश्चमः । ' उभौ संमुख्यौ
भवतः ' । संपूर्णावित्यर्थः ।

' दमूनाः ' [निघ० ४ । १ । ५] इत्यनवगतम् । ' दममनाः '
दमूनाः स्यात् । दमे हि नित्यमस्य मनः । अक्रूर-
दमूना इत्यस्य मना इत्यर्थः । ' दानमना वा ' । दातव्यं मयेति
१० व्युत्पत्तिः यस्य मनसि स वा दमूनाः । ' दान्तमना वा ' ।
दमेपु दान्तेषु यमनिषमवत्सु पुरुषेषु यस्य मनः
स वा दमूनाः । अथवा ' दम इति ' एतद् ' गृहनाम ' । एतद्यस्य मनसि
ममेदमिति स दमूनाः ' स्यात् ' । गृहपतिरग्निः । निगमः ॥ ४ ॥

जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोण इमं नो यज्ञमुपं याहि विद्वान् । विश्वः
अग्रे अभियुजो विहत्या शत्रूयतामा भरा भोजनानि [ऋ० सं०

५।४।५] ॥ अतिथिरभ्यतितो गृहान् भवत्यभ्येति तिथिषु परकु-
लानीति वा परगृहाणीति वा दुरोण इति गृहनाम दुरवा भवन्ति
दुस्तर्पा इयं नो यज्ञमुपयाहि विद्वान्सर्वा अग्रे अभियुजो विहृत्य
शत्रूयतामभरं भोजनानि निहृत्यान्येषां वलानि शत्रूणां भवनां-
दाहर भोजनानीति वा धनानीति वा मूपो मूपिका इत्यर्थो मूपिकाः
पुनर्मुष्णातेर्मूपोऽप्येतस्मादेव ॥ ५ ॥

जुष्टो दमना इति । वसुश्रुतस्यात्रेयस्येयमार्यम् । त्रिष्टुप् । आग्नेयी ।
प्रातरनुवाकाश्विनयोः शस्यते [आश्व० श्री० ४ । १३] । स्थिष्ट-
क्षुण्डोरोनुवाक्या चैयं चतुर्मास्येषु साकमेधे [आश्व० श्री० २ । १८] ।
हे भगवन्नग्रे जुष्टः आसेवितस्त्वमस्माभिः स्तुतिभिः दमनाः दमना
अवरमना मूया तत उपयाहि । अथवा गृहं
दमना इयं स्यार्थाः ममेदमिति चेतोऽवस्थाप्य तत उपयाहि । अथवा
दानमना मूया दातव्यमेभ्यो मयेयेवं चेतोऽव-
स्थाप्य तत उपयाहि । अथवा दान्त्येष्वेव हि तव मनो ययं च दान्ता
अतिथिश्च त्वमग्निहोत्रिणां दान्तमनसां प्रातः सायं चोद्धोष्यमानो भवसि ।
स्वभाव एवैव तवाग्निहोत्रिणामतिथिलेनोपस्थातव्यमिति । अतो मूयो यय-
मपि दान्तमनसोऽग्निहोत्रिणश्च । अस्माकमपि य एष दुरोणे यज्ञगृहं
यज्ञस्तन्यते ते त्वमुपयाहि तमागच्छ विद्वान् जानानः स्वमधिकारं भक्ततां
चास्माकम् । किंच । विधाः सर्वा अभियुजः अभितः सर्वतो युजः
अभियोक्त्वः शत्रुसेनास्तैवागमनप्रतिवन्धेन वर्तमाना विहृत्य नानाप्रकारं
हत्वा तत उपयाहि । किंच । एरमागच्छंस्त्वं शर्णु यक्षुरुश्च । शत्रूयतां
येऽस्माकं शत्रून् कामन्ते कर्तुं तान्विहृत्य तेषां वलानि ततो यानि
तेषां भोजनानि अन्नानि धनानि वा तान्यस्मभ्यमाहरेति समस्तार्थः ।

निगमप्रसक्तोऽतिथिशब्दो दुरोणशब्दश्च । आह । 'अतिथिः'
कस्मात् । उच्यते । 'गृहान्' आभिमुख्येनासौ 'अतितो भवति' ।

१ क. ख. छ. त. ड. 'पर' नास्ति. २ क. रा. वा अयं ततोऽतिथित-
स्मादेव दुष्टो. ३ छ. त. द. 'माहर. ४ क. रा. छ. त. द. 'विहृत्य'. ५ छ. त.
द. 'भस्तामाह'. ६ छ. ड. 'अथवा' चेतोऽवस्थाप्य तत उपयाहि' नास्ति. ७ क.
ख. घ. 'नास्त्यद्वारा'; घ. ड. उ. ड. 'नास्त्यद्वारा'. ८ घ. ञ. 'शुक्र'.

गत इत्यर्थः । 'अतंति पतति' इति गतिकर्मसु पठितम् [निघ० २ । १४ ।] । अथवैवमन्यथा स्यात् । 'अम्येति' अम्यागच्छति 'तिधिपु' पौर्णमास्यायासु 'परकुलानि' यजमानकुलानीत्यतिधिः । अयमपी-
तरोऽतिधिरेतस्मादेव । 'दुरोण इति' एतत् 'गृहनाम' । आह ।
किं काश्याम् । उच्यते । ते हि गृहाः 'दुरवा भवन्ति' । अवतिस्तर्प-
णार्थः [धा० १ । ६०१] । 'दुस्तर्पा' इत्यर्थः । उक्तं च ।

'कुटुम्बतन्त्राणि हि दुर्भराणि' इति । एवमेत-
स्मिन्मन्त्रे जुष्टो दमूना अतिथिर्विद्वान् हे अग्ने
स्मान्वयेऽयं च नि- यज्ञमुपयाहि इत्येतस्मिन्नधिकारे वर्तमानो दमूना-
र्णयः शब्दः कमन्यमग्निविशेषणत्वादर्थं ब्रूयात् । न
कंचिदपि । परिशेषादमूना इत्येतदग्निविशेष-
णमेवेति सिद्धम् ।

'मूपः' [निघ० ४ । १ । ६] इत्यनवगतम् । बहुवचनं चैतत्
मूद् मूपौ मूपः इत्येवम् । आह । कुत एतत् । उच्यते । 'व्यदन्ति'
इत्येतस्मिन्नाख्याते^१ बहुवचननिर्देशात् 'मूपो
व्यदन्ति' इत्येतत्संबध्यते । 'मूपिका इति'
अनेनावगतसंस्कारेण यः 'अर्थः' उक्तः
स्यात्स एव मूप इत्युक्ती भवति । प्रसिद्धार्थेनाभि-
धानेन मूपःशब्दस्य तत्त्वमाख्यातम् । अधुनाख्यानैप्रसक्तस्य मूपिका-
शब्दस्य निर्वचनं करोति । 'मूपिकाः पुनर्मुष्णातेः' । 'मुप स्तये'
[धा० ९ । ५८] इत्यस्य । 'मूपोऽपि' च 'एतस्मादेव' । ते हि
हरन्ति धान्यादीनि । सं मा तपन्तीति निगमः ॥ ४ ॥

सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः । मूपो न जिश्वा
व्यदन्ति माध्यः स्तोतारं ते शतक्रतो वित्तं मे अस्य रोदसी
[ऋ० सं० १ । १०५ । ८] ॥ संतपन्ति मामभितः सपन्न्य
इवेमाः पर्शवः कूपपर्शवो मूपिका इवाम्नानानि सूत्राणि व्यदन्ति

१ ठ. ड. 'मास्थाने बहु'. २ क. ख. घ. झ. ट. ठ. 'व्यगतयस'. ३ ग. ज.
'दीनि । ६ । सं०; च. 'दीनि १८ । सं'. ४ ठ. ड. ५ (उ. पुस्तके '५' नास्ति)
इति निरुक्तटीकायां चतुर्थाध्याये पञ्चमः पण्डः.

स्वाङ्गाभिधानं वा स्याच्छिश्नानि व्यदन्तीति संतपन्ति माध्यः
 कामाः स्तोतारं ते शतक्रतो वित्तं मेः अस्य रोदसी जानीतं मेऽस्य
 यावापृथिव्याविति त्रितं कूपेऽवहितमेतत्सूक्तं प्रतिवभौ तत्र ब्रह्मे-
 तिर्हासमिश्रमृड्मिश्रं गाथामिश्रं भवति त्रितस्तीर्णतमो मेधया
 वभूवापि वा संख्यानामैवाभिप्रेतं स्यादेकतो द्वितस्त्रित इति त्रयो
 वभूवुः ॥ ६ ॥

५

सं मा. तप० रोदसी इति । आप्यस्य त्रितस्य कुत्सस्य वेयमार्यम् ।
 पङ्क्तिः । ऐन्द्रेया । संतपन्ति. मामभितः सर्वतोऽवस्थिताः कूपे
 पतितस्यैताः कूपपर्शवः कूपेष्टकाः संकटेऽवस्थितम् । कथं पुनः संतपन्ति
 मामभितः । सपत्नीरिय. यथा समानभर्तृका योषितं एकं भर्तारमभिसंत-
 पेयुर्दुर्बचोभिर्दमस्यास्त्वया कृतमिदं मम न कृतमित्येवं मामेताः कूपपर्शवः
 संतपन्ति । ताभिः कूपेष्टकादिभिरहं पीड्ये । किं च । मूर्षो न मूर्षिका इव
 शिश्ना शिश्नानि व्यदन्ति अदन्ति । तान्यन्नभिभ्राण्यन्नमिश्रोर्दकं पायितानि
 सूत्राणि व्यदन्ति । सूत्रशब्दोऽप्याहृत उपपत्तिः

१०

१५

शिश्नशब्दस्यार्थः दृष्ट्वा भाष्यकारेण । विविधमदन्ति भक्षयन्ति ।

अग्न 'वा स्वाङ्गाभिधानम्' एतत् 'स्वात्' ।

स्वाङ्गमिति शेषोऽभिप्रेतः । भवति हि तिरश्चाभेद. स्वभावो यच्छेषं
 भक्षयन्ति । अथवा लाङ्गूलमपि सादृश्याच्छिश्नमुच्यते । भवति हि मूर्षि-
 काणामेव स्वभावः । खेहमाण्डे स्वलाङ्गूलं मुक्त्वा तदुद्धृत्य व्यदन्ति
 आस्वादयन्ति । उपपद्यत उपमार्थ एवायमपीति शिश्नशब्दो विकल्प्यते ।

२०

१ छ. त. द. 'वित्तं रोदसी' नास्ति. २ ग. च. ज. मा. त. रोदसीति; प.
 झ. ट. मा तप० रोदसीति; ठ. ड. 'सं० मा रोदसी' इति नास्ति. ३ ग. ज.
 'आप्यस्य० मार्यं नास्ति; च. पुस्तक इदमुपरितनयान्ते लिखितम्. ४ ग. च.
 ज. 'ऐन्द्री' नास्ति; ठ. ड. ऐन्द्रेया । सं मा तपन्तीति । सर्वतोऽवस्थितं. ५ ट. १५
 'वित्तं' परस्परं वा पीडयन्ते. ६ च. भर्तारं परस्परं वा पीडयन्ते; ठ. ड. भर्तारं
 परस्परं वा पीडयन्ते अभितं. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'दन्ति तान्यन्नवेष्टि-
 तान्यन्नमि'; च. 'दन्ति तान्यन्नमिषा' तानि अन्नेष्टि. ८ क. ख. ग. ज. घ.
 झ. ट. ठ. ड. 'दक्षयि'; च. 'दकं पीयितानि'. ९ क. र. ग. ज. स्वाङ्गा-
 भिधानमिति. १० ग. च. ज. शेषोऽ.

१०

गत इत्यर्थः । 'अतंति पतति' इति गतिकर्मसु पठितम् [निघ० २ । १४ ।] । अथवैवमन्यथा स्यात् । 'अभ्येति' अभ्यागच्छति 'तिथिपु' पौर्णमास्याद्यासु 'परकुलानि' यजमानकुलानीत्यतिथिः । अयमपी-
तरोऽतिथिरेतस्मादेव । 'दुरोण इति' एतत् 'गृहनाम' । आह ।
किं कारणम् । उच्यते । ते हि गृहाः 'दुरवा भवन्ति' । अवतिस्तर्प-
णार्थः [धा० १ । ६०१] । 'दुस्तर्पा' इत्यर्थः । उक्तं च ।

‘कुटुम्बतन्त्राणि हि दुर्भराणि’ इति । एवमेत-
दमूनाःशब्द- स्मिन्मन्त्रे जुष्टो दमूना अतिथिर्विद्वान् हे अग्ने
स्यान्वयेऽर्थे च नि- यज्ञमुपयाहि इत्येतस्मिन्नधिकारे वर्तमानो दमूनाः-
१० र्णयः शब्दः कमन्यमग्निविशेषणत्वाद्दर्शयत् । न
कंचिदपि । परिशोपादमूना इत्येतदग्निविशेष-
णमेवेति सिद्धम् ।

‘मूपः’ [निघ० ४ । १ । ६] इत्यनयगतम् । बहुवचनं चैतत्
मूद् मूपौ मूपः इत्येषम् । आह । कुत एतत् । उच्यते । ‘व्यदन्ति’
इत्येतस्मिन्नाख्याते बहुवचननिर्देशात् ‘मूपो
१५ मूपः इत्यस्य तत्त्वं व्यदन्ति’ इत्येतत्संबध्यते । ‘मूपिका इति’
व्युत्पत्तिश्च अनेनावगतसंस्कारेण यः ‘अर्थः’ उक्तः
स्यात्स एव मूप इत्युक्तो भवति । प्रसिद्धार्थेनाभि-
धानेन मूपःशब्दस्य तत्त्वमाख्यातम् । अधुनाख्यानैषस्तस्य मूपिका-
२० शब्दस्य निर्वचनं करोति । ‘मूपिकाः पुनर्मुष्णातेः’ । ‘मूप इत्ये’
[धा० ९ । ५८] इत्यस्य । ‘मूपोऽपि’ च ‘एतस्मादेव’ । ते हि
हरन्ति धान्यादीनि । सं मा तपन्तीति निगमः ॥ ४ ॥

सं मा तपन्त्यभिनः सपत्नीग्वि पश्येव । मूपो न शिक्षा
१५ व्यदन्ति माध्यः स्तोतारं ते जनक्रनो विनं भे अस्य रोदमी
[ऋ० सं० १ । १०५ । ८] ॥ मंनपन्नि मामभिनः सपन्न्य
इवेमाः पश्येवः कूपपश्येवो मूपिका इवास्मानानि मूत्राणि व्यदन्ति

१ ठ. ड. 'नास्माने बहु' २ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. 'मगतम' ३ ग. ज.
'दीति' ४ ङ. सं०; च. 'दीति' । छ. मं. ५ ठ. ड. ५ (३. पुनर्मुष्णाते)
६ इति निरुक्ती । ७ पा. अनुष्णाते ८ ख. घ. ८८.

स्वाङ्गाभिधानं वा स्याच्छिञ्चानि व्यदन्तीति संतपन्ति माध्यः
 कामाः स्तोतारं ते शतक्रतो वित्तं मे अस्य रोदसी जानीति मेऽस्य
 द्यावापृथिव्याविति त्रितं कूपेऽवहितमेतत्सूक्तं प्रतिवभौ तत्र ब्रह्मे-
 तिर्हासमिथमृद्धमिश्रं गाथामिश्रं भवति त्रितस्तीर्णतमो मेधंया
 वभूवापि वा संख्यानामैवाभिप्रेतं स्यादेकतो द्वितस्त्रित इति त्रयो
 वभूवुः ॥ ६ ॥

सं मा तप० रोदसी इति । आप्त्यस्य त्रितस्य कुत्सस्य वेंयमार्यम् ।
 पङ्क्तिः । ऐन्द्रेया । संतपन्ति मामभितः सर्वतोऽवस्थिताः कूपे
 पतितस्यैताः कूपपर्शवः कूपेष्टकाः संकटेऽवस्थितम् । कथं पुनः संतपन्ति
 मामभितः । सपत्नीरिव । यथा समानभर्तृका योपिते एकं भर्तारमभिसंत-
 पेसुर्दुर्वचोभिरिदमस्यास्त्वया कृतमिदं मम न कृतमित्येवं मामेताः कूपपर्शवः
 संतपन्ति । ताभिः कूपेष्टकादिभिरहं पीड्ये । किं च । मूर्षो न मृषिका इव
 शिञ्चा शिञ्चानि व्यदन्ति अर्दन्ति । तान्यन्मिश्राण्यन्मिश्रोर्दकं पायितानि
 सूत्राणि व्यदन्ति । सूत्रशब्दोऽप्याहृत उपपत्ति

शिञ्चशब्दस्यार्थः दृष्ट्वा भाष्यकारेण । विविधमदन्ति भक्षयन्ति ।

अथ 'वा स्वाङ्गाभिधानम्' एतत् 'स्यात्' ।

स्वाङ्गमिति शेषोऽभिप्रेतः । भवति हि तिरस्त्रामेव स्वभावो यच्छेषं
 भक्षयन्ति । अथवा लाङ्गूलमपि साङ्ग्याच्छिञ्चमुच्यते । भवति हि मूषि-
 काणामेव स्वभावः । खेहमाण्डे स्वलाङ्गूलं मुक्त्वा तदुद्धृत्य व्यदन्ति
 आस्थादयन्ति । उपपद्यत उपमार्थ एवायमपीति शिञ्चशब्दो विकल्प्यते ।

१ छ. त. द. 'वित्तं रोदसी' नास्ति. २ ग. च. ज. मा. त. रोदसीति; घ.
 झ. ठ. मा तप० रोदसीति; ठ. ड. '६० मा रोदसी' इति नास्ति. ३ ग. ज.
 'आप्त्यस्य० मार्यं नास्ति; च. पुरतक इदमपतितमन्ते लिखितप. ४ ग. च.
 ज. 'ऐन्द्री' नास्ति; ठ. ड. ऐन्द्रेया । सं मा तपन्तीति । सर्वतोऽवस्थि. ५ ट.
 'पिते' परस्परं वा पीडयन्ते. ६ च. भर्तारं परस्परं वा पीडयन्ते; ठ. ड. भर्तारं
 परस्परं वा पीडयन्ते अभित. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'दन्ति तान्यन्मिश्र-
 तान्यन्मि'; च. 'दन्ति तान्यन्मिश्रा' तानि अचवेष्टि. ८ क. ख. ग. ज. घ.
 झ. ठ. ड. 'दकपायि'; च. 'दकं पीयितानि'. ९ क. ख. ग. ज. स्वाङ्गा-
 भिधानमिति. १० ग. च. ज. शेषोऽ.

एवमेते मदुःखाः संतपन्ति मा आप्यः आप्यः कामाः। सोमेन यक्ष्ये
 दास्ये भोक्ष्य इत्येवमादयो मां भक्षयन्ति पीडयन्त्यसंपूर्यमाणाः। आधि-
 रिति मानसं दुःखमुच्यते। स्तोतारं ते शतक्रतो। हे शतक्रतो तव नाम
 स्तोतारं सन्तमेते कामा एताश्च कूपपर्शवो मामुभयपार्श्वीकृतं सचक्षान्तरं
 संतापयन्ति। न च नाम त्वमस्मानेतस्या अपदस्त्रायसे समर्थः सन्।
 अहो न युक्तम्। भक्तपरीत्यागो हि सतां सर्वेभ्यः पापेभ्यः पापिष्ठ इत्य-
 भिप्रायः। यदैवमर्थमानो न शुश्रावेन्द्रस्तदा द्यावापृथिव्यावाह। यदि नाय-
 मिन्द्रः शृणोति मन्दभागधेयत्वादस्माकं युवामपि तावत् हे रोदसी वित्तं
 जानीतमस्य वचसः श्रुत्याह्वयस्य यक्षयोजनं यदर्थमहं रोरवीमि। युवामपि
 चैतस्मात्प्रतिभयाकारात्कूपदुद्धरतं यदि नायमिन्द्रोऽभ्युद्धरति। युवयोरपि
 स्तोतैवाहमित्यभिप्रायः।

आह। पर्शव इत्येतावति श्रूयमाणे कुत एतत्कूपपर्शव एता इति।

उच्यते। 'त्रितः कूपेऽवहितः' [अ० सं०

पर्शव इति शब्देन

१। १०५। १७] इत्येतस्मिन् सूक्ते विशेष-

कूपपर्शवः कथं सू-
 च्यन्ते

लिङ्गात्। तदेव भाष्यकारेण ख्यापितमत एव

सूक्तगताद्विशेषलिङ्गादुपलभ्य 'त्रितं कूपेऽवहित-

मेतासूक्तं प्रतिबभौ' अत्रैवमृक् तस्मात्कूपपर्शव

सूत्रशब्दाध्याहारस्य
 प्रयोजनम्

एता इति। सूत्राणि व्यदन्तीति सूत्रशब्दो भाष्य-

कारणाभ्याहृतः शिश्न इत्यस्य शब्दस्य शेष-

भूतो मूर्धन्यसंयन्धेन। ते ह्यन्नगन्धेन सूत्राणि

व्यदन्तीति। स्वाङ्गाभिधानपक्षे त्वध्याहारो नास्त्येवेति।

'तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रम्'। तत्र तस्मिन् सूक्ते ब्रह्मेतिहासमिश्रम्।

इतिहासयुक्तमित्यर्थः। तद्यथा। 'त्रितः कूपेऽवहितो देवान् हवत ऊतये'

[अ० सं० १। १०५। १७] इत्येवमादि।

सूक्तेषु ऋग्विओ

'ऋग्विओ गाथामिश्रं' च 'भवति'। स पुनार-

गाथामिश्रश्चेतिहासोऽ-

तिहास ऋग्विओ गाथायद्वयम्। ऋक्प्रकार एव

उपलभ्यते

कश्चिद्वाधेयुच्यते। 'गाथाः संसति नारासंसीः

संसति' इति ह्युक्तम्। 'गाथानां कुर्यात्' इति।

१ क. स. ग. मदुःखाः. २ च. युक् 'को. ३ क. स. प. झ. रुत्या. ४ य.

ज. रुत्या. ५ रु; ज. सुत्या. ६ ट. ड. 'भदावत्'. ७ च. इत्येत' त्युच्ये.

११. ६ ग. ज. भूषिक; च. भूषकां.

एष-सूक्तानां स्वभावः- प्रदर्शितः । इतिहाससंबद्धान्यपि सूक्तानि भवन्ति । तेषु प्रकरणादपि संदिग्धस्य पदस्यार्थोऽध्ययसेवो यथेह पशु-शब्दो माष्यकारेण ध्यवसित इति ।

माष्यप्रसक्तं त्रितशब्दं निर्ब्रवीति । ' त्रितस्तीर्णतमो मेघया ' एकत-द्वितयोः सकाशात् ' बभूव ' । अपि वा संख्यानिमित्तमर्थतत् ' नामाभिप्रेतं स्यात् ' । कथम् । ' एकतो द्वितस्त्रित इति त्रयो ' हि ते भ्रातरो ' बभूवुः ' । तस्मात्संख्यानिमित्तमप्युपपद्यत एव । उक्तं च । ' भार्गवारे-णाम्युपादयत्त एकतोऽन्यत द्वितीयं ततो द्विताष्ट्रीयं ततस्त्रितः ' इति ॥ १ ॥

इपिरेण ते मनसा सुतस्य भक्षीमहि पित्र्यस्येव रायः । सोमं १०
राजन्म ण आर्यं पि तारीरहानीव सूर्यो वासराणि [ऋ० सं० ८ ।
४८ । ७] ॥ ईपणेन वैपणेन वार्षणेन वा ते मनसा सुतस्य
भक्षीमहि पित्र्यस्येव धनस्य प्रवर्धय च न आर्यं पि सोम राजन् ।
अहानीव सूर्यो वासराणि । वासराणि वैसराणि विवासनानि
गमनानीति वा कुरुतेत्यनर्थका उपजना भवन्ति कर्तन हन्तन १५
यातनेति जठरमुदरं भवति जग्धमस्मिन् त्रियते धीयते वा ॥ ७ ॥

' इपिरः ' [निघ० ४ । १ । ७] इत्यनवगतम् । ' ईपणेन वा
एपणेन वा ऋपणेन वा ' इत्येताः शब्दसमाधयः ।
इपिरशब्दस्य व्यु- ' इपिरेण ते मनसा ' इति समानविभक्त्यन्तत्वा- २०
त्वातिः दिपिरशब्दस्य प्रतीयत एव मनोविशेषणत्वमित्य-
भिधेयमनुक्त्वा निगममेव पठेति । इपिरेण ते
मनसा वासराणीति । प्रगायस्येयमार्गम् । त्रिष्टुप् । सौमी । हे भगवन्
सोम इपिरेण मनसा । त्वां प्रति सर्वात्मना
अर्थश्च गतेनेत्यर्थः । ' ईपति कृणति ' इति गति- २५
कर्मसु पठितम् [निघ० २ । १४] ।

‘एषणेनेति वा’ स्यात् । इच्छावता । फलप्रार्थनावतेत्यर्थः । ‘ऋणेनेति वा’ । दर्शनवता । ईदृशेन मनसा किं कुर्मः । ते तव योऽस्माकं स्वांशस्तं भक्षीमहि तं भक्षयेमहि । कथं पुनर्भक्षयेमहि । पित्र्यस्येव रायः । यथा पित्र्यो धनांशोऽविघ्नेन भक्ष्यते भक्षितश्च सुखपरिणामो भवत्येवं तव वयं स्वमंशमविघ्नेन भक्षयेमहि भक्षितश्च सुखपरिणामो मेऽस्तु । मातीका भिद्येमहीत्यभिप्रायः । किंच । हे सोम राजन् प्र ण आयूंषि तारीः । प्रैतारस्य च प्रवर्धय च न आयूंषि । कथं पुनः प्रवर्धय । अहानीव सूर्यो वासराणि । यथा सूर्यो वासराणि वासन्तिकान्यहानि । ‘वासराणि’ इति ‘वेसराणि’ द्विसराणि । शीतोष्णाभ्यां हि द्वाभ्यां तानि सरन्ति । तेषु हि शीतोष्णं भवति रात्रौ शीतं दिवोष्णम् । अथवा ‘विवासनानि’ स्युः । तानि हि तच्छीतं विवासयन्ति । नाशयन्तीत्यर्थः । ‘गमनानीति वा’ । विसृतांनि विस्तीर्णानि सन्ति वासराणीत्युच्यन्ते । यथा तानि सूर्यो वर्धयति मन्दगतित्वादेवमस्माकं त्वमायुः प्रवर्धयेत्याशीः ।

‘कुरुतन [निघ० ४।१।८] इत्यनर्थका उपजना भवन्ति’ । य. एवार्थः कुरुतेत्युक्ते भवति स एव कुरुतनेति । नात्र नकारस्यार्थोऽधिकोऽस्ति । अधुनैवमुक्त्वान्यान्यपि दर्शयति ‘कर्तन हन्तन यातनेति’ ।

शुनं सुफला विनुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहिः । शुना-
 कर्तनेत्यस्य प्रयोगः सीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्त-
 नास्मे’ इति । अग्निचयने क्षेत्रकर्पणे विनियुक्ता ।

१० त्रिष्टुप् । सुखं शोमनाः फाला विनुदन्तु विकृपन्तु
 भूमिम् । सुखं कीनाशाः भूमिकीणनाशाः खिलोत्कर्तारः कर्पुकाः अभि-
 यन्तु वाहिः अनहुद्रिः । अयं तावदेवं कृपीवलः कृपि करोतु । युवामपि हे
 शुनासीरी हविषा उदकेन तोशमानौ निघ्नन्तौ भूमिं सुपिप्पलाः सुफलाः
 एता ओषधीः कर्तन कुरुतम् अस्मे । अस्मम्यामित्यर्थः ।

- १५ १ च. स. ट. ऐ० च. ऐ० ए. २ च. योऽस्माकं० अभिपुनोऽ. ३ ग. ज. मा चाद्यानभिषाणी तास्यं; च. मा चोस्मान्तेतिथ्योतीं प्रता. ४ च. विसराणि. ५ क. ख. घ. स. ट. ठ. ड. ‘दिसराणि’ नास्ति. ६ घ. स. ट. ठ. ड. विशा-
 रतानि; च. विवा-सुवानि. ७ ग. ‘नेति । ८ । शुनं. ८ क. ख. विनुदन्तु; ठ. ‘सुफाला विनु’ नः. ९ च. तोशमानां ५. १० ग. ज. ‘विकृपन्तु’ नास्ति,
 २० ११ क. ख. भूमिं कीणं; ग. ज. भूमिं किणं.

यो नो मरुतो अभि दुर्दृणायुस्तिरश्चित्तानि वसवो जिघांसति । दुहः

पाशान्प्रति स मुचीष्ट तपिष्टेन हन्मेना हन्तना

हन्तनेत्यस्य

तम् [ऋ० सं० ७ । ५९ । ८] इति ॥

वसिष्ठस्यैयमार्षम् । सातपनस्य चरोः याग्यैपा

[आश्व० श्रौ० २ । १८] । योऽस्माकं हे मरुतः दुर्दृणायुः पाप-

क्रोधनः तिरश्चित्तानि अन्तर्हितानि चित्तानि कृत्वा संमोह्य ततो हन्तुम-

स्मानिच्छति हे वसवः सर्वभूतधासयितारः तस्येदं लक्षणस्य दुहः अस्म-

द्गोघुरपरि पाशान् प्रतिमुचीष्ट प्रतिसंमोचयत । पाशैरेनं बद्धा तपिष्टेन

स्नापयितृ तमेन हन्मेना हन्नेन वधेन हन्तना । हन्तनेत्यर्थः ।

को न्वत्र मरुतो मामहे वः प्र यातन सखायः । मन्मानि

चित्रा अपिवातयन्त एषां भूत नवदां मः क्रता-

यातनेत्यस्य

नाम् [ऋ० सं० १ । १६५ । १३] इति ॥

इन्द्रागस्त्यमरुतां संवादः । कयाशुभीयं सूक्तम् ।

तत्रेयमगस्त्यस्यार्षम् । महाव्रते [ऐ० आ० ५ । १ । १] व्यूढस्य च

दशरात्रस्य सप्तमेऽहनि सूक्तं शस्यते । हे मरुतः कोऽन्यः युष्मानेवमेत-

स्मिन् जगति मामहे पुनः पुनर्मेह्वति पूजयति यथार्हम् । न कश्चि-

दित्यभिप्रायः । यत एवमतो मरुतो ब्रवीमि । अस्मानेव सखीनामि-

मुख्येन प्रयातन आयात हे सखायः । किं च मन्मानि मननानि

स्यानि चेतांसि चित्राः चित्राणि अस्मान्प्रति अपिवातयन्तः निगमयन्तः

एषामृतानां यज्ञानां प्रापयितारो भवन्तं हे नवेदाः । मेधाधिन

इत्यर्थः ।

१ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. यो नोऽस्माकं. २ क. ख. ग. 'रेवं; ज. 'रितं.
३ ग. ज. ततेत्य'. ४ घ. ट. मरुतो० वेदा म क्रतानां । इन्द्रा०. ५ ग. ज.
'र्हति पूजयति. ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'यार्हं तथा न क'; च. 'यार्ह-न क'
तथा. ७ क. ख. ग. ज. 'मरुतो' नास्ति. ८ क. ख. घ. झ. ट. ड. प्रदान;
च. 'आयात' प्र; ट. 'प्रयात' आ. ९ ग. ज. आत्मानं मनयन्तः. १० क. ख. घ.
झ. ट. ठ. ड. भूतं भवन.

‘जठरम्’ [निघ० ४।१।९] इत्यनवगतम् । ‘उदरं भवति’ इत्य-
जठरमित्यस्य मिषेयवचनम् । ‘जग्धं’ भुक्तमन्नम् ‘अस्मिन्’
निर्वचनम् अवस्थितं ‘प्रियते’ इति जठरम् । अन्नं ‘वा’
जग्धम् ‘अस्मिन्’ ‘धीयते’ इति जग्धधानं वा

स्यात् । एते शब्दसमाधी । मरुत्वाँ इन्द्रेति निगमः ॥ ७ ॥

मरुत्वाँ इन्द्र वृषभो रणाय पित्रा सोममनुष्वधं मदाय । आ सिं-
श्वस्व जठरे मध्वं ऊर्मिं त्वं राजासि मदिबः सुतानाम् [ऋ० सं०
३ । ४७ । १] ॥ मरुत्वानिन्द्र मरुद्भिस्तद्वान् वृषभो धर्पितापां
रणाय रमणीयाय संग्रामाय पिव सोममनुष्वधमन्वर्धं मदाय मद-
नीयाय जैत्रायासिश्च स्वजठरे मधुन ऊर्मिं मधु सोममित्पाप-
मिकं माधतेरिदमपीतरन्मध्येतस्मादेव त्वं राजासि पूर्वेष्वप्यहः सु
सुतानाम् ॥ ८ ॥

इति चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

- १५ मरुत्वाँ इन्द्र वृषभो रणायेति । विश्वामित्रस्येयमार्पम् । त्रिष्टुप् । महा-
व्रते पृष्ठस्य चतुर्थेऽहनि ज्ञस्यते [ऐ० आ० ५ । १ । १] । मरु-
त्वान् मरुत्संयुक्तो भूत्वा पित्र हे इन्द्र यस्त्वं वृषभो धर्पिता । ‘अपाम्’
इत्यव्याहृतं भाष्यकारेण वृषभसंयन्धात् । यस्त्वेवमवकर्मकारी तं त्वां प्रवीणि ।
रणाय रमणीयाय संग्रामाय रमणीये संग्रामं करिष्यामीत्येतमर्थमुद्दिश्य
पिबितं सोममस्मत्प्रसम् अनुष्वधम् । स्वधेयज्ञानाम् [निघ० २ । ७ ।
१७] । स्यन्तीमपुरोद्वादाद्यभिप्रायेण अनुष्वधम् अनु अव्ययम् । मदाय
मदनीयाय पानाय युष्मदर्थमस्माभिः संरुह्यम् । ‘जैत्राय’ इत्यव्याहृतं
भाष्यकारेण । द्विविधो हि मदः संमोहकरो जैत्रश्च । तयोर्जैत्र इष्टः संग्रामे ।
• कथं च पुनः पिव । विमीपत् । नेत्युच्यते । आसिश्च स्वजठरे पे मध्वः

- २५ १ ग. ज. जग्धवां; ट. जठरं जग्धवां. २ ग. ११ (७); च. ज. ११;
ट. ८. ३ द. घ. घ. ठ. ड. ‘इति ००० पादः’ नास्ति. ४ क. ख. घ.
स. ट. ठ. ड. ‘मरुत्वान्’ नास्ति. ५ क. ग. घ. स. ट. ठ. ड. ‘दक्षामे’.
६ ट. संदाये ‘मं, ट. ड. संदाये. ७ च. ट. जठरेऽव्ययः’ उद्ग्रे; ठ. ड. जठरे
उद्ग्रे मदाः.

सधुनः । 'मधु सोममित्यौपमिकम्' इत्येतदुक्तं सोमस्य मधुत्वं 'माद्यतेः'
धातोः । तृप्तिर्हि समाना सोमेन मध्वा चेत्यौपमिकत्वं । 'इदमपीतरन्मधु'
माक्षिकम्' एतस्मादेव 'माद्यतेः' । यत्तु सोमस्थोपचारत्वेन तन्माध्वीकम् ।
ऊर्मिः संघातः । तावच्च 'सोममासिञ्च स्वजठरे यावता जैत्रौ मद उपजायते ।
कस्मात्पुनरेवं ब्रवीमि' । इतो यस्मात् 'त्वं राजासि मद्रिवः सुतानाम्' ।
त्वमेव राजा ईश्वरः पूर्वेष्वप्यहः सु सुतानामभिपुतानां न केवलमाधुनिका-
नाम् । उचितः सोमश्चन एव त्वमित्याभिप्रायः ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायस्य प्रथमः पादः ।

तितउ परिपवनं भवति तत्तद्वा तुन्नवद्वा तिलमोत्रतुन्नमिति १०
वा ॥ ९ ॥

'तितउ' [निघ० ४ । १ । १०] इत्यनवगतम् । 'परिपवनं
भवति' इत्यभिधेयवचनम् । सक्तवः परिपूयन्ते
तितउ इत्यस्य येन द्रव्येण तत्परिपवनमुच्यते । तत्तेन चर्मणा १५
निर्वचनम् । नैदं तितउ । तुन्नैर्वा छिद्रेस्तद्धत् तितउ । तिल-
मात्राणि वा तुन्नानि तस्मिन्निति तितउ । यथा-
संभवमेताः शब्दसमाधयः । निगमः ॥ ९ ॥

सक्तुमिव तितउनां पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमकृत । १०
अत्रा सर्खायः सर्खायानि जानते भद्रैर्षी लक्ष्मीर्निहिताभि वाचि
[क्र० सं० १० । ७१ । २] ॥ सक्तुमिव परिपवनेन पुनन्तः
सक्तुः सचतेर्दुर्धावो भवति कसतेर्वा स्याद्विपरीतस्य विकसितो

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. तस्यान्माध्वीकं; ग. ज. तन्माध्वीकं. २ च.
अर्मितंवा. ३ ठ. ड. तावत्त्वं. ४ घ. ङ. ड. धनीषि; ट. ब्रवीषि. ५ मि. च. ब्रवीमि. १५
वि. ५ ग. ज. घ. ङ. ट. एव. ६ घ. ट. ठ. ड. च. ज. अहो नास्ति. ७ ठ. ड.
इति निरुक्तीकायां चतुर्थाध्याये अष्टमः खण्डः । इति नियन्तुर्वादेन नवमाध्यायाय
प्रथमः ८ क. ख. द. १. ९ च. नैदं तदति. १० क. ख. १(१) ग. १२(१);
घ. ज. १२; ठ. ड. -अयः । अत्र निगमः । इति निरुक्तीकायां चतुर्थाध्याये
नवमः खण्डः.

भवति यत्र धीरा मनसा वाचमकृपत प्रज्ञानं धीराः प्रज्ञानवन्तो
 ध्यानवन्तस्तत्र सखायः सख्यानि संजानते भद्रैर्षां लक्ष्मीनिहि-
 ताधि वाचीति' भद्रं भगेन व्याख्यातं भजनीयं भूतानामभिद्रवणीयं
 भवद्रमयतीति वा भाजनवद्वा लक्ष्मीर्लाभाद्वालक्षणाद्वा लप्स्यनाद्वा
 लज्जनाद्वा लपतेर्वा स्यात्प्रेप्साकर्मणो लग्यतेर्वा स्यादाश्लेष-
 कर्मणो लज्जतेर्वा स्यादश्लघाकर्मणः शिमे इत्युपरिष्ठाद्व्याख्या-
 स्यामः ॥ १० ॥

- सक्तुमिव तितउनेति । विद्यासूक्ते बृहस्पतेरार्षेम् । 'सक्तुः सचतेः' ।
 १० स हि सूक्ष्मत्वात्सचति संश्लिष्यत्यङ्गे । तता 'दुर्वावो भवति' इत्युप-
 पत्तिः । दुःखं धाव्यते प्रक्षाल्यत इत्यर्थः । 'कसतेर्वा स्याद्विपरीतस्य' ।
 स हि 'विकसितो' विपुष्टितः 'भवति' । यथा सक्तुं कश्चिपरिपवनेन
 पुनात्येवं मनसा परिपवनस्थानीयेन परिपूय विनिश्चित्य शब्दार्थं व्याप-
 युक्तां वाचं यत्र यस्मिन् समाजे यज्ञे वा धीराः
 १५ तितउशब्दस्यो- धीमन्तो मेधाविनः अकृत अकृपत । कुर्वन्तो-
 दाहरणम् स्पर्धः । अत्र केचिदकृपत प्रज्ञानमन्यभिधीयते
 प्रज्ञानार्थत्वाद्वाचः । तत्र किमिति । तत्र सखायः
 समानख्यानाः समानख्यानानामेव समानेषु शास्त्रेषु कृतश्रमाणाम् । तद्यथा ।
 वैपाकरणानां वैपाकरणा एव नैरुक्तानां नैरुक्ता एव । सख्यानि सखिभा-
 २० धाम् जानते । विज्ञानानि संजानते । इतरेतरस्य यो विज्ञानप्रकर्षस्तं जानते ।
 किं कारणम् । यस्मात् भद्रा भन्दनीया एषां लक्ष्मीर्विज्ञानास्या निहिताधि-
 वाचि । वाचः अधि उपरि निहिता अवस्थापिता । तथा लक्ष्म्या इतरेतरस्य
 विज्ञानश्रमं जानते । इतरो ह्यविद्वान् किं विज्ञास्यत इत्यभिप्रायः ।

‘भद्रं भगेन व्याख्यातं’ ‘स्त्रीभगस्तथा स्याद्भजतेः’ [निरु० ३ ।

१ क. स. छ. त द. 'इति' नास्ति. २ क. स. छ. त. द. 'लज्जना'. ३ क.
 त. २ (१०), द. २. ४ क. स. संजानते; ग. ज. जायते; च. जायते' न.
 ५ च. विज्ञानस्य संजानते. ६ छ. छ. 'विचिन्तास्य'. ७ घ. ट. ठ. ड. 'भजतेः'
 १८ इति' नास्ति; च. भजतेतिनिर्ग' भ.

१६] इति । 'भजनीयम्' इति । 'भूतानाम्
भद्रशब्दस्य व्यु-
त्पत्तिः भिद्रवणीयम् । अभिममनीयमित्यर्थः । 'भवद्रम-
यतीति वा ।' यस्य हि तद्भवति स रमते । 'भाज-
नवद्वा' । सन्ति हि कल्याणरूपाः पुरुषा ये
तस्य भाजनम् । तैस्तद्भव । 'लक्ष्मीर्लभाद्वा' । लक्ष्मीवन्त एव लभन्ते
नेतेर । 'आलक्षणाद्वा' । आलक्षित एव हि लक्ष्मीवान् । 'लज्जिताद्वा' ।
तया हि लज्जित इव भवति । 'लपतेर्वा स्याद्ये-
लक्ष्मीशब्दस्य च प्ताकर्मणः' [धा० १ । ८१३] । सर्व एव
हि तामभिलपन्ति । 'लज्जतेर्वा स्यादा-
[धा० १ । ७८७] । आल्लिष्येव हि सा वर्तते पुरुषम् । 'लज्जतेर्वा स्याद-
'ल्लाघाकर्मणः' [धा० ६ । ११] । ये हि लक्ष्मीवन्तो भवन्ति ते
स्वयमात्मानं न ल्लाघन्ते ।

'शिप्रे [निघ० ४ । १ । ११] इति' एतद् 'उपरिष्ठादव्या-
ख्यास्यामः' । 'शिप्रे हन् नासिके वा' [निरु० ६ । १७] इत्यत्र
'द्योतनिगमप्रसक्तमायास्यतीति लाघवार्थमुक्तम् । 'मध्या' [निघ०
'४ । १ । १२] इत्येतदनवगतम् । 'मध्ये' इत्यवगमः ॥ १० ॥

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं सं जभार ।
यदेदयुक्त हरितः सधस्यादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै [ऋ०
सं० १ । ११५ । ४] ॥ तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्ये
यत्कर्मणां क्रियमाणानां विततं संह्रियते यदासावयुक्ते हरणाना-
दित्यरश्मीन् हरितोऽभवानिति वाय रात्री वासस्तनुते सिमस्मै
। वेसरमहरवयुवती सर्वस्मादपि वोपमार्ये स्याद्रात्रीव वासस्तनुत
इति तथापि निगमो भवति । पुनः समन्वयद्विततं वर्यन्ती ।
समनात्सीत् ॥ ११ ॥

१ ग. ज. 'भजनीयमिति' नास्ति. २ क. रा. ग. ज. लंछना; च. ट. लंछना
लं. ३ च. लंछित इ. लां(ल)छि. ४ क. ख. २ (१०); ग. १३ (१०); च.
ज. १३; घ. ट. ठ. ड. अद्वो नास्ति. ५ क. ख. छ. द. वयुक्त. ६ क. ख.
३ (११); द. २.

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महत्त्वम् । आङ्गिरसस्य कुत्सस्येयमार्षम् ।
 त्रिष्टुप । सौर्यस्य पशोः षड्रचं वैपाया याज्या । सूत्रितं
 च ' चित्रं देवानामिति पुरोनुवाक्यास्तिष्ठ उत्तरा याज्याः सौर्यस्योपांशु ' ।
 इति । तदहं सूर्यस्य भगवतो देवत्वं देवताभावं तन्महत्त्वं तच्च महत्त्वं
 ५ मोंहाभागे मन्ये जाने । यत्किमिति । मध्या मध्ये यत्कर्मणां क्रियमाणाना-
 सनेशेयामवगणय्य सर्वान् कर्मकर्तृन् मिषेतां तेषां विततमेतद्वकाश-
 जालमेवमतिमहत् । महतापि कालेन तद्वरुपसंहार-

मध्या इत्यस्योदा- मन्यैः । यदेकेन मुहूर्तेनायत्नेनैव भगवता
 हरणम् सूर्येण संहियते तदस्य देवत्वं तच्च महत्त्वमहं
 १२ मन्ये । किंच । यदासौ भगवान् सूर्यः अयुक्त-

युतक्ति हरितः रसहरणान् रस्मीन् आत्मानि सस्तं गच्छन् सधस्थात् पृथिवी-
 लोकादाकृष्य । पृथिवी हि तेषां रसादानार्थं सहस्थानम् । इतो हि ते
 सर्वे एव रसानाददते । आत् अथेत्यर्थः । अथ तदैवोपसंहृतसर्वरश्मिजाले
 १५ भगवति सूर्ये रात्रिर्वासः वेसरमहरवयुवती अवमिश्रयन्ती सिमस्मात्सर्व-
 स्माङ्गोकात् अहरपकृष्य सा तमस्तनुते । तदेवमेतदपि सूर्यस्थैव मोंहाभागे
 यदस्य संनिधौ तमो नश्यति यश्चानेनोत्सृष्टो देशः स तमसा छद्यत इत्य-
 भिप्रायः । ' हरितोऽश्वानिति ' ऐतिहासिकपक्षमतेन ।

अपि योपमार्थे स्याद्रात्रीव वास्तस्तनुत इति १ । वास इव रात्री
 तमस्तनुत इत्यर्थः । पूर्वत्र वेसरमहरवयुवती

२० उपमार्थोऽप्यस्या- तमस्तनुत इति नास्त्युपमा । इह पुनर्वास इव
 मृचि स्यात् तमस्तनुत इत्येवमुपमा । यथा ' योपमार्थोऽपि
 युज्यते ' तथा च ' निगमोपि ' अयं ' भवेति ' ।

१ क. ख. घ. ट. देवत्वं० सिमस्मै । आङ्गिः; द. ह. तत्सूर्यस्येति । आङ्गिः०.

२ घ. झ. षड्रचं; ट. षड्रचं. ३ ग. अ. 'वपाया.....स्योपांशु' इति नास्ति; च.
 षड्रचं ~ । तदहं वपाया०० स्योपांशु इति. ४ घ. झ. ट. ठ. ड. च. महाभाग्यं.

५ क. ख. घ. ट. ठ. ड. च. त्रिततं. ६ घ. ठ. ठ. ड. "जलतमेव". ७ घ.
 ठ. ठ. ड. 'महत्' नास्ति. < ठ. ड. रसदाना". ९ ग. ज. हरितो विनाश

इव रात्री तमस् इत्यश्वानित्येति०; घ. ट. ठ. ड. हरितोऽश्व इत्ये०. १० ग. ज.

२१ 'च' नास्ति; च. यथोपमा० था चो. ११ घ. च. ज. 'वति । १४ । पुनः०.

पुनः समन्यद्विततं वयन्ती मय्या कर्तोऽन्यथाच्छक्म धीरः । उत्संहायास्था-

ह्युत्तूदधरस्मतिः संविता देव आमात् । [अ०

साष्टपुपमार्थेऽन्या सं० २।३।८।९] ॥ गृत्समदस्येयमार्थम् । सावित्री ।

शक्नु त्रिष्टुप् । पृष्ठयस्य पष्ठेऽहनि वैश्वदेवशखे शस्यते
तृतीयसत्रने [आश्व० श्रौ० ८।८] । ' पुनः समन्य-

द्विततं वयन्ती । समनासीत् ' इति निर्वचनम् । समवेष्टयदित्यर्थः । यथा

योऽपि काचिद्वासो वयन्ती पुनः संवेष्टयस्तमपकाळे पुनश्च वितनोत्सादित्य
उदित एवमियं रात्रिः पुनरेव तमः संवेष्टयति योऽपि देव वासो वयन्ती ।

कदा पुनः संवेष्टयति । यदा मय्या मये कर्तोः

अश्रोपमांशब्दं वि- कर्मणां क्रियमाणानां लौकिकवैदिकानां विततमे- १०
नापि सामर्थ्यादुपमार्थः तदस्मिन्नालं शक्म स्वात्मप्रसवादपत्यभूतं न्यधात्

नीचैर्यच्च लोकानां प्रकाशनाय । अथवा शक्मेति

कर्मनाम स्यात् [निघ० २।१।९] । यदा एवं प्रकाशं पुनः कर्म
निघ्नचे निदधाति उदेति धीरो धीमानादित्यस्तदाहन्यभ्युपस्थिते पुनः संवे-

ष्टयति । रात्रिस्तम इति । अस्तमयं प्रति पुनर्वास इव तनोतीति । एवमेत- १५
स्मिन्नपि मन्त्रे सामर्थ्यादसत्युपमाशब्दे वाससा तम उपवीयते । यथेह तथा

पूर्वस्मिन्नपि निगमेऽपीत्येवमेके मन्यन्ते । अपरे पुनः ' अपि वोपमार्थे स्यात् '

इत्यत्रैवं वर्णयन्ति । रात्रौ वासस्तनुत इत्यत्र वासःशब्दोऽहःशब्दपर्याय-
वाची । तस्योक्ता व्युत्पत्तिः वेसरमहोरिति [निह० ४।७] । सा रात्रि-

यास्तनुते । अहस्तनुत इत्यर्थः । रात्रिप्रान्ते हि २०

अपि वोपमार्थे शुरुमहर्लक्ष्यते तेन ज्ञायते रात्रौ वेदं ततमिति ।
स्यादित्यादेरन्योऽर्थः एवमुपमार्थत्वमेके मन्यन्ते । यदा चायमर्थस्तदा

' पुनः समन्यद्विततं वयन्ती ' इत्यत्र पुनः सम-
वेष्टयदहो रात्रिर्विततमिव वासो वयन्ती । कदा । यदा मध्ये कर्मणां न्येधात्

निदधात्यस्तं गच्छन्नादित्यः स्वमण्डले शक्म रात्रिजालम् । यदा च उद- २५
स्यात् उचिष्ठति स्वरस्मीनुपसंहृत्य न्येदर्थः न्येधात् विदधाति भूतून् अहो-

१ ग. ज. वयन्ती । मृत्सः घ. ट. वयन्ती० सविता०. २ ग. ज. ' कृत्स्नपु-
पमा' ३ क. ख. घ. स. ट. ठ. ड. रात्रौ वेदं. ४ ग. ज. ' नि ' नास्ति; घ.
निमयात्. ५ ग. ज. घ. स. ट. ठ. ड. ' व्येदर्थः ' नास्ति. ६ ग. ' यदधात् ' ज.
न्येदधात्.

रात्रिलक्षणान् । यदेवमेव सविता देवोऽलमतिः पर्याप्तमतिः आगात् आगच्छति तदा रात्रिस्तनुते वासोऽहर्लक्षणं पुनः संवेष्टयतीत्येवं मन्यन्ते । यदेवैत्रार्याविरोधि तत्प्रतिपत्तव्यम् । 'मन्दू' [निघ० ४ । १ । १३] इत्यनवगतम् । 'मदिष्णू मन्दुना' इति वा शब्दसमाधी ॥ ११ ॥

इन्द्रेण सं हि दृसंसे संगच्छमानो अविभ्युषा । मन्दू समानवर्चसा [ऋ० सं० १ । ६ । ७] ॥ इन्द्रेण हि संदृश्यसे संगच्छमानोऽविभ्युषा गणेन मन्दू मदिष्णू युवां स्योऽपि वा मन्दुना तेनेति स्यात्समानवर्चसेत्येतेन व्याख्यातम् ॥ १२ ॥

१०

इन्द्रेण सं हीति निगमः । मधुच्छन्दस इयमार्यम् । महाव्रते महदुक्थे तृचाशीतिषु शस्यते । सात्रिकेषु चाह. सु स्तोमातिवृद्धौ प्रातःसवने ब्राह्मणाच्छंसिनः शस्त्रे इन्द्र उच्यते । हे भगवन्निद्र त्वम् इन्द्रेण ईश्वरेण दीप्तेन वा मरुद्गणेन नित्यमेव संगच्छमानः संदृश्यसे अविभ्युषा अभयवता । 'गणेन'

१५

इत्यव्याहारः । तौ च युवां मरुद्गणस्त्वं चैकत्र संगतौ मदिष्णू हर्षशीलौ । नित्यप्रमुदितावित्यर्थः । समानवर्चसौ च । मन्दूशब्दस्या- समानदीप्ता इत्यर्थः । एवं 'मन्दू समानवर्चसा' न्वयोऽर्थश्च इत्येतेन द्विवचनेन मरुद्गणेनेन्द्रविपयेण निगमो व्याख्यातः । 'अपि वा' एवमन्यथा 'स्यात्' ।

२०

मन्दू इत्यस्य तृतीयैकवचनत्वेन विपरिणामः । एवं च सति मरुद्गणविशेषणमेतद्भवति । कथम् । मन्दुना मरुद्गणेन हे इन्द्र संदृश्यसे संगच्छमानः । 'समानवर्चसेति' एतत्पदं मन्दुनेति 'एतेन' पदेन व्याख्यातम् ।

यथैव हि मन्दू इत्येतद् द्विवचनमेकवचनं वैवभेतदपि । समानवर्चसाविन्द्रमरुद्गणाविति द्विवचनमथवा मन्दुना समानवर्चसा च मरुद्गणेनेत्येवं

२५

तृतीयैकवचनम् । अपि वैवं मरुद्गण उच्यते । त्वमिहेन्द्रेण संगच्छमानो

१ च. यद-र्यां वा. २ क. ख. ३ [११] ग. १५ (११); च. १५; प. ट. अङ्गो नास्ति; ठ. ड. "भाषी इति निरुक्तीकायां चतुर्थाध्याये एकादशः खण्डः.

३ क. ख. ४ (१२); द ४. ४ ठ. ड. हि दृश्य इति. ५ च. च. ६ च. "अपि

१४ चैव" ७ च. "इत्ये.

नित्यमेव संदृश्यस-इति । समानमन्यत् । ' ईर्मान्तासः ' [निघ० ४ । १।१४] इत्यनघगतम् । ' समीरितान्ताः पृथ्वन्ता वा ' इति यथासंभवं शब्दसमाधी ॥ १२ ॥

ईर्मान्तासः सिलिकमध्यमासः सं शूरणासो दिव्यासो अत्याः ।
हंसा इव श्रेणिशो यंतन्ते यदासिपुर्दिव्यमज्ममभाः [ऋ० सं० १। १६३।१०] ॥ ईर्मान्ताः समीरितान्ताः सुसमीरितान्ताः पृथ्वन्ता
चा सिलिकमध्यमाः संसृतमध्यमाः शीर्षमध्यमा चापि वा शिर
आदित्यो भवति यदनुक्षेते सर्वाणि भूतानि मध्ये चपां तिष्ठती-
क्ष्मपीतराच्छिर एतस्मादेव समाश्रितान्येतदिन्द्रियाणि भवन्ति ।
सं शूरणासः दिव्यासो अत्याः । शूरः श्रवतेर्गतिकर्मणो दिव्या
दिविजां अत्या अतनाः । हंसा इव श्रेणिशो यंतन्ते । हंसा हन्ते-
ईर्न्यध्वानं श्रेणिश इति श्रेणिः श्रयतेः समाश्रिता भवन्ति यदा-
सिपुर्यदापन दिव्यमज्ममजनिमाजिमभा अस्त्यादित्यस्तुतिरभ-
स्यादित्यादश्चो निस्तष्ट इति । सूरदम्बं वसवो निरतष्टेत्यपि
निगमो भवति ॥ १३ ॥

ईर्मान्तास इति निगमः । दीर्घतमस आर्पम् । ' यमेन दत्तम् ' [ऋ० सं० १।१६३।२] इतीयं च । द्वे अप्येते अभस्तोमीये सूक्ते । तेन चाश्वः स्तूय-
तेऽधमेधे [आश्व० श्रौ० १०।८] । आदित्यस्य रथे येऽश्वा युक्तास्त उच्यन्ते
ईर्मान्तासः । तेषां सत्तानां येऽश्वाश्चत्वारस्ते समीरितान्ताः विक्षितान्ताः
प्रसृतान्ताः । प्रविरला इत्यर्थः । पृथ्वन्ता वा । तेषामेवादशानां पृथवोऽन्ताः ।
पृथुरस्काः । पृथुजयना वेत्यर्थः । सिलिकमध्यमाः संसृतमध्यमाः । संक्षिप्त-
मध्यमा इत्यर्थः । तेषां हि सत्तानां ये मध्यमाश्चप
ईर्मान्तास इत्य- इतरेतरमुपौष्य संक्षेपेणावस्थिताः । अथवा पृथु-
स्पोदाहरणम् जयनोरस्कानां सतां मध्यमाः शरीरप्रदेशाः सत्ता-
नामपि संक्षिप्ताः संलगास्तनवः । निरुद्धास्तेऽश्वा

१ ऋ. स. ४ (१२) ; ग. १६ । १२ ; घ. १६ ; इतरेषां नालि. २ छ.
त. द. ' मुष्मीरितान्ताः ' नास्ति. ३ छ. त. द. ' दिव्यासो अरवाः ' नास्ति. ४
क. ए. ५ (१३) ; द. ५.५ ट. २. ' निगमः ' नास्ति. ६ ग. ग. विष्मताः ; घ.
विष्मताः ६.

इत्यर्थः । तथापि हि स्तुतिरुपपद्यत एव । शीर्षमध्यमा वा सिलिकमध्यमा
 या । एवमपि हि शब्दसारूप्यमस्ति । यो हि तेषां सत्तानां मध्यमः स
 शिरोभूतः । प्रधान इत्यर्थः । 'अपि यौ' एवमन्यथा स्यात् । 'शिर आदित्यः'
 एव 'भवति' सर्वभूतप्राधान्यात् । 'मूर्धा राजेति वा अहमेतमुपासे' इति ह
 विज्ञायते [बृह० उप० २ । १ । २] । यस्माच्चासौ 'अनु'प्रविश्य प्राण-
 भायेन सर्वभूतानि 'शेते' आस्ते तस्मात्सर्वभूताश्रयणात् शिर आदित्यः । स
 'च' एतेषामश्वानां 'मध्ये तिष्ठति' इति शीर्षमध्यमाः । त एते शीर्षमध्यमा
 इत्युक्ताः सन्तः सिलिकमध्यमा इत्युच्यन्ते । 'इदमपीतरश्चिर एतस्मादेव'
 इति प्रासङ्गिकम् । 'समाश्रितानि' हि 'एतत्' उत्तमाङ्गम् 'इन्द्रि-
 याणि' चक्षुरादीनि 'भयन्ति' इति शिरउपपत्तिः । संशूरणासः । संगताः
 शूरेण भगवतादित्येन संशूरणाः । 'शूरः शक्तेर्गतिरुर्मणः' । 'स हि
 परानभिमुखो गच्छत्येव न पर्यावर्तते । दिव्यासः । ते हि दिव्याः दिवि
 जाताः । अत्याः अतनाः । ते द्यतन्येव मुहूर्तमपि नावतिष्ठन्ते । य एवं-
 लक्षणा अद्यास्ते किं कुर्वन्तीति । उच्यते । हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते । हंसा
 इव श्रेणीकृताः पङ्कीकृता यतन्ते गच्छन्ति । 'हंसा हस्तेः' । ते हि
 'प्रत्यध्वानम्' । कदा पुनरेवं यतन्ते । यदाक्षिपुः । यदा यस्मिन् फाले
 आक्षिपुः आपन् आमुवन्ति । किम् । दिव्यमज्जम् । अजनिम् ।
 अग्यतेऽस्यां गम्यत इति अजनिर्वाहिका । स्वर्गपथ इत्यर्थः । यदा स
 आमुवन्ति उदयादारम्य यावदस्तमिति तदेवं यतन्ते । ये पुनरत इति ।
 उच्यते । अधाः । एवमेतानि 'ईमान्तास' इत्येवमादीन्यश्वविशेषगान्य-
 श्वशब्देन समानविमकस्यन्तावात् । 'आभिवैषा रथो भयलात्मार्या' इत्येवं
 प्रक्रमेण सूर्यदेवत एव मन्त्रः । स पुनरपमश्वस्तुनी विनियुक्तस्तदममश्वस-
 मिति मन्त्रमानो भाष्यकारः प्रतिसमाधिमुवाह । 'अस्यादित्यस्तुनि-

१ अ. हि. २ म. ज. सिलिक; च. सिलिके' हंसा. ३ च. शो. ४ क. म.
 प. स. ट. ठ. ड. सन्ते का; च. सन्ते छा' इ. ६ च. 'अपि शिर'. ७ म. ज.
 शस्तेन श्लोक. ८ क. म. प. स. ट. ठ. ड. एम् यदा. ८ म. ज. त्माश्च इ;
 च. 'त्माश्चो इ' इ. ९ क. र. प. स. ट. ठ. ड. मन्त्र उक्त; च. मन्त्रः ।

रश्मस्य ' इति । अश्वोऽपि ह्यादित्यात्मना स्तूयत
अत्राश्व आदित्य इत्यर्थः । आह । कयोपपत्त्येति । उच्यते ।
इति स्तूयते ' आदित्यादश्वो निस्तष्ट इति ' अनयोपपत्त्या
सूर्यात्मनाश्वः स्तूयते । आह । कुत एतत्सूरादश्वो
निस्तष्ट इति । उच्यते । 'सूरादश्वं वसवो निरतष्ट ' इत्यपि निगमो भवेति ।

यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एणं प्रथमो अर्थातिष्ठत् । गन्धर्वो
अस्यामृच्यादित्या अंस्य रश्नामगृष्णात्सूरादश्वं वसवो निरतष्ट
दश्वो निस्तष्ट इत्युच्यते [ऋ० सं० १ । १६३ । २] ॥ यमेन
एनम् अस्माकं दत्तम् अश्वं त्रितः त्रिस्थानो
वायुर्युनक्ति यत्रायं योक्तव्यस्तत्र । वायुना युक्तमेनमिन्द्र एणम् एनमश्वं १०
प्रथमः सर्वदेवानां मुख्योऽप्यतिष्ठत् । कोऽय एवमास्थातुं शक्नुयादित्यभि-
प्रायः । वायुना युक्तस्येन्द्रेणाधिष्ठितस्यास्य गन्धर्वराजः रश्नामगृष्णात्
नियमनरज्जुं गृह्णाति । कुतः पुनरयमश्व इति । उच्यते । सूरात् सूर्यादेतमेवं
छक्षणमश्वं वसवो निरतष्ट निःकृष्टवन्तः । एवमेतस्मिन्मन्त्रे सूर्यप्रभवोऽश्व
इति स्तूयते । कारणाच्च कार्यमनन्यदित्युपपद्यते सीयेण मन्त्रेणाश्वस्य १५
स्तुतिरिति ।

' कायमानः ' [निघ० ४ । १ । १५] इत्यनवगतम् । ' चाय-
मानः ' इत्यवगमः ' कामयमान इति वा ' ॥ १३ ॥

कायमानो वना त्वे यन्मातृरजंगक्षपः । न तर्चे अप्रे प्रमृपे
निवर्तनं यदुरे सन्निशर्भवः [ऋ० सं० ३ । ९ । २] ॥ कायमा- २०

१ य. निस्तवत्यनं दृष्ट. २ न. य. ज. 'वति । १७ । यमे'. ३ ग. य. ज.
प. ट. 'मायुनगिति । यमे'. ४ य. स. ट. ड. एतम्. ५ म. ज. 'स्यातुमा-
पुगादि'; य. ट. 'स्थातुं शक्नु' आप्तु; ठ. ड. 'स्थातुं शक्नुमापुगादि'. ६ क.
स. य. स. ट. ठ. ड. गन्धर्वः गन्धर्वराजः. ७ ठ. ड. 'गृष्णात्. ८ क.
स. प. स. ट. ठ. ड. नियमेन रज्जुं; य. ज. नियमेन' मे. ९ क. स. य. स.
ट. निःकृष्टवन्तः; ठ. ड. 'तद । स्तुन्त । एव'; य. निःकृष्ट' नित. १० ग.
ज. 'मन्त्रेण' नास्ति; य. 'सीयेण' न मन्त्रेणा. ११ क. स. य. [१२] ग.
१८ । १२; य. ज. १८; य. ट. ठ. ड. अहो मारि.

नश्चायमानः, कामयमान इति वा वनानि त्वं यन्मातृरपोऽगम
उपशाम्यन् न तत्ते अग्ने प्रमृष्यते निर्वर्तनं दूरे यत्सन्निह भवसि
जायमानः । लोभं नयन्ति पशु मन्यमानाः । लुब्धमृषिं नयन्ति
पशुं मन्यमानाः । शीरं पावकशोचिपम् । पावकदीप्तिम् । अनु-
शायिनमिति वाशिनमिति वा ॥ १४ ॥

कौयमानो वना त्वमिति निगमः । विश्वामित्रस्येयमार्थम् । बृहती ।
प्रातरनुवाकाश्विनयोः शस्यते [आश्व० श्रौ० ४ । १३] । हे भगव-
न् अग्ने कौयमानः चायमानः । पश्यन्नित्यर्थः । अथवा कामयमानः । किम् ।
१० स्वां यौनिम् । कृतमाम् । यना वनानि दारुणि । दारुण्योऽग्निर्जायते च ।
तदेतत्प्रसिद्धमेव । उक्तं च । 'यदा चोऽग्निरनुगच्छति
कायमान इत्यस्यो- अरणी वाय सँ गच्छति ' इति । मानुर्धा
दाहरणम् सर्वभूतनिर्मात्रीरपः । सापि योनिरेवाग्नेः ।
'अपो वा अग्नेर्योनिः ' [मैत्रा० सं० ३ ।
१५ २ । २ ॥ ३ । २ । ३ ॥ ३ । ४ । १०] इति ह विज्ञायते ।
अनयोर्योन्योरन्यतरां योनिं यत् यदा अजगन् अगमस्त्वम् । कदा पुनर-
गमः । उपशाम्यन् इत्यप्यादृतं भाष्यकारेण । वतुगच्छन्नित्यर्थः । तस्य
तवैयमनुगच्छतः किमिति । उच्यते । न तत्ते अग्ने प्रमृषे निर्वर्तनं न प्रमृष्यते
न प्रमृष्यते निर्वर्तनं कर्म । मार्गो न लुप्यत इत्यर्थः । कथं गम्यते न प्रमृष्यते
२० मार्ग इति । दूरेऽपि सन् अदृश्योऽपि भूत्वा यस्मादिह पुनर्भवस्येव । कदा ।
जायमानो यत् यदादृश्यो जायसे वैशुक्तात्मना यदा धारणिभ्यां जायसे
मध्यमानस्तदा ।

नै सार्वकस्य चिकित्ते जर्नासो लोभं नयन्ति पशु मन्यमानाः ।
मावीजिनं याजिनां हासयन्ति न गर्दमं पुरो अधोऽनयन्ति [ऋ० सं०
१५ ३ । ५३ । २३] ॥ लोभम् [निय० २ । १ । १६] इत्यनव-

१ क. ख. ६ (१४) ; द. ६. २ ठ. ड. कायमान इति । विश्व०. ३ क.
ख. ए. झ. ठ. ड. द. 'वा' नास्ति; घ. घं. ४ य. च. न. वाग्नि०. ५ च. सं. ६
ग. ज. 'यत्' नास्ति. ७ ग. न. 'न साय०० नशति' नास्ति. ८ घ. ट.
१९ किंने ग० अन्वाचरन्ति.

गतम् । 'सुखम्' इत्यवगमः । यस्मिन्निगमः एष शब्दः सा त्रसिष्ठ-
हेप्रिणी, ऋक् । अहं च कापिष्ठले, त्रसिष्ठः । अतस्तां न निर्व-
वीमीति ।

'शीरम्' [निघ० ४ । १ । १७] इत्यनुवगतम् । अग्नि-
रभिधेयः । 'अनुशायिनमिति वा' इति । अनुप्रविश्य सर्वभूतानि शेत
इत्यनुशायी, समनुशायिनम् । अश्नोति व्याप्नोति वा, सर्वभूतानीति
'आशिनम्' । शीरं पावकशोचिपं ज्येष्ठो
शीरमित्यस्य यो दमेज्यो । दीदायं दीर्घश्रुतमः [ऋ० सं०

८ । १०३ । ११] ॥ इति निगमः ।
भार्गवस्य प्रयोगस्थेयमार्पम् । पातरनुवाकाश्चिनयोः शस्यते [आश्व०
धौ० ४ । १३] । शीरम् अनुशायिनं व्यापिनं वा अग्निमहं स्तौमि ।
पावकशोचिपं पावयित्री यस्य शोचिर्दत्तिस्तं पावकशोचिपम् । किंच ।
ज्येष्ठः ज्येष्ठो यः प्रधानो यो दमेषु यज्ञगृहेषु आदीदाय आदीप्यते परिचर्यमा-
णोऽग्निहोत्रिभिः । किंच । दीर्घश्रुतमो यः । दीर्घश्रुतं तृप्त्यो यो दीर्घश्रुतमस्त-
महमग्निं स्तौमि ।

'विदधे' [१८] 'द्रुपदे' [१९] इत्येते पदे एकनिगमे ।
'द्वे, अप्यनवगते । पक्षेण चानेकार्थे । 'विदधे विद्वे द्रुपदे द्रुममये पदे'
इत्यवगमः । दारुपादौ वा एताभ्यां शब्दाभ्यां विश्लेष्येते । कन्ययोर्वा
पादपीठप्रवचने । सप्तम्येकवचनान्ते एते । द्वयोरपि पदयोरक एव
निगमः ॥ १४ ॥

कनीनकेव विदधे नवे द्रुपदे अर्भके । वभ्रू यामेषु शोभेते
[ऋ० सं० ४ । ३२ । २३] ॥ कनीनके कन्यके

१ ग. च. ज. 'शिनम्' । १९ । शीरं' । २. घ. ट. 'चिपं ज्ये० श्रुतमः' । ३.
ग. ज. 'प्रा० श्रुतमः' । ४ ट. ड. 'इति निगमः' नास्ति. ५ ग. ज. 'प्रउगस्थे' ;
च. 'प्रउगस्थे' यो. ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'यः' नास्ति. ७ ग. ज.
'शोत्रिभ्यो' । ८ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'अहं' नास्ति. ९ ग. 'विदधे
द्रुममये' ; च. 'विद्वेदयोः निगमितक्रीडिकयोः द्रुप' दधे विद्वे ; ज. 'विद्वे द्रुममये' .
१० प. झ. ट. ठ. ड. दारुपादौ ; च. दारुपादौ. ११ क. ख. ६ (१४) ;
ग. २० (१४) ; च. ३० ; ज. २०३ घ. ट. अहो नास्ति ; ठ. ड. १४ इति
निरुद्धीकृतं चतुर्थीष्यये चतुर्दशः खण्डः । ३२३

- कन्या कमनीया भवति केयं नेतव्येति वा कमनेनानीयत
इति वा कनतेर्वा स्यात्कान्तिकर्मणः कन्ययोरधिष्ठानप्रवच-
नानि सप्तम्या एकवचनानीति शाकपूणिर्विद्वयोर्दारुपादोर्दारु
दृणातेर्वा द्रूणातेर्वा तस्मादेव दु नवे नवजाते अर्भके अवृद्धे ते
यथा तदधिष्ठानेषु शोभेते एवं बभ्रू यामेषु शोभेते बभ्रोरैश्वर्योः
संस्तव इदं च मेऽदादिदं च मेऽदादित्यृषिः प्रसंख्यायाह । सुवास्त्वा
अधि तुग्वनि । सुवास्तुर्नदी तुग्व तीर्थं भवति तूर्णमेतदायन्ति ।
कुविन्नंसन्ते मरुतः पुनर्नः । पुनर्नो नर्मन्ते मरुतो नसन्त इत्युप-
रिष्ठाद् व्याख्यास्यामः । ये ते मदा आहनसो विहायस्तेभिरिन्द्रं
चोदय दातव्ये मघम् । ये ते मदा आहननवन्तो वचनवन्तस्तेरिन्द्रं
चोदय दानाय मघम् ॥ १५ ॥

- कनीनकेव विद्वेधे इति । वामदेवस्यार्थम् । 'कन्या कमनीया भवति' ।
सर्वे एव हि तां प्रार्थयन्त एव । अथवा 'केयं नेतव्येति वा' दानादे-
त्येषां तां प्रति पिता चिन्तयतीति कन्या । 'कमनेनानीयत इति वा' ।
'कनतेर्वा स्यात्कान्तिकर्मणः' । 'कनति कानिषत्' इति कान्तिकर्मसु
पठितम् [निघ० २ । ६] । इवेत्युपमायाम् । विद्वेधे नवे द्रुपदे अर्भके
इत्येतानि चत्वारि पदानि 'कन्ययोरधिष्ठानप्रवच-
नानि सप्तम्या एकवचनानीति' एवं 'शाक-
पूणिः' आचार्यो मन्यते । एकस्मिन्दारुमये पाद-
पीठे यस्मिन्नधिष्ठिते कन्यके शालमञ्जिके वा ।
तदेतैश्चतुर्भिः पादैरुच्यत इति शाकपूणिराचार्यो

- १ छ. त. द. 'कमनेनानीयत इति वा' नास्ति. २ छ. 'पूणिर्विद्वयोर्दारुपा-
दोर्दारु'; त. द. पूणिर्विद्वयोः. ३ छ. बभ्रूमे रश्मयोः धं; त. बभ्रूरश्मयोः सं;
४ द. बभ्रोरश्मयोः धं. ५ छ. त. द. नवन्ते. ५ क. ख. छ. त. द. नष्टत. ६ क.
ख. ७ (१५); द. ७. घ. ह. विद्वेधे. शोभेते इति. ८ च. 'कमनेनानीयत
इति वा' श्रान्ते लिख्यते. ९ च. सप्तम्येकव. १० क. ख. ग. ज. घ. झ. ट.
ठ. ड. यस्मिन् सप्तधिरूढेषु (ग. ज. यस्मिन् सप्तधिरूढेषु यस्मिन् समधि)
पादुकाख्येष्वधिष्ठानेष्वधिष्ठिते शोभेते यथा एवं बभ्रू बभ्रुवर्णे अश्वे (घ. झ. ट. ठ.
ड. अश्व) यामेषु आजिस्थानेषु (ग. ज. 'आजिस्थानेषु' नास्ति) यमनस्थानेषु
कन्य. ११ च. 'स्ते' कन्य. 'उ पादुका' यमनस्थानेषु; अयं १० पाठ-
१२ चिन्दर्भाङ्गित श्रान्ते लिख्यते.

मन्यते । यास्कस्तु 'विद्वयोः' विकुपिताधोभांग- 'दारुपाद्भ्योः' अधिरूढयोः
 कन्ययोरभिधानपदान्यभिधायकान्येतानि द्विवच-
 कन्ययोर्विशेषणा- नानीति मन्यते । साम्यां ह्यभिन्योः सुराकारत्वेन
 नीति यास्कः । सारूप्यमस्तीत्येवमुपमानम् । दारुपाद्भ्योः शिवेतस्मिन्
 व्याख्यानप्रसक्ते पदे विग्रहप्रसक्तो दारुशब्दो निरु- ५
 ध्यते । 'दारु दृणातेर्वा' विदारणार्थस्य [धा० ९।२१] दृणातेर्वा हिंसार्थस्य ।
 तस्मादेव धातुद्वयादन्यतरस्य 'द्रु' इत्येतदभिधानं भवति । द्रुपदे इत्ये-
 तदपेक्ष्य 'एतस्मादेव द्रु' इत्येतदुक्तम् । द्रुम इत्यर्थः । 'नवे नवजाते' ।
 'अर्भके अर्हदे' । अल्पके इत्यर्थः । ते कन्यके एवंप्रकारेण तदधिष्ठानेषु
 तेषु पादुकांस्त्येष्वधिष्ठानेष्वधिरूढे शोभेते यथा एवं बधू बभ्रुवर्णे अन्धे १०
 यामेषु आजिस्थानेषु यमनस्थानेषु वा बन्धनस्थानेषु मन्दुराख्येषु वर्तमाने
 शोभेते ते । एवमेव 'बन्धोरन्धयोः संस्तवः' ।

'तुग्वनि' [२०] इत्यनवगतम् । 'तूणमेतदायन्ति' इति शब्द-
 समाधिः । 'तीर्थम्' अभिधेयम् । 'सुवास्त्वा अधि तुग्वनि' [आ०
 सं० ८।१९।३७] इति निगमः । अस्य ऋक्पादस्य ऋक्छेपापेक्षो १५
 निर्णयः । सर्वस्या अपि च तस्या ऋचो यस्यामथं पादस्तस्या याऽन्या-
 धस्त्या ऋक्तदपेक्षो निर्णयो यतोऽतस्तस्या ऋच आधस्त्यायाः संक्षिप्यार्थ-
 माह भाष्यकारः 'इदं च मेऽदादिदं च मेऽदादित्यृपिः प्रसंख्यायाह' इति ।
 इदं च द्रव्यजातं मम दत्तवानसौ राजेत्येवं प्रसंख्याय परिसंख्यानं कृत्वा
 ऋचिः । उक्तवानित्यर्थः । कतमा पुनरसावाधस्त्या ऋग्यसां अयमर्थ- २०
 संक्षेप इति । उच्यते ।

अर्दान्मे पौरुकुत्स्यः पञ्चाशतं त्रसदस्युर्वधूनाम् । मंहिष्ठो अर्थः सत्यतिः
 कतमा साधस्त्या [आ० सं० ८।१९।३६] ॥ सोमरेः
 ऋग्यस्या इदं च मेऽ- काण्वस्येयमर्थं परा च । दानप्रशंसा । योऽदात् मे
 दादिति संक्षिप्तार्थः मम पौरुकुत्स्यः बहुशत्रुकर्तितुः पुत्रः त्रसदस्युः २५
 दस्युव्रासनः । किमदात् । पञ्चाशतं वधूनां

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'भागयोर्दाह' । २ ग. ज. 'पादाधिरूढ' ; च.
 'पादाधिरूढ' दोहः । ३ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'शुपादानम्' ; च. 'शुपदानं' । पादा.
 ४ ग. च. ज. बन्धस्त्या । ५ च. 'भेते त एव' । ६ ठ. ड. 'क्रक्शेषा' । ७ घ. ङ.
 'क्रक् ययायमर्थः संक्षे' ; च. 'क्रक् यया' (क्रक्) यमर्थः (यः) संक्षेपं (पत) इति ; ट.
 'क्रक् यया ययायमर्थः संक्षे' । ८ ग. च. ज. 'न्यते' । २१ । अर्द्धा । २१

पञ्चाशतं योढव्यानां कन्यानाम् । मंहिष्ठः पूज्यतमः अर्थः ईश्वरः
सत्पतिश्च सतां पाळयिता च । एवंलक्षणः पौरुषस्यस्त्रसदस्युर्मम दत्त-
वान् पञ्चाशतं वधूनाम् । आह । किमेतदेवादात् । नेत्युच्यते । इदं च यदुक्तमु-
त्तरं च यद्वक्ष्यते । कतरा पुनरसावुत्तरा ऋणिति । उच्यते ।

५ 'उत मे' प्रथियोर्ध्वयियोः सुवास्ता अधि तुग्वाणि । तिसृणां सप्ततीनां
श्यावः प्रणेता भुवद्वसुर्दियाणां पतिः । [ऋ० सं० ८ । १९ । ३७] ॥

अप्येतद्यदुक्तमपि च यदेतद्वक्ष्यमाणमिति 'उत—'शब्द एवमुभयं संभा-
वयति । मे मम प्रथियोः । प्रगम्यते येन तत्प्रथियु धनमश्वादि ।
तस्य प्रथियोर्धनस्य बहदात् ताभिः कन्याभिः सह । वयियोः । ऊयत इति
१० वयियु वस्त्रादि तस्य चै बहदात् । तिसृणां सप्ततीनां गवां श्यावः श्यामवर्णः
वृषः श्यामवर्णानां प्रणेता प्रकर्षेण नेता अप्रतो गामी भुवद्वसुः भावयिता
वसूनां प्रसूतः पूजितलक्षणः दियाना दानार्हानां देया यास्तासां पतिः ।

ताश्च गा एतत्संख्यायुक्ता एतद्गुणयुक्ताश्च मह्यमदात् । क पुनरसावदात् ।
सुवास्ता सुष्टु निवासाया नद्या अवि तुग्वाणि तीर्थेऽधि एतददानमह्यम् ।

१५ 'सुवास्तुर्नदी तुग्वा तीर्थं भवति' । 'तूष्' हि
'सुवास्तुर्नदी'शब्द- 'एतत्' अवगाहनार्थम् 'आयन्ति' । अत्र
योरर्थः दानसंबन्धात्सुवास्तुशब्दो नवभिधाने । प्रसिद्धं
हि नद्यां दानम् । नदीसंबन्धाच्च तुग्वाशब्दोऽपि

तीर्थाभिधायक इत्युपपत्तिः । निगमार्थप्रकाशनायैवं सूक्तगतोऽन्वयीक्षि-

२० तव्य एवार्थ इत्येतत्प्रदर्शितमाचार्येण ।

'नंसन्ते' [२३] इत्यनवगतम् । 'नमन्ते' इत्यवगमः ।

'कुविशंसन्ते' इति निर्गमः ।

'तौ आ रुद्रस्य मीढ्वेषो विवासे कुविशंसन्ते मरुतः पुनर्नः । यत्स-

स्वर्ता जिहीर्क्षि यदाविरत्र तदेन ईमहे तुराणाम् । [ऋ० सं० ७ ।

२५ ५८ । ५] ॥ वसिष्ठस्येयमार्पम् । तानहं मीढ्वेषो मरुतो वर्षस्य
सेकृन् धनवतो वटवतो वा आविवासे आभिमुख्येन स्थित्वा परि-

१ ग. च. ज. 'व्यते' । २२ । उ३०. २ च. च. ३ ग. च. ज. 'गमः' । २३ ।

तौ०. ४ क. ख. ग. घ. ङ. च. मीढ्वेषो. ५ ग. ज. विवासे इति । वसि०; घ.

ट. विवासे कुवि० ईमहे तुराणाम्. ६ क. ख. च. जिहीर्क्षि. ७ ग. च. ज.

२५ मीढ्वेषो; घ. ङ. मीढ्वेषो.

चरामि । किंलक्षणान् पुनर्मरुत आविवासे । रुद्रस्य इन्द्रस्य स्वभूतान्
आसत्वात् । अथवा 'मीळुपः' इति रुद्रविषयं पप्रयेकवचनान्तं स्यात् ।

मीळुपो रुद्रस्य स्वभूतानिति । कस्मात्पुनस्ता-
नसन्ते इत्यस्यो- नहं परिचरामि । यस्मात्ते मरुतः कुर्वित् बहु
दाहरणम् नसन्ते नमन्ते । पुनः वर्षाद्युपकारेणास्मान्प्रति

नमन्ते प्रह्वीभवन्ति । किंच । यत्सस्वर्ता यच्छरी-
रगतम् एनः जिहीळिरे लज्जयन्ति यच्च आविः प्रकाशम् । तदेवंप्रकार-
मुभयलक्षणमर्थेनोऽस्मान् जिहीळिरे लज्जयन्ति । तदेपां मरुतां तुराणां
स्वैरमाणानां प्रसादेनोभयलक्षणमवयजेमहि निर्णुदेमहीत्येतदीमहे याचा-
महेऽनेने परिचारेणाराध्यैतान् मरुत इति । 'नसन्त' इत्येतदुपरिष्ठाद् द्वाद-
शाध्याये व्याख्यास्यामः 'अभि'प्रवन्त संमनेव योपाः' इति व्याख्याने
'नसतिरामोत्तिकर्मा वा नवतिकर्मा वा' [निरु०: ७ । १७] ।

'आहनंसः' (२३) 'इत्यनवगतम्' । 'आहननेवन्तः' इत्यवगमः ।
'ये ते मदा आहनंसः' इति निर्गमः ।

परि सोमं प्र धन्वा स्वस्तये नृभिः पुनानो अभि वांसयाशिरम् । ये
ते मदा आहनंसो विहायसस्तेभिरीन्द्रं चोदय दातवे मयम् [ऋ० सं०
९ । ७५ । ५] इति ॥ पावमानी सौमी । कवेर्भागवस्येयमार्षम् । जगती ।
हे भगवन् सोमं परिधन्व परिप्रक्षर एतस्मादंशापवित्रात् स्वस्तये स्वस्त्य-
यनायास्माकं नृभिरेतैर्भस्विभिः पुनानः पूयमानः ।

आहनंस इत्यस्य किंच । अभिवासय अभिप्रच्छदय अभिभावय
आशिरं तृतीयसवने । किंच । ये ते मदा आह-
नसः । ये ते मदास्तव आहननवन्तः पदेवो वचनवत्त्वेन संमोहपितारः

१ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. आप्तान्वा । अथ०; च. आप्तान्वा० सत्वात्. २
ग. च. ज. मीळुपो; घ. मीळुपो. ३ क. ख. घ. झ. जिहीळिरे; ग. च. ज. जिही-
ळिरे. ४ ग. लज्जयति; च. लज्जयते० न्ति; ज. लज्जयन्त. ५ च. सत्त्वमा०. ६ ग.
च. ज. गमः । २४ । परि०. ७ ग. ज. स्वस्तये इति पाव०; घ. ट. स्वस्तये नृ०
दातवे मयम्. ८ घ. भागवस्य कवेरार्षम्; ट. भागवस्य कवेरार्षम् कवेर्भागवस्या.
९ घ. झ. ट. परिधन्व; च. परिधन्व० प्र. १० ग. परयश्चनसत्त्वेन; च. पदेवोः
वचन०; ज. पत्त्वश्चनसत्त्वेन; घ. पटाः वचन०; ट. पदेवोः वचनसत्त्वेन० पर;
ठ. ड. पटुवचनेन संयो०.

विहायसो महान्तस्तैरिन्द्रं चोदय प्रेरय दातवे दानाय मघं धनम् । यथा-
स्माकं तैर्मदैरनभिहतचेताः सन् दद्यान्मघं धनमित्यर्थः ।

‘अघसत्’ (२४) इत्यनवगतम् । अघसादिनीति वानैसानिनीति
वा’ शब्दसमाधी ॥ १५ ॥



उपो^१ अदर्शि शुन्ध्युवो न वक्षो^२ नोधा इवाविरकृत
प्रियाणि । अघसन्न संसतो बोधयन्ती शश्वत्तमागात्पुनरे-
युपीणाम् ॥ (ऋ० सं० १ । १२४ । ४) । उपादर्शि शुन्ध्युवः

१० द्वक्ष एतस्मादेवाध्युदं काये शकुनिरपि शुन्ध्युरुच्यते शोधनादेवो-
दकचरो भवत्यापोऽपि शुन्ध्यव उच्यन्ते शोधनादेव नोधा ऋपि-
र्भवति नवनं दधाति स यथा स्तुत्या कामानाविष्कुरुत एवमुपा
रूपाण्याविष्कुरुतेऽघसदन्नाम भवत्यघसादिनीति वानैसानिनीति
वा । संसतो बोधयन्ती शश्वत्तमागात्पुनरेयुपीणाम् । स्वपतो बोध-
१५ यन्ती शश्वत्तमागात्पुनरेयुपीणाम् । तेवाशीमन्त इप्पिणः ।
ईपणिन इति चैपणिन इति वार्षणिन इति वा याशीति वाद्नाम
वाच्यत इति सत्याः । शंसावाध्वर्यो मति मे गृणीहीन्द्राय वाहः
कृणवाव जुष्टम् । अभिवहनस्तुतिमधिपवणमवादां स्तुतिं मन्पन्त
ऐन्द्री त्वेव शस्यते परितक्म्येत्युपरिष्ठाद् व्याख्यास्यामः ॥ १६ ॥

२० इति^३ चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

१ ग. च. ज. अघसा^०. २ घ. ट. ठ. ड. ‘अघसानिनीति वा’ नास्ति. ३ क.
ख. ७ (१५); ग. २५ । १५; च. ज. २५; ठ. ड. ‘समाधी । इति निरुक्त-
टीकायां चतुर्थाध्याये पञ्चदशः खण्डः. ४ क. ल. भागाध्युद इदं; छ. त. द.
भागाध्युद इदं [शायन. ‘ध्युदमिद’]. ५ छ. त. द. ‘ध्युदं (शायन. ‘ध्युदं’).
६ छ. ‘मुक्ता रु’. ७ छ. त. द. वक्षसा. ८ छ. त. द. ‘स्वपतो बोधयन्ती’
नास्ति. ९ छ. त. द. ‘पुनरेयुपीणाम्’. १० छ. त. द. ‘मभिदा’. ११ क. ख.
८ (१६); छ. त. १६; द. ८. १२ क. घ. प. ‘इति पादः’ नास्ति; छ. इति
२१ दिनी; त. चतुर्थाध्याये दि; द. इति निरुक्तस्य चतु.

उपो अदर्शि शुन्युव इति । कक्षीवत आर्षम् । औपसी । त्रिष्टुप् ।
 प्रातरनुवाकादिवनयोः शस्यते [आश्व० श्रौ०
 अग्नसदित्यस्य ४ । १४] । उपो अदर्शि उपस्लिष्टा दृश्यते
 इयमुपाः । कस्य । शुन्युवः शोधयितुरादित्यस्य ।
 आदित्यो हि यदग्निमुचिर्भवति तदग्निं रदिमभिः स्पृष्ट्वा शुचीकरीति । 'सूर्यः
 पवित्रमुच्यते' इति वक्ष्यति [निरु० ५ । ६] । तमांसि वा शोधयतीति
 शुन्युः । तस्य शुन्युवः । कथं पुनरुपस्लिष्टा दृश्यते । वक्षो न पक्ष इव ।
 यथा, तस्य स्वभासः एवं प्रकाशजालं वक्षोभूतमेतस्मिन्मण्डलेऽप्युद्गमेवमि-
 यमुपा एतस्मिन्मण्डले उपस्लिष्टा दृश्यते संनिकर्षान् । प्रासङ्गिकमुच्यते
 शब्दसामान्यात् । 'इदमपीतरज्' पुरुषवक्षः पशुवक्षो बाह्वम् 'एतस्मा-
 देव' बहतेर्धातोः । इदम् 'अव्युद्गम्' अधिप्रवेक्षितमेव 'काये' शरीरे
 भवति । 'शकुनिरपि' य एष मधुर्नामायमपि 'शुन्युरुच्यते' शोधनादेव ।
 य 'उदकचरो भवति' नित्यं शुद्ध एवेति शुन्युः ।
 शुन्युशब्द- 'आपोऽपि शुन्युव उच्यन्ते' । ता अपि हि
 स्याथीः शोधयन्ति । एवं तावदियमुपा आदित्यस्य वक्ष १५
 इवोपस्लिष्टा दृश्यते । किंच । इयमेवोपा नोधा
 इवाविरुक्त प्रियाणि । 'नोधा ऋषिर्भवति' । स हि 'नवनं' स्तोत्रं
 देवताः प्रति 'दधाति' । स यथा स्वमुखोद्गीर्णया स्तुत्या प्रियाभ्यात्मनः
 स्वानि कामाख्यानि प्रकाशयति आविष्करोति देवताः प्रति एवमियमुपाः
 स्वार्त्तेन एवोद्गीर्णेन प्रकाशेन रूपाणि जनानामाविष्कुरुते प्रकाशीकुरुते । १०
 किंच । इयमेवोपाः अग्नसन्न ससतो बोधयन्ती । 'अग्न अन्नम्' । तत्प्र-
 तिकर्तव्यतया सीदति तद्वा सनोति संभजत इति अग्नसत् गृहाधिकारं
 नियुक्ता अन्नसाधिका स्त्री । सा यथा प्रातरेव क्षीराद्युपादानार्थं ससतः स्वपतो
 जनान् दोहकादीन् बोधयत्यन्नं साधयिष्यन्तीत्येवमुपा अपि जनान् बोधयन्ती ।
 तत्काले हि ते इतिकर्तव्यतया जनाः प्रतिबुध्यन्ते । तेनैतयैव बोधिता १५
 भवन्ति । आह । कदा पुनरेतद्भवतीति । उच्यते । यदा शश्वत्तमागात् शाश्वति-

१ क. ख. ग. ज. इति निमगः । कक्षी°; च. इति ° । कक्षी° नियमः. २ च.
 'मभिजुड'. ३ च. एवमुत्ता. ४ च. सः द. ठ. ड. स्वात् एवो°; च. स्वात्
 एवो° न. ५ च. द. हिनर्तव्य°; ठ. ड. हि तत्कर्तव्य°. ६ ग. ज. च. स. द.
 ठ. ड. 'बुध्यन्ति; च. बुध्यन्ति' न्ते.

कतमा नित्यतमा आगात् आगच्छति तदैव जनानवबोधयति । एवमुपा रूपा-
प्याविष्कुरुते । एवं च वक्ष इवोपाः श्लिष्टादित्यस्य दृश्यते । आह । कासां
शश्वत्तमा इयमुपा इति । उच्यते । पुनरेयुषीणाम् । पुनरागामिनीनामित्यर्थः ।
या एताः काश्चिद्भत्वा पुनरागच्छन्ति ताः पुनरेयुष्यो गावोऽन्या वा । तासां
पुनरेयुषीणामिति निर्धारयति । एषैव शश्वत्तमा शाश्वतिकतमा । एवमेतस्मिन्
मन्त्रे सामर्थ्यादब्रसदित्यन्नसाधिका स्त्री उच्यते ।

अब्रसदित्यस्यार्थः सा हि तत्काले जनान् दोहकादीन् बोधयति ।

उपा अपि च तत्काल एवागच्छतीत्येवमुपमानमुप-
पद्यत इत्युपपत्तिः । अन्ये तु मक्षिकामब्रसदं मन्यन्ते । सापि ह्यन्ने सीदति

१० सनोति वान्नं तत्काले च प्रतिबुध्यमानान्यान् बोधयतीति ।

‘इष्मिणः’ (२५) इत्यनवगतम् । ‘ईषणिन इति वा एषणिन इति
वा आर्षणिन इति वा’ इति शब्दसमाधयः । ‘श्रियसे कं भानुभिः सं
मिमिक्षिरे ते रश्मिभिस्त ऋक्भिः सुखादयः । ते वाशीमन्त इष्मिणो अभी-
रवो विद्रे प्रियस्य मारुतस्य धाम्नः [ऋ० सं० १ । ८७ । ६] ॥ इति

१५ निगमः । राहूगणस्य गोतमस्येयमार्थम् । जगती । मारुतस्य प्रियङ्गवस्य
चरोरियं याज्या [मैत्रा० सं० ४ । १ । २] । तत्र ह्युक्तं ‘प्रियवती याज्यानु-
वाक्ये भवतः’ [मैत्रा० सं० २ । १ । ८] इति । श्रियसे कं श्रियोऽर्थाय यजमा-
नाय आत्मने वा । कामित्यनर्थकं एव । कामायेति वास्यार्थवचनम् । भानु-
भिः दीप्तिभिः सूर्यरश्मिभिर्येऽन्तरिक्षलोके मरुतः संमिमिक्षिरे संगच्छन्ते
२० त एव रश्मिभिः सर्वलोकनियन्तृभिः ‘संमिमिक्षिरे’ इत्येतदेवानुवर्तते । त
एव च ऋक्भिः रसहर्तृभिः संमिमिक्षिरे । सुखादयः सुखदातारो जनानाम् ।

शोभनानां वा हविषां खादितारः सुखादयः ।

इष्मिण इत्यस्य त एव वाशीमन्तो वाग्मिनः । इष्मिणः ईषणिनः

उपगमनवन्तः । एषणिनो वा इच्छावन्तः । आर्ष-

३५ णिनो वा आभिमुख्येन सर्वार्थानां द्रष्टारः । अभीरवो विद्रे विदारयितव्ये
शत्रौ प्राप्ते विगतभयाः । अथवा विद्रे वेद्मि जाने । य एवंलक्षणा मरुत-

१ ग. ज. ‘साग्रका. २ ग. च. ज. य. ट. ‘षयः । २६ । श्रिय’. ३ ग. ज.
भानुभिरिति । राहू; प. ट. भानुभिः संमिमिक्षिरे० मारुतस्य धाम्नः. ४ क. स. च.
प. झ. ट. राहूग. ५ क. ख. प. स. ट. उ. ड. ‘र्यक्षेय कामये इति’. ६ प.
२० स. ट. उ. ड. ‘देव चान्त्र’.

स्तौषां मरुतां यत्स्थानमन्तरिक्षलोकास्तस्य प्रियस्येष्टस्य मरुतस्य मरुतां
स्वभूतस्य धाम्नः स्थानस्य प्राप्तये तानेव मरुतः स्तौमीत्यध्याहारः । एवमे-
तस्मिन्मन्त्रे 'वाशीमन्तं इष्मिणः' इत्येतस्मादेकवाक्यसंबन्धात् 'इष्मिणः'
इत्येतन्मरुद्विशेषणम् । 'वाशीति वाङ्नाम' । 'वाशी वाणी' इति पठितं
वाङ्नामसु (निघ० १ । ११) । 'वाश्यत इति' कारकावधारणम् ।

'वाहः' (२६) इत्यनन्वगतम् । पक्षेण चानेकार्थम् । 'शंसावाध्वर्यो
प्रति मे गृणीहीन्द्राय वाहः' कृणवाव जुष्टम् । एवं वर्हिर्यजमानस्य
सीदार्था च भूदुक्थमिन्द्राय शस्तम्' [ऋ० सं० ३ । ५३ । ३] ॥

विश्वामित्रस्येयमार्पम् । त्रिष्टुप् । होता ब्रवीति । हे अध्वर्यो एहि प्रति-
गृणीहि । शंसावावामुभावपि । न ह्यप्रतिगीर्यमाणं शस्यते नाप्यशस्यमानं
प्रतिगीर्यते । एवमितरेतरोपकारकत्वमभिप्रेत्योक्तं द्विवचनं 'शंसाव' इति ।
एवमितरेतरगुणसंपन्नमेतत् वाहः स्तोत्रं कृणवावावाम् । स्तोम एव हि
देवानां वोढा भवति । 'वाहिष्ठो वां हवानां

वाह इत्यस्य स्तोमः इति वोढुतमः स्तोमः' [निघ० ५ ।
१] इति हि वक्ष्यति । एवमियमभिवहनस्तुतिः ।

एवमेतच्छ्रमाभिर्भुक्ष्यगामि इन्द्राय इन्द्रार्थम् जुष्टं प्रियं तस्य यथा
स्यात्तथा कुर्वः । अन्ये त्वेनामभिषवणप्रवादिनां स्तुतिं मन्यन्ते वाहशब्दो
ह्रुदकवाहाभिधानसारूप्यात्तत्र युक्तरूपतर इति कृत्वा । यदा पुनरेवं
तदैवमर्थो योज्यः । इन्द्रायेदं वाहः सोमोदकपूर्णमधिषवणफलकारुण्यं वाहो
जुष्टं प्रियं यथा स्यात्तथा कुर्वः । तद्धि सुशस्तं सुप्रतिगीणं चेन्द्रस्य प्रीति-
जनकं भवति । एतदेव कर्तव्यमावाप्त्या र्थतो ब्रवीमि । एवं वर्हिर्यजमानस्य
सीद । एतद्वर्हिर्यदेतदमतः स्तीर्णमग्रेण होतारं वाहः सीद । 'सं प्रति-
गरायोपविशति' इति श्रुतम् । यजमानस्याभिप्रेतकामावाप्तय आसीद ।

१ ग. च. ज. 'र्थम्' । २७ । शंसा०. २ ग. ज. 'गृणीहीति । विश्वा०.
३ ग. ज. 'माभिबोद्ध आभिमु' ; घ. ट. ठ. ड. 'माभिमुख्यागामि. ४ क. ख. २५
घ. झ. ठ. ड. 'गामि इदं इन्द्राय' ; च. 'गामि इन्द्राय' इदम्. ५ ठ. ड. कुर्वः.
६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'त्वेनामभिषवणप्रवादां सोमाभिष' ; ग. ज. 'त्वेनामभि
(पि) पव' ; च. 'त्वेनामभिषवण प्रवा' प्रवदा सोमाभिषवण. ७ ठ. ड. शुक्-
तर०. ८ घ. झ. ट. ठ. ड. वाहं. ९ क. ख. घ. ट. ठ. ड. यतोस्तोमः०. १० च.
झ. 'सः' नास्ति.

मात्रमंस्थाधिरेणैतच्छस्यत इति । उण्विष्ट्वेत्त्वं ममाग्रतोऽधानन्तरमेव भूत्
भवति उक्थं शस्त्रमेतदिन्द्राय इन्द्रार्थं शस्तम् । नात्र मम बाह्वृषेभ्यभिप्रायः ।
एवमियमभिवहनस्तुतिरयवाधिपवणप्रवादाः स्तुतिः । उभयथापि त्रियम्
' ऐन्द्री त्वेव शस्यते ' । इदमेवैकमभिधानमत्र न्युत्पाद्यत इत्यभिप्रायः ।

५ ' परितक्म्या [२७] इति ' एतत् ' उपरिष्टाद्याख्यास्यामः ' षोड-
शाध्याये [निरु० ११ । २५] । तत्र ह्येतत् ' किमिच्छन्ती सरमा प्रेद-
मानद् ' इत्येतस्मिन्मन्त्रे प्रसक्तमायास्यतीति व्यचचार्यमुक्तमिति ॥ १६ ॥

नवमोऽध्यायस्य द्वितीयः पौदः ।

१० सुविते सु इति सूते सुगते प्रजायामिति वा । सुविते मा धा इत्यपि
निगमो भवति । दयतिरनेककर्मा । नवेन पूर्वं दयमानाः स्यामे-
त्युपदयाकर्मा । य एक इद्विदयते वस्विति दानकर्मा वा विभाग-
कर्मा वा । दुर्वर्तुर्भीमो दयते वनानीति दहतिकर्मा दुर्वर्तुर्दुर्वारः ।
विद्वद्दुर्दयमानो वि शत्रूनिति हिंसाकर्मा । इमे सुता इन्द्रवः प्रात-
१५ रित्वना सजोर्पसा पिवतमभिना तान् । अयं हि वामूतये वन्द-
नाय मां बायसो दोषा दयमानो अब्रूवथत् । दयमान इति ।
नूचिदिति निपातः पुराणनवयोर्नूचेति च । अद्या चिक्षु चित्त-
दपो नदीनाम् । अद्य च पुरा च तदेव कर्म नदीनाम् । नूचं पुरा
च सदनं रयीणाम् । अद्य च पुरा च सदनं रयीणां रयिरिति
२० धननाम रातेर्दानकर्मणः ॥ १७ ॥

सुविते (२८) इत्यनवगतमनेकार्थं च । ' सु इति सूते ' इति वा

१ ग. ज. बावसंगोस्तीत्यभिः; च. बावसंगोस्तीत्यभिः कमुपे. २ क.
ख. ८ (१६); ग. २७ (?); इतरेष्वहो नाक्षि. ३ ग. ज. नवमाध्यायद्वितीः;
ठ. ड. इति निरुक्टीकायां चतुर्थोऽध्याये षोडशः स्रण्डः । इति नवमा. ४ च. पादः
समाप्तः. ५ क. ख. छ. त. द. अहं. ६ क. ख. १ (१७); व. १. ७ ठ. ड.

२७ सुविते सु इति सुविते इत्य. ८ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. इति सूते.

शब्दसमाधी । अत्र यदा 'सु इते' इति विपरिणामस्तदा 'सुगते' इत्यर्थः ।

यदा 'सूते' इति तदा 'प्रजायाम्' । सूते देवदत्ता पुत्रमिति प्रजायत

इत्यर्थः । एवं 'सुविते' इत्यस्य 'सु इते सूते'

सुविते इत्यस्य शब्दसमाधी । तयोरेतद्व्यासंख्येनार्थवचनं 'सुगते

प्रजायामिति' । 'सुविते मा धाः' इत्यपि

निर्गमः । अनाधृष्टमस्यनाधृष्ट्यं देवानामोजः । अभिशस्तिपा अनभिशास्ते-

न्यम् । अनु म इदं व्रतं व्रतपतिर्भन्यतामनु दीक्षां दीक्षापतिरञ्जसा सत्य-

मुपागौ सुविते मा धाः [मैत्रा० सं० १ । २ । ७] इति । अनेन

तानूनन्त्रं संस्पृश्यते । हे तानूनन्त्र अनाधृष्टमसि अनाधर्पितमसि । त्वयि

स्पृष्टे समधोपयञ्जिता ह्येते नान्योन्यस्मै द्रोहमुपयास्यन्त्यृत्विजः । कुतः

पुनरेतत्सामर्थ्यं तवेति । इतो यस्मात् अनाधृष्ट्यं देवानामोजः । अनाध-

र्पणीयं त्वमोजः । बलमित्यर्थः । किंच । अभिशस्तिपाः अभिशंसनात्पांसि ।

अनभिशास्तिं हे धृत आत्मना वानाभिशांसनीयं केनचित् । अनवधमिति ।

अनु मे इदं व्रतं व्रतपतिर्भन्यताम् । अनुमन्यतामिदं व्रतं कर्म व्रत-

पतिरग्निः । स च मयोपेयमानामनु दीक्षाम् । अनुमन्यतामेनां दीक्षां

दीक्षापतिः सोमः । किंच । अञ्जसा अनन्तर्हितमहं सत्यमुपागौम् उपगत-

वान् योऽहमेतदस्पृशम् । स त्वं हे तानूनन्त्र एवमुपगतवन्तं मां सुविते

सुगते स्थाने यत्र गतानां शोभनं गतं भवति तत्र धेहि । अथवा प्रजायां

जनयितव्यायां धेहि । यथा ब्रह्मपत्याः स्याम तथा कुर्वित्यर्थः ।

'दपति' (२९) इत्येष शब्दः 'अनेककर्मा' अनेकार्थः । न २०

१ ग. ज. इति परिणा°; च. इति परिणा° वि. २ ग. च. ज. °यमः । २८ ।
अना°. ३ ग. च. ज. °नाधृष्टमित्यनेन तानू°. ४ क. ख. घ. झ. ट. अन-
भिशास्त्यञ्जसा सत्यमुपगेषां (ट. 'मुपगेषां' पागां) सुविते°; ठ. ड. अनभिशा-
स्तेन्यमनु मे दीक्षां दीक्षापतिर्भन्यतामनु तपस्तपस्पतिरञ्जसा सत्यमुपगेषां
सुविते°. ५ क. ख. घ. झ. ट. ड. नान्योन्यस्मिन्. ६ ग. ज. पावि नृन्
आत्मना वा°. ७ च. ट. °शस्तिं स्ते. ८ च. धृत °आ° त्वं. ९ च. नान°
चा. १० ग. ज. सत्यमुपाग-उप°; १ च. ट. सत्यमुपागौ उप° एवेवं; झ. सत्यमुप
गा उप°. ११ ग. ज. °स्पृश स°; च. स्पृशे त्वं इत् । स; घ. ट. ठ. ड.
°मेतदभिस्पृशत् । स°; झ. मेतदगेषं स्पृश त्वं हे°.

त्वेनेकविकल्पप्रकृतिः । यथा सुवितेशेन्द्रस्यान्येनान्येन धातुना विगृह्याने-
कार्थत्वमुक्तम् । इणा विगृह्य 'सु इते' इति

'अनेककर्मा' गत्यर्थत्वं सूतिना च विगृह्य 'सूते' इति
इत्यस्य द्वावर्थौ प्रजार्थत्वम् । नैवमिह । किं तर्हि । एकप्रकृतिरेवायं

५

शब्दोऽनेकार्थो भवतीत्यस्य विशेषस्योपचोतनार्थ-
मुदाहरति । एवमुच्यमानेऽप्यनेकार्थत्वे दयतिरनेककर्मवैत्येवमुक्तम् । अन्ये
तु श्रुयते । यथा 'सुविते' शब्दोऽनेकार्थोऽनवगतसंस्कारश्च नैवमयम् ।
किं तर्हि । अनेकार्थ एवायमिति । एवमनेकार्थत्वं प्रतिज्ञायोदाहरणेनैवो-
पपादयति ।

१० 'नवेन पूर्वं दयमानाः स्याम इति' एतस्मिन्मन्त्रे दयतीत्येष शब्दः
'उपदयाकर्मा' । उपदयेति रक्षणमुच्यते ।

दयतिरुपदयाकर्मा नवेन धान्येन पूर्वं पुराणं रक्षन्तः स्याम
पुराणेन च नवम् । इष्टं हि नवेन पुराणाय

च रक्षणं पुराणेन च नवस्य । प्रमिद्वं च लोके । तस्मादिहायमुपपद्यत

१५ 'उपदयाकर्मा । चतुर्दशोऽप्यौघेऽस्य दोषः [निरु० ९ । ४३] ।

'य एक इन्द्रि दयते षस्विती' एतस्मिन्मन्त्रे दानकर्मा वा विष्णुगकर्मा वा ।

'य एक इन्द्रि दयते षमु मर्ताय दाम्ने' । ईशानो अग्रतिष्णुत इन्द्रो
अग्र [ऋ० सं० १ । ८४ । ७] ॥

दानकर्मा विभा- राहूगणस्य गोगमार्थेर्षम् । य इन्द्र एक

२० गकर्मा वा एव मृत्योश्च शिदयते विविधं षमु
धनं दयते ददानि । कामं । मर्ताय
मनुष्याय । किञ्चक्षणाय । दाम्ने दक्षयते दधीषि । अथवा विष्णुगकर्मा ।

१ य. सुवितेशेन्द्र. २ क. म. घ. ट. ठ. ड. 'इतिना वि'; ख. एतिना ये वि'.

३ क. म. ग. ज. घ. ट. ठ. ड. इति च घ'. ४ क. म. घ. ङ. ट. ठ. 'दहते'.

५ म. सुवितेशेन्द्र; ख. सुवितेशेन्द्रे, ज. सुवितेशेन्द्र. ६ द. ज. पुराणेन नवस्य;

ख. पुराणेन नवस्य' ख. ७ क. म. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'ध्यायेत्तदग्र'; ख. 'ध्याये-

त्तद' इति. ८ द. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. '२९' १० द. घ. घ. ट. ठ. ड. 'रक्षन्तः' इन्द्रो लब्धे. ११

१२ य. 'स्तुति' १३ य. 'देवी लब्धे'.

१४ य. 'स्तुति' १५ य. 'देवी लब्धे'.

दाशुपे वसु विदयते । विभजते इत्यर्थः । किलक्षणः पुनरिन्द्रो ददाति
विभजते वेति । उच्यते । ईशान ईश्वरः अप्रतिश्रुतः अप्रतिस्खालितः
संप्राप्तेषु । इन्द्रः सन्न क्षिप्रं धनं ददाति विभजति वा दाशुपे यजमा-
नाय । तमहं स्तौमि । सोऽस्माकमेतत्करोवित्यभिप्रायः । ईशान इन्द्रोऽन्यत्र
दानविभागाम्यां दाशुपे यजमानाय वस्वेवाक्ये श्रूयमाणः किमन्य-
त्कुर्यात् । तस्माद्वाक्यसामर्थ्यादत्र ' दानकर्मा वा विभागकर्मा वा '
इत्युपपद्यते ।

' दुर्वर्तुर्भामो दयते वनानीति दहनकर्मा ' । एतस्मिन्मन्त्रे
' दहतिकर्मा ' । निगमप्रसक्तं निर्व्वीति । ' दुर्वर्तुर्दुर्व्वारः ' । दुर्व्वारणीय
इत्यर्थः । अथ जिह्वा पापतीति प्रवृष्णो गोषुयुधो नाशनिः सृजाना । शूर-
स्थेव प्रसितिः क्षातिरग्नेर्दुर्वर्तुर्भामो दयते वनानि

दहतिकर्मा

[ऋ० सं० ६ । ६ । ५] ॥ आग्नेयी । भर-
द्वाजस्यार्षम् । त्रिष्टुप् । प्रातरनुवाकाशिनयोः

शास्यते [आश्व० श्रौ० ४ । १३] । उपज्जलितस्याग्नेः अथ अधानन्त-
स्मेव तस्य जिह्वा ज्वाला दारुषु पापतीति पुनः पुनः पतति । प्रवृष्णः
प्रवर्षितुः इन्द्रस्य गवार्थं देवपणिभिः सह असुरैर्युध्यतः । अथवा गोषु
अप्सु मेघेन सह युध्यत इत्यर्थः । नेत्युपमा । इन्द्रस्य गोषु युध्यत इव
अशनिः सृजाना सृज्यमाना यथा पतति तेनैव सृज्यमाना तथाग्नेर्ज्वाला
दारुषु पापतीति । किंच । शूरस्थेव प्रसितिः क्षातिरग्नेः । यथा कस्य-
चिद्विक्रान्तस्येन्द्रस्यैव वाप्रतिहतगतेः प्रसितिः प्रसर्जनं संप्रामानुप्रवेशमार्ग-
दिच्छन्भिन्नावरुणैः शत्रुभिर्लोकीर्णः स्यादेवमस्याग्नेः क्षातिर्दहनमार्गः दुर्वर्तुर्भामो

१ म. विभजति° ते. २ म. ज. विभजति; च विभजति° ते. ३ क. ख. म.
ज. घ. ट. ठ. ड. °तिस्खलि°. ४ म. ज. घन्व. ५ म. ज. °नाय स्वेववाक्ये;
च. °नाय वक्त्रे (व) स्वेक (व) वाक्ये. ६ क. ख. घ. ट. ठ. ड. श्रूयमाणं;
च. श्रूयमाणः° जे. ७ म. च. ज. °त्यर्थः । ३० । अथ°. ८ म. वृष्णो० ।
आग्नेयी°; घ. ट. वृष्णो० दुर्वर्तु°. ९ क. ख. घ. ङ. ठ. ड. °सृजाना तेनैव
सृज्यमानो यथा पतति । अशनिर्वज्रः । तथा°; च. सृज्यमाना यथा पतति तेनैव
सृज्यमाना. १० म. ज. °न्द्रस्यान्यस्य वा°; च. °न्द्रस्य वा° स्यान्त्यस्य. ११ म.
ज. प्रसयि. १२ क. ख. घ. ट. ठ. ड. °भिः प्रकीर्णः°; च. °भिः ओकीर्णः° प्र;
ट. °भिः प्रकीर्णः° रा. १३ क. ख. घ. ङ. ठ. ड. ईष्टप्रुष्टा°; च. °मार्गः°
प्रुष्टा° ईष्ट.

दग्धभस्मीभूतैर्वृक्षैर्गुल्मादिभिराकार्यते । कदा पुनरेतद्भवति । दुर्वर्तुर्दुर्वोरो
दावाग्नीभूतः भीमः सर्वप्राणिभयंकरो यदायमग्निर्दयते दहति । किम् ।
वनानि । एवमयमाग्नेये मन्त्रे वनशब्दसंनिक्षेपे श्रूयमाणो दयतिशब्दो दह-
नादन्यात्किमभिदध्यात् । तस्मात्सामर्थ्यादिहायं 'दहनकर्मा' इत्युपपत्तिः ।

५ 'विदद्वसुर्दयमानो वि शत्रूनि हिंसाकर्मा' इन्द्रः पूर्भिदातिरदासंमर्के-
विदद्वसुर्दयमानो वि शत्रून् । ब्रह्मजूतस्तन्वा वावृधानो भूरिदात्र आपृणत्रोदसी
उभे [ऋ० सं० ३ । ३४ । १] ॥ विश्वामित्रस्येयमार्षम् । अष्टिपु ।

उद्भिद्वलमिदोर्निष्केवल्ये निविद्वानीयस्य सूक्तस्य [आश्व० श्रौ० ९ । ८]
प्रथमैवेयम् । इन्द्रः पूर्भित् असुरपुरां मेघानां वा भेत्ता । अग्निः पूर्णा
१० अपो वा पाळयन्तीति मेघाः पुरः 'पृ पाळनपूरणयोः' [धा० ९ ।
१७] इत्येतस्य । आतिरत् अभिनत् दासं दासयितव्यं मेघम् । कैः
सहायैः सह । अर्केः वृक्षैर्वा देवैर्मार्ग्यमिर्कैर्वा । किंउक्षणः पुनरसाविन्द्रो
य आतिरत् । विदद्वसुः प्राप्तधनः । किं कुर्वन्नातिरदासम् । विदयमानो
विधिधं हिंसन् शत्रून् ये मेघवधप्रतिबन्धिनः ।

१५ हिंसाकर्मा आह । किं विदद्वसुर्वेनेनैकेन गुणेन युक्तो य
इन्द्रः स एतदकरोत् । नेत्युच्यते । ब्रह्मजूतश्च
ब्रह्मणा स्तुतिलक्षणेन जूतः प्राप्तः ग्रीतो वा ब्रह्मणा । तन्वा शरीरेण
वावृधानो यर्धमान आपृणत् आपूरयति रोदसी वावापृविष्यायुभे अपि ।
भूरिदात्रश्च बहुदानो य इन्द्रो दासमातिरत् । एवमत्र 'विदद्वसुर्दयमानो
२० वि शत्रून्' इति शत्रुसंनिधौ दयतेः किमन्यत्सामर्थ्यमुपपद्येतान्यत्र यथातैः ।

'इमे सुता इन्दर्वैः प्रातरित्वना सजोपंसा पित्रतमश्विना तान् । अहं
हि वांभूतये वन्दनाय मां वीयसो दोषा दयमानो
गतिफर्मा अवबुधत् । 'दयमान इति' । अत्र दयतिर्ग-
त्यर्थः । दयमानो वीयमानः काकोऽन्तरिक्षेणाध-
स्तान्मां मुसं दोषा दोषायामबोधयत् । मृगयोऽत्र श्लेषः ।

१ ग. ष. ज. 'कर्मा' । ३१ । इन्द्रः २ ग. अ 'मर्केति' । विश्वा ३ प.
ट. मर्केः ४ भूरिदात्र ५ य. वपात् । ३२ । इमे ४ ग. 'इन्द्रः ० बुधत्' । ठ. ड.
'इन्द्र इति । दयमान इति' । ५ क. ए. उ. ट. 'मान उड्यति' ; प. ट. 'मानोड्यति' ;
१९ प. 'मानो वीय' डी.

‘नूचित्’ (३०) इति एष ‘निपातः’ अनेकार्थत्वेनेह समान्नातः ।
न हि निपातानां प्रकृतिप्रत्ययादिः संस्कारोऽस्ति यस्यानवगमः स्यात् । स
च पुनरयं ‘पुराणनवयोः’ अर्थयोर्वर्तते । प्रकरणो-
पपदवशात्पुराणतां कस्यचिदर्थस्यावद्योतयति
नूचित् नूच इत्येतौ पुराणनवयोः नवतां च कस्यचित् । ‘नूच (३१) इति च’ ।
अयमपि पुराणनवयोर्वर्तते । अयं तु नूचिदि-
त्येतस्यैवार्थसामान्यप्रसङ्गादसमान्नात एवोदाहृतः । नूचिदित्यस्योदाहरणम् ।

‘अद्या चिन् चित्तदपो’ नदीनां यदाभ्यो अरंदो गातुर्भन्द्र । नि पर्वता
अद्यसदो न सेदुस्त्वया दृक्कानि मुक्तो रजांसि’ [न० सं० ६ । ३० ।
३] ॥ भरद्वाजस्येयमार्षम् । त्रिष्टुप् । उक्त्यपर्यायेष्वच्छावाकस्य शस्त्रे माध्यं-

दिने सवने विनियुक्ता [आश्व० श्रौ० ५।१६] ।
अस्यामृचि नूचि- अद्य च पुरा च तदेव कर्म नदीनां वर्तते ।
दित्यस्य ‘पुरा’ कृतमद्यत् । उद्दिश्य वहनं कर्म । कथं नामास्य
इत्यर्थः लोकस्थोपकारायाजस्त्रमेता वहेपुरिति । गातुं गमन-
मार्गमाभ्यो नदीभ्योऽर्थाय त्वमरदः अखन-

स्यम् । किम् । गमनम् । गच्छन्त्यनेनेति गमनम् । हे इन्द्र तदेव कर्म-
द्यापि वर्तते तासां नदीनां यथाव्यादिष्टमेव त्वया । ताभिरद्यापि तदनुष्ठी-
यत इत्यभिप्रायः । तदुक्तं पुरस्तादपि ‘इन्द्रो अस्मां अरंदन्’ इत्यत्र [निर०
२ । २६] । एवं तावदयं त्वयैव नद्यधीनेनोपकारेणानुगृह्यते लोकः ।
किंच । नि पर्वता अद्यसदो न सेदुः । य एते पर्वताः पर्ववन्तो मेघा अद्य-
सदः । निष्पादयितव्यमन्नमस्माभिरित्येतदर्थमुद्दिश्यान्तारेक्षलोके सीदन्त्य-
तिष्ठन्ते गच्छन्ति वा । तेऽपि युष्मद्भ्योऽर्पयिष्येता एवोदकभूता नीचैर्भूत्याम-
न्ननिष्पत्त्यर्थं सेदुः । सीदन्तीत्यर्थः । तदेवं कृत्वा किं बहुना सर्वथाप्युदक-
प्रदानद्वारेण त्वयैवैतानि हे मुक्तो मुं कर्मन् मुहृद्वानि दृष्टीकृतानि रजांसि ।
लोका इत्यर्थः । त्वं चेदेपाभिवमन्नमुदकं च न व्यधास्यः सर्व एवैते लोका

१ च. ‘इति च’ नास्ति. २ क. ख. घ. ट. ठ. ड. ‘नवयोर्दोषोर्ब’; च. नव-
‘योर्दो’ र्दोषो. ३ ग. घ. ज. ‘हणम्’ । ३२ । अया°. ४ य. नदीनां० ३ । भर°;
घ. ट. नदीनां० त्वया दृ°. ५ क. ख. घ. दृढानि; ग. ज. घ. झ. इन्द्रानि. ६ घ.
मण्डलपते°. ७ ठ. ड. ‘इदमद्यसादित्य’°. ८ घ. झ. ट. ठ. ड. ‘पद्मदि’°. ९ घ.
‘तानि’ मुक्त° दे. १० क. ख. घ. ट. ठ. ड. दे मुक्त°; घ. ‘कतो’ मुक्त° दे. ११

नाभविष्यन्नित्यभिप्रायः । इहाद्येत्यस्य संनिधौ वर्तमानो नूचिदित्येव पुराणाभिधायीत्युपपद्यते । इह पुराणनवयोः सत्युक्तम् । तत्र पुराणाभिधायित्वस्यैतदुदाहरणम् । नवाभिधायिनो 'नू चित्र वायोरमृतं वि दस्येत्' (ऋ० ६।३।३) । अत्र हि वक्ष्यति 'नवं च पुराण च' इति [निरु१०।३] ।

५' नूचेत्यस्योदाहरणम् । 'नू चं पुरा च सदं रयीणां जातस्य च जायमानस्य च क्षाम् । सतश्च गोपां भवतश्च भूरेर्देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम्' [ऋ० सं० १।९६।७] ॥ कुत्सस्यैयमपिम् । पष्ठेऽह्न्याग्निमारुते शस्त्रे जातवेदस्ये सूक्ते शस्यते [आश्व० श्रौ० ८।८] । नू च पुरा च सदनम् । अद्य च पुरा च सदनम् ।

१० तस्यैव 'अद्य च' कस्य । रयीणां धनानाम् । किंच । जातस्येत्यनस्य जायमानस्य चाभिविष्यद्यमानस्य भूतजातस्य क्षाम् । निवासमित्यर्थः । 'तस्मात्सर्वानृतून् पशवोऽग्निमभिसर्पन्ति' इति विज्ञायते [मैत्रा० सं० १।८।२] । 'यत्र गां शयानां निर्जगाति मृतामेतामविद्वान् मन्यतेऽन्वशौ ह्येवैते प्रविशन्ति' इति च विज्ञायते [मैत्रा० सं० १।८।२] । तस्मादुपपद्यते स्थानत्वं निवासत्वं चाग्नेः । सतश्च निष्पन्नस्यै भूतजातस्य गोपां गोसारम् । भवतश्चोपद्यमानस्य भूरेर्वह्नो गोसारमित्यनुवर्तते । य एवंलक्षणोऽग्निस्तं द्रविणोदा धनस्य दातारं देवा धारयन् । धृतवन्त इत्यर्थः । क । हविर्वह्नकर्मणि । 'अथा देवा दधिरे हव्यन्नाहम्' इति वक्ष्यति [निरु० ६।३९] । एवमिह

१५ 'पुरा च' इत्यस्य संनिधौ 'नूच' इत्येव शब्दो वर्तमानो नवाभिधायीत्युपपद्यते । पुराणाभिधायित्वे पर्येष्यमस्योदाहरणम् ।

'दावने' (३२) इत्यनवगतम् । 'दानस्य' इत्यवगमः । 'अकूपारस्य' (३३) इत्यनवगतमनेकार्थं च । 'अकुत्सितपरणस्य' इत्यवगमः । द्वयोरप्येतयोरेक एव निगमः ॥ १७ ॥

२५ १ ग. च. ज. 'हरगम् । ३३ । नू' । २ ग. रयीणां० द्रविणोदाम् ; घ. ट. रयीणां० देवा अग्नि' । ३ क. ख. 'मार्पम् । पृष्ठस्य पष्ठे' ; घ. 'मार्प' पठे' पृष्ठस्य. ४ घ. ट. ठ. ड. 'पुरा च' नारि. ५ घ. ट. ठ. ड. निष्पन्नभूत'. ६ क. ख. अकुत्सितस्य ; घ. झ. ट. ठ. ड. अकुत्सितं पर'. ७ क. ख. १ (१८), ग. २८ । ३४ ; च. ज. ३४ ; ठ. ड. 'गमः । इति निरुद्धीकापां चतुर्थाध्याये सतदशः ३० सण्डः.

विद्याम तस्य ते वयमकूपारस्य दावने । विद्याम तस्य ते वयमकूप-
रणस्य दानस्यादित्योऽप्यकूपार उच्यतेऽकूपारो भवति दूरपारः
समुद्रोऽप्यकूपार उच्यतेऽकूपारो भवति महापारः कच्छपोऽप्यकू-
पार उच्यतेऽकूपारो न कूपमृच्छतीति कच्छपः कच्छं पाति
कच्छेन पातीति वा कच्छेन पिवतीति वा कच्छः खच्छः खच्छ-
दोऽप्यमपीतरो नदीकच्छ एतस्मादेव कमुदकं तेन छाद्यते ।
शिरीते शृङ्गे रक्षसे विनिक्षे । निश्यति शृङ्गे रक्षसो विनिक्ष-
णनाय रक्षो रक्षितव्यमस्माद्रहसि क्षणोतीति वा रात्रौ नक्षत
इति वा । अग्निः सुतुकः सुतुकेभिरश्वैः । सुतुकनः सुतुकनरिति
वा सुप्रजाः सुप्रजोभिरिति वा । सुप्रायणा अस्मिन्यक्षे विथ्र-
यन्ताम् । सुप्रगमनाः ॥ १८ ॥

‘ यन्मन्यसे वरेण्यैभिन्द्रे शुभं तदा भर । विद्याम तस्य ते वयमकू-
पारस्य दावने ’ [अ० सं० ५ । ३९ । २] ॥ अत्रेभौमस्येयमार्यम् ।
अच्छावाकस्य तार्तीयसवनिभे आवापे नियुक्ता ‘ यदिन्द्र चित्र ’ इतीयं
च (आश्व० श्रौ० ७ । ८) । हे इन्द्र यन्मन्यसे जानीषे त्वं वरेण्यं
वरणीयमेतद्धनमिति शुभं च यत् शुतिनिवासभूतम् । शुनिमदित्यर्थः ।
तदस्मभ्यमाहर । कदाचित्त्वमाहूत्यापि न दद्या ईतो घ्नूमः । तस्य
त्वपाद्वतस्य धनस्य विद्याम लभेमहि वयं ते तव स्वभूतस्य । किंलक्षणस्य ।
अकूपारस्य अकूपरणस्य । अकुत्सितपूरणस्ये-
त्यर्थः । येन लब्धेन सुपूर्णमात्मानं मन्येमहि ।
पर्याप्तमैहिकाय च श्रेयसे आमुष्मिकाय चेत्यर्थः ।
दावने दानस्येत्यर्थः । ईदृशस्य भाषाकस्य
दानस्यै वरेण्येव लब्धवारः स्यामेत्याभिप्रायः । एवमिह यन्मन्यसे वरेण्यं

१ ड. ठ. ड. ‘ कुपर्मस्य; छ. द. ‘ मरुतास्य. २ क. ल. २ [१८]; द. २. २५
३ ग. ज. वरेण्यमिति । अत्रे; घ. ट. वरेण्यमकूपा. ४ ठ. ड. तस्य ॥ इति ।
अत्रे. ५ ग. ज. ‘ तानियकं. ६ ग. ज. ‘ हतगनापि न द्या. ७ ग. ज. दतो;
घ. झ. ट. ठ. ड. अपतो. ८ ठ. ‘ येन लब्धेन दानस्येत्यर्थः ’ नास्ति. ९ क.
ल. घ. झ. ट. ठ. ड. मन्दाग्रे; घ. मन्दाग्रे. १० घ. मन्दा ता.
११ ड. ल. घनस्य; घ. दानस्य. १२ घ. ट. ठ. ड. वदने.

पुंशं तदाभरेतीन्द्र उच्यमानो धनसंनिधानादानादन्यकिमुच्यते । धनमेव हि प्रायेण मनुष्यैः प्रार्थ्यते । तस्मादत्राश्रयमाणोऽपि धनशब्दोऽप्याहृतः । तच्च पुनः प्रार्थ्यमानं बहु प्रार्थ्यते । तस्मादकूपारस्येत्येष शब्दोऽतिपरोक्षवृत्तिः ।

“ अकूपरणस्य ” इत्येवं परोक्षवृत्तित्वेनावस्थाप्य ततः “ अकुसितपूरणस्य ” इत्येवं प्रत्यक्षवृत्तित्वेन व्याख्यायते । अत्र कुरोति कुत्सार्थः । परणम् पूरणमुच्यते । कुसितं परणं कुपरणम् । न कुसितं परणम् अकूपरणम् । तस्य अकूपरणस्य । प्रभूतस्येत्यर्थः । धनसंबन्धादेव ‘दावने’ इत्येष शब्दो दानार्थ इत्युपपत्तिः । एतस्मिन्मन्त्रे ‘अकूपारस्य दावने’ इत्ययमनयोः पदयोरनुक्रमः । सैमास्त्राये पुनः ‘दावने अकूपारस्य’ इति मन्त्रपाठ्यतिक्रमेणानुक्रमः ।

१० तेन ज्ञायतेऽन्येरेवायमृषिभिः समाम्नायः समाम्नातेऽन्य एव चायं भाष्यकार इति । एको हि समाम्नातं भाष्यं च कुर्वन् प्रयोजनस्याभावादेकमन्त्रगतयोः पाठानुक्रमं नाभङ्क्यत् । अविवक्षितस्वार्थाश्चैते मन्त्रे निगमाः । तेषु संपत्त्या काकतालीयन्यायेन कस्मिंश्चिदेकस्मिन्नेव निगमे द्वे पदे आगच्छतस्ते यथोपागते एव भाष्यज्ञारो व्याचष्टे इत्यदोषः ।

१५ ‘ आदित्योऽप्यकूपारः उच्यते ’ । किं कारणम् । स ह्यकुसितस्य महतोऽध्वनः पारयिता भवत्युदयादारभ्य यावद-
अकूपारशब्दस्या- स्तमिति । ‘समुद्रोऽप्यकूपार उच्यते’ । असायपि
दितादयोऽन्येऽर्थाः ह्यकुसितपार आत्मनैव भवति । ‘महापारः’ इति
पर्यायेणार्थवचनम् । विस्तीर्णपार इत्यर्थः । ‘कच्छ-

२० पोऽप्यकूपार उच्यते’ । स हि ‘न कूपमृच्छति’ अस्योदकत्वात् । किं तर्हि । यत्र बहु प्रकीर्णमुदकं तैस्तत्स्थानं गन्तुमिच्छति समुद्रं नदीं वा । आख्यान-
प्रसक्तमुच्यते । ‘कच्छपः कच्छम्’ आत्मनो मुखसंपुटं ‘पाति’ रक्षति ।

स हि किञ्चिद्दृष्ट्वा शरीर एव मुखसंपुटं प्रवेश-

कच्छकच्छपशब्द- यति । संपुटे हि कच्छशब्दः प्रसिद्धः । ‘प्राणि-

२५ योर्व्युत्पत्तिः वाक्यः कच्छपुटः’ इति च । ‘कच्छेन’ कटाहनेतराप्यङ्गानि ‘पाति’ वा । स हि

१ क. ख. ग. ज. युशं च तदा° । २ घ. ट. ठ. ड. न्यकूपरणं. ३ क. ख. घ. ट. ठ. ड. दानत°; च. धनत° दा. ४ घ. ट. ठ. ड. समास्त्रायेषु दाव°.

५ क. ख. घ. झ. ट. क्षितार्थाश्चै°; च. क्षितस्वार्थाश्चै° ता. ६ घ. ट. यथापानते; ठ. ड. यथापाते. ७ क. ख. ग. ज. ठ. ड. ‘तत्’ सङ्गदेव; च. तैस्तथा° त.

२१ ८ ठ. ड. कंचि°. ९ ग. ज. पाणिक्छपुट°; च. पाणिक्छपुट° प्राणिनाप्यः.

किंचिद्दृष्ट्वा सर्वाण्यहानि कटाह एवानुप्रवेश्य कूर्मवन्धेनैवावातिष्ठते । अथ
 ' वा कच्छेन ' मुखसंपुटेन ' पिबतीति ' कच्छपः । विग्रहप्रसक्तः कच्छ-
 शब्दो निरुच्यते । य एष ' कच्छो ' मुखसंपुटः कटाहो वायं ' खच्छः ' ।
 आह । किमुक्तं भवति ' खच्छः ' इति । उच्यते । स हि ' खच्छदः ' ।
 खमाकाशं छादयति । स हि मध्ये सुषिरो भवति । ' अयमपीतरो नदी-
 कच्छ एतस्मादेव ' । कसंज्ञकेनोदकेन ' छाद्यते ' इति कच्छः ।
 ' आदित्योऽप्यकूपारः समुद्रोऽप्यकूपारः कच्छपोऽप्यकूपार ' इत्ये-
 तेषु निगमाः पठ्यन्ते ।

' शिशीते ' (३४) इत्यनवगतम् । ' निश्चयति ' इत्यवगमः ।
 ' वि ज्योतिषा बृहता भैत्यग्निराविर्विश्वानि कृणुते महित्वा । प्रादेवी-
 र्मायाः सहते दुरेवाः शिशीते शृङ्गे रक्षसे विनिक्षे [ऋ० सं० ५ ।
 २ । ९] ॥ वृशो नाम जनपुत्रस्तस्येयमार्षमात्रेयस्य वा कुमारस्योभयोर्वा ।
 प्रातरनुवाकाश्विनयोः शस्यते [आश्व० श्रौ० ४ । १३] । विभा-
 ल्यग्निर्नानाप्रकारं भाति । केन । बृहता ज्योतिषा । स एवं विभासमानः
 किं करोति । आविर्विश्वानि कृणुते । आविःकरोति विश्वानि सर्वाणि
 भूतानि महित्वा । महत्त्वेनेत्यर्थः । किं च प्रादेवीर्मायाः सहते । प्रसहते
 प्रकर्षेणाभिभवति । किम् । अदेवीर्मायाः । आसुरीरेत्यर्थः । दुरेवा दुरेवा
 दुस्तर्पा या । न ह्यग्नेरतृप्तिरस्ति । किं च शिशीते शृङ्गे । यथा हि वृषभस्त-
 दान्निघ्नन् शृङ्गे तीक्ष्णीकरोत्येवमग्निरपि दारुणि
 शिशीते इत्यस्य दहंस्तीक्ष्णीकरोति ज्वालाः । कमथं पुरस्कृत्य ।
 निगमोऽर्थश्च रक्षसो विनिक्षणनाम । विहिंसनापेत्यर्थः । अत्र
 शृङ्गशब्दसंनिधानात् ' शिशीते ' इत्यस्य ती-
 क्ष्णार्थत्वं तीक्ष्णीकृतैर्वाचिर्भिर्विनिक्षणनमुपपद्यत इति । निगमप्रसक्तमुच्यते ।

१ क. ख. घ. ङ. ठ. ड. कूर्मवन्धेनैवा°; ट. कूर्मवन्धेनैवा° बन्धे. २ क. ख. ग.
 ज. घ. ङ. ट. ठ. ड. कच्छः; च. खच्छः° क. ३ क. ख. ग. ज. घ. ट. ठ. २५
 ड. भवति । खच्छ इत्युच्यते । स°. ४ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. सुषिरो; च.
 सुषिरो° स्थि. ५ ग. ज. पयवेद्या. ६ ग. च. ऊ. °यमः । ३५ । वि°. ७ ग.
 ज. भाति । वृशो; घ. ट. भात्यग्निः० शिशीते. ८ च. बृहता ° ज्यो° महता.
 ९ क. ख. घ. ङ. ट. ड. °करोति प्रकाशीकरोति विश्वा°; च. °करोति° विश्वा°
 प्रकाशीकरोति. १० ठ. ड. ' दुरागः ' नास्ति. ११ ठ. ड. शृङ्गेन.

‘रक्षो रक्षितव्यं’ हि शरीरम् ‘अस्मात्’ भवति । तद्धि रक्षो मानुषान् भक्षयति ।
‘रहसि वा’ विविक्ते प्रदेशे रक्षः ‘क्षणोति’ । हिनस्तीत्यर्थः । ‘रात्रौ
नक्षते’ गच्छति ‘इति वा’ रक्षः ।

‘सुतुकः’ (३५) इत्यनवगतम् । पक्षेण चानेकार्थम् । ‘सुतुकनः’
इत्यवगमः ‘सुतुकनैरिति वा’ ।

‘स आ वक्षि महि न आ च सैत्ति दिवस्पृथिव्योररतिर्युवत्योः ।
अग्निः सुतुकः सुतुकैभिरश्वैरमस्वद्भ्यो रभस्वो एह गम्याः [ऋ० सं०
१० । ३ । ७] ॥ त्रितस्येयमर्पमाप्स्यस्य । प्रातरनुवाकाश्विनयोः
शस्यते [आश्व० श्रौ० ४ । १३] । यस्त्वं दिवस्पृथिव्योः युवत्योः संमिश्री-
भवन्त्योर्यानि भूतान्यन्तरा वर्तन्ते तेषां सर्वेषामरतिः । पर्याप्तमतिरि-
त्यर्थः । स एवंलक्षणस्त्वमस्माकमावक्षि आह्वयसि देवान् महि ।
महत इत्यर्थः । स एवम् आसत्ति च आसीदसि च होतृत्वे । ‘अग्निः’ इत्ये-
तात्पदं संवोधनार्थत्वेन विपारेणम्यते ‘आवक्षि’ ‘आसत्ति’ इति मध्यमपु-
रुषयोगान्मन्त्रस्य । हे अग्ने यस्त्वमवंगुणयुक्तः

१५ सुतुक इत्यस्य सुतुकनः । सुगमन इत्यर्थः । अथवा ‘सुप्रजाः’ ।
तुगित्यपत्यनामसु पठितम् [निघ० २ । ९ ।

१] । ‘हिरण्यमपत्यमभिमेतमग्नेः’ । ‘हिरण्यरेता अग्निः’ इति श्रूयते
‘अग्नेरपत्यं प्रथमं सुवर्णम्’ इति च । सुतुकैरेव सुगमनैरश्वैः । अथवा
सुप्रजोभिः । कुलजैरित्यर्थः । अथवा शोभना प्रजा येषां ते सुप्रजाः ।
२० शोभनानामेवाश्वानां शोभनाः प्रजा भवन्तीति प्रजाद्वारेण चाश्वे एवैते
श्रूयन्ते । अश्वद्वारेण चाग्निः । स्तूयतेऽथवा स एवाग्निः ‘सुतुकैः सुप्रजाः’ ।

- १ क. ख. ‘वति । रक्षो हि मानुः’; घ. ‘वति । तद्धि रक्षो मानुः’ रक्षो हि. २ ग.
ख. ज. दा । ३ द. स. ३ ग. ज. सत्ति । त्रितः घ. झ. ट. सत्ति । रभस्वद्भ्यो.
४ ग. ‘तानितरा’; अ. ‘तानिऽतरा’; घ. ‘तानिऽतरा० न्यं. ५ क. ग. ग. ज.
२५ ‘रतिः त्वमेवालमतिः पर्या’; घ. ‘रति ~ पर्या’ त्वमेवालमति. ६ च. स. एवम्.
७ ग. घ. ज. घ. ट. ठ. ड. होतृत्वेऽद्वित्ये. ८ क. ख. घ. झ. ट. आ घ
सत्ति; घ. आ-सत्ति घ. ९ घ. ट. ठ. ड. शोभमानमेवा’; घ. ‘प्रजाः । शोभ’
अथवा. १० क. ग. ग. ज. ठ. ड. ‘चाग्निः स्तूयते । अथ’; घ. झ. ट.
‘चाग्निः स्तूयते अथ’; घ. स्तूयते अथवा स एवाग्निः. ११ घ. झ. ट. ठ. ड.
२० सुतुकप्रजाः; घ. सुतुकप्रजाः सु.

अपत्यं चास्य सर्वाः प्रजाः । ताश्च प्रति कल्याण इति सुप्रजाः । रभस्वद्भिः
त्वरितैः रभस्वान् स्वयं च त्वरित एह गम्याः आगच्छेत्स्वमिह मम कर्मणि
नित्यं हवीषि बोद्धुम् । कर्मैवं तवेदमित्यभिप्रायः । एवमेतदिह 'सुतुकः'
इत्यभि विशेषणं सुतुकैरश्वैरित्येतस्मात्तृतीयासंख्यादित्युपपत्तिः ।

'सुप्रायणाः' (३६) इत्यनवगतम् । 'सुप्रगमनाः' इति ५
शब्दप्रतीतिः । यज्ञगृहद्वारोऽभिधेया यास्कमतेन शक्यपूणेस्त्वर्चिषः ।
होता यक्षदुरः ऋष्या कवष्योऽकोपधावनीरुदताभिर्जिहतां विपक्षोभिः
श्रयन्तां सुप्रायणा अस्मिन्यज्ञे विश्रयन्तामुत्तावृधो व्यन्वाज्यस्य होत-
र्यज्ञ इति (प्रेयः ६) । मैत्रावरुणो ब्रवीति । होता यक्षत् होता यजतु ।
किम् । एताः दुरः यज्ञगृहद्वारः । अथवैता आन्यर्चिषः । ऋष्याः महत्यः । १०
अथवा हिंसाः । द्वार्येव हि यो निवारणीयः स हिंस्यते । अर्चिषां तु हिंस्य-
मुपपद्यत एव । कवष्यः विकुपिताः । सुपिरा इत्यर्थः । कपाटवत्यो वा यज्ञ-
गृहद्वारः । अकोपधावनीः अकोशधावनीः । तासु हि संवृतासु द्रव्यकोशाः
सुरक्षा भवन्ति । अर्चिष्वपि हविः प्रक्षिप्तं नान्यतो धावति । किं तर्हि ।
देवानेव प्राप्नोति । एतदकोशधावनीत्वमर्चिषाम् । एवंलक्षणा एता द्वारो १५
अर्चिषो वा उदाताभिर्जिहताम् उज्जिहताम् उत्तिष्ठन्तु आत्माभिः दिग्भिः ।
विश्रयन्तां च पक्षोभिः । वित्रियन्तां कपाटसंचरणैर्द्वारः । अर्चिषस्तु हविषोऽ-
नुपवेशार्थं पक्षोभिः स्वैरेवावयवैर्विश्रयन्ताम् ।
सुप्रायणा इत्यस्य विवृताश्च सत्यः सुप्रायणाः सुप्रगमना भवन्तु
ऋत्विजां यदि द्वारः । अथ पुनरर्चिपस्ततो हविषः २०
सुप्रगमनाः सन्तु । सामान्यमेवेदमाज्ञास्तम् । यत्पुनस्तस्मिन्नेव वर्तमाने कर्म-
ण्यांशास्ते । अस्मिन्यज्ञे विश्रयन्तां वित्रियन्ताम् ऋतावृधः यज्ञवर्धयिष्यः ।
या एता एवंलक्षणा द्वारोऽर्चिषो वा ता अस्याज्यस्य व्यन्तु । य आसां स्वा-
शस्तं पिबन्तु । हे होतस्वमपि मया प्रेषितो यजैताः । 'एवमेव' सुप्रा-

१ ग. ज. 'धेयाः । ३७ । होता' ; च. 'धेयाः ~ । ३७ । होता' यास्क २५
०००० चिपः ; झ. 'धेयाः । होता' . २ ग. च. ज. घ. झ. ट. ऋष्या इति । 'धेया' .
३ ठ. ड. इति प्रेयः । 'धेया' . ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. विकर्तिताः . ५ क. ख.
कुपिताः ; घ. झ. ट. ठ. कविताः . ६ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'हव्यार्थे' . ७ क.
ख. ऋत्विजं प्रति द्वारः ; घ. झ. ठ. ड. ऋत्विजः प्रति द्वारः ; च. ऋत्विजो
यैर्द्वार' . ज. यति .

यणाः ' इति दुरामर्षिणां वा संनिधौ श्रूयमाणः सुप्रगमनाभिधायीत्युप-
पद्यते ।

' अप्रायुवः ' (३७) इत्यनवगतम् । ' अप्रमाद्यन्त ' इत्येवमर्थप्र-
तीतिः ॥ १८ ॥

- ५ देवा नो यथा सदा सदिद्वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे ।
देवा नो यथा सदा वर्षनाय स्युरप्रायुवोऽप्रमाद्यन्तो रक्षितारश्चा-
हन्यहन्ति च्यवन ऋषिर्भवति च्यावयिता स्तोमानां च्यवानमित्य-
प्यस्य निगमा भवन्ति । युवं च्यवानं सनयं यथा रथं पुनर्युवानं
चरथाय तक्षयुः । युवां च्यवनं सनयं पुराणं यथा रथं पुनर्युवानं
१० चरणाय ततक्षयुर्युवा भयौति कर्माणि तक्षतिः करोतिकर्मा रजो
रजतेज्योती रज उच्यते उदकं रज उच्यते लोका
रजांस्युच्यन्तेऽसृगहनी रजसी उच्यते । रजौसि चित्रा विचरन्ति
तन्यव इत्यपि निगमो भवति हरो हरतेज्योतिर्हर उच्यते उदकं हर
उच्यते लोका हरींस्युच्यन्तेऽसृगहनी हरसी उच्यते । प्रत्यमे
१५ हरसा हरः शृणीहीत्यपि निगमो भवति । जुहुरे वि चितयन्तः ।
जुद्धिरे विचेतयमाना व्यन्त इत्येषोऽनेककर्मा पदं देवस्य नमसा
व्यन्त इति पश्यतिकर्मा वीहि शूर पुरोर्जाश्रमिति खादतिकर्मा ।
वीतं पातं पर्यस उस्त्रियायाः । अश्रीतं पिवतं पयस उस्त्रियाया
उस्त्रियेति गोनामोस्त्राविणोऽस्यां भोगा वैसेति च । त्वामिन्द्र मति-
२० भिः सुते मुनीथासो वमूयवः । गोभिः क्राणा अनूपत गोभिः
कुर्वाणा अस्तोपतं । आ तू पिञ्च हरिमीं द्रोहपस्थे वाशीभिस्तक्ष-
ताद्मन्मयीभिः । आसिञ्च हरिं द्रोहपस्थे द्रुममयस्य हरिः सोमो
हरितवर्णोऽयमपीतरो हरिरेतस्मादेव । वाशीभिस्तक्षताद्मन्मयीभिः ।
वाशीभिरद्ममयीभिरिति वा वाग्भिरिति वा । स शर्षद्वयो विपु-

- २५ १ क. ख. 'पद्यते । २ (१८) ; ठ. 'पद्यते । इति नि० टी० चतुर्थाध्याये
अष्टादशः सण्डः । २ क. ग. घ. ट. ठ. ड. अहो नास्ति; ग. १९ (३८) ; च. ज.
३८. ३ छ. त. द. ' रजांसि भवति ' नास्ति. ४ छ. त. द. हरा उच्यन्ते. ५
छ. त. द. ' अष्टप० भवति ' नास्ति. ६ क. रा. पुरोहाशः; छ. त. द. पुरो-
हाश. ७ छ. त. द. ' तसेति च ' नास्ति. ९ छ. त. ' पत ॥ १९ ॥ आ';
१० द. ' पत ॥ ३ ॥ आ'.

णस्य जन्तोर्मां शिश्रदेवा अपि गुर्कृतं नः । स उत्सहतां यो
विपुणस्य जन्तोर्विपमस्य मा शिश्रदेवा अग्रहचर्याः शिश्रं श्रयते ।
अपि गुर्कृतं नः । सत्यं वा यज्ञं वा ॥ १९ ॥

‘आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽर्द्ध्वास्तो अपरीतास उद्भिदः ।
देवा नो यथा सदमिद्वैषे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे’ [ऋ० सं०

१ । ८९ । १ ॥ गोतमस्येयमार्गम् । अग्नि-

अप्रायुव इत्यस्य षोमे [आश्व० औ ५ । १८] महाव्रते च तृती-
यसवने [ऐ० आ० ५ । ३ । २] वैश्वदेवे

शस्त्रे शस्यते । आयन्तु उपयन्त्वस्माकं भद्राः भन्दनीयाः स्तुत्याः क्रतवः
सोमक्रतवः कामा वा विश्वतः सर्वतः सर्वदेव यथाविहितेषु कालेषु अद- १०
ब्धासः अनुपहताः अविगुणाः कैश्चिदपि दस्युभिः अपरीतासः अपरिप्राप्त-
पूर्वा अस्मच्छत्रुभिः उद्भिदश्च उद्भेत्तार एषां त्रयाणामपि लोकानाम् । येषां
फलनैतांस्त्रीनपि लोकान्विन्देमहि तं आगच्छन्तु । किंच । तथा च तेऽ-
स्पर्धमविगुणा आगच्छन्तु यथा तैः परितोपिताः सन्तो देवाः सदैव नित्य-
मेवास्माकं वर्धनायोद्यता असन् । स्युरित्यर्थः । भाष्येऽपि ‘स्युः’ इत्येवं १५
एवं पाठः । ‘असन्’ इत्येव प्रमादपाठः । अप्रायुवः अप्रमाद्यन्तः प्रमाद-
मुकुर्वाणाः । असंमुख्यमाना इत्यर्थः । वर्धयितारो रक्षितारश्च दिवेदिवे
अहन्यहनि यथा स्युस्तथा ते सोमक्रतवः सगुणाः कामा वागच्छन्तु ।
अत्र ‘अप्रायुवो रक्षितारः’ इति रक्षितृशब्देन समानार्थसंनिवेशादप्रायु-
वशब्दस्याप्रमादार्थत्वम् । रक्षणे हि सत्यप्रमादस्येष्टत्वात् । १०

‘ध्यवनः’ (३८) इत्यनवगतम् । ‘च्यावनः’ इत्येवमर्थप्रतीतिः ।
‘ऋषिर्भयति’ इत्यभिधेयवचनम् । ‘ध्यवानमिति’ एवम् ‘अप्यस्य’
ऋषेर्भूगुपुत्रस्य छन्दसि ‘निगमाः’ सन्ति । ध्यवन इति प्रसिद्धमेवेति

१ क. ख. ३ (१९) ; छ. त. २० ; द. ४. २ ग. घ. ज. भद्राः क्रतवो
यन्तिवति । गोतं ; घ. ट. भद्राः० दिवेदिवे. ३ ठ. ड. ‘दृषुष इति । गोतं. ४ घ.
एषां. ५. ५ क. ख. घ. झ. ट. ‘कातुजिन्दीमहि’ ; ठ. ड. ‘कातुजिन्दीमहि. ६ ग.
ज. तत्र. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘एव’ नास्ति. ८ क. ख. घ. झ. ट. ठ.
ड. ‘अग्नि ०००० पाठः’ नास्ति ; घ. अग्निमित्येवं द्रव्यादपाठः. ९ ग. ज.
‘अपि’ नास्ति ; घ. ‘त्येस्य’ इत्यप्य.

कृत्वा निगमं न पठति । इतरथा त्वप्रसिद्धमल्पप्रयोगं चैतदिति कृत्वा पठति ।

‘युवं ध्येवानं सनयं यथा रथं पुनर्युवानं चरथाय तक्षथुः । निष्टौघ्यमूहथुरद्वयपरि विश्वेत्ता वा सर्वनेपु प्रवाच्या’ [ऋ० सं० १० ।

३९ । ४] ॥ काक्षीवत्या घोपाया इयमार्पम् ।

व्यवान इत्यस्य प्रातरनुवाकाश्विनयोः शस्यते [आश्व० श्रौ०

४ । १५] । अश्विनौबुध्येते । हे अश्विनौ

युवा ध्यवानमृषिं व्यावयितोरं स्तोमानां वृद्धं गमनासमर्थं सन्तं यथा

सनयं चिरंतनं रथं गमनासमर्थं कश्चिच्छिल्पी गमनसमर्थं कुर्यादेवं

पुनर्युवानं ध्यवनमृषिं चरथाय चरणाय गमनार्थं ततक्षथुः ।

कृतवन्तौ स्य इत्यर्थः । किंच । निष्टौघ्यमूहथुः निरूहथुः निर्हृतवन्तौ

स्थः तौघ्यं तुष्ट्याणामपां संघातं मेघम् । क पुनः निरूहथुः ।

अद्वयपरि चिरंतनीनामन्यासामपासुपरि । अनुपक्षीणास्वेवान्यासु वार्षिका-

स्यन्तु तासामेवोपरि लोकानुग्रहार्थमन्यमुदकसंघातं निरूहथुः । तान्येव-

मादीनि कर्माणि विश्वा विश्वानि सर्वाणि युवयोः सवनेपु यज्ञेपु प्रातःसव-

नादिषु वा प्रवाच्या प्रकर्षेण वचनीयानि स्तोतृणाम् । एवमेतस्मिन्मन्त्रे

व्यवानश्चाद्येन व्यवन एव ऋषिरुक्तः । स हि ध्रूयते सौकन्ये आख्याने

[महा० भा० वनप० १२४] जीर्णः सन्नश्विन्यां पुनर्युवाकृत इति ।

तस्मादुपपद्यते । निगमप्रसक्तमुच्यते । ‘युवा प्रयौति कर्माणि’ मिश्रयति ।

‘तक्षतिः करोतिकर्मा’ । करोत्यर्थः ।

‘रजः’ (३९) इत्यनेकार्थम् । ‘रजतेः’ इति व्युत्पत्तिः ।

‘उयोती रज उच्यते’ । तच्चानुरक्षयति द्रव्याणि स्वेन प्रकाशेन । ‘या

ते अग्ने रजःशया तनूः’ [वा० सं० ५ । ८] इत्येवमाशुदाहरणं

१ ग. च. ज. ‘ठति । ३९ । युवं’ । २ प. ट. व्यवानं० प्रवाच्या. ३ ग. ज.

रथमिति । काक्षी०. ४ प. ट. ठ. ‘ना उच्ये’ । ५ ठ. ड. ‘तारं देवान्यति प्राप-

यितारं स्तो’ । ६ क. स. प. स. ट. ठ. ड. सनयं वृद्धं; च. ‘मानां’ वृद्धं

सनयं. ७ क. स. प. स. ट. ठ. ड. ‘सनयं’ नास्ति; च. सनयं. ८ ग. ज.

तुष्टियाणां; च. तुष्टियाणां ‘ध्या. ९ क. स. ग. ज. मेघानां; च. मेघानां’

चं; ठ. ड. मेघं तुष्टयुवं भुजुं तप्तुद्वयोपति वा । क०. १० क. स. च.

प. स. ट. ठ. ड. करोतीत्यर्थः.

द्रष्टव्यम् । भाष्यकारस्तु प्रचुरत्वादेतेषु निगमान्न पठति ।

‘उदकं रज उच्यते’ । तदपि स्वेन स्नेहाख्येन गुणेनानुरज्यति ।

‘भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुद्धिः’

उदकवाचिरजः सचसे शिवामिः । दिवि मूर्धानं दधिपे स्वर्षा

शब्दस्य निगमः जिह्वामिमे चकृपे हव्यवाहम् [ऋ० सं० ५

१० । ८ । ६] । हे अग्ने त्वमेवास्य

यज्ञस्य भुवः पृथिवीलोकादन्तरिक्षलोकं नेता । रजसः उदकस्य

च नेता । ‘अग्निर्वा ईतो वृष्टि समीरयति’ इति हि वक्ष्यति

[निरु० ७ । २४] । क पुनर्नेता । यत्र यस्मिन् लोके नियुद्धिः

अश्वजातिभिः शिवामिः सुखतयामिः सहितं वायुम् अन्तरिक्षस्थानं सचसे १०

संसेवसे त्वं तत्र नेता मयस्यानानां देवानां स्थितये । किंच । त्वमेव

दिव्ययस्थितं सर्वभूतमूर्धानं दधिपे धारयसि यज्ञाभिनिष्पन्नेनेतो लोकादूदेन

हविषा स्त्रैःसां स्वराख्यमादित्यम् । किंच । त्वमेवैतां जिह्वां ज्वालामयदु-

त्तामात्मनः सकाशाच्चकृपे पुनः पुनः करोषि यास्मत्प्रचानि हवींष्युपक्ष-

पेयति । यस्त्वमेवंगुणयुक्तस्तं त्वां वयमेतस्मिन् कर्मणि हव्यवाहं हविषा १५

बोढारमनेन पुरोडाशाख्येन हविषा यजामः । पौर्णमासैस्याग्नेयस्यै हविषो

याज्येया ।

‘लोका रजांस्युच्यन्ते’ । तेष्वपि हि प्राणिनो रज्यन्ते । ‘त्वया दृढैर्नि

रजःशब्दस्यान्येऽर्थाः सुक्रतो रजांसि’ इति व्याख्यातो निगमः’

[निरु० ४ । १७] । ‘असृगहनी रजसी २०

उच्येते’ । असृग् रुधिरम् अहश्च असृगहनी । ते अपि रजसी उच्येते ।

‘मासि मासि रजो ह्यार्सा दुष्कृताग्न्यपकर्षति’ (वासि० धर्म० २८ । ४)

इति रुधिरस्फोदाहरणम् । ‘अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च’ इत्यह उदाहरणम्

[निरु० २ । २१] ।

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. तदपि हि स्वेन. २ ग. च. ज. °पति । ४० । २५
भुवो. ३ ग. ज. घ. ट. ठ. ड. यज्ञस्येति निगमः । हे अग्ने; च. यज्ञस्येति
निगमः. ४ हे अग्ने निशिरास्त्वाहः । अग्निस्त्रिष्टुप्. ॥ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड.
‘लोकादमुं लोकं. ५ ग. च. ज. इमां. ६ ग. ज. संवससे; च. संवससे. ॥ क.
ख. लोकादूदेन; च. लोकादूदेन° ह. ८ ग. ज. ‘स्त्रैःसां’ नास्ति. ९ घ. ङ.
ट. ठ. ड. ड. ‘पुनः’ चकृपे. १० ठ. ड. ‘क्षयति. ११ ग. ज. ‘मास आग्ने’.
१२ ग. च. ज. ‘मेयहवि’. १३ क. ख. ग. च. ज. इडाभिः; घ. इडाभिः.
१४ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. ‘पिं अमृक्च अह’; च. ‘पिं’ अहश्च अ°
अमृक्च.

‘हरः’ (४०) इत्येतदप्येनकार्थम् । ‘हरतेः’ इति व्युत्पत्तिः । ‘ज्योतिः
हर उच्यते’ । तद्धि हियते हरति वा स्नेहं विरुद्धीकरोति हरति वा तम
इति हरः । ‘या ते अग्ने हरः शया तनूः’ ‘अग्ने यस्ते हरस्तेन तं प्रति

हर’ इत्येवमादयः प्रचुरा एव निगमा इत्यत्रापि

हरःशब्दस्यार्थाः माष्यकारो न पठति । ‘उदकं हर उच्यते’ । तद्धि
हियते प्राणिभिः जीवनाय । ‘छोका हरांस्तुच्यन्ते’ ।

तेभ्यो हि क्षाणपुण्याः प्राणिनो हियन्ते ।

‘जुहुरे’ (४१.) इत्यनवगतम् । ‘जुह्विरे’ इत्यवगैमः ।

‘जुहुरे वि चितयन्तोऽभिनिमिपं नृम्णं पान्ति । आ दृढां पुरं विविशुः’ ।

१०

[ऋ० सं० ९ । १९ । २] ॥ वज्रोत्रेयस्या-

जुहुरे इत्यस्य निगमोऽर्थश्च पम । जुह्विरे जुह्वति येऽग्निं विचितयन्तो विचे-
तयमानाः कर्मकर्तृसाधनानां याथात्म्यं वेदान्तदर्श-

नेन जानाना ये च अनिमिपम् आदरवदय-

स्थानमात्मनः कृत्वा युक्तात्मानो नृम्णं योगवल्गुमात्मनः कर्मणि वर्तमाने
पान्ति । रक्षन्तीत्यर्थः । आह । य एवंगुणयुक्ताः किं तेषामिति । उच्यते ।

१५

आ दृढां पुरं विविशुस्ते । दृढां नित्यामनावृत्तये परब्रह्ममयीं पुरम् ।

इमामदृढां शरीरपुरं पापिष्ठां हित्वेत्यभिप्रायः । विचेतयमाना हि वेदप्रामा-

णिकाः सन्तो हवनादृते किमन्यत्कुर्युर्भेन दृढां पुरमाविशेयुः । शब्दसार-

प्यमपि च ‘जुहुरे’ इत्येतस्मिञ्छब्देऽस्येव । प्रकरणाच्चेयमाग्नेयी ऋक् ।

२०

तस्मात् ‘जुहुरे’ इत्येष शब्दो हवनार्थ एवेत्युपपद्यते ।

‘व्यन्तः’ (४२) इत्येषोऽनेककर्मा । यस्माद्वातोरयं शब्दोऽभिनि-

ष्पद्यते स धातुरनेककर्मनेकार्थः । ‘वी गतिप्रजनकान्त्यर्सेनखादनेयु’

(धा० २ । ३८) इति । तद्यथै । ‘पदं देवस्य नमसा व्यन्तः श्रव-

स्यवः श्रवं आपन्नमृक्तम् । नामानि चिदधिरे यज्ञियाणि भद्रायां ते रण-

यन्त संदृष्टौ’ (ऋ० सं० ६ । १ । ४) ॥ अत्र ‘पश्यतिकर्मा’ ।

१ क. ख. ठ. ड. विद्वदी । २ ग. ज. हरा उच्य । ३ ग. घ. ज. ‘ममः ।

। ४१ । जुहुरे । ४ क. रा. च. दृढां; ग. ज. दृढां । ५ घ. ट. चितयन्तो ।

विविशुः । ६ क. ख. घ. ट. ठ. ड. जुहुरे जुह्विरे; च. ‘स्यार्पम् । ‘जुहुरे’

जुह्विरे । ७ घ. ट. जानामाः; ठ. ड. जानीमाः । ८ क. ख. घ. ज. दृढां; ग. स.

ट. दृढां । ९ ठ. ड. ‘न्ययान्’ । १० ग. घ. ज. ‘पया । ४२ । पदं । ११

ग. व्यन्तः भवत्यवः । अव; घ. ट. व्यन्तः संदृष्टौ । १२ क. ख. घ. स.

२२. ट. इत्यत्र; च. दृष्टौ । भद्रा इत्यव पश्यतिकर्मा.

भरद्वाजस्येयमार्पम् । प्रातरनुवाकादिनयोः शस्यते
पश्यत्यर्थे व्यन्तः (आश्व० श्रौ० ४ । १३) । पशौ च विनि-
इत्यस्य निगमः युक्ता (आश्व० श्रौ० ३ । ६) । पदं स्थान-

मवस्थानं याथात्म्यमग्नेः देवस्य दानादिगुणयुक्तस्य
व्यन्तः पश्यन्तो जानानाः । केन । नमसा नमस्कारेण स्तुत्या । मन्त्रेण-

त्यर्थः । मन्त्रार्थपरिज्ञानादेव ह्यग्नेरप्यात्माधिदेवाधिमृताधियज्ञेऽवस्थानं याथा-
त्म्यतो दृश्यते । पदशब्दो हि स्थाने प्रसिद्धः । पदस्थोऽयमिति हि वक्तारो
भवन्ति लोके । अथवा नमसा अग्नेन हविराह्वयेनाभ्युद्यतेनेति योज्यम् ।

अवस्थवः अथ इच्छमाना अन्नमात्मनः प्रार्थयमानाः । य एवमग्नेः स्तुतिमि-
र्विद्वांसो याथात्म्यमनैर्वाभ्युद्यतैः अथ इच्छमानाः पश्यन्तोऽग्निमुपासते किं
तेषामिति । उच्यते । अथ आपन् । किलक्षणं पुनराब्रुवन्ति । अभुक्तम्

अमृदितं नमुपभुक्तमन्यैः । किंच । नामानि चित् ये चैते ग्रन्थमात्राभ्येतारः
केवलच्छान्दसा नामान्यपि च मन्त्रभावेनावस्थितानि धारयन्त्यनर्थज्ञा यज्ञि-
यानि यज्ञार्हाणि तेऽपि मद्रायां मन्दनीयायामग्नेः संदृष्टौ संदर्शने रणपन्त
रमपन्त्यात्मानम् । तानपि भदेण चक्षुषा पश्यत्येवाग्निरीत्याभिप्रायः ।

एवमेतस्मिन्मन्त्रे 'पैदं नमसा व्यन्तः अवस्थवः अथ आपन्' इत्येतेषां
पदानामेकवाक्ययोगात् 'व्यन्तः' इत्यस्य शब्दस्य पश्यत्यर्थतोपर्यधते ।

वीहि शूर पुरोलाशमित्यत्र खादतिकर्मा । 'इमा ब्रह्म ब्रह्मवाहिः
क्रियन्त आ वहिः सीद । वीहि शूर पुरोलाशम्' [अ० सं० ३ ।
४१ । ३] ॥ विश्वामित्रस्येयमार्पम् । रात्रिपर्यायेषु महारात्रिके पर्याये
प्राक्षणाच्छंसिनः शस्त्रे विनियुक्ता [आश्व० श्रौ० ६ । ४] । इमानि

१ ग. ज. 'प्राच्या' । २ घ. ट. ठ. ड. 'देवाधिपते' । ३ ग. ज. ठ. ड.
'मग्नेस्तुति' ; च. 'मग्निस्तुति' श्रे. ४ च. 'दितं अनुवर्तत. अनुर' । ५ क. ख.
घ. झ. ट. ठ. ड. पदं देवस्य नम' ; च. पदं 'नम' देवस्य. ६ च. इत्येतस्य.
७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'त्यर्थोऽप्युप' ; च. 'त्यर्थो' योऽप्यु. ८ क. ख. २५
घ. झ. ट. ठ. ड. 'पयते । इमा ब्रह्म' । ९ ग. च. ज. 'कर्मा' । ४३ । इमा' .
१० ग. ज. 'वाहः इति विश्वा' ; घ. ट. 'वाहः० पुते' . ११ क. ख. पुरोलाशम् ;
घ. च. पुरोलाशम् ; घ. ट. ठ. ड. पुस्तकेषु अत्रोऽनन्तरं 'इत्यत्र सादतिकर्मा'
इति वर्तते, १२ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. इमा इमानि ; च. 'शुक्ता' । 'इमानि'
इमा.

ब्रह्म, ब्रह्माणि ऋग्यजुःसामाख्यानि स्वरसौष्टवा-
 अस्यायुचि व्यन्त दियुक्तान्यस्माभिर्ब्रह्मणोऽस्य हविषो वहनसम-
 इत्येव खादतिकर्मा र्थानि त्वां प्रति क्रियन्ते । उच्यन्त इत्यर्थः ।
 यतो ब्रवीमि । हे इन्द्र अ बर्हिः सीद । आसी-
 देदं बर्हिः प्रति । आसीनश्चैतस्मिन् बर्हिषि वीहि भक्षयेतमस्मत्पत्तं हे
 शूर पुरोडाशम् । एवमेतस्मिन् मन्त्रे 'वीहि पुरोडाशम्' इत्येतस्मादेक-
 वाक्ययोगात् 'वीहि' इत्येव शब्दः खादनार्थ इति प्रतीयोत् । किम-
 न्यद्बर्हिष्यासीन इन्द्रः पुरोडाशस्यान्यत्र भक्षणात्कुर्यात् । प्रासेदं च कठि-
 नद्रव्यस्य लोके भक्षणं भक्षयति मोदकादीनिति । तस्मात्सामर्थ्याद्भक्षणा-
 र्थोऽयमित्युपपद्यते ।

‘वीतं पातं पयसः’ इत्यत्राशार्थः । ‘उत वीं विक्षु मद्यास्वन्धो
 गाव आर्पक्ष पीपयन्त देवीः । उतो नो अस्य पूर्यः पतिर्दन्वीतं पातं
 पयस उल्लियायाः’ [ऋ० सं० १ । १५३ । ४] ॥ मित्रावरु-
 ष्येवा । त्रिष्टुप् । दीर्घतमस आर्पम् । मित्रावरुणावुच्येते । उतै याम्

अपि युवयोरेतासु विक्षु मद्यासु एतेषु मनुष्येषु
 वीतं पातमित्यत्रा । मदयितृषु वर्तमानमेतत् अन्धो हविर्लक्षणं यदेत-
 शनार्थः देतस्मिन्नहनि एभिर्मनुष्यैर्भवद्भक्षा देयं पयस्याख्य-
 भाज्याख्यं च तदेता गावः एताश्वापः
 देवीः दानादिगुणयुक्ता आसां गवामुपकारं कुर्वन्त्यः पीपयन्त ।
 वर्धयन्तीत्यर्थः । यदेतदशनपानयोग्यमाज्यसाम्राज्यलक्षणमाभिरद्भिर्गोभिश्च
 युवयोरन्धो वर्धयते उतो नो अस्य अप्यस्य हविषोऽस्मत्पूर्वो यजमानः
 पतिः । पूर्वं हि द्रव्यस्य यजमानः पतिर्भवति । तैतः स तद्विगम्यः
 समर्पयति देवतायै संस्क्रुतैतदिति । ततस्ते तस्य हविषः पतयो भवन्ति ।

- १ च. पुतालाशम्. २ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. वीहि शूर पुरो; च. वीहि
 २५ पुरो शूर. ३ क. ख. ग. घ. ज. घ. ट. पुषेडाशम्. ४ क. ख. घ. ट. ठ. ड.
 'वाक्यसंयो'. ५ घ. झ. ट. ठ. ड. 'नार्थः प्रतीयते. ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
 'लोके कठिनद्रव्यस्य भ'. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. मोदकादीनि । तस्मा; ग.
 ज. मोदकानिति. ८ ग. घ. ज. 'नार्थः । ४४ । उत. ९ ग. ज. 'स्वन्ध इति;
 घ. ट. 'स्वन्धः ॥ उल्लियाया. १० ठ. ड. उत अपि तां युव'. ११ क. ख. घ.
 झ. ट. ठ. ड. 'एतत्' नास्ति; च. यदेतदेत'. १२ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
 ११ तद्वन्तः.

तानपेक्ष्य यजमानः पूर्यः पतिः । तदपेक्षयैव 'अविज' आहः । योऽ-
स्मत्तः पूर्यः पतिरस्य हविषः अपि स दन् भवति । दददित्यर्थः ।
तेनाप्येतद्भवन्तोवेवोदित्यास्मान्प्रत्युत्सृष्टम् । एवमपि स दन्भवति । अपि
चयं यथान्यादिष्टमेव तेन पूर्वेण हविर्भूतिना भवद्भयामेतद्वयः । तौ
युवामस्य हविषः पयस्यास्यस्य उस्त्रियायाः पयसो निष्पन्नस्य नातिकठि-
नस्याशनयोग्यस्य स्वं भागमस्माभिर्दीयमानं वीतम् । अश्रीतं युवामि-
त्यर्थः । पिवते च यदेतदाज्यस्य स्वं भागमुपस्तरणाभिचारणसंबद्धम् ।

५.

एवमस्मिन् मन्त्रे 'उस्त्रियायाः पयसा निष्प-
न्नतोऽशनार्थं जस्य' इति श्रूयमाणे पयस्याग्रे प्रतीयेते ।
इति निर्वचनस्य तयोरप्येवं पेयं तत् 'पातम्' इत्यनेन संब-
कारणम् । पारिशेष्यात् 'वीतम्' इत्यस्य शब्दस्य
पयस्यया सह संबन्धः । सा च नातिकठिना
नातिद्रवाशनयोग्या । तस्मात् 'वीतम्' इत्येष शब्दोऽशनार्थं इत्युप-
पद्यते । लोकेऽपि हि नातिकठिने नातिद्रवेऽशनशब्दः प्रसिद्धोऽस्माति पायस-
मिति । निगमप्रसक्तमुच्यते । 'उस्त्रियेति गोनाम' । 'उस्त्राविणो' हि
तस्याः सकाशात्क्षीरादयो 'भोगाः' भवन्ति ।

१०

१५

'क्राणाः' (४३) इत्यनवगतम् । 'कुर्वाणाः' इत्यर्थप्रतीतिः ।
'गोभिः क्राणा अनूपत' इति निगमः । 'गोभिः कुर्वाणा अस्तोपत'
इति निर्वचनम् । त्वामिन्द्रेति शेषः । 'त्वामिन्द्र मतिभिः सुते सुनीयासो
वसुयवः । गोभिः क्राणा अनूपत' ॥ हे इन्द्र त्वामस्मिन्सोमे मतिभिः सुते
मेधाभिभिरभिपुते सोमे । य एव हि मतिमन्तस्त
'क्राणा इत्यस्य एव हि सोममभिषोतुं शक्नुवन्ति नेतरे मतिहीनाः ।
प्रयोगोऽर्थश्च सुनीयासः । सुष्टु ये स्तोतुं शक्नुवन्ति ते सुनीयाः ।
वसुयवो वैसुकामाः । आह । किमेते कुर्वन्ति

२०

१ क. ख. प. झ. ट. ठ. ड. 'अपि' नास्ति; च. अपि. २ प. ट. दत् २५.
भजवति; झ. दन् भजवति; ठ. द. दजवति. ३ क. ख. प. झ. ट. ठ. ड. हविषः-
प. ४ ठ. ड. पयसां. ५ प. झ. ट. ठ. ड. पातं पिव. ६ ग. घ. ज. उस्त्रि-
यापय. ७ क. ख. प. झ. ट. ठ. ड. 'द्रवेऽश्नातिशब्द'; च. द्रवेऽशनशब्द
आति. ८ क. ख. प. ट. ड. उस्त्रावि. ९ ग. घ. ज. शेषः । ४५ । त्वामिन्द्र. १०
क. ख. ग. ज. घ. ट. ठ. ड. मतिभिः मतिमज्जिः सुते; च. मतिभिः सुते
मतिमज्जिः. ११ च. पनकामाः.

ब्रह्म, ब्रह्माणि ऋग्यजुःसामाख्यानि स्वरसौष्ठवा-
 अस्यामूचि व्यन्त दियुक्तान्यस्माभिर्ब्रह्मणोऽस्य हविषो वहनसम-
 इत्येव खादतिकर्मा र्थानि त्वां प्रति क्रियन्ते । उच्यन्त इत्यर्थः ।

यतो ब्रवीमि । हे इन्द्र आ बर्हिः सीद । आसी-
 देदं बर्हिः प्रति । आसीनश्चैतस्मिन् बर्हिषि वीहि भक्षयैतमस्मत्पत्तं हे
 शूर पुरोडाशम् । एवमेतस्मिन् मन्त्रे 'वीहि पुरोडाशम्' इत्येतस्मादेक-
 वाक्ययोगात् 'वीहि' इत्येव शब्दः खादनार्थ इति प्रतीयते । किम-
 न्यद्बर्हिष्यासीन इन्द्रः पुरोडाशस्यान्यत्र भक्षणात्कुर्यात् । प्रासिद्धं च कठि-
 नद्रव्यस्य लोके भक्षणं भक्षयति मोदकादीनिति । तस्मात्सामर्थ्याद्भक्षणा-
 र्थोऽयमित्युपपद्यते ।

'वीतं पातं पयसः' इत्यत्राशार्थः । 'उत वां विक्षु मद्यास्वन्धो
 गाय आपंश्च पीपयन्त देवीः । उतो नो अस्य पुण्यः पतिर्देव्यीतं पातं
 पयस उस्त्रियायाः' [ऋ० सं० १ । १५३ । ४] ॥ मित्रावरु-
 ण्येवा । त्रिष्टुप् । दीर्घतमस आर्पम् । मित्रावरुणाबुध्येते । उतै याम्

अपि युवयोरेतासु विक्षु मद्यासु एतेषु मनुष्येषु
 वीतं पातमियन्ना- मदयितृषु वर्तमानमेतत् अन्धो हविर्लक्षणं यदेत-
 शनार्थः देतस्मिन्नहनि एभिर्भुज्येर्भवद्भया देयं पयस्याख्य-
 माज्याख्यं च तदेता गावः एताश्चापः

देवीः दानादिगुणयुक्ता आसां गवामुपकारं कुर्वन्त्यः पीपयन्त ।

वर्धयन्तीत्यर्थः । यदेतदशनपानयोग्यमाज्यसान्नाय्यलक्षणमाभिरद्विर्गोभिश्च
 युवयोरन्धो वर्धते उतो नो अस्य अप्यस्य हविषोऽस्मत्पूर्वो यजमानः
 पतिः । पूर्वं हि द्रव्यस्य यजमानः पतिर्भवति । तैतः स तद्विगम्यः
 समर्पयति देवतायै संस्क्रुतेतदिति । ततस्ते तस्य हविषः पतयो भवन्ति ।

- १ च. पुतालाशम्. २ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. वीहि शूर पुरो; च. वीहि
 १५ पुरो शूर. ३ क. ख. ग. घ. ज. घ. ट. पुषेहाशम्. ४ क. ख. घ. ट. ठ. ड.
 'वाक्यसंयो'. ५ घ. झ. ट. ठ. ड. 'नार्थः प्रतीयते. ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
 'लोके कठिनद्रव्यस्य म'. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. मोदकादीनि । तस्या; ग.
 ज. मोदकानिति. ८ ग. च. ज. 'नार्थः । ४४ । उत. ९ ग. ज. 'स्वन्ध इति;
 घ. ट. 'स्वन्धः ० उस्त्रियाया. १० ठ. ड. उत अग्नि वां युव'. ११ क. ख. घ.
 झ. ट. ठ. ड. 'एतत्' नास्ति; च. यदेतदेत. १२ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
 १३ तद्वन्तां.

तानपेक्ष्य यजमानः पूर्व्यः पतिः । तदपेक्षयैव 'आविज' आहः । योऽ-
स्मत्तः पूर्व्यः पतिरस्य हविषः अपि स दन् भवति । दददित्यर्थः ।
तेनाप्येतद्भवन्तावेवोदित्यास्मान्प्रत्युत्सृष्टम् । एवमपि स दन्भवति । अपि
चयं यथाव्यादिष्टमेव तेन पूर्वेण हविष्यतिना भवद्भ्यामेतद्व्यः । तौ
युवामस्य हविषः पयस्याह्यस्य उस्त्रियायाः पयसा निष्पन्नस्य नातिकठि-
नस्याशनयोग्यस्य स्वं भागमस्माभिर्दीयमानं वीतम् । अश्रीतं युवामि-
त्यर्थः । पितृतं च यदेतदाह्यस्य स्वं भागमुपस्तरणाभिधारणसंबद्धम् ।
एवमस्मिन् मन्त्रे 'उस्त्रियायाः पयसा निष्प-
न्नस्य' इति श्रूयमाणे पयस्याग्रे प्रतीयते ।
इति निर्वचनस्य तयोराज्यं पेयं तत् 'पातम्' इत्यनेन संब-
कारणम् । पारिशेष्यात् 'वीतम्' इत्यस्य शब्दस्य
पयस्यया सह संबन्धः । सा च नातिकठिना
नातिद्रवाशनयोग्या । तस्मात् 'वीतम्' इत्येष शब्दोऽशनार्थ इत्युप-
पद्यते । लोकेऽपि हि नातिकठिने नातिद्रवेऽशनशब्दः प्रसिद्धोऽस्माति पायस-
मिति । निगमप्रसक्तमुच्यते । 'उस्त्रियेति गोनाम' । 'उस्त्राविजो' हि
तस्याः सकाशाद्धीरादयो 'भोगाः' भवन्ति ।

'क्राणाः' (४१) इत्यनवगतम् । 'कुर्वाणाः' इत्यर्थप्रतीतिः ।
'गोभिः क्राणा अनूपत' इति निगमः । 'गोभिः कुर्वाणा अस्तोपत'
इति निर्वचनम् । त्वामिन्द्रेति शेषः । 'त्वामिन्द्र मतिभिः सुते सुनीयासो'
वसुयवः । गोभिः क्राणा अनूपत' ॥ हे इन्द्र त्वामस्मिन्तोमे मतिभिः सुते
मेधाभिभिरभिषुते सोमे । य एव हि मतिमन्तस्त
एव हि सोममभिषोतुं शक्नुवन्ति नेतरे मतिहीनाः ।
सुनीयासः । सुपु ये स्तोतुं शक्नुवन्ति ते सुनीयाः ।
वसुयवो वैसुकामाः । आह । किमेते कुर्वन्ति

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'अपि' नास्ति; च. अपि. २ घ. ट. वृ. १५.
भज्जवति; ॥. दन् भज्जवति; ठ. ड. दज्जवति. ३ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. हविषः-
प. ४ ठ. ड. पयसा. ५ घ. ङ. ट. ठ. ड. शतं पिब. ६ ग. च. ज. उस्त्रि-
यापय. ७ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'द्रवेऽश्रुतिशब्द'; च. द्रवेऽशनशब्द
आति. ८ क. ख. घ. ट. ड. उत्सावि. ९ ग. च. ज. शेषः । ४५ । त्वा. १०
क. ख. ग. ज. घ. ट. ठ. ड. मतिभिः मतिमद्भिः सुते; च. मतिभिः सुते
मतिमद्भिः. ११ च. धनकामाः.

मतिभिः सुते मेधाविभिरभिपुते सोमे । उच्यते । गोभिर्वाग्भिः स्तुति-
लक्षणाभिः अस्मिन्नभिपुते सोमे आभिमुख्येन कुर्वाणा अनूपत अंस्तो-
पत । स्तुवन्तीत्यर्थः । अभिपुतेषु सोमेषु किमन्यदाभिमुख्यकरणादिन्द्रस्य
गोभिः सुनीथाः स्तुवन्तः कुर्युः । तस्मात् 'क्राणाः' इत्येष शब्दः 'कुर्वाणाः'
इत्येवमुपपद्यते ।

- ‘वाशीभिः’ (४४) इत्येतदनवगतं पक्षेण चानेकार्थम् । ‘वाशीभिर-
श्मैमयीभिरिति वा वाग्भिरिति वा’ इति शब्दसमाधी । ‘वाश्यः’ एवा-
भिधेया ‘वाचो’ वा । ‘आ तू ऋषिर्हृदि रोरुपस्थे वाशीभिस्तक्षता-
श्मन्मयीभिः । परिष्वजत्वं दत्तं कस्याभिरुमे धुरौ प्रति वह्निं युनक्त (अ०
१० सं० १० । १०१ । १०) ॥ धुषस्य सोमपुत्रस्यैवामपम् । आसिञ्च
प्रक्षिपेत् हारितवर्णं सोमम् । क । द्रोणस्थे ।
वाशीभिरित्यस्य हुममयस्याधिपवणफलकद्वयस्योपरि । एवं ताव-
दध्वर्युक्तः । स हि सोममुपावहरति । अधुनेत-
रानभिषवकर्तृन् प्रवीति । यूयमप्यनेनाध्वर्युणोपावहतमेनं सोममधिपवण-
१५ फलकयोरुपरि वाशीभिः एताभिरश्ममयीभिः तक्षत कुट्टपत । अभिपुणुते-
त्यर्थः । ‘ग्रीवभिरभिपुण्वन्ति’ इति लुक् । अथवाऽयमन्योऽस्यार्थवर्ध-
स्यार्थः । हे उन्नेतः आसिञ्च प्रक्षारय तं हारित-
वर्णं सोममेनं फलशेन । क । द्रोणस्थे । द्रोण-
कलशस्योपरि । यूयमपि च हे होतार आसि-
२० ‘आसिञ्च’ इत्यस्या-
ध्वर्यविकल्पः । व्यापनमेनं सोमं वाशीभिः वाग्भिः स्तुति-लक्ष-
णाभिः तक्षत संस्तुयत । यदस्यापशियमपूतं
तत्स्तुतिभिः पुनीतेत्यभिप्रायः । अश्मन्मयीभिः व्यापनसमर्थान्भिरि-
त्यर्थः । यूयमपि च हे अध्वर्यवः पूतमेतमुद्रातृभिः सोमं परिष्वजत्वं ग्रहेषु

१ ग. ज. ‘उनेषु तेषु हो’ । २ ग. ज. ‘श्मन्मयी’; च. ‘श्मन्मयी’ ग. ३
५ ग. वा । ४ आ. ५ ग. ज. दारिणी द्रोणस्थे इति । धुष; च. दारिणी
द्रोणि । धुष; च. द. दारि० युनक्त. ५ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘इयं’
नास्ति. ६ क. ख. ग. ज. ठ. ड. ‘श्मन्मयी’. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
संस्तुयत; ग. अ. संस्तुयत कुट्टपत; च. ‘स्त्व’ कुट्टपत संस्तुयत. ८ घ. ट. ठ.
द्रावभिपुण्व; ड. द्रावभिः पुण्व; च. द्रावभिः पुनर् भिरभि. ९ क. ख. ग. ज.
२० ‘स्वार्थवर्धः’ १० क. ख. ग. ज. ‘च’ नास्ति.

स्यालीपु च कक्ष्याभिः अङ्गुलीभिः । अङ्गुलीभिरेव हि पात्रस्थः सोमो
गृह्यते । यदेव चेदं ग्रहणमेव एव तस्य परिष्वङ्गः । परिष्वङ्ग्य च गृहीत्वैनं
सोममुभे हविर्धानधुरौ प्रति वह्निमिव वोढारमिवानङ्गाहं युनक्त । एतं सोमं
सादयतेत्यर्थः । स हि सोमो हविर्धानधुरोरवस्तात्खरे सादयते । एतस्मादेव
चानुद्भूयोजनपैदेशसामान्याद्बहिमिव युनक्तेति ह्यसोपमैरुपपद्यते । अत्र
'वाशीभिस्तक्षत' इति तक्षणयोगाददमम्यो वाद्य एता प्रावाह्या इति
प्रथमस्यार्थस्योपपत्तिः । एतास्मिन्नर्थे 'आ तू पिञ्च' इत्यासेकशब्दो गौणः ।
न हि सोमांशुनामनभिपुतानामासेकोऽस्ति कठिर्नत्वात् । तस्मादेतस्मिन्नर्थे
प्रक्षेपणनात्रमेव सिद्ध्येत्यर्थः । अथवा 'आसिञ्च हरिर्मो द्रोक्ष्ये' इत्यतोऽनन्तरं
वाशीशब्दः श्रूयमाणो बाहूनामधेयत्वेनाप्युपपद्यत एव । सोमो हि द्रोण-
फलशस्योपर्यासिध्यमानो वाग्भिः स्तूयते । एवमर्थद्वयमभिप्रेत्योभयथा
भाष्यकारेणोक्तं वाशीभिरश्ममयीभिरिति वा वाग्भिरिति वा' इति ।

'अयमवीतरो हरिः' मर्कटः 'एतस्मादेव' इति हरित-
वर्णत्वाद्धारुह्यते । 'शिरीषकुसुमप्रह्वयाः केचिपिङ्गलकर्प्राभाः । वानरा'
इति श्रूयन्ते रामायणे ।

'विपुणस्य' (४५) इत्येतदनग्रगतम् । 'विपमस्य' इत्यवगमः ।
'न यातव इन्द्र जूजुर्वुर्नो न वन्दना शविष्ठ वेद्याभिः । स शर्धदयो
विपुणस्य जन्तोर्मा शिश्रदेवा अपि गुह्यतं नः' इति [अ० सं० ७ । २१ ।
५] ॥ वसिष्ठस्येयमार्यम् । त्रिष्टुप् । उन्नीयमानसूक्ते माध्यन्दिने सप्तमे
शस्थे [आश्व० श्रौ० ५ । ५] । हे भगवन्निन्द्र तथा कुरु यथा

नेनमस्मद्यज्ञं यातवो यातपितारो यज्ञविप्रकर्तारः
विपुणस्येत्यस्य प्र- केचिदपि जूजुवुः । आगच्छेयुरित्यर्थः । किञ्च ।
योगोऽर्थश्च हे शविष्ठ बलिष्ठ य एते वन्दनाः वन्दितारः
छाहगौडादयो जानपदीभिर्वेद्याभिः वेदितव्याभि-

- १ ग. ज. 'अङ्गुलीभिः' नास्ति; च. 'क्ष्याभिर्हङ्गुलीभिरेव' अङ्गुलीभिः । अ. ६५
२ ट. सिरे स्थण्डिले; ठ. ड. स्थण्डिले. ३ क. ख. घ. ङ. ठ. ड. 'जनदेशं
प्रति सामा'; ट. 'जनदेशं प्रति सामा' प्रदे. ४ क. ख. घ. ङ. ठ. ड.
'धममुप'. ५ घ. ठ. कठिणत्वात्; ट. कठिणत्वात् न. ६ क. ख. घ. ङ. ठ. ड.
ठ. ड. आसिञ्चत; च. आसिञ्च हं त. ७ ग. घ. ज. 'प्रभा इति वानराः स्तू-
यन्ते रामा' (च. स्तूयं श्रु). ८ घ. ट. श्रूयन्ते० रामायणे; ठ. ड. श्रूयन्ते इति
रामायणे. ९ ग. 'ममः । ४७ । न या'. १० ग. ज. 'वुर्न इति । वसि; 'प.
ट. जूजुवुर्नो नः. ११ क. ख. घ. ङ. ठ. ड. नेमस्म' ; च. 'नेनमस्म' नेम. १२
४५

वालिशस्यैतदेव नाम । वालिशो मूर्खः । सहि बाल इव शैते प्रमादित्वाद्धर्म-
कार्येषु । एतस्यापि पर्येष्यो निगमः । असमानजातीयो हि पुरुषस्य भगि-
न्याख्यो भ्राता । सा हि स्त्रीत्वादेवातुल्यजातीयैव पुरुषस्य भवति । जामि-
रित्येतस्मिञ्शब्दे 'मिः' इत्येष 'उपजनः' । यदेवोक्तं भवति 'जा'
इति तदेव जामीति । उभयथापि मन्त्रेषु प्रयोगो द्रष्टव्यः । अन्यमिच्छस्व
सुभगे पतिं मदिति व्याख्यातम् । निगदेसिद्धमेवैतदित्यर्थः । अधर्वेतानि
पदान्यधस्तात्तत्र तत्र व्याख्यातानि । तद्यथा । 'अन्यो नानेयः' [नि०
१ । ६] इत्येवमाहुपेक्षितव्यम् ।

'पिता' इत्यन्वगतम् । 'पाता वा पालयिता वा' इत्यवगमः

१० । २० ।

द्यौर्मै पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मै माता पृथिवी महीयम् ।
उत्तानयोश्चम्बो ३ योनिर्नन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् (ऋ०
सं० १ । १६४ । ३३) ॥ द्यौर्मै पिता पाता वा पालयिता वा
जनयिता नाभिरत्र बन्धुर्मै माता पृथिवी महीतीयं बन्धुः संबन्धना-
भाभिः संनहनाभाभ्यां संनद्धा गर्भा जायन्त इत्याहुरेतस्मादेव
ज्ञातीन् सनाभय इत्याचक्षते संबन्धव इति च ज्ञातिः संज्ञानात् ।
उत्तानयोश्चम्बो ३ योनिर्नन्तः । उत्तान उत्ततान ऊर्ध्वतानो
वा तत्र पिता दुहितुर्गर्भं दधाति पर्जन्यः पृथिव्याः शंयुः सुख्युः ।
अथा नः शंयोररपो दधात (ऋ० सं० १० । १५ । ४) । रपो
रिममिति पापनामनी भवतः शमनं च रोगाणां यावनं च भया-
नामथापि शंयुर्वीहस्पत्य उच्यते । तच्छंयोराट्टणीमहे गातुं यज्ञाय
गातुं यज्ञपतय इत्यपि निगमो भवति । गमनं यज्ञाय गमनं यज्ञ-
पतये ॥ २१ ॥

२५

इति चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

द्यौर्मै पितेति । अस्म्यध्याये दीर्घतमस आर्गम् । तृतीयसवने वैश्वदेवे

१ क. स. घ. झ. ट. ठ. ड. मन्त्रे; ख. मन्त्रेषु. २ ख. निगमदेसिद्धं द. ३
क. ख. ४ (२०); ग. इतोऽप्यशो नास्ति. ४ ठ. ड. २. ५ क. ख. छ. त.
द. सुख्युः. ६ क. ख. ५ (२१); छ. त. २२; द. ६. ७ क. घ. प. ' इति०
पादः' नास्ति; छ. इति तृती; त. चतुर्थाध्याये तृती; द. इति तैत्तिरीयस्य चतु.
२२ क. ख. घ. झ. ट. 'तितेतीयमस्या'. १ ख. 'तीये छ'.

शस्यते [ऐ० आ० ५ । १ । २] । यौमे पिता । येषं यौरुपरिस्थित-
लोकाख्या एयैव मम पिता । ' यौरहम् ' [आश्व० गृ० १ । ७ । ६]
इत्येवं वैवाहिके कर्मणि बुलोकभावेन पित्रात्मानमभिसंपाद्यमानं दृष्ट्वैवमाह

मन्त्रदक् ' यौमे पिता ' इति । जनिता जन-
' पिता ' इत्यस्य पिता । उत्पादयितेत्यर्थः । आह । कथम् । उच्यते ।
निगमः नाभिरत्र । नहनमेष नाभिः । अत्र एतास्मिन् बुल-
क्षणे पितर्युदकदानेनानुपहीतारं सति संतानोत्प-

त्त्यनुग्रहक्रमेणैव शुक्रात्मनोत्पत्तिरुपपद्यत इत्येवमभिसमीक्ष्योक्तं ' यौमे पिता
जनिता नाभिरत्र ' इति । बन्धुर्मे । अङ्गसंबन्धकारणाद्वन्धुः । मे माता
पृथिवी मही । ' पृथिवी त्वम् ' [आश्व० गृ० १ । ७ । ६] इति मातु-
र्मन्त्रेण पृथिवीत्वं संपाद्यमानं दृष्ट्वैवमाह ' बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम् '
इति । उदकं हि बुलोकात्पतितं पार्थिवेन धातुना संपृक्तमोषधिभावमा-
गम्य शरीरभावेनावतिष्ठत इत्येतदेपेक्ष्य सर्वभूतानां द्यावापृथिव्यौ मातापि-

तराबुध्यते तत्र तत्र । तद्यथा । ' यदन्तरा पितरं
द्यावापृथिव्योर्मा- मातरं च ' [ऋ० सं० १० । ८८ । १५] ।
तापितृभावस्योपपत्तिः इत्येवमादि । तत्कृतस्य ह्युपकारस्याभावे सती-

तरौ मातापितरावकिञ्चित्कारावेव भवतः । तस्मा-
दुपपद्यते द्यावापृथिव्योर्मातापितृभावः । आह । किमेते द्यावापृथिव्याव-
न्यकिञ्चिदनपेक्ष्यैव सर्वभूतानां मातापितृभावं विभूत उतान्यदपि किञ्चिद-
पेक्षते इति । उच्यते । अनयोः चैश्वोः द्यावापृथिव्योः उत्तानयोः । ऊर्ध्व-

मेव ह्यनयोरन्तरा च प्रविधारणीयैः ' अन्तः ' प्राणस्तत इत्युत्ताने द्यावापृ-
थिव्यौ । ' प्राणेन हीमे वायुना सूत्रभूतेन विधृते

अयं मातापितृभा- तिष्ठतः ' । एतयोर्द्यावापृथिव्योरुत्तानयोर् एषोऽ-
न्योऽन्तारिक्षायतः न्तरिक्षाख्योऽन्तर्मध्ये योनिरत्रैतास्मिन्नवकाशदानो-
पकारत्वे प्रवृत्ते सति पिता पर्जन्यो बुलोकाख्यः ।

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. स्थिता बुलोका; च. स्थितलो ता पु. २ ग.
घ. ज. 'संपद्य'. ३ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. बुलोकलक्ष; च. बुलसं लोक.
४ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'महीयमिति मातु'; च. 'मही पृथिवी त्व' घ.
५ च. इति तत्र घ. ६ च. 'दृष्टव्येते. ७ च. 'नयोऽव-द्यावा' श्वोः. ८ क. ख.
घ. ट. ठ. ड. ह्यनयो; च. ह्यनयो ह्य. ९ क. ख. घ. ट. ठ. ड. पतिपा.
१० च. 'नीयोः अन्तः. ११ क. ख. ग. ज. 'पकारस्य; च. 'पकारस्ये घ'.

शौरेय हि रसान् प्राजयति तस्मात्सैवात्र पर्जन्यशब्देन भाष्यकारेणोक्ता ।
 दुहितुः पृथिव्या उपरि गर्भे सर्वभूतगर्भोत्पत्तिहेतुभूतोदकम् आधात् आद-
 धाति । ददातीत्यर्थः । अत्र पृथिव्येव दुहितृशब्देनोक्ता । सा हि शुलोका-
 दूरे निहिता । दोग्धेर्वा । सा हि दोग्धि शुलोकमिति दुहिता । सा हि शुलो-
 कात्पतितमुदकमुपजीवत्येव । यौवापृथिवीभ्यामन्तरिक्षेण चावकाशदाने-
 नानुगृह्यमाणान्येतान्यस्मदादीनि भूतान्युत्पद्यन्त इत्येतदनेन मन्त्रेण मन्त्र-
 दशा ह्यप्यपितम् । अत्र मातृसंबन्धात्पितृशब्दः पितर्येवेत्युपपत्तिः । पिता
 माता चायम् । एतदाशासनं मन्येते ।

‘ शंयोः ’ [४८] इत्यनवगतं पञ्चम्यन्तं वा पष्ठम्यन्तं वा सैत् । न

चैवं यजमानोऽर्धासस्माद्बृहस्पतिपुत्रादर्थमपेक्षते
 अस्मिन्मन्त्रे भूमेते पितरः किञ्चिदर्थं विद्ध्युरिति । किं कार-
 शंयोरित्यस्य पञ्चम्यर्थे णम् । स्वत एव हि ते विधातुं समर्थाः । न च
 पष्ठम्यर्थे वा न कायुप- बृहस्पतिपुत्रस्य शंयोः किञ्चिदेभिः पितृभिर्विधी-
 पत्तिः येतेति । एवं पञ्चम्यर्थसंभवं पष्ठम्यर्थसंभवं च

पश्यन् भाष्यकारः शंयोरित्येकं पदं द्विती-
 यान्ते द्वे पदे चकार शमिति योरिति च । शमित्यस्य ‘ शमनम् ’

- १ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. शुलोकं दोग्धीति. २ क. ख. ग. ज. घ. ट.
 ठ. ड. एवं यावा° ३ क. ख. घ. झ. ट. मातृपितृसंबन्. ४ ग. ज. मन्येते ।
 पञ्च°; च. मन्येते १ पञ्च° ॥ १ शंयोरित्यनवगतं; ठ. ड. मन्येते । अथा नः शंयो-
 २० ररपो दधातेति । शंयोः. ५ ठ. ड. “गतं यदिपदः पितर इति सर्वा क्क पठ्यते
 तदनन्तरं शंयोरिति पञ्च”. ६ घ. झ. ट. ठ. ड. ‘ वा ’ नारित. ७ घ. ट. ठ.
 ड. सन्; च. सन्° तु. ८ च. यजमानेनार्थं (प्यं!) नाप्येतस्माद् बृहस्पतिपुत्र-
 कस्य शंयोर्भूमेते पितरः किञ्चिदर्थं विद्ध्युरिति किं कारणं । स्वत एव हि ते विधातुं
 समर्थाः । पष्ठम्यर्थस्य तस्य किञ्चिदेभिः पितृभिर्विधीयेतेति (ट. सद्रशुपुस्तकानुरोधेनायं
 पाठः परिवर्तितः). ९ ग. ज. “सतिपुत्रीकयोर्भूमेते पितरः किञ्चिदर्थं विद्ध्यु-
 रिति किं कारणे । स्वत एव हि ते विधातुं समर्थास्ताप्यमर्थो तस्य किञ्चिदेभिः
 पितृभिर्विधीयेतेति. १० क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘ भूमेते.....दध्यु-
 रिति ’ नास्ति. ११ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. शंयोर्मम पितरः किञ्चि°. १२ ग.
 २१ ज. ‘ पष्ठम्यर्थसंभवं ’ नास्ति.

इत्यर्थं निराह योरित्यस्य 'यावनम्' तस्मात् 'शं योः' इति । एवं द्वितीयान्तेन विपरिणामं कृत्यार्थं इति द्वे पदे निरोह तथाहि वाक्येन संबध्यत इति । कस्य शमनं कस्य वा यावनमिति पुनः पर्यनुयोगे प्राप्ते 'रोगाणां भयानां च' इत्यध्याजहार भाष्यकारः । रोगशमनं च दधात भययावनं च । शान्तरोगाश्च यथा स्याम प्रहीणसर्वभयाश्च तथा कुरुतेत्यभिप्रायः । किमेतौवदेव । नेत्युच्यते । यदपि चान्यत्किंचित् अरपः अपापं तदपि चास्मभ्यमेव दधात । दत्तेत्यर्थः । एवमेतत्पदमेकमर्थसंभवाद्धिधा प्रविभज्य भाष्यकारेण निरुक्तमियमप्यर्थसंभवे सति निर्वचन-प्राप्तिरस्तीत्यर्थस्य स्थापनाय । ब्राह्मणेऽपि चेयं निर्वचनप्राप्तिरस्येव । तद्यथोद्गीथशब्दे । 'प्राण एवोत्प्राणेन क्षुत्तिष्ठति वागीर्वाचो ह गिर इत्यो-चक्षतेऽन्नं धमने हीद२ सर्वं स्थितम्' [छा० उ० १ । ३ । ६] इत्येवमादि । तस्मादुपपद्यते प्रथमान्तमेवं सत् । कस्माद्वितीयान्तत्वेन विपरिणम्यते शं युमित्येवमिति । न निरुच्यते । तथापि हि न काश्चि-दर्थ उपपद्यते तस्मादयुक्तमिति । 'रपो रिप्रम्' इत्यत्र रिप्रशब्दस्य रपःशब्देनार्थसामान्यात्तत्त्वमुक्तम् । 'यदेवास्य रिप्रमेभ्यं तच्छुष्यति' इति ह विज्ञायते ।

'अथापि शंयुर्बाहस्पत्य उच्यते' । अपि शं योरित्यनेन पदद्वयेन शमनं यावने रोगभययोरुच्यते द्वेधा प्रविभक्तेन । अपि यथावस्थितेनैवा-विभक्तेन बार्हस्पत्यो बृहस्पतेः पुत्र उच्यते । बार्हस्पत्यार्थे एकं तस्याप्येतदेव नाम्नेयपिशब्दः । 'तच्छंयोरारु-णीमहे गातुं यज्ञाय' [तै० ब्रा० ३ । ५ । ११ ॥ मैत्रा० सं० ४ । १३ । १०] ॥ इति । इयं शकरी । शंयोरेव बृहस्पतिपुत्रस्यार्थम् । शंयोर्वाके विनि-

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'इति' नास्ति; च. 'शमनामर्थ' म. २ व. 'योरित्यस्य यावनमिति । एवं०० कृत्यार्थं निराह' नास्ति. ३ ग. च. रोगानां. ४ च. 'एतावदे.....त्यर्थः । एवं' नास्ति. ५ च. इति चक्षते अने हीदं० अने धं. ६ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'मेव सत्. ७ ग. ज. 'अस्य शं'; च. 'अस्य' शं० ते. ८ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'शयुमिति । एवमापि न निरुच्यते तथा'; च. 'शंयुमिति । एवमेति न निरुच्यते' अपि न निरुच्य. ९ ग. 'शब्दः । ५० । तच्छं०. १० प. ट. ठ. ड. शंयुवाके; ङ. शंयुवाक्ये. २५ २१

युक्ता । शंयोरात्मानमभिसंपाद्याथवा-शंयोः सकाशादिति केचिन्मन्यन्ते ।
 अनेन कर्मणा शंयोर्वाकाख्येन तत्तदाभिमुख्येन वृणीमहे । किं
 पुनस्तत् । गातुं यज्ञाय । गमनमस्मै यज्ञाय देवान्प्रति ।
 गमनं चास्मै यज्ञपतये देवान्प्रति । किंच । देवी स्वास्तिरस्तु नः । देवानुप्र-
 हादस्माकं स्वस्तिरस्तु । मा नो देवाः कांचिदापदमुत्पादयन्त्वित्यभिप्रायः ।
 स्वस्तिर्मानुषेभ्यः । मनुष्येभ्योऽपि सकाशान्मौ नः कांचिदापदेस्तु । ऊर्ध्वं
 जिगातु भेषजम् । गच्छयेत्तद्वेषजं भयसादयितुं कर्म । यावज्जीवमनव-
 ण्छिन्नमविगुणं चोर्ध्वगमनयोग्यमस्माकमस्त्वित्यभिप्रायः । किंच । शं नो
 अस्तु । शं सुखं नोऽस्माकं द्विपदे मनुष्यादिकाय

१० अस्मिन्मन्त्रे शंयु-
 र्बृहस्पतिपुत्र इति
 विशेषलिङ्गं नास्ति ।
 तथापि शंयुरित्यत्रैकं
 पदम्

चतुष्पदे गवादिकाय च । शंयुर्बृहस्पतिपुत्र इति
 नौऽस्मिन्मन्त्रे विशेषलिङ्गमस्ति । तदन्यस्माच्छु-
 तिलिङ्गान्कुतश्चिदुपलभ्यमाद्यानाद्वा । एतावदेव
 त्वेतस्मान्मन्त्रास्तिद्धमेकमेवेदं पदमविभक्तं निरु-
 प्यते पञ्चम्यन्तं वा षष्ठम्यन्तं वा न यथा पूर्वस्मि-
 न्मन्त्रेऽर्थासंभवाच्छंयुशब्दो विभक्त इति ॥२१॥

१५

इति नवमस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ।

चतुर्थः पादः ।

२०

अदितिरदीना देवमाता ॥ २२ ॥

‘ अदितिः ’ (४०.) इत्यनवगतम् । ‘ अदीना ’ इत्ययममः ।
 ‘ देवमाता ’ अभिधेयैतिहायिकरणेण । निरुक्तक्षेत्रेण पुनरप्येतद्व्यामृति-
 यवयमाणायां रक्षित्वेनमादीनां श्रूयन्त एतावन्नेतिशब्देनोच्यन्ते ॥२२॥

- १ म. ज. मातः का. २ ख. ‘ पद्मास्तु. ३ क. ख. प. झ ट. ठ. ड.
 ४५ ‘ इति एतन्मन्त्रः, ख. ‘ इति नौऽस्मिन् ’ एत. ४ क. ख. प. झ. ट. ‘ न्यन्त्रायां. ५ क.
 ख. ६ (२१), म. २६२२३; ठ. ड. विभक्त इति इति निरुक्तटीकायां चतुर्थाध्याये
 एकविंशतिः सप्तः इति न्यन्त्रा; इत्येवमहो नास्ति. ६ प. झ. ट. ‘ इति ’
 मा. ७ क. ख. १ (२२), छ. त. २३; द. १. ८ ट. ड. अदितिरदीना
 देवमातेति अदिति. ९ क. ख. प. झ. ट. ठ. ड. ‘ दीना पदानि भू. १० क.
 ॥ १ (२२); म. २३ । ५१; ठ. ड. इति निरुक्त (ठ. निरुक्त) टीकायां
 ११ चतुर्थाध्याये एकविंशतिः सप्तः, इत्येवमहो नास्ति.

अदितिर्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।
विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् [ऋ०
सं० १ । ८९ । १०] ॥ इत्यदिदेवैर्भूतिमाचष्ट एनान्यदीनानीति
वा । यमेरिरे भृगवः । एरिर इतीतिरुपसृष्टोऽभ्यस्तः ॥ २३ ॥

५

अदितिर्यौरदितिरन्तरिक्षमिति । राहुगणस्य गोतमस्येयमार्थम् । तृतीय-
सवने सर्वस्तोमेणैव वैश्वदेवशस्त्रस्य परिधानो-
अदितिर्यौरित्यस्या येषा [आश्व० श्रौ० ५ । १८] । अदितिरिव
आच ऐतिहासिकपक्षे- देवमाता यौः । अदितिरिव चान्तरिक्षम् । अदि-
णार्थः तिरिव माता सर्वभूतनिर्मात्री । स एव च १०

पिता षाळकः । स एव च पुत्रः । सैव हि
परितुष्टा सती स्तोतारं पुरुषो बहुनः पापान्नायते । अथवा सैव निष्टु-
णाति सर्वभूतानां यन्निर्पतन्त्यम् । दातव्यमिष्यः । येऽपि चैते विश्वे देवाः
सर्वे देवा एतेऽप्यदितिरिव । पञ्च जनाः गन्धर्वादयः अदितिरिव । सर्वथापि
किं बहुना यावदेतन्निश्चिज्जातं च जनित्वं च अनिष्यमाणं च सर्वमप्येतद- १५
दितिः । एवमेनेन मन्त्रेण मन्त्रदग् 'अदितेर्विभूतिमाचष्टे' । देवमातुस्तदेत-

तस्यैव नैरुक्त- चरत्र वक्ष्यामः [निरु० ७ । ५] । एवमे-
पक्षेणार्थः तिहासिकपक्षेण । नैरुक्तपक्षेण पुनः 'एतानि'
युलोकादीनि सर्वाणि 'अदीनानि' अनुपक्षी- २०

णानीति योज्यं न दोषा क्षयोऽस्तीति ।

'एरिरे' (५०) इत्यनवगतम् । 'आ ईरिरे' इत्यवर्गमः ।
'यमेरिरे भृगवो विश्वेदेवसं नामा पृथिव्या भुवनेत्य मग्मना । अग्निं तं

१ क. ख. २ (२२) ; छ. त. २४ ; द. १. २ क. ख. घ. ङ. ट. 'दी०
दिति० जनित्वं । राहु० ; ठ. ड. 'वीरिपति । राहु०. २ ठ. ड. राहुगण'. ४ ग. २५
घ. ज. सर्वस्तोमे'. ५ क. ख. घ. ङ. ट. 'देवस्य श'. ६ ग. ज. 'स एव च
पिता षाळकः' नास्ति; घ. 'निर्मात्री । 'स एव च पुत्रः' ॥ एव च पिता षाळकः.
७ घ. सदे (सि) व हि पु (परितु)ष्टा'. ८ क. ख. यधिवर्तन्त्यं; ग. यन्निर्पतन्त्यं;
घ. ट. ठ. ड. च. निवर्तन्त्यं. ९ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'दितिरिव । एव';
घ. 'दितिरिवमेने' वेर. १० क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'एतत्' नास्ति; घ.
तदेतत्'. ११ ग. 'ममः । ५२ । यमे'. १२ ग. ज. भृगवो विश्वेदेवस्यमिति ।
दीप'; घ. ट. भृगवो न रामानि.

गीर्भिर्हिनुहि स्व आ दमे य एको वस्वो वरुणो न राजति '[ऋ० सं०

१ । १४३ । ४] ॥ दीर्घतमस इयमार्पम् । जगती । प्रातरनुवांका-
श्विनयोः [आश्व० श्रौ० ४ । १३] आग्निमारुते च शस्यते [आश्व०

श्रौ० ५ । २०] । यमग्निमाभिमुख्येन ईरितवन्तः

५ ईरिरे इत्यस्य प्रेरितवन्त आत्माभिप्रेतार्थसिद्धये भृगवः विश्ववे-
निगमोऽर्थश्च दसं सर्ववेदसं सर्वस्य वेत्तारं सर्वधनं वा । क पुनरे-

रिरे । नामा पृथिव्याः । नाभाववद्विप्रतमुत्तरवेदिम-

प्यगतायाम् । पृथिव्यां वेद्या उपरि । केन पुनरिरे । भुवनस्य उदकस्य मग्मना

मननीयेन वीर्येणाग्नेन हविलक्षणेन । किं तस्य । तमग्निहे यजमान त्वमपि

१० गीर्भिर्वाग्भिः स्तुतिलक्षणाभिराभिमुख्येन स्थित्वा हिनुहि प्रेरय तस्मिन्स्त-

स्मिन्कर्मणि वर्तमानम् । अग्निहोत्रादौ यथा भृगव ईरितयन्तस्तथा स्वे

दमे स्व एव गृहे । मा कस्यचिदार्थिज्येऽवस्थित इत्यभिप्रायः । किलक्षणं

पुनरग्निमाहिनुहि । य एको वस्वः । एक एव यो वसुनो धनस्य दाता वरुणो

न वरुण इव । यथा वरुणः समुद्रान्तर्गतानां धनानामीष्ट एवं यः सर्वस्यैव

१५ धनस्य राजति । ईष्ट इत्यर्थः । राजतिरेभ्यर्ककर्मसु पठितः 'क्षियति

राजति' [निघ० २ । २१] इति । 'परि इतीतिः' अयं धातुर्गति-

कर्मा । 'ईतै अयति' इति हि गतिकर्मसु पठितम् [निघ० २ । १४] ।

स पुनरयमाडोपसर्गेण 'उपसृष्टोऽभ्यस्तः' । पुनः पुनरारितवन्त इत्यर्थः ।

'जमुनिः' (५१) इत्यनवगतम् । 'जस्तम्' इत्यवगमः ॥ २३ ॥

२०

उत स्मेनं वस्त्रमयि न तापुमनुक्रोशन्ति क्षितयो भरेपु । नीचा-

यमानं जमुनिं न ज्येनं श्रवश्चाच्छा पशुमघं युयम् (ऋ० सं०

४ । ३८ । ५) ॥ अपि स्मेनं वस्त्रमयिमिव वस्त्रमायिनं वस्त्रं

वस्तेस्तप्युरिति स्तेननाम संस्त्यानमस्मिन्पापकमिति नैरुक्तास्तस्य-

२५ तेर्वा स्यादनुक्रोशन्ति क्षितयः संग्रामेषु भर इति संग्रामनाम भर-

तेर्वा हरतेर्वा नीचायमानं नीचैरयमानं नीचैर्निचितं भवत्युच्चैर-

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'वन्तः । स्थापितवन्त इति यावत् । आत्मा';

घ. 'वन्त ~ आत्मा' स्थापितवन्त इति यावत्. २ ग. ज. पृथिव्याः. ३ क. ख. घ.

ङ. ट. ठ. ड. 'म्यस्तभ्य; घ. म्यस्तः' । पु' घ. ४ क. ख. 'त्यर्थः । २ (२३);

ठ. ड. 'त्यर्थः । इति निरुक्तटीकायां चतुर्थाध्याये त्रयोविंशतिः खण्डः । २३ ।

२१ उत स्मेनं; ग. वर्जमितोऽप्यत्रैव खण्डप्रमातिः, ५ ग. २३; इतरेष्वहो नास्ति.

चितं भवति जस्तमिव श्येनं श्येनः शंसनीयं गच्छति । श्व-
आच्छां पशुमच्च यूथम् ॥ श्वश्चापि पशुमच्च यूथं प्रशंसां च यूथं
च धनं च यूथं चेति वा यूथं यौतेः समायुतं भवति । इन्धान
एनं जरते स्वाधीः । गृणार्ति । मन्दी मदन्तेः स्तुतिकर्मणः । प्र
मन्दिने पितुमर्चता वचः । प्रार्चत मन्दिने पितुमर्चो गौर्व्या- ५
ख्यातः ॥ २४ ॥

उत स्मैर्न वस्त्रमधिमिति निगमः । वामदेवस्थेर्मामम् । त्रिष्टुप् ।
दधिक्राव्ये सूक्ते । दधिक्रावा चेन्द्र एव वायुर्वा मध्यस्थानत्वात् । उत १०
स्मैर्नम् अथेनमिन्द्रम् अनुक्रोशन्ति आभिमुख्येन कन्दन्ति आह्वयन्ति क्षितयो
मनुष्याः । क । भरेषु संग्रामेषु । कथं पुनरभिक्र-
जमुरिरित्यस्य न्दन्ति । वस्त्रमधिनं यस्त्रापहर्तारमिव तामुम् ।
यथा केचिज्जनाः कंचिद्वस्त्रापहर्तारं तामुं दृष्ट्वा
कंचिदन्वमात्मनस्त्राणार्थमभिक्रन्देयुरेवमेतमिन्द्रमभिक्रन्दन्ति संग्रामेषु परैर- १५
म्यर्चमानास्त्राणार्थमात्मनः । किंच । अपि चैनं नीचायमानं नीचैर्गच्छन्तं
जमुरिं न जमुरिमिव श्येनं जस्तमिव वद्धं स्थापुतन्तुना । य एष पौशिक इति
प्रसिद्धो राज्ञाम् । स हि वद्धत्वादुत्पतितुमत्यर्थं न शक्नोति नीचैरेव गच्छति
गत्वा च शशकादीनि हिनस्ति सत्त्वानि । स यथा जनैरभिक्रन्द्यते तथा
चैनमभिक्रन्दन्ति । आह । कमर्थमभिसंधायेति । उच्यते । श्वश्चाभिसंधाय । २०
कथं नाम श्रूयेमहि प्रज्ञस्येमहि जितमेभिरित्येवमर्थमभिसंधाय । पशुमच्च
यूथम् । अनेकपशुजातिसंयुक्तं पशुयूथमभिसंधायैतदस्माकं स्यादित्येवमभि-
क्रन्दन्त्याख्येय समस्तार्थः ।

अथैकपदं निरुक्तम् । ' वल्लं वस्तेः ' आच्छादनार्थस्य [धा० २ ।
१३] । तद्वयाच्छाद्यते । ' तामुरिति ' एतत् ' स्तेननाम ' । ' संस्त्यानं ' २५

१ क. ख. ३ [२४] ; छ. त. २५ ; द. २. २ घ. ट. स्मैर्नमिति निगं ; ठ.
उ. स्मैर्नमिति । वामदे०. ३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'इयं' नास्ति. ४ क. ख.
घ. ट. ठ. ड. वस्त्रमधिनं वस्त्रं ; ग. ज. वस्त्रमधिनं वस्त्राय ; च. 'न्दन्ति ।
पशु' वस्त्रमधिनं न. ५ क. ख. घ. ट. ठ. ड. चैनं तामुं नीचा ; च. चैनं ' नीचा'
तामुं. ६ क. ख. घ. ज. घ. झ. ट. ठ. ड. याजिकः. ७ ट. छ. ' राजा ' नास्ति.
८ ग. घ. ज. 'संधाये'. ९ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'प्रियेतव' ; च. 'रित्ये-
यं' त.

हिं संहतम् 'अस्मिन् पापकं' भवति 'इति' एवं 'नैरुक्ताः' मन्यन्ते ।
 'तत्पतेर्वा स्यात्' क्षयार्थस्य [धा० ४ । १०६] उपक्षीणो ह्यसौ
 भयत्यधार्मिकत्वात् । परलोकमनपेक्ष्य कल्पयति कर्माणि । क्षितयो मनुष्याः ।
 'भर इति संप्रामनाम्' । धियन्तेऽस्मिन् योधाः । हरतेर्वा । हियन्ते हि
 तस्मिन् जीवितानि वसूनि च । 'श्येनः शंसनीयं गच्छति' ग्रीष्मत्वात् ।
 'यूथं यौतेः' । तद्धि 'समायुतं भवति' एकत्र मिश्रीभूतं स्त्रीपुरुषवा-
 छद्भैः पशुभिः । एवमिह नीचायमानं श्येनमित्यनेन संबन्धाज्जसुरैर्वद्ध
 इत्युपपद्यते । न ह्यबद्धः श्येनो नीचैरयते ।

'जरते' (५२) इत्यनवगतम् । धातोरस्वार्थे प्रवृत्तिरैवानवर्गमः ।

जरते इत्यस्य जातेर्धेदाः । तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान
 एनं जरते स्वाधीः' [ऋ० सं० १० । ४५ ।

१] इति ॥ वत्सप्रिर्नाम भालन्दनस्तस्यैयमार्यम् । सैख्यस्याग्नेरुपस्थाने
 विनियुक्ता [तै० सं० ४ । २ । २ । १ । मै० सं० २ । ७ । ९ ।

फाल्गा० श्रौ० १६ । ५ । ३१] । दिवस्परि दिवः । सुतोकादित्यर्थः ।
 प्रथममयमग्निर्जज्ञे आदित्यात्मना । द्वितीयमस्मत्परि अस्मदधि अस्मदो
 जायते पार्थिवार्त्तना । तृतीयमप्सु अन्तारिक्षलोके वैद्युतात्मना जायते ।
 'आपः' इति ह्यन्तारिक्षानामप्सु षष्ठितम् [निघ० १ । ३] । नृणां
 मनस्यधरिधतो नृमणाः । नृषु वा मनोऽस्य नृमणाः । योऽयमेक एव
 त्रिषु स्थानेषु जायते तमेव शुणमुक्तमग्निमिन्धानोऽजस्रं नित्यं जरते स्तौति
 यः स एव स्वाधीः शोभनधीः । सुप्रज्ञ इत्यर्थः । इन्धानो हि किमन्यत्र
 स्तुतेरन्यकुर्वीत् । तस्मात् 'जरते' इत्यस्य शब्दस्य गृणाल्यर्थे उपपद्यते ।

'मन्दिने' (५३) इत्यनवगतम् । 'मन्दतेः' स्तुत्यर्थस्य

- १ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'हि' नास्ति. २ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. योद्धारः; च. योधाः. ३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. 'वृक्षैरिवानव'; च. 'वृक्षै-
 र्वानव' रेवा. ४ ग. 'यमः'. ५ 'दिव'. ५ य. च. ज. 'स्परि प्रथममिति ।
 वत्स'; घ. ट. 'स्पष्टिति । वत्स'. ६ ग. च. ज. वत्सपीन'; ठ. ड. वत्सपि. ७
 दिवस्परि' नास्ति. ७ ग. मुख्य'; ज. मुख्यस्या'. ८ घ. झ. ट. ठ. ड. 'त्मना
 जातवेदाः'. ९ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'स्य स नृ'. १० क. ख. घ.
 झ. ट. ठ. ड. 'मन्यतुतेः कु'; च. 'मन्यत्रे (त) स्तुतेर (ः) न्यत्कु (कु)'.
 ३० ११ च. गृणार्थत्वेमुं उ.

[धा० १। १३] । मन्दनीयः स्तुतिमान् वेत्यर्थप्रतीतिः । 'मन्दति शंसति' इति स्तुतिकर्मसु पठितम् [निघ० ३। १४] । 'प्रमन्दिने

पितुमर्चता वचो यः कृष्णार्मा निरहन्नि-
मन्दिने इत्यस्य श्वना । अवस्यवो वृषणं वज्रदक्षिणं मरुत्वन्तं
सख्याय हवामहे' [ऋ० सं० १। १०१ । ५

१] ॥ कुत्सस्त्येयमार्पम् । छन्दोमेषु तृतीयेऽहनि मरुत्वतीये शस्त्रे निवि-
द्यानीयस्य सूक्तस्य प्रथमैषा [आश्व० श्रौ० ८। ७] । हे स्तोतारः प्रार्चत
प्रकर्षेणोच्चारयत पूजयत मन्दिने मन्दनीयाय स्तुत्याय स्तुतिमते वा
इन्द्राय पितुमत् अन्नसंयुक्तं वचः । य इन्द्रः किं करोति । कृष्णस्य
मेघस्य गर्भभूता अपो निरहन् नीचैरहन् । निरगमयदित्यर्थः । केन । १०
ऋजिश्चना । ऋजुरेवावसितो लक्ष्ये यः शंसति गच्छति वज्रस्तेन निरग-
मयत् । हे अवस्यवः । अवनमात्मनो रक्षणमिच्छन्तस्तर्पणं वा । योऽय-
मेवंप्रभाव इन्द्रस्तमिमं वृषणं वर्पितारं वज्रदक्षिणं वज्रेण हननायोत्साहव-
न्तमथवा वज्रदक्षिणं वज्रबाहुं मरुत्वन्तं मरुत्सहितं सख्याय
सखिभावाय हवामहे । तासु तासु क्रियास्यान्वह्यामै इत्यर्थः । एवमेतस्मिन् १५
मन्त्रे 'मन्दिने पितुमर्चतः प्रार्चत' इत्येतस्माद्वाक्यसंबन्धादिन्द्रविशेषणमे-
तदित्युपपद्यते ।

'गौः' (५४) इत्येतदनेकार्थत्वादिह समानातम् । यथा चैतदनेकार्थं
तथा पुरस्ताद्व्याख्यातम् [निरु० २। ५] । यत्तूक्तम् 'अथाप्यस्यैको रश्मिश्च
न्द्रमसं प्रति दीप्यते सोऽपि गौरित्युच्यते । अत्राह गोरमन्वतेति तदुपरिष्ठा- २०
द्व्याख्यास्यामः' [निरु० २। ६] इति तादिदमुच्यते । २४ ।

अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टरपीच्यम् । इत्या चन्द्रपंसो गृहे
(ऋ० सं० १। ८४ । १५) ॥ अत्रै ह गोः सम्पंसतादित्यर-
श्मयः 'स्वं नामापीच्यमपगतमपि चितमपिहितमन्तर्हितं वामुत्र चन्द्र- २५

१ ग. 'वितम्' । ५५ । ५. २ ग. पितुमर्चता वचो० हे । कुत्स०; घ. ट.
पितुम० हवामहे. ३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'नीयसुक्त' । ४ ग. ज. 'पूजयत'
नास्ति. ५ क. ख. घ. झ. सनति; ट. स्वनति० शव. ६ क. ख. 'हे' नास्ति;
घ. 'मयत्' । 'अव' हे. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'व्यामह इ' ८ घ.
'एतत्' नास्ति. ९ क. ख. २ (२४); ग. २५। ५६; इतोऽब्धौ नास्ति. १०
छ. अत्राह. ११ छ. त. द. क्षामा०. १२ क. ख. छ. त. द. घ. 'व्यमपचितम-
पगतमपि'.

यसो गृहे गातुर्व्याख्यातः । गातुं कृण्वन्नपसो जनायेत्यपि
 निगमो भवति । दंसयः कर्माणि दंसयन्त्येनानि । कुत्साय
 यन्मन्त्रद्वयं दंसय इत्यपि निगमो भवति । स तूताव नैनमश्नोत्यं-
 हतिः । स तूताव नैनमंहतिरश्नोत्यंहतिश्चांहश्चाहुश्च हन्तेनिरुद्धोप-
 धाद्विपरीतात् । बृहस्पते चयंस इत्पियारुम् । बृहस्पते
 यद्यातयसि देवपीयुं पीयैति हिंसाकर्मा वियुते द्यावापृ-
 थिव्यौ वियर्वनात् । समान्या वियुते दूरेअन्ते । समानं
 संमानमात्रं भवति मात्रा मानाद्वरं व्याख्यातमन्तोऽतते
 ऋधगिति पृथग्भावस्य प्रवचनं भवत्यथाप्युध्नोत्यर्थे दृश्यते ।
 १० ऋधगया ऋधगुताशमिष्ठाः । ऋधुवन्नयाक्षीर्ऋधुवन्नशमिष्ठा इति
 चास्या इति चास्येति चोदात्तं प्रथमादेशेऽनुदात्तमन्वादेशे तीव्रार्थत-
 रमुदात्तमल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम् । अस्या ऊ पुण उप सातये भुवोऽ-
 हेर्लमानो ररिवा अजाश्व श्रवस्यंतामजाश्व । अस्य नः सातय
 उपभवाहेर्लमानोऽक्रुध्यन्नरिवान्रातिरभ्यस्तोऽजाश्वेति पूषणमाहा-
 १५ जाश्वजा अजना अधानुदात्तम् । दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति
 शरदः शतम् । दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवतु स शरदः शतं शर-
 च्छृता अस्यामोपधयो भवन्ति, शीर्णा आप इति वाऽस्येत्यस्या
 इत्येतेन व्याख्यातम् ॥ २५ ॥

२० गोरमन्वतेति । शैहूगणस्य गोतमस्यैर्धैर्मार्मम् । अग्निचयने इष्टकोपधाने
 विनियुक्ता [तै० ब्रा० १ । ५ । ८] । अत्राह
 गोरित्यस्य अत्रैव एतस्मिन्मण्डले गोः सुपुत्रस्यैकस्य
 सूर्यरश्मेरितरे सूर्यरश्मयः अमन्वत अमन्यन्त ।

- १ छ. त. द. 'गातुं कृण्वन्नपसो जनायेत्यपि निगमो भवति' नास्ति. २
 २५ क. ख. छ. त. द. दंसयन्त एनानि. ३ छ. त. द. तूताव. ४ छ. त. द. निरु-
 ह्तेप°. ५ छ. त. पीयुति°. ६ छ. त. द. विषमनात्. ७ छ. त. °दात्तम् ।
 १२०। अस्या°; द. °दात्तम् । ४। अस्या°. ८ क. ख. छ. त. द. ङ. 'हेलमा°'.
 ९ छ. त. द. 'श्रवस्यंतामजाश्व' नास्ति. १० क. ख. ४ [२५]; छ. त.
 २७; द. ५. ११ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. गोतमस्य छह° (ठ. ड. राह°);
 १२० घ. राहृग°. १२ च. 'इयं' नास्ति.

समनुज्ञातवन्त इत्यर्थः । किं पुनस्तत्सममन्यन्ते । नाम नमनं प्रहृत्यम् । अवस्थानमित्यर्थः । कुतः । त्वष्ट्रादित्यस्य मण्डलात् । अथवा त्वष्ट्रादित्यस्य स्वभूता रश्मयः सममन्यन्ते । कथं तस्य नमनं तत्सममन्यन्तेति । अपीच्यमपगतम् । तत्रैव चन्द्रमण्डलेऽनुप्रविष्टस्य यदवस्थानान्तरं तत्सममन्यन्ते । अथवा अपीच्यमिति अपेत्य सूर्यमण्डलाच्चन्द्रमण्डले चितमपीच्यम् । अथवा अपीच्यमन्तर्हितमित्यर्थः । 'प्रतीच्यम् अपीच्यम्' इति ह्यन्तर्हितनामसु पठितम् [निघ० ३ । २५] । अत्र पुनरन्तर्हितस्यान्यत्रावस्थानमिति । इत्या चन्द्रमसो गृहे । अमूर्ध्नि चन्द्रमण्डल इत्यर्थः ।

'गातुः' [५५] इति व्याख्यातो 'गमनं यज्ञपतये' इत्यत्र [निरु० ४ । २१] ।

'दंसयः' इत्येतदनेकेषां कर्मणामभिधानम् । तानि हि दंसयन्त्युपक्षयन्ति कर्मकराः । 'तव स्य इन्द्र सख्येषु बह्वय दंसय इत्यस्य अतं मन्वाना व्यदर्दिर्बलम् । यत्रा दशस्यनुपसो रिणन्नपः कुत्साय मन्मनह्वाध दंसयः' [आ० सं० १० । १३८ । १] ॥ अङ्गस्यैरवस्येयमार्षम् । हे इन्द्र तव स्य ते बह्वयो धोदारोऽश्वाः सख्येषु समानख्यानेषु कर्मसु वर्तमानाः । इदमेव हि भवतः कर्म मेघो विदारयितव्य इति । एतदेव तेषामपि । एतत्समानख्यानत्वम् । अतमुदकमस्मिन्नस्तीत्येवं मन्वानाः । किमकुर्वन् । व्यदर्दितः विदारितवन्तः बलं मेवं काले काले । यत्र यस्मिन्मेवे विदारिते दशस्यन् दशैन्ति उपसो माभ्यमिकाः । एकस्या एवं पूजनार्थे बहुवचनम् । किं दशस्यन् । अपः । अद्याः च अहौ निवासिन्यः आर्षैः । मेघनिवासिनीरित्यर्थः । ताश्च दीर्यमाणाः रिणन् आगच्छन् पृथिवीलोकम् । तदेतत्सर्वमपि युष्मदश्वैः क्रियते । किं पुनरर्थमुदिश्य तं एवं कुर्वन्ति । मन्मन् मन्यमानाः कुत्साय पृथिवीं कृन्तते कृषीर्वेलाय दंसयः कृषिकर्माणि सकलानि कर्तुम् । अत्र

१ ग. ज. 'मन्यन्ते. २ ग. 'कराः । ५७ । तव'. ३ ग. ज. सख्येषु बह्वय इति । अङ्गः; च. ट. सख्येषु; अ दंसयः. ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'त्ये-
यमेतं म'. ५ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. दशस्यन्ति; च. दशैन्ति' स्य. ६ क.
ख. घ. झ. ट. ठ. ड. अहिनि; च. अहौ हि. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
'आपः' नास्ति; च. आर्षैः. ८ घ. एत. ९ क. ख. घ. ज. कृषीर्वेलाय.

‘दंसयः’ इत्यनेन शब्देन ‘कर्माणि’ उक्तानि दासैः कर्मकरैर्दस्यन्ते इति ।
कर्मकरा दासा इति बाहुल्याद्वाप्यकारेण निगमोऽत्र नोदाहृतः ।

‘तृताव’ (५७) इत्यनवगतम् । ‘तृताव’ इत्यवगमः । ‘यस्मै
त्वमार्यजसे स साधयन्नर्वा क्षेति दधते सुवीर्यम् ।

५ तृतावेत्यस्य स तृताव नैनमश्रोत्यहतिरग्ने सख्ये मा रिपामा
वयं तव’ (ऋ० १ । ९४ । २) ॥ कुत्स-

स्येयमार्यम् । महाव्रते आग्निमासते शस्त्रे जातवेदस्ये सूक्ते शस्यते (ऐ०
आ० १ । ५ । ३) । हे भगवन्मग्ने यस्मै यजमानाय त्वमाहूय यजसे
देवान् होतृत्वेऽवस्थितः स एव साधति साधयत्यात्मनोऽभिप्रेतार्थम् ।

१० किंच । स एव अनर्वा अप्रत्युतः अनाश्रितः कंचिदन्त्यं स्वेनैव महिम्ना युक्तः
क्षेति निवसति युष्मदनुग्रहात् । स एव दधते धारयते सुवीर्यं शोभनमा-
त्मनो वीर्यम् । स एव तृताव वर्धते प्रजाधनयशोभिः । न चैनम्
अंहतिः अपि पापमपि समश्रोति व्याप्नोति । हे भगवन्मग्ने यस्त्वमेवमति-
महानुभावस्तस्य तव वयं सख्ये सखिभावे परिचरणकर्मेणि वर्तमानाः मा
१५ रिपाम मा केनचिच्छिद्येमहि । एवमयमत्र ‘तृताव’ इति शब्दो ‘यस्मै
त्वमायजसे’ इत्येवमादीनां मध्ये श्रूयमाणो वृत्त्यर्थ उपपद्यते । ‘अंहति-
धाहृधाहुश्च’ इत्येते शब्दा ‘हन्तेः’ धातोः ‘निरुद्धोपधात्’ । अकार-
मुपधातो निष्कृष्यादौ कृत्वा ततो हकारनकारौ विपर्ययेण भवतः ।

‘चयसे’ (५८) इत्यनवगतम् । ‘चातयसि’ इत्यर्थप्रतीतिः ।

२० चयसे इत्यस्य यन्ति पञ्चाः । न दृष्टेः अनु ददासि वामं
वृहस्पते चयंस इति यास्म’ (ऋ० सं० १

१९० । ५) ॥ अगस्त्यस्य भेत्तावरुणस्येयमार्यम् । हे वृहस्पते देव

- १ क. स. घ. झ. ट. ठ. ड. इत्येतेन. २ °जानि । दासैः (ग. दासी) इति
२५ त्रैलु पुस्तकेषु. ३ ग. ज. कीदृशत इ°; च. कीदृशदन्त इ° दंसं. ४ क. स. ग.
ज. घ. झ. ट. ठ. ड. इति कृत्वा कर्म°. ५ ग. °ममः । ५८ । यस्मै°. ६ ग. ज. यजसे
इति । कुत्स°; घ. ट. यजसे° वयं तव. ७ ठ. ड. °आहूय° नास्ति. ८ घ. °पय°
साधयत्या° साधति. ९ ग. च. ज. केन विजिघे°. १० क. स. घ. झ. ट. ठ.
ड. °दीनां पदानां मध्ये°; च. °दीनां °मध्ये° पदानां. ११ च. चातयस इत्य°.
१२ ग. °तीतिः । ५९ । ये°. १३ ग. ज. °सिक्कं मन्यमाना इति । अग°; घ.
२१ ट. °सिक्कं° इति यास्म°.

दानादिगुणयुक्तं ये यजमानास्त्वान् उत्तिकम् उत्ताविणं भोगानां मन्यमानाः
दातव्यं केवलं भोगानामयमार्जवेन न प्रत्युपकारार्थीत्येवं मन्यमानाः पवित्रं
अप्रत्युपचिकीर्षन् उपजीवन्त्येव केवलं न क्रियया प्रत्युपकारं कुर्वन्ति भवे
मन्दनीयं स्तुत्यम् अपि च पत्राः प्रार्जितधनाः सन्तो न दरिद्राः । किं तेभ्य
इति । च दूदये न तेभ्य एवंलक्षणेभ्यो दुर्धाम्यः पापबुद्धिभ्यः स्वार्थ-
प्रधानेभ्यस्त्वयनुददासि वामं वननीयं धनम् । किं तर्हि । यस्तादृशो जनः
पिपारुः देवपीयुः देवहिंसिता स्वभोगप्रधानो न यथा देवानां तं चातयसि
नाशयसि । य एव ग्रहधनो यथा तस्मै देवभ्यर्जतेऽनुददासि वामम् ।
यस्मात्त्वमेवं करोषि तस्मान्न ते पापबुद्ध्यस्त्वां सम्पत्प्रशयन्तीत्यभिप्रायः ।
यो हि दुर्बुद्धिर्देवपिपारुस्तस्य किमन्यच्चातनादते स्यात् । चात्य एकासी ।
तस्मात् 'चापसे' इत्येव शब्दः 'चातयतिर्नाशने' इत्येवमवस्थापिते नाशनाथो
भवतीत्युपपद्यते । 'चातयतिर्नाशने' इति हि वक्ष्यति (निरु० ६ ।
३०) । लोकेऽपि च मसिद्धं देवादुच्चातिस्त इति । तस्मादुपपद्यते ।

‘वियुते’ (५९) इत्येतदेकमेव समस्तयोर्द्वयोरपि बावापृथिव्यो-
रभिधानम् । ‘वियवनात्’ इति निर्वचनम् । ‘यौतिर्भिन्नार्थः’ [धा०
२।२३] । तस्योपसर्गसामर्थ्यादिपर्ययेणार्थो भवति । विमिश्रीभूते इत्यर्थः ।
‘इमे वै सहास्तां ते क्षमामात्रं व्येताम्’ इति ह विशयते [मैत्रा० सं०
४।१।७] । ‘समान्या वियुते दुरेजन्ते ध्रुवे पदे तस्यतुर्जा-
गरुके । उत स्वसारा युवती भवन्ती आहुं

वियुते इत्यस्य शुवाते मिथुनानि नाम’ (क० सं० ३ । ५४ । २०

७) ॥ विधामित्रस्येवमार्थम् । वैश्वदेवे सूक्ते ।
समान्यावेते चावापृथिव्यौ समानपरिमाणे । वियुते च विमिश्रीभूते च ।
महत्वात् दुरेजन्ते च । न हि चावापृथिव्योर्गन्तापञ्चिरास्ति ।
‘ध्रुवे पदे’ सप्तम्येकवचनमन्तरेण निषयम् । ध्रुवं शाश्वतम् । एतस्मिन् पदे

१ ग. ज. ‘मार्जवे न म’ । २ ग. ज. ‘न्यश्यो’; च. ‘न्यश्यते’ ज. ३ ग. २५
ज. ‘नापागमताभो म’; च. ‘न वंश’ ४ घ. ‘स. ट. ठ. ड. मून इ’; च. ‘भूने इ’
त. ५ सं० ७ पुनःकेषु ‘व्येताम्’ ६ घ. ‘पते’ ६० । सवा’ ७ ग. ज. वियुते
दुरेजन्ते इति । विधा; घ. ट. वियुते मिथुनानि नाम. ८ क. त. घ. ज. घ.
स. ट. ठ. ड. ‘च’ नास्ति. ९ क. स. घ. ट. ठ. ड. ‘महत्वात्’ नास्ति; घ.
महत्वाद् इत्यन्ते च.

- आधारभूतेऽन्तरिक्षाख्ये । अन्तरिक्षस्य क्षयो नास्ति प्रतिद्वन्द्व्यभावात् । तच्चैतयोर्थावापृथिव्योः प्रतिष्ठा । तस्मिन्नेते तस्थतुः स्थितवत्यौ सर्गा-
दारम्य जागरूके जागरणशीले स्वं स्वमधिकारं प्रति । उत अपि चैते
५ परस्परसंभोगेन । आदु ब्रुवाते मिथुनानि नाम इति । अथैवमेते वियुते
च संमिश्रीभूते च सत्यौ चावापृथिव्यौ ब्रुवाते इव प्रकथयत इव स्तोतृणां
नामानि आत्मनो मिथुनानि द्विवचनसंबद्धानि स्तुतिनामभिः ' स्वधे
पुरन्धी' इत्येवमादिभिरिति । एवमेतस्मिन् मन्त्रे ' वियुते ' इत्यस्य पदस्य
१० चावापृथिवीविशेषणत्वम् । चावापृथिवीशब्दश्चात्राध्याहार्यो ' दूरेभन्ते ' इत्ये-
वमादीनां तथोपपत्तिदर्शनात् ।

‘ ऋधक् ’ [६०] इत्यनेकार्थम् । ‘ ऋधगिति पृथग्भावस्यै प्रवचनं
भवति ’ । पृथक्त्वमेव पृथग्भावः । तस्येदं प्रवचनं भवति । सोऽनेन प्रोच्यते
इत्यर्थः । ‘ यदिन्द्र दिवि पार्ये ’ यद्वध्मयद्वा स्वे सदेने

ऋधक् इत्यस्य यत्र वासि । अतो नो यज्ञमवसे नियुत्वात्सजोपाः
१५ पाहि गिर्वणो मरुद्भिः’ [ऋ० सं० ६ । ४० । ५] ॥

- मरुद्वाजस्येयमार्पम् । पृष्ठयस्य पञ्चमेऽह्नि मरुवतीये शस्त्रे निविद्वानीये
सूक्ते शस्यते [आश्व० श्रौ० ७ । १२] । हे भगवन्निन्द्र यदि त्वं
दिवि दुलोके पार्ये पारणीये स्थानेऽवस्थितः यद्वध्मक् । पृथग्दिव इत्यर्थः ।
यद्वा यदि वा स्वे सदेनेऽन्तरिक्षलोकेऽवस्थितः । यत्र वासि कचिदन्यत्रैव
२० स्थानेऽवस्थितः । को हि तस्वतो वेद तव स्थानं यत्रासीति । किं बहुना ।
यत्र यत्रास्यवस्थितस्तत आगत्य यज्ञमवसे रक्षसि त्वं निपुत्वान् वायु-
र्भूत्वा । यस्त्वमेवंप्रभावस्तं त्वां ब्रवीमि । हे गिर्वेणः गीःसंभजितः । स
हि स्तुतीः संभजति स्तुतिभिर्वा संभज्यते । सजोपाः सहजोपणः सहप्रीतो
मरुद्भिः पिवैतं सोममस्मत्प्रक्षम् । एवमेके पृथग्भावोदाहरणमेतामृचं व्याच-
२५ क्षते ॥

१ क. ख. प. झ. ट. ठ. ड. 'इन्द्राभा'; च. 'इन्द्राभा' दा. २. घ. झ. ट.
ठ. ड. 'भवत्यौ. ३ ग. 'स्य नु मव'; ज. 'स्य सु मव'. ४ ग. 'त्यर्थः । ६१ ।
यदि.' ५ ग. ज. यद्वध्म गति । मरु'; घ. ट. यद्वध्म ० मरुद्भिः. ६ क. ख.
झ. ट. ठ. ड. 'धक् यदि ऋधक् पृथ'; च. 'धक् पृथ' यद्वि ऋधक्. ७ क. ख.
१०. घ. झ. ट. ' त्वं ' नास्ति. ८ क. ख. ग. ज. घ. झ. ट. गीर्भिः संभ'.

अपरे पुनर्य एवैष भाष्यकारेण निगमः पाठितः 'ऋधगयाः' इति
तत्रैवैतौ द्वावप्यर्थौ विविच्य मन्थन्ते । तथापि दर्श-
अस्यामृचि विध्यामस्तस्यामेवार्चि । 'अथापि' अयमृध-
'ऋधक्' इत्यस्य गिति शब्दः कदाचित् 'ऋधोत्यर्थे' अपि
द्वावप्यर्थौ दृश्येते 'दृश्यते' । तैवथा । 'ऋधगया ऋधगुताशमिष्ठाः'
इति केचित् इत्यस्मिन् मन्त्रे । 'यद्य-त्वा प्रयति यज्ञे अस्मि-

नमो होतारमवृणीमहीह । ऋधगया ऋधगुता-
शमिष्ठाः प्रैजानन्यमुप याहि विद्वान्' [सै० सं० १।४।४४।२॥
मैत्रा० सं० १।३।३८]॥ समिष्टयजुः सौमिकेषु विनियुक्ता
[मान० श्रौ० २।५।४] । तत्र चोक्तम् 'एतौ विश्वामित्रो
यज्ञस्यारणी अपश्यत्' [मै० सं० ४।८।४] इति । हे भगव-
न्मम यत्प्रयोजनमुद्दिश्य अद्य प्रयति प्रोत्सर्पयेतास्मिन्यज्ञे वयमवृणीमहि वृत्-
वन्तो होतारं त्वाम् । 'अग्निदेवो देव्यो होता' इति श्रूयते [शत० १।५
२।५] । किं पुनस्तत्प्रयोजनमिति । कथं नामास्त्यमप्यवदानमात्रं द्रुतं
देवतातृप्तिसमर्थं बहु कुर्यादशान्तमपि च यद्विगुणं यज्ञस्य किञ्चित्छ-
मयित्वा समृद्धमेव कुर्यादिति । तद्योमयमपि यथाशास्त्रमेवास्माकं त्वया
कृतम् । अत इदानीं परिसमाप्त एतस्मिन्यज्ञे प्रत्याभाष्यसेऽस्माभिः । ऋध-
गयाः । त्वमस्त्यमपि द्रुतमस्माभिः सैद्धाभिः ऋधगेव ऋद्धमेव देवतातृप्ति-
समर्थं बहु कुर्वन् अयाः । त्वं यागमकार्षीरित्यर्थः ।
किञ्च ऋधगुताशमिष्ठाः । अपि च यदपि किञ्चि-
द्विगुणमकार्ष्म वैयमस्मिन्यज्ञे तदपि सर्वमेवास्त-
मैर्हं समृद्धं सगुणमेव कुर्वन् पापमस्य यज्ञस्या-

अत्र द्वावपि ऋध-
कच्छब्दौ ऋधोत्यर्थौ इत्येके

१ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. अत्रै°; च. तत्रैवैतौ श्रौ° अ. २ क. ख. घ. झ. ट.
ठ. ड. अयमेव ऋध°; ग. ज. वचि° । यथाप्ययं ऋध° । ३ क. ख. घ. झ. ट. ठ.
ड. 'तद्यया' नास्ति. ४ ग. मन्त्रे । ६ २ । यद्° । ५ ग. च. ज. घ. ट. यज्ञे इति । २५
समिष्ट°; ठ. ड. यज्ञे अस्मिन् होतश्चित्त्वो वृणी° । ६ ठ. ड. प्रजानन्विदास्तुप-
याहि सौमम् । समिष्ट° । ७ क. ख. विद्वान् स्वाहा । समिष्ट° । ८ च. 'मित्रस्यो
यैतस्या' । ९ घ. झ. ट. ठ. ड. 'अत्रे हे चिकित्सः (घ. ट. त्विः) कर्मविषयकज्ञा (ठ.
ड. विषयज्ञा) नवन् यत्प्रयो°; च. 'अत्रे यत्प्र' हे चिकित्सः कर्मविषयकज्ञान-
यन्° । १० ग. ज. यत इ° । ११ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'स्त' नास्ति; च.
सर्वे. १२ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. वयमेतस्मिन्° । १३ क. ख. घ. झ. ट. ठ.
'अस्तृष्ट' नास्ति; च. अस्तृष्टं.

शमिष्टाः । स्विष्टकृद्रूपेण शमितवानसि । यस्त्वमेतदकार्षीस्माकमेतामि-
न्यज्ञे तं त्वां ब्रवीमि । एतदेव मयैतेषां कर्तव्यमित्येतद्विद्वान् प्रजानन् प्रक-
पेण जानन्नस्माकमात्मन उपारं भक्तिं पुनः पुनः उपयाहि उपागच्छ
यज्ञम् । एवं तावदेकेषाम् 'ऋधगयाः ऋधगुताशमिष्टाः' इत्येतौ द्वावप्यु-
५ वृद्धावृद्धोत्पत्त्यर्थविव । एतस्मिन्नर्थे ऋधकृच्छ्रस्य पृथग्भावार्थत्वे 'यदिन्द्र
दिवि पौर्ये' इत्येतदुदाहरणम् ।

अन्ये पुनस्त्वन्ते । 'ऋधगया ऋधगुताशमिष्टाः' इत्येतयोरैव
ऋधकृच्छ्रयोः पूर्वः पृथग्भावार्थ उत्तर ऋधो-
भिन्नार्थावित्यपरे

१० ततो देवानयाक्षीः । न ते संमोहोऽस्तीत्यभिप्रायः । 'ऋधगुताशमिष्टाः'
इत्येव यथाव्याख्यात एव । पूर्वस्त्वर्थः साधी-
यान् यत्र द्वावप्येतावृद्धोत्पत्त्यर्थविव 'ऋधगयाः
ऋधगुताशमिष्टाः' इति । किं कारणम् । 'अया-

प्रथम एवार्थः साधीयान् यत्र द्वावप्येतावृद्धोत्पत्त्यर्थविव 'ऋधगयाः
ऋधगुताशमिष्टाः' इति । किं कारणम् । 'अया-
१५ व्यृद्धोत्पत्त्यर्थे दृश्यते' इत्येवमुपन्यस्य भाष्यकारेण
ततोऽयमुपात्तो निगमः 'ऋधगया ऋधगुताशमिष्टाः' इति । एवं च निरु-
क्तम् । न पुनः पृथक्पूर्वमयाक्षीर्कृष्टवज्रमिष्टा इति । तस्माद्वावप्येतावृद्धो-
त्पत्त्यर्थवित्येतदेव साधीयः ।

ततोऽयमुपात्तो निगमः 'ऋधगया ऋधगुताशमिष्टाः' इति । एवं च निरु-
क्तम् । न पुनः पृथक्पूर्वमयाक्षीर्कृष्टवज्रमिष्टा इति । तस्माद्वावप्येतावृद्धो-
त्पत्त्यर्थवित्येतदेव साधीयः ।

२० 'अस्याः (६१) इति अश्म (६२) इति च' एतत्पदद्वयं स्त्रीपुंसविभवे
स्वरकृतादिशेषात्प्रधानाभिधायि वा भवति गुणा-
'अस्या' 'अस्य' इत्यनयोर्गौणमुख्यार्थ-
योर्वाक्ये स्थानं स्वरक्ष च प्रथमादेशे । प्रथम इति मुख्यनाम । मुख्यश्च
प्रधानमित्युच्यते । प्रधानं कंचिदर्थमभिदधेदेत-
त्पदद्वयमुदात्तं भवति । 'अनुदात्तमन्वादेशे' ।

२५ प्रधानमर्थमनु यो वर्तते गुणभावेन तस्यैतत्पदद्वयमन्वादेशे वर्तमानमनुदात्तं

१ घ. झ. ट. सोमे यज्ञम्; ठ. ड. 'गच्छस्ये यज्ञम्; च. 'गच्छ'यज्ञम्' सोमं.
२ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. पार्थे यदृषगित्ये. ३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
ऋधक् पृथगेव कृत्वा; ग. ऋधगेषु व कृत्वा; च. ऋधगेषु चै कृ. व पृथगेव; ज.
ऋधगेषु व कृ. ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'पतत्' नास्ति. ५ घ. मुख्यस्य
म. ६ ग. ज. प्रधान इत्यु; घ. झ. ट. ठ. ड. प्रधानमुख्य. ७ ग. ज. 'त्यङ्-
११ मन्वा; च 'त्यङ्-मन्वा' इत्य.

भवति । आह । कस्मादेतत्पुनरुदात्तं प्रधाने वर्तमानमनुदात्तमप्रधानं इति ।
उच्यते । लोकेऽपि हि यत् 'तीव्रार्थतरम्' उक्तार्थं प्रधानतरं तत्
'उदात्तम्' इति प्रसिद्धम् । तद्यथा । उदात्तमेतत्कुलमिति । 'अलीयोऽ-
र्थतरमनुदात्तम्' । अलीयसार्थेन यदुक्तं भवति तदनुदात्तमुच्यते । अप्रधान-
मित्यर्थः । उदाहरणैरेवानयोर्विभागं दर्शयति ।

५

अस्या ऊ पु ण उप सौतये मुञ्जोऽहेर्लमानो ररिवो अजाश्व श्रव-
स्यतामजाश्व । ओ पु त्वा ववृतीमहि स्तोमे-
अस्या इत्यस्य भिर्दस्म साधुभिः । नहि त्वा पूषन्नतिमन्य
मुख्यार्थः आघृणे न ते सख्यभपन्दुवे (ऋ० सं० १ ।
१३८ । ४) ॥ परच्छेपस्यार्पम् । अतिच्छे-
न्दाः । 'उ' इति 'सु' इति 'न' इति पदानि । अस्या अस्यै
सातये लब्धये । कथं नाम वयमर्थमभिप्रेतं लभेमहीत्येतमर्थमुद्दिश्य हे
पूषन्नस्माकं सुष्टु उप समीपे भव । त्वयि संनिहृष्टे त्वदनुप्रहादेतमर्थं
लभेमहीत्यभिप्रायः । कथं पुनरुपभव । अहेर्लमानः अकुप्यन् । सर्वो
ह्यम्यर्ष्यमानः क्रुष्यतीत्यभिप्रायः । ररिवान् दानवान् । दानाभिप्रायसंयु-
क्तेन चेतसोपभव । अजाश्व अजनाश्व गमनाश्व छागाश्व वा । श्रवस्य-
तामस्माकं धनमिच्छतां भवाजनाश्व । छागाश्वेत्यर्थः । किंच ओ पु त्वा
ववृतीमहि । 'आ' 'उ' 'सु' इति पदानि । आ ववृतीमहि त्वां सुष्टु
आभिमुख्येनात्मनो वर्तयामहे । केन । स्तोमेभिः स्तोत्रैः । दैस्म । हे दस्म
दर्शनीय अधवा दान्त । साधुभिः । शोमनैरित्यर्थः । किंच न हि त्वामतीत्य
साधुतरां काचिदप्यन्यामहं देवतां मन्ये हे आघृणे आगतदीप्ते । त्वद्भक्त
एवाहमस्मीत्यभिप्रायः । किंच । न ते तवाहं सख्यं सखिभावं कदाचिद-

१०

१५

२०

१ घ. ट. ठ. ड. 'मपधानं इति. २ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'एथेप्रभा';
च. 'एथेप्रभा' थ. ३ च यदुक्तं भ' पु; झ. यदुक्तं. ४ ग. 'यति. ५ अस्या'.
५ ग. ज. उप सातये मुव इति । पर०; घ. ट. उप० मपन्दुवे. ६ क. ख. च. ड.
हेलमा. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. मुवः भव; च. 'मीपे' भव' मुवः. ८ क.
ख. ग. घ. ज. झ. ड. 'हेलमा'. ९ ग. ज. 'वान् अजाश्व दाना'; च 'वान् ।
अजाश्वे दाना'. १० ग. ज. 'दस्म' नास्ति. ११ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
त्वा नैव त्वां (ठ. ड. त्वा) दर्शनीयमतीत्य; च. त्वांती नैव त्वां दर्शनीय.

२९

प्यपन्हुवे । कृतज्ञो ह्यहमित्यभिप्रायः । एवमत्र सातिः प्रधानेति कृत्वा
'अस्याः' इत्येतत्पदमन्तोदात्तम् । अन्तोदात्तमपि च सदुदात्तमित्युक्तं
भाष्यकारेणैकदेशस्योदात्तत्वात् ।

५ 'अथ' पुनर्यास्मिन् 'अनुदात्तम्' एतत्पदं गुणभूतार्थाभिधायि
भवति तस्यैव निर्गमः । 'पुनः पत्नीमग्निरदात्तार्थुषा सह वर्चसा ।
दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम्'
अस्यामृचि 'अस्य' (ऋ० सं० १० : ८५ । ३९) ॥ सूर्याया
अनुदात्तम् आर्पम् । विवाहे विनियुक्ता (आश्व० गृ० १ ।
८ । १३) । विवाहपूर्वमेतां दत्तां सतीं कन्यां

१० पत्नीं पुनरग्निरदात्त आयुषा सह वर्चसा अग्नेन सहैतस्मिन् वैवाहिके
कर्मणि । अग्निसंनिधिसंस्काराद्धि भार्यात्वमुपजायत इत्येतदपेक्ष्य पूर्वदाना-
स्तुनंर्दात्तत्वमुच्यते । तदेवमस्या दत्ताया एतदाशास्महे योऽस्याः पतिः स
दीर्घायुरस्त्विति । यतो विशेष्यन् ब्रवीति जीवातुं शरदः शतमिति ।
शराद्धि दुर्जीवा रोगभूयस्त्वात् । अत एवमाशास्यते शरच्छतं जीवत्विति ।
१५ एतस्मिन्मन्त्रे भर्तृकन्यासंयोगे सति भर्तव्यं प्रधानम् । तस्य ह्यायुराशास्यते ।
तस्य लक्षणायां पत्नी । तस्मात् 'दीर्घायुरस्या यः पतिः' इत्येतदनुदात्तम् ।

निगमप्रसक्तमुच्यते । 'शरत् अस्या' हि 'शृताः' पक्ताः 'ओप-
धयो भवन्ति' इति । 'शीर्णा आप इति वा' । वर्षासु हि प्रवृद्धानि
स्रोतांसि शरदि विशीर्यन्ते । 'अस्येति' एतत्पदं पुंविषयं पष्ठपन्तम्
२० 'अस्याः' इति 'अनेनैव स्त्रीविषयेण पदेन' व्याख्यातम् । यदेवोक्तम्
'उदात्तं प्रथमादेशेऽनुदात्तमन्वादेशे' इति तदेवात्रापि लक्षणमित्य-
भिप्रायः । उदाहरणमात्रं प्रदर्शयते । २५ ।

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य आता मध्यमो अस्त्यश्रः ।
तृतीयो आता घृतपृष्ठे अस्यात्रीपश्यं विश्वतिं सप्तपुत्रम् (ऋ०
२५ सं० १ । १६४ । १) ॥ अस्य वामस्य वननीयस्य पलितस्य

१ च. 'च नास्ति. २ ग. गमः । ६४ । पुनः. ३ ग. ज. पत्नीमग्निरदा-
दिति । सूर्याः; च. ट. पत्नीमग्निरदात्त शरदः शतम्; ड. ड. पत्नीमिति । सूर्या.
४ ग. ज. 'पत्नी' नास्ति. ५ ट. जीवातुं ति; ठ. ड. जीवाति. ६ ग. ज.
प्रधानः. ७ ग. ज. विशीर्यन्ति; च विश्वतिं चेतं शीर्य. ८ क. स. घ. झ.
१० ट. ठ. ड. पदेनैव; च. पदेनैव. ९ क. स. ४ [२५] ग. २७.

पालयितुर्होतुर्होतव्यस्य तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यशनी भ्राता
भरतेर्हरतिकर्मणो हरते भागं भर्तव्यो भवतीति वा तृतीयो भ्राता
घृतपृष्ठोऽस्यायमग्निस्तत्रापश्यं सर्वस्य पातारं वा पालयितारं वा
विशपतिं सप्तपुत्रं सप्तमपुत्रं सर्पणपुत्रमिति वा सप्त सृष्टा संख्या
सप्तादित्यरम्भ इति वदन्ति । १६ ।

अस्य वामस्येति । अस्यवामीयमेवेदं सूक्तम् । दीर्घतमस आर्यम् ।
तार्तीयसवने महाव्रते वैश्वदेवे शस्त्रे शस्यते
अत्र प्रथमार्धे (ऐ० आ० ५ । ३ । २) । अस्य सूर्यस्य
'अस्य' उदात्तं वामस्य वननीयस्य स्तुतिभिः पलितस्य पाल-
द्वितीयार्धेऽनुदात्तम् यितुः । अयं हि सर्वमेवेदं जगत्पालयति । १०
होतुः ह्येतव्यस्य आह्वानार्हस्य । आह । अर्ष्यं
किमिति । उच्यते । योऽयमेवंलक्षणस्तस्य भ्राता भागहर्ता भर्तव्यो वा
उदकेन मध्यमो मध्यमस्थानः अस्ति विद्यते । कंतमः । योऽयम् अश्रः
अशनो व्यापनः । वायुरित्यर्थः । स हि शुलोकादादित्येनोदकेन भ्रियते
हरति चोर्दकं शुलोकात् । तृतीयः अर्ष्यं वायोर्भ्राता हविर्भागहर्ता वा ऐ- १५
न्द्राग्ने हविषि संस्तुतौ वा । घृतपृष्ठो घृतेन स्पृष्ट आग्नस्पृष्टः अयमेवाग्निः
पृथिवीस्थानः सहस्रिणो वायोः । सर्वस्माद्दि वायुर्वलवान् । अपवा
सहस्रमस्य नियुक्तमश्वानामस्तीति सहस्री वायुः । 'आ नो नियुद्धिः
शतिनीभिरध्वरं सहस्रिंजीभिः' (ऋ० सं० १ । १३५ । ३)
इति हि श्रूयते वायव्ये मन्त्रे । वायुरादित्योऽग्निरित्येवं परिसंख्याय १०
वायोस्तृतीयोऽग्निर्भवति । वायुरपि च ज्योतिरेव । 'वायुना ज्योतिषा'
इति हं विज्ञायते । तत्रैतस्मिन्नेधा विभक्ते ज्योतिषि प्रधानत्वेनैत-
मेवाहमपश्यमिति । विशपति विश्वस्य सर्वस्य जगतः पालयितारम् । कत-
मम् । य एष सप्तपुत्रः सूर्य एतमेवाहमत्र प्रधानत्वेनापश्यमिति । एवमेतस्मि-
न्मन्त्रे सूर्यः प्रधानः सूक्ते सूर्याधिकारात् । तस्मात् 'अस्य वामस्य इत्येषः २५

१ क. ख. छ. त. 'पृष्ठो अस्या.' २ क. ख. ५ (२६); छ. त. २८; द.
६. २ क. ख. घ. झ. ट. वामस्य० सप्तपुत्रम्; ग. ज. वामस्य पलितस्येति ।
अस्य. ४ च. 'सप्तरीये. ५ य. ज. 'देवशस्त्रे. ६ क. ख. घ. झ. ट. उ. ड.
तस्य; च. अर्ष्य' त. ७ घ. ट. ठ. ड. कतमस्यः अशनो. ८ घ. ट. वोदकं; ठ.
ड. 'हते वोदकं. ९ ठ. ड. सहस्रिणीभिरुपवाहि यज्ञमिति मू. १० घ. ट. ठ.
ड. हि.

‘अस्य’शब्दोऽन्तोदात्तः । चायुरत्राप्रधानम् । तस्मात् ‘तृतीयो भ्राता घृत-
पृष्ठो अस्य’ इत्येषः ‘अस्य’ शब्दोऽन्तोदात्तः ।
स्वरभेदे कारणम् एवमेकस्मिन्मन्त्र उदात्तानुदात्तावेतौ ‘अस्य’शब्दौ
प्रधानाप्रधानविषयाविलोक्येवोदाहरणम् । आह ।

५ ‘तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्य’ इत्यनेन ‘अस्य’ शब्देन सूर्य एव
कस्मान्न संबध्यते । अपि च तृतीयशब्दस्य प्रकृतानुक्रमाविरोधेनैवमेव
सुखतरां योजना भविष्यति । उच्यते । ‘अस्य’

अनेन द्वितीय- वामस्य’ इत्येतदन्तोदात्तं पदम् । इतरदन्यत् ।

१० ‘अस्य’पदेन सूर्य- ‘तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्य’ इति समान-
स्य निर्देशो न भवति रूपमेव सत्पूर्वेणानुदात्तमिति स्वरकृताद्दिशेपादर्थ-
यस्मात्स्वरकृताद्दिशे- कृतेनापि विशेषेण भवितव्यमित्यप्रधानार्थाभिधा-
पादर्थकृतेनापि वि- यितोविशेषः प्रतीयते । आदित्यसंस्तवात्सूक्ते
शेषेण भवितव्यम् वायुश्चात्राप्रधानः प्रकृतादादित्यात् । तस्माद्वायुवि-
षयमेवेदम् ‘अस्य’ इति द्वितीयपदमनुदात्तं

१५ संपद्यते । अतः सुतरामुपपन्नं भवति ‘उदात्तं प्रथमादेशोऽनुदात्तमन्वादेशे’
इत्यत्र प्रथमादेशान्वादेशशब्दाभ्यां प्रधानाप्रधानबुध्यते इति ।

अन्ये तु मन्यन्ते । प्रथमादेशो नाम प्रारम्भः । तत्र यद्वर्तते तदुदात्तं
भवति ‘प्रधानार्थतरमुदात्तम्’ इत्यनेनैव लक्षणेन । तद्यथा ‘अस्या ऊ
पु णः’ ‘अस्य वामस्य’ इति । अन्वादेशो

२० ‘उदात्तं प्रथमा- नामार्थपदस्य पश्चादादेशः । तत्र वर्तमानमनुदात्तं
देशोऽनुदात्तमन्वादेशे’ भवति । ‘पदात्परस्य निघातो भवति’ इति हि
इत्यस्यान्यो व्याख्या- लक्षणविदोऽपि भ्रूयते । तर्धानुदात्तत्वेनैव लक्षणे-
मार्गः नाल्पीयोऽर्थतरमप्रधानार्थतरं भवति । तद्यथा ।
‘दीर्घायुरस्या यः पातिः’ ‘तृतीयो भ्राता घृत-

२५ पृष्ठो अस्य’ इति ।

१ म. च. ज. ‘पृष्ठोऽस्ये’. २ क. ख. ग. ज. घ. ङ. ट. ठ. ड. ‘कस्मिन्मे-
वास्मिन्मे’. ३ च. ‘सुखतरां’ रा. ४ क. ख. ग. च. ज. घ. ट. पुस्तकेषु विरामो
नास्ति. ५ क. ख. प. स. ट. ठ. ड. ‘धाविना वि’. ६ क. रा. घ. ट. ठ. ड.
‘मुदात्तत्वेनैव ल’ ग. च. ज. ‘मुदात्तमित्यनेन ल’. ७ क. ख. ग. ज. घ. ट. ठ.
ड. नामान्यस्य; प. नावा’स्य’ न्य. ८ क. ख. घ. स. ट. ठ. ड. तच्चानु; च.
२१ तयो’ आ.

आह । कथं सप्तमपुत्र आदित्य इति । उच्यते । 'सप्तमो ह्यसावादित्यः
पुत्रः' इत्येवमैतिहासिका मन्यन्ते । ब्राह्मणेऽपि च
आदित्यः कथं 'मृतमित्ररमाण्डमवापयत (मैत्रा० सं० १ । ६
सप्तपुत्रः । १२) तस्मिन्नादित्यः सप्तम इन्द्रोऽष्टमः '
इति ह विज्ञायते । अथवा सप्तसंख्याका युक्ता ५
अस्य रश्मयः पुत्राः तेनासौ सप्तपुत्रः । अथवा नैव संख्यामिप्रायमे-
तत्सप्तपुत्र इति । आह । कथं तर्हीति । उच्यते । 'सर्पणपुत्रमिति' एवम् ।
सर्पणा हि तस्य रश्मयः । मुहूर्तमप्यनवस्यायिनो यस्य पुत्राः सोऽयं सप्त-
पुत्रः । 'सप्त सप्ता संख्या' पश्यः सकाशात् । एवं सप्तसंख्योपेताः
सर्पणक्रियायोगिनो वैत एव 'आदित्यरश्मयः' अस्यादित्यस्य पुत्राः 'इति' १०
मन्त्रविदो मन्यन्ते । यथा चायं सप्तभिः सर्पणैर्वा रश्मिभिर्युज्यते तथेयमपरा
ऋगेतास्मिन्नेव सूक्ते ॥ २६ ॥

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा । त्रिनाभिं
चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवन्नार्थि तस्युः (ऋ० सं० १ । १६४ । २) ॥ सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेकचारिणं चक्रं चक्र-
तेर्वा चरतेर्वा क्रामतेर्वेको अश्वो वहति सप्तनामादित्यः सप्तास्मै
रश्मयो रसानभिसंनामयन्ति सप्तनमृपयः स्तुवन्तीति वेदमपीतर-
न्नामैतस्मादेवाभिसंनामात्संवत्सरमधान उचरोऽर्धर्चास्त्रिनाभिचक्रं
ज्युतुः संवत्सरो ग्रीष्मो वर्षा हेमन्त इति संवत्सरः संवसन्तेऽस्मिन् १०
भूतानि ग्रीष्मो ग्रस्यन्तेऽस्मिन् वर्षा वर्षत्यासु पर्जन्यो हेमन्तो
हिमवान् हिमं पुनर्हन्तेर्वा हिनोतेर्वाजरमजरणधर्माणमनर्वमप्रत्युत-
मन्यस्मिन्यध्रेमानि सर्वाणि भूतान्यभिसंतिष्ठन्ते तं संवत्सरं सर्व-
मात्राभिः स्तौति । पञ्चारे चक्रे परिवर्तमान इति पञ्चर्तुतया पञ्चर्तवः
संवत्सरस्येति च ब्राह्मणं हेमन्तशिशिरयोः समासेन पर्जर आहु- २५
रपितमिति पर्जतुतयाराः प्रत्युता नाभौ पट् पुनः सहतेः । द्वादशारं

१ क. स. घ. ट. ड. मृतमितरमण्ड^०; ग. ज. मृतमितरमण्ड^०; मृ-
मितरमण्ड^० पि. २ ग. अ. 'ह' नास्ति; च. इति विज्ञायति^० यते. ३ क. स.
५ (२६); ग. इ; उ. ड. 'मन्यन्ते । इति निरुक्तदीक्षायां चतुर्थाध्याये पश्यि-
शतिः खण्डः; इतरेष्वङ्गो नास्ति. ४ छ. त. द. पञ्चर्तुतायाः. ५ छ. त. द.
शिशिरतमोमेन. ६ क. स. छ. त. द. ड. पञ्जर. ७ क. स. पटु^०; छ. त.
द. पटुताया अष्टाः^०.

नहि तज्जराय । द्वादश प्रथमचक्रमेकमिति भासानां मासा मा-
नात्प्रधिः ग्रहितो भवति । तस्मिन्त्सार्कं त्रिंशता न शङ्कन्वोऽर्पिताः
पट्टिर्न चलाचलासः । पट्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि संवत्सरस्या-
होरात्रा इति च ब्राह्मणं समासेन । सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः ।
५ सप्त च वै शतानि विंशतिश्च संवत्सरस्याहोरात्रा इति च ब्राह्मणं
(ऐ० आ० ३ । २ । १) विभागेन विभागेन ॥ २७ ॥

इति चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

- १० 'सप्त युजन्ति रथमेकचक्रमिति । सप्तसंख्योपेताः सर्पणा वा
युजन्ति योजयन्त्यात्मना रश्मयो रथं रंहणमादि-
आदित्यस्य सप्त- त्यम् । उद्यन्नेव ह्यसावादित्यो रश्मिभिः युज्यते
रश्मित्यवाचिनी ऋक् रंहणध्वासौ मुहूर्तमप्यनवस्थापित्वात् । एकचक्रम् ।
एक एव ह्यसावन्तरिक्षे चरति । इतराणि अयोर्तीप्ति
नाशयत्येव स्वेन तेजसा प्रकाशेन । एकोऽधः । एक एवाधः अशनो व्यापनः
१५ सर्वभूतानां वहति गच्छति सप्तनामा सप्तस्तुतिः । सप्तपुत्र इत्येवमाद्याः
सप्तसंख्यायुक्ताः स्तुतयोऽस्य । अथवा 'सप्तास्मै रश्मयो रत्नानभिसं-
नामयन्ति' एतस्मिन्मण्डल इति सप्तनामा । अथवा 'सप्तै-
नमृषयः' नमन्ति 'स्तुयन्तीति यौ' सप्तनामा । 'इदमपीतरत्' ।
शब्दनामैतस्मादेवाभिसंनामात् । तदपि स्वमर्थं प्रत्यार्थयितुं त्रिंशत्पादस्य
२० या गुणभावेनाभिमुख्येन संगमति । स एवंलक्षण एकचारी व्यापनः सप्त-
नामा सर्पणैः सप्तभिर्वा रश्मिभिर्युक्तो यदा बह्व्युदयादारभ्य यावदस्तमिति
तदैवं बह्वन्तिमभिनिर्वर्तयतीति । उच्यते । त्रिनाभिचक्रमजरमनर्वम् ।
त्रिनाभिसंयुक्तं कालचक्रं चक्रनधर्मि । चक्रनं चलनमुच्यते । चरणधर्मि
क्रमगधर्मि वा । अजरमर्जरणधर्माणाम् । अनर्वमप्रत्यृतमन्यस्मिन् । अनाश्रि-
२५ तमित्यर्थः । त्रिनाभिचक्रम् । 'व्युत्तुः' हि 'संवत्सरो ग्राप्यो वर्षा हेमन्त
इति' अनेन ऋतुप्रविभागेन । एतदेवास्य त्रिनाभिचक्रमभिप्रेतम् ।

१ क. ख. ६ (२७) छ. त. २१; द. ७. २ द्रितितुस्तकेषु 'इति०
पादः' नास्ति. २ क. ख. घ. झ. ट. युजन्ति रथ० सुभ्नाभितस्थुः । घ०; ठ.
ड. युजन्तीति । तनहंस्वो०. ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'संख्याकाः; च. संख्या-
युक्तोः. ५ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'वा' नास्ति. ६ घ. प्रत्यापयितुं. ७ च.
कामग०. ८ घ. च. न. 'जनमरग' . ९ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'प्र'
नास्ति.

ऋतुभिर्ह्येतौ संवत्सरो नह्यते । संनह्यत इत्यर्थः । संवत्सरप्रधान उत्तरोऽ-

र्धर्चो नादित्यप्रधानः । 'संवत्सरः संवत्सग्लस्मिन्'

संवत्सरप्रधान इति प्रसक्तानुप्रसक्तम् । समस्तानि हि 'भूतानि'

उत्तरोऽर्धर्चः एतस्मिन् संवसन्ति । मैथुनाभिप्रायो वा स्यात्सं-
वासः । ' ग्रीष्मो ग्रस्यन्तेऽस्मिन् रसाः '

५

सूर्येण । ' वर्षा वर्षत्यासु यर्जन्यः ' । तदेतत्प्रत्यक्षमेव । ' हेमन्तो

हिमवान् ' । तत्र हिमं बहु भवति । 'हिमं पुनर्हन्तेर्वा ' । तद्धि हन्त्यो-

पधियनस्पैतीन् । ' हिनोतेर्वा ' तर्पणार्थस्य । तेन हि पुण्यान्ति यदादयः।

गमनार्थस्य यौ हन्तेः । तद्धि गमयति क्षयं भूतानि । अजरं तत्संवत्सर-

चक्रमजरणधर्मि । न हि संवत्सरस्य जरा नाम धर्मोऽस्ति । अनर्थं च

१०

तत् । अप्रयृतम् अप्रतिगतमनाश्रितमन्यत्र क्वचित् । आह । यत्र किमि-

ति । उच्यते । यत्र यस्मिन्निमानि विश्वा विश्वानि भुवनानि भूतानि अधि

उपरि तस्थुः अभिसंतिष्ठन्ते । आश्रितानि विनाशमुपयान्ति । विनाशोऽपि

हि संस्थोच्यते । संस्थितः पिता ममेयुक्ते मृत इति गम्यते । तदेवंलक्षणं

त्रिनाभि कालचक्रमजरं य आदित्योऽभिनिर्वर्तयति यच्चैदमभिनिर्वर्त्यते

१५

कालचक्रं तदेतदुभयमप्यहं स्तौमीत्येवमस्य मन्त्रस्य पूर्वोऽर्धर्च आदित्यप्रधान

उत्तरः संवत्सरप्रधानः ।

आह । कथं गम्यते संवत्सरप्रधान उत्तरोऽर्धर्च इति । न हि संव-

त्सरप्रहणमत्रास्ति । उच्यते । त्रिनाभिचक्रमित्येतस्माद्वैतुसंवन्धात् । आह ।

एतदपि विशेषलिङ्गमत्र नास्त्येव । अत्र न

२०

संवत्सरप्रधानत्वे ऋतवो नाभिद्वन्द्वेनोच्यन्ते इति । तस्मादेतदप्य-

प्रमाणम् युक्तमेवेति । उच्यते । य एष पूर्वस्मिन्नर्धर्चे

प्रकृतेन सूर्येणाभिनिर्वर्त्यते संवत्सरो यैरिन्ध

सर्वाण्येतानि भूतान्यभिसंतिष्ठन्ते तमेतं संवत्सरमुत्तरस्मिन्नर्धर्चे प्रकृत्य मन्त्र-

१ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ' असौ ' नास्ति. २ क. ख. घ. झ. ट. २५

ठ. ड. तत्र हि बहु भवति हिमम्. ३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ' तीन् ' मधिरति ।

हिं; च ' तीन् ' । हिं शक्तिः. ४ घ. ट. ठ. ड. वा हस्य वा हन्तेः. ५ ठ.

ड. अनाभितानि. ६ घ. श्वो ममे' पिता. ७ क. ख. घ. ट. ठ. ड. ' स्मादनुवं. '

८ क. ख. म. ज. घ. झ. ट. ठ. ड. त्रय ऋतं; च, अत्रैवं त्रय. ९ क. ख. घ.

ट. ठ. ड. अस्मिन्ध.

दृक् त्रिनाभिचक्रमित्येवमाद्याभिः ' सर्वमात्राभिः ' सर्वैरवयवैः ' पञ्चारे चक्रे ' पञ्चरे ' त्रीणि शतानि पष्टिश्च ' सप्त शतानि विंशतिश्च ' इत्येवंप्रकारैः ' स्तौति ' । तस्मात्सूक्ते संवत्सरस्यावयवस्तुतिप्रायदर्शनादिहापि त्रिनाभिश्च श्रुतविषय इत्युपपद्यते । पण्णामृतूनां द्वौ द्वावृतू समानस्वभावा-
वित्यनेनाभिप्रायेण त्रित्वम् । अथैवमुक्त्वा ' तं संवत्सरं सर्वमात्राभिः स्तौति ' अधुना यथैतं सर्वमात्राभिः स्तौति तथोपपादयति ।

पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्ना तस्युर्ध्वनानि विधा । तस्य नार्क्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्यते स-

' पञ्चारे चक्रे ' नाभिः ' [ऋ० सं० १ । १६४ । १३]

१० इत्यत्र पञ्चर्तुतया संव- ' इति पञ्चर्तुतया ' संवत्सरस्य स्तुतिः ।
त्सरस्य स्तुतिः पञ्चारे चक्रे । ऋतवोऽन्नामरत्वेनाभिप्रेताः ।
परिवर्तमाने परिगृह्येदं सर्वं जगद्वर्तमाने । आह ।

किमिति । उच्यते । तस्मिन्ना तस्युः । तस्मिन्नावस्थितानि उपर्यधिरूढानि ।

कानि । भुवनानि भूतानि विश्वानि सर्वाणि । कालचक्रे हि सर्वमेवेदं

१५ जगदविरूढं वैभ्रमीति । अथैवमतिमहतापि सर्वभूतचक्रेणाक्रान्तस्य काल-
चक्रस्यैवमपि भूरिभारो बहुभारः सन्नवायमक्षः संवत्सराख्यस्तप्यते । न

संतापयति । नोपयास्यतीत्यर्थः । अपि च सनादेव चिरंतन एव

सोऽक्षस्तथापि न तप्यते न वा ततोऽपि सन्सहसैव विशीर्यते नश्यति ।

आह । यद्यक्षो न तप्यते शीर्यते वा किमेवमतिबलीयसाक्षेण घृण्यमाणा

२० नाभिस्तप्यते शीर्यते वेति । नेत्युच्यते । सनाभिरक्षो न शीर्यते न तप्यते ।

नाभिरादिस एवाभिप्रेतः । आह । कथमेतद्रूप्यते ' पञ्चारे चक्रे ' इत्यत्र अर-

शब्देन ऋतवोऽभिप्रेता इति । न एव विशेषलिङ्गमृतूनामरत्वेऽस्ति । अपि

च षडृतवः प्रसिद्धा इह च पञ्चार इति श्रूयते तस्मादनुपपन्नमिति । उच्यते ।

सूक्ते संवत्सरस्यावयवस्तुतिप्रायदर्शनादुपपद्यते । ' पञ्चर्तवः संवत्सरस्येति

२५ च ब्राह्मणम् । हेमन्तशिशिरसमासेन ' । एकत्वेनेत्यर्थः । तस्मादुपपद्यत

एवं पञ्चत्वमृतूनामरत्वं चावयवस्तुत्यभिसंक्रन्नादिति ।

१ ग. अ. 'वर्तमान इति । पञ्च'; प. ट. 'वर्तमाने० शीर्यते सनाभिः० २ च. 'र्तुताया. ३ क. ख. प. ट. ठ. ड. विधा विधानि. ४ ठ. ड. बध्नीनि. ५ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. नापि छन्नायं दास्य'; च. नापि ना' पि संनार्प. ६ क. १० ख. प. झ. ट. ठ. ड. ऋतवः पद्.

‘पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् । अथेमे
 अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे पठ्य आहुरर्पितम्’
 अत्र पठ्यतया (ऋ० सं० १ । १६४ । १२] ॥ ‘पठ्य
 संवत्सरस्य स्तुतिः आहुरर्पितमिति पठ्यतया ’ संवत्सरस्य स्तुतिः ।
 पञ्चपादं संवत्सरम् । ऋतवो हि संवत्सरस्य पादाः ।
 तैरसौ पतति गच्छति । पितरं पालकं सर्वभूतानामुपादयितारं वा । द्वाद-
 शाकृतिं द्वादशमासप्रविभक्तविग्रहम् । ‘द्वादश मासाः संवत्सरस्य’ इति
 च ब्राह्मणम् । दिवे शुद्धोक्तस्य परे परमेऽर्धे स्थाने योऽयमवस्थित आदित्य
 एतस्मिन्पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं पुरीषिणम् उदकवन्तं संवत्सरम्
 अर्पितमाहुः अविशेषेणान्ये ब्राह्मणाः । ‘तस्मात्सर्व ऋतवो वृष्टिमन्तः’ इति १०
 ह विज्ञायते [मैत्रा० सं० ३ । १ । ५] । तस्मात्संवत्सरस्योदकवत्स्व-
 मुपपद्यते । अथ पुनरिमेऽन्ये य एते उपरे उपर्यवस्थिताः सप्त ऋतव एते
 विचक्षणं विविधानां सर्वभूतकर्मणां द्रष्टारमेतमादित्यं चक्रे पठ्ये एतस्मिन्
 संवत्सराख्ये अर्पितमाहुः । अथवा सप्तचक्र आदित्यः । स हि सप्तभीर-
 श्विभिश्चक्रे दीप्यते । ‘सप्तचक्रे’ इत्येकं पदं तस्मादेवमपि भवति । एव १५
 मेके संवत्सरमादित्यप्रविष्टमाहुः । अपरे पुनरादित्यं संवत्सरप्रविष्टमिति ।
 एष समस्तार्थः । एषमेतस्यामृध्यादित्यसंवत्सरौ संस्तूयते । वक्ष्यति हि
 ‘चन्द्रमसा वायुना संवत्सरेणेति संस्तवः’ [निरु० ७ । ११] । संव-
 त्सरस्य चक्ररूपेण नाम्यादिभिः स्तुतिरुपपद्यते । ‘अराः प्रवृत्ता नामौ’ ।
 प्रतिगता इत्यर्थः । पठ्य पुनः सहतेः । ते हि पञ्चसंख्यामभिभूय वर्तन्ते । २०
 ‘द्वादशारं न हि तज्जरायै’ ‘द्वादशप्रथमयश्चक्रमेकमिति’ ‘मासा-
 नाम्’ एतौ पादौ भवत इति वाक्यशेषः । ‘द्वादश प्रथमयश्चक्रमेकं ग्रीणि
 नम्यानि फ उ तश्चिकेत । तस्मिन्साकं त्रिंशता न द्वादशोऽर्पिताः षष्टिर्न
 चलाचलासः’ [ऋ० सं० १ । १६४ । ४८] ॥ ‘मासा मानात्’ ।

१ ग. ज. पितरमिति । पठ्य आहुः; घ. ट. पितरं रपितम्. २ क. रा. प. २५
 झ. ड. पठ्य; घ. पठ्य. ३ क. ख. घ. झ. ड. पठ्य; ग. घ. ज. पठ्य. ४ क.
 रा. ग. घ. ज. पठ्य; घ. झ. ड. पठ्य. ५ घ. ‘पालकं’ नास्ति. ६ घ.
 ‘दयितुं वा’ तार्. ७ क. रा. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘२ तस्मिन्; घ. एतस्मिन्. ८
 ग. ज. प्रतिष्ठ. ९ क. ख. ग. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘६’ नास्ति; घ. छ. १०
 क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. स्तेन. ११ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. जरायेति दा.
 १२ ग. घ. ज. ‘मेकमिति । शाना’; घ. ट. ‘मेकं न पठ्यतया.’

मीयते हि तैः संवत्सरः । ' प्रधिः प्रहितः ' । प्रक्षेप्य चक्रे निहितः
' भवति ' । गण्डपृष्ठः प्रधिरित्युच्यते । द्वाद-

अत्र द्वादशमास- शप्रथमो भासाख्याः संहताः सन्तश्चक्रमेकं भवति ।
त्वेन पष्ठयधिकत्रि- तत्र च पुनस्त्रीणि नम्यानि फलकानि भवन्ति ।
५ शतदिवसत्वेन च त्रयं ऋतवो ग्रीष्मो वर्षा हेमन्त इति । यदेतदे-

बलक्षणं चक्रं क उ तच्चिकेत । कस्तु तद्यार्थो-
त्येन विजानाति । तस्मिन्चक्रे साकं सह त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः ।
त्रिशतान्यहोरात्राणि शङ्कव इवार्पिताः । षष्टिर्न पष्ठयधिकानि त्रीम्यहोरा-
त्रशतानि शङ्कव इवार्पितानि प्रक्षिप्तानि । द्वितीयो नकारः समुच्चयार्थे ।

१० चलाचलासः चलान्यचलानि च । चलान्यनवस्थापित्वात् । अचलान्यहो-
रात्रात्मभावं न मुञ्चन्ति । आह । कथं गम्यते अहोरात्राण्येतानीति । उच्यते ।
संवत्सरस्तुतिप्रायसंबन्धाच्च । ' पष्ठिश्च ह वै त्रीणि च शतानि संवत्सर-
स्याहोरात्रा इति च ब्राह्मणम् । समासेन ' । अहोरात्रयोरैकत्वेनेत्यर्थः ।

' द्वादशारं नहि तज्जरोधे वर्षति चक्रं पारि वामतस्त्य । आ पुत्रा
१५ अग्रे मिथुनासो अत्र सप्त शतानि त्रिशतिथं तथुः ' (ऋ० सं० १ ।
१६४ । ११) ॥ न हि तज्जार्थते । किं तर्हि । अन्यानि भूतानि जर्षतु
वर्षति चक्रं पुनः पुनर्वर्तते । पारि वां परिगृह्य वां च पृथिवी च ततो वर्षति ।

ऋतस्य उदकस्य संपूर्णम् । अथवा ऋतस्य आदित्यस्य स्वभूतम् । अथवा
ऋतस्य यज्ञस्याङ्गभूतम् । आतथुः पुत्रा एतस्मिन्चक्रे मिथुनाः । इन्द्रा
२० इत्यर्थः । कस्य । अग्रे । अग्निशब्दोऽस्मिन्मन्त्रे संवोधनान्तः पष्ठ्या विपरि-
गम्यतेऽग्रेः पुत्रा आतथुरिति । अग्निधात्रादित्य

अत्र द्वादशमास- एवाभिप्रेतः । तस्याहोरात्राण्येव पुत्रत्वेनोच्यन्ते
त्वेन विंशत्यधिकस- तत्कृतत्वादहोरात्राणाम् । आह । कियन्तस्ते पुत्रा
सशताहोरात्रत्वेन च इति । उच्यते । सप्त शतानि त्रिशतिथं । ब्राह्मण-

२५ मपि चैतस्मिन्नर्थे भवति । ' सप्त च ये शतानि
त्रिशतिथं संवत्सरस्याहोरात्रा इति च ब्राह्मणमहोरात्रयोर्विभागोऽत्र विभा-
गेन ' इति । एवमेतस्मिन्सूक्ते संवत्सरं ' सर्वमात्राभिः ' सर्वैरवयवैः

१ ट. द. मण्डपृष्ठः. २ ठ. द. तज. ३ क. स. यार्थतो; घ. स. ट. द. द.
' यात्प्यतो; च. ' यात्प्येन ' त्यतो. ४ क. ल. घ. स. ट. चलानि च अच. ५
ग. च. ज. ' पायेनि. न. ' घ. ट. ' पाय० च तस्युः. ६ ग. च. ज. जयन्. ७ क.
ख. प. स. ट. ' सं ' नास्ति. ८ ग. ' च ' नास्ति; च इति च ऋ. च. ९ प. ट.

‘स्तौति’ । तस्मादुपपद्यते ‘सप्त युञ्जन्ति’ इत्येतस्यामृचि संवत्सर-
प्रधानास्त्रिणाभिचक्रमित्येयोऽर्धर्चः । तदेतत्सर्वमपि सप्तपुत्रसर्पणपुत्र-
मित्येतस्मात्पदात्पसक्तानुप्रसक्तमुक्तम् । प्रकृतमिदानीं वर्णयिष्यामः । किंच
पुनः प्रकृतम् । ऐक्यपदिकसमाधायव्याख्यानम् । तत्र यदुक्तं तदुक्तमेवं
यदनुक्तं तद्वक्तव्यमितीदमारम्यते ‘सस्त्रिमबिन्दुचरणे नदीनाम्’ इति ॥२७॥

५

नवमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

इति जन्ममार्गाश्रमवासिन आचार्यभगवद्गुरुंस्व कृतौ ऋज्वर्यायां
निरुक्तटीकायां नवमोऽध्यायः समाप्तः ।

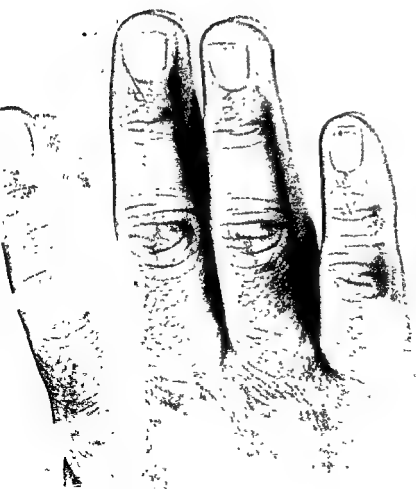
✽ एकार्थकोनुवयैःसुपर्णायादिन्द्रजुष्टोदेमूनाःसर्मातपन्तीपिरणमर्ह- १०
त्वातितेउसर्कुमिवतत्सूर्यस्येन्द्रेणसमीर्मान्तोसःकार्यमानःकनीनके
वोपोअदशिसुवितेविद्यामदेवीनआंघाद्यामेदितिरदितिरुत्तस्मात्राहो
स्यवामस्यसप्तयुञ्जन्ति सप्तविंशतिः ।

इति निरुक्ते पूर्वपट्टे चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ।

१५

१ ग. ज. ‘पुत्रसर्पणमित्ये’; च. ‘पुत्रं सर्पणमित्ये’ पुञ्ज. २ ग. ज. एक-
पदि’. ३ च. ‘स्थानम्. ४ क. ख. ६ (६७); ग. २९; इतोऽप्यङ्को नास्ति. ५
ग. इति चतुर्थः पादः; च. ज. ठ. ड. ‘नव...पादः’ नास्ति. ६ घ. ट. नवमा-
ध्यायश्च समाप्तः श्रीमज्जिम्वार्याश्रमवासिनो भगवद्गुरुंस्कृतवृत्तौ; झ. नवमाध्यायश्च
समाप्तः. ७ ग. ‘८कवृत्तौ टी’; ट. ड. टीकायां निवण्टुआध्यायसहनवबोऽध्यायः २०
समाप्तः । समाप्तश्चतुर्थः पादः. ८ ग. ‘समाप्तः’ नास्ति; च. ‘भातः । चतुर्थः
पादःसमाप्तः; ज. ‘भातः । चतुर्थः पादः. *इयं सण्डसुखला छ. त. द. पुस्तकेऽ
नास्ति. ९ ड. इति. नै. पू. च. यः; य. ‘समाप्तः’ नास्ति; ठ. ड. ‘इति निरुक्तपूर्व-
पट्टे चतुर्थोऽध्यायः’ इदं सुखलायाः प्राग्वर्ति; छ. त. इति चतुर्थोऽध्यायः
समाप्तः (छ ‘समाप्तः’ नास्ति); द. इति निरुक्तस्य चतु’.

२५



अथ पञ्चमाध्यायस्य
प्रथमः पादः ।

ॐ३म् सस्निमविन्दुचरणे नदीनाम् । संस्ताते मेघम् । याहि-
श्रो वां हवानां स्तोमो दूतो हुबन्नरा । वोळ्दृतमो हानानां स्तोमो ५
दूतो हुबन्नरौ नरा मनुष्या नृत्यन्ति कर्मसु दूतो जवतेर्वा द्रवतेर्वा
चारयतेर्वा । दूतो देवानामसि मर्त्यानामित्यपि निगमो भवति ।
चावशानो वष्टेर्वा चाश्यतेर्वा । सप्त स्वसूरूपीर्वावशान इत्यपि
निगमो भवति वार्यं वृणोतेरथापि वरत्तमम् । तद्वार्यं वृणीमहे १०
चरिष्ठं गोपयत्येम् । तद्वार्यं वृणीमहे चरिष्ठं गोपायितव्यं गोपायि-
तारो यूयं स्थ युष्मभ्यमिति वान्ध इत्यन्ननामाध्यानीयं भवति ।
आममेभिः सिञ्चता मद्यमन्त्रः । आसिञ्चतामन्त्रैर्मदनीयमन्धोऽ-
मन्त्रं पात्रममा अस्मिन्नदन्त्यमा पुनरनिमित्तं भवति पात्रं पाना-
त्तमोऽप्यन्ध उच्यते नास्मिन्ध्यानं भवति न दर्शनमन्धतम १५
इत्यभिभाषन्तेऽयमपीतरोऽन्ध एतस्मादेव । पश्यदक्षणात्त विचे-
त्तदन्ध इत्यपि निगमो भवति ॥ १ ॥

‘सस्निम्’ (निघ० ४ । २ । १) इत्यनवगतम् । अर्थाप्रतीति-
रप्यनवगम इत्युच्यते । लक्षणासंपन्नेः संस्कारः खल्वप्यविज्ञानमियुच्यते ।
तत्रैवं सति कश्चित्कृत्यादेः संस्कारस्यानवगमः २०
अनवगमस्य कश्चिदर्थोप्रतीतिरेव कश्चिदुभयस्याप्यनवगमो
प्रकाराः यथास्मिन्नेव सस्निमिति । न विज्ञायते किमप्युक्तं
भवति । प्रकरणादत्र मेघोऽभिधेयः । अन्यत्रा-
न्योऽपि कश्चित्स्यात्प्रकरणविशेषादेव । एवं सर्वत्रैवोपेक्षितव्यम् । प्रकरण-
सामर्थ्याच्छब्दो ह्यर्थान्तरं भजते । २५

१ क. ख. घ. वोळ्दृतमो; छ. त. द. वोळ्दृतमो. २ छ. त. द. ‘वृतो० भवति’
नास्ति. ३ छ. त. द. वोषितारो. ४ ठ. ह. सस्निमविन्दुचरणे नदीनामेनि । सस्नि-
मित्य०. ५ क. ख. ग. ज. घ. ट. ठ. ड. ‘पञ्च पं’; च. ‘पञः सं’ च. ६ घ.
कवि. ७ क. ख. घ. ज. ट. ठ. ड. ‘दोऽप्यर्था’; च. ‘दोऽप्यर्था’ स. ८ ग.
‘जते । १ । सस्नि’.

‘सखिमेवविन्दधरणे नदीनामपावृणोदुरो अश्ममृजानाम् । प्राप्तां गन्धर्वो
अमृतानि वोचदिन्द्रो दक्षं परि जानादहीनाम्’

‘सखिम्’ इत्यस्य (ऋ० सं० १० । १३९ । ६) ॥ विश्वाव-
प्रयोगोऽर्थश्च सोदैवगन्धर्वस्येयमार्यम् । घर्मोत्सादने विनियुक्ता
(मैत्रा० सं० ४ । ९ । ११) । तत्रोक्तं

‘परिपित्ते गन्धर्वनामभिरुपतिष्ठन्त ऋत्विजो यजमानश्च’ [मान०
श्रौ० ४ । ४ । २६] इति । तासांमुपस्थानर्चामियं मध्येमैत्रायणीयके
[मैत्रा० सं० ४ । ९ । ११] । सखिं संज्ञातम् अङ्गिः परिवेष्टितं
सर्वतः परिप्लुतं धौतं वा मेघमविन्दत् अलभतेन्द्रः । ॥ पुनरलभत । चरणे

१० नदीनाम् । यत्र नदना आपधरन्ति गच्छन्ति तत्रालभत । अन्तरिक्षलोके
इत्यर्थः । आह । लब्ध्वापन्तरं किमकरोदिति । उच्यते । अपावृणोत् अपावृ-
त्तवान् । उद्धाटितवानित्यर्थः । दुरः द्वारः । आह । कस्य । उच्यते । अश्ममृ-
जानाम् अपाम् । अश्मा मेघस्तमभिरूढा या व्रजन्ति स वौ यासां व्रज-
भूतो गौष्ठभूतस्ता अश्मव्रजा आपः । तासां निर्गमनद्वाराण्यपावृणोत् ।

१५ या एता एवंलक्षणा आपस्तासामस्य चेन्द्रस्य गन्धर्वो विश्वावसुः
प्रावोचदमृतानि नामानि च्छान्दसस्तुतिपुक्तानि । तानि हि निव्यत्वाद-
मृतानि । आह । कस्मात्पुनरस्येन्द्रस्यामृतान्येवोचदासां चापामिति । उच्यते ।
इतो यस्मादसाविन्द्रो दक्षं दातारं मेघमयमासाम् अहीनाम् अयनानामपां द्वारे-
ष्वपावृत्तेषु दानाय समर्थो भविष्यतीत्येवं परिजानात् परिज्ञौतयान् परि-

२० ज्ञाय चापावृणोदुरोऽश्मव्रजानां तस्मादस्येन्द्रस्यामृतानि नामानि प्रावोचद-
द्विश्वाजेन प्रकारेणेन्द्रेण दत्ताभिः सर्वमेवेदं जगद्ध्यै धियत इत्यासामप्यपामनेन
हेतुना प्रावोचदिति । एवमेतस्मिन्मन्त्रे ‘चरणे नदीनामविन्ददपावृणोत्
दुरो अश्मव्रजानां दक्षं च परिजानात्’ इत्येकवाक्यतार्थसंबन्धात् ‘सखि’
शब्दो मेघविशेषणमुपपद्यते ।

१ प. स. ट. ठ. ड. दाराणि; च. दारैः राणि. २ क. ल. घ. झ. एषु
पुरतश्चेपु ‘वा’ स्थाने ‘च’ वर्तते; ट. चं वा. ३ प. स. ट. ठ. ड. प्रयो;
च. प्रयो प्र. ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘तानि प्रावो’; च. ‘तानि अत्रो’
प्रा. ५ ग. ज. ‘परिज्ञातवान्’ नास्ति. ६ प. स. ट. ठ. ड. परिज्ञ नाय. ७
२९ च. जगद्विन्त्ये इ” द् धियत. ८ ग. ज. प्रयो. ९ क. ख. घ. ट. दुरोऽश्मव्र.

अथवायमस्य मन्त्रस्य पादव्यत्ययेनार्थः स्यात् । संज्ञातं मेघमविन्द-
 लभतेन्द्रः पर्येष्यमाणः । काविन्दत् । चरणे नदी-
 सक्तिमविन्ददित्यस्य नामपामन्तरिक्षलोके । लब्ध्वा च स एवेन्द्रस्तं
 मन्त्रस्यान्योऽर्थः मेघं दक्षं दातारमहीनामपां परिजानात् । परि-
 ज्ञाय च समर्थोऽयमिति ततस्तस्य द्वारमपावृणो-
 दंश्मन्नजानामपमधोनिर्गमनाय । तत एतानि निर्गमैष्यामृतान्युदकानि
 सस्यसेपत्काराणि प्रावोचदिव प्राक्कथयदिवासाविन्द्रो गन्धर्व आसां प्रजानां
 जीवध्वमेभिर्दक्षैरस्मदत्तैरिति । ' इन्द्रो गन्धर्वस्तस्य मरुतोऽप्सरसः '
 [भैत्रा० सं० २ । १२ । २] इति श्रूयते । तस्मादिन्द्रस्यापि गन्ध-
 र्वत्वमुपपद्यत एव । स च गोर्वज्रस्य धारयितेति गन्धर्वः ।

' वाहिष्ठः ' [२] इत्यनवगतम् । ' वोदृतम् ' इत्यवर्गमः ।
 ' वाहिष्ठो वां हर्षानां स्तोमो दूतो हुंश्चरा । युवाभ्यां भूत्वश्विना ' [ऋ०
 सं० ८ । २६ । १६] ॥ गायत्री । विश्वमनसो वैयश्वस्येयमार्थं
 पितुर्वा व्यश्वस्य । प्रातरनुवाकाश्विनयोः शश्वते [आश्व० श्रौ० ४ ।
 १५] । हे नरो सर्वेषामेव वोदृणां स्तोमानामाह्वानृणां च यं एष वाहिष्ठः
 अतिशयेन वोढा अह्वानृतमोऽयमेव दूत इव युवां हुंश्चत् । आह्वयदित्यर्थः ।
 योऽयमेवंलक्षणः स्तोमोऽश्मत्पेरितः स बिसकालमेव युवाभ्यां भूत् ।
 भवत्वित्यर्थः । हे अश्विनाविति संबोधनम् । ' स्तोमो दूतः ' इत्याभ्यां
 समानविभक्त्यन्तत्वात् ' वाहिष्ठ ' शब्दः स्तोमविशेषणमित्युपपद्यते ।

निगमप्रसक्तमुच्यते । ' मनुष्या ' अपि हि ' नराः ' उच्यन्ते । ते हि
 ' नृप्यन्ति ' गात्राणि पुनः पुनः प्रक्षिपन्ति ' कर्मसु ' उपस्थितेषु तान्य-
 नुतिष्ठमानाः ।

' दूतो [३] जवतेर्वा ' गत्यर्थस्य । स हि गच्छति । ' द्रवतेर्वा ' गत्यर्थ-
 तस्यामेव ऋचि दूत- स्तैव [धा० १ । ९७०] । ' वारयतेर्वा ' ।
 शब्दः स हि वारयत्यनर्थान् ।

१ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'यम्यस्य. २ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
 दाराण्यपा°. ३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. निर्गमान्यम्°. ४ घ. झ. ट. ठ. ड.
 प्रक°. ५ च. गोर्वज्र°. ६ ग. 'गमः । २। वाहि'. ७ ग. वां इगनाम् । गायत्री°;
 घ. ट. वां० भूत्वश्विना. ८ ठ. ड. नरा नरी. ९ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. य एव
 एष. १० क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. इत्येताभ्यां.

‘वावशानः’ [४] इत्यन्यगतम् । ‘वष्टेर्वा’ कान्त्यर्थस्य [धा० २ । ७०] ‘वाश्यतेर्वा’ शब्दार्थस्य [धा० ४ । ५७] वावशानः स्यात् ।

‘सप्त स्वस्वरूपैर्विवशानो विद्वान्मध्य उर्जभारा दशो कम् । अन्तर्धेमे

अन्तरिक्षे पुराजा इच्छन्वविमविदत्पूणस्य’ [ऋ०

‘वावशानः’

सं० १० । ५ । ५] ॥ त्रितस्य दैयस्मेयमार्धम् ।

इत्यस्य प्रयोगोऽर्थश्च

आग्नेयी । त्रिष्टुप् । आतस्नुवाकास्विनयोः शस्यते

[आश्व० श्रौ० ४ । १३] । सप्त स्वसारो भग्न्य इव । या ह्यर्चिपः समानञ्जन्म-

त्वादथवा सह सर्पणात्स्वसारस्ता हि सह सर्पन्ति । अरूपोः आरोचनाः ।

दीप्ता इत्यर्थः । या ह्यलक्षणा अर्चिपस्ता अर्शिर्वावशानः कर्मयमानो वा

वाश्यमानो वा शब्दं कुर्याणो विद्वाम् आत्मीयमधिकारं जानानो मन्वो घृतस्य

हविषः पूर्णो उर्जभार ऊर्ध्वं हतवानेषां लोकानां दशो कम् । दर्शनयेत्यर्थः ।

ता एता ऊर्ध्वं हत्वा दर्शनमभि व्यञ्जयित्वा जनानामन्तः आदित्यस्य मध्ये

यदन्तरिक्षं तत्र येमे तत्रोपनिषमितवान् तद्वविः पुराजाः अग्निः । स हि

सर्वदेवेभ्यः प्रथम एव जातः । इच्छन् वविं रूपम् । कस्य । पूणस्य

पूर्णो आदित्यस्य । कथं नामासावादित्यो दीप्तरूपः स्पष्टतोऽन्तरादित्यस्य

येमे । तं चासावेतमर्थम् अविदत् । अलभतेत्यर्थः । स पूर्वं दीप्तरूपः

आदित्यः सेवृत्त इत्यभिप्रायः । एवमत्र ‘स्वैर्मृवावशान’ इत्यनेन सामा-

नाधिकरण्याच्छब्दसारस्याच् ‘वावशानः’ इत्यस्य कान्त्यर्थत्वं शब्दार्थत्वं

धोषपघते ।

२०. ‘वार्धम्’ [५] इत्यन्यगतम् । ‘वृणोते’ धातोः । यद्वर-

यितव्यं भवति तद्वार्धमित्युच्यते । ‘अथापि’ कदाचिद्वार्धशब्देन यत्

‘वर्तमानं’ श्रेष्ठतमं किञ्चिद्वर्तते तद्वर्धते । ‘तद्वार्धं’ वृणीमहे वरिष्ठं

गोपयत्यम् । भिन्नो मत्वान्ति वरिष्ठो यदर्थमा ।

वार्धमिवारय

[ऋ० सं० ८ । २५ । १३] ॥ विश्वमनस

२५

इयमार्धं भैत्रावरुणे सूते । तद्वार्धं वृणीमहे । वर-

१ ग. वगात् । २ । सप्त. २ ग. ‘वशानो’ । वित; घ. ट. ‘वशानो’
पूणस्य. ३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘वशानो’ । ४ ठ. ड. ‘रोचमानः’ । ५
ग. झ. ‘वा.’ नास्ति. ६ घ. झ. ट. ठ. ड. ‘वाश्यमानो वा’ नास्ति. ७ क.
ख. ग. ज. पूर्णं त. ८ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. एवं ता ऊर्ध्व. ९ ग. ज.
पूर्णं वादि; घ. पूर्णं गोदि; ण्यः आ. १० क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. १५; घ.
एवं व. ११ ठ. ड. सप्त स्पृ. १२ ग. ‘व्यते’ १५। तदा. १३ ग. ज. वृणीमहे
१५ वरिष्ठमिति । विश्व; घ. ट. वृणीमहे यदर्थमा.

यितव्यं वरणाहं धनं वृणीमहे हे स्तोतारो वरिष्ठं गोपायत्यं गोपायितव्यम् ।
यद्रक्षणार्हमित्यर्थः । अथवा गोपयत्यं गोपायितारो यस्य धनस्य यत्
भविष्यति तद्वृणीमहे । अथवा युष्मभ्यं यौष्माकीणं यद्ववति तद्वृणीमहे ।
किंच । नित्यकालमेव मित्रावरुणार्थमाणो यत्पान्ति । रक्षन्तीत्यर्थः । तद् वृणी-
महे । एवमत्र मित्रावरुणार्थमाणो यत्पान्तीत्यनेन संवन्धात् 'वार्थ'—
शब्दो धनविशेषणमित्युपपद्यते ।

'अन्धः' [६] इत्यनेकार्थमनवगतं च । 'आध्यानीयम्'
इत्यर्थमस्तीति । प्रार्थनीयमन्नं भवति सर्वस्यैव । 'अध्वर्यवो भरतेन्द्राय

सोमैरामत्रेभिः सिञ्चता मयमन्थः । कामी हि
वीरः सदर्भस्य पीतिं जुहोत वृष्णे तदिदं वधि' १०

[ऋ० सं० २ । १४ । १] ॥ गृत्समदस्येयमा-

प्यम् । रात्रिपर्याये शस्यते । होतुः शस्त्रे विनियुक्ता [आश्व० श्रौ०
६ । ४] । अस्यैव च शस्त्रस्य याज्येया (तथैव) । हे अध्वर्यवो भरत

प्रापयतेमं सोमम् एतस्माद्विधानादुत्तरवेदिम् इन्द्राय इन्द्रार्थम् । अथवा
भरत धारयताम्रेण्यारि । ततश्चैनम् अमत्रेभिः अमत्रैः पार्श्वेभिः सोमचमसैः १५

वषट्कारे प्राप्ते आसिञ्चत एतस्मिन्नग्नौ मयं मदनीयमेतस्सोमाह्वयमन्थः ।
कस्मात्पुनरेवं ब्रवीमि । इतो यस्मात् कामी हि वीरः । कामयत

एष वीर इन्द्रः अस्मै सोमस्य सदर्भं सदैव नित्यकालमेव पीतिम् । पान-
मित्यर्थः । तस्मात्कारणात् जुहोत तस्मै वृष्णे वधिं इन्द्रार्थं सोमम् ।

किमेतमेव केवलं सोममेव कामयते । नेत्युच्यते । तदिदं वधि । तत्त- २०
त्सोमप्रदानमेव इन्द्रो वधि । कामयत इत्यर्थः । न केवलं रात्रिपर्यायेष्वित्यर्थः ।

तस्मादासिञ्चतेमं सोमं मा विलम्बन्वमित्यभिप्रायः । एवमत्र दानसंवन्धात्
'अन्धः' शब्दोऽन्तार्थ उपपद्यते । पठितमपि चान्ननामसु (निघ० २ ।

७] । अनेकार्थत्वाच्च संदिक्षत इत्येव निगम उपात्तः ।
निगमप्रसक्तमुच्यते । 'अमत्रं पात्रम् । अमा अस्मिन्नदन्ति' । अन्ध- २५

न्तीत्यर्थः । 'अमा' शब्देन 'पुनः' यदनिर्मितपरिमाणं किञ्चिद्ववति
तदुच्यते । न हि तेषां परिमाणमस्ति यावन्तस्तस्मिन्नदन्ति । 'पात्रं

१ क. रा. गोपिताये; घ. हा. ट. ठ. ड. गोपयिताये. २ ग. "१५१ । ५ ।
अध्व". ३ ग. ज. सोमविनि । गृत्स; घ. ट. सोमं देव वधि. ४ घ. "सिञ्च"
सोम. ५ ग. घ. ज. यस्य. ६ घ. हा. ट. ठ. ड. "मितं अग्निर".

पानात् । पीयते हि तेन । तमोऽप्यन्ध उच्यते । किं कारणम् । ' नष्टस्मिन्
ध्यानं ' दर्शनैकतं ' भवति ' चक्षुषो दृष्टिनिरोधात् । लौकिका अपि दर्शन-
निरोधे सति ' अन्धं तम इत्यभिप्रायन्ते ' । स्त्रियः सतीस्तौ
उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षष्वान्न वि चेत्तदन्धः । कविर्यः पुत्रः

५ स ईमा चिकेत यस्ता विजानात्स पितृष्पितासत् '

अदर्शनलक्षणत- [ऋ० सं० १ । १६४ । १६] ॥ अस्य-
मोऽर्थे ' अन्ध ' शब्द- यामीये । त्रायतेः पालनार्थस्यात्र स्त्रीशब्दो निरु-
प्य प्रयोगः च्यते । पालयिष्य एवैताः सत्यः कृत्स्नस्य जगत्

एत एव रश्मयो नाडीभिराध्यात्मिकोभिरनुप्र-

१० विषय प्राणिनां शरीराण्यनपत्तिं कुर्वन्ति ततः स्थितिरुपजायते । एत एव
वर्षप्रदानेन कृत्स्नं जगच्चायन्ते तस्माच्चाणास्त्रिय एताः । ' तान् ' इति
नकारान्तं पदम् । ' उ ' इति पदपूरण एव । तानेवैलक्षण्यादस्मीन्
पालयितुन् सतः । मे ममेति मन्त्रद्वयात्मानं निर्दिशति । मैमेतान् पुंस
आहुः । एत एव रश्मयो बहुप्रज्ञाना इत्येवं ब्रह्मविद आहुः । एत एवा-

१५ अनपत्त्यादिनोपकारेणोपकुर्वन्तो जगच्चायन्ते । एत एव बुद्धेः सत्त्वार्थ-
प्रकाशित्वेनोपकुर्वन्तीत्यभिप्रायः । आदित्यान्तरपुरुषो हि बुद्धयधिदेवता ।
तदवयवभूताश्च रश्मयः । ते नोऽप्यन्तर्गता अध्यात्मपुरुषस्य विज्ञानमुपहन्ति ।
अतस्तेषां बहुप्रज्ञानत्वमुपपद्यते । आह । कः पुनरेताव्रह्मनिर्धेयगुणयुक्तान्
पश्यतीति । पश्यदक्षष्वान्न विचेतदन्धः । यो दक्षष्वान्नभवति दर्शनम्वान्

२० विज्ञानवान् वेदार्थविज्ञानेनोपजनितप्रज्ञः स एव ताम्यां गुणाम्यां युक्तान्
पश्यन्नास्ते नित्यकालं नित्यमुक्तत्वात् । इतरस्तु योऽन्धः अध्यानवान्
अश्रुतवेदोपनिषत्कः स मन्दबुद्धित्वान्न विचेतत् वेदान्याधात्म्यतः पश्यति ।
न विजानातीत्यर्थः । यः पुनरेवमेतान्याधात्म्यतः पश्यति स एव कविः
क्रान्तदर्शनो भवति । परिनिष्ठितविषय इत्यर्थः । स च परिनिष्ठित-

२५ विद्यत्वादेव पुत्रः पुरुषो बहूनोऽहसस्त्राता । मन्त्रायमेवंगुणयुक्तः

१ क. ख. प. झ. ट. ठ. ड. दर्शनं कृतं. २ ग. °पन्ते । ६ । भियः°.

३ ग. ज. मे पुंस आहृति । अस्य°; घ. ट. मे°पितासत्. ४ घ. झ. ट.
मामेताव; ज. मानैतान्. ५ घ. झ. ट. इत्येव. ६ क. ख. घ. झ. ट. कुर्वन्ति
ज°. ७ घ. झ. ट. ठ. ड. अत ए°. ८ ग. ज. तेऽप्यन्तर्ग°. ९ क. ख. प. झ.

१० ट. ठ. ड. आध्या; घ. अध्या° आ.

स ईम् आचिकेत । 'ईम्' इति पदपूर्णः । आचिकेत । स एवैतानेवमा-
भिमुख्येन यथावत्पश्यति नेतरो मूढः । यथैतानेवं पश्यति स एव पितु-
रपि पिता भवतीत्यर्थः । स ह्याधिदैविकमात्मानमभिसंपन्नो भवति । न
हि तस्य पिता नाम कश्चित् । स एव हि सर्वेषां जनानां पिता भवती-
त्यभिप्रायः । एवमेतास्मिन् मन्त्रे य एवाक्षप्वान् भवति स एव पश्यती-
त्यस्य संनिधौ 'न विजानात्यन्धः' इत्यस्य प्रयोगाददर्शनलक्षणं तमः
'अन्धः' शब्देनोच्यत इत्युपपद्यते ।

'असंश्रन्ती' (७) इत्यनवगतम् । 'असंज्यमाने इति वा' इत्यर्थ-
प्रतीतिः । 'अन्युदस्यन्त्याविति वा' इति ॥ १ ॥

असंश्रन्ती भूरिधारे पर्यस्वती । असंज्यमाने इति वान्युदस्यन्त्या-
विति वा बहुधारे उदकवत्यां वनुष्यतिर्हन्तिकर्मानवगतसंस्कारो
भवति । वनुष्याम वनुष्यत इत्यपि निगमो भवति । दीर्घमयज्यु-
मति यो वनुष्यति वयं जयेम पृतनासु दूढ्यः । दीर्घप्रततयहमभि-
जिघांसति यो वयं तं जयेम पृतनासु दूढ्यं दुर्धियं पापधियं
पापः पातापेयानां पापत्यमानोऽवाहेन पततीति वा पापत्यतेर्वा
स्यात्तरुष्यतिरप्येवंकर्मा । इन्द्रेण युजा तरुषेम वृषमित्यापि
निगमो भवति भन्दना भन्दतेः स्तुतिकर्मणः । पुरुमियो भन्दते
धामभिः कविरित्यपि निगमो भवति । स भन्दना उदियति
प्रजावतीरिति च । अन्येन मदाहनो याहि तूषम् । अन्येन मद-
हनो गच्छ क्षिममाहंसीव भाषमाणेत्यसभ्यभाषणादाहना इव
भवत्येतस्मादाहनः स्यादपिर्नदो भवति नदतेः स्तुतिकर्मणः ।
नदस्य मा रुषतः काम आगन् । नदनस्य मा रुषतः काम आग-
मत्संरुद्धमजननस्य ब्रह्मचारिण इत्पृषिपुड्या विलपितं वेद-
यन्ते ॥ २ ॥

'असंश्रन्ती भूरिधारे पर्यस्वती घृतं दुहाते मुहुते शुचिन्ते । राजन्ती

१ प. स. ट. ठ. ड. पादः; व. वृद्धं पा. २ प. स. ट. ठ. ड. इत्यन्य-
शब्दप्रयोगः. ३ ठ. ड. 'पश्यते' इति नेहकटीकायां पञ्चमाख्यायां प्रथमः खण्डः ।
अतः. ४ ठ. ड. अपमन्ती इति । अम. ५ क. ख. १; ग. पा. १; इति खण्डो
नास्ति. ६ त. द. पाठमभ्यासः.

अस्य भुवनस्य रोदसी अस्मेरेतः सिञ्चतं यन्मनुर्हितम्' (ऋ० सं०
६ । ७० । २] ॥ भरद्वाजस्थेयमार्गम् । अभि-

असधन्ती इत्यस्य प्रवस्य यदहस्य पद्मेऽहनि सृतीयसवने यस्व-
देवे रात्रे द्वापृथिवीये निविद्वानीये सूक्ते रास्यते

५ [आश्व० श्रौ० ७ । ७] । असग्यमाने असंस्त्रिष्यमाणे परस्परत एते
द्यावापृथिव्यौ । भूरिधारे बहुधारे बहुदकप्रक्षरणस्वभावे एव । अथवा बहु
भूतं धारयिष्यौ । पयस्वती उदकवत्यौ । घृतम् उदकं द्वे अप्येते दुहति
प्रपूरयेते इतरेतरसंभोगेन । मुकृते शोभने कृते मुकृते । अथवा शोभनानां
स्वाधिकारप्रयुक्तानां कर्मणां कर्तव्यौ । शुचित्रते शुक्लकर्मणावित्यर्थः ।

१० राजन्ती दीप्यमाने स्वैः स्वैस्तेजोभिः । अस्य भुवनस्य भूतजातस्य रोदसी
रोधसी रोधयिष्यौ । ये एते एवंलक्षणे द्यावापृथिव्यौ ते अस्मे अस्मभ्यं
रेत उदकं सिञ्चतम् अभिमते काले । किल्लक्षणं पुनः सिञ्चतम् । यन्मनु-
र्हितं मनुष्यहितम् । अक्षारं सस्यसंपत्करमित्यभिप्रायः । एषमेतस्मिन्मन्त्रे
भूरिधारे इत्येवमादिभिः समाननिभक्त्यन्तत्वात् 'असधन्ती' इति द्यावा-
१५ पृथिवीविशेषणमित्येतदुपपद्यते 'असग्यमाने इति' । न हि ते सग्येते
परस्परतः । 'अव्युदसन्त्यौ वा' । अनुपाक्षियन्त्यौ अविपर्यस्यन्त्यौ वा । न हि
ते उपक्षीयेते विपर्यस्येते वेति ।

'वनुष्यतिः [८] हन्तिकर्मा' हन्त्यर्थे वर्तमानः 'अनवगतसंस्कारो
भवेति' । यदिन्द्राग्नी जना इमे विद्वयन्ते तनां

१० वनुष्यतिर्हन्ति- गिरा । अस्माकैर्भेनुभिर्वैयं सांसद्वायं पृतन्यतो वनु-
कर्मा इत्यस्य याम वनुष्यतो नभस्तामन्यके संभे' [ऋ०
सं० ८ । ४० । ७] ॥ नाभाकस्याप्यम् । महाव्रते

महदुक्थे रास्यते [ऐ० आ ५ । ३ । १] । अस्याः पुनरष्टाक्षराः
पद् पादाः । छन्दसां पुनरनुक्रमणां शौनकेनाग्निमस्तोपीत्यत आरभ्य
२५ जागतानि त्रीणि सूक्तानि अनुक्रान्तानि [छन्दोनुक्रमणी ८ । २५] ।
तेषामपीयं मध्ये । हे इन्द्राग्नी यत् यदा इमे जनाः येऽस्मदीयाः परकीयाश्च

१ प. ये भूरि°; ट. ये भूरि°. २ क. स. घ. झ. ट. ठ. ड. 'मुकृते' नास्ति.

३ क. ख. ग. अ. घ. स. ट. ठ. ड. 'कर्मणा इत्य°; घ. 'कर्मणावित्य°' भेणी इ.

४ क. स. घ. झ. ट. ठ. ड. 'एतत्' नास्ति. ५ ग. 'वति' । ८ । यदि°.

३० ६ ग. अ. इमे इति । नाभा°; घ. ट. इमे० न्यके संभे.

ते उभयेऽपि विह्वयन्ते न्यत्ययेनेतेतरमाह्वयन्ते विजिगीषुतया तना
संततया गिरा याचा । अथवा तना घनेन निमित्तभूतेन जेतव्येन पुर-
स्कृतेन विह्वयन्ते । तदा युवाम् अस्माकेभिः अस्मदीयैः नृभिः मनुष्यैः
सहितौ भूयास्तम् । ते वयं युवाभ्यां सहिताः सासह्याम् पुनः पुनरभिभवेम ।
कान् । य एते पृतन्यतः पृतनामस्माभिः सह कर्तुमिच्छन्ति तानभिभवेम ।
किंच । धनुयाम् वनुष्यतः । ये चैतेषामस्माभिः सह संयत्तौ एव संप्रहा-
रीभूता वनुष्यन्त्यस्मान् प्रत्येव एतांश्च वनुष्यतो वनुयामः । वयं हन्म इत्यर्थः ।
कथं पुनर्हन्म इति । उच्यते । यथा नभन्तामन्येके समे । मा भूदन्नन्यके
सर्वे । युवयोरनुप्रहादहन्म इत्यभिप्रायः । एवमेतस्मिन्मन्त्रे सासह्याम् पृत-
न्यतः इत्येतस्मिन्संग्रामाधिकारे वनुष्यतेर्हन्त्यर्थत्वमुपपद्यते । न हि संग्राम-
मेव हननादन्यत्कर्तव्यमस्ति यत्क्रियते ।

‘इन्द्रावरुणा युवमभ्वराय नो विशे जनाय महि शर्म’ यच्छतम् ।
दीर्घप्रपञ्चमुमति यो वनुष्यति वयं जयेम पृतनाम् दूदयः’ (ऋ० सं०

७ । ८२ । १] ॥ वसिष्ठस्येयमार्यम् । जगती ।

तस्यैव द्वितीयमु- सार्तायसवनिकीये मैत्रावरुणस्य शस्त्रे विनियुक्ता ।

दाहरणम् [आश्व० श्री० ६ । १] हे इन्द्रावरुणौ

युवम् । युवाभित्यर्थः । अभ्वराय नो यज्ञाया-

स्माकं विशे जनाय सर्वस्मै मनुष्यजनायास्मत्सत्ताकाय महि महत् शर्म

मुखं यच्छतम् । दत्तमित्यर्थः । दीर्घप्रपञ्चं दीर्घप्रततपञ्चं निसं यायजू-

कम् अग्निहोत्रिणम् अति यो वनुष्यति अभिजिघांसति योऽभिहन्तुमि-

च्छति । किं तस्येति । उच्यते । वयं जयेम पृतनाम् संग्रामेषु दूदयः दुर्धियः

पापवियः । पापया विषा हि दीर्घप्रततपञ्चोभिजिघांसेत्युच्यते । एवमत्राभि

१ ग. ज. विजिगीषुया; घ. स. ठ. ड. ‘गीषतया; ट. ‘शीषितया’ पु. २ ग.
ज. संयत्ता ए. ३ घ. ‘एव सह संय’. ४ ग. घ. ज. ‘हन्मेति’. ५ ग. घ. ज.
‘हन्मेति’. ६ घ. ट. ठ. ड. ‘स्मिन्तया’. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. संग्रामे
हन्; घ. हन्. ८ ग. ‘यते; १५ इन्द्रा; घ. क्रियते’ यते. ९ क. ख. ग. ज.
‘हनत्सर्वकामाय महि; ट. ‘सत्सत्ताकाय’ वक्रामा. १० क. ख. घ. झ. ट.
ठ. ड. नित्ययाय’. ११ घ. झ. ट. ठ. ड. अभि यो जिघां. १२ घ. दूदयः
दूधे. १३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. दुर्धियं पापवियं; घ. दुर्धियः [घं] पापवियः
[घं]. १४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘यत्तमभिजिघांसति । एव; म. ज. ‘यतोऽभि-
जिघांसते; घ. यतोऽभिजिघांसते उच्यते’ संऽभिजिघांसते’ न भिजिघांसते. १५

प्रकरणात् ' वनुष्यतिः ' हन्त्यर्थः । अल्पप्रयोगविषयत्वाद्वाच्यकारेण निगमद्वयं पठितम् ।

व्याख्यानप्रसक्तमुच्यते । ' पापः पाता पेयानाम् ' । अपेयान्यलेह्यानि यानि तान्यसौ पिबति । विषयप्रसक्त इत्यर्थः । ' पाप्यमानः ' पुनः पुनः पात्यमानस्तेनैव पापेन कर्मणा ' अवादेव ' नरफमेव प्रति ' पतति ' असौ तस्मात् ' वा ' पापः ।

' तरुष्यतिः [९] अयेवंकर्मा ' । हन्तिकर्मेत्यर्थः । ' ऋभुर्भूमि-
रभि वः स्याम विभ्वो विभुभिः शवसा शवीसि । वाजो अस्मां धवतु
याजसाताधिन्द्रेण युजा तरुपेम वृत्रम् ' (ऋ०

१० तरुष्यतिरित्यस्य सं० ७ । ४८ । २] ॥ वसिष्ठस्येयमार्पम् ।
प्रयोगोऽर्थश्च त्रिष्टुप् । अविवाक्ये तृतीयसवने वैद्यदेवे

शस्त्रे आर्भवे सूक्ते निविद्धानीये शस्यते
[आश्व० श्री० ८ । १२] । हे शत्रय ऋभव उरुमासो वयम् उरुमाभिः
ऋभुभिः देवैः सहिता अभि वः स्याम अभिभवेम युष्मान्ययम् । हे विभ्वः
१५ विभुभिः विभूतर्बलैर्घुष्माभिः सहिताः शवसा स्वेन बलेनैतेपामभिभवि-
तृणां शवांसि बलाम्यभिभवेम । किञ्च । वाजो अस्मानयत्न रक्षतु । कस्मिन् ।
याजसातौ संप्राप्ते । इन्द्रेण धै युजा संयुक्ताः सन्तो वयं तरुपेम हन्मेनं
वृत्रम् । शत्रुमित्यर्थः । अभिभवाधिकारान्तरुष्यतिर्हन्त्यर्थ उपपद्यते ।

' भन्दना [१०] भन्दतेः स्तुतिकर्मणः ' स्तुर्यर्थे वर्तमानस्य ।
२० ' पिता यज्ञानामसुरो विपश्चिता विमानमग्निर्वयुनं च याचताम् । आ विवेश
रोदसी भूरिर्वपसा पुरुषिथो भन्दते धामभिः
भन्दतेः स्तुतिकर्मण कविः ' [ऋ० सं० ३ । ३ । ४] ॥ विश्वा-
इत्यस्य मित्रस्येयमार्पम् । पृष्ठस्य प्रथमेऽह्न्याग्निमारुते

शस्त्रे वैदधानीये सूक्ते निविद्धानीये शस्यते
२५ [ऐ० ब्रा० २० । २] । पिता यज्ञानां पालयिता यज्ञानाम् अग्निः

१ ग. अ. पाप्यमान. २ ग. अ. पात्य. ३ ग. 'त्यर्थः । १० । ऋमु'.
४ ग. स्याम० वृत्रं; घ. ट. स्याम० तरुपेम वृत्रं. ५ ऋ. श. ट. ठ. ड. 'शवसः'
नास्ति; च. शत्रय उरुमा' ऋम. ६ ट. 'भूतर्बलैः'; ठ. विभूतैर्घुकेः यु' ति; ड.
विभूतैर्घुकेः यु'. ७ ठ. ड. 'च' नास्ति. ८ ग. 'नर' । ११ । पिता. ९ घ. श.
ट. ठ. ड. 'मार्प' जगती । ४'; च. 'मार्प' जगती. १० क. स. घ. स. ट.
ठ. ड. 'शस्त्रे निविद्धानीये वैषाग्नीये सूक्ते शस्त्रा'; च. 'वैषाग्नीये सूक्ते निविद्धानीये'
१२ नीये.

अमुरः प्रज्ञावान् विपश्चितां प्रज्ञावतामपि मन्ये प्रज्ञावान् । विमानं विनि-
र्माणं कृत्स्नस्य जगतः । अग्निनैव ह्यग्निहोत्रादिकर्भद्वारेण कृत्स्नं जगद्विनि-
र्भायते । वयुनं च प्रज्ञानम् अयमेव वाघताम् श्रुत्विजाम् । श्रुत्विजो ह्ययमेवा-
ग्निर्विशिष्टं यज्ञसाधनमित्येवं मन्यन्ते । योऽयमेवंलक्षणोऽग्निः आविवेश
रोदसी चावापृथिव्या भूरिवर्षसा बहुरूपत्वेन तमेवंगुणयुक्तमग्निं पुरुषियो
बहुकामप्रियः स्तोता भन्दते स्तोति धामभिर्नामाभिस्नेकप्रकारैः कविः ।
क्रान्तदर्शन इत्यर्थः । पुरुषियो हि स्तोता धामभिरग्रेः किमन्यस्तुतेः
कुर्यात् । तस्मादुपपद्यते स्तुत्यर्थत्वमस्य ।

‘स भन्दनां उदियति प्रजावतीविश्वायुर्विश्वाः सुमरा अहर्दिदि । ब्रह्म
प्रजावद्रयिमन्त्रपस्यं पीत इन्द्रविन्द्रमस्मभ्यं याचतात्’ (ऋ० सं० ९।८६ । १०
भन्दना इत्यस्य ४१] ॥ भौमोऽग्निस्तस्येयमार्गम् । जगती । प्र
त आशयः पवमान धीजवः इत्यष्टाचत्वारिंशको
महासूक्ते [ऋ० सं० ९ । ८६] एकचत्वारिंशत्तथै पवमानी सौमि ।
यदि मम यज्ञं कर्मोपनमेधुनुयामहमेतं सोमं तत्रेति य एवं नित्यकालमा-
शास्ते स एष सांप्रतमग्निं सोमकर्मण्युपनते हे सोम तव भन्दनाः स्तुतौः
उदियति उदीरयति प्रजावतीः प्रजासंयुक्ताः । प्रजालिङ्गा इत्यर्थः ।
विश्वायुः । विश्वमयतीति विश्वायुः । सर्वत्राप्रतिहतप्रज्ञान इत्यर्थः । सर्वतो
वा विश्वायुः । विश्वाः सर्वप्रकाराः । नामबन्धुर्गुरुप्रसंभवा स्तुतिः ।

१ प. स. ट. ठ. ड. ‘पञ्चा पाथिवेषुतादिवह’; च. ‘बहुरूपत्वेन’ पाथिव-
वेषुतादिरूपेण. २ ग. ‘मस्य । १२ । ४’ . ३ ग. उदियति प्रजावती० । १०
वालिष्ठो इत्यादि । यदि’; प. ट. उदियति० एवं याचतात्. ४ ज. अहर्दिदि ।
वालिष्ठो इत्यादि । यदि. ५ ग. ज. वालिष्ठो मुहूर्तो नामाष्टस्तस्येयमार्गं महासूक्ते
जगती पवमानी सौमि वा. यदि’; च. ‘प्राति ०० सौमि वा यदि’ भौमोऽग्नि०
मानी सौमि. ६ ठ. ड. याज्ञकर्मोऽधुनास्थितं भवेत् अहमेतत्तनुयामहमेतं. ७
क. ख. ‘मेत्तनुयामह’; ग. ज. प. ठ. ड. ‘परातुयामह’; च. ‘मेत्तनु-या’ लु; ट.
‘मेत्तनुया’ तनुया पाठः. ८ प. ट. एष. ९ क. ख. झ. ‘स्मिन्तोय’.
१० प. स. ट. पञ्चाः पञ्चाव’ . ११ ग. ज. ठ. ड. ‘जास्तुतीः ना’; च. संद-
(जा) स्तुतिः । (तीः) ना; प. ट. ‘जा स्तुतिः’.

उभे च संधे' [याज्ञ०मिताक्षरा०दिव्य प्रक०१०२] 'सूर्याचन्द्रमसौ'
'वायुश्चान्तरपुर्यः' इत्येवमादयः । न ह्येतेषां किंचिद्विदितं परोक्षम-
स्तीत्यभिप्रायः । यतो ब्रवीमि । अन्यकुलजेन केनचित्पुर्येण मतस्त्वं हे
आहनः मैथुनं याहि तूयं क्षिप्रम् । 'आहंसीव' असम्पमेतत् 'भाप-
माणा' त्वम् । नाहमेतदसभ्यं श्रोतुमप्युत्सहे तव किं पुनः कर्तुम् । ५
तस्मान्मतोऽन्येन मैथुनार्थं चर । तेनैव सह विवृह अभ्युद्यच्छ्वात्मानं
मैथुनकर्मणि । रथेय चक्रौ । यथा रथचक्रे द्वे अभ्युद्यच्छत एवमेकमनस्त्व-
मुपपाद्य तेनैकभूतेन मनसा अक्षेणेवोभे अपि शरीरे । त्वं च तस्य कामिनः
सैकं स च तव । तेनैव सह तवैतस्मिन्नर्थे एकमनस्त्वमस्त्विति न मया
सार्धम् । एतस्मिन्नर्थेऽभ्युद्यच्छमाना न मां शक्यसे कम्पयितुमित्यभिप्रायः । १०
एवमेतस्मिन्मन्त्रेऽनिष्टत्वान्मैथुनसमाचारस्य 'आहनः' इत्येतद्यमैविषयं
संबोधनम् । आहन्यत इव हि स यमस्तयाऽनेन दुर्वचनेन । तस्मात्सैवं
संबोध्यते आहन इति । 'एतस्मात्' एव कारणात् 'आहनः स्यात्' ।
योऽयमसत्प्रदेशः स्त्रिया असावपि हि यस्य संनिधौ संकीर्यते स आह-
न्यत इवासम्यञ्जातस्य । 'अयन्नियो वै पुर्योऽमेभ्य आहनस्याज्जोयते' १५
इति विज्ञाप्यते [भैशा० सं० १ । ६ । ४] ।

'नदः' [१२] इत्यनवगतम् । 'आपिर्नदो भवति' इति शब्दस्य
पर्यायेण तत्त्ववचनम् । 'नदतेः श्रुतिकर्मणः' इति व्युत्पत्तिः । नैन्दिता
वा नर्दनो वेत्यर्थप्रतीतिः । 'नदस्य मा रुधतः कामे आगन्त आजातो
अमुतः कुतश्चित् । लोपांमुद्रा वृषणं नी रिणाति १५

नदः इत्यस्य धीरमधीरा धयति श्वसन्तम्' (ऋ० सं० १ ।
१७९ । ४) ॥ अगस्त्यलोपांमुद्राव्रसचारि-

सूक्तसंवादे लोपांमुद्राया इयमार्थम् । सात्रवीदगस्त्यं भर्तारमभिप्रेत्य ।
नदस्य नदनस्य नैन्दिता देवतास्तोतुरस्यागस्त्यस्य रुधतः संरुद्धयतः
इन्द्रियग्रामं मामयं कामः आगन् आगतवान् येनाहं सांप्रतं पीडये । सा २०

१ क. ल. ग. ज. घ. झ. ट. ठ. ड. चका रथचके इव । यथैकमनसं रथचके
(ग. ज. 'रथचके इव' नास्ति); घ. चका येषां रथचके दे० रथचके इव । यथे.
४ मसं. २ घ. तक्के का (कं). ३ घ. 'यमि वि'. ४ ग. ज. 'स्या जाय'; घ.
'स्याः जाय'; ट. 'स्योः जाय' स्याज्जा. ५ क. ल. ग. ज. घ. ट. नदिता. ६ ग.
नदिता ये; ७. नदतो ये. ७ ग. 'तीतिः । १४ । नद'. ८ ग. काम आग-
न्तः श्वसन्तम्; घ. ट. कामः धयति श्वसन्तम्. ९ क. ल. ग. ज. घ. ट.
ठ. ड. नदिता.

- पुनरेवं न जाने किमित एवास्मच्छरीराज्जातो मगोपरि ह्यभिव्यक्तोऽस्मसी-
 ढनापाथवा अमृतः अगस्त्यस्य शरीरात् । पुरुषगुणानुस्मरणाद्वि स्त्रियाः कामो
 जायतेऽभिव्यज्यते पुरुषस्य च ह्यनुस्मरणात् । अत एव स्मर इति काम
 उच्यते । तस्मादुपपद्यते इतो वास्मच्छरीरादमुतो वा नदशरीरात्कुत आजात
 इति । अथवान्यत एव कुतश्चिदयमागतः स्यादित्येतदपि तत्त्वतो न जान
 इति । एवं विलपमाना कामार्ता लोपामुद्रा राजर्षिपुत्रिका वृषणं रेतसो वरि-
 तारमगस्त्यं नीरिणाति निक्षेपेनाधिकं वा दोषेण गच्छति । यदि न
 ममासायुपरि प्रजननं न्यरोत्स्यत्तो नायं कामो ममागमिष्यदित्येवं दो-
 पेण गच्छति । 'रिणाति' इति गतिकर्मसु पठितम् (निघ० २ । १४ ।
 १० ५८) । अथवा चेतसा नीरिणाति । उपगच्छतीत्यर्थः । इष्टपुरुषानुचिन्तनं
 हि कामार्तायाः स्त्रियाः स्वभाव एव । तस्मादेवमप्युपपद्यते । धीरं
 स्थिरबुद्धिं ब्रह्मचर्ये अधीरा संक्षुब्धसर्धेन्द्रियप्रामा धयति पिबतीच चेतसा ।
 चक्षुर्म्या वा पश्यन्ती श्वसन्तं चेतसा व्यावर्तमानं तस्याः सकाशाद्-
 ब्रह्मचर्ये कृतबुद्धिं तथापि धयत्येव । 'श्वसिति नभेति' इत्येतद्गतिकर्मसु
 १५ पठितम् । एवं लोपामुद्रावाक्ये 'नदस्य रुधतो मामगन्कामः' इति प्रक-
 रणादुपरिर्नदशब्देनोच्यते इत्युपपद्यते । 'संरुद्धप्रजननस्य ब्रह्मचारिण
 इत्यपिपुत्र्या विलपितं वेदयन्ते' इति निदानप्रख्यापनम् ।

- 'सोमो अक्षाः' (१३) इत्येते द्वे पदे । अत्र 'अक्षाः' इत्येतत्पदमनवगतं
 पक्षेण चानेकार्थं । अर्यैव च संबन्धादुपलक्षणात् सोमशब्दोऽत्र समाम्नातः
 २० कथं नाम 'न यस्य द्यौर्वापृथिवी' इत्येतदेवोदाहरणमत्रोपलक्षितं स्यात् ।
 अत्र ह्यक्षा इत्येष शब्दः सोमशब्देन संबद्धो यथा भूतशब्देन मेघशब्दो
 'मेघो भूतो ३ भि यज्ञयः' इत्यत्र यथा चै 'अग्निर्नय' इत्यत्राग्निशब्दः । अत्र
 चाश्रोतिपक्षे अक्षा इत्यस्य शब्दस्य मुपपत्तय उदाहरणार्थो भवति तस्मादय-

१ क. स. प. स. ट. ठ. ड. 'गरत्यश' । २ क. स. प. स. ट. ठ. ड. माम-
 गनिः; च. ममाग. ३ च. इष्टपुरु. ४ क. स. प. स. ट. ठ. ड. पश्यति; च.
 पश्यन्ती ति. ५ ड. स. प. स. ट. ठ. ड. श्वसति नष्टीत्येवं गतिः; च. श्वसिति
 नभेति द. ६ क. स. प. स. ट. ठ. ड. मामगमत्कामः; च. मामाग-
 न्यामः मत्का. ७ ड. ड. चावेत्येव. ८ च. 'लक्षिते. ९ क. स. प. स. ट.

मनस्तर उपलक्ष्यते । अत्रप्रयोगविषयत्वादस्य मन्त्रस्य प्रतिपत्त्यर्थं सोम-
शब्दः समाम्नात एकपदसमाम्नाने प्राप्ते सति ॥ २ ॥

न यस्य द्यावापृथिवी न धन्व नान्तरिक्षं नाद्रव्यः सोमो अक्षाः ।
अश्रोतोरित्येके । अनुपे गोमान्गोभिरक्षाः सोमो दुग्धाभिरक्षाः । ५
लोपाशः सिंहं प्रत्यञ्चमत्साः । सियतिनिगमः पूर्वः क्षरति-
निगम उत्तर इत्येकेऽनूपे गोमान् गोभिर्यदा सियत्यय सोमो
दुग्धाभ्यः क्षरति सर्वे सियतिनिगमा इति ज्ञाकपूणिः श्रात्रमिति
क्षिप्रनामाशु अतनं भवति । स पतन्तीत्वरं स्था जगद्यच्छाप्रय-
मिरकृणोज्ञातवेदाः । स पतन्ति चेत्वरं स्थावरं जङ्गमं च यत्त- १०
त्क्षिप्रमग्निरक्षरोज्ञातवेदा ऊतिरचनात् । आ त्वा रथं यथोत्तय
इत्यपि निगमो भवति हासमाने इत्युपरिष्ठादव्याख्यास्यामौ वज्रकः
पद्भिरुपसर्पदिन्द्रम् । पानैरिति वा स्थाशनैरिति वा स्पर्शनैरिति
वा । ससं न पक्वमविदच्छुचन्तम् । स्वपनमेतन्माध्यमिकं ज्योतिर-
नित्यदर्शनं तदिवाविदज्जाज्वल्यमानम् । द्विता च सचा स्वधया १५
च श्रुभुः । द्वधं सत्ता मध्यमे च स्थान उत्तमे च श्रुभुः सुतभूः ।
भुगं न ग्रा भृगयन्ते । भृगमिव ब्राह्मणः प्रैषाः ॥ ३ ॥

‘न यस्य द्यावापृथिवी न धन्व नान्तरिक्षं नाद्रव्यः सोमो अक्षाः ।
यदस्य मन्युरधिनीयमानः शृणति वीर्यं रुजति २०
सोमो अक्षाः स्थिराणि’ [ऋ० सं० १० । ८२ । ६] ॥
इत्यस्य रेणुर्नाम विद्वामिन्द्रस्य पुत्रस्तस्येयमार्यम् । ऐन्द्रे
सूक्ते । सूर्यस्तु नामैकाहस्तत्रेयं निष्क्रेतल्यशस्त्रे
निविद्वान्नाये शस्यते [आश्व० धौ० ९ । ८] । न यस्य द्यावापृथिवी ।
न यस्येन्द्रस्य द्यावापृथिवी महिमानमश्नुयते । ज्यामुत इत्यर्थः । न धन्व २५

१ ग. १५ । ९; घ. ट. च. व. अश्रो नास्ति; ठ. ड. ९ इति निरुक्तीकायां
पक्षम. ५५ये द्वितीयः खण्डः. २ क. ल. ‘स्यामः । वज्र’; छ. त. द. ‘स्यामः
॥ १ ॥ वज्र’. ३ छ. त. द. ‘स्पर्शनैरिति वा’ नास्ति. ४ छ. त. द. अश्रो
नास्ति. ५ ग. ‘पृथिवी’ विषयान्ति; घ. ट. ‘पृथिवी’ रुजति स्थिराणि. ६ क.
ल. ग. म. वीर्य; घ. विन्द. ७ ग. म. ‘रथं’; ८ प-रोदृष्टम्.

नोदकम् । तद्धि धन्वत्यन्तरिक्षलोकात् । नान्तरिक्षं नोपद्रवः पर्वता
अश्रुवन्ति महिमानम् । किं तर्हि । सोम एवाक्षाः । महिमानमश्रोतीत्यर्थः ।

कथं पुनर्गम्यते सोम एवेन्द्रस्य महिमानमश्रो-

‘अश्राः’ इत्यस्य तीति । इतो यदस्य मन्युरश्रिनीयमानः । यस्मा-

५ ‘अश्रोति’ इत्यत्रार्थः दशेन्द्रस्य मन्युः क्रोधः सोमेन पीतेन सता मद-
सामर्ण्यादुपरि शत्रूणां नीयमानः प्राप्यमाणः

शृणाति वीर्यं । यदपि वीर्यं दृढं संस्तब्धं वीर्योत्सिक्तं शत्रुबलं भवति
तदपि शृणात्येव । हिनस्तीत्यर्थः । रुजति स्थिराण्यपि । दृढानि मेघवृ-
न्दानि भिनत्तीत्यर्थः । ‘एवमेतस्मिन्मन्त्रे व्याख्यार्थस्य ‘अश्रोतेः’ अक्षाः

१० इत्येष शब्दो निरूप्यते ‘इत्येयमेके’ मन्त्रार्थविदो मन्यन्ते ।

‘अनूपे गोमान्गोभिरक्षाः सोमो दुग्धाभिरक्षाः । समुद्रं न संवरणा-
न्यामन्मग्दी मदाय तोशते’ [ऋ० सं० ९ । १०७ । ९] ॥ सत-

र्षाणामार्षम् । बृहती । पावमानी सौमी । अनूपे देशे गोमान् गोभिः सहितो
यदा क्षियति निवसत्यथ तदा मुयवसत्यात्तस्य देशस्य सोमो दुग्धाम्यः

१५ पुनः पुनर्दुग्धाम्योऽपि गोम्यः क्षरत्येव । कथं
‘गोभिरक्षाः’ पुनः क्षरतीति । उच्यते । समुद्रं न संवरणानि ।

इत्यत्र ‘क्षियति’ समुद्रमिव संवरणान्युदकानि । तानि हि देशा-
भ्यर्थाः । ‘सोमो’ म्तरात्संवृण्वन्ति । तानि यथा सर्वेभ्यो देशेभ्यः

अक्षाः’ इत्यत्र संभृत्य समुद्रमाभिमुख्येन अगमन् गच्छन्त्येवं
२० ‘क्षरति’ इति दुग्धाम्यः सोमः सर्वेभ्यो गत्रेभ्यः संभृत्योद्यः प्रति-

क्षरति मदायेन्द्रस्य । अथ यदैवं प्रक्षरति तदा तेन

१ ग. ज. ‘नान्तरिक्षं’ नास्ति; च. ‘लोकाभा’ द्वयः ‘न्तरिक्षं’ नाप्य. २ क.

ख. ग. ज. घ. ट. ठ. ड. ‘आपे’ नास्ति. ३ ग. ज. महिमा नान्तरिक्षं नमश्रो’.

४ क. ख. ग. च. ज. घ. झ. वीर्य. ५ क. ख. घ. वीर्य; ग. ज. वीर्य; च. वीर्य.

२५ ड. ६. क. ख. घ. ट. ठ. संस्तब्धं शत्रु; झ. ‘शृणाति वीर्यं स्तब्धं वीर्योत्सिक्तं दृढं

संस्तब्धं शत्रु; ट. संस्तब्धं शत्रु’ इत्यर्थं वीर्योत्सिक्तं. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.

‘जति च स्थि’; च. ‘जति-स्थि’ च. ८ घ. झ. दृढानि; ट. ठ. ड. दृढानि.

९ ग. न्यन्ते । १०. अनूप. १ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. दुग्धाभिः. १० क.

ख. घ. झ. ट. ठ. ड. उदकानि हि. ११ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. संस्तब्ध;

२० च. संभृत्य ग. १२ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. संभृत्य ऊह; च. सर्वेभ्यो ग.

सोमेनामावास्थायां सोमाप्येन तृप्त इन्द्रो मन्दी हर्षशीलो यजमानस्य शत्रून्
चोशते । हिनस्तीत्यर्थः । 'नितोशयति निर्वहयति' इति हन्तिकर्मसु पठितम्
(निघ० २ । १९) । एवमेतस्मिन्मन्त्रे 'क्षियतिनिगमः पूर्वः' । 'अनूपे
गोमान् गोभिरक्षाः' इत्येषः । 'क्षरतिनिगम उत्तरः' । 'सोमो दुग्धाभि-
रक्षाः' इत्यत्र । एवम् 'एके' मन्त्रार्थविदो मन्यन्ते । तच्चैतत्तथैवोपन्या-
स्यात्तम् । 'सर्वे' एवैते त्रयोऽपि 'क्षियति-

सर्वे क्षियतिनिगमा निगमाः' निवासरार्था इति 'शाकपूणिः'
इति शाकपूणिः आचार्यो मन्यते । न यस्य द्वावापृथिव्यौ निवासौ
न धन्व नान्तरिक्षं निवासः । किं तर्हि । सोम
एव यस्य निवासः । सर्वे एव ह्यन्नमाश्रित्य निवसन्तीत्येतेनाभिप्रायेण सोम
इन्द्रस्य निवासः । तस्य सोमस्य किमिति । उच्यते । यदस्य मनुः अधि
शात्रूणां नीयमानः शृणोति बीडुं रुजति स्थिराणि । समानेनैतत्पूर्वैर्गैवार्थेन ।
'अनूपे गोमान् गोभिरक्षाः' इत्यत्र निवासार्थतैर्वै । पूर्वस्मिन्नेवार्थे । अथ
सोमो दुग्धास्त्रपि गोपूधःसु निवसति । न निर्दुग्धाः कर्तुं शक्यन्ते इत्यभि-
प्रायः । एवमेते पूर्वे त्रयोऽपि 'क्षियतिनिगमाः' इति 'शाकपूणिः'
आचार्यो मन्यते ।

'आत्रम्' (१४) इत्यनयगतम् । 'आशु अतनं भवति' इति
शब्दसमाधिः । 'क्षिप्रनाम' इत्यभिधेययचनम् ।
आत्रमित्यस्य प्रयो- 'यो होतासीं व्यर्थमो देवजुष्टो यं समाज्जना-
गोऽर्थश्च ज्येना वृणानाः । स पंतरी त्वरंस्या जगयन्नुत्रम्-
शिरःकुणो ज्ञातवेदाः' (ऋ० सं० १० । ८८
। ४) ॥ इयं हविष्प्राप्तीये सूक्ते । तत्पुनर्मूर्धन्यताक्षिरसेन दृष्टं याम-
देव्येन या । पृष्ठस्य पञ्चमेऽह्न्याग्निमारुते शस्त्रे निविद्धानीयं तद्वति

१ ग. ज. निवासो. २ घ. क्ष. ठ. ड. होनना; ट. विरपां सपु; घ.
'क्षिप्रं' ख (घ). ३ क. र. ग. अ. घ. ट. ठ. ड. 'नित्यनेनाभि' घ; 'ह्येतना' २५
पदेन. ४ क. र. घ. क्ष. वीतु; ग. ज. वीडु; घ. विडु; की. ५ क. र. घ. क्ष.
ट. ठ. ड. 'मात्रमन्त्रपू'; घ. 'मात्रमन्त्र' मन्य. ६ घ. 'सामंता इत्येव' ते. ७
घ. 'अन-तीति' ने भ. ८ ग. 'नम् । १७ । यो'. ९ ग. 'यमो-जातवेदाः'; घ.
ट. 'यमो-रह्मो-ज्यातवेदाः'. १० ग. ज. 'के । तत्रेयमेदेना जयती तदु'; घ.
'के । तत्रे-००० ती । तदु'.

('आश्व० श्रौ० ८ । ८) । यः अग्निः होतासीत् आह्वाता देवानां प्रथमः प्रधानो मनुष्यहोतुः सकाशात् देवजुष्टो देवैरासेवितः । यं समा-
जन् समुक्षितवन्तः । केन । आज्येन । वृणानाः । संभजमाना इत्यर्थः ।
तस्य किमिति । उच्यते । स 'पतत्रि सोऽग्निः पतत्रि च यदेतदितधेतश्च
'पतति इत्यरं च 'पक्ष्यादि स्थाः स्थावरं च वृक्षादि जगत् यत्र यदेतज्जङ्गमं
गवादि । तस्य किमिति । उच्यते । तत्सर्वं प्रलयकाले श्वात्रं क्षिप्रमात्मसात्
अकरोजातवेदा अग्निः । एवमेतस्मिन्मन्त्रे श्वात्रमित्येतत्क्षिप्रनाम । पतत्रिस्था-
वरजङ्गमानां क्षिप्रदहनादग्निः किमन्यत्कुर्यात् । तस्मादुपपद्यते क्षिप्रनामेति ।

'ऊतिः' (१५) इत्यनवगतम् । 'अवगम्' इत्यर्थप्रतीतिः ।

अवनात् । रक्षणादित्यर्थः । 'आ त्वा रथं यथोत्तैर्य

ऊतिः' इत्यस्य सुन्नायं वर्तयामसि । तुविकूर्मिमृतीपहमिन्द्र
शोधिष्ठ सत्यते' (ऋ० सं० ८ । ६८ । १) ॥

प्रेयमेधर्ष्यार्पम् । मरुवतीये शस्त्रे प्रतिपदेवा । (आश्व० श्रौ० ५ । १४) । हे
इन्द्र आवर्तयामहे त्वां वयं स्तुतिभिरात्मन ऊतये अवनाय । रक्षणायेत्यर्थः ।

सुन्नाय च सुखाय । कथं पुनरावर्तयामहे इति । उच्यते । रथं यथा ।
शक्नो हि कश्चिद्यथा रथमावर्तयेदेवमावर्तयामहे वयं त्वां स्तुतिभिः ।
किंलक्षणं पुनर्भवन्तमावर्तयामहे । उच्यते । तुविकूर्मि बहूनामनेकप्रकाराणां
कर्मणां कर्तारम् । ऋतीपहं च आर्तीनामभिषितारम् । हे इन्द्र शविष्ठ
बलिष्ठ सत्यते सतां पते । एवमावर्तनेनैकवाक्यशक्तिसंबन्धेन 'ऊति' शब्दो

रक्षणार्थ इत्युपपद्यते ।

'हासमाने' (१६) इत्येतत्पदमुपरिष्ठादनाह्यास्यामः 'प्र पर्ये

तानामुशती उपस्थात्' इत्यत्र (निरु० ९ । ३९) ।

'पङ्भिः' इत्यनवगतम् । 'पानैरिति वा स्पर्शनैरिति वा' गण्डसमाधी ।

'एवा महो अमुर वक्षथाय वप्नः पङ्भिरुषं सपदिन्द्रम् । स ईषानः

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'यत्र' नास्ति; च. 'गत् यत्र यदे'. २ ग.
'त्यर्थः ॥ १८ ॥ आ'. ३ ग. 'तये'. ४ ग. 'तये'. ५ ग. 'तये'. ६ ग. 'तये'. ७ ग. 'तये'. ८ ग. 'तये'. ९ ग. 'तये'. १० ग. 'तये'. ११ ग. 'तये'. १२ ग. 'तये'. १३ ग. 'तये'. १४ ग. 'तये'. १५ ग. 'तये'. १६ ग. 'तये'. १७ ग. 'तये'. १८ ग. 'तये'. १९ ग. 'तये'. २० ग. 'तये'. २१ ग. 'तये'. २२ ग. 'तये'. २३ ग. 'तये'. २४ ग. 'तये'. २५ ग. 'तये'. २६ ग. 'तये'. २७ ग. 'तये'. २८ ग. 'तये'. २९ ग. 'तये'. ३० ग. 'तये'.
१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'स्वाय च'; च.
'स्वाय'. २ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'संबन्धेन'; च. 'संबन्धेन'. ३ ग.
'माधी'. ४ ग. 'माधी'. ५ ग. 'माधी'. ६ ग. 'माधी'. ७ ग. 'माधी'. ८ ग. 'माधी'. ९ ग. 'माधी'. १० ग. 'माधी'. ११ ग. 'माधी'. १२ ग. 'माधी'. १३ ग. 'माधी'. १४ ग. 'माधी'. १५ ग. 'माधी'. १६ ग. 'माधी'. १७ ग. 'माधी'. १८ ग. 'माधी'. १९ ग. 'माधी'. २० ग. 'माधी'. २१ ग. 'माधी'. २२ ग. 'माधी'. २३ ग. 'माधी'. २४ ग. 'माधी'. २५ ग. 'माधी'. २६ ग. 'माधी'. २७ ग. 'माधी'. २८ ग. 'माधी'. २९ ग. 'माधी'. ३० ग. 'माधी'.
३० विष्णुमाभाः.

करति स्वास्तिमस्मा इपमूर्जे सुक्षितिं विद्वमाभाः

‘पङ्क्तिः’ इत्यस्य [ऋ० सं० १०।९९।१२] वप्रो नाम वैखानसस्त-
स्थेयमार्गम् । ऐन्द्री । य एष. एतस्मिन्सूक्ते स्तुति-

प्रकारोऽधिकृतः एयमेनेन प्रकारेण हे वर्तमान इन्द्र असुर असुमन् प्रज्ञा-
नवन् वलधन्वा वश्रथाय स्तुतिवक्त्रे महते वा यजमानाय पूर्वकल्यान्तरीणाय
पूर्वकल्यान्तरीण एव वक्त्रकः पङ्क्तिः सोमपानैरभ्युदितैरथवा गुणस्वाशनैः
स्तुतिगतेः उपसर्पत् उपसृतवानन्यकल्यान्तरीणमिन्द्रम् । स तेन यथा
ईयमानः अनुसृप्यमाणः करति कृतवान् । किम् । स्वास्ति स्वस्त्ययनम् ।
तस्मै यजमानाय । यतो ब्रवीमि । सांप्रतमहमेतस्मिन्कल्पे वक्त्रकत्वं चेन्द्रस्ता
एव चैताः स्तुतयो याभिरहमुपासयं सांप्रतं भवन्तम् । स त्वमेवं विज्ञायास्मै
वर्तमानाय यजमानाय स्वमधिकारं जानानः कुरु स्वस्त्ययनम् । किञ्च । इप-
मूर्जम् इपमन् ब्रीहियवादि ऊर्जं धीरादि सुक्षितिं च शोभननिवासं च
विश्वमेतत्सर्वम् आभाः आभिमुख्येनारभे यजमानाय भावयस्व । एवमेत-
स्मिन्मन्त्रे शब्दसारूप्याप्रकरणाच्च पङ्क्तिरित्येतत्पानामिधानं स्वाशनामिधानं
वेत्युपपद्यते ।

‘ससम्’ (१८) इत्यनवगतम् । ‘स्वपनम्’ इत्यवगमः । ‘प्र मातुः

प्रतरं शुद्धमिच्छन्कुमारो न वीरुषः सर्पदुर्वीः ।

‘ससम्’ इत्यस्य ससं न पक्रमेदिच्छन्तं रिहिंस्तं रिप उपस्थे
अन्तः’ [ऋ० सं० १० । ७९ । ३] ॥

अग्नेर्वैश्वानरस्याग्नेर्वा सूचीकस्य ससेर्वा वाजम्भरस्थेयमार्गम् । आग्नेयी ।
त्रिष्टुप् । प्रातरनुवाकाश्विनयोः शस्यते [आश्व० श्रौ० ४ । १३] ।
प्र मातुः प्रतरं प्रकर्षेण गततरं गह्वरं मातुः सर्वभिर्भोतुर्भूमेः अग्निः
धीरुधो दध्नुम् उपसर्पत् उर्वीः ऊर्णवत्यः प्रच्छाद्य भूमेर्निर्क्षरं प्रदेशं तस्मिन्
निर्क्षरप्रदेशे वर्तमानाः । तत्र हि ताः सुविद्वद्वाच्य भवन्ति । कथं पुनरुप-

१ च. वैषांनं रा. २ क. ख. घ. ट. ठ. ड. वर्तमान हे; च. हे वर्तमान. २५
३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘वा’ नास्ति; च. वा. ४ क. ख. घ. झ. ट.
ठ. ड. तपा इयानः ईय; च यथा ईय त. ५ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
अनुसृप्यमाणः; च. अनुसृप्यमाणः सिय. ६ ग. च. ज. रवमभि. ७ ग. गमः
। २० । प्र मा. ८ ग. मुसमिहन्. ९ अग्ने; घ. ट. मुसं उपस्थे अन्तः. १५.
ट. ठ. ड. मुसं गह्वरं; च. ‘तरं-गह्वरं’ मुसं. १० ग. ज. ‘निर्क्षरदेशं वसिन्’
नास्ति. ११ ठ. ड. मुवृद्धाद्य. १२ ग. ज. ‘रपात’.

सर्पेदिति । उच्यते । प्र मातुः प्रतरं गुह्यमिच्छन् कुमारो न । मातुर्यथा
 कुमारः प्रकर्षेण गुह्यतरं सर्वाङ्गैः स्तनप्रदेशं स्तनपानमिच्छन्नुपसर्पेदेवं
 योऽग्निर्वह्नेरुपधीके भूमेर्निर्झरप्रदेशे कुमार इव मातुः स्तनपानाय स्तनप्र-
 देशमिवोपासर्पत् । तत्रैव च निर्झरप्रदेशे रिरिद्धांसं पुनःपुनरास्यादयमा-
 नमोपधीः रिरपः अस्या एव भूमेः उपस्थे उपस्थाने निर्झरे^१ । निर्झरे हि
 भूमेः प्रदेशे आप उपतिष्ठन्त इति निर्झर एवोपस्थो भूमेः । तस्यान्तः ।
 मध्य इत्यर्थः । तस्मिन्नेवंलक्षणे प्रदेशे तमग्निम् अविदेत् कश्चिदपिरप्यो
 वौपधौरास्यादयन्तम् । कथं पुनरविदेदिति । उच्यते । ससं न पक्वमविदत् ।
 यथैव स्वर्पनशीलं माध्यमिकं ज्योतिर्वैद्युताख्यं पक्वमभिव्यक्तं वर्षासूर्यव-
 १० स्थानादयन्तेनैव दृश्यत एवं निर्झरान्तःप्रविष्टमपि सन्तमग्निमतिमहत्या-
 दर्चिणोऽविददेशापश्यत् शुचन्तम् । दीप्यमानमित्यर्थः । निर्झरेऽप्योऽनु-
 प्रविष्टो न विज्ञायते । अग्निस्तु निर्झररथोऽपि स्वया दीप्या विज्ञायत एवे-
 त्यभिप्रायः । य एवंगुणयुक्तोऽग्निः स इदं नाम करोत्वित्येवमाशीर्योग्या ।
 तच्चदष्टौ मासान् मध्यमिकं ज्योतिर्न दृश्यते तस्मादनित्यदर्शनात् 'स्वप-
 १५ नम्' इत्युच्यते । पञ्क्तिर्नामाभिर्व्यक्तिरित्युच्यते । एवमिह शब्दसारू-
 प्यादर्धोपपत्तेश्च 'ससम्' इत्यनेन शब्देन 'स्वपनम्' उच्यते इत्युपपद्यते ।

‘हिता’ (१९) इत्यनवगतम् । ‘द्वैधम्’ इत्यवगमः ।

‘यस्त्वद्भोता पूर्णो अग्ने यज्ञीयान्निहता च सत्तो

‘हिता’ इत्यस्य स्वधया च शंभुः । तस्यानु धर्मं प्र यज्ञा

चिदित्वोऽथा नो धा अप्यरं देवशीतो’ [ऋ०

सं० ३ । १७ । ५] ॥ कतस्य वैश्वामित्ररथेयमार्पम् । त्रिष्टुप् । प्रातर-

नुवाकाश्विनयोः शस्यते [आश्व० धौ० ४ । १३] । हे भगवन्अग्ने

१ प. झ. र. ठ. ड. बद्धीप्रधके. २ प. ट. ठ. ड. ‘पनीयः स्त’ ३ च.
 निर्झरे भूमेः प्रदेशे. ४ क. ख. प. झ. र. ठ. ड. ‘निर्झरे’ नास्ति. ५ ठ. ड.
 ‘विन्द’ ६ ग. ज. ‘रश्मि’; च. ‘रश्मि’ पन. ७ ग. ज. माध्यमिकं. ८ प.
 झ. ठ. ड. तत्पद्यो; च. तद्वद्देशीं घ्य; ट. तत्पद्यो पद्. ९ क. ख. ग. ज. घ.
 ट. ड. ड. पके नामा; च. पक्षिनां कं ना. १० क. ख. ग. ज. घ. ट. ठ. ड.
 १८ व्यक्तमित्यु; च. ‘व्यक्तिरित्यु’ चमि. ११ ग. ‘रश्मः’ १२ य.

पृथिवीस्थान त्वत्तो यः पूर्वो होता मर्त्यस्थानो वायुः । असावपि हि
दूतो देवानामिति श्रूयते ' आ दूतो अग्निमभराद्विवस्वतः ' [ऋ० सं०
६ । ८ । ४] इति । वैशुत्तोऽग्निरिति केचिन्मन्यन्ते । यजीयान् यदूतरः ।
द्विता च सत्ता । द्वैधं च यस्य विद्यमानता मध्यमे च स्थाने वैद्युतभावेन
उत्तमे च स्थाने सूर्यभावेन । रुधया च अक्षेन सर्वभूतानां वैष्णवद्वारेण
यः शंसुः सुखस्य भावयिता । तस्य किमिति । उच्यते । तस्यानु धर्म
तस्य बायोर्वृत्तिलाभमनु आत्मनो दीप्तिलक्षणां वृत्तिं पति लाभमाप्नुवन् ।
' वायुर्वा अग्नेस्तेजस्तस्माद्वायुरग्निमन्वेति ' [मैत्रा० सं० ३ । १ ।
१०] इति ह विज्ञायते । हे अग्ने प्रयज प्रकर्षेण यज देवान् हे चिकि-
त्वन् । ज्ञानवन्नित्यर्थः । अथ एवमस्माकं यागं कुर्वस्व शृणु यत्कुरुष्व ।
धा अध्वरं धारय यज्ञं देववीतौ । देवतर्पणमित्यर्थः । एवमत्र शब्दसार-
प्यादर्धोपपत्तेश्च ' द्विता ' इति शब्दो द्वैधमित्येवमुपपद्यते ।

' त्राः ' (२०) इत्यनवगतम् । ' त्रात्याः ' इत्यवर्गमः । ' गोभि-
र्धेदीमन्ये अस्मन्मृगं न त्रा मृगयन्ते । अभित्सरन्ति
त्रा इत्यस्य धेनुभिः ' [ऋ० सं० ८ । २ । ६] ॥ काण्वश्च

मेधातिथिः प्रियमेधध्याद्गिरस ऐन्द्रं सूक्तं ददृशतुः ।
तत्रैषा । अभिपूत्रस्य द्वितीयेऽहनि मरुत्वतीये शस्त्रेऽनुचरतृचे शस्यते [आश्व०
श्रौ० ७ । ११] । हे भगवन्निन्द्र यद्यपि त्वाम् अन्ये यजमानाः
गोभिः वाग्भिः स्तुतिलक्षणाभिः धेनुभिः च तर्पयित्रीभिराहुतिभिः
अभित्सरन्ति अभिगच्छन्ति अभिव्याप्नुवन्ति तथाप्यस्मानेव प्रत्यस्येहि ।
किं कारणम् । अतो यस्मादेतेऽस्माभिरतिरिक्तया भक्त्याऽन्येष्वो यजमा-
नेभ्यः सकाशात् त्रात्याः त्रैयाः युष्मत्संस्तत्रैयुक्तास्त्वां प्रति प्रहिता
मृगमिव इतरे लुब्धका त्रा त्रात्याः मृगयन्ते मर्गयन्ते त्वाम् । तस्माद्-

१ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. मध्यमस्था°. २ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
' च ' नास्ति. ३ च. 'ध्यमे-स्था° च. ४ च. षपदेकारेण° पणशः; ठ. ड. वर्ष-
दा°. ५ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. चिकित्वः चिकि°; च. हे° चिकि° चिकित्वः.
६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'हितेत्ययं हे°, ७ ग. ज. ' एवं ' नास्ति. ८ ग.
'गमः' । २२ । गोभि°. ९ ग. अस्मत् ° । काण्व°; घ. ट. आस्मत् ° न्ति धेनुभिः.
१० न. 'मयन्ते । काण्व°. ११ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'पूत्रस्य पददृश्य दि°.
१२ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. इतो; च. अतो° इ. १३ क. ख. घ. झ. ट.
ठ. ड. 'स्तवस्युक्ता°. १४ च. मार्ग-न्ते° य. २१

स्यतिरेकाद्विशेषहेतोरस्मानेव प्रत्यभेदि । एवमेतस्मिन्मृगसंक्रान्तात्परा-
न्देन ब्रह्मका उच्यन्ते इत्युपपत्तिः ।

‘वराहः’ (२१) इत्येतद्वनवगतमनेकार्थं च । ‘मेघः’ तावद्
‘वराहः’ उच्यते । स हि ‘वराहारो भवति’ । तस्य हि वरमुदकमाहारः ।
‘वरमाह, रमाहार्पांरिति च ब्राह्मणम्’ । निर्बचनस्य दृढप्रतीत्यर्थं ब्राह्मणमा-
चार्येण प्रदर्शितम् । यथा मेघो वराहशब्देनोच्यते तथैव निगमः ॥ ३ ॥

वराहो मेघो भवति वराहोरः । विध्यद्वराहं तिरो अद्रिमस्तेत्यपि
निगमो भवत्ययमपीतरो वराह एतस्मादेव वरमाहारमाहार्पांरिति
१० च ब्राह्मणं बृंहति मूलानि वरं वरं मूलं बृंहतीति वा । वराहमिन्द्र
एमुपमित्यपि निगमो भवत्यङ्गिरसोऽपि वराहा उच्यन्ते ।
ब्रह्मणस्पतिर्बृषभिर्वराहैः । अथाप्येते माध्यमका देवगणा वराहव
उच्यन्ते । पश्यन्दिरेण्यचक्रानयोदंष्ट्रान्वि धावतो वराहून् । स्वस-
राण्यहानि भवन्ति स्वयंसारीण्यपि वा स्वरादित्यो भवति
१५ स एनानि सारयति । उन्ना इव स्वसराणीत्यपि निगमो
भवति शर्या अङ्गुलयो भवन्ति शर्या इषवः शरमध्यः शरः शृणातेः ।
शर्याभिर्न भरमाणो गभस्त्योरित्यपि निगमो भवत्यर्को देवो
भवाति यदेनमर्चन्त्यर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्त्यर्कमन्त्रं भवत्य-
र्चति भूतान्यर्को वृक्षो भवति स वृतः कटुकिन्ता ॥ ४ ॥

२०

‘अस्पेदं मातुः सर्वेनेषु सद्यो महः पितुं पपिवाद्वाधेन’ । मुपायद्विष्णुः पचतं
सहंकाविष्यद्वराहं तिरो अद्रिमस्तो’ [ऋ०

मेघार्धे वराह सं० १।६१।७] ॥ नोधा नाम गीतमपुत्रस्त-
इत्यस्य श्येयमार्पम् । ऐन्द्री । त्रिष्टुप् । अभिजिद्विष्वजि-

२५ महावृतादिष्वहानिकेष्वहःस्वहीनरुक्ते माध्यंदिने सवने ब्राह्मणान्छंतिनः

१ क. स. घ. ङ. ट. ठ. ड. ‘सिन्मन्त्रे मृग’ । २ क. स. ‘पतिः । ३। वरा’.

३ ग. ज. ‘र्षादिनि; च. पौर्वादि’ रि. ४ ग. २३; इतरेष्वहो नास्ति. ५ क.

ग. ग. त. द. ‘हो वरमाहाराहार्पांरिति च ब्राह्मणम् । विध्य’.

६ क. ख. छ. ग. द. ‘वरमाहाराहार्पांरिति च ब्राह्मणं’ नास्ति. ७ क. स. छ. त. द. दूर’.

८ ठ. ड. भवति । आदि’.

९ क. स. छ. त. द. वराहन् । १० ख. ल. छ. त. द. ‘वन्ति सृजन्ति कर्माणि शर्या’.

११ क. स. छ. त. द. ५. १२ ग. दनेषु । नोधा’; प. ट. सवनेषु ष्यो० वराहं तिरो’.

१३ ज. ‘र्धना । नोधा’.

शस्त्रे विनियुक्ता [आधे श्रौ० ७ । ४] । अत्येदु मातुः १ अस्य जग-
 निर्मातुर्यज्ञस्य प्रातःसवनमाप्येदिनेतृतीयसवनेषु महतो यज्ञस्य महान्तं
 सोमभागे पपिषान् । पीत्वा चार्धत्वा चारुणि च शोभनान्यन्नानि अन्यान्यपि
 हवीषि भक्षयित्वा तैर्हविर्भिस्तेन च सोमेन विवृद्धवतः सद्य एव पचतं
 परिपक्वमुदकदानसमर्थं मेघं विष्णुः इन्द्रः सर्वभूतानां वैष्टीं प्राणभावेन
 मुपायत् । अमुष्णादित्यर्थः । सहोयान् अभिभावितृतमः । कथं पुनरमुष्णा-
 दिति । उच्यते । विध्यद्वाराहं तिरो अद्रिमस्ता । मेघं वराहम् । कथं
 पुनर्विध्यद्वाराहमिति । उच्यते १ तिरो अद्रिमस्ता । दूरादेव स्थितस्य अद्रि-
 वज्रमस्ता । क्षेत्तेत्यर्थः १ एवमेतस्मिन्मुपायच्छब्दसंज्ञाद्वाराहो मेघ
 इत्युपपत्तिः ।

१०

‘ अयमपीतरो वराह एतस्मादेव ’ । असावपि हि वरं मूलाख्यमाहा-
 रमाहरत्येव । वरं वरं मूलं बृहति । उच्यच्छतीत्यर्थः ।

मधायमपीतरो वराहश्चन्द्रश्छन्दसि वराह इत्युच्यते तथैव निर्गमः ।

विश्वेत्ता विष्णुर्भीमरुद्रकमस्येधितः । जतं महि-

पथ्ये वराहनाम चान्क्षारपाकमोदनं वराहमिन्द्र एमुमम् । [क्र० १५

से० ८ । ७७ । १०] ॥ काण्वस्य कुरुमुते-

रपिम् । ऐन्द्री । विश्वेत् विश्वानि तानि विष्णुराभरत् उरुरुनो
 बहुविक्तान्तः त्वेपितः संदीपित इन्द्रैवाक्येन ‘ दुर्गाद्या आर्हतीवोचथा
 एतर्माहर ’ [मै० सं० १ । ८ । ३] इत्यनेन । ‘ त्वा इपितः ’ इति

१ घ. झ. ट. ठ. ड. “दिनसवनतृती” । २ घ. झ. ट. ठ. ड. “सस्य २०
 महः पितुं महा” ; च. यज्ञस्य० महा” महः पितुं. ३ क. ख. घ. ट. ठ. ड. “शब्द
 पीतवान् । पीत्वा” ; च. “वाक्-” पीत्वा पीतवान्. ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. “मेघं
 हि विष्णुः” ; म. अ. विविष्णुः ; च. विविष्णुः. ५ ग. ज. वेवेष्टा”. ६ घ. झ. ट. ठ.
 ड. अद्रि एवावस्थित” ; च. दूरीत एवास्थित” अदूरे. ७ ग. ज. “वरं सङ्कक्षे” ; च.
 “त्येव १० वरं मूलं वरं. ८ ग. च. ज. ट. बृह” . ९ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. २५
 तथेय” ; च. तथैव” घ. १० ग. “गमः । २४ । विश्वे” . ११ ग. “राभर० एमुमम्” ; घ.
 ट. “राभरत्० वराह” . १२ घ. झ. ट. ठ. ड. ऐन्द्री बृहती । विश्वे” ; च. ऐन्द्री” ।
 विश्वे” मृती. १३ क. ख. घ. ज. इन्द्रो वाक्येन. १४ ग. ज. दुर्गाद्या ; च.
 दुर्गाद्या आ” ट. दुर्गाद्या आ” ; ठ. ड. दुर्गाद्या. १५ च. हतीवोचत् यथा
 एत” इत्य. १६ घ. ट. ठ. ड. एनद्राहरे” ; च. एनद्राहरे” दा. २०

पदविभागः । तथापि तु ' त्वेपितः ' इत्येकं पदं कृत्वैवं निरुक्तम् । परोक्ष-
कृतत्वान्मन्त्रस्य नान्यथार्थ उपपद्यते । कानि पुनस्तानि वसून्याहरदिति ।
उच्यते । शतं सहियान् बहून् महतो यज्ञानाहरत् । किलक्षणानिति ।
उच्यते । क्षीरपाकमोदनं प्रायणीयाख्यमादितः कृत्वा ये क्रियन्ते तान् ।
५ सोमक्रतून्त्यभिप्रायः । कुतः पुनराहरदिति । उच्यते । असुरं वराहरू-
पेणावस्थितं सर्वेषामसुराणां न्यामोहस्थानीयं मायया यमिन्द्रो जघान तस्य
मध्यादाहरत् । यत् ' अयं वराहमिन्द्र एमुपमेकविंशत्याः पुरां पार इत्युच्यते '
इत्येवं ब्राह्मणं मैत्रायणीयके (मैत्रा० सं० ३ । ८ । ३] तदनुवा-
दिनी चैषा ऋक् । तस्मादत्र वराहशब्देन वराह एवोच्यत इत्युपपद्यते ।

१० ' अङ्गिरसोऽपि वराहा उच्यन्ते ' । ' स ई' सत्येभिः सखिभिः ।
शुचद्विगोधायसं वि धनसैरददः । ब्रह्मणस्पतिर्वृषभिर्वराहैर्धर्मस्वेदेभिर्द्रविणं
व्यानद् ' [ऋ० सं० १० । ६७ । ७] ॥ अयासस्याङ्गिरसस्येयमा-
र्षम् । ब्राह्मणस्पत्यस्य काम्यस्य पशौ षड्विं विनि-

अङ्गिरोवाचिवराह युक्ता मैत्रायणीयके (मैत्रा० सं० २ । ५ । ७ ॥

१५ इत्यस्य ४ । १४ । १०) ॥ स ब्रह्मणस्पतिः सत्येभिः
सत्यवादिभिः सखिभिः समानख्यानैः शुचद्विः दी-
प्तिमङ्गिः विधनसैः विविधधनवाङ्गिः वृषभिः

परितृभिः वराहैः धर्मस्वेदेभिः धर्मतापयितृभिः प्रवर्ग्यकर्मणि । अथवा ।
यज्ञस्वेदेभिः यज्ञस्त्रैदयितृभिः । यज्ञसद्विर्वा । एवंगुणविशिष्टैरङ्गिरोभिः

२० सहितो ब्रह्मणस्पतिः गोधायसं गोः वाचो धारयितैरमपां वा मेघम्
अददः अदारयदिति विपरिणामः परोक्षकृतत्वान्मन्त्रस्य । दारयित्वा च द्रवि-
णम् उदकं व्यानद् । व्याप्राप्तीत्यर्थः । एतस्यामृच्यङ्गिरसां विशेषलिङ्गं नास्ति
वराहशब्दवाच्यत्वे । सूक्ते त्वेतास्मिन्नङ्गिरसो ऽडिङ्गमस्ति^२ ।

१ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. कृत्वैव. २ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. १।णां
२५ मध्ये व्यां च. १।णां व्यां मध्ये. ३ ग. ज. परं; च. परं पा. ४ घ. झ. ट.
ठ. ड. तदर्थानु; च. तदनुर्थ. ५ ग. च्यन्ते । २५ । स. ६ ग. सखिभिः
शु० नट्; ज. सखिभिः । अपां; घ. ट. सखिभिः० द्रविणं व्यानद्. ७ क. ख. घ.
झ. ट. ठ. ड. काम्यपशौ. ८ घ. झ. षड्विं; ट. ठ. ड. षड्विं. ९ च.
दीप्तिभिः. १० च. यज्ञस्त्रैदं स्वा. ११ ठ. ड. धारयितृभिः यज्ञस्त्रैद्विर्वा अपां.
१० १२ ग. मस्ति । २६ । ऋतं.

‘ ऋतं शंसन्त ऋजु दीर्घाना दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः । विप्रं
 पदमङ्गिरसो दर्धाना यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त ’
 सूक्तेऽङ्गिरसो लिङ्गं (ऋ० सं० १० । ६७ । २) ॥ ऋतं
 तस्मादङ्गिरसोऽपि च- शंसन्तः यज्ञं वा सत्यं वा प्रशंसन्तः । अपि च ।
 राहा उच्यन्ते ऋजु अकुटिलमजिह्वं नित्यकालमेव दीर्घाना
 ध्यायमानाः । सर्वभूतानामुपरि समचेतस इत्य-
 भिप्रायः । दिवस्पुत्रासः घातनवतोऽग्नेः असुरस्य प्रज्ञावतः पुत्राः । वीरा
 विविधानामर्थानां चत्वार ईरयितारो वा मेधावित्वात् । विप्रं पदमङ्गिरसो
 दधानाः । विप्रासं सर्वतः प्राप्तमङ्गिरसो दधाना यत्पदं स्थानं ज्ञानतद्दि-
 तस्य कर्मणः परा फलकाष्टा तामङ्गिरसो दधाना धारयन्तश्चेतसा
 विवृद्धप्रज्ञत्वात् । यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त । यज्ञस्य यत्प्रथमं मुख्यं
 । परमात्माख्यमनाष्टितिलक्षणं धाम स्थानं तत्त्वेन मनन्त । जानत इत्यर्थः ।
 एतदेवैतस्यामृच्यङ्गिरोलिङ्गं दृष्ट्वैव निगमो भाष्यकारेणोदाहृतः ‘ अङ्गिरसोऽपि
 वराहा उच्यन्ते ’ इति ।

‘ अथाप्येते माध्यमका देवगणा वराहव उच्यन्ते ’ मरुतो रुद्रा
 इत्येवमादयः । अङ्गिरसो हृषिसमाख्यामपि उच्यन्ते । तस्मान्माध्यमकाश्चेऽपि
 सति पृथगुद्धृत्योक्ताः । यथा तावन्मरुतो वराहगण्डेनोच्यन्ते तथैव
 निर्गमः । ‘ एतत्तत्र योजनमचेति सत्सर्वं यन्मरुतो गोतमो वः । पश्य-
 निहर्ष्यचक्रानयोदंष्ट्रांश्च धावतो वराहून् ’ इति
 अस्यामृचि मरुतो (ऋ० सं० १ । ८८ । ५) ॥ राहूगणस्य
 वराहगण्डेनोच्यन्ते गोतमस्येयमर्पम् । ‘ आ विद्युन्मङ्गिरसतः ’ [ऋ०
 सं० १ । ८८ । १] इतीयं चैतस्मिन्नेव
 सूक्ते । हे मरुत एतच्छृणु यौष्माकीणं न योजनमचेति न योगमा-
 गच्छति । त्रिजितारिवाद्भवतां न युज्यत इत्यर्थः । तस्य व्रतस्य किमिति ।
 उच्यते । सत्सर्वं यन्मरुतो गोतमो वः । अन्तर्हितं, यत्सर्वं मनुष्याणां

१ ग. ऋजु० मनन्त; ज. ऋजु० ऋतं; प. ट. ऋजु दीर्घा० प्रथमं मनन्त०.

२ ग. ट. व सत्यं वा यज्ञं वा प्रशंसं. ३ क. ख. य. झ. ट. ट. व. ‘ अङ्गिरसो दधानाः ’
 नास्ति; च. अङ्गिरसो दधानाः. ४ ग. ज. तमोभिर०. ५ ग. ‘ मयः ’ २७ । ९१०.

६ ग. चोत्रि० हून्; प. ट. भेति० वि धावतो वराहून्. ७ प. झ. ट. एह०.

यस्य च मध्यं युष्मन् वराहून् परेषां शत्रूणामुद्धृतून् उद्धर्षणान् हिरण्यच-
क्रान् मुवर्णविकृतचक्रान् अयोदंष्ट्रान् अयोर्मधेपान् रथानधिरूढान्
विधावतो नानाप्रकारं धावतः पश्यन् स्तौति गोतमस्तदेवं न योजनम-
चेति । अचेतांति गत्यर्थोऽञ्जतेर्गत्यर्थस्य सारूपात् । एवमत्र प्रकरणे
मरुतो वराहव उच्यन्ते इत्युपपत्तिः । मरुदादयो हि सर्व एव माध्यमका
देवगणा वराहव उच्यन्ते । तेषां शाखान्तरेषु मृग्या निगमाः । निगमा-
नुपलब्धौ वा 'माध्यमका देवगणा वराहव उच्यन्ते' इत्येतद्वहुवचनं मरु-
त्त्वेव योज्यम् । तेषां सप्तसप्तका गंगा ब्राह्मणे हि श्रूयन्ते 'ते सप्त सप्त
मरुतां गणाः' इति । तस्मादेवमप्युपपद्यत एव बहुवचनं भाष्यकारस्य ।
एकदेवताविषयोऽपि कदाचिद्वराहशब्दो भवत्येव । तदप्युपेक्षितव्यम् ।
तद्यथा । 'दिवो वराहमह्यं कपर्दिनम्' (ऋ० सं० १ । ११४ ।
५) इति रुद्र उक्तेः ।

'स्वसराणि' (२२) इत्यनवगतम् । 'स्वयं सारीणि' इत्यवगमः ।
'अहानि' इत्यभिधेयवचनम् । तानि हि स्वप्नमेव सरन्ति गच्छन्ति ।
'अपि वा स्वरादित्यः' अत्रोच्यते । 'स ऐनानि सारयति' गमयति ।
तेनैतानि स्वसराणीत्युच्यन्ते । 'विश्वे देवासां अमुरः सुतमा गन्त तूर्णयः ।
उस्ता इव स्वसराणि' (ऋ० सं० १ ।

'स्वसराणि' इत्यस्य ३ । ८) ॥ मधुच्छन्दस ईयमार्पम् । अग्नि-
प्रयोगोऽर्धश्च श्रोमे प्रलगे शस्त्रे गायत्रे तृचे वैश्वदेवे शस्यते
(आश्व० श्रौ० ४ । १५ ऐ० ब्रा० ११ ।

१) । हे विश्वेदेवा अमुरः कर्म प्रति त्वरमाणाः । ते हि यज्ञं कर्म प्रत्या-

- १ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'मृद्धतृन्'; ग. 'णां हृतृन्'; ज. 'णां हृतृन्';
च. 'णामृद्धतृन्' तृ. २ क. ख. श. अयोमयान् रथाः; घ. ट. ठ.
ड. 'अयोम०००००योजनमचेति' नास्ति; च. 'अयोर्मधेपान्'. ३ ग. ज. 'आगन्'; च.
२५ 'कारान्' रे. ४ क. ख. 'देतम'; ग. ज. 'देवं न'; च. 'देवं न' तत्त. ५ क. ख.
घ. ग. ट. ठ. ड. अचेतिर्गत्यर्थः. ६ ग. ज. 'न्यर्थसा'; च. 'त्यर्थसा' स्य.
७ घ. ख. ट. ठ. ड. इत्युच्यन्ते; च. 'हव उच्य' इत्यु. ८ क. ख. ग. ज. घ.
झ. ट. ठ. ड. च; च. 'वा' च. ९ क. ख. घ. ख. ट. ठ. ड. 'इने' नास्ति.
१० ग. ज. गणाः । वा. ११ ग. ज. श्रूयते. १२ ग. उक्तः । ४ । स्वत्.
१३ क. ख. ग. ज. एतानि; च. एतानि ना. १४ घ. ख. ट. 'नैनानि. १५ ग.
'उच्यन्ते. १६ विभे. १७ ग. ज. अमुरः । मधु; घ. ट. अमुरः उक्ता. १७
१९ क. ख. घ. ख. ट. ठ. ड. 'इयं' नास्ति १८ क. ख. घ. ट. ठ. ड. याज्ञिकं.

गन्तुं त्वरन्ते । अत एवमामन्वन्ते । सुतमागन्त । अस्माभिरभिपुतमेतं सोमं
प्रति आगन्त आगच्छत । हे तूर्णयः त्वरणशीलाः । कथं पुनरागच्छत ।
उत्सा इव स्वसराणि । यथा उत्सा रस्मयोऽहानि प्रति शीघ्रमागच्छन्त्ये-
वमागच्छत । एवमस्मिन्नादिमसंवन्धात्स्वसराण्यहानीत्युपपद्यते ।

‘शर्या’ (२३) इत्यनवगतम् । ‘शरस्य’ इत्यवगमः । ‘इपयः’
अभिधेयाः । ‘शरः शृणोतः’ हिंसार्थस्य (धा० ९ । १६) ।

हिंस्यते हि तेन । ‘अभ्यभि हि श्रवसो तत्-

‘शर्याः’ इत्यस्य दिद्योत्सं न कं चिज्जनपनिमाक्षितम् । शर्याभिर्न
भरमाणो गर्मस्योः’ (ऋ० सं० ९ । ११०

५) ॥ अथरुणात्रसदस्युक्ष - पर्य्येषु प्रधन्व वाजसातये’ इति पावमानं १०

सौम्यं सूक्तं (ऋ० सं० ९ । ११०) ददशतुः । पिपीलिकमध्यास्तिसोऽनुष्टुभः

परिपूर्ववृहत्सस्तासामियं द्वितीया । अभिततर्दिध एतं सोमं हे

अभियोतारः । पुनः पुनरभिहेतैत्यर्थः । श्रवसा श्रवणीयेन मन्त्रेण । कथं

पुनरभिततर्दिधेति । शर्याभिर्न भरमाणः । शरमयीभिरपुभिर्धया कश्चित्

कंचिदभितर्दयेद्वनुर्धायमाण एवमेतं सोमनेभिर्ग्रावभिः गर्मस्योः बाहो- १५

रवस्थितैरभिततर्दिध यूयम् । किंच । एवमेतं सोममभितर्दयन्तो यूयं वसती-

वरीभिरद्विरार्ध्याप्याप्य उत्सं न कंचित् कूपमिव कंचित् जनपानं महतो

देवजनौघस्य पानार्हम् अक्षितमक्षीणं कुरुत । महतो देवजनौघस्य पानार्हं

प्रभूतं कुरुतेत्यभिप्रायः । एवमिहाभितर्दनक्रियासंबन्धात् ‘शर्या’ शब्देन

‘इपयः’ उच्यन्त इत्युपपद्यते ।

२०

१ क. ल. ग. ज. ‘अन्ते. २ क. ल. ‘हिंस्यन्ते; च. ‘हिंस्यते’ स्प. ३ ग. तेन

। २९ । अभ्य. ४ ग. श्रवसा ततर्दिधो. स्योः; च. ट. श्रवसा भरमाणो गर्म-

स्योः. ५ ज. ‘क्षितम्. इयम्. ६ ग. ज. ‘पर्य्येषु. ७ ग. ज. ‘वाजसातये’ नास्ति; च. ‘दस्युभ-

वाव’ पर्य्येषु. ८ ग. ज. ‘सौम्यं. ९ ग. ज. तरयान्ते विरजस्तिस-

स्तासामियं; च. तस्योन्ते विरजस्तिसः. पिपीलिकमध्यास्तिसोऽनुष्टुभः वृहत्-

वृहत्स्यः. १० घ. ट. पदपूर्व; अ. ठ. ड. पदपूर्व. १० ग. ज. ‘भिधते’. ११ घ.

झ. ट. ठ. ड. ‘भिनं; च. ‘भिनं नं. १२ घ. ट. ठ. ड. ‘श्रवभिः’ नास्ति. १३

क. ल. ग. ज. ‘आप्याप्य’ सृष्टेय. १४ ग. ज. ‘देव’ नास्ति; च. ‘देव.

२८

‘ अर्कः ’ (२४) इत्यनेकार्थम् । ‘ देवः ’ तावत्सर्व एव ‘ अर्कः ’
इत्युच्यते । आह । किं कारणमिति । उच्यते ।
अर्कशब्दस्यार्थाः यस्मान् ‘ एनं ’ देवम् ‘ अर्चन्ति ’ स्तोतारः ।
‘ अर्को मन्त्रो भवति ’ । किं कारणम् । यस्मात्

- ५ ‘ ऐनेन ’ मन्त्रेण ‘ अर्चन्ति ’ तस्मादर्कः । ‘ अर्कमन्त्रं भवति ’ । किं-
कारणम् । तद्धि ‘ अर्चन्ति भूतानि ’ । यो हि पूज्यस्तस्यान्नसंस्कारविशेषेण
पूजा क्रियते । पूज्यं च सर्वस्थैवान्नम् । ‘ अर्को वृक्षो भवति ’ य एव
प्रसिद्धः । आह । किं कारणम् । उच्यते । ‘ स वृतः ’ । स वृक्षो हि संगतः
संव्याप्तः ‘ दृष्टुर्दुर्लभः ’ कटुकैर्भावेन भवति । यथा तावदेवोऽर्कशब्देनो-
च्यते तथैव निगमः । ४ ।

- गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः । ब्रह्माणंस्त्वा शतक्रतु
उदंशमिव येमिरे (ऋ० सं० १ । १० । १) ॥ गायन्ति त्वा
गायत्रिणः प्रार्चन्ति तेऽर्कमर्किणो ब्राह्मणास्त्वा शतक्रतु उद्येमिरे
१५ वंशमिव वंशो वनप्रयो भवति वननाच्छ्रयत इति वा पवी रथने-
मिर्भवति यद्विपुनाति भूमिम् । उत पव्या रथानामर्द्रिं भिन्दन्त्यो-
जंसा । तं मरुतः क्षुरपविना व्ययुरित्यपि निगमौ भवतां वृक्षो
व्याख्यातं धन्वान्तरिक्षं धन्वन्त्यस्मादपैस्तिरो धन्वातिरोचत
इत्यपि निगमो भवति सिनपन्नं भवति सिननाति भूतानि । येन
२० स्या सिनं भरथः सखिभ्य इत्यपि निगमो भवतीर्धामुपेत्येतेन
व्याख्यातं सचा सहेत्यर्थः । वसुभिः सचाभुवां । वसुभिः सह
भुवौ । चिदिति निपातोऽनुदात्तः पुरस्तादेव व्याख्यातोऽप्यापि ।

- १ उ. ड. ‘ इति ’ नास्ति. २ ऊ. स. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘ इति ’ नास्ति.
३ घ. झ. ट. ऐनेन. ४ घ. झ. ट. ठ. ड. पूज्यस्तस्यान्नमपि संस्कारविशेषेण
२५ संस्कृतं पूजायां क्रियते । पूज्यं; च. पूज्यस्तज्य. ५ च. ‘ येन पूजां किं ’ संस्कृतं
पूजायां. ६ च. पूर्वं ज्यं. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘ एणमिति. ८ च.
‘ स वृतः ’ नास्ति. ९ ग. ज. ‘ स वृक्षः ’ नास्ति. १० घ. झ. ट. ठ. ड. वृक्षो.
११ क. ख. घ. ग. ३० । ५; ठ. ड. ४ । इति नेल्फरीकायां मध्यमाध्याये
चतुर्थः खण्डः १२ क. ख. छ. त. व. ‘ वतः । वृक्षो. १३ क. ख. छ. त.
१० द. ‘ समादापः । गिरो. १४ क. ख. त. द. वति । इत्यां.

पशुनामेह भवत्युदात्तश्चिदासि मनासि चित्तास्त्वायि भोगाश्चेतयस
इति वा । आ इत्याकार उपसर्गः पुरस्तादेव व्याख्यातोऽथाप्य-
ध्यर्थे दृश्यते । अम् आँ अपः । अम्ने आ अपैः । अपोऽम्नेऽ-
धीति युम्नं द्योततेर्यशो वौनं वा । अस्मे युम्नमधि रत्नं च धेहि ।
अस्मासु युम्नं च रत्नं च धेहि ॥५॥

५

इति पञ्चमाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

गायन्ति त्वा गायत्रिर्णं इति । मधुच्छन्दस अर्पम् । अनुष्टुप् ।

ऐन्द्री । हे भगवन्निन्द्र गायन्ति त्वा गायत्रिणः ।

अस्यामृच्यको देवः स्तुवन्ति त्वां सामगाः सामभिः । अर्चन्त्यर्कम-

१०

र्किणः । पूजयन्ति त्वामृग्भिर्होतारो मध्विणः ।

एवमनेन प्रकारेण सर्व एव ते ब्रह्मणो ब्राह्मणाः यज्ञैर्कर्मणि हे शतक्रतो
उद्देशमिव येमिरे । उद्येमिरे वंशमिव त्वां स्तुतिभिर्हविर्भिध । यज्ञेषु तवैव
महिमानं वर्धयन्तीत्यर्थः । 'वंशो वनशयो भवति' । वने शयितं इवास्ते ।

'वननाच्छ्रूयत इति वा' । संभजनार्द्धी वर्तिभिः । एवमत्र देवोऽर्क-
शब्देनोच्यते । मन्त्रस्यार्कशब्दवाच्यत्वे 'अर्चन्त्यर्कमर्किणः' इत्येव एव

१५

'अर्किणः' इत्य- निगमः । अर्किणो हि मध्विण एवाभिप्रेताः ।
वृक्षस्तु प्रसिद्ध एव । तेन निगमस्तदभिधायको
त्रार्को मन्त्रः नैवास्ति ।

'पविः' (२५) इत्यनवगतम् । 'रथनेमिर्भवति' इत्यभिधेयवचनम् ।

२०

१ छ. त. द. अम् आ°. २ छ. त. द. अपोऽम्नेऽध्यप इति यु°. ३
क. ख. छ. त. द. वा अचं. ४ क. ख. ६ (५); छ. त. ६; द. अद्भो नास्ति.
५ छ. य. घ. 'इति० पादः' नास्ति; छ. प्रथमः पादः; त. पञ्चमाध्याये प्रथमः
पादः; द. इति गुरुकस्य पञ्च°. ६ ग. ज. 'त्रिणः०' मधु°; घ. ट. 'त्रिगो०
वंशमिव येमिरे । इति'. ७ ग. ज. 'हे' नास्ति; च. 'आर्प-भग' अनुष्टुप्-ऐन्द्री ।
हे. ८ क. ख. प. स. ट. ठ. ड. एते ब्रह्मा; च. एवं ते. ९ क. ख. घ. स. ट.
ठ. ड. यास्ते क°; च. यज्ञ° याज्ञे. १० ग. ज. शेत इ°; च. शेर इ°. ११ ग.
ज. घ. ट. 'नादावति'. १२ ग. ज. दृक्षः सुय°.

२८

‘यद्विपुनाति भूमिम्’ । सा हि विपुनाति भूमिमिति पविः । ‘उत्त. स्म
ते परुष्यामूर्णां वसत शुन्ध्यैः । उत्त. पन्था.

‘पविः’ इत्यस्य रथानामद्वि भिन्दन्त्योजसा । [ऋ० सं० ५।५२।
९] ॥ इयावाश्चस्येयमार्षम् । हे मरुतो येषां
यस्तिरोभवितुमाविर्भवितुं च काले शक्तिरस्ति

ते यूयम् उत्त. स्म अपि कस्मिंश्चित्काले शुन्ध्यवः मद्रव इव परुष्याः
नद्यां माध्यमिकायां वा वाँचि पर्ववत्यां यूयमेव शुन्ध्यवः शोधयितारः
ऊर्णाः छिन्नास्तिरोहिता वस्यै एतस्मिन्नन्तारिक्षलोके । अपि च । कस्मिं-
श्चिदम्युद्गमकाले प्राप्ते युष्माकं रथानां पन्थाः वा रथनेमयस्ता एव
अद्वि भिन्दन्ति ओजसा वलेन । किमुत यूयमित्यभिप्रायः ।

एवमेतस्मिन्नथसंयोगात्पविशब्देन रथचक्रनेभिरभिसंबन्धयते । ब्राह्मण-
मपि चैतस्मिन्नेवार्थे चातुर्मास्येषु सान्तपनं
पविशब्दस्य रथ- हविरोधिकृत्य ‘देवा वै वृत्रस्य मर्धं नाविन्दस्त्वं
नेम्यर्थे ब्राह्मणवचनम् मरुतः क्षुरपविना व्ययुः सै वा एनं तदतपंस्त-
स्मात्सान्तपनाः’ (मैत्रा० सं० १।१०।१४) इति ।
एतस्मिन्नपि च ब्राह्मणे चक्रनेभिः क्षुरधाराकृतिस्तीक्ष्णैः पविरित्युच्यते तस्मा-
दुपपद्यते । अल्पप्रयोगविषयत्वादुदाहरणद्वयम् ।

‘वक्षः’ (२६) इति व्याख्यातम् ‘उपो अदार्ति शुन्ध्यवः’ इत्यत्र
(निरु० ४।१६) ।

- २० १ ग. ज. यद्वि पुनाति भूमिमिति पविः (ग. पविः । ३१ ।). २ ग. पर-
ष्यामूर्णां व० । इयावां; घ. ट. परुष्या० भिन्दन्त्योजसा. ३ ज. शुन्ध्यवः ।
इयावां. ४ घ. ट. ठ. ड. काले कुले शं; च. काले-शक्तिं काले. ५ क. ख. घ.
झ. ट. ठ. ड. अपि च कस्मिन्न कां. ६ क. ख. ‘वा विपर्वं; ग. ज. घ. ट. ठ.
‘ड. ‘ वा ’ नास्ति; च. वाँ वाँचि. ७ ग. ज. छिन्ना; च. छिन्नां छ. ८ ट.
वस्यै त. ८ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘द्रवमकां; च. ‘द्रव-काले’ न. ९
घ. ट. ठ. ड. घः. १० घ. झ. ठ. ड. ‘संपद्यते. ट. ‘संपद्यते’ वध्य. ११ क. ख.
घ. झ. ट. ठ. ड. सान्तपनं समतपं; च. ‘व्ययुः सै वा एनं तदं’ व्ययुः सान्तपनं
सम. १२ ग. ज. चक्रनेभिः; च. चक्रनेभिः नेभिः. १३ क. ख. घ. झ. ट. ठ.
ड. ‘क्षीणपवि’.

‘यद्विपुनाति भूमिम्’ । सा हि विपुनाति भूमिमिति पविः । ‘उत स्म
ते परुष्य्यामूर्णां वसत शुन्ध्यवैः । उत पव्याः

‘पविः’ इत्यस्य स्थानामर्द्धं भिन्दन्त्योजसा । [ऋ० सं० १।५२।
९] ॥ इत्यावाइवस्येयमार्पम् । हे मरुतो येषां
वस्तिरोभवितुमाविर्भवितुं च कौले शक्तिरस्ति

ते यूयम् उत स्म अपि कस्मिंश्चित्काले शुन्ध्यवः मद्भव इव परुष्य्या-
नयां माध्यमिकाया वा वाँचि पर्ववत्यां यूयमेव शुन्ध्यवः शोधयितार-
ऊर्णाः छिन्नास्तिरोहिता वस्येय एतस्मिन्नन्तारक्षकलोके । अपि च । कस्मि-
श्चिदनुद्गमकाले प्राप्ते युष्माकं स्थानां पव्याः यो स्थानेनयस्ता एव
अर्द्धं भिन्दन्ति ओजसा वलेन । किमुत यूयमित्यभिप्रायः ।

एवमेतस्मिन्नथसंयोगात्पविशब्देन रथचक्रनेभिरभिसंवेद्यते । ब्राह्मण-
मपि चैतस्मिन्नेवायं चातुर्मास्येषु सान्तपनं
पविशब्दस्य रथ- हविरधिकृत्य ‘देवा वै वृत्रस्य मर्म नाविन्दंस्तं
नेम्यर्थे ब्राह्मणवचनम् मरुतः क्षुरपविना व्ययुः सँ वा एनं तदतपंस्त-
स्मात्सान्तपनाः’ (मैत्रा० सं० १।१०।१४) इति ।

एतस्मिन्नपि च ब्राह्मणे चक्रनेभिः क्षुरधाराकृतिस्तीक्ष्णैः पविरीत्युच्यते तस्मा-
दुपपद्यते । अल्पप्रयोगविषयत्वादुदाहरणद्वयम् ।

‘वक्षः’ (२६) इति व्याख्यातम् ‘उपो अदार्शं शुन्ध्यवः’ इत्यत्र
(निरु० ४ । १६) ।

- १० १ ग. ज. यद्वि पुनाति भूमिमिति पविः (ग. पविः । ३१ ।). २ ग. पर-
ष्य्यामूर्णां व० । इत्यावा°; घ. ट. परुष्य्या० भिन्दन्त्योजसा. ३ ज. शुन्ध्युवः ।
इत्यावा°. ४ घ. ट. ठ. ड. काले काले सँ; च. काले-शक्ति काले. ५ क. ख. घ.
झ. ट. ठ. ड. अपि च कस्मिंश्चन दा°. ६ क. ख. °वा विरवै; ग. ज. घ. ट. ठ.
ड. °वा ’ नास्ति; च. वाँ वाचि. ७ ग. ज. छिन्ना°; च. छिन्ना° छ. ट. ट.
वस्येयं त. ट. क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. °द्रमनका°; च. °द्रव-काले° न. ९
घ. ट. ठ. ड. यः. १० घ. झ. ठ. ड. °संपद्यते. ट. संपद्यते° वध्य. ११ क. ख.
घ. झ. ट. ठ. ड. सान्तपनं समतपं; च. °व्ययुः सँ वाँ एनं तदं° ध्ययुः सान्तपनं
सम. १२ ग. ज. चक्रनेभिः; च. चक्रनेभिः° नेभिः. १३ क. ख. घ. झ. ट. ठ.
२३ ड. °स्तीक्ष्णपवि°.

‘धन्व’ (२७) इत्यनवगतम् । ‘धन्वनम्’ इत्यवगमः । ‘अन्त-
रिक्षम्’ इत्यभिधेयवचनम् । ‘धन्वन्त्यस्मादापः’

‘धन्व’ इत्यस्य इति नामप्राप्तिं हेतुनिर्देशः । ‘यः परंस्याः परं-
चतस्तिरो धन्वातिरोचते । स नः पर्षदति द्विपः’
(ऋ० सं० १० । १८७ । २) ॥ अग्निपुत्रस्य वस-

५

स्वेष्मण्यम् । व्यूढस्य दशरात्रस्य नवमेऽह्न्याग्निमारुतस्य शस्त्रस्य जातवेदस्ये
सूक्ते निविद्धानीये शस्यते (आम्ब० श्रौ० ८ । ११) । यः अग्निरादित्यात्मना-
वस्थितः परस्याः परावतः परस्यामपि परावति वर्तमानः तिरः तीर्णमस्यै-
तान्महदन्तारिक्षं धन्व स्वेन प्रभावेन दीप्या अतीत्यास्मान्प्रति रोचत एव
प्रकाशत एव । नानेनैवमतिमहतां तिरोधीयत इत्यभिप्रायः । तस्य किमिति १०
उच्यते । नः सोऽस्माकं पर्षदति सर्वतः सादयतु नाशयतु द्विपः ।
द्वेष्टुनित्यर्थः । एवमस्मिन्नादित्यस्तुतिसंवन्धाद्धन्वशब्दोऽन्तारिक्षाभिधानमि-
त्युपपद्यते ।

‘सिनम्’ (२८) इत्यनवगतम् । ‘सिनाति’ इति शब्दयुक्तिः ।

‘अन्नं भवति’ इत्यभिधेयवचनम् । ‘सिनाति भूतानि’ । बध्नातीत्यर्थः । ११

अन्नेन हि सर्वाणि भूतानि वर्धयन्ते । ‘इमा

‘सिनम्’ इत्यस्य उ वां भूमयो मन्यमाना युवावते न तुज्या

अभूवन् । क१ लदिन्द्रावरुणा यशो वां येन स्मा

‘सिने भरथः सखिभ्यः’ । (ऋ० सं० ३ । ६२ । १) ॥ विश्वामित्र-

स्यैवम् । तार्तावसैव निकेपूक्थपर्यायेषु स्तोमातिशंसने भैत्रावरुणस्य शस्त्रे २०

१ क. ख. ग. ज. घ. झ. ठ. ड. धन्वन्तीत्यव°; च. धन्वन्तीमि° न्वन°; ट.
धन्वन्तीत्य° न.प्रि. २ क. ख. प्राप्ति°; च. ठ. प्राप्ति° सौ. ३ ग. ‘दंशः । ३२ ।
यः° ४ ग. ज. परावतः । अग्नि°; घ. ट. परावतः० स नः पर्ष° ५ घ. झ. ठ. ठ.
ड. ‘मार्ष । मायज°मेयी । व्यू°; च. मार्ष°व्यू° र्गोपशग्रेयी. ६ क. ख. घ. झ.
७. ठ. ड. तीर्णतमेतन्म°; ग. ज. तीर्णमस्तेतन्म°; च. तीर्णमस्तेतन्म° तममे. ७
क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. मन्तापि ति° ८ च. ट. पर्षत° परिप. ९ ग. ज.
‘इति’ नां.प्रि. १० ग. ‘न्ते । ३३ । इमा° ११ ग. ज. ‘नाना इनि । वि°;
घ. ट. मन्यमानाः० भरथः सखिभ्यः. १२ घ. ट. ‘स्वेयमार्ष । ऐन्द्रावरुणी त्रिष्टुप् ।
तार्ता°; च. स्वेयमार्ष । ऐन्द्रावरुणी त्रिष्टुप्. १३ क. ख. घ. झ. ट. ‘स्व-
नेपू°; च. ‘स्रवन्किपू° ने. १४ क. ख. स्तोमातिशंस°; ग. ज. स्तोमातिशंसप१;
च. स्तोमाति° मिं.

२५

२१

विनियुक्ता (आश्व० श्रौ० ७ । ९) । हे इन्द्रावरुणौ इमा एव वा
युवयोः भूमयः स्तुतयः या यास्तैस्तैः स्तोतृभिरुदीरिता युवामेव मार्गमाणा
भ्रमन्तीव । ता एता यथापूर्वमेवास्माकमभिमतफलदायिन्यो भविष्यन्तीति
मन्यमाना धयमुदीरयामहे । ताः पुनरंता अस्मै युवावते शुष्मद्वते भवद्भ्यां
तद्वते यजमानाय न यथापूर्वं तुग्या दात्र्यौऽभिमतानामर्थानाम् अभूवन्
धमुवुः । यतो ब्रवीमि । हे इन्द्रावरुणौ क त्वत् क तद्युयोः यशो माहा-
भाग्यं गतं येन माहाभागेनैताभिः स्तुतिमिरभिष्टुतौ सन्तौ सिनम् अन्नं
मरयः दैत्यः सुपूज्यं वा कुरुयः सखिम्यः समानहृदानेभ्यो यजमानेभ्यः ।
अन्नमेव हि प्रायेण यजमानैः प्रार्थ्यत इति 'सिन' शब्देनात्रान्नमभिधीयत
इत्युपपत्तिः । व्यभिचारित्वाद्भिधानानां धन्य सिनमित्येवमार्दानि रवे रवेऽभि-
धानवर्गे पठितान्यपि सन्ति नैघण्टुके प्रकरणे समाम्नातास्येतस्मिन्नैकैरुप-
दिक्ते प्रकरणेऽन्यगतसंस्काराभिप्रायेण । यानिचिदनेकार्थाभिप्रायेण ।

'इथा' (२९) इत्येव निपातः 'अमुथा' इत्यनेन व्याख्यातोऽ-
हमेऽप्याये (निरु० ३ । ११) ।

१५ 'सचा' (३०) इत्यप्रतीतार्थो निपातः । 'सह' इत्यर्थप्रतीतिः ।

'अग्निनेन्द्रेण वरुणेन विष्णुनादित्यै रुद्रैर्धनुभिः

'सचा' इत्यस्य सचाभुवा । सजोपसा उपसा गुर्येण च सोमं
पित्रतमश्विना' (ऋ० सं० ८ । २५ । १) ॥

इवावाधस्थेभिर्यस्यार्थम् । विष्टुर्ज्योतिर्मनी । ते अश्विनौ एताभिरग्न्यादि-

२० भिर्देवताभिः सचाभुवौ सहित्वा सजोपसा सहश्रीता इमं सोमं पित्रतं
युवान् । पीवा येन नामास्माकमर्थमभिप्रेतं कुर्वन्मित्येवमाधीर्षोऽथा । एवमि-
हाम्नादिदेवताभिर्नवग्रहान् 'सचा' इत्येव सहयोगे भवतीत्येतदुपपद्यते ।

'चिन्' (३१) इत्येव निपातोऽनुशक्तः पुरस्तादेव व्याख्यानः ।

- १ प. ट. 'स्तुतयः' नास्ति. २ प. झ. ट. ट. ट. 'श्रीः' सहदेव. ३ प. झ.
२५ ट. ठ. ड. दासः दान्वाभिमतः. ४ मेषु टिप्पितपुस्तकेषु 'मराभा'. ५ प. झ.
ट. ट. ड. पयः सुपूज्यं वा; च. दैत्यः. ६ क. ग. घ. झ. ट. ठ. ड.
'मिरादिभिः. ७ क. ग. घ. झ. ट. झ. ट. 'अवि' नास्ति; ग. च. ज.
'कपेक'. ८ ग. 'तानिः. ९ ट. अदि. १ ग. ज. सहदेव विष्णुना । रदावा;
प. ट. सहदेव विष्टुर्नास्ति. १० क. ग. प. झ. ट. ट. ड. 'अस्येऽमार्थ. ११
प. झ. ट. 'विष्टुः । उग्रहिजयो'; च. 'विष्टुर्नयो' उग्रहिज. १२ क. ग.
प. झ. ट. ड. ट. 'पी' च सह; 'सजो-उ' च. १३ क. ग. प. ट. ट. ड.
१२ 'पुरस्तादेव व्याख्यानः' नास्ति.

तद्यथा । 'सयश्चिद्यः शवसा पञ्च कृष्टीः' [ऋ० सं० १० । १७८ ।

३] इति । स पुरस्तादेव व्याख्यातः 'चिदित्येषोऽनेककर्म' (निरु०

१ । ४) इत्यत्र । 'अथापि' अयमेवाद्युदात्तो भवति । ततः 'पशुनाम

भवति' । तद्यथा । 'चिदासि मनासि धीरसि'

पस्यर्थे 'चित्' इति राजक्रयणीगोस्तुतौ [मैत्रा० सं० १ । २ ।

इत्यस्य प्रयोगः ४ ।] सैवोच्यते 'चिदासि मनासि' इति । अतः

पुनरेतद्ब्राह्मणे व्याख्यायते 'चिदसीति यद्वाव

चिकित्सते' इत्येवमाद्याप्यर्थे [मैत्रा० सं० ३ । ७ । ५] ।

'आ [३२] इत्याकार उपसर्गः पुरस्तादेव व्याख्यातः' 'आ

इत्यवर्गार्थे' इति [निरु० १ । ३] । अथापि चोपमार्थे दृश्यते निपा-

त्त्वेन 'जार आ भगम्' इति [निरु० ३ । १६] । अथायमेव कदा-

चित् 'अध्यर्थे दृश्यते' 'अधीत्युपरिभावमैश्वर्ये वा' इति [निरु० १ ।

३] । यथायमध्यर्थेऽपि भवति तथा 'अत्र औ अपः' इत्येव निर्गमः ।

'कटुं प्रियाय धौघ्रे मनामहे स्वर्क्षत्राय स्वयंशसे

अप्यर्थे 'आ' इत्यस्य महे वयम् । आमेन्यस्य रजसो यदत्र औ अपो

वृणाना वितनोति मायिनी' (ऋ० सं० ५ ।

४८।१) ॥ अधुना पदविभागमस्य भाष्यकारः करोत्युपसर्गविभागोपप्रदर्श-

नार्थम् 'अत्र औ अपः' इति । अधुना आढ्यं ब्रवीति । 'अपोऽत्रेऽधीति'

यदुक्तं स्यात्तदेवोक्तं भवति 'अत्र औ अपः' इति । प्रतिमानोरात्रेपस्थे-

यमार्थम् । वैश्वदेवस्य प्रथमैव । जगती । अत्र पुनः प्रायेणाप एव स्तूयन्ते ।

'आपो वै विश्वेदेवाः सर्वा एव वा देवताः' इत्यनेन ब्राह्मणदर्शनेनापां

विश्वेदेवत्वमुपपद्यते । तत्पुनः सूक्तमभिप्लवस्य पडहस्य पञ्चमेऽहनि तृती-

यसत्त्वेन वैश्वदेवे शस्त्रे शस्यते (आश्व० श्रौ० ७।७) । कटु प्रियाय ।

कामिणीय मुखाय च प्रियाय च धाम्ने स्थानाय वैश्वदेवाय तैत्तिरीयार्थं

१ घ. स. ट. ठ. ड. चिकित्सते; च. चिकित्सते वि. २ क. स. अथा-

प्युप. ३ ग. गमः । ३५ । कटुं. ४ ग. धाम्ने० मायिनी; घ. ट. धाम्ने मना-

महे० वितनोति मायिनी. ५ ग. च. ज. ट. अत्र औ अपः; घ. उत्र आ अपः.

६ क. स. घ. स. ट. 'एव' नास्ति. ७ ग. ज. वैश्वदे; च. विश्वदे. ८ क.

ख. प. स. ट. ठ. ड. 'धाय धाम्ने मनामहे । कल्मि. ९ घ. 'वाय-मु' च.

१० ग. ज. 'तत्' नास्ति; च. 'वाय-श' तत्.

तानेव च विश्वान्देवान् अपो मनामहे । ता एव ह्युपास्यमानास्तैःस्थानं
 प्रापयितुं समर्था इत्येवं मैनामहे । स्थानविशेषणान्येवोत्तराण्यपि स्वक्षत्रा-
 दीनि । स्वक्षत्राय च धाम्ने । स्ववलायेत्यर्थः । यत्र सैवमेव बलं भवति न
 यत्र परकीयं बलमाशास्यते यैवेह लोके । स्वयशसे । यत्र स्वमाहिमकृत-
 मेव यशो भवति न सांयोगिकद्रव्यकृतम् । महे महते धाम्ने तैःप्राप्यर्थं ता
 एवापो मनामहे मत्वा चोपास्मह इत्यभिप्रायः । आमन्वस्य । मेना माध्यमिका
 वाक् तस्या यद्रजो लोकः । अन्तरेक्षलोक इत्यर्थः । तस्य । आ उपरि यद्रभ्रं
 यो मेघस्तत्र यो अधोऽवस्थिता वृर्णानां संभजमाना वितनोति विस्तृणाति
 वर्षभावेन मायिनी प्रज्ञावती माध्यमिका वाक् ता अपो वयमेवमादिगुणयु-
 क्तास्तासामेव सर्वगतस्य धाम्नः प्राप्यर्थं मनामहे याचामहे । अत्र ऐवा-
 ध्यापो वर्तन्त इति आढ्यर्थे उँपपद्यते ।

अधैवमन्यधास्य मन्त्रस्यार्थः स्यात् । कदु प्रियाय मुखाय प्रियाय
 चैतस्मै धाम्ने स्थानाय । यत्र वयं वर्तामहे कथं

अस्या ऋचोऽ-

न्योऽर्थः

नामैतत्स्थानं मुखं च प्रियं च स्वक्षत्रं च स्वयशश्च
 महच्च स्यादित्येवमर्थं वयं विश्वान् देवान् अपो मना-
 महे । 'मदेमहि मनामहे' इति याच्याकर्मसु पठितम्

[निघ० ३।१९] । कतमाः पुनरपो याचामह इति । उच्यते । आमन्वस्य

रजसः । अँभिमुख्येन मननीयस्य रजसोऽन्तरिक्षलोकस्य यैर्द्रभ्रमुपरि वर्तते
 तैस्मिन्नन्तरेऽपो वृर्णानां संभजमाना मायिनी माध्यमिका वाक् वितनोति

२० वृष्टिभावेन तैः मनामहे याचामहे कदु प्रियाय ।

१ य. स. ट. ठ. ड. °स्तत्तत्स्थानं°. २ क. ख. घ. ट. ठ. ड. इत्यर्थः.

३ य. मनामहे. । रथा°जानीमहे. ॥ ग. ज. स्वयमे°; च. स्वयमे°. ५ घ. ट. ठ.

ड. तथेह. ६ ग. च. ज. 'तत्' नास्ति. ७ ग. च. ज. ठ. ड. अध्यापो°.

८ ग. च. ज. °णानाः संभजमानाः वित°. ९ क. ख. घ. स. ट. ठ. ड. एव ह्युपा°.

च. एकीध्या° व ह. १० क. ख. घ. स. ट. ठ. ड. इत्युप°. ११ च. अथेवम°.

१२ क. ख. घ. स. ट. ठ. ड. 'वयं' नास्ति. १३ ग. ज. याः आभि°; च.

याः आभि°. १४ ग. ज. पदमुप°; च. पदमुप° यद्रभ्र. १५ ग. ज. वर्तन्ते; च.

°रि यैर्द्रभ्रं वर्तन्ते° वर्तने. १६ च. तस्मिन्नन्तरे° पो° अन्तरे. १७ ग. ज. °णाना । सं°;

२९ च. णानाः. १८ य. ता.

‘द्युम्नम्’ [३३] इत्यनेकार्थम् । ‘यशो वानं वा’ इत्यभिधे-
यवचनम् । शतं ते शिप्रिभूतैः । मुदासे सहस्रं
‘द्युम्नम्’ इत्यस्य शंसा उत रातिरस्तु । जहि वधर्वनुपो मर्त्य-
स्यास्मे द्युम्नमधि रत्नं च धेहि । [ऋ० सं०

७ । २५ । ३ः] ॥ वसिष्ठस्यार्पम् । त्रिष्टुप् । महाव्रते महदुक्थे
दक्षिणे पक्षे शस्यते [ऐ० आ० ५ । २ । २] । हे शिप्रिन् इन्द्र शतं
ते तत्र ऊतय आगमनानि सन्तु । क । मुदासे मुदाने कल्याणदान एत-
स्मिन्पजमाने । तथैनमनुगृहाण यथा नित्ययज्वैवायं यजमानः स्यादित्य-
भिप्रायः । आगतस्य च सतस्तव सहस्रं शंसा वहूनि स्तोत्राणि सन्तु ।
उत रातिरस्तु । अपि च हविर्दत्तिरस्त्वित्येतदेवानुवर्तते । एवं च त्वमागत
उपसृतः सञ्चक्षुः यकुरुष्व । हे वधः वधयितः वनुपो मर्त्यस्य योऽ-
स्मान् हन्तुमिच्छति मर्त्यो मनुष्यस्तस्य यद्वीर्यं तज्जहि । हत्वा च तस्य
वीर्यं निरुचयं तं कृत्वा अस्मे अस्मास्तु द्युम्नमर्त्तं यशो वा रत्नं च धेहि ।
निधेहीत्यर्थः । रत्नं च धनम् । एवमेतस्मिन्मन्त्रे शत्रुवधसंबन्धात् द्युम्न-
शब्देन यशो वानं व्येच्यत इत्युपपत्तिरिति हि शत्रौ यशोऽर्त्तं च भव-
तीति । ‘द्युम्नं द्योततेः’ इति । अजमेव हि मुञ्चानस्य दीप्तिर्भवतीति
द्युम्नमर्त्तं द्योतयितृत्वाद्यशस्तु दीप्तं प्रकाशस्वभावादिति ॥ ५ ॥

देशमाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

द्वितीयः पादः ।

पवित्रं पुनातेर्मन्त्रः पवित्रमुच्यते । येन देवाः पवित्रेणात्मानं
पुनते सदेत्यपि निगमो भवति रश्मयः पवित्रमुच्यन्ते ।

१ ग. ‘चनं’ । २६ । शतं । २ ग. ज. ‘न्तयः’ । वसिः ; प. ट. ‘न्तयः’
मुदासे० स्मे द्युम्नं । ३ प. झ. ट. ‘हृक्-द्वी’ ; च. ‘हृक्-’ । ४ क. २०
त. प. झ. ट. ठ. ड. ‘तं’ नास्ति ; च. तं. ५ प. झ. ट. ठ. ड. वा महि मरुत्
रत्नं. ६ प. झ. ट. ठ. ड. ‘निधेहि’ नास्ति. ७ क. ख. प. झ. ट. ठ. ड.
‘च’ नास्ति. ८ क. ख. ग. ज. ‘रत्ने’ नास्ति. ९ क. रा. प. झ. ट. ठ.
ड. ‘अर्त्तं’ नास्ति. १० ग. ज. प. झ. ट. दशमस्य प्रथं ; ठ. ड. इति दशमस्य
प्रथं. ११ च. पादः समाप्तः ; ठ. ड. पादः इति निरुक्तदीकारां पञ्चमाध्याये पञ्चमः
खण्डः.

गमस्तिपूतो नृभिराद्रिभिः सुत इत्यपि निगमो भवत्यपः पवित्र-
मुच्यन्ते । अतपवित्राः स्वधया मदन्तीर्विदूदकाः । अग्निः पवित्र-
मुच्यते वायुः पवित्रमुच्यते सोमः पवित्रमुच्यते सूर्यः पवित्र-
मुच्यते इन्द्रः पवित्रमुच्यते । अग्निः पवित्रं स मा पुनातु वायुः
सोमः सूर्य इन्द्रः । पवित्रं ते मा पुनन्तिवत्यपि निगमो भवति ।
तोदस्तुद्यतेः ॥ ६ ॥

‘ पवित्रम् ’ [३४] इत्यनेकार्थम् । ‘ पुनातेः ’ इति धातुनि-
र्देशो निर्वचनाभिप्रायः । ‘ मन्त्रः पवित्रमुच्यते ’ इत्यभिधेयवचनम् ।

येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनन्ते सदा । तेन सहस्रधारेण पावमान्यः
पुनातु माम् ॥ मन्त्रस्य पवित्रवप्रख्यापको निगमः ।

मन्त्रार्थे पवित्र- पवित्रस्य वसिष्ठसंहितस्य वा अर्थम् । पावमानी
शब्दः सौमी । येन पावपित्रा मन्त्रेण देवा अक्षिग्यजमाना
आत्मानं पुनन्ते सदा सततमेव । प्रस्तुते कर्मणि

यस्य मन्त्रस्यैतत्सामर्थ्यं तेन मन्त्रेणैवं वीर्यवता सहस्रधारेण बहुप्रक्षरेण
प्रविर्चलेन पवमानः पूयमानः सोमो मां पुनातु । मन्त्रेणैव देवा अक्षिग्यज-
माना आत्मानं पुनन्ति तस्मादुपपद्यते तेषां देवत्वमिति । न हीतरेषां देवानां
पापमस्ति यत्पूयेत । “ न ह ये देवान्पापं गच्छति ” (बृह० उ० १ ।
५ । २०) इति विज्ञायते । तस्माद्देवशब्देनात्र अक्षिग्यजमाना उच्यन्ते ।
ते हि हविषा दातारः पावनेन चार्चयन्तस्मादुपपद्यते तेषां देवत्वम् ।

‘ रमयः पवित्रमुच्यन्ते ’ । ते हि स्पर्धनेनैव पावयन्ति । ‘ वाचस्तथे
पैवस्व वृष्णो ज-शुभ्यां गमस्तिपूतः । देवो देवानां
पवित्रमसि येषां भागोऽसि ’ (भैत्रा० सं० १ । ३ ।
४) इति ॥ एषा उपांशुग्रहणे विनियुक्ता [मान०

श्री० २ । ३ । ३ । १२] । हे सोम वाचस्यतिरिन्द्रस्त्वां पोष्यतीत्ये-

१ क. ख. छ. त. द. ‘ नृभिराद्रिभिः सुतः ’ अस्ति. २ छ. द. वति ।
आपः; त. ‘ वत्यपः ’ ति । आ. ३ द. य. विरगो नास्ति. ५ क. ख. १ (६),
छ. त. ५; द. १. ५ प. ट. पवित्रेण० पुनातु वा. ६ प. दा. ट. ठ. ड. ‘ पकोऽयं
नि ’; च. ‘ पको- नि ’ ये. ७ च. ‘ सहस्रधारेण ’ रतेन ट क. छ. च. दा. ठ. ड. प्रवि-
लेन; ट. प्रविर्चलेन; च. प्रविर्चलेन० ८. ९ च. पावने-न चा; ० दा. पावनेनेन.
१० य. च. ज. पवित्रेण०. ११ क. ख. प. दा. ट. ठ. ड. ‘ देवो देवेभ्यः
१२ पस्य येन०. १२ क. ख. प. दा. ट. पश्यती; च. पश्ये पश्य.

तमर्थं पुरस्कृत्य वृष्णः वर्पितुः पवस्व पूयस्व । यवेतौवंशू अन्तर्हितौ^३ निपि-
व्यमानस्यैव ताम्यां पवस्व । अपि च । त्वं प्रागप्यभिपवात् गमस्तिपूत
एव रश्मिपूतः । किंच । देवस्त्वं दानादिगुणयुक्तो देवानामेव दाना-
दिगुणयुक्तानां पवित्रमसि पावयितासि । किं सर्वेषामेव । नेत्युच्यते । येषां
भगोऽसि । ये त्वामभिपवादिक्त्रियया भर्जन्ते ऋत्विग्यजमानाः । ते ह्यत्र देव-
त्वेनाभिप्रेताः पावनसंवन्धात् । न हीतरेषां देवानां पापमस्ति पूर्ववत् किंचित् ।

१ पवमानं मन्त्राणो वि धावसि सूर्यो न चित्रो अव्ययानि पश्यया ।

गमस्तिपूतो नृभिरदिभिः सुतो महे वाजाय
रक्ष्यर्थेऽन्यदुदा- धन्याय धन्यसि [ऋ० सं० ९।८९।३४] ॥
हरणम् एतं मन्त्रं व्याचक्षते । ऋषिर्गणेश्विभिर्दशर्चमे-

तत्सूक्तं दृष्टं तत्रैषा । हे पवमान पूयमान सोम
अव्ययानि पश्यया अविमयेन ऊर्णेन पवित्रेण पूयमानस्त्वं महि-
महत् अर्णः उदकम् आत्मत्वेनाभिसंपन्नस्तत्स्वभावमुपगतः निर्मज्जीयः
स्वेच्छो भूत्वा ततो द्रोणफलशं प्रति विधावसि । कौटशः पुनः पूर्वं भूत्वैतां
रसावस्थामापयसे त्वमिति । उच्यते । पूर्वं तावदरण्येऽवस्थितः गमस्तिपूतः
सैनं रश्मिपूतः तत आहूय क्रीत्वा सोमक्रयविक्रयविधानेन नृभिः ऋत्वि-
ग्यजनानैः अदिभिः प्रावभिः सुतः अभिपूतः । ततो महे वाजाय अन्नाय
धन्याय धन्यसि कृत्स्नजगद्भारपित्रेऽर्थाय । कथं नाम कृत्स्नजगदुपकारिता-

१ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. "तुः अग्नौ प्रास्ताहृत्या वृष्टिकर्तुः तादित्यस्य
चार्थे प३"; घ. "तुः ~ प३" अग्नौ००० चार्थे. २ घ. "तावन्त" शू अ. ३ क.
ख. घ. झ. ट. ठ. ड. "तौ सन्तौ सकलपशं व्याप्नुवानौ निपि"; घ. "तौर्जि"
सकलपशं व्याप्नुवानौ. ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड भवन्ति. ५ ग. "चित्
। ३७ । प३". ६ ग. ज. मन्त्राणो० । ऋषि"; घ. ट. मन्त्राणो वि धावसि० धन्याय
धन्यसि. ७ घ. झरो. ८ घ. झ. ट. ठ. ड. एवं. ९ क. ख. घ. ट. ठ.
ड. "गणैरकृशामापादिभिर्यज्ञैः सन्नतेष्व विभिः प्र त आरुव इत्येतस्याष्टावत्वारि-
शष्टस्य सूत्राय चत्वारिंशतामृषां दशर्चो (क. र. दश दशर्चो) दृष्टाः ।
तत्रैषा चतुर्धिरक्षणी; घ. "गणैस्त्रिभि" रष्टशामापा०००० चतुर्धिरक्षणी. १०
ग. श्रीर्गेन; ज. मर्जोर्न. ११ क. ख. घ. ट. ठ. ड. उदकमुदस्तेनाभि"; घ. "न
उदकन्तेनाभि" मात्म. १२ घ. स्वस्थो छो. १३ क. र. घ. झ. ट. ठ. ड.
रश्मिपूतः सन् तत". १४ ज. लोमक्यविषा". १५ घ. "मिस्तुवः" उ. १६ क. र.
ग. घ. ज. घ. झ. ट. ड. इत्सं ज"; ठ. इत्सजगद्भारार्थाय. १७ ग. ज. ड.
इत्सं ज". १८ क. र. घ. झ. ट. "कारित्वमभि".

भिनिष्पद्येत वृष्टिनिमित्तेनेत्येतमर्थं पुरस्कृत्य रसभावमापन्नो द्रोणकलशं
प्रति धन्वसि । प्रामोषीत्यर्थः । एवमत्र 'गभस्तिपूतः' इत्येतस्मात्पावनसंब-
न्धादग्नीनां पवित्रत्वमुपपद्यते । कैश्चित् 'पवित्रवन्तः पारे वाचमासते'
[ऋ० सं० ९ । ७३ । १३] इत्येव निगमो विधीयते ।

‘ आपः पवित्रमुच्यन्ते ’ । ता अपि हि पात्रयेन्ति । ‘ शतपवित्राः

स्वधया मेदन्तीर्देवो देवानामार्पे यन्ति पार्थः ।

अर्घ्ये स एव ता इन्द्रस्य न मिनन्ति व्रतानि सिन्धुभ्यो हव्यं
घृतवज्जुहोत ’ [ऋ० सं० ७ । ४७ । ३] ॥

अभ्येदयत्ता । त्रिष्टुप् । वसिष्ठस्यार्पम् । बहुपात्रयिभ्यो या देव्यः स्वधया

- १० अग्नेन सहिता भूत्वा मेदन्ताः देवीः दानादिगुणयुक्ता देवानां दानादिगुण-
युक्तानामेव पार्थः पानं सोमाह्वयम् अपि यन्ति अपिगच्छन्ति ता एवंलक्षणा
आप इन्द्रस्य न मिनन्ति न हिंसन्ति व्रतानि कर्माणि । येनाश्रयधानन्तर-
मविलम्ब्यमाना वर्षभावेन प्रक्षरन्तीत्यभिप्रायः । या एता एवंगुणयुक्ता
आपस्ताम्भोऽद्भ्यः सिन्धुभ्यः स्पन्दमानाभ्यो हव्यं हविः घृतवत् घृतमित्रं
१५ जुहोत हे ऋषिजः । अर्हन्ति ता हविरित्यभिप्रायः । एवमत्रापः पवित्रशब्दे-
नोपगतेऽभ्येदयत्तायादस्य मन्त्रस्य ।

अभ्यादयोऽपि द्योतेनोच्यन्ते । एतेऽपि हि सर्व एव पाययन्ति ।

- अभ्यादयोऽपि ‘ अग्निः पवित्रं स मा पुनोतु वायुः सोमः
१० पवित्रशब्देनोच्यन्ते मूर्ध इन्द्रः । पवित्रं ते मा पुनग्नियपि निगमो
भवति ’ । निगदेऽभिद्व एव निगमः ।

१ क. रा. घ. ट. ठ. ड. 'स्वर्धः' । मृगे न चित्रः । मूर्ध इव पूजनीयः ।
एतः; घ. 'स्वर्धः' । - एव' मृगे न००० पूजनीयः । २ म. ज. झ. 'स्वायमानसं'.
३ घ. 'सो - वि' इति. ४ म. 'यन्ति । ३८। इति'. ५ म. मदन्तीर्देवो देवाना० ।
अभ्ये'; घ. ट. मदन्तीः० पुनश्चटरोत्त. ६ घ. ट. मदन्तीर्दानादि'; ठ. ट.
'मदन्तीः' नास्ति. ७ क. रा. घ. ङ. ट. स्पन्दमानाभ्यः; ठ. ड. स्पन्दमा-
नाभ्य'; म. घ. ज. स्पन्दमाभ्य. ८ क. रा. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'नेऽभ्येव'.
९ क. रा. घ. ङ. ट. ठ. ड. तेने पवित्रशब्देनोच्य'; घ. तेने-नो' पवित्रशब्दे.
१० क. रा. घ. ङ. ट. ठ. ड. तेने. ११ ट. ड. पुनग्नियपि । निगद'. १२
१२ घ. वितानो नास्ति. १३ म. ज. 'मुदमिद'.

‘ तोदः ’ (३४) इत्यनवगतम् । ‘ तुदः ’ इत्यवगतम् । ‘ तुघतेः ’
व्ययनार्थस्येति [धा० ६ । १] धातुनिर्देशः । भूमेर्विलं तोद
इत्युच्यते । तद्धि तुनं भवति दीर्घत्वात् । कूप इत्येके ॥ ६ ॥

पुरु त्वा दाश्वान्वोचेऽरिरग्ने तव स्विदा । तोदस्येव शरण
आ महस्य (ऋ० सं० १।१५०।१) ॥ बहुदाश्वान्स्त्वामेवाभि-
क्षयान्परिमित्र ऋच्छन्तेरीश्वरोऽप्यरिरेतस्मादेव यदन्यदेवत्या
अग्नाबाहुतयो हूयन्त इत्येतद् दृष्ट्वमवश्यैत् । तोदस्येव शरण आ
महस्य । तुदस्येव शरणोऽधि महतः स्वञ्चाः सु अञ्चनः ।
आजुह्वानो घृतपृष्ठः स्वञ्चा इत्यपि निगमो भवति शिपिविष्टो १०
विष्णुरिति विष्णोर्दे नामनी भवतः कुत्सितार्थाय पूर्वं भवतीत्यौ-
पमन्यवः ॥ ७ ॥

‘ पुरु त्वा दाश्वान् वोचे ’ इति दीर्घतमस और्वम् । उष्णिक् ।
मातरनुवाकाश्विनयोः शस्यते [आश्व० धौ० १५
तोद इत्यस्य प्रयो- ४ । १३] । पुरु त्वा दाश्वान् । बहुदानवानहं
गोऽर्धश्च भूत्वा हे अग्ने त्वामहं वोचे । त्वामाह्वया-
मीत्यर्थः । किं पुनः कारणमन्या देवता उत्सृज्य
त्वामाह्वयामीति । उच्यते । इतो यस्मात् अरिरग्ने तव स्विदा
इति । एतद्विवक्षार्थे । सुचिरमपि विचार्य तनाहमरिरेव स्तोमानामुच्चारणे । १६
अर्थ ईश्वर एव । समर्थोऽहमाह्वयामि त्वां स्तोतुं बहु च दातुमित्यभि-
प्रायः । किं पुनः कारणमन्या देवता उत्सृज्य त्वामेवाभिह्वयामि । उच्यते ।
इतो यस्मात् तोदस्येव शरण आ महस्य । तुनस्येव विदीर्णस्य कस्यचि-

१ क. ख. ग. ज. दीर्घत्वात्; ट. दीर्घत्वा और्वम्. २ क. ख. २ (६);
ग. ज. ७ । ३९; ठ. ड. ६ इति निरुक्त्यकार्यां पद्यः खण्डः; इतरेष्वहो नास्ति.
३ छ. त. द. ‘ वशान्. ४ क. ख. २ (७); छ. त. ट; द. २. ५ ग. ज.
दाश्वान् वोचे । दीर्घः; घ. झ. ट. ‘ दाश्वान् ०० आ महस्य । दीर्घः; ठ. ड.
दाश्वानिति । दीर्घः. ६ घ. ठ. ड. ‘ आर्षे । आग्नेयी । उष्णिक्; ट. ‘ आर्षे ।
उ’ आग्नेयी. ७ घ. ट. ठ. ड. दाश्वान्वोचे । नट्ट. ८ घ. ट. ड. विचार्य. ९
क. ख. ठ. ड. ‘ माभिह्वयामीति; घ. ट. ‘ माभिह्वयामीति.

‘श्वभ्रस्य कूटस्योपरि । आङ् अर्धये । महस्य महत इत्यर्थः । शरणे
विले । ‘शू हिंसायां’ (धा० ९ । १६) । तस्य शरणं विलम् ।
तद्विदारितं भवति । यथा हि श्वभ्रे विले कस्मिंश्चिद्ब्रह्म आपो गच्छन्ति
न च तस्य श्वभ्रस्य महतो ग्रहणशक्तिपरिहाणं भवत्येवं तवानेकांश्वानेक-

- १० देवताश्चाद्भुतोरस्माभिः प्रक्षाः प्रतीच्छतो न सामर्थ्यपरिहाणमस्ति । अतो
देवतानामस्माकं त्वमेवातिविशिष्टोपकारप्रवृत्तोऽतस्त्वामेवाभिह्वयामि । एवमत्र
शब्दसारूप्यादुपमार्थोपपत्तेर्धै ‘तोद’ शब्दस्तुन्नस्य भूप्रदेशस्याभिधाय-
क इत्युपपद्यते । तथा चोक्तं ‘तोदमध्येऽतिहंसार्धचतुर्दशसु शङ्कुं निख-
न्यात्’ इति सदसो निर्माणे । स्त्रिया अपि चासत्प्रदेशस्तोद इत्युच्यते ।
१० तस्मादेतदपि तुन्नस्य भूप्रदेशस्याभिधापकमित्युपपद्यते । ‘अरिरमित्र ऋच्छतेः’
इति निगमप्रसक्तम् । ‘ऋच्छतेर्हिसार्धस्य’ (धा० ६ । १६) ।
‘ईश्वरोऽप्यारिरेतस्मादेव’ धातोः । ‘यदन्यदेवत्या अग्रावाद्भुतयो ह्वयन्ते’ ।
यस्मादन्यदेवत्याश्चान्यदेवत्याश्चापरिसंख्येया अग्रावाद्भुतयो ह्वयन्ते न
चाग्नेस्तासां ग्रहणशक्तिपरिहाणमस्ति न च
१५ ईदृगुपमायाः प्रयो- ज्ञायते श्वभ्रविल इव निपित्ता आपः क्वापि
जनम् गच्छन्ति ता आद्भुतय इति । ‘एतत्’ सामान्यं
‘दृष्ट्वा एवम्’ अबोधेचन्मन्त्रदृक् ‘तोदस्येव शरण
आ महस्य’ इति । ‘तुदस्येव शरणेऽधि महतः’ इत्यर्थः ।

- ‘स्वञ्जाः’ (३६) इत्यनवगतम् । ‘सु अञ्जनः’ इत्यवर्गमः ।
२० ‘सं भानुना यैतते सूर्यस्याजुह्वानो धृतपृष्ठः
‘स्वञ्जाः’ इत्यस्य स्वञ्जाः । तस्मा अमृष्टा उपस्रो व्युच्छन्त्य
इन्द्राय मुनवाभेत्याहं’ (ऋ० सं० ५ । ३७
१) ॥ अत्रैरार्पम् । ऐन्द्रो । त्रिष्टुप् । यस्य यजमानस्य नित्ययायजूकृत्यात्तेषु

१ घ. ट. ठ. ड. ‘यथा००० हाणं भवति’ नास्ति. २ च. ग्रहणे
श°. ३ ग. च. ज. ‘च’ नास्ति. ४ ग. ज. ‘देशाभिः’; च. ‘देशाभिः’
शस्या. ५ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘ध्ये निर्हन्त्या’. ६ ग. ज. ‘शक्तु संकु निरव-
पादि’; झ. ड. ‘शंकु नि’. ७ ट. ड. इति । तुदस्येव शरण आ महस्येति । तुदस्येव°.
८ ग. गमः । ४० । सं. ९ ग. ज. यजते । अत्रे; घ. ट. यतते सूर्यस्य० मुनना.
२९ मेल्याह. १० क. ख. घ. ट. ठ. ड. ‘तेषु तेषु क’; च. ‘तेषु- क० तेषु.

कर्मसूज्ज्वलितोऽग्निः आजुह्वानः आहूयमानोऽभिहूयमानो वा घृतघृष्टः
स्वच्चाः घृतघृष्टः शोभनगमनः स्वेन प्रकाशेन भानुना भास्वता सूर्येण
संयतते संगच्छते संस्पर्धते वा सूर्येणातिदीप्तत्वात् । तस्य यजमानस्य
किमिति । उच्यते । तस्मा एव अमृधा अमृता अमृता उपसो व्युच्छान् ।
विमान्तीत्यर्थः । यस्यैवमभिहूयमानोऽग्निर्नित्यकालमेव सूर्येण संयतते तस्यैव
पुण्यकृतः सुप्रभाता रात्रयो भवन्ति नेतरस्यापञ्चन इत्यभिप्रायः । अपि
च । य एवमोहं ब्रवीति अपि धृष्टाद्वितीयो दरिद्रः कश्चित् इन्द्राय इन्द्रार्थं
सुनग्राम अभिपुण्यः सोममिति तस्यापि कल्याणाभिध्याहारिणः सुप्र-
भाता एवोपसः । किमुत यः सुनोतीत्यभिप्रायः । एवमस्मिन् 'सूर्येण संय-
तते' इत्यनेन संबन्धात् 'स्वच्चाः सु अञ्चनः' अञ्चतेः (धा० १ । १०
८८७) गत्यर्थस्य रूपदर्शनादित्युपपद्यते ।

'शिपिविष्टो विष्णुरिति' एते 'विष्णोः' एव 'द्वे नामनी भवतः' ।
अत्र 'शिपिविष्टः' [३७] इत्येतद्गुणपदमनवगतं पक्षेण चानेकार्थम् ।
शिपिविष्टः 'शेष इव निर्वेष्टितः' इत्यर्थप्रतीतिः । अस्य संबन्धादत्र विष्णु-
शब्दः समाज्ञातो यथा 'अक्षाः' इत्यस्य संबन्धात्सोमशब्दः 'सोमो
अक्षाः' इति [निरु० ५ । ३] । न ह्यत्र प्राधान्येन विष्णुशब्दः समा-
ज्ञातो देवतापदत्वात् । अनयोर्द्वयोरपि नाम्नोर्यत् 'पूर्वं' तत् 'कुत्सि-
तार्थार्थं भवतीत्यौपमन्यवः' आचार्यो मन्यते । यथा च कुत्सितार्थार्थं
तथोदाहरणार्थमेव निर्द्भुवन् दर्शयिष्यति । ७ ।

किमित्ते विष्णो परिचक्ष्यं भूत्ययद्वैवक्षे शिपिविष्टो अस्मि । मा
वर्षा अस्मदपं गूह एतद्यदन्यरूपः समित्ये वभूय (ऋ० सं० ७ ।
१०० । ६) ॥ किं ते विष्णोऽप्रख्यातमेतद्भवत्यप्रख्यापनीयं यज्ञः
प्रग्रूपे शेष इव निर्वेष्टितोऽस्मीत्यप्रतिपन्नराशिरपि वा प्रशंसानामै-

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. "शुभः पुत्रकशुभः स्वच्चाः शो"; च "शुभः स्वच्चाः २५
पुत्रकशुभः शो" ताक. २ घ. ख. ट. ठ. ड. "ना सता सूर्येण सड तं". ३ ग.
ज. तस्मादेव; च. तस्मादेव" ४. ४ क. ख. "माह अपञ्चापि धृष्टा"; घ. ख.
ट. ठ. ड. "माह अपञ्चापि ब्रवीति". ५ च. रूपं. ६ क. ख. १ (७);
ग. ८ ; ठ. ड. "अग्नि । इति निरुक्तभाष्ये स्तनः खण्ड ; इनेत्येवमेव नास्ति.
७ ट. घ. ठ. त. द. विष्णो यवता".

वाभिप्रेतं स्यात्किं ते विष्णो प्रख्यातमेतद्भवति प्रख्यापनीयं
यदुत प्रधूपे शिपिविष्टोऽस्मीति प्रतिपन्नरश्मिः शिपयोऽत्र रश्मय
उच्यन्ते तैराविष्टो भवति । मा वर्षो अस्मदपं गूह एतत् । वर्ष
इति रूपनाम वृणोतीति सतो यदन्यरूपः समिधे संग्रामे भवसि
संयतरश्मिस्तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ ८ ॥

‘ किमिच्छे विष्णो ’ [ऋ० सं० ७ । १०० । ६] ‘ प्र तत्ते
अथ ’ इति [ऋ० सं० ७ । १०० । ५] । वसिष्ठस्यैते आर्षम् । विष्णोः
शिपिविष्टस्यान्वारम्भणीये चरुस्तस्यैते याज्यानुवाक्ये (मान० श्रौ०
१ । ५ । ६ । ५) । बाजपेये च सप्तदशे शैखे शस्यते । (आश्व०
श्रौ० २ । ९) । सोमातिरेके तृतीयसवने च [आश्व० श्रौ० ६ । ७] । किरूप-
सवमिति पृष्टः शिपिविष्टोऽस्मीत्युक्तेऽनन्तरं प्रक्रियते किमिच्छे विष्णोरिति ।
किमेतदेवैकं विगततरश्मिरूपं परिचक्ष्यं परिख्यापनीयं भूत् भवति नान्यानि
रूपाणि तव सन्ति येनैवं प्रवक्ष्ये पुनःपुनर्वृत्तेऽस्माकमग्रतः शिपिविष्टोऽ-
स्मीति ‘ शेष इव निर्वेष्टितोऽस्मीति ’ । ‘ अप्र-
तिपन्नरश्मिः ’ हि सूर्य उदयकाले निर्वेष्टितः
कुत्सितार्थः शेषरूपो भवति । तस्य तद्रूपगुणयोगि तैन्नाम
कुत्सितार्थायमुपपद्यते । ‘ अपि वा ’ प्रशंसा-
गुणयुक्तमेवैतन्नाम स्यात् ‘ शिपिविष्टः ’ इति । आह । कथमिति ।
उच्यते । ‘ शिपयः अत्र ’ अस्मिन् प्रशं-
अथवा तत्प्रशंसानाम सानामपञ्चे ‘ रश्मय उच्यन्ते ’ । स च सूर्यो
स्यात् मुहूर्तदितः शिपिमन्त्रैर्वातरश्मिभिः ‘ आविष्टो
भवति ’ तस्मात् ‘ शिपिविष्टः ’ इत्यु-
च्यते । एवमेतद्रूपयाद्यमानं प्रशंसानामिव भवति नार्थल्योपमामन्त्रदमित्यभि-
प्रायः । हे विष्णो किमेतदेवैकं रूपं तव परिचक्ष्यं प्रख्यापनीयमस्ति
यदेतदुदयकाले प्रतिपन्नमात्रेण रश्मिषु । नान्यानि रूपाणि प्रख्यापनीयानि

१ क. ग. ३ (८); छ. त. १; द. २. २ च. “शस्त्रे च सामा”. ३ क. ग.
ग. ज. “रेकशस्त्रे ॥ तृती” ; प. ट. ठ. ड. “रेकशस्त्रे तृती”. ४ क. ख. शेषरूपः;
प. झ. ट. ठ. ड. शेषरूपः; च. शेषरूपः; छ. ५ च. “शेषि-नाम” तत्. ६
क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. “तार्थमित्युच्यते”. ७ प. स. ट. ठ. ड. “शस्त्रायुक्तम्”;
८ च. प्रशंसानाम्.

सन्ति 'यदुत' एवं 'प्रब्रूये शिपिविष्टोऽस्मीति प्रतिपन्नरदिमः'
 प्रतिपन्नमात्रेषु रश्मिष्विति । विजानीमस्तत्रैतद्रूपद्वयं यतो ब्रूमः । मा वर्षो
 अस्मदप गृह एतत् । मा एतत् वर्षो रूपमस्मत् अस्माकमप्रतः
 प्रह्यापय । किं तर्हि । अपगृहं एतत् । संवृतं कुरुष्वैतच्छिपिविष्टशब्द-
 वाच्यमुपमेयं रूपमथवा बालरश्मिसंयुक्तम् । किं तर्हि । यदन्यरूपो येना-
 न्येन रूपेण समिये संग्रामे भवसि संयतरदिमः संवैद्वानेकरश्मिजालस्तदेव
 नो माष्यंदिनं रूपमनेकरश्मिविकचं प्रकाशयस्वेत्यभिप्रायः । तद्व्यवधानाधृष्यं
 संग्रामेषु भवति । 'तस्य' एवार्थस्य प्रकृतस्य यथा प्रशंसानामैतदिति
 'उत्तरा' ऋक् अस्या एव प्रकृताया ऋचो 'भूयसे निर्वचनाय' । अत्र
 हि स्वशब्देनैवास्य प्रशंसानामत्वमुच्यते । ८ ।

अ तत्ते अथ शिपिविष्ट नामार्यः शंसामि वयुनानि विद्वान् ।
 तं त्वां गृणामि तवसमर्तव्यान्संयन्तमस्य रजसः पराके (ऋ०
 सं० ७ । १०० । ५) ॥ तत्तेऽथ शिपिविष्ट नामार्यः प्रशंसाम्य-
 योऽहमस्मीश्वरः स्तोमानामर्थस्त्वमसीति वा तं त्वा स्तामि तवस-
 मर्तव्यास्तवसं इति महतो नामधेयमुदितो भवति निवसन्तमस्य
 रजसः पराके पराक्रान्ते । आघृणिरागतहृणिः । आघृणे सं संचावहै ।
 आगतहृणे संसेवावहै पृथुजयाः पृथुजवः । पृथुजया अभिनादा-
 युर्दस्योः । मामापयदायुर्दस्योः ९ ॥

॥ तत्ते अथ शिपिविष्टेति । हे शिपिविष्ट विष्णो तदहं ते तव नाम
 प्रशंसामि । तत्प्रशंसार्थमेव पश्यामि यदन्ये कुस्तितापीयं पश्यन्ति ।
 वयुनानि युष्मादिपयाणि प्रज्ञानानि विद्वान्
 अत्र शिपिविष्टनाम जानानः । किंच । अयोऽहमस्मि यस्मादीश्वरः
 प्रशंसापरमेव स्तुतीनामुदीरणे युष्मद्गुणाभिज्ञस्तस्मादहं प्रशं-
 सामि । अथ 'वा । अयस्त्वमसि' ईश्वरो

१ ग. ज. संवन्थानेकः; च. संवन्थोऽहं. २ क. स. प. स. ट. ठ. ड.
 नापुष्टं. ३ क. ख. २ (८); ठ. ड. ८ इति नैरुक्तीकायां पञ्चमाध्याये अष्टमः
 खण्डः इतरेष्वहो नास्ति. ४ छ. त. द. तत्ते अथ. ५ त. तवसमर्तव्यास्तवसं. ६
 क. स. छ. त. ड. 'कन्त आपु'. ७ क. स. ४ (९), छ. त. १०; द. ४.
 ८ क. स. प. ट. ठ. ड. अवेति । वसि. ९ ग. ज. 'सामि तत्ते नामेति दत्त-
 मसि अर्थ ईश्वरो मद'. १० प. स. ट. ठ. ड. 'अथवा दत्तमसि अर्थ ईश्वरो;
 प. - अयस्त्वमसि ईश्व' दतः.

मदनुग्रहाय समर्थस्तस्मादेहं प्रशंसामि तच्चे नामेति स्फुटतरं प्रशंसानाम-
त्वमिति । यत्त्वं सर्वगुणसंपन्न ईश्वरस्तं त्वामहं गृणामि स्तौमि तवसं
महान्तम् अतव्यान् अमहान् अहम् । आत्मनिन्दया स्तूयते । क्व वर्तमानम् ।
निवसन्तमस्य रजसः अन्तरिक्षलेकस्य पराके पराक्रान्ते स्थाने । दूरादूर्तरे
निवसन्तं स्तौमि ।

‘आवृणिः’ (३९) इत्यनवगतम् । ‘आगतद्विजिः’ इत्यवगमः ।

आगतदीप्तिरागतक्रोधो वाभिधेयः । ‘एहि वां

‘आवृणिः’ इत्यस्य विमुचो नैपादावृणो सं संचावहै । रथीर्कतस्य नो
भव’ (ऋ० सं० ६ । ५५ । १) ॥ भर-

१० द्वाजस्येयमपि पौष्णे सूक्ते । एहि आगच्छ हे विमुचो विमोचयितः
प्रजानां तमोभ्यः पृषन् सूर्यं नपात् अपां नपात् हे नत्तः । अद्भयोऽग्निर्जायते
अग्नेरादित्य इत्यनयापेक्षयापां नपात्त्वं सूर्यस्य । अथवा मनुष्याणां भेद नत्ता
स्यात् । नृष्य ऋषिभ्यो मनुष्येभ्यो जायतेऽग्निरेतरेपि च सूर्यो जायते यदु-
त्तमम्युपस्थाने ‘एष प्रातः प्रसुवति’ (मैत्रा० सं० १ । ५ । ७)

१५ इति । आवृणे आगतदीप्ते संसंचावहै संसेवावहै आवां परस्परतः ।
रथीर्कतस्य रेहयिता गमयिता प्रोत्सर्पयिता नत्त्वं यज्ञस्य भव । त्वदुदय-
प्रतक्ष एवाहं यज्ञप्रारम्भं प्रत्याशाते । स त्वमुदेहि । त्वय्युदिते प्रोत्सर्पतामयं
यज्ञ इत्यभिप्रायः । एवमयमत्र सूर्यसंबन्धात् ‘आवृणि’शब्दो दीप्तिवाचकः ।
दीप्तिर्कर्मसु च पठित एवायं ‘हरः द्विजिः’ (निघ० १ । १७) ।

२० इति । क्रोधोऽपि द्विजिरित्युच्यते ‘हेडः हरः द्विजिः’ (निघ० २ ।
१२) इति । तदपि प्रकरणवशादुपेक्षितव्यम् ।

१ च. ‘ब्रह्मप प्रवृणोः सम’ २ च. वर्जमितरेषु ‘अहं’ नास्ति. ३ क. ख.
प. झ. ट. ठ. ड. विस्फुटं. ४ ग. ‘भेयः’ । ५२ । एहि. ५ ग. नपा० । भर°;
प. ट. नपा० स्य नो भव. ६ ज. संचावहै । भर°. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
‘मार्प गायत्री पौष्णे’; च. ‘मार्प । ~ पौष्णे’ माघत्री. ८ ठ. ड. ‘अपां नपात्’
नास्ति. ९ ग. ज. ‘हे नत्त’ नास्ति. १० ग. ज. संसेवावहै; च. संसंचावहै-आवां°
संसेवावहै वां. ११ क. ख. घ. झ. ट. ड. वां आवां. १२ क. ख. घ. झ. ट.

२८ ठ. ड. ‘मुदिहि. १३ ठ. ड. हेडः.

‘पृथुजयाः’ (‘४०’) इत्यनवगतम् । ‘पृथुजवः’ इत्यवगमः ।
 ‘यं नु नकिः पृतनासु स्वराजं द्विता तरति
 ‘पृथुजयाः’ इत्यस्य नृतमं हरिष्टाम् । इतमः सत्त्वभिर्यो ह शूपैः
 पृथुजया अमिनादायुर्दस्योः’ [ऋ० सं० ३ ।
 ४९ । २] ॥ विश्वामित्रैर्यार्पम् । त्रिष्टुप् । ऐन्द्रे सूक्ते । व्यूढस्य दश- ५
 रात्रस्य द्वितीयेऽहनि मरुत्वतीये शस्येते [आश्व० श्रौ० ८ । ७] । ‘यं
 नु नकिः । यमिन्द्रं न कश्चिदपि पृतनासु संग्रामेषु स्वराजम् अपराधीनराज्यं
 द्विता द्विविधेनापि बलेन सांयौगिकेनौरसेन च तरति जयति । सर्वथा जेतुं
 न शक्यत इत्यभिप्रायः । अथवा । द्विता तरति द्विधैकधा वा बहुधा वा
 वर्तमानं पृतनासु ये न कश्चिद्विजितुं शक्नोति नृतमं मनुष्यतमं हरिष्टां १०
 हयैरास्यातारम् । इतम ईश्वरतमश्च यः सर्वेभ्य ईश्वरेभ्यः । सत्त्वभिर्यो ह
 शूपैः । अनेकसत्त्वसंयुक्तैर्हस्त्यश्वरथपदातिवृक्षगैः सांयौगिकैर्वलैः शूपैश्च बल-
 विशेषैरेव । अथवा । सत्त्वशब्दविशेषणमेव शूपशब्दः स्यात्सत्त्वयुक्तैः शूपैर्व-
 लैरिति । पृथुजया विस्तीर्णजवः । अमिनादायुः । कस्य । दस्योः मेघस्या-
 मुरस्य । तमहं स्तौमि । स इदं नाम करोत्वित्यभिप्रायः । एवमत्र १५
 शब्दसारूप्याद्वाधाधिकाराच्च ‘पृथुजयाः पृथुजवः’ इत्युपपद्यते ।
 ‘अथर्वम्’ इत्यनवगतम् । ‘अतनवान्’ इत्यवगमः ॥ ९ ॥

अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युती अनयन्त मशस्तम् ।
 दूरेदंशं गृहपतिमथर्व्यम् (ऋ० सं० ७ । १ । १) ॥ दीधितयोऽ- २०
 मूलयो भवन्ति धीयन्ते कर्मस्वरणी प्रत्युत एने अग्निः समरणा-

१ ग. गमः । ४४ । यं. २ घ. स. ट. घ. यन्नु न°. ३ ग. ज. °नासु
 स्वराजं । विश्वा°; घ. ट. °नासु० दायुर्दस्योः. ४ क. ख. घ. स. ट. °व्रत्येयमा
 र्पम्. ५ क. ख. घ. स. ट. ठ. ड. °त्वधिं रुखे शस्यते. ६ घ. स. ट. घ. ज.
 यन्नु न°. ७ क. ख. घ. स. ट. ठ. ड. °या यो जेतुं°; घ. °या - जेतुं° यो.
 ८ क. ख. घ. स. ट. ठ. ड. इत्यर्थः; घ. इत्यभिप्रायः° धः. ९ ग. ज. दमः;
 घ. रंघ. १० ट. ड. वाधित् दन्तुं. ११ घ. इदं क° नाम. १२ क. ख. ४ (१);
 ग. ४५ । १०; ठ. ड. गमः । इति निरुक्तटीकायां पञ्चपात्रादे नानः खण्डः.

ज्जायत इति वा हस्तच्युती हस्तप्रच्युत्या जनयन्त प्रशस्तं दूरे-
दर्शनं गृहपतिमतनवन्तम् ॥ १० ॥

- अग्निं नर इति । वसिष्ठस्यैवमर्षम् । महाव्रत आग्नेये सूक्ते प्रथमै-
वेयम् (ऐ० आ० १ । १ । १) । व्यूढस्य दशरात्रस्य चतुर्थेऽ-
ह्न्याग्निमारुते शस्त्रे जातवैदस्ये सूक्ते प्रथमैव (आश्व० श्रौ० ८।८) ।
नरो मनुष्या दीधितिभिः अङ्गुलीभिः योक्तं परिगृह्योत्तरारणि वाँ हस्तच्युती
हस्तप्रच्युत्या हस्ताभ्यां प्रच्यावयन्तः अरण्योः
'अथर्युम्' इत्यस्य सकाशादग्निं जनयन्त प्रशस्तम् । प्रशस्यमि-
त्यर्थः । दूरदृशं दूरेदर्शनं गृहपतिम् अथर्युम्
अतनवन्तम् । गमनवन्तमित्यर्थः । एवमत्राततेर्गत्यर्थस्य सारूप्यादग्न्याधि-
काराच्च 'अथर्युः अतनवान्' इत्युपपद्यते । 'दीधितयोऽङ्गुलयो भवन्ति' ।
ता हि 'धीयन्ते कर्मसु' अनुष्ठीयमानेषु । 'अरणी प्रत्यूतः' प्रतिगतः
'एने अग्निः' तारध्यादग्नेः । 'समरणाज्जायते इति वा' । अरण्योर्हि सम-
रणात्समागमौदग्निर्जायते ।

'काणुका' (४२) इत्यनवगतमनेकार्थं च । 'कान्तकानीति वा
क्रान्तकानीति वा' इत्येवमाद्याः शब्दसमाधयः ॥ १० ॥

- एकया प्रतिधा पिंवत्साकं सरांसि त्रिशतम् । इन्द्रः सोमस्य
काणुका (ऋ० सं० ८ । ७७ । ४) ॥ एकेन प्रतिधानेनापि-
वत्साकं सहेत्यर्थं इन्द्रः सोमस्य काणुका कान्तकानीति वा
क्रान्तकानीति वा कृतकानीति वेन्द्रः सोमस्य कान्त इति वा

- १ क. ख. ५ [१०], उ. त. १ द. ५. २ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
'इयं' नास्ति. ३ घ. झ. ट. ठ. ड. 'र्वम्' । विराल (ट. ड.
२५ 'राळनु'; ठ. 'राजनु') गृह्य. महा; च. 'र्व' । महा विरालगृह्य. ४ घ.
झ. ट. ठ. ड. सूक्ते वाजपेये चान्यशस्त्रे प्रथं; च. सूक्ते 'म' वाजपेये चान्यशस्त्रे.
५ क. ख. ग. ज. 'वा'स्थाने 'च'; घ. झ. ट. ठ. ड. 'वा' नास्ति; च. वा. ६ ग.
ज. 'वन्तमित्यर्थः । गम'; च. वन्तमित्यर्थः । एउं न्तं गमनम्. ७ क. ख. घ.
झ. ट. ठ. ड. 'गमनादग्नि'; च. गमोद्' घना. ८ क. ख. ५ (१०); ग. ४५
। ११; ठ. ड. 'मापयः । इति निरुक्टीकायां पञ्चमाध्याये दशमः खण्डः;
२१ इतरेष्वङ्गो न विद्यते. १ क. ख. उ. त. द. 'त्यर्थः । इन्द्रः'.

कणेघात इति वा कणेहतः कान्तिहतस्तत्रैतद्याज्ञिका वेदयन्ते
 त्रिंशदुपपात्राणि माध्यंदिने सवन एकदेवतानि तान्येतस्मि-
 न्काल एकेन प्रतिधानेन पिवन्ति तान्यत्र सरास्युच्यन्ते त्रिंशद्-
 परपक्षस्याहोरात्रास्त्रिंशत्पूर्वपक्षस्येति निरुक्तास्तथा एताश्चान्द्रमस्य
 आगामिन्य आपो भवन्ति रश्मयस्ता अपरपक्षे पिवन्ति तथापि ५
 निगमोऽभवति यमाक्षितिमक्षितयः पिवन्तीति तं पूर्वपक्ष आप्या-
 ययन्ति तथापि निगमो भवति यथा देवा अंशुमाप्याययन्तीत्य-
 धिगुर्मन्त्रो भवति गव्यधिकृतत्वादपि वा प्रशासनमेवाभिप्रेतं
 स्यात्तच्छब्दवत्त्वादधिगो शमीध्वं सुशामि शमीध्वं शमीध्वमधिग-
 वित्यग्निरेप्याधिगुरुच्यते । तुभ्यं श्रोतन्त्याधिगो शचीवोऽधृतगमन १०
 कर्मवन्निन्द्रोऽप्यधिगुरुच्यते । अधिगव ओहमिन्द्रायेत्यपि निगमो
 भवत्यौद्गुणः स्तोम आधोपः । एनाद्गुणैः वयमिन्द्रवन्तः । अनेन
 स्तोमेन वयमिन्द्रवन्तः ॥ ११ ॥

एकया प्रतिधा । काण्वस्य कुरुमुतेरियमार्षम् । एकया प्रतिधा एकेन १५
 प्रणिधानेन सङ्कल्पमिहितेनैव चेतसा पिवतीन्द्रः साकम् । सहेत्यर्थः ।
 कानि पुनः पिवति । सरासि । किमन्ति । त्रिंशतम् । कस्य पूर्णानि
 पिवति । सोमस्य । किं गुणयुक्तानि । काणुका
 'काणुका' इत्यस्य कान्तकानि । प्रियाणीत्यर्थः । अथवा । सोमस्य
 कान्तकानि । आत्रिर्लोत्सोमस्य पूर्णानीत्यर्थः । २०
 अथवा । कृतकानि संस्कृतानि ऋत्विग्भिरेन्द्रार्थमेव । अथवा । इन्द्रो

१ क. ख. द. 'यन्तीति ॥ ६ ॥ अभि'; छ. त. 'यन्तीति ॥ १० ॥ अभि'.
 २ छ. त. द. प्रशासनानामभिप्रेतं. ३ छ. सुशमी' मि; द. सुशमी. ४ छ. त.
 द. शविरः । अपु'. ५ छ भवति । औद्गु' त्या; त. भवति । आद्गु. ६ क.
 रा. ७ (११); छ. त. १३; द. ७. ७ क. ख. त. प्रति 'काणुका; ग. न. प्रति २५
 धारिषत्; प. ट. प्रतिधा० सोमस्य काणुका; ड. द. यतिथेति. ८ क. ख. प. स.
 द. ठ. ड. मार्षम् । मादमी । देन्द्रो एक'; य. 'मार्ष - । एक 'मादमी देन्द्रो.
 ९ य. दक्षिण' ति; इतेषु 'प्रतिधा'. १० क. ख. प. स. ट. ठ. ड. यतिदि';
 य. यतिदि' ति. ११ न. 'अथवा० निन्द्रार्थमेव' नास्ति. १२ य. स. ट. ठ.
 द. आविर्भू' क्षी'.

यस्मात् सोमस्य कान्तः तस्मादपिबत् । अथवा । एवमन्यधेन्द्रविशेषण-
मेव स्यान्न सरोविशेषणम् । आह । कथमिति । उच्यते । आकणेघातं
पिबतीति । यावत्कणे हन्यत इत्यर्थः । ' कणेहतः कान्तिहतः ' ।
कान्तिरभिलाष इत्यर्थः । कामः प्रार्थना कणे इति समानार्थाः । कामे
योऽभिहतः सः ' कणेहतः ' इत्युच्यते । हतपानाभिलाष इत्यर्थः । एव-
मेतत्काणुकेति सरोविशेषणमिन्द्रविशेषणं पानविशेषणं वा सर्वेषामस्मिन्मन्त्रे
प्रकृतत्वात् । एवं चास्य विकल्प्यमानस्यानेकार्थतापि दर्शितैव भवति ।

यदेतदुक्तमस्मिन्मन्त्रे ' सरांसि त्रिंशत् ' इत्यस्याभिधेयविपर्ययप्रख्यापन-
प्रसक्तमिदमुच्यते । ' तत्रैतद्याज्ञिका वेदयन्ते ' । तत्रैतस्मिंस्त्रिंशच्छब्द एतद-

१०

भिधेयमर्थवस्तु याज्ञिका वेदयन्ते कथयन्ति ।
' सरांसि त्रिंशत् ' इत्य- ' त्रिंशदुक्तपात्राणि माष्यंदिने सवन एकदेव-
स्य याज्ञिकपक्षेणार्थः तानि ' इति । तत्र हि माष्यंदिने सवन उक्त-
पर्यायास्त्रयोऽथैन्द्रा एव भवन्ति । त्रिण्यपि चैतेषु

दश दश चमसाः । तदभिप्रायेण त्रिंशत्सरांसीत्युक्तं मन्त्रदृशा । ते ह्यत्रे-

१५

न्द्रस्य सरका अभिप्रेताः सीधुसरका इवेतरस्य कस्यचित्क्षत्रियस्य ।
यानि तान्युक्तसंयद्धानि च सोमपात्राणि ' एकेन प्रणिधानेन ' पीयन्ते
' तान्यत्र सरांस्युच्यन्ते ' इत्येव याज्ञिकानामभिप्रायः । ' त्रिंशदपरपक्ष-
स्याहोरात्रास्त्रिंशत्पूर्वपक्षस्येति नैरुक्ताः ' । नैरुक्तानामपि त्रिंशत्संख्यापूर्णं
पक्षगताहोरात्रयोः पृथग्भावेन पानात् । तत्रैवं सति ' या एताश्चान्द्रमसैः ' ।

२०

चन्द्रमसि भवाश्चान्द्रमस्यः । ' आगामिन्यैः ' प्रतिपदद्वितीयाद्यासु तिथि-

१ घ. झ. ट. अथ ' एवमन्य ' . २ ग. ज. प्रार्थनकणे ; घ. प्रार्थनं क ' ना. ३
क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ' पणं वा पान ' . ४ ब. झ. ट. ठ. ड. ' विषये प्रख्या ' ;
घ. ' विषये ' ये. ५ ठ. ड. ' धेयमन्यवस्तु . ६ ग. ज. घ. झ. ट. ठ. ड. ' यास्त्रय-
स्योऽ ' ; घ. ' या-स्त्रयोऽ ' स्त्रय. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ' योऽथैन्द्रा ' ;
घ. ' योऽथैन्द्रा ' प्यै. ८ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. प्रणिधा . ९ क. ख. ग.
ज. नैरु ००० पानात् ' नास्ति. १० ब. ' मस्य आगामिन्यः । चन्द्र ' ; झ. ' नस्य
आप आगामिन्यः । चन्द्र ' ; ट. ' मस्य औषे आगामिन्यः । चन्द्र ' ; ठ. ड. ' मस्य
२८ आगामिन्य आपः । चन्द्र ' . ११ घ. ट. ' भिन्यः ४ पानि ' आपः .

सस्यैव नैरुक्तपक्षे-
पार्थः

ज्वागच्छन्तीति । किं तासामिति । उच्यते । 'रश्म-
यस्ता अपरपक्षे पिबन्ति' । यथा चैतदेवं
'तथापि' तथैव 'निगमः' 'यमक्षिति-
मक्षितयः पिबन्ति' इति । चन्द्रमसमपरपक्षे

पीत्वा ते सूर्यरश्मयः 'पूर्वपक्षे' प्राप्ते पुनः 'आप्याययन्ति' आपूरयन्ति ।
यथा चैतदेवं तथैव 'निगमः' 'यथा देवा अंशुमाप्याययन्ति' इति ।

'यथा देवा अंशुमाप्याययन्ति' यथा क्षितिमक्षितयः पिबन्ति । तेन
नै इन्द्रो वरुणो बृहस्पतिराप्याययन्तु भुवनस्य गोपाः' ॥ राजयश्मगृही-

तस्य वैश्यदेवश्चरुर्निरुप्यते (मैत्रा० सं० २।२।७) । तत्र प्राक्

स्त्रिष्टकृतोऽनयां ग्राह्यतिर्ह्यते । यथा येन प्रकारेण देवाः सूर्यस्य रश्मयः

अंशुं सोमम् आप्याययन्ति पूर्वपक्षे एवमनेन प्रकारेण हे यजमान त्वामिन्द्रो

वरुणो बृहस्पतिर्येते भुवनस्य भूतजातस्य गोसार

नैरुक्तपक्षानुक्तो आप्याययन्तु आयुषा धनेन । किञ्च । यथा येन

प्रकारेण 'अक्षितिम्' अक्षीणं सोमम् अक्षितयः

सूर्यरश्मयः पिबन्ति तथा त्वामपि हविर्दातारं

सन्तं पिबन्तु उपजीवन्तु एते देवा इति । येषां तु 'यमक्षितिम्' इति

पाठस्तेषां यमक्षितिमक्षितयः पिबन्ति स च त्वामापाययन्निवेवं योग्यम् ।

आह । 'एकया प्रतिधापिबन्' इत्येतस्मिन्मन्त्रे 'साकं सरासि

त्रिशतमिन्द्रः' पिबतीत्युक्तम् । नैरुक्तपक्षेण चैतत् 'तथा एताश्चान्द्रमस्य

नैरुक्तपक्षीवोऽर्थोऽ-

संबद्ध इति पूर्वपक्षः

पिबन्ति' इति । तदेतद्रश्मिषु पौत्रेषु चन्द्रमसि

च पीर्यमाने सर्वमेवेदमसंबद्धं भवतीति । 'एकया

प्रतिधापिबन्' इत्येतस्य मन्त्रस्यैवत्वात् । इतर-

स्मिन् 'यमक्षितिमक्षितयः पिबन्ति' इति रश्मीनां पानसंयोगादादित्य

उच्यते । उच्यते । आदित्योऽपि हीन्द्रश्चन्द्रेनोच्यत एव । 'असायादित्य

१ ठ. ड. 'क्षितिम्' २ क. ख. ग. च. ज. यमक्षिति'. ३ ग. ज. नो; ठ.
ड. 'गः' नास्ति. ४ क. ख. घ. ङ. ड. ट. सूर्य'. ५ क. ख. घ. ङ. ड.
ठ. ड. घनेन च; य. घनेन. । किं च. ६ क. ख. घ. ङ. ड. ट. ड. 'य'
नास्ति; य. 'यौके' उ. ७ क. ख. ग. ज. घ. ट. पातृषु. ८ य. पीतये पीते'
पमाने. ९ क. ख. घ. ङ. ड. ट. ड. पानसंयोगादादि'. १० क. ख. घ. ङ.
ड. ट. ड. 'उच्यते' नास्ति.

इन्द्रः ' इति हे विज्ञायते (काठ० सं० २२ । २ । तै० सं० १ । ७ । ६ ।) । तदवयवभूताश्च रश्मयोऽत्रादित्येन सह समासव्यासस्तुतिभाजः ।

सरःशब्दः छल्वप्युदक एव वर्तते । ' पयः सरः भेषजम् ' इत्युदकनामसु पठितम् (निघ० १ । १२) । तत्रैवं सति यानि तान्युदकानि सरांसि

पञ्चदशाहःसंभृतानि साकमवस्थितानि भवन्ति
तत्स्यार्थस्पोपपत्तिः चन्द्रमसि तानि सूर्य इन्द्रो रश्मिभिरपरपक्षे
पिबतीत्येवमेतत्सर्वमुपपद्यत एव नैदक्तपक्षे ।

' अधिगुः ' (४३) इत्यनवगतमनेकार्थं च ।

१० ' अधिगुर्मन्त्रो भवति ' । आह । किं कारणम् । उच्यते । ' गवि
अधिकृतत्वात् ' । सोऽयमधिगुः सन् अधिगुरि-
अधिगुर्मन्त्रो भवति ल्यर्थः । गवि योऽधिकृतो मन्त्रः सोऽधिगुः ।

' अपि वा ' गोरनित्यत्वात् ' प्रैशासनमेव '
एतत् ' अभिप्रेतं स्यात् ' । अधिगुर्नाम कश्चिदस्ति दैव्यः शमिता ।
तस्यैतत्प्रशासनं स्यात् । संप्रेषणमित्यर्थः । किं

१५ अधिगुशब्देन प्रशा- कारणम् । ' तच्छब्दवत्त्वात् ' । तथा ह्यस्य मन्त्र-
सनमभिप्रेतं स्यात् स्यादधिगुशब्दवध्वम् । तदेतदुपपद्यते तद्गतेनैव-
निगमेन ' अधिगो शमीध्वम् ' इति [मैत्रा०

सं० ४ । १३ । ४] । हे अधिगो सर्व एव यूयं शमीध्वं शमयध्वमेनं
पशुमिति । ' दैव्याः शमितार उत मनुष्या आरभध्वमुपनयत भेष्यादुर

२० आशासाना मेधपर्वथे मेधं प्रास्मा अग्निं भरत स्तृणीत बर्हिर्गन्धेनं माता
मन्यतामनु पितानु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूय उदीचीनो अस्य पदो
निधत्तासूर्यं चक्षुर्ममयताद्वातं प्राणमन्त्रं सृजतादन्तरिक्षमनु पृथिवीं शरीर-
मेकधास्य त्वचमाच्छयतापुरा नाम्ना अपिशसो वषामुत्सिदतादन्तरेषोऽन्धार्णो
वारयताश्च येनमस्य वक्षः कृणुताप्रशसा वाहू शला दोषणी कदम्बपत्रांसा-

२५ छिद्रे श्रोणी कवपोरु स्तेरुपर्णाष्टीकन्ता पङ्क्तिरित्यस्य वद्वक्तव्यस्ता अनुप्रायो-

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'ह' नास्ति. २ क. ख. च. 'पक्षे । ६ ।
अग्नि'. ३ ग. च । १२ । अग्नि'. ४ घ. 'र्मन्त्रो हि भव'. ५ ग. ज. प्रशमानाम
पेत'. ६ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'त्वं यच्चदेतदुक्तमुप'; च. त्वं तै (यत्त)
देतदुज्य' कमु. ७ ग. च ज. 'शमितार आशासाना'; घ. ट. ठ. ड. शमितार
(घ. ट. शमितार) आरभ'. ८ क. ख. घ. ट. ठ. ड. मेधपत्रिंशां. ९ ग. च.

११ ख. घ. ट. ठ. ड. भेवं नेदस्तोके.

च्यावयताद्वात्रं गात्रमस्यानूनं कृणुतादूवध्यगोहं पार्थिवं खनतादस्ना रक्षः
संसृजतादनिष्टुमस्य मा राविद्योरुक्तं मन्यमाना नेद्वस्तोके तनये रविता

रवैदघ्नियो शमीध्वं सुशमि शमीध्वं शमीध्वम-

अघ्नियुषैः प्रियो [मैत्रा० सं० ४ । १३ । ४] इति

प्रेपः । हे देव्याः शमितारः अपि च हे

मनुष्याः आरभध्वम् । उपनयत च एनं पशुमेता मेध्याः दुरः । यज्ञगृह-

द्वार इत्यर्थः । आशासानाः प्रार्थयमाना मेधपतयेऽस्मै यजमानाय मेधम् एनं

पशुं शमयितुम् । किंच । प्राप्ता अग्निं भरत । प्रभरतास्मै पशवे संज्ञप-

मानाय अग्निम् । उन्मुक्तं पुरस्ताद्धारयतेत्यर्थः । किंच । स्तृणीत बहिः ।

अस्मै पशवे संज्ञप्यमानाय उपाकरणभेतं दर्भमपास्यतेत्यर्थः । किंच । १०

अन्वेनं माता मन्यताम् । एनं संज्ञप्यमानं माता अनुमन्यताम् । अनुमन्यतां

पिता । भ्राता सगर्भ्यः अनुमन्यताम् । सहगर्भायः । सहोदर इत्यर्थः ।

अनुमन्यतां चैनं सखा सयूथ्यः सहयूथ्यचारी । अनुमतमेनमेभिः संज्ञप-

यतेत्यभिप्रायः । किंच । उदीचीनीं अस्य पदो निधत्तात् । उदक्पाद-

मेनं संज्ञपयतेत्यर्थः । किंच । सूर्यप्रभवमस्य चक्षुस्तैर्मूर्धमेव गमयतात् । १५

यातमनु प्राणमनुसृजत । असुं शरीरविधारकं प्राणमन्तारिक्षमन्त्रसृजत ।

दिशः श्रोत्रमन्त्रवसृजत । किंच । उपाकरणेन दर्भेण सहै साकमेकधास्य

त्वचमाच्छयतात् । आच्छयतेत्यर्थः । ततोऽनन्तरमेव पुरा नाम्ना अपि-

शसः तस्माच्छसः प्रशस्ताव्यदेशात् यपामुत्खिदतात् उद्धरत । किंच ।

अन्तरेव जभ्यन्तरत एयोष्माणमस्य शम्भमानस्य वारयध्वात् । श्येन- २०

मस्य श्येनाकृतिः श्येनवर्णं वा पाकेन यक्ष उरः कुरुत । प्रशसा याहू

१ ग. च. ज. घ. ट. ठ. ड. रवच्छमितारः । अघ्नियो शमीध्वमिति प्रैपः.
२ क. ख. ग. घ. ट. ठ. ड. ज. मेधपतिभ्यामप्यामग्नीषोमाभ्यां मेधः; च.
मेधपतयेऽस्मै यजमानाय मेधः तिभ्यामप्यामग्नीषोमाभ्यां. ३ क. ख. घ. झ. ट.
ठ. ड. मेनं; च. मेतं नं. ४ च. सहयूथ्यचारी यूथ. ५ च. चीनीं नाम. ६ २५
क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. शुस्ततः सु. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. मन्त्रव-
सृजत; च. मनुसृजन्त्रव. ८ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. मन्त्रव; च. म-
वसृन्त्र. ९ घ. झ. ट. ठ. ड. सृजत । शरीरं यामोषयन्ताच्छेषं पृथिवीदन्त्रसृ-
जत । किंच; च. सृमत किंच शरीरं०००सृजत. १० ग. ज. घ. झ. ट. 'सद'
नास्ति. ११ ग. ज. 'मुत्सिदतम्'; च. 'मुत्सिदन्त' ता. १२ घ. झ. ट. ठ.
ड. 'कृति'.

शला दोषणी इति बाह्यैरेतदभिधानमवयवशः । अत्र बाहुशब्दः प्राये-
णार्वागंसंयोज्यते । आ अरलिसंज्ञितौ बाहु प्रशस्तौ कुरुत । स्वधित्वा-
कृती इत्येके । शलाशब्दोऽरल्योरेव वर्तते । तौ च शलादोषणी द्रवणसमर्थौ
प्रशस्तौ कुरुत । शलाकाकृती निर्मासौ कुरुतयेके । “ श्येनशलाकस्यपा-

- ५ कवपास्त्रैरुपेणेष्वकृतिविशेषवचनं प्रसिद्धिसामर्थ्यात् ” इति हि नैयायिकाः
पठन्ति (जै० न्या० ९ । ६) । कश्यपेवांसा कच्छपा-
त्रिवांसौ कुरुत । अच्छिन्द्रे ओणी अविकले कुरुत । कश्यपोरु
पिण्डकास्ये अच्छिन्द्रे एव कुरुत । लेकपर्णी कर्तारपत्राणीव
अष्टीवन्ता अस्थिसंयुक्तौ । या एता बह्वयः पर्शवस्ता अनुष्टया अनुष्टा-
१० नक्रियया प्रच्यावनसमर्थयैव प्रच्यावयत । किंच । गात्रं गात्रमपि आवि-
कलं कुरुत । किंच । “ ऊवध्यगोहम् ” ऊवध्यं यः पार्थिवो गर्तः
प्रसृष्टं संवृणोति तमुत्तरतश्चात्वाहस्य खनति । अस्मा रक्षः संसृजतात् ।
असृग्भाञ्जि रक्षांसि कुरुतैत्यर्थः । किंच । वनिष्टुं दृष्ट्वा मा राविष्ट मा
शब्दं करिष्यथ उल्लेखं मन्यमाना उल्लेखवत्तं वनिष्टुं मन्यमानाः । उल्लेखो
१५ हि भयंकरत्वात् दृष्ट्वा जनैर्परिगृह्यतेऽयमुल्लेखोऽयमुल्लेख इति । तदाशङ्क्यो-

१ क. ख. घ. ट. ठ. ड. “संधानी; ग. ज. संधिनी; च. संधितो” धानी. २ ग.
ज. “लेकपर्णे”; च. “कश्य(पा) सि (सि) कश्य(पा)मे”. ३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. “चने
सिद्धसाधनं स्यादिति”; च. “प्रसिद्धिर्वाग्म्ये” ति° सिद्धसाधनं स्या; ट. सिद्धसाधनं स्यात्
प्रसिद्धिसामर्थ्या°. ४ क. ख. ग. घ. ङ. ट. ठ. ड. “कुरुत । किंच । अच्छिन्द्रे°

- ५० ५ क. ख. ग. ज. घ. ट. ठ. ड. कश्योरु कवपा (ग. ज. “कवपा” नास्ति)
कश्ये गतिसमर्थे ऊरु कुरुत । कवतिर्गत्यर्थः । च्यते कवते गवते इति गतिकर्मसु
पाठात् । पिण्डि°; च. कश्योरु-पिण्डि° कवपा कवये गतिसमर्थे ऊरु कुरुत ।
कवतिर्गत्यर्थः. ६ क. ख. ग. ज. घ. ट. ठ. ड. पिण्डिकास्ये ऊरु अच्छि°; च.
पिण्डिकास्ये-अच्छि° ऊरु. ७ च. “पर्णांशे. ८ क. ख. घ. ट. ठ. ड. संयुक्ती
१५ कुरुत । षड्विंशतिरस्य बह्वक्यस्ता अनुष्टयो (ठ. ड. अनुष्टयो) प्रच्यावयतात् ।
याः°; ग. ज. संयुक्ता. ९ घ. झ. ट. ठ. ड. प्रच्यावयतात् । प्रच्या°. १० क. ख.
घ. ट. ठ. ड. “प्रस्यानूने अविक°; ग. ज. मस्या । अविक°; च “मस्या अविक.
११ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. वृणुतात् कुरुत. १२ घ. झ. ट. ठ. ड. वृणुदं अवाशिष्टं
गृह्णाति संवृणो°; च. प्रसृष्टं संवृणो° वृणुदं अवाशिष्टं गृह्णाति. १३ घ. झ. ट. ठ. ड.
खनतात् खनत. १४ क. ख. ट. वनिष्टुं; च. वनिष्टुं. १५ ग. ज. उल्लेखं. १६
ग. ज. अल्लेखो; च. अल्लेखो° ट. १७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. “तं” नास्ति.
३२ १८ ग. ज. विशग्यते.

लूकसारूप्याद्धनिर्धोर्मा राविष्टेत्युच्यते । नेदः युष्माकं नैतकैर्म रवि-
तृययुत्रेषु चै पौत्रेषु चै स्यात् । अरवणशीले नः पुत्रपौत्रं भविष्यतीम-
भिप्रायः । हे अधिगो शमीध्वमेतं पशुम् । सुशमि शमीध्वम् । यथा
चायं सुशमितः स्यात्तथैनं शमीध्वम् । हे अधिगो मा प्रमादं कारिष्यथ ।
एवमेतस्मिन् देव्यस्य शमितुरधिगोः प्रशासनमित्येतदुपपद्यते तस्य संज्ञो- ५
अस्मिन्प्रेषे बहूनि श्रव्यात् । अस्मिन् प्रेषे यथासंभवं प्रशासनानि
प्रशासनानि द्रष्टव्यानि 'प्रासो अग्निं भरत' इत्येवमादीनि ।

'अग्निरप्यधिगुरुं पते' । अघृतगमनोऽसावित्यधिगुः । 'तुम्यं

श्रोतन्त्याधिगो शचीवः स्तोकासो अग्ने मेदसो

वागिरप्यधिगुः धृतस्य । काविशस्तो बृहता भानुनागा हव्या जुषस्य १०
मेधिर' (ऋ० सं० ३ । २१ । ४) ॥

गाधिः कुशिकपुत्रस्यार्पम् । स्तोकासूक्ते विनियुक्ता [आश्व० श्रौ०
३ । ४] । हे अधिगो अघृतगमन हे शचीवः कर्मवन् तुम्यं
त्वदर्थमेते स्तोकाः विन्दवो वषामतीत्य श्रोतन्ति क्षरन्ति मेदसश्च धृतस्य
च । यस्य तन्नैतद्वर्तते स त्वं काविशस्तः प्रेक्षारणे कविमिरभिष्टो बृहता १५
महता भानुना भासा आगाः आगच्छ । आगत्य चेमानि हव्या हवीषि

१ क. ल. ग. ज. ट. वनिष्ठोर्मा. २ क. ल. घ. झ. ट. ड. 'च्यते । हे
शमितारः नेदस्तोके तन्मे दवेता एव शमितारः । नैतः च 'च्यते । नैतं नेदः
(हे शमितारः ने) ; ग. 'च्यते । नेदरवितृ' ; ज. 'च्यते । नेदरवितृ'. ३ क.
ल. घ. झ. ट. ड. 'तर्कं कुर्वतां रवि' ; च. 'तर्कं रवि' कुर्वतां. ४ क. ल. २०
घ. झ. ट. ड. रवितारवत्. ५ क. ल. घ. झ. ट. झ. ड. 'च' नास्ति;
च. घ. ६ क. ल. घ. झ. ट. ड. वः; च. घ. वः. ७ च. 'यचत्विति भवि'.
८ क. ल. घ. झ. ट. ड. ड. 'मेन'; च. 'मेतं' न. ९ ग. ज. प्रास्वामि; च.
प्रास्वामि अ. १० ग. 'अग्निः । ४७ । तुम्यं'. ११ ग. ज. अग्निः शचीवः
स्तोकासो । गाधिः; घ. ट. 'अग्निः जुषस्य मेधिर. १२ घ. झ. ट. ड. 'पय'. १५
विष्टोपा विष्टुः । स्तोः; च. 'स्वार्पय' । स्तोः विष्टोपा विष्टुः. १२ क.
ल. घ. झ. ट. ड. ड. 'हे' नास्ति. १४ क. ल. घ. ट. प्रक्षणे प्रक्षणे कवि';
ड. ड. प्रक्षणे; च. प्रक्षो (ल) रणे कवि' प्रक्षणे. १५ घ. झ. ट. ड. दव्यानि;
च. हव्या इति नि.

यानि स्तोत्राख्यानि त्वदर्धमेव क्षरन्ति तानि जुपस्य संसेवस्य हे मेधिर ।
यज्ञवज्रित्यर्थः । एवमत्र 'अग्निगो' इत्यग्निरुक्तः । तस्मादग्नेराग्निगुणमु-
पपद्यते ।

‘इन्द्रोऽप्यग्निगुरुच्यते’ । तस्यापि न कश्चिद्गमनधारयितास्ति ।

५

‘अस्मा इदु प्र तवसे तुराय प्रयो न हर्नि
इन्द्रोऽप्यग्निगुः स्तोमं माहिनाय । ऋचीपमायाधिगव ओहमि-
न्द्राय ब्रह्माणि राततमा (ऋ० सं० १ । ६१ ।

१) ॥ नोधस इयमर्पिम् । अहीनसूक्ते शस्यते (आश्व० श्रौ० ७ । ४) ।

अस्मै इन्द्राय प्रहर्षि प्रहंरामि स्तोमं प्रयो न प्रय इव । अन्नमिव यः

१० स्तोमस्तृप्तिं करोति तं प्रहंरामि । तवसे महते तुराय त्वरमाणाय ।

माहिनाय मंहनाय दात्रे । किंच । ऋचीपमाय ऋक्समाय स्तुतिसमाय ।

यावती स्तुतिरुदीर्यते तावानेवासौ भवति माहामाभ्यात् । अग्निगवे

अधृतगमनायाप्रतिहतगमनाय । एवंलक्षणायेन्द्राय ओहम् अहं प्रापयामि

ब्रह्माणि हर्षाणि राततमा दातव्यतमानि । यान्यसावेवार्हति तान्नीत्यभि-

१५ प्रायः । एवमस्मिन्नग्निगुराब्द इन्द्रविशेषणत्वादिन्द्राभिधानमित्युपपद्यते ।

‘आङ्गूयः’ (४४) इत्यनवगतम् । ‘स्तोमः’ अभिधेयः ।

‘आघोषः’ इति शब्दसमाधिः । ‘एनङ्गूयेण वयमिन्द्रवन्तोऽग्नि-

व्याम वृजने सर्ववीराः । तन्नो मित्रो वरुणो

‘आङ्गूयः’ इत्यस्य मामहन्तामर्दितिः सिन्धुः पृथिवी उत घौः ।

२०

(ऋ० सं० १ । १०५ । १९) ॥ त्रिष्टुप् ।

कुत्सस्य त्रितस्य वा कूपे पतितस्यार्पम् । वैश्वदेवस्य चरोर्ध्वतृध्य-

वतो याज्येषा । (भैत्रा० सं० २ । ३ । २ ॥ ४ । १२ । ४)

अनेन वयम् आघोषणीयेन स्तोमेन इन्द्रवन्त इन्द्रसंयुक्ताः स्याम ।

१ ग. °तस्ति । ४८ । अस्मा°. २ ग. ज. तुराय । नोध°; घ. ट. तुराय°.

२५ राततमा. ३ घ. ट. ट. ड. °मार्पम् । त्रिष्टुप् । अही°. ४ क. ख. घ. ट. ठ. ड. प्रभरामि; च. प्रहंरामि° भ. ५ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. ग. प्रभरामि; च. प्रहंरामि° भ. ६ च. ऋक्समाय. ७ घ. ङ. ट. ठ. ड. यानि यान्य°. ८ ग.

तान्यतानि इत्य°; ज. नान्यतानि इत्य°; च. तान्नीत्य° नान्य इ; घ. ङ. ट. ठ. ड. नान्य इत्य°. ९ ग. °माधिः । ४५ एना°. १० ग. ज. °द्वन्तोऽग्निव्याम । त्रिष्टु°;

१० घ. ट. °द्वन्तोऽपृथिवी उत घौः. ११ ठ. ड. एनाङ्गूयेण अनेन°.

ययं च ततो विधे सर्व एवानवखण्डिताः सन्तः सर्वान् भ्रातृव्यानाभिभ-
वेम । तदेतन्नः सर्वमपि मित्रो वरुणश्च मामहन्तां पुनःपुनर्मह्यन्तां पूज-
यन्तु । अदितिश्च पूजयतु । सिन्धुश्च पूजयतु । पृथिवी च पूजयतु ।
उत द्यौः पूजयत्वित्येतदेवानुवर्तते । एवमत्र स्तोमोऽयमाङ्गुलशब्देनोक्तः
शब्दसारूप्यादर्थोपपत्तेश्च ।

‘आपान्तमन्युः’ (४५) इत्यनवगतं पक्षेण चानेकार्थम् । ‘आपा-
तितमन्युः’ इत्यवगमः ॥ ११ ॥

आपान्तमन्युस्तृपलंप्रभर्मा धुनिः शिमीवाञ्छरुमौ ऋजीपी ।
सोमो विश्वान्यतसावनानि नार्वगिन्द्रं प्रतिमानानि देभुः (ऋ० १०
सं० १० । ८९ । ५) ॥ आपातितमन्युस्तृपप्रहारी सिंप्रहारी
सृपप्रहारी सोमो वेन्द्रो वा धुनिर्धूनोतेः शिमीति कर्मनाम क्षमयतेर्वा
शक्नोतेर्वर्जीपी सोमो यत्सोमस्य पूयमानस्यातिरिच्यते तद्वजीप-
मपाजितं भवति तेनर्जीपी सोमोऽथाप्येन्द्रो निगमो भवत्यृजीपी
वज्रीति ह्योरस्य स भागो धानाश्चेति धाना भ्राष्ट्रे हिता भवन्ति
फले हिता भवन्तीति वां वव्यां ते हरी धाना उप ऋजीपं जिघ्र-
तामित्यपि निगमो भवत्यादिनाभ्यासेनोपहितेनोपधामादत्ते वभ-
स्तिरत्तिकर्मा सोमः सर्वाण्यतसानि वनानि नार्वगिन्द्रं प्रतिमा-
नानि दभ्नुवन्ति यरेनं प्रतिमिमते नैनं तानि दभ्नुवन्त्यर्वागैवेनम-
प्राप्य विनश्यन्तीतीन्द्रप्रधानेत्येके नैघण्टुकं सोमकर्मोभयप्रधाने-

१ घ. झ. ट. ठ. ड. सन्तः संग्रमे सर्वान्; च. सन्तः सर्वान् संग्रामे. २ घ.
झ. ट. ठ. ड. ‘व्यानाभिध्याम अभिभ’; च. ‘व्यानाभिभ’ ध्याम अभि. ३ ग. ज.
‘वेम जितीत्र (ज. जितीऊ) इत्येव गमनमत्रैवेव तदे’. ४ च. पुनर्मह्यन्तां. ५ क.
ख. ‘पत्तेश्च १७ (११) । आपा’; च. अग्रेन्त ‘आपा’; ज. झ. अगन्त; ट. ड.
‘पत्तेश्च । इति निरुद्धीकायां पञ्चमाध्याये एकादशः खण्डः । आपा’. ६ ग. १३.
७ छ. त. द. ‘सिंप्रहारी सृपप्रहारी’ नास्ति. ८ छ. त. द. भवति ऋजीपी
वज्रीति । ह्यो’. ९ छ. त. द. भवन्ति । फले’. १० छ. त. द. वां वव्यां’.

अथैवमन्यवास्या ऋच उभयप्रधानत्वम् । द्वौ प्रथमौ पादौ वैन्द्रत्वेन
व्याख्यायेते । तृतीयपादमुक्त्युच्यते : पाद आद्याभ्यामभिसंवन्धयितव्यः ।

अथवास्या ऋच हारी धुनिः शिमीवान् शरुमान् ऋजीपी च
एवमुभयप्रधानत्वम् तमेतौ मिन्द्रमेवं प्रभावं न प्रतिमानानि दम्नुवन्ति ।
किं तर्हि । अर्थागैवैनमप्राप्य मानानि विनश्यन्ति ।

एवमेते त्रय ऐन्द्राः पादा द्वाव द्यौ चतुर्थश्च । अपं तृतीयः सौम्यः
'सोमो विश्वान्यत्तसा बनानि' इति । यः सोमः सर्वाण्यत्तसानि बनानि
महिम्ना व्याप्नोति यं चैवं न प्रतिमानानि दम्नुवन्ति तौ सोमिन्द्राविदं
नाम कुरुतामिशाशीर्योग्या ।

'एके' पुनः 'इन्द्रप्रधाना' 'एवेयमृक्' इति 'एवं मन्प्रस्ते
'नैघण्टुकम्' अस्यां 'सोमकर्म' इति । तेषामियं योजना । य
'इन्द्रप्रधाना' इन्द्र आपादितमन्पुस्तृप्रप्रहारी धुनिः शिमीवान्
शरुमान् ऋजीपी च स सोम इवात्तसानि बनानि
इत्येके इदं सर्वं व्याप्नोति । न चैनं प्रतिमानानि

दम्नुवन्ति । किं तर्हि । ऐनमिन्द्रमप्राप्यैव विनश्यन्ति । एवमिन्द्रप्रधानैव
भवति । एवमस्या ऋचस्त्रिधा समासार्थो बोद्धव्यः । तथ हि भाष्यकारेण
दर्शितम् । सोमस्य ऋजीपि-त्रोपपादनार्थमाह

सोमस्य कथमृजी- भाष्यकारः । 'यसोमस्य पूषमानस्यातिरिच्यते'
वित्वम् रसादन्यदसारमतिरिच्यते 'तदृजीपम्' इत्यु-
च्यते । तद्धि 'अपार्जितं भवति' किं भवत-

त्वात् । 'तेन' संयोगात् 'ऋजीपी सोमः' उच्यते ।

'अथ' यस्मिन्पक्षे 'ऐन्द्रः' ऐन्द्रोऽर्धर्चो भवति तस्मिन्पक्षे इन्द्रस्य
ऋजीपित्वाभिधायक एव 'मन्त्रो भवति' । इन्द्रस्य ऋजीपित्वमनुपपन्नं
मन्यमानो निगमं पठति । 'ऋजीपी वज्री धृष्टमस्तुरापादुष्मी राजा

१ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. तमेनमि° । २ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
वर्तमा°; च. प्राप्यमाना° वर्त. ३ क. ख. ग. ज. घ. झ. ट. ठ. ड. चेन्द्र°; च.
चेन्द्र° चेन्द्र°. ४ क. ख. च. लमी°. ५ च. एवमि°. ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ.
ड. °जितं अपवर्जितं भवति; च. °जितं-भ° अपवर्जितं. ७ च. ख. ट. ठ. ड.
'ऐन्द्रोऽर्धर्चो भवत्येष एतस्मि°'. ८ ग. पठति । ९ ख. ऋजी°. १० ग. ज.
वृषभस्तुरापाद् । अजे°; च. ट. वृषभः० सत्ने मत्तविन्द्रः.

इन्द्रस्य ऋजीपित्वे निगमः वृत्रहा सोमपावा । युक्त्वा हरिर्म्यामुप यासदर्वाङ् माध्यन्दिने सर्वने मत्सदिन्द्रः । (ऋ० सं० ५ । ४० । ४) ॥ अत्रेरियमार्पम् । त्रिष्टुप् । ऋजी-

पेण तद्वान् ऋजीपी वज्रेण तद्वान् वजी वृषभः वर्पिता तुरापाट् तूर्णम-
भिभविता शत्रूणां शुष्मी बलवान् राजा अधिपतिः वृत्रहा शत्रुहा सोमपा-
वा । सोमस्य पातेत्यर्थः । य एवंगुणयुक्त इन्द्रः स युक्त्वा हरिर्म्याम् अश्वाभ्यां रथं तमधिरुद्ध उपयासत् उपागच्छत् अर्वाक् अस्मानामिमुख्येन माध्यन्दिने सर्वने एतं स्मिन् प्राप्ते । उपागम्य च मत्सत् । माद्यतामस्माप्रत्तेन सोमेनेत्यर्थः । एवमेतस्मिन्मन्त्रे ऋजीपीन्द्र उक्तः । तत्पुनरेतदृजी-
पित्वमिन्द्रस्य न विज्ञायते केन कारणेनेत्यतस्तदुपपादनार्थमाह ' ह्यौरस्य

इन्द्रस्य ऋजीपित्वे भागो यदृजीपम् । ' धानाथ ' । प्रसङ्गादत्र कारणम् । लक्षित- धाना उक्ताः । तदुक्तं ' ह्यौरधाना हरिषतीः ' लक्षणयेन्द्रस्य ऋजी- (भैत्रा० सं० १ । ३ । ३०) इति । तेन हरि-
पित्वम् सङ्गेन ऋजीपेण लक्षितलक्षणया वृत्त्येन्द्रस्य ऋजी-
पित्वम् । आह । ' धानाः ' कस्मात् । उच्यते ।

ता हि ' आष्ट्रे हिता ' निहिताः ' भवन्ति ' । अथ ' वा ' भ्राष्ट्रादवतार्य ' फले ' फलके निहिताः ' भवन्ति ' । अथवा खले हिता भवन्ति । तत्र हि ता निसार्थन्तेऽतिदाहभयात् । यथा ऋजीपं धानाथ ह्यौरभवेरिन्द्रस्य च भागस्तथैव ' निगमो बन्धां ते हरी धाना उप ऋजीपं जिघ्रतामिति ' । अत्र ' बन्धाम् ' इत्येतस्मिन् पदे य एषः ' बभस्तिः ' धातुः ' अचि-
कर्मा ' भक्षणार्थः ' स आदिनाम्यासेनोपहितेनो-

' बन्धाम् ' इति पधामादत्ते । आदावभ्यासेनोपहितेनोपधामा-
क्रियारूपस्योपपत्तिः दत्ते । तकारण निमित्तभूतेनोपधामकारमादत्ते
लुप्यति । ' घसिभसोर्दृष्टि च ' (पा० ६ ।

१५

१ ग. ज. प्रक [ज. का] रणेन; च कारणेनेति यत् नेत्य. २ ग. जं. ' ह्यौरस्य स भाग इति ' नास्ति. ३ च. भागो धानो ह्यो ग इति. ४ क ल. य. स. ट. ट. ड. ' संयोगेन; च. ' संयोगेन ' यो. ५ य. स. ट. ठ. ड. ' भवन्ति । हिता भवन्ति । तत्र; च. अथवा खले हिता भवन्ति. ६ ग. ज. अदा; च. अदा आ.

४ । १००) इत्यकारलोपः । ततो धत्वे जस्त्वे च कृते वन्धामित्येतादृपं भवति । ' धानासोमानामिन्द्राद्भि च पिब च वन्धां ते हरी धाना उप

ऋजीपं जिघ्रतामा रथर्चर्षणे सिधस्व । यत्वा

अस्मिन्निगमे ऋजी- पृच्छादृपन् पत्नी कामीमदधा इत्यस्मिन् सुन्वति
पं धानाश्च हयोरश्व- यजमाने तस्मै किमरास्थाः सुष्टु सुवीर्यं यज्ञस्यागुरै
योरिन्द्रस्य च भागः उद्धृचं यद्यदचीकमतोतो तत्तथाभूदोतर्पज' (कुन्ता-
पाध्याये प्रैः ६६) । हारियोजनास्यापं प्रैः ।

हे इन्द्र धानासोमानामेतेषामाद्भि भक्षय । पिब चास्य हारियोजनस्य सोमस्य ।

किंच । वन्धां भक्षयेतां ते तव एतावन्धौ हरी एता धानाः । उप ऋजीपं

जिघ्रताम् । उपजिघ्रतामृजीपं च । आ रथर्चर्षणे सिधस्व जठरे सोममेतं^{१०} हे

रथर्चर्षणे रथगर्भेन । किंच । यत्वा पृच्छात् यदि त्वां पृच्छेद्द्रुहमनुप्राप्तमस्मद्य-

ज्ञात् हे दृपन् धर्षितः पत्नी कामीमदधाः क पीतवांस्त्वम् अतो ब्रूयात्स्वमस्य

यजमानस्य नाम गृहीत्वा अस्मिन् सुन्वति सोममभिदुष्वति यजमाने ।

ततः सा यदि पुनरपि पृच्छेत्तस्मै परितुष्टस्त्वं किमरास्थाः किं दत्तवानसि

ततस्त्वं तां प्रति ब्रूयाः । सुष्टु सुवीर्यं सुष्टु शोभेन वीर्यमहमस्मै दत्तवान् ।

यज्ञस्य आगुरै उद्धृचम् । यदसावनेन यज्ञेन आगूर्गन्धान् प्रार्थितधानभू-

त्तत्सर्वमहमदां यज्ञस्य चोत्कृष्टां रुचं दीप्तिमहमदामस्मै । किं बहुना ।

यद्यदचीकमत यद्यत्कामितवानयं यजमानः फलमस्य कर्मणः सर्वमेव

तत्तथाप्रार्थितमेवाभूत् । न कश्चिदप्यस्य मृषा कामो बभूवेत्यभिप्रायः ।

हे होतस्त्वमपि योऽयमेवंगुणविशिष्ट इन्द्रस्तं सहहरिभ्यां यजेति । एवमत्र

' हरी उपजिघ्रताम् ' इत्येतस्माद्विशेषालङ्घात् ऋजीपित्वमश्वयोरश्वयोगाच्च

ऋजीपित्वं लक्षितलक्षणयेन्द्रस्थोपपद्यते ।

१ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. धत्वे कृते जगत्वे कृते. २ ग. भवति । ५२ ।

धानाः^३ ३ क. ख. धानाः सो^४ ४ च. चर्षणे^५ ५ घ. ट. ठ. ड. कामी. ६ च.

'स्यागुरै उ'^७ ७ झ. स्यागुर. ७ ग. ज. उद्धृचं; च. उद्धृचं^८ दु; च. ट. उद्धृच-

मिति वा पाठः. ८ च. 'मतोतो'; घ. ट. ठ. ड. 'मतोऽतो'. ९ च. पत्नी(ता)

धाना नाः. १० क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. मेन; च. मे^{११} नं. ११ क. ख. घ.

झ. ट. ठ. ड. 'मदन आ सिधस्व । किंच; च. 'ममन । किंच' आसिधस्व. १२

घ. झ. ट. ठ. ड. सुष्टु निःसीमातिशयवत् सुवीर्यं शो^{१३}; च. सुष्टु-सुवीर्यं सुष्टु शो^{१४}

निःसीमातिशयवत्. १३ घ. झ. ट. ठ. ड. शोभनवीर्यं. १४ ड. आगुर. १५ ग.

ज. झ. ट. ड. उद्धृचं; च. उद्धृचं^{१६} दु. १६ च. यज्ञस्योचोत्कृष्टं. १७ च. 'वाऽया'. २१

‘इमशा’ (४६) इत्यनवगतम् । ‘श्राशिनी’ इत्यवगमः

‘इमाशिनीति वा’ । श्राशिनी शीघ्राशिनी शीघ्र-

‘इमशा’ इत्य- व्यापिनी कुल्या नदी वा । इमाशिनी पुन-
स्यार्थाः नदी । सा हि इम शरीरं व्याप्नोति । एवमेतदिह

विगृह्यमाणमनेकार्धमपि भवत्येवं । “ कदा वसो

प्रयोगश्च स्तोत्रं हर्यत आर्च इमशा रुचद्वाः । दीर्घं सुतं

वाताप्यार्थं ” (ऋ० सं० १० । १०५ । १) ॥

कुत्सपुत्रस्य दुर्मित्रस्वार्थम् । उष्णिक् । एन्द्रस्य दूक्तस्य प्रथमैवेयम् । हे

वसो वसुमन इन्द्र कदा कश्मिन् काले स्तोत्रम् एतन्मयोदीरेतमस्य

१० यनमानस्य हर्यतः कामान् प्रार्थयतस्त्वामुपरोत्स्यति इमशेव वाः । कुल्ये-

घोदकं विसर्पमाणं नदी वा । अथवाध्यात्मिकी नदी शरीराश्रितं रसम् ।

आह । कतमस्तोत्रमिति । उच्यते । यदेतन् दीर्घं सुतं सोमं सत्राख्यं

सुतमभिपुतं प्रवर्तते वाताप्याय उदकार्थम् । एवमत्र इमशेत्येतन्नदीभि-

धानं कुल्याभिधानं वा न^{११}त्याभिधानं वा शब्दोपपत्तेरर्थोपपत्तेश्चेति ॥ १२ ॥

१५ दशमस्य द्वितीयः पादः ।

उर्वश्यप्सरा उर्वभ्यश्रुत ऊरुभ्यामश्रुत उरुर्वा वशोऽस्या

अप्सरा अप्सारिण्यापि वाप्स इति रूपनामाप्सातेरप्सानीयं भव-

त्यादर्शनीयं व्यापनीयं वा स्पष्टं दर्शनायेति शाकपूणिर्धदप्स इत्य-

२० भक्षस्याप्सो नामेति व्यापिनस्तद्रा भवति रूपवती तदनयात्तमिति

वा तदस्थै दत्तमिति वा तस्या दर्शनाभिप्रायवृणयोरेतत्तत्त्वस्यन्द

तदभिवादिन्येवर्भवति ॥ १३ ॥

१ च. इमाशि°. २ ग. ‘त्येव । ५३ । कदा°. ३ ग. ज. हर्यत आ । कुत्स°;
घ. ट. हर्यत°. । कुत्स°. ४ क. ख. °प्याय । इति । कु°; च. °प्याय° इति । कु°.

५ घ. ट. ठ. ड. अग्निम्. ६ क. ख. ग. ज. घ. झ. ट. ठ. ड. हर्यतः कामयतः
कामा°; च. हर्यतः कामा° कामयतः. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. नदीवा;

च. नदी वा नादी. ८ ग. ज. सोमं सुतं; च सोमं सुतं ९ घ. झ. ट. ठ. ड.

एवमेतत् इम°. १० क. ख. घ. झ. ट. त्येतन्नाद्यभि°. ११ क. ख. घ. झ. ट.

ठ. ड. ‘नाद्यभिधानं’ नास्ति. १२ क. ख. ८ (१०) । इति निरुक्तवृत्तौ

दशमाध्यायस्य द्वि°; ग. १४; ठ. ड. श्चेति । इति दशमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

इति निरुक्तटीकायां पञ्चमाध्याये द्वादशः सूत्रः ; घ. झ. ट. ‘श्चेति दशमाध्याय-

स्य द्वि°; च. ज. अद्वो नास्ति. १३ च. पादः समाप्तः १४ क. ख. १ (१३);

‘उर्वशी’ (४७) इत्यनवगतम् । ‘अप्सराः’ इत्याभिधेयवचनम् ।

‘उर्वशी’ इत्यस्य-
व्युत्पत्तयः
‘उर्वभ्यश्नुते’ इति व्युत्पत्तिः । उरु महद्यशोऽभि-
व्याप्नोतीति । अथवा ‘ऊरुभ्यां’ मैथुने धर्मे
पुरुषम् ‘अश्नुते’ व्याप्नोतीति ऊर्वाशिनी सती

उर्वशीत्युच्यते । अथ ‘वा उरुः’ महान् अस्याः ‘वशः’ कामः । सेयमु- ५

रुवशिनी सती उर्वशीत्युच्यते । एते शब्दसमाधयः । अधुना ‘अप्सराः’
इत्येतं शब्दं समाख्यानप्रसक्तं निर्द्वातीति । आह । ‘अप्सराः’ कस्मात् ।

उच्यते । सा हि ‘अप्सारिणी’ भवति । अपः प्रति

अप्सरा इत्यस्य च नित्यमेव सरति तत्प्रभवत्वात् । तदेव तस्याः

प्रियमुदकं तस्मादप्सराः । अथवा अद्भ्यः सृते- १०

अप्सराः । ‘अपि वा’ एवमप्यन्यथा स्यात् । ‘अप्स इति’ एतत् ‘रूप-

नामाप्सातेः’ प्रतिषेधपूर्वस्य प्सातेः भक्षणार्थस्य । तैद्यथा । ‘अप्सानीयम्’

अनदभीयं भवति । न हि तद्भक्ष्यते । किं तर्हि । ‘आदर्शनीयं’ तदाभि-

मुख्येन स्थित्वा द्रष्टव्यमेव भवति चक्षुषा । न पुनर्मुखेन भक्षयितव्यमित्यर्थः ।

‘व्यापनीयं वा’ । व्यापनमर्हति । ‘आप्तुं व्याप्तौ’ (धा० ५ । १४) । १५

तस्य वा अप्सः । तद्वि नायनेन रश्मिनात्मनः प्रत्ययाधानार्थं व्यापयितव्यं

भवति । ‘स्पष्टं दर्शनायेति शक्रपूणिः’ आचार्यो मन्यते । न ह्येत-

दस्पष्टं दर्शनाय । किं तर्हि । स्पष्टमेवेत्यर्थः । ‘यदप्सः इत्यभक्ष्यस्य’ । पुरस्ता-

दुक्तम् ‘अपि वाप्स इति रूपनामाप्सातेः’ । न हि तद्भक्ष्यते । किं तर्हि ।

दृश्यते तदिति । तत्र ‘अभक्ष्यस्य’ अप्सशब्दवाच्यत्वप्रख्यापक एव २०

निगमो ‘यदेनश्चक्रमा वयं यदप्सश्चक्रमा वयम्’ इति । ‘यद् ग्रामे यद-

रण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये । यदेनश्चक्रमा वयं

अप्स इत्यमशस्य यदप्सश्चक्रमा वयम् । यदेकस्यापि धर्मेणेतत्तदव-

यजामहे स्वाहा’ (काठक सं० ९ । ४) इति

वरुणप्रघासेषु करम्मपात्रहवने पत्नीयजमानयोर्मन्त्रः (मान० श्रौ० १ । ७ २५

४) । यद् ग्रामे वयं किञ्चिदेनश्चक्रम यच्चाण्ये यच्च सभायां यच्चेन्द्रिये

प्रजनने निमित्तभूते सति यच्चान्यत्रापि किञ्चिद् ग्रामादिभ्यो वयमेनश्चक्रम

कृतवन्तो यच्चाप्सश्चक्रम यदमर्त्यमक्षणं कृतवन्तो वयं किञ्चित्तत्तदेनोऽनेक-

प्रकारमेकैकस्याप्यावयोद्धेतसि निमित्तभूतमुत्पन्नं किञ्चित् यदेकस्यापि धर्मणि
यदघं तदनेकप्रकारमेकस्यावयोः धर्मणि कर्मणि निमित्तभूतं यच्च सह-
कृतं यच्च पृथक् कृतं यच्च मानसं यच्च शारीरं तस्य सर्वस्याप्येनसोऽस्मा-
कमवयजने कृत्वा ततोऽवयजैनमसि मरुतां हे हविः करम्मपात्रार्ये ।
५ 'प्रधासौन् हवामहे मरुतः' इत्यतो विशेषलिङ्गान्मारुतत्वमस्यार्ध्वस्येत् ।
यत् 'अप्सः' इत्येष शब्दोऽभक्षस्याभिधायको दृष्टस्तस्मात्साधूक्तम् 'अपि
वाप्स इति रूपनामाप्सातेः' इति ।

अधुना यदुक्तं 'व्यापनीयं वा' इति 'आर्ध्वं व्यासौ' इत्यस्य वाप्स
इति तस्योर्ध्वपक्षपाकं निगमं ब्रवीति 'अप्सो नामेति व्यापिनः' इति ।

१० यथाप्रोतेरभिग्याप्यर्थस्तस्यप्स इत्येतद्रूपनाम भवति तथैव निगमः ।

अस्मिन्निगमे
व्यापिन्यर्थेऽप्सः
पृथिव्याः पुरीषमस्यप्सो नाम तां त्वा विश्वे
अभिगृणन्तु देवाः । स्तोमपृष्ठा घृतवतीह सीद
प्रजावदस्मै द्रविणा यजस्वाश्विनाधूर्यु सादयता-
मिह त्वा' [भैत्र० सं० २ । ८ । १] इति ।

१५ अग्निचयने द्वितीयायां चित्वाश्विन्यो नामेष्टकास्तत्सामेकस्यामयमुपधान-
मन्त्रः [मान० श्रौ० ६ । २ । १] । पृथिव्याः पुरीषमसि पूरयिष्यसि
हे इष्टके अप्सो नाम । तां त्वाम् एवंगुणयुक्तां सत्यां विश्वे सर्वे अभिगृणन्तु
अभिष्टयन्तु देवाः । किञ्च । सा त्वं स्तोमपृष्ठा देवैरुदासतेन स्तोमेन स्पृष्टा
घृतवती उदकवती उदकेन संक्षेपिता इहाग्निचयने आसीद । किञ्च ।
२० अश्विनौ देवौ अधूर्यु सादयतामिह त्वाम् । तौ हि विजानीतो यथा त्वं

१ च. 'मेकैस्या' कैक. २ ग. ज. घ. ट. ठ. ड. 'ववनं. ३ च. 'यजैनमसि'.
अवयजामहे विनाशयामः । अवपूर्वो यजिर्नाशनार्थः. ४ घ. झ. ट. ठ. ड.
'वाश्रास्य । अवयजामहे विनाशयामः । अवपूर्वो यजिर्नाशनार्थः । प्रपा°. ५ घ.
झ. ट. प्रवास्यान्. ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'स्यावसीयते; च. 'प्राप्यवसीयते'
२५ स्पते. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. 'भक्ष्यस्या'. ८ ग. घ. ज. आपृ. ९ क. ख.
घ. झ. ट. 'र्थस्य स्या'; च. 'र्थस्य' स्य; ठ. ड. 'र्थस्य व्यापकं. १० ग. ज.
'प्रोतेर'. ११ ग. भवति । १५ । पृथिव्याः; ज. भवति । पृथिव्याः. १२ ग.
ज. 'मस्याप्सो'; च. 'मस्याप्सो' स्प. १३ ग. ज. 'श्वेभि'; च. 'श्वेऽभि'.
१४ घ. झ. ट. ठ. ड. किञ्च । अस्मै अयमर्थं प्रजावन् पुत्रपौत्रादिपुत्रानि द्रविण
द्रविणानि घनानि आध्वजस्तत्पतो देहि । यजनिर्दानार्थः । किञ्च । अश्वि; च.
३१ किञ्च । ० अश्वि' अस्ते००० दानार्थः । किञ्च.

सादयितव्येभ्यमिप्रायः । एवमेव व्यत्यर्थस्याप्त इत्युपपद्यत इह भक्ष-
णार्थासंभवात् ।

एवं तावदप्यस्य इत्यस्याभिधानस्याप्त इत्यनेकदेश उपादितः ।

अधुना 'रा' इत्येतैमकदेशमुपादयिष्यन्नाह ।

मन्वर्थे रा 'तद्वा भवति रूपवती' । रो मन्वर्थे । तेनाप्तः-

शब्दवाच्येन रूपेण तद्वती सा भवत्यप्सराः ।

'तद्वा भवति' इत्येवमुक्तेऽपि सति रेफस्य मन्वर्थता न गृह्यते इति मन्यमानो
भाष्यकारः स्पष्टमेव मन्वर्थबोध 'तद्वा भवति रूपवती' इति । रूपसंयुतेत्यर्थः ।

तस्या एव सर्वयोपिद्वयः प्रतिविशिष्टं रूपमित्यभिप्रायः । अथ 'वा' एव-

मन्यथा स्यात् । 'तदनया' अप्सःशब्दवाच्यं

अथवा 'आदाने' रूपम् 'आत्' गृहीतमेव कुतश्चित् । एतस्मिन्

पक्षे 'रा' इत्ययमादानार्थः । अथ 'वा' एवमन्यथा

स्यात् । 'तत्' अप्सःशब्दवाच्यं रूपप्रतिरिक्तमिव तस्यै दत्तं विधात्रा ।

तथाहि तत्तस्यामतिशयेनानपायि च लक्ष्यते ।

अथवा 'दाने' एतस्मिन्पक्षे 'रा' इत्ययं दानार्थः ।

'तस्याः' एवंगुणविशिष्टाया लवैश्या अप्सरसो 'दर्शनामित्रावरुणयो

रेतश्चस्कन्द' स्कन्नेम् । 'तत्' तत्स्यार्थस्य 'अभिधादिन्वेपा ऋग्भवति' ॥ १२ ॥

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्यां ब्रह्मन्मनसोजधि जातः ।

द्रुप्तं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विभे देवाः पुष्करे स्वाददन्त [ऋ०

सं० ७। ३३। ११] ॥ अप्ससि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या

ब्रह्मन्मनसोजधिजातो द्रुप्तं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन द्रुप्तः संभृतः

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'मित्रे व्यो' प्रायेर्शः । २ क.

ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'एते' नास्ति । ३ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. तेनाप्तः ।

४ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'वाच्येन' ; च. 'वाच्येन' च्यते । ५ क. ख.

'माह यदुक्तं रूप' ; घ. ङ. ट. 'माह यदुत् रूप' ; च. 'माह । तद्वा भवति' यदुत् ।

६ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. च. अप्सरा । ७ सर्वेषु पुस्तकेषु 'अप्सराद' ।

इति । ८ घ. ङ. ट. ठ. ड. अत्ये ; च तस्ये अ. ९ ट. ठ. स्कन्नं स्तलिम् ।

१० क. ख. १ (१२) ; ग. ५५। १५ ; ठ. ड. १३ (ठ. अष्टो नपति) इति

नैदकभाष्ये पञ्चमाध्यायस्य [ड. 'पञ्चमाध्यायस्य' नास्ति] प्रयोदशः (ड. १२)

खण्डः

प्सानीयो भवति सर्वे देवाः पुष्करे त्वाभारयन्त पुष्करमन्तरिक्षं
पोपति भूतान्युदकं पुष्करं पूजाकरं पूजयितव्यमिदमपीतरस्तुष्कर-
मेतस्मादेव पुष्करं वपुष्करं वा पुष्पं पुष्पतेर्वयुनं वेतेः कान्तिर्वा
मज्ञा वा ॥१४॥

३

‘उतासि मैत्रावरुणः’ इति । वसिष्ठस्य सपुत्रस्येयमार्णम् । तस्यैव
स्तुतिरिन्द्रस्य वा । ‘उत’ इत्ययम् ‘अपि’ शब्दार्थे वर्तमानोऽवस्थायामृचि
ये जन्मनी वसिष्ठस्योक्ते ते संभावयति । सा पुनरियमृक् । ‘विद्युतो
ज्योतिः परि संजिहानं मित्रवरुणा यदपश्यतां स्वा । तत्ते जन्मोतैकं वसि-

१०

ष्ठागस्त्यो यथा विश आजभार’ (ऋ० सं०
अस्यामृचि वसिष्ठस्य ७।३३।१०) ॥ विद्युतो ज्योतिः प्रकाशः ।
द्वे जन्मनी उक्ते । ते तस्मात्परितः अधिकं संजिहानम् उत्तिष्ठन्तम् ।
‘उत’ शब्देन छद्मेते जायमानमित्यर्थः । मित्रावरुणौ देवौ यदपश्यतां
त्वा तत्ते तत्र जन्मैकं हे वसिष्ठ । अपि च ।

१५

यथामगस्त्यो विश आजभार । अगस्त्य ऋषिः विशो मनुष्यान् प्रति मनु-
ष्यलोकम् आजभार आहूतवान् तत्ते तत्र द्वितीयं जन्म ।

उतासि अपि चासि मैत्रावरुणः हे वसिष्ठ । कथं पुनर्मैत्रावरुणः मित्रा-
वरुणयोरुत्पन्नोऽसि । किं संघर्षेण । नेत्युच्यते । उर्वश्याः सक्ताशान् हे ब्रह्मन्
मनसोऽधिजातो न संघर्षेण । किंच । निर्वीज एवासि

२०

उर्वश्या दर्शनामित्रा- मनोऽभिष्यान्मात्रादुत्पन्नः । नेत्युच्यते । किं तर्हि ।
रुणयो रेतश्चक्रन्द । द्रष्टं शुकुर्बुधशीदर्शनात् स्मृतं मित्रावरुणयोः ।
तस्माद्वैतसौ वसिष्ठो ब्रह्मणः देव्येन देवानां ह्यभूतेन ऋषयुजःसामाह्वे-
जातः न स्तुवन्तो विश्वे देवा मा एतद्भूतौ पतेदिति कुम्भ-
स्योपरि पुष्कर उदके अन्तरिक्षे वा स्वां तेन शुक्रेण

२५

सहैकानामुपगतम् अददन्त । अवारयन्तेऽर्थः । एवमेतस्मिन् ‘द्रष्टं स्मृतम्’
इत्येवमादिना संवन्धेन ‘उर्वशी’ शब्देन अप्सरा उच्यते इत्युपपद्यते ।

१ क. ख. २ (१४) उ. त १६; २. ग. ज. पुनरियमृक् (ग. मृक् ।
५६ ।) - ३ ग. ज. ज्योतिः परि संजिहानं । विद्युः; च. ट. ज्योतिः० जभार.

४ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. “विद्युतो विश्वेण योने देदीप्यते इति विद्यु-
र्बुधशी तस्मा ज्योतिःप्रकाशः”; च. विद्युज. ज्योतिर्व. विश्वेण० ज्योतिः. ५ ड.

२१ ड. संघर्षेण.

रौद्रेण किल तेजसा निर्दग्धो वसिष्ठो मित्रपौरगृहीतायामुर्वश्यामुत्पन्नो
वसिष्ठस्यापि वसिष्ठश्च वरुगतेजसो जात इति पुराणे श्रूयते । तदप्युपेक्षि-
संबोध्यत इति कथम् तन्वम् । अनेकविधो हि मन्त्राणां विषयः । वसि-
ष्ठस्येयमपि युष्मदध्यात्र प्रयोग 'उतासि' इति ।
सदेतद्विरुद्धैर्यमिव व्यस्यते । नैतद्विरुद्धं नित्यत्वान्मन्त्राणाम् ।

आह । रेतः कस्मात् 'द्रव्यः' इत्युच्यते । स हि रेतःसंज्ञको रसः
पुरुषस्याह्लादह्लात् संभृतः स्त्रीयानैः 'प्सानीयो भवति' मक्षणीयो मर-
णीयश्च । एवं प्सातेभरतेश्च यथासंभवे 'द्रव्य' इत्येष शब्दो द्रष्टव्यः । पुष्क-
रशब्दोऽनेकार्थः । तस्मिन् प्रसक्तं व्याचष्टे । 'पुष्करमन्तरिक्षम्' । तद्धि 'पुष्पाति
भूतानि' अचकाशदानेनोपकुर्वत् । 'उदकम्' १०

पुष्करशब्दस्यार्थो अपि 'पुष्करम्' । तेन हि पूजा क्रियते देवादि-
निर्वाचने च भ्यः । तत्पूजाकारकत्वात्पुष्करम् । अथवा 'पूज-
यितव्यं' पूजनार्हमात्मन एवेति पुष्करम् । 'इद-
मपीतरपुष्करम्' पञ्चम् 'एतस्मादेव' कारणात् 'पुष्करम्' इत्युच्यते ।
तदपि हि पूजाकरणं पूजयितव्यं च शोभनत्वात्तस्य । अथ 'वा पुष्करं' १५
तदिति 'वपुष्करम्' । आबद्धे हि तास्मिन् वपुष्मान् भवति । पञ्चप्रसङ्गा-
स्पृष्टशब्दं निराह । 'पुष्पं पुष्पतेः' इति । पुष्पतिर्निकसत्यर्थः (धा०
४ । १६) । तद्धि विकसितं भवति ।

'वयुनम्' [४८] अनेकार्थमनवगतं च । 'वेतेः' इति धातुनि-
र्देशः ; 'वेनम्' इति न्याय्यम् । 'कान्तिर्वा' अभिधेया 'प्रज्ञा वा' ॥१४॥ २०

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. पुराणात्. २ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड.
"धमुपलस्य; च. "यमिर्वमल." ३ घ. ङ. ट. ठ. ड. संभृतः. ४ च. "योनिः" नेः.
५ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. "जाकत्वा"; च. "जाकं (का) रत्वा" क (णः).
६ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. "पुष्करं" नास्ति; च. पुष्करं. ७ क. ख. घ.
ङ. ट. ठ. ड. "जाकं"; च. "जाकरणं" क. ८ घ. ङ. ट. ठ. ड. वपुष्करं; च.
पुष्करं वपु. ९ घ. ङ. ट. ठ. ड. पुष्करं; च. वपुष्करं. १० क. ख. २ (१४).
ग. ३०; ठ. ड. १४ । इति निरुक्तटीकायां पञ्चमाध्याये चतुर्दशः खण्डः, इत्येवञ्च
नास्ति.

- स इत्तमोऽवयुनं ततन्वत्सूर्येण वयुनंवच्चकार । स तमोऽ-
 प्रज्ञानं ततन्वत्स तं सूर्येण प्रज्ञानवच्चकार वाजपस्त्यं वाजपतनम् ।
 सनेम वाजपस्त्यमित्यपि निगमो भवति वाजगन्ध्यं गध्यत्युत्तरप-
 दम् । अस्याम वाजगन्ध्यमित्यपि निगमो भवति गध्यं गृह्णातेः ।
 ५ ऋत्रा वाजं न गध्यं युयुपन्नित्यपि निगमो भवति गध्यतिर्मिथ्री-
 भावकर्मा । आगधिता परिगधितेत्यपि निगमो भवति कौरयाणः
 कृतयानः । पाकस्यामा कौरयाण इत्यपि निगमो भवति
 तौरयाणस्तूर्णयानः । स तौरयाण उषं याहि यज्ञम् । मरुद्भि-
 रिन्द्र सखिभिः सजोपा इत्यपि निगमो भवत्यैहयाणो हीतयानः ।
 १० अनुपुया कृणुहर्दयाणेत्यपि निगमो भवति हरयाणो हरमाण-
 यानः । रजतं हरयाण इत्यपि निगमो भवति । य आरितः
 कर्मणि कर्मणि स्थिरः । प्रत्युतः स्तोमान् व्रन्दी व्रन्दतेर्मृदू भाव-
 कर्मणः ॥ १५) ॥

- १५ ' स इत्तमोऽवयुनं ततन्वत्सूर्येण वयुनंवच्चकार । कदा ते मर्ती
 अमृतस्य धामैर्यक्षन्तो न भिनन्ति स्वधावः '
 वयुनशब्दस्य (ऋ० सं० ६ । २१ । ३) ॥ भरद्वाज-
 प्रयोगोऽर्थश्च स्वर्यम् । त्रिष्टुप् । ऐन्द्रे सूक्ते । व्यूहस्य दशरा-
 त्रस्य नवमेऽहनि मरुत्वतीयेः शस्त्रे दास्यते
 २० (आश्व० श्रौ० ८ । ७) । त्वमेवंगुणविशिष्टो हे भगवन्निन्द्र ।
 यथागुणं त्वामशोचाम । स त्वमेतच्छार्धं तमः अवयुनम् अप्रज्ञानलक्षणं
 ततन्वत् । सर्वमेवैनं लोकं स्वेन प्रकाशाख्येन रूपेण संतनोति । सूर्येण
 वयुनवत् । प्राणो हीन्द्रस्तस्मात्सूर्य उदेति । प्राणाद्वा एव उदेति
 प्राणेऽस्तमेति ' (वृ० उ० १ । ५ । २३) इति ह्युक्तम् । तस्मा-

१ क. ख. छ. त. द. अव विरामो वर्तते. २ त. तूर° ती; द. तूर°. ३ क.
 ख. छ. त. द. विरामो नास्ति. ४ छ. त. भवति । अह°. ५ क. ख. ३ (१५);
 छ. त. १७; द. २. ६ ग. ज. ततन्वत् । भर°; घ. ट. ततन्वत् न भिन°.
 ७ ठ. ड. व्यूहस्य. ८ ग. ज. स एवमेवेतं लोकं. ९ क. ख. घ. झ. ट. ठ.
 २१ ड. ' रूपेण ' नास्ति; च. रूपेण. १० घ. ट. ' इति ' नास्ति.

ध्याण इन्द्रः सूर्यस्योदयहेतुः । स ॥ सूर्यमुद्रमयंस्तेन सूर्येण वयुनवच्चकार ।
एतज्जगज्ज्ञानवत् करोति । तस्मात्स एवेन्द्र एवमुच्यते । सूर्येण त्वमेत-
ज्जगद्वयुनवःप्रज्ञावच्चकार । कृतवानसीत्यर्थः । यस्त्वमेवंप्रभावस्तस्य तत्र
कदा कस्मिन् काले मर्ता मरणधर्माणो मनुष्या अमृतस्य अमरणधर्माणो
धाम स्थानं इयक्षन्तो यष्टुमिच्छन्तो न भिनन्ति न श्रयन्ति हे स्वधावः
अन्नवन् । सर्वदैव तवापरिहृष्टं स्थानम् । कृतावकाशस्त्वं यज्ञेष्वा-
भिप्रायः । एवमिह 'तमस्ततन्वत्सूर्येण वयुनवच्चकार' इत्यनेन संबन्धात्
'वयुन' शब्देन प्रज्ञानमुच्यत इत्युपपत्तिः । कान्त्यर्थत्वमपि कचिदुपेक्ष्यम् ।
इहैव वां पक्षेण योज्यम् ।

'वाजपस्त्यम्' [४९] इत्यनवगतम् । 'वाजपतनम्' इत्यव- १०
गमः । 'तं संखायः पुरोरुचं यूयं वयं च'

'वाजपस्त्यम्' सूर्यः । अस्याम वाजगन्ध्यं सनेम वाजप-
स्त्यम्' (ऋ० सं० ९ । ९८ । १२) ॥
इत्यस्य पावमानी सौमी । अम्बरीषश्च ऋजिश्वा च सूक्तं

ददशतुस्तत्रैषा । तमेनं सोमं हे सखाय ऋत्विज पुरोरुचम् अमतोदीर्तिम् १५
यूयं वयं च संपृक्ताः सन्तो हे सूरयो मेधाविनः अस्याम व्यामुषाम वयं

वाजगन्ध्यं प्रतिविशिष्टान्नसमानगन्धम् । अथवा वाजप्रदीतारम् । अथवा
वाजसंमिश्रयितारम् । किंच । सनेम संभजेमहि वाजपस्त्यम् । अन्नमेतद-
स्माकमिति मन्यमानाः सन्तो यमाभिमुख्येन देवाः पतन्ति गच्छन्ति ॥

वाजपस्त्यः सोमस्तं नित्यकालमेव वयं भजेमहि । एयमत्र शब्दसारूप्याद- २०
धोपपत्तेश्च 'वाजपस्त्यः' शब्देन सोम उक्तः । 'वाजगन्ध्यम्' (५०)
इत्येतदपि पदमेकस्मिन्नेव निगमे निरुक्तम् ।

'वाजगन्ध्यम्' केवलं समाम्नायानुक्रमविपर्यासः । 'वाज-
तस्मिन्नेव निगमे' पस्त्यं वाजगन्ध्यम्' (निघ० ४ । ९)

इत्येव समाम्नायानुक्रमः । निगमे पुनः 'अस्याम २५

वाजगन्ध्यं सनेम वाजपस्त्यम्' इति ।

१ क. ख. घ. ट. ठ. ड. 'द्रमयत् ते' । २ ग. ज. त्वमेतद्वयुनवच्चकार' । ३ ग.
'गमः' । ५८ । तं. ४ ग. ज. पुरोरुचं । पाव' ; घ. ट. पुरोरुचं वाजपस्त्यम्. ५
क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'च' नास्ति. ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'दीप्तम्'.
७ घ. झ. ट. ठ. ड. 'सन्तो' नास्ति; च. सन्तो. ८ घ. झ. ट. ठ. ड. 'संभजे';
घ. 'भजे' सं. ९ ग. ज. 'वाजगन्ध्यं' नास्ति; च. 'पर्याप्तो वाजपस्त्यं' । वाजगन्ध्यं-
सनेम' इत्येव समाम्नायानुक्रमः । निगमे पुनः अस्याम वाजगन्ध्यं.

‘ गन्ध्यम् ’ (५१) इत्यनवगतम् । ‘ ग्रहणीयम् ’ इत्यर्थप्रतीतिः ।

‘ यासि कुरसेन सैरथमवस्युस्तोदो वातंस्य हयोरैशानः । ऋज्जा वाजं न गन्धं युयून्क्वविर्यदहन्पार्याय भूपात् ’ [ऋ०

‘ गन्ध्यम् ’ इत्यस्य सं० ४ । १६ । ११] ॥ वामदेवस्यार्पम् ।

ऐन्द्री । त्रिष्टुप् । अहोनर्सेक्तं चतुर्विंश उक्थे

माध्यन्दिने सवने मैत्रावरुणस्येयं शैल्वे [आश्व० श्रौ० ७ । ४ ।] हे भग-
वन्निन्द्र यासि कुरसेन ऋषिणा स्तूयमानः अथवा कुरसेन वज्रेगाभ्युद्यतेन
सरथं सैमानगमनमभिर्वहनं रथमारुह्य अथवा सरथं रथसंपुक्तं
परानीकम् अवस्युः रिरक्षिपुरात्मीयान् मिमर्दिषुध परकीयान् तोदः

१० तुच इव केनचित् वातस्य ज्वेन यासि । तथापि च गच्छन्

हयोरैः अश्वयोः ईशानः ईश्वरः । न धावति त्वय्यन्यत एव त्वामूहतुः । स
त्वं ऋज्जा ऋजुनैव मर्गेण न कांचिदन्यां गतिं धावमानः वाजं न
गन्धं वाजमिव ग्रहणाहं भोक्तुमाभिमुख्येन युयून् पुनःपुनः संमिश्रयि-

१५ पार्याय पारणाय ऋजूगामुपरि चेतः करोपि पारयितव्या मयैत इति तस्मि-

न्नेवाहनि तान् सर्वान् भूपात् । अतिक्रम्य वर्तस इत्यर्थः । पर्यगृह्णा-
त्पर्येक्षदत्यक्रामदित्येते भूपातेरर्थाः । एवमस्मिन् शब्दसारूप्यादर्धोपपत्तेश्च

‘ गन्ध्यम् ’ इत्येष शब्दो ‘ गृह्णातेः ’ इत्युपपद्यते ।

‘ गन्धतिः ’ [५२] अप्रतीतिरार्थः । स पुनरेव ‘ मिश्रीभावकर्म ’ ।

२० ‘ आगृहिता परिगृहिता या कंशीकेव जह्वहे । ददाति मद्यं यादुंरी
यादुर्नां भोज्यां शता ’ [ऋ० सं० १ ।

‘ गन्धतिः ’ इत्यस्य १२६ । ६) ॥ भावयन्त्यस्यार्पम् । आगृहिता

आगृहीता आमिश्रिता च । परिगृहिता च परि-

मिश्रीकृता । बाहुभ्यां मया परिष्वक्त्यर्थः । या कंशीकेव । प्रतिकर्तुं

१ क. ख. च. गन्ध्यम्. २ ग. ‘तीतिः’ । ५९ । यासि’. ३ ग. ज. सरथं ।
काम’; ४. ट. सारथमवस्युः पार्याय भूपात् ४ ग. च. ज. ‘सुक्ते च चतु. ५ क.
ख. घ. झ. ट. ठ. ड. शस्ते सस्यते. ६ ग. ज. रुमानमभिवह’. ७ क. ख.
घ. झ. ट. ठ. ड. ‘वहनस्य’. ८ ग. ज. ‘न गन्धं [ज. गन्धं] गन्धं वाजं’.
९ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘एवमेतस्मिन्; च. ‘एवमस्मि’ मेत. १० ग.
ज. ‘कर्म’ । ६० । आप’. ११ ग. ज. परिगृहिता । भाव’; ४. ट. परिग-
पारणां. १२ घ. झ. ट. ठ. ड. आमिश्रीकृता; च. आमिश्रिता’ श्रीह.

कशीकेव । सा हि नकुलजातिः काचिदिवे कशामिति श्रूयतेऽश्वमेधे
[मैत्रा० सं० ३ । १४ । ७ । वा० सं० २४ । २६] । सा
यथा मदकाले प्रतिकशामतितरां परिष्वजति । स हि तस्याः परिष्वजनस्व-
भावः । एवं या मां जह्नुहे परिगृह्णाति बाहुभ्यां परिगृह्य च ददाति । यादुरी
या आदरवती । अथवा यादसा रेतःसेकेन तद्धती । 'यादः' इत्यु-
दक्षनामसु पठितम् [निघ० १ । १२ । ४८ ।] । किं च ददाति मद्य-
मिति । उच्यते । यादूनां मैथुनारूपाणां शता शतानि । बहुश इत्यर्थः ।
या एवंप्रकारा सा मम भोज्या । पत्नीत्यभिप्रायः । एवमत्र मैथुनसंबन्धाच्छ-
ब्दसारूप्याच्च 'गच्यतिर्मिथ्याभावकर्मा' इत्युपपद्यते ।

'कौरयाणः' [५३] इत्यनवगतम् । 'कृतयानः' इत्यवगमैः । १०
'यं मे दुरिन्द्रो मरुतः पाकस्थामा कौरयाणः । विश्वेषां त्मना शोभिष्ठमुपेव
दिवि धावमानम्' [ऋ० सं० ८ । ३ ।

'कौरयाणः' इत्यस्य २१] ॥ मेघर्षातिथेः काण्वस्थार्षम् । यानमनया
प्रशस्यते । यन्मम दत्तवन्तो मरुत इन्द्रश्च
पाकस्थामा विपकप्राणः कौरयाणः संस्कृतार्थानः विश्वेषां त्मना सर्वेषामपि
यानानामन्यप्रतिग्रहेहीतृसत्ताकानां मध्य आत्मना तदेव शोभिष्ठं शोभनतम-
भनेकरनविचित्रत्वात् दिवीव ज्योतिश्चक्रम् उपधावमानं दृश्यते । एवमत्र
शब्दसारूप्यादर्थोपपत्तेश्च 'कौरयाणः कृतयानः' इत्युपपद्यते ।

'तौरयाणः' (५४) इत्यनवगतम् । 'तूर्णयानः' इत्यवगमैः ।

'जातं यत्त्वा परि देवा अभूयन्महे भराय पुरुहूत २०

'तौरयाणः' विभे । स तौरयाण उप याहि यज्ञं मरुद्भिरिन्द्र
इत्यस्य सखिभिः सजोषीः' ॥ जातं जातमात्रं विभे

देवा यत्त्वां पर्यभूयन् परिगृहीतवन्तः महे महते
भराय रणौय महान्तमसुरैः सह संग्रामं करिष्यतीत्यनेनाभिप्रायेण स

१ घ. झ. ट. ठ. ड. काचित् काचिदिवे; च. काचिदिवे का. २ ग. ज. एव; २५
च. भावः । या मे एवं. ३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. आह । किं ददाति; च. किं च.
४ ग. 'गदः । ६१ । ५'. ५ ग. ज. मरुतः । मेपाति; घ. ट. मरुतः । दिवि'.
६ ग. च. ज. मेपाति'. ७ घ. झ. ट. 'पम् । अनुपुष् । या'; घ. 'पम् ।
या' अनुपुष्. ८ घ. झ. ट. ठ. ड. 'यानो महारजः । विभे'; च. 'यानः
विभे' महारजः. ९ ग. च. ज. 'पतिगृही'; ठ. 'पतिगृहीतु सखा'; ड. 'पति-
गृहीतसखा'. १० ग. ज. 'सत्तानां; ट. 'सत्तानां' सांका. ११ ग. 'दमः । ६२।
जातं. १२ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. मरुताण; च. 'मरुताण' घ.

त्वं हे पुरुहूत इन्द्र तौरयाणः त्वरितयानो भूत्वा उपयाहि उपगच्छ एनं
यज्ञं मरुद्भिः सखिभिः सह संश्रीयमाणः । उपागत्य चास्माकमाशिपः
समर्धयेत्यभिप्रायः । एवमत्रागमनसंबन्धात् 'तौरयाणस्तूर्णयानः' इत्युपपद्यते ।

'अहयाणः' [५५] इत्यनवगतम् । 'अहीतयानः' इत्यवगमैः ।

५ 'त्वया वयं सधन्य १ स्वोतास्त्व प्रणी-
'अहयाणः' त्वयाम वाजान् । उभा शंसां सूदय सत्यतातेऽ-
इत्यस्य तुष्टुया कृशुहाहयाण' [ऋ० सं० ४ । ४ ।

१४] ॥ वामदेवस्यार्यम् । त्रिष्टुप् । अग्नये

रक्षोभेऽष्टाकपालः । तत्र विष्टकृतः पुरोनुवाक्येया मैत्रार्यैणीयके [मैत्रा०

१० सं० २ । १ । ११ ॥ ४ । ११ । ५] । हे भगवन्नग्ने त्वया वयं

सधन्यः समानधनिनः । यदेतदस्मद्गृहे धनमेतदावपोः सहेत्यभिप्रायः ।

यत एवमतो ब्रूमः । त्वोताः त्वयैव रक्षिताः सन्तः तव प्रणीत्या

तवैव प्रणयेन अस्याम वाजान् प्राप्नुयामोऽज्ञानि । किंच । उभा शंसा

उभावपि शंसितारौ यथाप्रतो नः पापानि शंसति यथ पृष्टतस्तावुभावपि

१५ सूदय सुष्टु जहि हे सत्यताते यज्ञतनितः । किंच । अनुष्टुपा अनुष्ठानेन

कृशुहि कुरु । कर्मणैतत्संपादय यदहं ब्रवीमि । हे अहयाण । अलजितपा-

नेत्यर्थः । एवमत्र 'अहयाणः' इत्यनेन अहीतयानं उच्यते देवैतेति ।

उपपद्यते हि देवताया अलजितयानत्वम् ।

'हरयाणः' [५६] इत्यनवगतम् । 'हरमाणयानः' इत्यवगमैः ।

२० 'आग्नेमुक्षुण्यार्यने रजतं हरयाणे । रथं युक्तम्-

'हरयाणः' सनाम सुपार्मणि' [ऋ० सं० ८ । २५ ।

इत्यस्य २२] ॥ विश्वमनसो वैयश्वस्येयमार्षिर् । यान-

मनसा ब्रह्मर्षिणे । ऋजम् ऋजुतामिनं रथं रजतं

रजतमयं रजतमिहूतं वा युक्तम् अर्थः असनाम लज्जयन्तो ययम् ।

२५ १ ग. 'ममः । ६३ . १५ . १' . २ ग. ज. 'स्वोता । वाम' ; घ. ट. स्वोताः ०

३ अनुष्टुपा . ३ ग. घ. म. मैत्रावर्यैणीयके . ४ ग. ज. प्रणयनेन . ५ ग. घ. झ.

'यानो अत्रावपान इत्य' . ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'यानोऽग्निश्च' .

७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'देवैतेति' नास्ति ; घ. 'देवैतेति' . ८ ग. 'ममः । ६४ ।

अज्ञ' . ९ ग. ज. 'व्यापने । विष्' ; घ. ट. 'व्यापने ० ब्रह्मण्य सुपार्मणि .

१० क. ख. घ. 'ममि । इने विष्' . ११ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'मार्षम् ।

उग्निश्च । वा' ; घ. 'मार्ष' . १२ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'मार्षम्' .

कं पुनर्लब्धयन्तः । उक्षण्यायने । उक्षण्यायन इति यजमानः कश्चिदा-
सीत् । तस्मिन् हस्याणे हरमाणयाने नित्यकालमेवाभिप्रास्यतयाने सुषामणि
शोमनं सामास्यै सुषामा तस्मिन् यजमाने । तद्वशः स महादक्षो
दातेत्यभिप्रायः । एवमत्र शब्दसारूप्यादर्थोपपत्तेश्च 'हरयाणो हरमाणयानः'
इत्युपपत्तेः ।

५

'आरितः' [५७] इत्यनवगतम् । प्रतीत्यस्य स्थाने आह ।

'प्रत्युतः' इत्यर्थप्रतीतिः । 'यो अश्वानां यो

'आरितः' गवां गोपतिर्वशी य आरितः कर्मणि कर्मणि
स्थिरः । वीळीधिदिन्द्रो यो असुन्वतो वधो
मरुत्यन्तं सद्यस्य हवामहे' [अ० सं० १ । १०

१०१ । ४] ॥ कुत्सस्येयमार्पम् । न्युडस्य दशरात्रस्य नवमेऽहनि
मरुत्यतीये शस्त्रे निविद्वानीये सुक्ते शस्यते [आश्व० श्रौ० ८ । ७] ।

य इन्द्रः अश्वानां गवां च गोपतिः । किंच । य आरितः कर्मणि कर्मणि
स्थिरः । आरितः सर्वान् स्तोमान् प्राति योऽवस्थितः । केन । देवतारूपेण ।
सर्वेषु स्तोमेषु वावस्थानात् । यः कर्मणि कर्मणि अग्निहोत्रादौ स्थितो नित्यः । १५

यमृते न किंचन कर्म प्रवर्तत इत्यभिप्रायः । किंच । वीळीधितुं संस्तम्भ-
स्यापि दर्शितस्यापि य इन्द्रः असुन्वतः अभिपवमकुर्वाणस्य वधः
वधपिता । तमेवंगुणैर्युक्तं मरुत्यन्तं मरुसहितमिन्द्रं सद्यस्य सखि-
भावाय एतस्मिन् कर्मणि हवामहे । आह्वयाम इत्यर्थः । एवमयम् 'आरित'
शब्दोऽर्थोपपत्त्या 'प्रत्युतः' इत्येवमुपपत्तेः । २०

१ क. ल. घ. स. ट. ठ. 'यजमानः' नास्ति; य. अ. 'प्रापयनिरिति । न
कश्चि'; य. यजमानः. २ क. ल. घ. स. ट. ठ. तस्मिन् यजमाने हर'; ग.
अ. तस्मिन् यजमानहारे हरमाणयाने; य. तस्मिन्-हर' यजमाने. ३ ग. अ.
सामास्येति सु०. ४ ग. 'तीतिः । ५५ । यो'. ५ ग. यशं० हे । कुत्स'; ज.
यशं० कुत्स'; य. ट. यशं गोपतिर्वशी० सस्याय. ६ क. स. य. वीळीधि';
ग. अ. य. स. वीळीधि'. ७ य. स. ट. ठ. ठ. सोमेजु. ८ क. ल. घ. स. ट.
ठ. ठ. यजमानात् । यः'; य. वीज' वा. ९ क. ल. घ. स. ट. 'विच' नास्ति.
१० ग. य. अ. य. स. वीजोधि'. ११ य. 'मरुत्यन्तं'. १२ क. स. घ. स.
ट. ठ. ट. 'स' नास्ति.

‘ व्रन्दी ’ [५८] इत्यनवगतम् । ‘ व्रन्दतेमृदुंभार्वाधस्य ’ । धातु-
रेवायमप्रतीतः । एष एवानवगमः ॥ १५ ॥

नि यद्वृणक्षिं श्वसनस्य मूर्धनि शुष्णस्य चिद् व्रन्दिनो रोहं-
वदना । निवृणक्षि यच्छ्वसनस्य मूर्धनि शब्दकारिणः शुष्णस्या-
दित्यस्य च शोषयितुं शक्यमाणो बनानीति वा वधेनेति वा ।
अग्रदन्त वीजितेत्यपि निगमो भवति वीजयतिश्च व्रीडयतिश्च संस्त-
म्भकर्माणौ पूर्वेषु संप्रयुज्येते निर्णयपी स्त्रीकामो भवति विनिर्गत-
पसाः पसः सपतेः स्पृशतिकर्मणः । मा नो मघेवं निर्णयपी परा
१० दाः । स यथा धनानि विनाशयति मा नस्त्वं तथा परादास्तूर्णा-
शमुदकं भवति तूर्णमश्रुते । तूर्णाशं न गिरेरधीत्यापि निगमो
भवति । क्षुम्पमहिच्छन्नकं भवति यत्क्षुभ्यते ॥ १६ ॥

नि यद्वृणक्षिं श्वसनस्य मूर्धनि शुष्णस्य चिद् व्रन्दिनो रोहंवदना । प्राची-
नेन मनेसा बर्हणाता यदया चित्कृणवः कस्या
१५ ‘ व्रन्दी ’ इत्यस्य परि [ऋ० सं० १ । ५४ । ५] ॥ सव्य-
स्येयमार्पमाद्विरसस्यै । जगती । ऐन्द्री । स पुन-
रिन्द्र एवाद्विरसः पुत्रत्वमापन्नः । निवृणक्षि निवर्जयति यत् यस्तं हे
भगवन्निन्द्र भेषं हत्वा श्वसनस्य शब्दकारिणो वायोः मूर्धनि उपरि
२० शुष्णस्य चित् शोषयितुरपि भगवत आदित्यस्य व्रन्दिनो मृदुभावकर्तुः ।

१ ग. ज. एव निगमः. २ क. ख. ३ (१५), ग. ३६; ठ. °गमः । इति नेरुक्टीकायां
पञ्चमाध्याये पञ्चदशः खण्डः; इतरेष्वद्वौ नास्ति. ३ छ. त. द. ‘ व ’ नास्ति.
४ ‘ वनानीति ’ सायणभाष्यपाठः. ५ क. ख. छ. त. द. वीजिते° ६ क.
ख. छ. त. द. वीजयतिश्च व्रीडय° ७ ड. गि. ५ गी. ८ छ. स्पसः स्पशते;
त. स्पसः स्पसते.° ९ द. स्पसः स्पसते. १० छ. निःपपी. १० क. ख. छ.
त. द. परादाः । तूर्णा०. ११ क. ख. ४ (१६); छ. त. १८; द. ४. १२ ग.
ज. श्वसनस्य मूर्धनि । सव्य°; घ. द. श्वसन० कस्या परि. १३ क. ख. घ. त. ड.
ठ. ड. °द्विरसस्येयं । जग°; च. °द्विरस्य । जग°. १४ क. ख. ग. मृदुभा°;
२१ च. मृदुभा° द.

आदित्येन हि पारेष्यमानं संस्तम्भमपि बदरतिन्दुकादि मृदु भवति
तस्मादसौ ब्रन्दी । तस्याप्येवंकर्मकारिणो मण्डले प्रत्येवं रेखन्तु स्तन-
यितुशब्दं कुर्वणो वना वनानि विक्षिपसि । ऊर्ध्वमध्व वनानि उदकानि
विक्षिपतो न ते शक्तिरतीघातोऽस्तीत्यभिप्रायः । यस्मिंस्तु पक्षे ' वधेन '
इति निर्वचनं तस्मिन् पक्षे ' वना ' इत्येष शब्दो मेघवधेनेति योग्यः ।
उदकशब्दश्चेतस्मिन् पक्षेऽध्याहार्यो निर्वर्जनसंबन्धात् । प्राचीनेन प्रीतिश्रितेन
अदीनेन तस्मिन् कर्मण्यभिमुखेन मनसा बर्हणावता हिंसावता र्यदयत्वेऽपि
कर्म कृणवः करोष्येवासुकरमन्यैस्तस्माद्भवीमि कस्या पारि । कोऽयस्त्वामुपरि
चर्तते । तमेव सर्वभूतानि परिगृह्य वर्तस इत्यभिप्रायः । एवमत्र ' ब्रन्दि-
शब्देनादित्य उक्तः । तत्पुनरेतदस्पष्टं मृदुभावकरणादादित्यस्य ब्रन्दित्वमिति ।
यतो ब्रन्दिशब्दस्य मृदुभावार्थोपपादयिषया ब्रीडपातिना संस्तम्भार्थवाचिना
सह संबद्धो यत्र ब्रन्दतेः प्रयोगस्ततो निर्गमाद् ब्रन्दतेर्हि मृदुभावार्थता स्पष्ट-
तरेति दर्शयति । ' अब्रन्त व्रीडितेऽपि निगमो भवति ' ।
अपि पूर्वोऽप्ययं स्पष्टतर इत्यपिशब्दः । ' व्रीडयतिश्च व्रीडयतिश्च '
एतौ द्वावपि ' संस्तम्भकर्माणौ पूर्वेण ' अनेनैवानन्तरेण ब्रन्दिना
यस्मात्समानवाक्यतामुपगतौ ' मयुज्येते ' तस्माद् ब्रन्दिशब्दस्य मृदु-
भावार्थत्वमुपपद्यते ।

१ ग. प्रपुष्टोभवन् स्तः ; ज. प्रपुष्टोभवन् स्तः ; च. प्रपुष्टोभवन् स्तः । रो६.
२ क. ख. ग. ज. स्तनगुणेशब्दः । ३ ग. ज. ' वनानि ' नास्ति ; च. वना-विक्षि-
वनानि । ४ ग. ज. तत्पक्षे । ५ क. ख. ग. ड. ठ. ड. ' शब्दश्च तस्मिन् । ६ घ. २०
ट. ठ. ड. ' प्रागश्रितेन ' नास्ति । ७ ग. ज. कर्मण्यभिमुखेन ; च. कर्मण्या-
(ण्य) भिमुखेन । ख. ८ घ. झ. ट. ठ. ड. यदयत्वि त्वं कर्म ; च. यदय-
त्वेऽपि वापि त्वं । ९ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. इतराः । १० ग. ज. मृदुभा-
११ क. ख. घ. झ. ट. अत्रो ; च. यतो अ. १२ ग. ज. संस्तम्भार्थः ; च.
संस्तम्भार्थः स्तम्भः । १३ ग. ज. ततो निनयेति निगमः । १४ क. ख. च. व्रीडिते ; ग.
ज. व्रीडिते ; घ. झ. व्रीडिते । १५ ग. ज. स्फुटतरः । १६ ग. व्रीडयतिश्च व्रीडयति ;
ज. व्रीडयति । १७ ग. ' यदते । १८ । तदे' ।

‘तदेवानां देवतमौय कर्त्तृमश्रमदृष्ट्वाप्यन्तं वीळिता । उद्गा आजद-
भिनन्दनाना यत्तमगुह्यतमो व्यचक्षयस्वः’ [ऋ०

अरिमन्निगमे ब्रन्दतेः सं० २ । २४ । ३] ॥ गृत्समदस्यार्थम् ।
स्पष्टतरोऽर्थः जगती । ब्राह्मणस्पत्ये लिङ्गतो बार्हस्पत्येऽपि
सूक्ते । तत्कर्म तत्कर्म देवानां देवतमाय

देवतमस्य बृहस्पतेर्यत् अग्रधनं यत् क्षयान्पमवन् दृष्ट्वा ददन्त्यपि
सन्ति मेघवृन्दानि । किञ्च । अत्रदन्त मृदून्यभवन् । कानि पुनस्तानि
मृदून्यभवन्ति । उच्यते । वीळिता यानि वीळितानि वीडितानि संनद्धानि
दर्पितान्यसुरकुट्टान्यन्यानि वा कानिचित्तानि मृदून्यभवन्ति । किञ्च ।

१० उद्गाः आजत् उद्गाजगाः उद्गमपदपः । अभिनन्दनं मेघं ब्रह्मणा स्तूय-
मानः । किञ्च । अगूहत् अनाशयत्तमो वैद्युतात्मना । किञ्च । व्यचक्षयत्
व्यदर्शयत् सैः स्वर आदिस्वमव्यवधानकरणेन नभसः । एवमत्र ‘अत्रदन्त
वीळिता’ इति ब्रन्दतेर्वीळयतिना सह प्रयोगाद् वीडितेरर्थवैपरीत्येन ब्रन्दतेर्ध-
नुभावार्थत्वमुपपद्यते । वीडयतेषु ब्रन्दिना सह प्रयोगेऽन्यत्र कचिद् द्रष्टव्यः ।

१५ ‘निर्धैपी’ (५९) इत्यनवगतम् । ‘विनिर्गतपसाः’ इति शब्दसमाधिः ।
‘स्त्रीकामः’ पुंश्लोऽभिधेयः । न हि नित्यं निर्गतशैर्षं एव भवति । ‘पैतः
सपतेः’ स्पृशत्यर्थे वर्तमानस्य शैर्षः । तेन हि स्त्री स्पृश्यते । ‘प्रति

१ ग. ज. ‘तमाय । गृत्स’; घ. ट. ‘तमाय कर्त्तृ० चक्षयस्वः’ २ क. ख.
च. वृद्धावदन्त वीडिता’ ३ क. ख. ग. ज. ‘ब्राह्मणस्पत्ये लिङ्गतो’ ‘अपि’

२० नास्ति; च. ‘बार्हस्पत्ये (त्र्येऽपि) सूक्ते’ ब्राह्मणस्पत्ये लिङ्गतो ४ ग. ज. देव-
तमस्यतेः बद्ध’; च. ‘तेः बद्ध’ य; ट. बृहस्पतेः य’ ब्रह्मण; ठ. ड. तमस्य
ब्रह्मणा यद्’ ५ क. ख. घ. झ. ढ. ठ. ड. ‘यत्’ नास्ति ६ क. ख. घ. झ.
ट. वृद्धा; ग. ज. ‘वृद्धा’ नास्ति; च. ‘वन्-वृद्धान्य’ वृद्धा ७ क. ख. च.
वीडिता; घ. झ. वीळिता ८ ग. च. ज. घ. झ. वीळिता’ ९ क. ख. घ. झ.

२५ ट. ठ. ड. ‘वा यानि कानि’ १० क. ख. ग. ज. ‘नदलं’; च. ‘पद्वलं’ न.
११ घ. झ. ट. ठ. ड. ‘स्वः’ सकृदेव १२ क. ख. च. वीडिता; ग. ज. वीडिता;
घ. झ. वीळिता १३ क. ख. ग. ज. वीडय’; च. वीडय’; घ. झ. वीळय’;
ट. वीळय’ १४ घ. झ. ट. ‘वीडयते’ १५ च. ज. घ. झ. ड. निष्परी’

१६ ग. ज. ‘शेष एव’; च. ‘शेषो भ’ प एव १७ क. ख. ग. स्पृशः; ठ.
पतः पसतेः स्पृ’; च. स्पृ (प) सः स्पृशं (पत) तेः १८ ग. ज. शेषः; च.

११ शेषः’ घ. १९ ग. ‘ते । ६८ । प्रति’

यस्या नीथादर्शि दस्योरोको नाच्छा सदनं जानती गात् । अथ स्मा नो
 मधवचर्कृतादिन्मा नो मधेवं निर्णयी परा दाः'
 'निर्णयी' इत्यस्य [ऋ० सं० १ । १०४ । ५] ॥ कुत्सस्यार्षम् ।
 ऐन्द्री । हे भगवन्निन्द्र यस्मात् प्रत्यदर्शि प्रति-
 पश्यतीव स्या सा नीथा स्तुतिः । 'नीथान्निदो जरितारः' [ऋ० सं० ३ ।
 १२ । ५] इत्येतस्मान्निगमात्स्तुतिर्नोति प्रतीयते । दस्योः शत्रोर्दा-
 सयितुस्तव ओको न ओक इव निवासमिव अच्छ आभिमुख्येन हृदय-
 मनुप्रविश्य सदनं स्थानं यत्र तथा नीथया स्तुत्या र्त्तव्यम् । यस्तथाभि-
 मंतो गुणोऽनेन यदि नाम माभेय स्तोता स्तुत्यात्साधु स्यादिति तमर्थमनुप्रवि-
 श्यैव भवतो हृदयं तेनार्थेनात्मानमभिसंबन्धयित्वैतन्मम सदनमित्येवं जान-
 तीव तदेव आगात् नित्यकालमेवागच्छति । यत् एवमतः स्तुत्युदीरयितारो
 वयं भवतः । अथ एतस्मात्कारणाद्वयं ब्रूमः । हे मधवन् चर्कृतापुनःपुनः
 क्रियमाणादेतस्मात्कर्मण आत्मस्तुत्याश्रयभूतान्मा नो मास्मान् परा दाः परा-
 द्मुखां दधीथाः । उपनामय तत्कर्मसाधनानि । कथं च पुनर्मा परा दाः ।
 मधेवं निर्णयी । स यथा धनानि नित्यं निर्गतशेषो विनाशयत्येवमस्मात्सं-
 मायसादयिष्ठाः । धनभूतास्तव वयमतो रक्षस्वेत्यभिप्रायः । एवमत्र शब्द-
 सारूप्यादर्थोपपत्तेश्च धननामसंबन्धात् 'निर्णयी' विनिर्गतपसाः स्त्रीकाम
 इत्युपपद्यते ।
 'तूर्णाशम्' (६०) इत्यनवगतम् । 'उदकं भवति' इत्यभिधेयवचनम् ।
 तूर्णं हि क्षिप्रं तद्व्याप्नोति । तूर्णाशैनमिति न्याय्यम् । अपठितं चैतदुदकना-

१ ग. ज. दस्योः । कुत्सः ; प. ट. दस्योः० निर्णयी०. २ घ. च. झ. ठ. ड.
 निर्णयी. ३ क. ख. घ. झ. ट. ऐन्द्री । त्रिष्टुप् । हे० ; च ऐन्द्री० । हे० त्रिष्टुप्.
 ४ घ. झ. ट. ठ. ड. सचव्यं ; च. र्त्तव्यं० त. ५ क. ख. घ. झ. ट. ड. स्तुत्या०.
 ६ ग. ज. जानातीव ; च. जानाती० न. ७ ग. अगात् ; च. आगात्० आ. ८ क.
 ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'दीरितारो'. ९ च. प्रादुम्० परा. १० घ. झ. ट. ठ. ड. २५
 दधीथाः ; च. दधीथाः० दी. ११ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'नानि । कथं च
 पुनः कर्मसाधनानि । कथं च पुनर्मा' ; च. 'नानि० । कथं' कथं च पुनः कर्मसाध-
 नानि. १२ ग. ज. घ. झ. निर्णयी ; च. निर्णयी० प. १३ क. ख. घ. झ. ट.
 ठ. ड. नित्यविनिर्ग० ; ग. ज. नित्यं निर्गतशेषो. १४ घ. झ. च. ज. निर्णयी.
 १५ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'वि' नास्ति. १६ घ. ट. ठ. ड. तूर्णाशन.

ममु तेनाप्रतीतार्थम् । 'प्रार्ते श्रुताय वो धूपतूर्णाशं न गिरेरधि । हुवे सुशि-
प्रमृतये' [ऋ० सं० ८ । ३२ । ४] ॥

'तूर्णाशम्' इत्यस्य मेधातिथेरर्थम् । रात्रिपर्याये सस्यते । भैत्रावरु-
णस्य प्रथमे शस्त्रे विनियुक्ता [आश्व० श्रौ०

५ ६ । ४] । हे ऋत्विग्यजमाना यन्मया प्रतिश्रुतमात्विग्यमुपगच्छताहमिन्द्रं
स्तुतिभिराह्वयिष्यामीति तस्मै प्रतिश्रुताय शुष्माकमुपाकरणार्थमेतस्मिन्
कर्मणि धूपत् धूपं प्रगृह्णं हुवे आह्वये सुशिप्रं सुहन्तुं सुनीसं च इन्द्रमहम्
ऊतये तर्पणाय तर्पयामह इति । अथवा भवतामात्मनश्च रक्षणायेति स्यात् ।
कथं पुनराह्वयामि । तूर्णाशं न गिरेरधि । यथा तूर्णाशम् उदकं भवस्योपरि
१० वर्तमानमाह्वयन्ति वर्षार्धिनो जना एवमाह्वयामीति । एवमत्र गिरिसंवन्धात्
'तूर्णाशम्' उदकमित्युपपत्तिः ।

'क्षुम्पम्' (६१) इत्यनवगतम् । 'आहिच्छत्रकं भवति' इत्यभिधेयव-
चनम् । यस्मात्तत्प्रेष्टमात्रं 'क्षुम्प्यते' चलति तस्मात् क्षुम्पं शोभनमिति
स्यादयम् ॥ १६ ॥

१५ कदा मर्तमराधसे पदा क्षुम्पमिव स्फुरत् । कदा नः शुश्रव-
हिर इन्द्रो अङ्ग [ऋ० सं० १ । ८४ । ८] ॥ कदा मर्तमना-
राधयन्तं पादेन क्षुम्पमिवावस्फुरिष्यति कदा नः श्रोष्यति च
गिर इन्द्रो अङ्गनामाश्रितमेवाङ्गितं भवति निचुम्पुणः
सोमो निचान्तपृणो निचमनेन श्रीणाति ॥ १७ ॥

१० १ ग. 'धम्' । ६९ । धति. २ ग. ज. धूपत् । मेधा ; घ. ट. धूपत् ।
धूपमृतये. ३ क. ख. 'सर्पम्' । गायत्री । ऐन्द्र । रात्रि ; घ. झ. ट. ठ. ड.
'सर्पम्' । बृहत्येन्द्र । रात्रि ; च. 'सर्प-रात्रि' बृहत्येन्द्र । ४ क. ख. घ. झ.
ट. ठ. ड. वो शुष्माकमुपाकर ; च. 'ताय (वो) शुष्माकमुपाक' घ. ५ घ. ट. मुसी-
प्रमुह . ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. सुनसं वेन्द्र ; च. सुनीसं च 'न ७ क.

१५ ख. घ. ख. ठ. ड. 'तर्पयामह इति' नास्ति ; च. तर्पयामह इति. ८ च. अहि-
स्रजकं छ. ६ च. सृष्टं स्पृ. ९ घ. ट. क्षुम्पते ; ठ. ड. क्षुम्पने. १० ग. ज. घ. ट.
क्षुम्पं. ११ क. ख. ४ (१६) ; ग. ३३ ; ठ. ड. 'न्योप्यम्' । इति निरुक्तटीकायां
पञ्चमाध्याये षोडशः खण्डः ; इतरेष्वष्टौ नास्ति. १२ छ. 'स्फुरति' ; त. 'स्फु-
रति कदा' ति ; द. स्फुरति. १३ क. ख. छ. त. द. क्षुम्पते. १४ क. ख. ५

१० (१७) ; छ. त. १९. द. ५.

‘कदा मर्तमराधसम्’ इति । गौतमस्येयमार्गम् । उष्णिक् । ऐन्द्री ।
 तार्दीयसवनिकेयव्यययिषु जाक्षणाच्छंसिनः शस्त्रे
 ‘क्षुम्भम्’ इत्यस्य विनियुक्ता [आश्व० श्रौ० ७ । ८] । कदा
 कस्मिन् काले मर्तं मनुष्यम् अनैराधयन्तं पस्त- ५
 मिन्द्रं नाराधयति स्तुत्यां हविषा च तं कदा पादेन अवस्फुरते अवस्फु-
 रिष्यति अभिर्हसिष्यति स इन्द्रः । ‘स्फुरति स्फुरति’ इति वधकर्मसु
 पठितम् [निघ० २ । १९] । किञ्च । कदा नः कदास्माकं परिचरमाणानां
 स्तुतिभिर्हविर्भिधेः शुधवत् श्रोष्यति गिरः त इन्द्रः अङ्ग । क्षिप्रमित्यर्थः ।
 कदास्माकं परिचरितृणामिन्द्रः श्रोष्यति गिरः श्रुत्वा च समर्धयिष्यत्यागिषः ।
 अनारार्धयितुंश्च कदा पादेनाभिहनिष्यति । कदानाराधयित्राराध- १०
 यित्रोर्विशेषं ज्ञास्यतीत्यभिप्रायः । स्वरूपेण तत्त्वदेवोऽस्य मन्त्रस्यार्थो मया
 लक्ष्यते । भाष्यं पुनरत्र ‘लोकः पादेन क्षुम्भमिवावस्फुरसि’ इत्येवमधीते ।
 तथाच ‘कदा नः शृणोति गिरः’ इति । तदेतत् ‘क्षुम्भमिवावस्फुरसि’
 ‘शृणोति गिरः’ इत्यनयोर्भाष्यवाक्ययोः पुरुषैलक्षण्यादुयोर्जो मन्त्रार्थ- १०
 इति । ‘अवस्फुरसि’ इति मध्यमपुरुषयोगः प्रत्यक्षकृतलक्षणाभिसंबन्धी
 मन्त्रस्य । ‘कदा नः शृणोति गिरः’ इन्द्रः इत्येतत्परोक्षकृतलक्षणम् । एव-
 मेतन्नाम्यं दुर्योज्यं यद्येव भाष्यस्य सम्यक्पाठः । अथ पुनरसम्यक्पाठस्ततः
 सम्यक्पाठोऽत्रान्वेष्टव्यः । अहं तु लक्ष्ये । यथैव मया मन्त्रो व्याख्यातः
 स एव सम्यक्पाठः स्यात् ‘पादेन क्षुम्भमिवावस्फुरिष्यति’ ‘श्रोष्यति त- १५
 गिरः’ इति । तथाहि मन्त्रार्थस्याविरोधो लक्ष्यते । सूक्तेऽपि चास्मिन् काधि-
 परोक्षकृता ऋचः काधिलयलक्षकृताः । अतोऽपि दुरवधारोऽस्य भाष्य-

- १ क. ख. घ. ङ. ट. ‘पठं० इन्द्रो अङ्ग । योति’; ठ. ड. कदा मर्तमिति.
 २ च. उष्णिक्-स्तनी ऐन्द्री. ३ क. ख. घ. ङ. ट. ड. ‘ध्वं आरापन-
 नाग’; च. ‘भ्यं-अनाग’ अराधत. ४ क. ख. घ. ङ. पद्म; ट. पद्म’ क. ५ ग.
 अ. ‘वस्फुरत् स्फुरि’; च. ‘वस्फुरत्-स्फुरि’ अव. ६ घ. ट. ठ. ड. स्फुरयति. २०
 ७ घ. शुभ. ८ घ. स. अनाराद्धेध; ट. अनाराद्धेध घयितुं; ठ. ड. अनाराधे
 च. ९ च. ‘वस्फुर’; ठ. ड. ‘वस्फुरिष्यति. १० च. अ. ‘वस्फुर’. ११ क. ख.
 घ. ङ. ट. ठ. ड. दुर्योज्यो; च. दुर्योजो ज्यो. १२ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड.
 ‘ति च गिर इति’. १३ घ. स. ठ. ङ. ड. लक्षणा; च. लक्षणम्. १४ क. ख.
 घ. ङ. ट. ठ. ड. ‘ततः’ नास्ति; च. ततः. १५ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड.
 ‘अव’ नास्ति. १६ च. ‘वस्फुर’.

कारस्याभिप्रायः । अहिच्छत्रकं हि पादेन स्पृष्टमात्रं शीर्यते । तथात्रानाराध-
यितुर्विनाशोऽभीष्ट इति 'क्षुम्प' शब्देनाहिच्छत्रैकमभिधीयत इत्युपपद्यते ।

‘ निचुम्पुणः ’ (६२) इत्यनवगतमनेकार्थम् । ‘ निचुम्पुणः
सोमो भवति ’ इत्यभिधेयवचनम् । ‘ निचान्तपृणः ’ इति शब्दसमाधिः ।

५ स हि निचान्तो भक्षितः ‘ प्रीणाति ’ ॥ १७ ॥

पत्नीवन्तः सुता इम उशन्तो यन्ति वीतये । अपां जग्मि-
निचुम्पुणः (ऋ० सं० ८ । ९३ । २२) ॥ पत्नीवन्तः सुता

१० इमेऽद्भिः सोमाः कामयमाना यन्ति वीतये पानायापां गन्ता
निचुम्पुणः समुद्रोऽपि निचुम्पुण उच्यते निचमनेन पूर्यतेऽवभृ-
थोऽपि निचुम्पुण उच्यते नीचैरस्मिन् कृणान्ति नीचैर्दधतीति
वा । अवभृथ निचुम्पुणेत्यपि निगमो भवति । निचुम्पुण
निचुङ्कुणेति च । पदिर्गन्तुर्भवति यत्पद्यते ॥ १८ ॥

१५ ‘ पत्नीवन्तः सुता इमे ’ इति । मुँकक्षो नाम आङ्गिरसस्तस्येयमार्षम् ।
रात्रिपर्यायेषु मध्यमे पर्याये होतुः शस्त्रे विनियुक्ता

‘ निचुम्पुणः ’ (आश्व० श्रौ० ६ । ४) । पत्नीवन्तः पत्नी-
इत्यस्य भिरद्भिस्तद्वन्तः सुता अभिपुता इमे सोमा उशन्तः
कामयमाना इव यन्ति देवान् प्रति वीर्येय ।

२० पानार्थं कामयमानाः । कथं नामास्मान् देवाः विधेयुरित्येतन्मयं कामयमाना
इव यन्ति । किमेतदेव । नेत्युच्यते । पुनः पुनरेव निचुम्पुणः सोमो हि
अपां वीर्येण सहितस्तासु तामु क्रिशासु प्रदीयमानोऽस्माभिर्देवान् प्रति

१ क. ख. प. झ. ट. ठ. ड. ‘ उत्रमभिः ’; च ‘ उत्रकम् ’. २ क. ख. प. झ.

ट. ठ. ड. ‘ इत्युपपद्यते ’ नास्ति; च. इत्युपपद्यते. ३ क. ख. प. झ. ट. ठ. ड.

२५ ‘ कार्यं च. ४ क. ख. प. (१७); ग. ११; ठ. ड. ‘ प्रीणाति ’ इति निरुक्टीकायां

पञ्चमाध्याये सप्तदशः खण्डः. ५ क. ख. ६ (१८); छ. त. २ ; दृ. ६. ६

क. ख. प. झ. ट. ‘ इमे०० निचुम्पुणः; ग. ज. ‘ इति ’ नास्ति; ठ. ड. पत्नी-

वन्त इति. ७ घ. झ. ठ. ड. मुतकक्षो; ट. मुतकक्षो मु. ८ क. ख. प. झ. ट.

ठ. ड. ‘ मार्षम् । गायत्री । ऐन्द्रो । रा ’; च. ‘ मार्षम् । रा ’ गायत्री ऐन्द्रो.

९ घ. झ. ट. ठ. ड. वीतये. १० घ. झ. ट. ठ. ड. पानाय यन्ति कथं; च.

पानाय कामयमानाः यन्ति; ग. ज. ‘ पानाय ’ नास्ति. ११ क. ख. प. झ.

३२ ट. ठ. ड. ‘ त्येकम् ’. १२ क. ख. प. झ. ट. ठ. ड. ‘ दि ’ नास्ति; च. ‘ दि०

जग्मिः एव भवति गतैव भविष्यति । एवमिह सोमाधिकारात् 'निचुम्पुण'-
शब्देन सोम उच्यते इत्युपपद्यते ।

'समुद्रोऽपि निचुम्पुण उच्यते' । स हि 'निचमनेन' उदकेन
'पूर्यते' । उदकं हि निचम्यते इति निचमनम् । मृग्योऽत्र निगमः ।

'अवभृथोऽपि निचुम्पुण उच्यते' । नीचैरस्मिन् 'कणान्ति' शब्दं
कुर्वन्ति । तत्र ह्युक्तम् 'अवभृथेष्टेषांश्चैव चरन्ति' इति निचुम्पुणः ।
अथ 'वा नीचैः' अस्मिन्यज्ञपात्राणि 'दधतीति' निचुम्पुणः । तानि
हि तत्राप्सु निधीयन्ते । 'अवभृथ निचुम्पुण निचैरुसि' निचुम्पुणो गृहं
गृहोऽत्र नो देवैर्देवकृतमेनो यक्षयव मर्तर्मर्त्यकृतं

अवभृथार्थे निचु- चिकित्तवानुरोरा नो देव रिपस्याहि ।
म्पुणशब्दः - अनेनाभिसाद्याप्सु प्रक्षिपन्ते सोमपात्राणि ।

हे अवभृथदेवते वरुण नीचक्षणन निचे-
रुरासि नीचैश्चरणशीलोऽसि । निचुम्पुणो नीचक्षणनो भूत्वा
गृहे गृहे यज्ञगृहेऽवतिष्ठसे । स त्वमेवंगुणविशिष्टः अव नो देवै-
र्देवकृतमेनो यक्षि । अवयक्षि नो देवैः सहितो देवकृतं देवनिमित्तं
देवापराधजमेनः । अवयक्षि मर्त्यैः सहितो मर्त्यकृतं मनुष्यकृतमेनः । उर्रोर्म-
हतोऽपि देवरोपणादस्मान्पाहि । एवमत्र 'निचुम्पुण' शब्देनावभृथ
उच्यते । निचुङ्कुणोऽप्यनेनैव व्याख्यातः ।

'पदिः' (६३) इत्यनवगतम् । 'गन्तुः' एष निर्देशः कृतो
'भवति' । 'यत्पद्यते' यस्मादसौ पद्यते । गच्छतीत्यर्थः । अभिधेयः
पक्षी । स हि नित्यकालमेव पतितो भवति ॥ १८ ॥

सुगुरं सत्सुहिरण्यः स्वर्ध्वो बृहदस्मै वय इन्द्रो दधाति ।
यस्त्वायन्तं वसुना प्रातरित्वो मुक्षीजयेव पदिमुत्सिनार्ति (५०)

१ ग. ज. निरस्यत इ°; च. निरस्यत° चम्य. २ ग. ज. °स्मिन् कस्मिन् ५५
क°. ३ ग. ज. भृथो ध्वानेन भवतीति नि°; च. °भृथेष्टो उपभिव चर ध्वाने
तीति नि°. ४ ग. च. ज. घ. स. ट. ठ. ड. 'रीत्यनेन'. ५ क. ख. घ. स. ट.
ठ. ड. अवभृथ अवभृथदे°; च. हे-अव° अवभृथ. ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
पुष्टाण्यो मह°; च. उर्रोर्म° पुष्टाण्यो म. ७ क. ख. घ. स. ट. ठ. ड. °दस्मात्पा°. ८
घ. यस्मादसौ द. ९ क. ख. द (१८); ग. इ°; ठ. ड. °भवति । इति नर.
कथं प्राप्तां पञ्चमाध्याये अत्रादृशः खण्डः; इत्येवञ्चो नास्ति.

सं० १ । १२५ । २) ॥ सुगुर्भवति सुहिरण्यः स्वश्वो मह-
 चास्मै वय इन्द्रो दधाति यस्त्वायन्तमन्नेन प्रातरागामिन्नतिथे' ।
 मुक्षीर्जयेव पदिमुत्तिनाति । कुमारो मुक्षीजा मोचनाच्च सयनाच्च
 ततनाच्च पादुः पद्यते । आविः स्वः कृणुते गूहते वुसं स पादु-
 रस्य निर्णिजो न मुच्यते । आर्विः कुरुते भासमादित्यो गूहते
 वुसं वुसमित्युदकनाम ब्रवीतेः शब्दकर्मणो अंसतेर्वा यद्वर्पन्पातय-
 त्युदकं रश्मिभिस्तत्प्रत्यादत्ते ॥ १९ ॥

इति पञ्चमाध्यास्य तृतीयः पादः ।

- १० सुगुरससुहिरण्य इति । कक्षीवत आर्पम् । स एव सुगुर्भवति शोभनगु-
 र्भवति । स एव च सुहिरण्यो भवति । स एव च
 ' पदिः इत्यस्य ' स्वश्वो भवति । बृहच्च महच्च अस्मै वयः अन्नम्
 इन्द्रो दधाति ददाति । आह । यस्य किमिति ।
 उच्यते । यस्त्वा यन्तं वमुना प्रातरित्वः । प्रातरागामिन्नतिथे । न हि प्रातः-
 १५ प्रातरन्यानि गृहाण्यभ्येति । तेनैवमामन्व्यते ' प्रातरित्वः ' इति । यन्तम्
 अध्वानं वमुना अन्नेन क्षुधा विश्रस्यमानं प्राणं मुक्षीजयेय पादययेव
 कुमारः पदि पतितारं पक्षिणम् उत्तिनाति उड्गम्य सिनाति बभ्राति । प्राणा-
 र्ण्ययि संनियच्छतीत्यर्थः । यथा ह्यतिथिरध्वगो भवति स एव क्षुधि-

- १ उ. 'तिथेर्मुक्षी' ; त. 'तिथेर्मुक्षी' । मु. २ द. पादुर्गयः प. ३ त. द.
 २० आविन्दुः ४ छ. त. द. घ. प्रेक्षते ५ क. ख. ७ (१९) ; त. २१ ; द. ७.
 ६ ड. घ. घ. 'इति० पादः' नास्ति; छ. तृतीयः पादः; त. पञ्चमाध्याये तृती' ;
 द. इति नैरुक्तस्य पञ्च' ॥ घ. झ. ट. 'रण्यः०० पदिमुत्तिनाति । कक्षी' ८
 घ. झ. ट. ठ. ड. 'वम् । त्रिष्टुप् । इत्यस्य दानस्तुतिः । स' ; च. घं स' त्रिष्टुप्
 स्वनयस्य दानस्तुतेः ९ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ' भवति ' नास्ति; च.
 २५ भवति. १० क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ' च ' नास्ति. ११ क. ख. घ. झ.
 ट. ठ. ड. ' च ' नास्ति; च. च. १२ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. आयन्नम् ;
 च. यन्तम् आ. १३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. क्षुधाविश्रस्यमानेन प्राणरक्षणेन
 मुक्षी' ; ग. ज. क्षुधा विश्रस्यमाना' ; च. क्षुधा विश्रस्यमानं प्राणं मुक्षी' विनश्वमेन
 प्राणरक्षणेन. १४ घ. ट. उद्वपुनिनानिबभ्रा' १५ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
 २० पतन् ; च. एव पतन्.

तोऽनसंज्ञेन कस्यचिद्ब्रह्मिणो गृहेऽवतिष्ठत एवमेतत्स्यात् । एवमत्र पक्षी
 'पाद' शब्देनोच्यते । स ह्यभिप्रममाणः पश्यया बध्यत इत्युपपद्यते ।
 'मुक्षीजा मोचनाच्च' । सा ह्येव मुच्यते पक्षिणः पादे । 'सयनाच्च' ।
 सीयते बध्यते हि तथा पक्षी । 'ततनाच्च' । सा हि पक्षिणो बन्धार्थं
 सन्त्यते । एतस्यः क्रियाम्यो यथासंभवं मुक्षीजा इत्येतदभिधानं भवति ।
 'पादुः' (-६४) इत्यनवगतम् । 'पद्यतेः' इत्यर्थप्रतीतिः । 'सा
 ते जीवातुस्त तस्य विद्धि' मा स्मैतादृगर्प गृहः
 'पादुः' इत्यस्य समर्थः । आग्निः स्वः कृणुते गृहते वुसं स पादु-
 रस्य निणिजो न मुच्यते' (भ० सं० १० ।
 २७ । २४) ॥ यमुकस्यैन्द्रस्यार्पम् । महाव्रते मरुत्वतीये शैचि शस्यते १०
 (ऐ० आ० ५ । १ । १) । हे यजमान सा ते तत्र जीवातुः जीवि-
 का यस्य भगवतः सूर्यस्य तापप्रकाशवृष्टिद्वयास्तमपरस्मादानादिदक्षणा
 प्रवृत्तिः । अनेन सौर्येण कर्मणा सर्वभूतानि त्वं च जीवसै इत्यभिप्रायः ।
 यत एवमयैतस्मात्कारणाद्ब्रवीमि । तस्य सूर्यस्य विद्धि विजानीहि यस्त्वया
 स्तुतिहविर्दानादिदक्षणैः प्रत्युपकारः कर्तव्यः । मा त्वम् अस्मै सूर्याय १५
 सौदक् तादृशमुपकारम् अर्पगृहः मा संवृतं कार्षीः । प्रत्युपकारायास्मै
 स्वमभ्युपगच्छस्वेत्यभिप्रायः । अपि च समर्थे संग्रामे एतस्मिन्ते मृत्युना सह
 वर्तमाने सर्वभूतानाम् । श्वोऽय वा श्रियेथाः । को हि तद्वेद कैदा कस्य
 मृत्युरिति । स त्वं तत्कृतानि शोभनानि कार्याणि मन्यमानः शीघ्रं प्रत्युप-
 कुरुष्वस्मै सूर्यायेत्यभिप्रायः । आह । का पुनः सूर्यस्य प्रवृत्तिर्या जीवातु- २०

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'संयोगेन'; प्र. 'संयोगे' यो. २ क. ख. घ. ङ. ट. ड.
 'प्रतिक'. ३ क. ख. घ. ङ. ट. ड. 'ह्यमु'; च. 'ह्यमु' 'ह्य'; ठ. ड. 'सा हि पक्षिणो
 बधार्थं तन्व'; ४ घ. बध्यते । बध्यते हि; च. बध्यते हि' बध्यते; ङ. बध्यते ।
 बध्यते हि'; ट. बध्यते । बध्यते हि'. ५ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'बधार्थ'; ट. 'बधार्थ' भ.
 ६ ग. 'तीति' १७३। सा'. ७ ग. ज. 'विद्धि । वमु'; घ. ट. 'विद्धि० न मुच्यते'. ६५
 ८ घ. 'प्यते । इति वमु'. ९ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'क्रत्येयमार्प' । ऐन्द्री ।
 'निहृ'. महा'; य. 'कस्येन्द्र'; च. 'कस्येन्द्रस्यार्प' । महा' ऐन्द्री । विहृ९.
 १० क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'शस्त्रे' नास्ति. ११ घ. 'वृष्टि' दृष्टु. १२ क.
 ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'जीवसीत्य'; च. 'जीवसै इ' ति. १३ ग. ज. 'लक्ष्म'. १४
 क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'एतादृक् एता'; य. 'ता (एता) दृक् ता (एता)'. १५
 ग. ज. 'कार मागृह'; च. 'कार मागृहः' १. १६ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'कस्य
 कदा. य. 'कदा कस्य'.

रिति । आविः स्वः कृणुते गूहते बुसम् । आविःकुस्ते प्रकाशीकरोति
 स्वभासा । सर्वमिदमुपभासितं व्यवहाराय कल्पते । स्वः आदित्यः गूहते संवृ-
 णोति रश्मिभिः बुसमुदकम् । किंच । स पादुः तत्पदनं तद्रूपमनमवभासनेन
 च रसादानादिकर्तुः अस्य सूर्यस्य निर्णिजः उपनिर्णेजयितुः । तमःपङ्क-
 ५ दिग्धानि हि रूपाणि स्वेन प्रकाशोदकेन धौतानीव करोतीति निर्णिक्
 सूर्यः । तस्य निर्णिजो न मुच्यते । नोपरमतं इत्यर्थः । यत एवमयमद्य च
 शब्दोपकारे प्रवृत्तोऽस्तः प्रत्युपकुरुष्यास्मा इत्यभिप्रायः । एवमत्र शब्दार्थो-
 पपत्तेः 'पादुः पदनम्' इत्युपपद्यते । 'बुसमित्युदकनाम ब्रवीतेः'
 शब्दार्थस्य । तद्वि शब्दचद्ववति । 'अंसतेर्षा' । तद्वि अरपते मेघात् ।
 १० 'यद्वर्धन्पातयत्युदकम्' आदित्यः 'तद्विशमभिः प्रत्यादत्ते' इति समासतो
 माध्यकारेणायमस्यार्थस्त्यार्थ उक्तः ॥ १९ ॥

दशमस्योध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ।

वृक्षश्चन्द्रमा भवति विवृतज्योतिष्को वा विकृतज्योतिष्को वा
 १५ विक्रान्तज्योतिष्को वा ॥२०॥

'वृक्षः' (६५) इत्यनघगतमनेकार्थं च । 'वृक्षः' तावत् 'चन्द्रमा
 भवति' । स हि 'विवृतज्योतिष्कः' प्रकाशज्योतिष्को भवति । तस्मात्
 वृक्षः । अथ 'वा विकृतज्योतिष्कः' इति वृक्षः । तद्वि तस्य विकृतं
 २० ज्योतिः शीतत्वात् इतराण्युष्मानि उन्नीति सूर्यादीन्पेक्ष्य । अथ 'वा

१ क. ख. घ. ङ. ट. आविःकु^२. २ च. तद्विमने^३. ३ ग. ज. 'निर्णिज'.

४ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'स्थानि स्वभासा'; च. हि^५ स्व. ५ च. निर्णिजो.
 ६ घ. ङ. ट. ठ. ड. मुच्यते । अयं नकारो निषेधार्थः । लोकानामुपकारार्थं गमनं
 न मुच्यते । नोप^७; च. मुच्यते । 'नोप' अयं न ०००० न मुच्यते. ७ क. ख. घ.

२५ ङ. ट. ठ. ड. 'रमतीत्यर्थः'; च. 'रमते इ' ति. ८ क. ख. ७ (१९); ग. २१;
 इतराण्युद्भो नास्ति. ९ क. ख. इति निरुक्तवृत्तौ दस^{१०}; घ. ङ. ट. दुर्गावृत्तौ दशमस्य
 तृतीयः पादः; ठ. ड. इति दशमोऽध्यायस्य तृतीयः पादः । इति निरुक्तटीकायां
 पञ्चमाध्याये एकोनविंशतिः सप्तदः. १० क. ख. १ (२०); उ. त. २२; द १.
 ११ ठ. ड. वृक्षश्चन्द्रमा भवतीति । वृक्षः. १२ क. ख. घ. ङ. पञ्चाशितज्यो^{१३}.

३० १२ ग. ज. सीत^{१४}; च. सीत^{१५} सी.

विक्रान्तज्योतिष्कः' वृकः । तस्य हि विक्रान्तं ज्योतिरितरेभ्यो ग्रहन-
क्षत्रतारकादिभ्यो ज्योतिर्भ्यः सकाशात् । एते शब्दसमाधयः ॥ २० ॥

अरुणो मासकृद्वृकः पथा यन्तं ददर्श हि । उज्जिहीते निचाय्या
तेष्ट्वं पृष्ट्यामयी वित्तं मे' अस्य रोदसी (ऋ० सं० १।१०५। ५
१८) ॥ अरुण आरोचनो मासकृन्मासानां चार्धमासानां च कर्ता
भवति चन्द्रमा वृकः पथा यन्तं ददर्श नक्षत्रगणमभिजिहीते निचाय्य
येन येन योक्ष्यमाणो भवति चन्द्रमास्तद्विषयं पृष्टुरोगी जानीतं
मेऽस्य द्वापृथिव्यावित्यादित्योऽपि वृक उच्यते यदा वृद्धे^३ ।
अजोहवीद्विना वसिका वामासो यत्सीममुञ्चतं वृकस्य । १०
औक्ष्यदुषा अश्विनावादित्येनाभिग्रस्ता तामश्विनौ प्रमुचतुरि-
त्यारूपानं श्वापि वृक उच्यते विकर्तनात् । वृकश्चिदस्य चारुण
उरामयिः । उरणमयिः । उरण ऊर्णावान् भवत्यूर्णो पुनर्वृणोते-
रूर्णोतेर्वा वृद्धवार्शिन्यपि वृक्युच्यते । शतं मेपान्वृक्ये चक्षदान-
मृज्जान् तं पितान् चकारेत्यपि निगमो भवति जोषवाकमित्य- १५
विज्ञातनामधेयं जोषयितव्यं भवति ॥ २१ ॥

'अरुणो मासकृद्वृकः' इति । त्रितस्येयमाप्यस्य कूपे पतितस्य कुसस्य
वोर्षम् । पङ्क्तिः । अरुणः आरोचनः आभि-
'वृकः' इत्यस्य मुख्येन सर्वस्य जगतो रोचयिता स्वया उपोत्तया २०
'मासकृन्मासानां चार्धमासानां च कर्ता' । मास-
शब्दसंबन्धादर्धमासशब्दोऽप्याहृतस्तानपि ह्यसौ निर्मिथीत इति । चन्द्रमा

१ घ. झ. ट. ठ. ड. एताः; च. एते ताः २ क. ख. १ (२०); ग. ५; घ.
ड. धयः । इति निरुक्तटीकायां पञ्चमाध्याये विंशतिः खण्डः; इतोऽप्यश्रो नास्ति.
३ क. ख. द. 'वृद्धे' । २; अजो; उ. त. 'वृद्धे' । २३ अजो. ४ उ. औक्ष्य २५
अ; त. द. अय्य. ५ त. द. 'न्यूर्णाः पु'. ६ घ. 'वार्शिन्य'. ७ क. ख. १
(२१); उ. त. २४; द. ३: ८ घ. झ. ट. 'वृकः' ००० रोदसी । त्रि. १ ग.
ज. वा पङ्क्तिर्धर्म. अह; च. वा पङ्क्तिर्धर्म. अह. १० क. ख. घ. झ. ट.
ठ. ड. पङ्क्तिः । दैवदेवी । अह. ११ घ. झ. ट. 'शब्दोऽप्याध्या'; च. शब्दोऽ-
प्या वा.

वृकः । आह । किं करोतीति । उच्यते । यथा यन्तं ददर्श हि । नक्षत्र-
मण्डलस्याधोऽवस्थितः पथा स्वेन मार्गेण यन्तं ददर्श पश्यति नक्षत्रगणम् ।
न मामधः कूपे पतितं पश्यति । यदि नाम पश्येत्कथंचिदवश्यमस्यास्त्रायेतापदे
मामित्यभिप्रायः । किंच । उज्जिहीत निचाय्या तप्रेव पृष्ठमयी । यथा
५ कश्चित्तथा तक्षा पृष्ठरोगी कंचिदूर्ध्वं तक्षुवन् उच्छिन्न-दन् स्पृष्टयं योऽथो न
नेत्यनेनोत्कर्षो भूत्वा निचाययति पश्यत्येवं चन्द्रमा अप्युज्जिहीते येन येन
नक्षत्रेण योक्ष्यमाणो भवति । अमुना मयाद्य भोक्तव्यमित्येवं निचाय्य
दृष्ट्वा स्वेन दर्शनेन ततस्तदेवामिजिहीते । तेनैव सहोदेतीत्यर्थः । एवमस्य
येनार्थस्तमयमादरेणोर्ध्वज्योत्स्नो हि भूत्वा पश्यति । मया निस्सार्यो नास्तीति
१० मी न पश्यत्यधोऽपि वर्तमानम् । यत एवमत्रो ब्रवीमि । युवामपि तावत्
हे रोदसी वित्तं विजानीतम् अस्मार्तप्रलापस्य योऽर्थः । विदित्वा चोद्ध-
रतं मामस्मात्कूपादित्यभिप्रायः । एवमत्रारुणशब्दान्मासकृच्छब्दाच्च 'वृक-

श्चन्द्रमाः' । चन्द्रमःशब्दाच्च नक्षत्रगणोऽप्याहृत-

'मा सकृत्' इति स्तथार्थोपपत्त्यविरोधात् । येषां तु शाखिनां 'मा

११ पदद्वये ऋचोऽर्थः सकृत्' इत्येतत्पदद्वयं भवति तेषां सकृन्मां
ददर्श चन्द्रमाः । यदि पुनःपुनः पश्येदवश्यं
मोचधेदस्या आपदः । येषां तु यन्तं नक्षत्रगणं पुनःपुनः पश्यति न
मामित्येवमादि योज्यम् ।

'आदित्योऽपि वृक उच्यते यदायूहे' । यस्मादसी तम आवृद्धे

२० तस्माद्वृकैः ।

- १ घ. झ. ट. ठ. ड. कंचिदूर्ध्वं. २ ग. ज. 'छिन्दन् स्व (ग. स्व) देवं यो';
घ. ट. 'छिन्दन्मास्यदेवं यो'; झ. 'छिन्दन् शरीरं यो'; ठ. 'छिन्दन् पक्षीदं
योऽथो'. ३ क. ख. घ. झ. ट. ड. 'नोत्कटो भू'; ट. 'नोत्कटो' र्भो; ग. ज.
'नोत्कटो'. ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'येन' छद्देव. ५ क. ख. घ. झ.
२५ ट. ठ. ड. 'धिकायो हि'; ग. ज. 'ध्वंसायो हि'; घ. ध्वंज्योत्स्नी' कायो. ६
घ. झ. ट. ठ. ड. स्वस्वार्थो. ७ क. ख. ग. ज. मा. < क. ख. घ. झ. ट. ड.
ड. अस्य वित्तस्याजिप्ता'; घ. 'अस्योत्तरं वित्तस्याति. १ घ. झ. ट. ठ. ड.
पाम्बुच्छै. १० घ. झ. ट. ठ. ड. किंतु यः पपातुपन्त'. ११ ड. ख. 'वृकः
२१ । ५ । अनोह'; ग. 'वृकः । ॥ अनोह'.

‘अजोहवीर्दाश्विना वर्तिका वामासौ यत्सीममुच्चतं वृकस्य । विजयुपा
 ययथुः सान्वद्वर्जातं विश्वाचो अहतं विषेण’
 आदित्यार्थे वृकः (ऋ० सं० १ । ११७ । १६) ॥ कक्षीवत
 शब्दः ॥ आर्षम् । प्रातरनुवाकारिवनयोः शस्यते (आश्व०
 श्रौ० ४।१५) । अजोहवीत् आह्वयत् आहूत- ५
 वती उपाः हे अश्विनौ युवां धर्तनशीला वर्तिका । कदा पुनराह्वयदिति ।
 उच्यते । आस्तः आस्यादेनां यदा युवाममुच्चतं वृकस्य आदित्यस्य । ‘उपाः’
 किल ‘आदित्येनाभिप्रस्ताश्विनौ’ आहूतवती । तामश्विनौ प्रमोचितवन्तौ
 ‘इत्याह्वयानम्’ एतस्मिन्नर्थे वेदयन्ते निदानविदो बहुचास्तदप्युपेक्षितव्यं
 मन्त्रार्थनिर्णयाय । एतच्च युवयोर्भाहामाग्यम् । किचान्यत् । विजयुपा ययथुः १०
 सान्वद्वेः । विजयुपा विजयमिच्छन्तौ युवां ययथुः गच्छथः सानु समुच्छि-
 तम् अद्वेः मेवस्य शिखरमारुह्य । किच । युवामेव जातमुपद्रवं दुर्भि-
 क्षाह्वं कृत्स्नस्य जगतो विश्वाचो विश्वगञ्जनौ सर्वतोऽगती भूत्वा मेघजा-
 लेनेदं सर्वमभिप्रच्छाय ततः अहतं हतवन्तौ स्यः विषेण । उदकेनेत्यर्थः ।
 यथास्मिन् वृकशब्देनादित्य उच्यते तथास्यानादुपेक्षितव्यम् । १५

‘श्वपि वृक उच्यते विकर्तनात्’ । विविधमसौ कुन्तति तस्माद् वृकः ।
 ‘वृकश्चिदस्य धारण उरामधिरा वयुनेषु भूपति ।
 श्वन्नर्थे वृकशब्दः सेमं नः स्तोमं जुजुपाण आ गहीन्द्र प्र चित्रया
 धिया’ (ऋ० सं० ८ । ६६ । ८) ॥

प्रगाथपुत्रस्य कठेरार्षम् । सतोवृहती । महाव्रते तृचाशीतिषु विनियुक्ता २०
 (ऐ० आ० ५ । २ । ४) । वृकश्चित् वृकोऽपि श्वा सारमेयः अस्य
 इन्द्रस्य विद्यत एव वारणो वारयिता शत्रूणाम् । किमुतान्यान्मुपकरणानि ।
 उरामधिः उरणमधिः उरान् मेपान् यो मथ्नाति स उरामधिः । स पुन-
 रस्येन्द्रस्य आभूयति वयुनेषु प्रज्ञानेषु । यदैवासौ विजानीत आभूर्पत्यं

१ ग. च. ज. ‘वामिति । कक्षी’; घ. झ. ट. ‘वां०० अहतं विषेण. २ क. २५
 ख. घ. झ. ट. ठ. ड. आर्षम् । आश्विनी । त्रिष्टुप् । प्रातः’; च. आर्षः प्रातः
 आश्विनी त्रिष्टुप्. ३ च. ‘वोर्भा’; ४ ग. वृकः । ७६ । वृकः. ५ ग. ज.
 धारण इति । प्रगाथः; घ. झ. ट. वारण उरामधिः०० चित्रया धिया. ६ घ. झ.
 ट. ठ. ड. ‘हती । ऐन्द्री । महा’; च. ‘हती । महा’ ऐन्द्री. ७ च. उरान्
 ऊर्णावतो. ८ ग. च. ज. प्रपत्यम्.

शत्रूनि ति तदैवासावाभूयति । यस्य चैवं स्योपकरणसंप्रति त्वं हे इन्द्र
इमम् अस्माकं स्तोमम् उपश्रुत्य आगहि आगच्छ इमं यज्ञं प्रकर्षेण चित्रया
चापनीयया धिषौ कमनीयया बुद्धया । सरमा हि देवशुनी श्रूयते ।
तत्पुत्रनसृभिश्च देवानां भवितव्यम् । तस्माच्छ्रुतिं वृक उच्यत इत्युपपद्यत
इतरेषामारण्यकानां परिग्रहाभावात् । अस्य मन्त्रस्य पूर्वोऽर्धर्चः परोक्षकृतो
वृकश्चिदस्येत्यस्मात्पृथीयोगात् । उत्तरैः प्रत्यक्षकृतः ' आगहीन्द्र ! इत्य-
स्मान्मध्यमपुरुषयोगात्संबोधनाच्च । देवता किल परोक्षा स्तूयमाना प्रत्यक्षी-
भवति । प्रत्यक्षापि च स्तूयमाना परोक्षीभवति । तदेतत्सर्वेष्वेवंलक्षणेपु
मन्त्रेषूपेक्षितव्यम् ।

- १० निगमप्रसक्तमुच्यते । ' उरण ऊर्णावान् ' । ऊर्णया तैद्वान् । ' ऊर्णा
पुनर्वृणोतेः ' इति विग्रहप्रसक्तम् । ता अपि शीतव्राणार्थं त्रिपन्ते ।
' ऊर्णोतेर्था ' आच्छादनार्थस्य । ताभिराच्छन्न उरणो भवति ।

' वृद्धवाशिन्पि वृकमुच्यते ' । यैषा वृद्धं वाशते शिवा सापि
वृकमुच्यते विकर्तनादेव । ' शतं मेयान्वृक्ये
१५ वृद्धवाशिन्पथे चक्षदानमूत्राश्वं तं पिताश्वं चकार । तस्मा
वृक्याः प्रयोगः अक्षी नासत्या विचक्ष आर्धत्तं दद्या भिप्जाव-
नर्थन् ' (ऋ० सं० १ । ११६ । १६) ॥

- अजोहवीदित्यनया समानार्थेयम् । शतं मेयान् वृक्ये शिवायै
वाशिते सति परितुष्टः चक्षत् व्यादिष्टवान् दानम् । येयमेवं
२० शोभनमभिप्रस्थितानामश्माकमर्थसिद्धये वाशिते तस्यै शतं मेयाणां
दीपतामित्येवमाश्रितवान् ऋत्राश्वो नाम राजपुत्रः । तं च पुनरेवं
व्यादिष्टवन्तमतिसाहसिकोऽयमिति पिता कुपितोऽभिशापेन अन्धं चकार ।

१ क. स. घ. झ. ट. ठ. ड. तवेवं; च. चैवं तवे. २ क. स. घ. झ. ट.
ठ. ड. ' संपन्नत्वं हे इन्द्र सत्त्वं; च. संपत्तुं (च) संपन्नं सत्त्वं हे इन्द्र-इमं सत्त्वं.

- २५ ३ क. स. घ. झ. ट. ठ. ड. कमनीयया धिषा. ४ क. स. घ. झ. ट.
ठ. ड. उत्तरस्तु; च. उत्तर-अत्यं स्तु. ५ क. स. घ. झ. ट. ठ. ड.
तद्वान् भवति । ऊर्णा; च. तद्वान्-ऊर्णा भवति. ६ च. शीतं शी. ७ क. स.
घ. झ. ट. ठ. त्रिपन्ते; च. ' र्ध - त्रिष' ति. ८ ग. ज. ' वामिन्य'; च.
' वासिन्य' शि. ९ ग. ज. वासने; च. वासने' झ. १० ग. ' देव । ७७ । शतं'.
११ ग. ज. वृक्य इति; घ. झ. ट. वृक्ये च०० भिप्जावनर्थन्. १२ ग. ज.
२१ वाशिते. १३ ग. ज. वाशते. १४ क. स. घ. झ. ट. ड. ' वाशपितया'.

कृतवानित्यर्थः । तस्मा एवमन्वीमूताय पितुरभिज्ञापेन अक्षी अक्षिणी
नासत्यौ अक्षिनौ देवौ विचक्षे विगतदर्शनाय औघत्तं दत्तौ दर्शनीयाव-
धिनौ भिषजौ देवभिषजौ भयसादयितारौ । अनर्बन् चशुराघत्तम् अनाश्रि-
तमन्धत्र कश्चित् । स्वप्रधानमित्यर्थः । एवमत्र मेघसंवेन्धादाख्याने च तथा-
र्थतोपपत्तिदर्शनात् 'वृद्धवाशिनी वृक्पुच्यते' इत्युपपद्यते ।

'जोषवाकम्' (६६) इत्यनवगतम् । अविज्ञातनामधेयवच-
नम् । 'जोषयितव्यं भवति' इति शब्दसमाधिः । जोषयितव्यं ज्ञोषयितव्यं
परस्मै तद्भवत्यप्यख्यात् ॥ २१ ॥

य इन्द्राग्नी जुतेषु वां स्तपत्तेष्वृतावृषा । जोषवाकं वदतः १०
पक्षहोषिणा न देवा भसयन्श्चन (ऋ० सं० ६ । ५९ । ४) ॥

य इन्द्राग्नी जुतेषु वां सोमेषु स्तौति तस्याश्रीथोऽय योऽयं जोष-
वाकं वदति विजज्ञपः प्रार्णितहोषिणौ न देवौ तस्याश्रीयः कृतिः
कुन्ततेर्यशो वां वा । महीव कृतिः शरणा त इन्द्र । सुमहत्त
इन्द्र शरणमन्तरिक्षे कृत्तिरिवेतीयमपीतरा कृत्तिरेतरमादेव सूत्र- १५
मय्युपमार्थं वा । कृत्तिवासाः पिनाकहस्तोऽवततधन्वेत्यपि निगमो
भवति । श्वग्नी कितवो भवति स्वं हन्ति स्वं पुनराश्रितं भवति ।
कृतं न श्वग्नी वि चिनोति देवने । कृतमिव श्वग्नी विचिनोति
देवने कितवः किं तवास्तीति शब्दानुकृतिः कृतवान्वाशीनरामकः
सममिति परिग्रहार्थीयं सर्वनामानुदात्तम् ॥ २२ ॥ १६

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'नाव पतं; च. 'नायपिष' य. २ ग. ज.
'वाशिनी; च. 'वाशिनी' सि. ३ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. जोष इत्यत्र. ४
क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'नामधेयमित्यभिधेयवचनम्; च. नामधेय-व' मिर-
मिषेय. ५ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'विज्ञाप'; य. ज. 'ज्ञापयितव्यं' नास्ति; २५
घ. 'तय्य-ज्ञाप' वि. ६ क. ख. ३ (२२); ग. १५; ठ. ड. इति निरुक्टीकार्यं
पञ्चमाध्याये एकविंशतिः खण्डः; इतरेष्वङ्गो नास्ति. ७ स्तौति तेष्वृतावृषादयितारौ
न तस्या इति साधनमुदीतपाठः. ८ क. ख. छ. त. द. वा अर्ध. ९ छ. त.
द. 'जोषिष'. १० क. ख. 'मय्युप'; त. द. 'मय्युप' य्यु. ११ ड. य. घ. कृति
इतिन जाचा पिनाक निद्रा गहीत्यपि. १२ छ. त. 'तय्यनं; द. 'तय्यनं' सु.
१३ क. ख. ॥ (२२); छ. त. २५; द. ४.

य इन्द्राग्नी सुतेषु वीमिति । भरद्वाजस्येयमार्पम् । बृहती । हे इन्द्राग्नी
 यो यजमानः सुतेषु अभिपुतेषु सोमेषु युवां
 'जोषवाकम्' स्तवत् स्तौति तेषु तेषु कर्मसु श्रुतावृधा सायव-
 इत्यस्य र्धयितारौ यज्ञवर्धयितारौ उदकवर्धयितारौ वा
 तस्य युवामश्रीयः । स युवयोर्विदुमत इत्यभि-
 प्रायः । अथ पुनर्योऽयं जोषवाकम् अविज्ञातं किमपि उपांशु वदति विजे-
 ज्ञापः केवलमुदकतीरेऽवस्थितोऽन्यत्र वा । जपनशील एव न कर्मकारीत्य-
 मिप्रायः । तस्य जोषवाकं वदतः हे प्रौर्जितहोषिणौ प्रभूतयागौ । 'यदि-
 न्द्रश्चाग्निश्च भूयिष्ठभाजौ देवतानां तस्माद्ब्राह्मणश्च राजा च भूयिष्ठभाजौ
 मनुष्याणाम्' (मैत्रा० सं० ४ । ७ । ८) इति ह विज्ञायते । हे देवौ
 न भस्मध्वन न कदाचिदपि तस्य हवींषि भक्षययः । तेन युवयोर्नासौ
 बहुमत इत्यभिप्रायः । अत्र 'जोषवाकं वदतो न भसथः' इत्येतद् दृष्ट्वा 'यः
 सुतेषु सोमेषु स्तौति तस्य' भसथ इत्येतदध्याहृतं भाष्यकारेण । एवमत्र
 विजज्ञरस्य भक्षयितव्याभावान्नपस्य चोपांशुस्वाभ्याग्यात् 'जोषवाक'-
 शब्दोऽविज्ञातनामधेयमिष्युच्यते ।

'कृत्तिः' (६७) इत्यनवगतमनेकार्थच । 'कृन्ततेः' इति धातु-
 निर्देशः । 'यशोऽनं वा' इत्यर्धवचनम् । कर्त्तनमिति न्याय्यम् । यशो हि
 द्विषतां मर्माणि कृन्तति । अन्नमप्यसम्यगुपयुक्तमायुरेव कृन्तति । 'तमुं
 त्वा नूनमेमुर प्रचेतसं राधो' भागमिवेमहे । महीव
 'कृत्तिः' इत्यस्य कृत्तिः शरणां तं इन्द्र प्र ते मुञ्चो नो अश्ववन्'
 (ऋ० सं० ८ । १० । ६) ॥ नृमेधसः प्रियमेधसश्चेयमार्पम् । चतु-
 विंशदिषु सौत्रिकेष्वहःसु माष्यन्दिने ब्राह्मणाच्छंसिनः शस्ये स्तोत्रियानु-
 रूपवर्गे विनियुक्ता । तमु त्वा हे असुर प्रज्ञावन् प्रचेतसं विवृद्धप्रज्ञानं

- १ क. ख. घ. ङ. ट. वा० भसथश्चन भर०; ठ. ड. य इन्द्राग्नी इति. २. क.
 २५ ख. ग. ज. तेषु सङ्देश. ३ ग. ज. 'यज्ञवर्धयितारौ' नास्ति; च. यज्ञस्य व०.
 ४ ग. ज. विविजज्ञपः; च. विविजज्ञपः. ५ ग. ज. प्रातर्जित०. ६ क. ख. घ.
 ङ. ट. ठ. ड. 'त्युपपद्यते. ७ ग. ज. द्विषमर्मा'. ८ ग. 'ति । ७८ । तमुं'. ९
 ग. ज. प्रचेतमदा नृभे०; घ. ट. य० सुम्रा नो अश्ववन्. १० च सुञ्चो नो अश्ववन्
 न्वा. ११ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'मार्पम् । स्तोत्राग्नी । ऐन्द्री । चतु.' ११
 '१० च. सावित्रेण' विजे.

राधः धनं स्यमिव पित्र्यं भागम् उत्पन्नं प्रणयित्वादीमहे याचामहे । तं नो देहि । स्थिरशरीराणां तदेतदस्तु नः । किंच । महीव कृत्तिः महदिव यशो महद्वा अन्नं शरणा शरणं गृहं ते तव हे इन्द्र यत् अन्तरिक्षलोके तदहं प्राश्रयम् । तदहं सोमं सुन्वानस्तस्याभिपवकर्मणो माहाभागेन येन त्वत्सा-
युज्यमभ्रयां देहपातोत्तरकालम् । इह चामुत्र चैवेवं नः फलद्वयमस्तु त्वत्
इत्यभिप्रायः । यशो हि विस्तीर्णं भवति । तेन हि गृहस्योपमानमुपपद्यते ।
यदनुप्रविष्टानामशर्मापिपासे न स्तस्तदहं तव गृहं वाश्रयाभित्येयमन्नेनो-
पपद्यते ।

‘इयमपीतरा कृत्तिरेतस्मादेव’ सूत्रमयी । कन्धेति या प्रसिद्धा साप्ये-
तस्मादेव कृन्तते । सा हि वस्त्राययैः कृत्तै-
‘महीव कृत्तिः’ प्रथिता भवति । ‘उपमार्ये वा’ । चर्मापि कृत्ति-
इत्यत्र कृत्तिरुपमार्ये रित्युच्यते । तयेतरा सूत्रमप्युपमीयते विकर्तन-
स्यात् सामान्यात् । कृत्तिरेव कृत्तिः कन्धा । ‘कृत्ति-
धाताः पिनाकहस्तोऽवततधन्वा’ इति । व्याख्या-

तोऽयमष्टमे निगमः (निरु० ३ । ८) ।

‘श्वत्री’ (६८) इत्यनवगतम् । ‘कितवो भवति’ इत्यभिधेयव-
चनम् । ‘स्वं हन्ति’ इति शब्दोपुत्पत्तिः । स्वहा इति न्याय्यम् ।
विग्रहप्रसक्तमुच्यते । ‘स्वं पुनराश्रितं भवति’
‘श्वत्री’ इत्यस्य तद्धि स्वामिनमाभिमुख्येन श्रितं भवति स्वत्वेन ।
‘कृतं न श्वत्री वि चिनोति देवने संवर्गो यन्म-

१ घ. झ. ट. ठ. ड. ‘स्वमप्रण’; य. ‘पञ्च प्रण’ ज. २ घ. झ. ट. तञ्जो;
३ ‘तनो’ तञ्जो; ठ. ड. तेनो० ३ क. ख. घ. झ. ट. ड. ‘अवम् (व. झ.
४. ठ. ड. ‘अवम्) । किंच । ते तव सुभ्रा सुभ्रानि त्वत्संबन्धिनि सुभ्रानि । त्वज्जो-
ग्यानीत्यर्थः । यदा सुभ्रानि सुखसाधनान्पुनरप्रभृतीनि प्राप्नु (ठ. ड. प्राप्नु) गमहम् ।
तदहं; ॥ ‘अवम्’ तदहं किंच ॥ ४ प्राप्नुगमहम्. ४ च. मश. ५ क. ख. घ.
झ. ट. ठ. ड. चैतनः. ६ घ. झ. ट. ठ. ड. ‘शुभायापि’; य. ‘शनायापि’ या.
७ क. ख. घ. झ. ट. प्राप्नु; ॥ नोरु’ प्रा; ठ. ड. प्राप्नुया. ८ घ. झ.
ट. ठ. ड. ‘मयेनाप्युव’ ९ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘ह्रमऽप्याये नि’ १०
य. स्वहा ११; ज. स्वाहा. ११ ग. ज. ‘सादृते’; य. ‘साधितं’ यि. ११ ग. ग.
दाते. १२ य. ‘व । ८० । वृत्तं. १४ ग. ज. ‘नोनीति । कृष्ण’; य. ट. ‘नो
ति देवने० मोत नूनः.

घवा सूर्ये जयत् । न तत्ते' अन्यो अनु वीर्यं शक्य पुराणो मधवज्ञोत
नूतनः' (ऋ० सं० १० । ४३ । ५] ॥ कृष्णस्याङ्गिरसस्येयमार्यम् ।

ऐन्द्री । जगती । तार्क्षीयसत्रनिके विनियुक्ता (आश्व० श्रौ० ६ । १) ।
उक्थपर्याये ब्राह्मणाच्छंसिनः शस्त्रे (आश्व० श्रौ० ८ । ३) । यथा

५ कृतादीनां दायानां मध्ये कितवः कृतं विचिनोति देवने आस्फोरे-
ऽपि नामात्र कृतं स्थान्ततो ज्येयमहमित्येवं मधवा इन्द्रः संवर्गम् उदकं-
संवर्जयितारमन्तारिक्षे बहूनां मेघानां मध्ये विचिनोति कतमस्त्वेपां मेघा-
नामुदकदाने समर्थ इति । तं विज्ञाय यदजयत् यदैपः सूर्य सुष्टु ईराधितारमपां
न तत्ते न चान्यः कश्चित् अनु वीर्यं शक्य । तत्र वीरकर्म भौवत्कमन्यः

१० कश्चिदनुकर्तुमन्यशक्तः । नापि पुराणो नापि नूतनः । नव इत्यर्थः । न
पूर्वे चक्रुर्नापरे करिष्यन्तीत्यभिप्रायः । कृतसंख्यादेवनसंबंधाच्च 'श्वग्नी
कितवः' इत्युपपद्यते । अस्य मन्त्रस्य पूर्वोऽर्धर्चः परोक्षकृतः । स एव
विपारिणमयितव्यः । अत्र चोक्तः समाधिः ।

निगमप्रसक्तमुच्यते । 'कितवः' इत्यस्य शब्दस्य 'किं तवास्तीति'

१५ एषा 'शब्दानुकृतिः' । स हि नित्यकालमेव
कितवशब्दस्य दिदेविषुः प्रतिदेवितृभिः कितवैः पृच्छयते किं
व्युत्पत्तिः तवास्तीति । तस्माच्छब्दानुकरणास्कितव एव स
वभूव । अथवा 'कृतवान्' अयं यथा स्यादि-
त्येवमसावाशास्यते मुहुरित्येः कितवैः सह । तस्मादेवमाशासेनात्
२० 'आशीः' निमित्तं नामकः 'कितव एवासौ वभूव ।

१ ग. ज. 'ऐन्द्री' नास्ति; च. 'मार्ग' । २ जग 'ऐन्द्री'. ३ क. ख. प. स. ट. ठ. ड. 'निकेषु उक्थपर्यायेषु वा'. ४ क. ख. प. स. ट. ठ. ड. 'शस्त्रे विनियुक्ता । यथा' च. शस्त्रे- । यथा'; च. ५ क. ख. प. स. ट. ठ. ड.

यथात्र कृ'; च. यथात्रेण' क' ग्रह. ५ क. ख. प. स. ट. ठ. आस्तारे;
१५ ग. आस्तुरे'; ज. आस्तुरे; ट. आस्तुरे' स्का. ६ घ. झ. ट. ठ. ड. कृतं
यत्स्यात्'; च. कृतं-स्यां यत्. ७ ग. ज. 'दकं सं'; च. 'दकं सं' ८. ८ ग. ज.
'तं' नास्ति. ९ क. ख. प. स. ट. ठ. ड. 'यदयः' नास्ति; च. 'जयन्
यदैपः सूर्य'. १० क. ख. प. स. ट. ठ. ड. तवान्यः; च. न चो' तवा. ११ क.
ख. प. स. ट. ठ. ड. तदी'; च. तत्र वी' त्. १२ क. ख. प. स. ट.
झ. ड. तावदमन्यः; ग. ज. भावात्क'; च. भावात्क' व. १३ घ. स. ट. ठ.
ड. एवं. १४ क. ख. प. स. ट. ठ. ड. 'तरेः । स हि तस्मा; च. 'तरेः सह
१२ । तस्मा' । स हि.

‘समम्’ (६८) इत्येतत् ‘परिग्रहार्थाय सर्वनाम’ । तत्पुनरेतत्
‘अनुदात्तम्’ । ‘त्वत्तन्नेमसमसिमेत्यनुच्चानि’ इति ह्युक्तम् (निरु० १ ।
७) । विप्रतिपन्नस्वरत्वाद्ग्न स्वरो भाष्यकारेणावधृतोऽनेकार्थताप्यस्य
भवतीत्येतत्प्रदर्शितम् ॥ २२ ॥

५

‘मा नः समस्य दूढ्यः परिद्वेषसो अंहातिः । ऊर्मिर्न नावमा
वधीत् (ऋ० सं० ८ । ७५ । ९) ॥ मा नः सर्वस्य दुर्धियः
पापधियः सर्वतो द्वेषसोऽहतिरूर्मिरिव नावमावधीदूर्मिरूर्णोतेनाः
प्रणोर्त्तव्या भवति नमतेर्वा तत्कथमनुदात्तप्रकृति नाम स्याद् द्वैष्ट-
व्ययं तु भवत्युतो समस्मिन्नाशिशीहि नो वसो इति सप्तम्यां १०
शिशीतिर्दानकर्म । उरुप्या णो अधायतः समस्मादिति पञ्चम्या-
मुरुप्यती रक्षाकर्मायापि प्रथमावहुवचने । नभन्तामन्यके ‘समे’
॥ २३ ॥

‘मा नः समस्य दूढ्ये’ इति । विरूप आङ्गिरस एतामाग्नेये सूक्ते ददर्श । १५

‘समस्य’ दशरात्रस्य तृतीयेऽहनि प्रातःसवन आग्नेये सूक्ते
इत्यस्य विनियुक्ता (आश्र ० श्रौ० ७ । १०) । हे
भगवन्नग्ने युष्मत्प्रसादात् मा नो मास्मान् समस्य
सर्वस्यैव दूढ्यः दुर्धियः पापधियः परिद्वेषसः

१ ग ज. अज्ञातिनत्वसमसिमेत्यनुच्चानित्युक्तं । मसिमेत्यनुर्वानीति ह्युक्तं । विप्र°; २०
च. श्री त्वत्तन्नेमसमसिमेत्यनुच्चानित्युक्तं । विप्र°. २ क. ख. घ. ङ.
ट. ठ. ड. ‘द्वय भाष्यकारेण स्वरोऽवधृतः । पक्षेण स्वाप्यनेका°; ग. ज. ‘द्वय स्वरो
भाष्यकारेण गनेकार्थ°; च. ‘द्वय स्वरो भाष्यकारेण ‘नेकार्थ° स्वरोऽवधृतः । पक्षेण
चा. ३ क. ख. ग. ज. घ. ङ. ट. ठ. ड. ‘दर्शितं भाष्यकारेण; च. ‘दर्शितं
मार्थ्यकारेण. ४ क. ख. ४ (२२); ग. ङ. ट. ड. ॥ २२ ॥ इति निरुक्तटीकायां २५
पञ्चमाप्यये द्वाविंशतिः खण्डः; इतरेष्वङ्गो नास्ति. ५ क. ख. छ. त. द. द्वेषसो
अंह°. ६ ठ. ड. प्रणोतव्या. ७ क. ख. द. इष्ट°. ८ क. ख. छ. त. द.
भवति । उतो°. ९ क. ख. छ. त. द. ‘व्यतिरिक्तकर्मकः । अथा°. १० क. ख.
५ (२२); छ. त. २६; द. ५. ११ क. ख. घ. ङ. ट. दूढ्यः (मावधीत् ।
विरु°; ग. ज. दूढ्यः परिद्वेष इति । विरु°. १२ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड.
ददर्श । मायवी° आग्नेयी । दस°; च. ददर्श । ‘दस° मायवी आग्नेयी. १३ क. रा.
घ. ङ. ट. ठ. ड. आग्ने; ग. ज. आग्नेयसूक्ते°; घ. आग्ने° ये. ३२

सर्वतो द्वेष्टः स्वभूतिः अंहतिः । वव इत्यर्थः । ऊर्मिर्न ऊर्मिरिव । यथो-
र्मिर्नान्यमाभिमुख्येन गत्वा वधयत्येवमंहतिरस्मान् द्वेष्यप्रहितो मर्मा वधीदिति ।
एवमत्र सर्वस्यादेव द्वेष्टुर्धस्यानभीष्टत्वात् 'समस्य' इत्येतत्सर्वनामेऽप्युपपद्यते ।

५ 'ऊर्मिरूणोतेः' आच्छादनार्थस्य (घा० २ । २९) । सा ह्याच्छा-
दयति तीरमुदकमध्ये वा यदन्यद्भवति । 'नौः प्रणोत्तव्या भवति' पार-
गमनाय । 'नमतेर्वा' स्यात् । सा हि प्रहोभूतेव भवति पारगमनाय ।

आह । यदेतत्सममिति शब्दरूपम् 'अनुदात्तप्रकृति' अनुदात्तस्थभावं

१० 'समम्' अनुदात्त- सत् कथं नाम स्यात् । अनुदात्तप्रकृतयो हि
प्रकृति सदपि नामैव निपाता उदात्तप्रकृतीनि नामानि भवन्तीति ।
उच्यते । 'द्रष्टव्यं तु' एतच्चस्मादननुदात्तप्रकृतिव्यतिरिक्तं
सति तस्मान्नामैवेतत् भवति । आह । क पुनरस्य व्ययो दृष्ट इति । उच्यते ।

'उतो समस्मिन्ना शिशीहि नो वसो इति सप्तम्यां' व्ययो दृष्टः । 'विद्या
संखित्वमुत्तं शूर भोज्यं १ मा ते ता वज्रिनी-
यस्मात्तस्य व्ययो महे । उतो समस्मिन्ना शिशीहि नो वसो वाजं

१५ दृष्टः सुशिप्र गोमति (ऋ० सं० ८ । २१ । ८) ॥

'सोभरेरार्पम् । सतोवृहीती । अख्यानसूक्ते
विनिपुक्तः । विद्य विजानीमो वयं सखित्वं सखिभावम् । उत अपि च

'समस्मिन्' इति मित्राणाम् । यतो वयं आ ईमहे आभिमुख्येन
स्थित्वा याच्नामहे ते तव यानि धनानि । किंच ।

२० सप्तम्याम् उतो अपि च समस्मिन्नाशिशीहि नः । देहस्माकं

१ क. ख. ग. ज. घ. झ. ट. ठ. ड. स्वभूतः. २ क. ख. प. झ. ट. ठ.
ड. 'यति वैश्वमे'. ३ ग. ज. स्मादेः; च. स्मादे' न. ४ क. ख. प. झ. ट.
ठ. ड. 'दितोऽप्यधी'. ५ क. ख. प. झ. ट. ठ. ड. देशुर्वयानभीष्टः; म. ज.

२५ दिष्टुर्वयानभीष्टः; च. दिष्टु' दे. ६ क. ख. प. झ. ट. दुष्टः; च. द्रष्टु' दृ. ७ च.
द्रष्टः. ८ ग. दृष्टः । ८२१ निजा; च. द्रष्टः' दृ. ९ ग. ज. 'मुन शूर भोज्यमिति;
घ. ट. 'मुन० सुशिप्र गोमति. १० च. इति सोम'. ११ क. ख. घ. झ. ट. ठ.
ड. 'हती । ऐन्द्री । आस्या'; च. 'हती' ; आस्या' ऐन्द्री. १२ घ. झ. ट.
ठ. ड. 'वि' नास्ति. १३ क. ख. प. झ. ट. ठ. ड. भोज्यमंशोपजीव'; ग. ज.
भोज्यनां शोपजी'; च. भोज्यतां सोम' मंशोप. १४ क. ख. प. झ. ट. ठ. ड.

११ समस्मिन् सर्वस्मिन्नाशि'; च. समस्मिन्-आशि' सर्वस्मिन्.

हे वसो वसुमनिन्द्र । क पुनराशिशीहि न इति । वाजे । अत्र इत्यर्थः । हे सुशिष्य हे सुनस अथवा हे सुहनो गोमति गोमिस्तद्वति । अनेऽस्मान् प्रति-
ष्ठापयेत्यर्थः । एवमत्र समस्मिन्निति सप्तम्यां व्ययो दृष्टः ।

‘उरुष्या णो अघायतः समस्मादिति पञ्चम्यां’ व्ययो दृष्टः । ‘स नो
वोधि शुधी हवमुरुष्या णो अघायतः समस्मात्’ ५

‘समस्मात्’ इति (ऋ० सं० ५ । २४ । ३) । श्रुतवन्धो-
पञ्चम्याम् राषेयी । द्विपदा । अग्न्युपस्थाने विनि-
युक्ता (मैत्रा० सं० १ । ५ । ३) । यस्व-
मेवंप्रभावः । यथाप्रभावं त्वां वयमवोचाम । स त्वं हे भगवन्नग्रे वोधि
बुध्यस्वात्माकमभिप्रायम् । शृणु चाह्वानामिदम् । आहूतश्च उरुष्या णः १०
उपगम्यास्मान् अघायतः पापमिच्छतः समस्मत्सर्वस्मात्पाहि । एवमत्र
समस्मादिति पञ्चम्यां व्ययो दृष्टः । तस्माद्वेषदर्शनात् ‘दृष्टानुविधिदृष्टन्दसि’
भवतीति कृत्यानुदात्तप्रकृतित्वेऽपि सति नामैतद्भवतीत्युपपद्यते ॥ २३ ॥

‘हविषां जारो अपां पिपतिं पपुर्निरा । पिता कुटस्य चर्पणिः’ १५
[ऋ० सं० १ । ४६ । ४] ॥ हविषापां जरयिता पिपतिं पपु-
रिरिति पृणातिनिगमौ वा प्रीणातिनिगमौ वा पिता कुतस्य कर्म-
पञ्चायितादित्यः शम्भ इति वज्रनाम शमयतेर्वा शतयतेर्वा ।
उग्रो यः शम्भः पुरुदूत तेनेत्यपि निगमो भवति । केपयः कपूया
भवन्ति कपूयमिति पुनाति कर्म कुत्सितं दुष्पूयं भवति ॥ २४ ॥ २०

‘कुटस्य’ (७०) ‘चर्पणिः’ (७१) इत्येते अनवगते । ‘कुतस्य’ ‘चायिता’
इत्येते शब्दसमाधी । एक एव निगमः । हविषा
‘कुटस्य चर्पणिः’ आरो अपांमिति । प्रस्तुतस्यैवमार्गम् । आदिवनी ।
इत्यस्य प्रातरनुवाक्यादिवनयोः शस्यते [आश्व० श्रौ० २५
४ । १५] । हे नरो अदिवनी युवामेव आदित्यः २५

१ ग. दृष्टः । ८३ । व०. २ घ. ट. शुधी० समस्मात् ३ च. ‘स्याने’ ५.
४ क. ख. ५ (२३); ग. दृष्टः इत्येवमत्रो नास्ति. ५ क. ख. ६ (२४);
उ. त. २७; द. ६. ६ प. झ. ट. अपां००० चर्पणिः प्रस्तु. ७ क. ख. घ. झ.
ट. ठ. ड. ‘इयं’ नास्ति. ८ ग. अ. नपञ्चिनी; च. नरादिवनी. २५

स्पृष्टादिभिः । किंच । स त्वमेतदेवंगुणकमस्मैम्यमन्नं ददत् कृषिं कुरुष्व इमां
धियम् एतत्कर्म वाजरत्नां वाजरमणीयाम् । प्रचुरेणाग्नेन यथैतस्मिन्कर्मणि
वर्तमाना रमेमहि तथा कुरुष्वेत्यभिप्रायः । धीरिति कर्मनाममु पठितं
' धीः शची ' [निघ० २ । १ । २१] इति । एवमत्रापत्राधनसं-
न्धात् ' शम्भः ' इत्येतद्वज्रनामेत्युपपद्यते । अपठितमेतद्वज्रनामस्वित्यतोऽ-
प्रसिद्धार्थम् । तस्यैवं प्रकरणादर्थसिद्धिर्भवति ।

' केपयः ' (७३) इत्यनवगतम् । ' कपूयाः ' ह्येते सन्तः
केपय इत्युच्यते । आह । ' कपूयामिति ' किमुक्तं भवति । उच्यते । यदेतत्पा-
पकारी प्रायश्चित्तेन ' पुनाति कर्म कुत्सितम् ' यच्च तत् ' दुःपूयं ' दुष्प्रावं
' भवति ' पूयमानमप्येतत् ' कपूयम् ' इत्युच्यते ॥ २४ ॥

पृथक्प्रायन्मथमा देवहूतयोऽकुण्वत श्रवस्यानि दुष्टरा । न ये
शेकुर्यज्ञियां नावमारुहमीमेव ते न्यविशन्त केपयः (ऋ० सं०
१० । ४४ । ६) ॥ पृथक्प्रायन्पृथक्प्रथतेः प्रथमा देवहूतयो ये
देवानाह्वयन्ताकुर्वत श्रवणीयानि यज्ञांसि दुरनुकराण्यन्यैर्यज्ञ-
वनुवन्यज्ञियां नावमारोहुमथ ये नाशक्नुवन्यज्ञियां नावमारोहुमी-
मेव ते न्यविशन्तेहैव ते न्यविशन्त ऋणे हैव ते न्यविशन्तास्मि-
न्नेव लोक इति वेर्म इति बाहुनाम समीरिततरो भवति । एता
विहन्ता सर्वना तूतुमा कृपे स्वयं सूनो सदसो यानि दधिपे ।
एतानि सर्वाणि स्थानानि तूर्णमुपाकुरुष्व स्वयं बलस्य पुत्र यानि
धत्स्वांसत्रमहसर्वाणं धनुर्वा कवचं वा कवचं कु अश्वितं भवति
काश्वितं भवति कायेऽश्वितं भवतीति वा ॥ २५ ॥

१ घ. स. ट. ठ. ड. "स्मयं अग्निं स्तोत्रे अन्नं; च. "स्मयमन्नं" म्ये अग्निं
स्तोत्रे अ. २ घ. स. ट. ठ. ड. यथैतत्कर्षणि. ३ ग. च. ज. दुःप्रावं. ४ क. ख.
६ (२४); ग. ३६; ठ. ड. २४ । इति निरुक्तीकायां पञ्चमाध्याये चतुर्विंशतिः
खण्डः. ५ छ. त. द. "रोल्हुम"; य. "रोल्हुम". ६ छ. त. द. कणेनेव ते. ७
ठ. ड. वा ईर्ध. ८ त. घ. "सत्राणं. ९ क. ख. ७ (२५); छ. त. २८; द. ७.

ब्रह्मोद्यतं वचः [ऋ० सं० १० । ५० । ६] ॥ इन्द्रस्य वैकुण्ड-
स्थेयमार्पम् । ऐन्द्रे सूक्ते निविद्वानीये महाव्रते महदुक्थे शस्यते [ऐ०
आ० । ५ । ३ । १] । एता एतानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि स्थानानि
त्वमुपागम्योपगम्य तेन तेन देवतात्मना कुरुष्व । निर्वर्तयेत्यर्थः । आह ।
कृतमानि पुनः स्थानानि । उच्यते । स्वयं सुनो सहसो यानि दधिपे । ५
हे सुनो सहसो बलस्य पुत्र यान्येतानि स्वयम् एव दधिपे धारयसि तानि
त्वमेव कुरुष्व । यत एव त्वमेव धारयिता स्रष्टा चास्य जगतोऽत एत-
स्मात्कारणात् वराय वरयितव्याय ते तव पात्रम् एतस्मिन्मूर्ध्नि प्रदिशामो
धर्मणे धारयित्रे । तना च धनं च सर्वं तवैव । यज्ञश्च कृत्स्नस्तवैव । मन्त्रश्च
कर्मकरणस्तवैव । ब्रह्म चाभं तवैव । उद्यतं चैतदनेकप्रकारमपि स्तुति- १०
लक्षणं वचः तवैव । एवमत्र शब्दसारूप्यात् 'तूतुम्' इत्येष शब्दः
'तूर्णम्' इत्येवमुपपद्यते । करणसंबन्धाच्च । यद्वि कर्तव्यं भवति तस्य तूर्ण-
मेव करणमिष्यते कर्तुमिः । तस्याहुपपद्यते । 'आहुपे' इत्यत्रापि षड्वि
क्रियते तदुपागम्याभिमुख्येनैव स्थित्वा क्रियत इति 'उप' शब्दोऽत्र
भाष्यकारेणाध्याहृतः । १५

अत्र 'सूनो सहसः' इत्येतस्माद्विशेषलिङ्गादाग्रेयमेतामृचं कृत्वा
केचिद्वयाचक्षतेऽग्निर्हि ब्रह्मेन मध्यमानो जायत इति । तथाहि प्रकरण-
विरोधो भवति । सूक्तं होतदैन्द्रम् । ऐन्द्रेऽसौ 'सूनो सहसः' इत्य-
नयोः पदयोरर्थयोजना । अभिदेवताभावेन प्राण इन्द्रो व्यवस्थितः । तस्ये-
तरो यः प्रज्ञासु व्याविष्टः प्रोणः स पुत्र इत्येवमुपपद्यते पितृपुत्रमात्रः । २०
तदुक्तं 'प्राणो या अहमस्म्यूपे प्राणस्त्वं प्रोणः सर्वाणि भूतानि'
[ऐ० आ० २ । २ । ३] इति ।

१ ग. ज. इन्द्रोऽसौ; च. इन्द्रोऽसौ एव. २ घ. झ. ट. 'मार्च' । जगती ।
ऐन्द्रे; च. मार्च । ऐन्द्रे जगती. ३ घ. झ. 'विश्वा' नास्ति; ट. एतानि
विश्वानि विश्व. ४ ग. ज. 'उपागम्य'; च. 'उपोपगम्य' वा. ५ क. रा. घ. झ. २५
ट. ठ. ड. एवं कुरुष्व अत्र एव त्वमे; च. एवं त्वमे कुरुष्व इति एव. ६ क. रा. घ.
झ. यदि कर्म तस्य; ट. यदि कर्म कर्तव्यं भवति; ठ. ड. यदि कर्म कर्तव्यं.
७ क. रा. घ. झ. ट. ठ. ड. 'त्वे त्वस्य'. ८ क. रा. घ. झ. ट. ठ. ड. प्रजासु;
ग. ज. प्रजासु-पाणाविष्टः. ९ क. रा. घ. झ. ठ. ड. प्राणस्तु पुत्र; ट. प्राणस्तु
पुत्रः स. १० ग. ज. 'दमस्य' (ज. रन) हे प्राण; च. 'दमस्येति माय'
रन्पुत्रे. ११ ग. च. ज. प्राणाः.

विधं हि सा कुर्वाणा शब्दं ताहोनि 'वर्णाञ्जुदति' । तस्माद्वा कोकुवा-
 दनात् फाकुदं स्यात् । आह । जिह्वैव तावत्कस्माज्जिह्वस्यभिधीयत इति ।
 उच्यते । सा हि 'जोदुवा' सती जिह्वेन्युच्यते । तथा प्राणिनोऽनमाम-
 न्येव जुहति अथवा तथाहयन्तीति जोदुवा । अथ 'ताहु' कस्मात् । उच्यते ।
 ५ रौद्धि 'तीर्णतरम्' इतरेभ्योऽङ्गेभ्यो विस्तीर्णत्वेन भवति । 'उततेर्वा स्यात्'
 आद्यन्तविपर्ययेण 'यथा नलम्' इति । समानजातीयशब्दोपपदसंज्ञं
 दृष्टवतीत्यर्थम् । अथैव उततेर्लभ्यनार्थस्य 'उता' इत्येतच्छब्दरूपमवि-
 पर्ययेण भवति ॥ २६ ॥

- १० सुदेवो अति वरुण यम्भं ते सप्त सिन्धवः । अनुसरन्ति
 फाकुदं मूर्ध्नि मुषिगामिव (ऋ० सं० ८।६९।१२) ॥ सुदे-
 वम्भं कन्याणदेवः कमनीयदेवो वा भवमि वरुण यस्य ते सप्त
 सिन्धवः सिन्धुः स्वरूपाद्यस्य ते सप्त सोतामि तानि ते फाकुद-
 मनुसरन्ति मूर्ध्नि कन्याणोमि सोतः मुषिगमनु यथा वीरिटं ती-
 १५ किरन्तरिक्षमेवमाह पूर्वं वयनेकस्तरमिरनेभ्योऽतीरन्त्यस्मिन् भागि
 या तदेतस्यामृत्सुदाहरन्त्यपि निगमां भवति ॥ २७ ॥

मुदेवो असि वैरुणेति । प्रियमेधस आर्यम् । अनुष्टुप् । हे वरुण
 'काकुदम्' शोभनस्त्वमासि देवो यस्य तव एताः सप्त
 इत्यस्य प्रयोगः सिन्धवः अन्तरिक्षनद्यो वा बहुलाहेत्येवमायाः ।
 'अश्वा नामासि नितुन्ना नामासि अग्रपत्नी नामासि
 'नामासि मेवपत्नी नामासि वर्षयन्ती नामासि पुरस्तादर्हन्वा नामासि'
 इति सिन्धुशब्देन नद्य उच्यन्ते सप्तैताः । समुद्रा एव वा सप्त
 सिन्धुशब्देनोच्येरन् । काकुदं तालु अनुक्षरन्ति सूर्भि सुपिरां नगरोदकानिः
 सरणभ्रमिम् इव । सर्वतः समवसृज्येयमित्रायः । एवमत्र सिन्धुनुक्षरणसं-
 बन्धात् 'तौलु' इत्युपपद्यते । दुर्वचनं सर्वस्य मन्त्रस्य कृत्स्नाध्ययने
 प्रयोजनम् । अन्यासु हि ऋक्षु यो एतस्मिन् प्रकरणे कृत्स्ना अधीतास्तासु
 समान्नातेभ्यः पदेभ्योऽन्यान्यप्यनवगतसंस्काराग्यनेकार्थानि वा सन्तीति
 तदुपपददर्शनाय कृत्स्नाध्ययनम् । अस्यां पुनस्तदपि नास्तीत्येवं दुर्वच्यत्वम् ।
 अथवा काकुदशब्दस्य प्रयत्नान्वेष्यत्वात्कृत्स्नेयमृगधीता स्यात् ।

'वीरिटम्' (७७) इत्यनवगतं पक्षेण चानेकार्थम् । भीरस्मिस्तन्यत
 इति भीतननम् अन्तरिक्षम् । निरलम्बनत्वात्सर्व एव त्रिभेति । तदेवं
 'भीतननं' सत् 'वीरिटम्' इत्युच्यते । अथवा भासोऽत्र नक्षत्रादीनां
 तन्यन्ते । तदेतत् भासन्ननं सत् 'वीरिटम्' इत्युच्यते । गणाभिधान-
 क्षेऽपि यथासंभवं योज्यम् ॥ २७ ॥

१ घ. झ. ट वरुण० सुपमिव । प्रिय०. २ ग. ज. वा बहुलत्वेव ; च. २०
 वाचदुल्लवेत्येव० श्वे; घ. झ. ट. वा बहुलाहे०. ३ क. ख. तितुन्ना; ग. ज.
 नितुन्नी; च. नितुन्नी० आ. ४ ग. ज. 'अग्रपत्नी नामासि' नास्ति. ५ घ. ट. ठ.
 व. वर्षयती; झ. वर्षयती. ६ ग. ज. 'दरंधा'. ७ ग. ज. इति सप्तेन काम उपधी
 सप्तैषा समुद्रा; च. 'सीति तस्मै न दानं उपधी तस्मै समुद्रा' सिन्धुशब्देन नद्य उच्यन्ते
 सप्तैताः. ८ ग. ज. सूर्भि सुपि०. ९ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'रगभूमिमि'; ग. २५
 ज. 'रणप्रनामिव, च. 'रणभ्रमि' भू १० क. ख. घ. झ. ट. समवसृज्येत्य०; ग. ज.
 समवसृज्येत्यभि०; च. समवसृज्येत्य० श्रुवो; ७. ड. समवसृज्येत्य०. ११ क. ख. घ.
 झ. ट. ठ. ड. 'घातफाकुदं तालु'; च. 'घातफालि' त्काकुदं ता. १२ क. ख. घ.
 झ. ट. ठ. ड. दुर्वचनं. १३ ग. ज. यान्यकरणे. १४ क. ख. घ. झ. ट.
 ड. 'कृत्स्ना' नास्ति; ट. 'रमेऽधीताः' कृत्स्ना अ. १५ क. ख. घ. झ. ट. ठ.
 ड. 'तद्' नास्ति. १६ ग. च. ज. 'रिट इ'. १७ ग. ज. 'अत्र'
 नास्ति. १८ च. भासन्ननं. १९ क. ख. १ (२७); ग. ३; ठ. योज्यम् । इति
 निरुक्तदीक्षायां सप्तविंशतिः खण्डः; च. २७ खण्डः २७; इतरेष्वङ्को नास्ति. ३३

प्र वाहृजे सुप्रया वहिरेपामा विस्पतीव धीरिटे इयाते । विशा-
 मक्तोरुपसंः पूर्वदूतौ वायुः पूषा स्वस्त्ये नियुत्वान् (ऋ०
 सं० ७ । ३९ । २) ॥ प्रवृज्यते सुमायणं वहिरेपामेवाते सर्वस्य
 पातारौ वा पालयितारौ वा धीरिटमन्तरिक्षं भियो वा भासो वा
 ५ ततिरपि वीपमार्थे स्थात्सर्वपती इव राजानौ धीरिटे गणे मनु-
 प्याणां रात्र्या विवासे पूर्वस्यामभिदूतौ वायुश्च नियुत्वान् पूषा च
 स्वस्त्ययनाय नियुत्वान् नियुतोऽस्याम्भानियुतो नियमनाद्वा नियो-
 जनाद्वाच्छाभेराप्तुमिति श्राफपूणिः परीं सीमिति व्याख्याता एन-
 १० मेनामस्या अस्येत्येतेन व्याख्यातं सृणिरदुशो भवति सरणा-
 ददुशोऽश्नतेराफुनितो भवतीति वा । नदीय इत्सृण्यः परमेषादि-
 त्यपि निगमो भवत्यन्तिकतममदुशादायात्परमार्थमागच्छत्वि-
 त्यागच्छन्विति ॥ २८ ॥

इति पञ्चमाध्यायस्य सप्तमः पादः ।

शब्द 'उपमार्थे' एव ' स्यात् ' निरूपती इति । ' सर्वपती इव राजानो
वीरिष्ठे गणे ' अवस्थितौ । आह । कस्य पुनरेयाते कस्मिन्काले एयाते कौ
वा एयाते कं वार्थं पुरस्कृत्य एयाते इति । उच्यते । एषां मनुष्याणां विंशा
तासु तासु क्रियास्वाहूयमानौ अक्तोः राज्ञ्याः अपगमे सति उपसन्धा-
गमनकाले पूर्वस्याम् एव अभिहूतौ प्रथम एवाह्वानकाले वायुश्च नियु- ५.
त्यान् पूषा च स्वस्त्ययनार्थमेयाते यजमानस्य । अन्तरीक्षेणैव हि देवता
आगच्छन्तीति 'वीरिष्ठमन्तरिक्षम्' इत्युपपद्यते । यस्मिन्नपि पक्षे गणो वीरि-
ष्ठशब्देनोच्यते तस्मिन्नपि पक्षे त्रिपती राजानौ सर्वदा गणमध्यगतावेवा-
गच्छत इत्युपपद्यत एव ।

आह । 'नियुत्वा' कस्मादिति । उच्यते । 'नियुतोऽस्याश्वाः' । अथ १०.
'नियुतः' कस्मात् । उच्यते । 'नियमनात्' । नीचैर्हि ते यम्यन्ते । 'नियो-
जनाद्वा' । नियुज्यन्ते हि ते रथे । 'नियुनो वायोः' (निघ० १।१५)
इत्येतस्मात्कारणाद्विप्रकृतोऽपि नियुज्यच्छब्दो वायुशब्देनैव संयोजितो
भाष्यकारेण । न हि पूष्णो नियुज्जिः संबन्धोऽस्ति ।

'अच्छ' (७८) इत्येव शब्दः 'अभेः' अर्थे भवति । 'आसुम् १५
इति' योऽर्थ उक्तः स्यात्स एवार्थोऽच्छेत्यनेनोक्तो
'अच्छ' 'परि' भवति । एवं 'शाकपूणिः' आचार्यो मन्यते ।
'ईम्' 'सीम्' परि (७९) (निरु० १।३) ईं (८०)
'एनम्' 'एनाम्' (निरु० १।७) सीम् (८१) (निरु०
इत्येतेषाम् १।९) इति एते 'व्याख्याताः' धृष्टा- २०
ध्याये निपातोपसर्गप्रकरणे । 'एनम्' (८२)
'एनाम्' (८३) इत्येतत्पदद्वयम् 'अस्याः अस्येत्यनेन' पदद्वयेन 'व्याख्यातौ'
नवमेऽध्याये [निरु० ४।२५] । निगमाश्चात्र मृग्याः ।

१ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. विष्पतीव सर्वे; ग. ज. विष्पती इवेति सर्वपती
इवेति सर्वपती इव वीरि; घ. विष्पती इवेति; व. २ ग. ज. चार्थ. ३ ग. ज.
नियमात्; च. नियमोत् मना. ४ क. ख. घ. झ. ट. ड. 'हिं नियम्य'; च. 'हिं
ते य' नि. ५ ग. ज. नियुज्यन्ति; च. नियुज्यन्ति न्ते. ६ क. ख. घ. झ. ट.
ठ. ड. 'ते' नास्ति. ७ घ. झ. ट. ठ. ड. 'इति' नास्ति. ८ क. ख. घ. झ.
ट. ठ. ड. पष्ठेऽध्याये. ९ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'एतत्' नास्ति.

‘सृणिः’ (८४) इत्यनवगतम् । ‘अङ्कुशो भवति’ इत्यभिधेय-
वचनम् । ‘सरणात्’ इति व्युत्पत्तिः । ‘सरणैः’ इति न्यायम् ।
सरति गच्छति ह्यसौ हस्तिशिरसि । ‘अङ्कुशोऽश्बतेः’ इति पर्यायप्रस-
क्तम् । अश्बति ह्यसौ गच्छति हस्तिशिरसि । ‘आकुचितो भवतीति वा’ ।
स ह्याभिमुख्येन कुटिलभूतो भवति ।

‘युनक्त सीरा वि युगा तनुं ध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम् । गिरा च
श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेवात्’
‘सृणिः इत्यस्य’ [ऋ० सं० १०।१०।१३ वा० सं० १२।६८]
बुधस्येयमार्पम् । अग्नौ मध्यमदान्तपोजने सीरा-

- १० नुमन्त्रणे विनियुक्ता [मान० श्रौ० २।७।१२ ॥ ३।२।४] ।
युनक्त योजयत हे योजयितारः सीराणि । वितनुत चैतानि युगानि ।
कृते कृष्टेऽस्मिन्योनौ क्षेत्रे बीजं वपत यथा गिरा वाचा यथार्थ-
यामर्त्तक्षिप्रमेव असत् भवेत् सभराश्चातिफलभारवत्य एताः स्युरोप-
धयो नोऽस्माकम् । किंच । नेदीय इत्सृण्यः । सृणिरङ्कुशो यावति प्रदे-
१५ शेऽवस्थितमाक्रष्टुं शक्नोति ततोऽपि नेदीयोऽन्नं पक्वम् औषधं प्रचुरत्वादो-
पधीनाम् एवाव् आगच्छेदस्मान् प्रति । तथा शीघ्रं वैदु वपतेत्यभिप्रायः ।
एवमत्र नेदीय इत्यनेन संबन्धात् ‘सृणिरङ्कुशो भवति’ इत्युपपद्यते । अन्ये
तु भुवते । तथा वपत यथा प्राग्दात्राकर्षणांशुष्टिः पूर्वेति दात्रैवेवास्मि-
न्पश्चेऽङ्कुशशब्देनोच्यते तदाकृष्टसस्यस्थौङ्कुशाभावात् । दात्राकर्षणात्माक्

- १० १ घ. झ. ट. ठ. ड. सरणं. २ ग. ज. सर इति गं. ३ क. ख. घ. झ. ट.
ठ. ड. ‘हि’ नास्ति. ४ ग. भवति । ११। युनं; घ. झ. ट. ठ. ड. भवतीति
युनं. ५ ग. च. ज. तनुध्वमिति; घ. झ. ट. तनुध्वं सुग्यः पक्वमेवात्. ६ क. ख.
घ. झ. ट. ठ. ड. मार्षम्. त्रिष्टुप्. वैश्वदेवी कृत्विस्तुतिर्वा. अग्नौ; च. मार्षम्.
अग्नौ त्रिष्टुप् कस्तुतिर्वा. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. वत. तथा वपत यथा;
च. वपतः यथा तथा वपत. ८ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. सत् युष्टिः क्षिप्रं. ९
घ. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. अङ्कुशो भवति याव. १० क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
नेदीयोऽन्न प. ११ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. वट च वप; च. सी (शी) प्रं वट
वप च. १२ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. तेत्वर्थः. १३ ट क्षेत्रं वा. १४ ग.
२१ ज. वृष्टसस्यङ्कुशाभा.

अन्तिकृतमे सैनिकृष्टतममौषधं पक्वमागच्छेदिति युष्मामिरेषमुतं भवत्विति ।
एतद्वयमाशास्महे पक्वमौषधमागच्छत्विति ।

अप्यायसमाख्युपप्रदर्शनार्थाय द्विरभ्यास इति ।
जैम्यमार्गाधमवासिन आचार्यमगवदुर्गस्य कृतौ ऋज्वर्ध्यां निरुक्तवृत्तौ
दशमोऽध्यायः समाप्तः ।

संस्निमसश्चेन्तीनयस्यवरोहोमायन्तित्वापवित्रं पुहत्वा किमिच्छेत्-
त्तत्तत्प्रश्नैर्नरपैक्यापान्तेमन्युरुर्वश्यं प्सराजर्वोसिसंश्रियत्कदाप्येतप-
त्नीर्वन्तः सुगुरैस्तद्वक्तृश्रेन्द्रमा अरेणोवायइन्द्राग्रीमानैः समस्यहविर्षो-
ज्जारः पृथक्प्रायेन्प्रीणीतसुदेवैः प्रवोवृजेऽष्टाविंशतिः ।
इति निरुक्ते पूर्वपदके पञ्चमोऽध्यायः ।

* छ. त. वेः खण्डशृङ्खला नास्ति.

१ क. ल. घ. झ. 'रेषमुके कति एत' ; ग. ग. 'रेषमुना भ' ; न. 'रेषमुनं भवत्विति' तु, ट. 'रेषमुके सति एत' त भवतु ; ठ. ड. 'रेष संभवतु । एत' . २ ग. 'स्महे । ३१ । पक' . ३ घ. झ. ट. इति धीमज्जगदईदुर्गहेत (घ. ट. 'दुर्गहेत')
युष्मा प्रशमरपाध्यायश्च यनुर्वः पादोऽध्यायश्च त्रिगातः ; घ. दशमोऽध्यायः समाप्तः ;
छ. ड. इति जम्बू . ४ ठ. ड. विष्णुश्चैनाप्यायमश्नद्वेष्टोऽध्यायः समाप्तः ; ५८
खण्डः .

अथ पष्ठाध्यायस्य

प्रथमः पादः ।

- ॐ३म् । त्वमग्रे शुभिस्त्वमांशुशुक्षणिस्त्वमद्र्यस्त्वमश्मनस्परि ।
 त्वं वनेभ्यस्त्वमोषत्रीभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः [ऋ०
 सं० २ । १ । १] ॥ त्वमग्रे शुभिरहोभिस्त्वमांशुशुक्षणिराशु इति च शु
 इति च क्षिप्रनामनी भवतः क्षणिरुत्तरः क्षणोतेराशु शुचा क्षणो-
 तीति वा सनोतीति वा शुक् शोचतेः पञ्चम्यर्थे वा प्रथमा तथाहि
 वाक्पसंयोग आ इत्याकार उपसर्गः पुरस्ताच्चिकीर्षितज
 उत्तर आशुशोचयिपुरिति शुचिः शोचतेर्ज्वलतिकर्मणोऽयमपी-
 १० तरः शुचिरेतस्मादेव निःषिक्तमस्मात्पापकमिति नैरुक्तौः ।
 इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत् । आशा दिशो
 भवन्त्यासदनादाशा उपदिशो भवन्त्यभ्यशनात्काशिर्मुष्टिः प्रका-
 शनान्मुष्टिर्मचनाद्वा मोषणाद्वा मोहनाद्वा । इमे चिदिन्द्र रोदसी
 अपारे यत्संगृभ्णा मधवन्काशिरिचै । इमे चिदिन्द्र रोदसी रोधसी
 १५ द्यावापृथिव्यौ विरोधनाद्रोधः कूलं निरुणद्धि स्रोतः कूलं रुज-
 तेर्विपरीताल्लोष्टोऽन्विपर्थयेणापारे दूरपारे यत्संगृभ्णासि मधवन्का-
 शिस्ते महान् । अहस्तमिन्द्रसं पिण्वकुणारम् । अहस्तमिन्द्र कृत्वा
 संपिण्डि परिकणनं मेघम् ॥ १ ॥

- २० 'आशुशुक्षणिः' (निघ० ४ । ३ । १) इत्यनवगतम् । 'आशु
 शुक्सेनिता वा' स्यात् 'आशु शुक्क्षणिता वा' ।
 'आशुशुक्षणिः' त्वमग्ने शुभिः । गृत्समदस्थेयमार्धम् । प्रातरनुवा-
 इत्यस्य प्रयोगोऽर्थश्च कादिरनयोः शर्थते । (आश्व० श्रौ० ४ ।
 १३] हे भगवन्नग्रे त्वं शुभिः अहोभिर्निमित्त-

- २५ १ क. ख. द. निष्ठिक°; त. निष्ठिक°. २ क. ख. छ. त. द. °कृत्वाः । १।
 इन्द्र°. ३ क. ख. २ (१); छ. त. द. २. ४ क. ख. घ. झ. शुचा सनिता; ट.
 शुची सनिता° क. ५ क. ख. झ. शुचा क्षणिता; घ. शुचा क्षिता; ट. शुची
 क्षिता° क. ६ क. ख. घ. झ. ट. शुभिस्त्वमांशुशुक्षणिः० जायसे शुचिः । गृह्ण°; ठ.
 ड. शुभिरिति । गृह्ण°. ७ क. ख. घ. झ. ट. °स्यो राजगत्याग्रेयी । १०°; घ.
 ३० °स्पते- । हे °जगत्प्राप्तेयी.

भूतैः पौर्णमास्याचैरेषां मध्यमानो नृणां जायसे । ‘पौर्णमास्याममावस्यायां
वादधीत’ इत्युक्तम् (मान० श्रौ० १ । ५ । १ । ८) । किंच ।
त्वमाशुशुक्षाणिः । ‘आशु इति च शु इति च’ एते ‘क्षिप्रनामनी
भवतः’ । ‘शु’ इत्येतदत्र प्रासाङ्गिकमन्यत्रोपकारं करिष्यतीति ।
तद्यथा । ‘शुनो वायुः शु एत्यन्तरिक्षे’ (नि० ९ । ४०) इत्येव- ५
मादौ । ‘आशुशुक्षाणिः’ इत्येतेषां पञ्चानामक्षराणामाद्यं तावदक्षरद्वयम्
‘आशु’ इत्येतत्क्षिप्रनाम । अधुना ‘शु’ इत्येतत्तृतीयमक्षरमतिक्रम्यो-
त्तरमक्षरद्वयं निराह । ‘क्षणिः’ इत्येव द्वयक्षरः शब्दः ‘क्षणोतेः’ धातो-
र्हिसार्धस्य [धा० ८ । ३] ‘संनोतेः’ वा संभजनार्धस्य । मध्यमं
तु ‘शु’ इत्येतदक्षरं शुचेर्दीव्यर्थस्य । अथ कोऽयः संवरण्येतरक्षरैरभि- १०
धीयत इति । उच्यते । ‘आशु शुचा’ दीव्या ‘क्षणोति’ हिनस्ति
‘इति’ अशुशुक्षणिरग्निः । अथवा ‘आशु शुचा संनोति’ संभजत
‘इति’ आशुशुक्षणिरग्निः । क्षणिः क्षणोतेः
तस्यैव विविधा संनोतेश्च विकल्पाः । ‘शुक् शोचतेः’ इति
व्युत्पत्तिः पञ्चानामक्षराणामाशुशुक्षणिशब्दे तृतीयमक्षरं ‘शु’ १५
इति तस्यैतन्निर्वचनम् । एवं तावदयमेको निर्ध-
चनप्रकार आशुशुक्षणिशब्दस्य । अथ ‘वा’ एवमन्यथा स्यात् । ‘पञ्च-
म्यर्थे प्रथमा’ इयं विभक्तिः । ‘आशुशुक्षणेः’ इति यदुक्तं स्यादेतदुक्तं
भवति ‘आशुशुक्षाणिः’ इति । आह । किं पुनः कारणं प्रथमैषा सती
पञ्चमीत्वेन विपरिणम्यत इति । उच्यते । ‘तथाहि वाक्यसंयोगः’ । २०
तेन प्रकारेण पञ्चमीत्वेन विपरिणतस्यास्य शब्दस्यानेन वाक्येन संयोगोऽर्थ-
संगतिर्भवति न यथावस्थितस्य । आह । कथं कृत्वेति । उच्यते । ‘त्वम-
द्भपरत्यमश्मनस्परि त्वं घनेम्यस्त्वमोषधीम्पः’ इत्येतां युक्तराणि बहूनि
पदानि पञ्चम्यन्तानि । तस्मादनेनापि पञ्चम्यन्तेनैव भवितव्यमियुपपद्यते
‘पञ्चमीत्वेन विपरिणाम इति । आशुशुक्षणिर्द्वयस्याक्षरद्वयकस्य य एष २५

१ य. ‘कर्म्येनुच’ म्यो. २ कं. ल. य. झ. ट. ठ. ड. ‘क्षणिः’ नास्ति; य. ज. शणः. ३ य. ज. शणिर्; य. ‘क्षणिर्’ जे. ४ क. ल. य. झ. ट. ठ. ड. ० रेण पञ्चमीत्वेन विपरिणामे पञ्चमी; य. ‘रेण पञ्चमी’ पञ्चमीत्वेन विपरिणामे. ५ कं. ल. य. झ. ट. ठ. ड. ‘अस्य’ नास्ति; य. अस्म. ६ क. ल. ‘तान्यश- राणि; य. झ. ट. ‘न्युत्तराणि. ७ क. ल. य. झ. ट. ठ. ड. ‘रिषेनस्या’.

पुरस्तात् 'आकारः' एव तावत् 'उपसर्गः' । यः पुनरे 'शुशु-
क्षणिः' इत्यनन्तरश्चतुरक्षरः शब्द एव 'चिकीर्षितजः' । चिकीर्षिता-
दर्थाज्जातः । सन्नन्तादित्यभिप्रायः । अथ पुनः समस्तस्य कोऽर्थ इति ।
उच्यते । यः कश्चित् 'आशुशोचपिपुः' आदिदीपयिषुर्भवति स आशु-
शुक्षणिः । तस्मादाशुशुक्षणेस्त्वं हे भगवन्नम्रे जायसे । किमेतावदेव ।
तेत्युच्यते । त्वमद्भ्यो जायसे वैशुतात्मना । त्वमेवास्मनः परितः सर्वतः
इतरेतराभिघाताजायसे । त्वं वनेभ्यो दारुभ्यः, त्वमोषधीभ्यः शरादिभ्यः ।
त्वं नृणां मनुष्याणां हे नृपते मनुष्यपते जायसे अभिव्यज्यसे शुचिः ।
दीप्त इत्यर्थः ।

१७ 'शुचिः शोचतेः' उच्यते । 'अयमतीतरः शुचिः' लौकिकः
'एतस्माद्देश' इति वैयाकारणा मन्यन्ते । नैरुक्ताः पुनर्नैःपूर्वासिद्धतेरे-
तरः शुचिरित्येव मन्यन्ते । निष्कृष्य हि तस्मात् 'पापकम्' अशुचित्व-

आशुशुक्षणिरक्षि- मन्यास्मिन् 'सिक्तं' भवतीत्येवम् । अत्राश्विर्वाशु-
१५ र्यजमानादिर्वा शुक्षणिरन्यो वा यः कश्चिदग्निं मथित्वा तेन
किञ्चिदादिदीपयिषुर्भवति स वाशुशुक्षणिरिति ।

'आशाभ्यः' (२) इत्यनवगतमनेकार्थं च । आसदनादित्यवगमैः ।

'इन्द्र आशाभ्यस्पोरैः सर्वाभ्यो अभयं करत् । जेता शत्रून्वि चर्षणिः' ।

'आशाभ्यः' (ऋ० सं० २ । ४१ । १२) ॥ गुप्तमदस्ये-
२० श्यस्य यमर्षमै । अभिवृत्तस्य द्वितीयेऽहनि प्रउगे शस्यते
(आ० श्रौ० ७ । ६) । इन्द्र आशाभ्यो

दिग्भ्यो हि यद्भयमुत्पद्यते जर्नानां दिङ्निवासिभ्यो भूतेभ्यः तत्तै अभयं
करत् । करौत्वित्यर्थः । आह । किंलक्षणः पुनरसाविन्द्र इति । जेता शत्रून्वि
चर्षणिः । अधिद्रष्टा सौर्वर्भातिकानां कर्मणाम् । 'आशा दिशो भवन्ति
आसदनात्' । आभिमुख्येन हि ताः सर्वत्र सप्ता इव भवन्ति । 'आशा

२५ उपदिशो मनन्त्यभ्यननात्' । अभ्यश्रुते हि ताः परस्परेणैव ।

१ ग. ज. आशुशु०; च. आशुशु०. २ घ. द. ठ. ड. 'चिकीर्षितजः' नास्ति.
३ क. ख. घ. ठ. 'वाच्य आशु'; झ. 'वा स्म आशु'. ४ क. ख. 'रिति' । १ ।
आशा०. ५ ड. 'ममः' । १ । इन्द्र०. ६ घ. ज. 'स्परि' (ग. स्परि । २ ।) ।
गुप्त०; घ. झ. ड. 'स्परि० वि चर्षणिः' । गुप्त०. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
'मर्षम्' । मायत्री । ऐन्द्रि० । अभि०; च. 'मर्षम्' । अभि० मायत्री ऐन्द्रि०. ८ क.
ख. घ. झ. ट. ठ. ड. अगतां नानादिङ्नि०. ९ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'तत्'
१२ नास्ति. १० ग. ज. आशाति. ११ ग. ज. सर्व०.

‘काशिः’ (३) इत्यनवगतम् । ‘काशयितव्यः’ इत्यवगतम् ।

‘काशिः’ इत्यस्य ‘मुष्टिः’ इत्यभिधेयवचनम् । ‘प्रकाशनात्’ इति निर्वचनम् । ‘मुष्टिः’ इत्येतत्पर्यायप्रसक्तं निरुच्यते । ‘मोचनाद्वा’ । मुच्यते ह्यसौ । मोप-

णाद्वा । तेन हि मुच्यते । ‘मोहनाद्वा’ । तत्र हि मुह्यति परः किमप्येतस्मिन्मुष्टाविति । ‘उतामये-पुरहूतं श्रवोभिरेको दृष्टव्यो वृत्रहा सन् । इमे चिदिन्द्र रोदसी अपारे यत्संगृष्णा मेघवन्काशिरिते’ (ऋ० सं० ३. ३० । ५) ॥ विश्वामित्रस्पर्षम् । त्रिष्टुप् । पृष्ट्यामिष्टवयोर्द्वितीयपञ्चमयो-
रहोः संपातसूक्तं नाम तत्रैवं शस्यतेऽच्छावाकेन माध्यन्दिने सवने (आ० श्रौ० ७ । ५) । ‘सहदानुमलातृण उद्धृह रक्षः’ इत्येताश्च (ऋ० सं० ३ । ३० । ८-१०-१७) तत्रैव । अपि भवति संप्राप्ते अभये इव हे पुरुहूत एकः अपि सन् असहायः श्रवोभिः श्रवणीयैः शब्दैः अक्षैर्वा हविर्भिस्तृतः सन् दृढं समर्थम् अवदः वृत्रहा । शत्रुहेत्यर्थः । किमेतावदेव माहाभाग्यम् । नेत्युच्यते । इदं चान्यत् । इमे चित् इमे अपि रोदसी द्यावापृथिव्यौ एवमपि अपारे दूरपारे सती यत्संगृष्णासि त्वम् अहो काशिस्ते महान् । एवमत्र संप्रहणसंबन्धात्काशिशब्दो मुष्ट्यभिधायक इत्युपपद्यते ।

प्रसक्तानुप्रसक्तमुच्यते । ये एते ‘रोदसी’ एते ‘रोधसी’ । किं कारणम् । ‘विरोधनात्’ । विविधानि हि भूतान्येते रुद्धः । रोदसीशब्द-
व्युत्पत्तिः ‘कूलम्’ अपि ‘रोधः’ इत्युच्यते । तदपि ह्युदक-
स्तोतांसि ‘निहणाद्दि’ । ‘कूलं रुजतेः’ धातोः । तत्पुनर्विपरित्येन । ‘लोष्टः’ पुनरस्यैव धातोः
‘अविपर्ययेण’ ।

‘कुणारम्’ (४) इत्यनवगतम् । मेघोऽभिधेयः । ‘कणनम्’

१ उ. ङ. ‘प्र’ नास्ति, २ क. ख. ‘किमेतन्मुष्टा’; ५. झ. ट. ठ. ड. ‘अपि’ नास्ति, ३ ग. ‘इति विम्बा’; ज. ‘इति विम्बा’; घ. झ. ट. ‘इतः काशिरिते’ । विम्बा. ४ क. ख. घ. इतः. ५ क. ख. घ. झ. ट. त्रिष्टुप् । ऐन्द्री पृष्ट्या; घ. त्रिष्टुप् । पृष्ट्या ऐन्द्री. ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. हविर्भिर्वा गु. ७ ग. घ. महा. ८ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘इति’ नास्ति, ९ घ. ‘स्तोतांसि’ सो. ३९

इति शब्दसमाधिः । " सहदानुं पुरुहूत क्षियन्त-

'कुणारुम्' इत्यस्य महस्तामिन्द्र सं पिणकुणारुम् । अभि वृत्रं वर्धमानं
पियारुमपादमिन्द्र तवसां जघन्ध ' (ऋ०

सं० ३ । ३० । ८) ॥ ' सह ' इत्युदकनाम (निघ० १ । १२ ।

४०) । उदकदातारं मेवं हे पुरुहूत इन्द्र क्षियन्तम् अन्तरीक्षलोके
निवसन्तं गच्छन्तं वापि अहस्तम् अप्रतीकारसमर्थं कृत्वा तत एनं संपि-
णक् संपिण्डिं चूर्णय कुणारं पारिकणनम् । शब्दकारिणमित्यर्थः । एवं
तावदेनं कुरु । अथ पुनर्योज्यमपरो वृत्रः वर्तिता मेघः एनमप्युपरी
वर्धमानं पियारं हिंसनशीलम् अपादं गमनहीनं कृत्वा तत एनं तवसा
बलेन जघन्ध । जहीत्यर्थः । एवमत्र यथाधिकारान्मेघाधिकाराच्च ' कुणारं
कणनशीलम् ' इत्युपपद्यते ।

' अलातृणः ' (५) इत्यनङ्गतम् । ' अष्टमातर्दनः ' इत्यव्ययम् ॥ १ ॥

अलातृणो बल इन्द्र व्रजो गोः पुरा हन्तोर्भयमानो व्यार ।

१५ सुगान्पथो अंकुणोन्निरजे गाः प्रावन्वाणीः पुरुहूतं धमन्तीः

(ऋ० सं० ३ । ३० । १०) ॥ अलातृणोऽष्टमातर्दनो मेघो

बलो वृणोतेर्व्रजो व्रजत्यन्तरिक्षे गोरेतस्या माध्यमिकाया

वाचः पुरा हननाद्भयमानो व्यार । सुगान्पथो अंकुणोन्निरजे गाः

सुगमनान् पथोऽङ्कुराभिर्गमनाय गवाम् । प्रावन्वाणीः पुरुहूतं

२० धमन्तीः । आपो वा वदनाद्वाचो वा वदनाद्बहुभिराहूतमुदकं भयति

धमतिर्गतिकर्मा ॥ २ ॥

१ ग. 'साधिः । ४ । ६६' । २ ग. ज. च. 'इत । ६६' ; घ. झ. ट. 'इत०
तवसा जघन्ध । ६६' ; ठ. ड. 'इव धुमन्तमह' । ३ घ. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
'अभि' नास्ति. ४ घ. ख. घ. झ. ट. ड. ततः पुनः सं' ; ट. ततः पुनः सं'
एनं. ५ घ. ज. ठ. ड. संपिणि. ६ घ. ख. घ. ट. संचूर्णय ; च. 'चूर्णय' गं. ७
ग. ज. एवम्. ८ घ. ख. २ (१), ग. ० ; घ. झ. ट. च. ज. अष्टो नास्ति.
९ घ. ख. छ. त. द. एषो अङ्क'. १० घ. ख. छ. त. द. 'करोन्निरजनाय
गवाम् ; ड. ठ. ट. 'करोन्निर' . ११ घ. ख. २ (२), छ. त. द. २०

अलातृणो वैलः । हे इन्द्र योऽयम् अलमातर्दनः पर्याप्त आतर्दयितु-
 मुदकपूर्णो दैत्यो मेघः । स ह्यावृणोत्युदकम् ।
 'अलातृणः' व्रजश्च स एव 'अन्तरिक्षे व्रजति' इति ।
 इत्यस्य गुणान्तरत्वादजामि । आह । किं तस्येति ।
 उच्यते । एष गोः एतस्या माध्यमिकाया वाचो ५

भायत्कायाः शब्दमुपश्रुत्य पुरा एव हननात् भवतो वधात् भयमानो विभ्यत्
 असह्योऽयमस्य वध इति मन्यमानो व्यार । विष्णुमीभवतीत्यर्थः । स त्वमनेनैव
 प्रकारेणैवं मेघं विदारयन् सुगन् सुगमनान् पथो मार्गान् अकृणोत् करोषि
 वा निर्गमनाय एतासां मेघोदरान्तर्गतानां गवाम् अपाम् । विदीर्णं हि
 तस्मिन्मेघे सुखं तास्तस्मान्मेघोदरान्निर्गच्छन्ति । किञ्च । निर्गताः १०
 सत्यस्ती वाणीः आपः प्रावन् प्रकर्षेणावन् रक्षन्ति धमन्तीः गच्छन्त्यो
 यथानिम्नमभिसरमाणाः पुरुहूतम् उदकम् । यदेतदुदपानं तडागनद्यादि तत्प्रति
 धमन्तीस्तदेव रक्षन्ति । तद्वपुषदस्येद्यदि न पतेरंस्ता आपः । एवमापो वागी-
 शब्देनोक्ताः । ता हि 'वहनात्' वाणीरित्युच्यन्ते । 'वाचो वा वदनात्'
 वाणीर्द्वन्द्वेनोच्यन्ते । यदा विदीर्णान्मेघान्निर्गतमुदकं पुरुहूतं भवति वर्ष- १५
 भावेनाथ तदा तेषामेव प्राणिनामहो वृष्टमित्येवमाद्या वाणीर्वाचो धमन्ती-
 र्मुह्येभ्यो निर्गच्छमानास्तदेवोदकं प्रावन् । प्रागच्छन्नित्यर्थः । एवमत्र 'पुरा
 हननाद्भयमानो व्यार' इत्यनेन संबन्धात् 'अलातृणो मेघ' इत्युपपद्यते ।

'बहुभिः' प्राणिभिराहूयते ममेदं ममेदमिति तस्मात्पुरुहूतम् 'उदकं
 भवति' । 'धमतिः' एष 'गतिकर्मा' एव अत्र न स्तुतिकर्मस्य- २०
 मिप्रायः । स्तुतिकर्मस्वपि हि धमतिः पठितो 'धमति नदति सरति'
 इति (निव० ३।१४) ।

'निरजे गाः' इत्यत्र केचित् 'पशुगव्य एताः' इति व्याचक्षते ।
 तासां हीन्द्रेण विदारितेषु मेघेषु सुगमनाः पन्थानो निर्गमनाय भवन्ति

१ क. ख. च. ज. बलः; घ. झ. ट. बल इन्द्र० पुरुहूतं धमन्तीः । दे०; ठ. २५
 ड. अलातृण इति । दे० २ क. ख. ग. च. ज. ठ. बलो. ३ क. ख. घ. झ. ट.
 ड. ड. 'उच्यते' नास्ति. ४ ग. ज. मेघोदरा; च. मेघोदरा द. ५ च. 'तानां
 च मेघा'. ६ ग. ज. 'हि' नास्ति ७ च. सुखं खं. ८ घ. ट. ठ. ड. तस्याः स्ता वा;
 झ. छपः स्ता वा'. ९ क. ख. 'मुदकस्थानं; घ. झ. ट. ठ. ड. 'मुदकस्थानं.
 १० क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'वाणीरित्युच्यन्ते. ११ ग. ज. 'मुह्येभ्यो;
 च. 'मुह्येभ्यो' ख. १२ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'एव नात्र स्तुति'.

सुयवसत्रात्रीरजस्कृत्वाच्च । 'प्रावन् वाणी' इत्यत आरभ्य समानमेव पूर्वैर्ण ।
 'सल्लूकम्' (६) इत्यनवगतम् । 'संलुब्धम्' इति सन्देसमाधिः
 'सरलूकम्' इति वा । २ ।

- ५ उद्धृ रक्षः सहमूलमिन्द्र वृश्वा मध्यं प्रत्यग्रं शृणीहि । आ
 कीर्ततः सल्लूकं चकार्य ब्रह्मद्विपे तपुषि हेतिमस्य (ऋ० सं०
 ३ । ३० । १७) ॥ उद्धर रक्षः सहमूलमिन्द्र मूलं मौचनाद्वा
 मोपणाद्वा मोहनाद्वा वृश्वा मध्यं प्रतिशृणीष्यग्रमग्रमागतं भवत्या
 कियतो देशात्सल्लूकं संलुब्धं भवति पापकमिति नैरुक्ताः सर-
 १० लूकं वा स्यात्सत्तरेभ्यस्तात्तपुषिस्तपतेर्हेतिर्हन्तेः । त्वं चिदिस्था
 कत्पयं शयानम् । सुखपयसं सुखमस्य पयः । विसृह आपो
 भवन्ति विस्रवणात् । वया इव रुरुहुः सप्त विसृह इत्यपि निगमो
 भवति वीरुध ओपधयो भवन्ति विरोहणात् । वीरुधः पार-
 यिर्णु इत्यपि निगमो भवति नक्षद्वाभमश्रुवानदाभमभ्यशनेन
 १५ दश्रोतीति । नक्षद्वाभं ततुरिं पर्वतेष्टामित्यपि निगमो भवत्यस्कृ-
 धोयुरकृध्वायुः कृध्विति हस्वनाम निकृत्तं भवति । यो अस्कृधोयु-
 रजरः स्वर्वानित्यपि निगमो भवति निशृम्भा निश्चयहारिणः ॥३॥

- २० उद्धृ रक्षः । उद्धर एतत् रक्षः सहमूलं हे इन्द्र । वृश्वा अस्य छिन्धि
 मध्यम् । अग्रं चास्य प्रतिशृणीहि । प्रतिजही-
 'सल्लूकम्' ल्यर्थः । किञ्च । आ कीर्ततः आ कस्मात्
 इत्यस्य देशात् एतदुद्धर । यस्माद्विस्तृत्यमाणा अपि मे
 शक्नुयुर्नितर्कयितुं कियतोऽपि प्रदेशेतिदुद्ध-

- १ ट. ड. सल्लुब्धम्. २ क. ख. ३ (३); ग. ३; ठ. ड. 'मिति वा । इति
 २५ निरुक्तटीकायां पद्याध्याये द्वितीयः खण्डः. ३ क. ख. छ. त. ठ. उद्धृ. ४ त.
 द. 'त्या कीर्ततो' कि. ५ ट. ड. सल्लुब्धं. ६ क. ख. छ. त. द. 'यिण्य १
 इत्यं. ७ छ. त. द. 'निशृ भा निश्चयहारिणः' नास्ति. ८ क. ख. ४ (३); छ.
 त. द. ४. ९ ग. रक्षः ६ । उद्धृ; घ. झ. ट. रक्षः सहमूलं हेतिमस्य । उद्धृ;
 ठ. ड. रक्ष इति । उद्धृ. १० घ. झ. ट. ठ. ड. 'वनः । आ कि (झ. की)
 यन इति णात्रांतरं । आ क; च. 'वनः = आक' अ कियत इति पाठान्तः.
 ३१ ११ ग. ज. 'न' नास्ति.

तमिति । यथा न किञ्चिदपस्यावशिष्यते तथैतदुद्धरेत्यभिप्रायः । तथा
चैतदुद्धृत्य सल्लूकं संलुब्धं समूहम् अप्रतिपक्षं कुरु । अथवा 'पापकं'
पापतरम् अस्मत्तः कुरु एतद् 'इति' निरुक्तपक्षेण । अथवा सरलकं
सैरणशीलं नाशनशीलं प्रच्युतं स्वदेशात् एतत्कुरु । तत एदुन्मूलं
कृत्वा स्थानप्रच्युतायास्मै रक्षसे ब्रह्मद्विषे ब्राह्मणेद्रेष्टु तपुषि तापयित्रौ हेति
हन्त्रीम् आयुधजातिं मध्याप्रच्छेदनाय पुनः पुनः अस्य । क्षिपेत्पर्यः ।
एवमत्र 'सल्लूकम्' इति लुभेर्मोहनार्थस्य शब्दसारूप्यात्
'संलुब्धम्' इत्युपपद्यते । 'सर्तः' अथत्र सारूप्यमस्तीति 'सरलकं
वा स्यात्' इत्युक्ते भाष्यकारेण । रक्षोविशेषणं चैतत्तस्य हि संमोहो वा
नाशनं वाभीष्टमिति ।

'कल्पयम्' (७) इत्युनवगतम् । 'कपयम्' इत्यवर्गः । 'सुख-
पयसम्' इति पर्यायेणाभिधेयवचनम् । मधुरोदको यो मेघः सोऽभिधेयः ।
किं कारणम् । 'सुखं' हि सुखोत्पादनम् 'अस्य पयः' मधुरत्वात् ।
'सं चिदित्या कल्पयं शयानमसूयं तमसि वाट्ट
'कल्पयम्' धानम् । तं चिन्मन्दानो वृषभः सुतस्योधैरिन्द्रे
अपगूर्या जघान' (ऋ० सं० ५।३२।६) ॥
इत्यस्य

गातुर्नामात्रेयस्तस्येयमार्षम् । त्वं तं मेघम् दद्या
अमुना प्रकारेण अथवा अमुष्मिन्नन्तरिक्षलोके कल्पयं सुखोदकं शयानम्
असूयं च तमः कृत्वा वाट्टधानं वर्धमानं मन्दानः मन्दमानो वृषभो वर्धिता
इन्द्रः सुतस्य अभिपुतस्य सोमस्य स्वमंशं पीत्वा तत उच्चैः घञम् अव-
गूर्य जघान । य एवंगुणविशिष्ट इन्द्रः सोऽस्माकमिदं नाम करोष्वित्येवमा-

१ ठ. ड. सल्लूकं. २ ग. ज. निरुक्तं. ३ ख. झ. ट. ठ. ड. शरणं. ४
क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. वाशनं; ग. ज. 'नाशनशीलं' नास्ति; घ. 'नाशनशीलं'
'नाशन.. ५ ग. ज. 'देशादेन दुर्. ६ ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'जातिं मूडन-
ध्याय'. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'ममः । कपयमित्यवगमे सुय'; घ.
'ममः' मे. ८ ग. 'एतत् । ७ । ८३'. ९ ग. ज. कटयं । यातु'; घ. झ. ट.
कटयं शयानं; अपगूर्या जघान । गातु'. १० क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
'सूयं तम- (घ. ट. तप-) ध क'; घ. झ. ११ ग. ज. घ. झ. ट. ठ. ड.
'मन्दानः' नास्ति. १२ ग. ज. कतोर्नाभिः; घ. कतोर्नाभिः' त्वे.

शीर्षोऽग्रा । एवमत्र 'इन्द्रो जघान' इत्यनेन संबन्धात् 'कल्पपः मुक्षुपयो मेघः' इत्युपपद्यते तस्याभीष्टत्वात् ।

'विस्तुहः' (८) इत्यनवगतम् । 'विस्तरः' इत्यवगमः । 'आपो भवन्ति' इत्यभिधेयवचनम् । 'विस्त्रवणात्' इति हेतुनिर्देशः । 'वैश्वानरस्य विमितानि

५ 'विस्तुहः'

इत्यस्य

चक्षसा सानूनि दिवो अमृतस्य कतुनो । तस्येदु विश्वा भुवनाधि मूर्धनि वया इव रुहः सप्त

विस्तुहेः' (ऋ० सं० ६ । ७ । ६) ॥ भगद्वाजस्येयमार्पण । प्रातरनुवाका-

धिनयोः शस्यसे (आ० थं० ४ । १३) । वैश्वानरस्य भगवतोऽग्नेः

१० . अमृतस्य अमरणधर्मिणः केतुना कर्मणा चक्षसा चक्षुषा दर्शनेन दिवः अपि यानि सानूनि समुच्छिन्नानि स्थानानि तानि विमितानि । विनिर्मितानीत्यर्थः । अग्निप्रकाश्यमनविषयो हि लोकः कर्मणि प्रवर्तते । साधुभ्यः साधुना च पापेभ्यश्च पापेन च सार्वलौकिकेन कर्मणा स्वकर्म-

फलमोगायेदं सर्वं विनिर्मोषत इत्यनयापेक्षयोक्तं वैश्वानरस्य चक्षुषा

१५ केतुना च दिवोऽपि सानूनि निमित्तानीति । अग्नौ हि वाच्यधिदेवताभा-

वेनावस्थितः सर्वमिदं ह्यापयति ततः कर्म प्रतापते । तदुक्तम् 'अग्नि-
र्वाग्भूया मुखं प्राविशत्' (ऐतरे० उ० १ । २ । ४) इति । किंच । तस्येदु विश्वा । तस्यैव वैश्वानरस्य पृथिवीभावेनावस्थितस्य । 'इयं च मि-
वैश्वानरः' (मैत्रा० सं० १ । ४ । १३ ॥ २ । १ । २) इत्युक्तम् ।

२० विश्वानि भुवनानि सर्वभूतभावयितृणुदकानि । 'भुवनम्' इति ह्युदक-

नामस्तु पठितम् (निघ० १ । १२ । ५०) । मूर्धनि उपरि वया इव शाखा इव रुहः सप्त विस्तुहः । सप्त सर्पणाः विस्तुहो विविधस्त्रवणा भूत्वा ततः शाखा इव रुहः अस्यां पृथिव्या नद्यादिभावेन । शाखा इव ह्येताः पृथिव्या उपरि यथानिम्नं विस्त्रवमणा आपो लक्ष्यन्त इत्येतद्

- २५ १ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड तस्य व-रगाभी?; च. त-रगाभी? स्य वध.
२ ग. 'वैश्व. ४ ८ । वैष्वा'. ३ ग. ज. 'नानि । भर?; घ. ङ. ट. 'नानि. सप्त'
विस्तुहः । भर? ४ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड 'तते साधुभ्यसाधुने वा । सधु?;
घ. 'तते' । सधु? साधुभ्यसाधुनि वा. ५ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'च'
नास्ति; च. च ६ च. कर्मणा स्वकर्मणा स्वकर्मफल'. ७ ग. ज. रगाप'. ८ ग.
२० ज. वाग्नि?.

दृष्ट्वैवमवोचन् 'तस्येदु दिक्षा मुवनाधि मूर्धनि वया इव रुहः सत
 भुवनशब्दस्य 'विस्तुहः' इति । एवमत्र शब्दसारूप्यादर्थोपपत्तेश्च
 भूतानीति सतशब्दस्य 'विस्तुह आपो भवन्ति' इत्युपपद्यते । 'भुवन-'
 च समुद्रा इत्यर्थ इति शब्देन भूतान्येवोच्यन्त इति केचिद्वर्णयन्ति ।
 केचित् चतुर्विधश्च भूतग्रासो विस्तुहश्च वया इव रुहः
 पृथिव्या उपरीति । 'सत' शब्देनापि समुद्रा-

नेय केचिद्वर्णयन्ति । ते हि पृथिव्याः शाखा इव लक्ष्यन्ते विस्तयन्ति च ।

'वीरुधः' (९) इत्यनवगतम् । 'विरोहणाः' इत्यवगमः ।
 'ओपधयो भवन्ति' इत्यभिधेयवचनम् । 'विरोहणात्' इति हेतु-
 निर्देशः । 'ओपधयोः प्रति मोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः । अदवा इव' १०

सजित्वरीः वीरुधः पारयिष्यः' (ऋ० सं०

'वीरुधः'

१० । ९७ । ३) ॥ भिषज् आधर्वणस्येवमार्गम् ।

इत्यस्य

ओपधिसंज्ञे । याश्च पुष्पवत्यो याश्च फलवत्यो

याश्चार्कलास्ताः सर्वा अदवा इव वडवा इव सजित्वरीः सहजैश्चो वीरुधः

सर्वरोगान् जित्वा अस्माकमयुषः पारयिष्यः पारयिष्यः सन्तु । एवमत्र १५

'पुष्पवतीः प्रसूवरीः' इत्येतस्माद्विशेषलिङ्गात् 'वीरुध ओपधयो

भवन्ति' इत्युपपद्यते ।

'नक्षत्रामम्' (१०) इत्यनवगतम् । 'नक्षत्रादामम्' इत्यव-

गमः । 'अश्रुवानदामम्' इति पर्यायेणाभिधेयवचनम् । अभ्यशनेन

अभिव्याप्तेन यो दक्षोति हिनस्ति स नक्षत्रभैः । 'तमु नः पृथ्वी २०

'नक्षत्रामम्' पितरी नवंवाः सत विप्रोसो अभि वाजयन्तः ।

इत्यस्य नक्षत्रभं तर्तुर्नि पर्यतेष्टामद्वेष्टयाचं मतिभिः

नक्षत्रिष्टम् (ऋ० मं० ६ । २२ । २) ॥

१ प. झ. ट. ड. ड. गुनाः गतः. २ क. ग. ग. ज. घ. झ. ट. ठ. ड.
 विरोहणात्; च विरोहणात्. ३ ग. 'द्वेष्टः' १५ ओप. ४ ग. च. ज. मोदध्वं. ५
 भिष; घ. झ. ट. मादध्वं० वीरुधः पारयिष्यः । भिष. ५ क. ख. घ. झ. ट.
 उ. ड. 'सुके'. अनुष्टुप्. ६ ओपधोः ओपधयोः प्रतिमोद धम् । इने १११० : १२२१०
 प्रति वा मुद्रिता वडा भवन्तु । कीदृशो यदम् । पुष्पवतीः पुष्पवत्यः प्रसूवरीः ।
 प्रसूवरीः सृजन्ते उपभोग्येति प्रसूवरीः । याश्च; घ. 'सुके'. याश्च' दे ओपधोः
 ७०० कीदृशो यदम्. ८ क. ख. घ. झ. ट. ड. 'कडा' वाच्यपुष्पास्ताः;
 घ. 'कडा'स्ताः' याश्च पुष्पा. ९ ग. 'दाधः' ६ । २२. १० ग. ड. जिज्ञाः ।
 भा; घ. झ. ट. पितरीः मतिभिः संप्रति. ११.

भरद्वाजस्यार्पम् । ऐन्द्री । संपातसूक्ते माध्यन्दिने सर्वेने ब्राह्मणाच्छंसिनः
शरैश्चि (आश्व० औ० ७ । ५) । ' तमीमहे ' (ऋ० सं० ६ ।

२२ । ३) इतीयं च तत्रैव । तम् इन्द्रम् अस्माकं ये पूर्वे पितृगणाः
सप्तसंख्या ये पुराणे पठ्यन्ते । अथवा सप्त सृष्टाः पूर्वतरमस्माहोकादमुं

५ लोकम् । ते नवग्याः नवगतयः । अभिनवा हि तेषा गतिरर्धमासेऽर्धमासे
भवति पितृश्वं प्रत्यागन्तुम् । अथवा नवनीतगतयो नवगतयः । नवनीते

हि तेषा मनसो गतिर्भवतीदमस्माकं स्यादिति । ' स्वयं विलीनं पितृणाम्'
(मैत्रा० सं० ३ । ६ । २) इत्युक्तम् । विप्रास इति विप्राः प्रातप्रज्ञाः

पितृलोकेऽवस्थिताः मतिभिरभिवाजयन्तः स्तुवन्त आसते । किलक्षणं
१० पुनरिन्द्रं मतिभिरभिवाजयन्त आसत इति । उच्यते । नक्षत्राभम् । योऽ-

भिवापनमात्रेणापि दम्नोति किमुन वेधेन । यश्च ततुरिः त्वरणशीलः ।
यश्च पर्वतेष्ठा भेद्यस्थायी । यस्य चाद्रोग्ध्या वाक् । अनतिक्रमणीये-

त्यर्थः । यश्च शविष्ठो बलिष्ठः । य एवंगुणविशिष्ट इन्द्रस्तं मतिभिरभिवाज-
यन्त आसते । सोऽस्माकमिदं नाम करोत्विरयेवमशीर्योऽश । एवमत्र

१५ शशसाख्य दधोपपत्तेश्च योऽम्यदानेन दम्नोति स नक्षत्राभ इत्युच्यते ।
' अरुधोयुः ' (११) इत्यनवगतम् । ' अरुध्यायुः '

इत्यवगतः । ' कृषिति ' एतत् ' ह्रस्वनाम ' । तद्धि ' निहृत्तम् '
इव ' भवति ' ह्रस्वत्वात् । तस्याकारेण प्रतिषेधे कृते ' अरुधु ' इति

भवति । ' तमीमहे इन्द्रमस्य रीयः पुम्यीरस्य नृवतः पुरुक्षोः । यो
२० अरुधोयुरजरः स्वर्वान्तमा भर हरियो मादयध्वं '

' अरुधोयुः ' (ऋ० सं० ६ । २२ । ३) ॥ तं वयमान्मनः
इत्यस्य पुत्रम् ईमहे याचामहे हरियः त्वाम् इन्द्रम्

ईश्वरम् । आह । यः किलक्षणः पुत्र इति ।

१ क. रा. घ. झ. ट. ठ. ड. 'जरयेवमापन्. २ क. रा. घ. झ. ट. ठ. ड.
६५ ऐन्द्री । जिहृ. म. ; च. ऐन्द्री । ५ सं. जिहृ. ३ क. रा. घ. झ. ट. ठ. ड.

' सवने ' नास्ति. ४ क. रा. घ. झ. ट. ठ. ड. शस्त्रे शस्त्रे : तमी. ५ ठ.
२. तत्रैव शस्त्रे. ६ क. रा. घ. झ. ट. ठ. ड. 'संस्थाका ये. ७ क. रा. घ.

झ. ट. ते च नव. ८ ग. ज. विप्रसप्तज्ञाः. ९ क. रा. घ. झ. ट. ठ. ड.
' इत्यर्थः ' नास्ति. १० क. रा. घ. झ. ट. ठ. ड. 'एवत्' नास्ति. ११ ग.
' नि. ११ । तमी. ११ ग. ज. घ. घ. । तं ; प. झ. ट. घ. ० हरियो माद-

११ यदे । तं.

उच्यते । यः अस्य रायो धनस्य परिपालने भोगे च समर्थः । किलक्षणस्य पुनर्धनस्येति । पुरुषीरस्य बहुवीरैस्तद्वतः । नृवतश्च दासैस्तद्वतः । पुरुक्षोश्च बहुनिवासस्य । अनेकप्रकारस्येत्यर्थः । न च परिपालनसमर्थ एव यः केवलमलकालस्तमीमहे । किं तर्हि । यश्चांस्कृषोयुः अकृष्यायुः । दीर्घायु- रित्यर्थः । अजरश्च । यो दृढशरीर इत्यर्थः । स्वर्गश्च यः सृष्टुं शत्रूणामीर- यिता । य एवंगुणविशिष्टः पुत्रस्तम् आभर आहर हरिवो मादयध्वै अस्माकमात्मनश्च मदनाय । तर्पणायेत्यर्थः । एवमत्र 'अस्कृषोयुः' इत्यनेन दीर्घायुरुच्यते तस्याभीष्टवाञ्छन्दसारूप्यैव ।

‘ निशृम्भाः ’ (१२) इत्यनवगतम् । ‘ निश्रम्यहारिणः ’ इत्यवगमः । निरुधया दृढया गत्या हरन्तः ॥ ३ ॥

आजासः पूषणं रथं निशृम्भास्ते जनश्रियम् । देवं बहन्तु विभ्रतः (ऋ० सं० ६ । ५५ । ६) ॥ आवहन्त्वजाः पूषणं रथं निश्रम्यहारिणस्ते जनश्रियं जातश्रियं बृवदुक्थो महदुक्थो वक्तव्यमस्मा उक्थमिति बृवदुक्थो वा । बृवदुक्थं हवामह इत्यपि निगमो भवत्युदूदरः सोमो मृदूदरो मृदूदरेष्विति वा । ऋदूदरेण सख्या सचेयेत्यपि निगमो भवत्युदूपे इत्युपरिष्ठाद् व्याख्यास्यामः पुलकामः पुरुकामः । पुलकामो हि मर्त्य इत्यपि निगमो भवत्यसिन्वती असंखादन्तर्पो । असिन्वती वप्सती भूर्यत्त इत्यपि निगमो भवति कपनाः कम्पनाः क्रिमयो भवन्ति । मोपथा वृक्षं कपनेव वेधस्त इत्यपि निगमो भवति भाक्रजीकः मसिद्धभाः । धूमकेतुः समिधा भाक्रजीक इत्यपि निगमो भवति रुजाना नद्यो भवन्ति रुजन्ति कूलानि । संरुजानाः पिपिप इन्द्रशत्रुरित्यपि निगमो भवति जूर्णिर्जवतेर्वा द्रवतेर्वा दूनोतेर्वा ।

१ उ. उ. 'प्याच' । इति निरुक्टीकायां षष्ठाध्याये तृतीयः खण्डः । निशृ०.
२ उ. निश्रम्यहारिणः इत्यर्थः । ३ क. ख. ४ (३) ; य. १२ ; इतोप्यत्रो नास्ति.
४ क. ख. त. निश्रम्यहारिणः ; छ. निशृम्यहारिणः ; द. निश्रम्यहारिणः सु. ५ क. ख.
छ. द. 'वति । ऋदू० ; त. 'वत्युदू० ति । क. ६ क. ख. छ. द. 'वति । ऋदू०.
७ क. ख. छ. द. 'वति । अति०. ८ क. ख. छ. त. द. धूमकेतुः ।

क्षिप्ता जूर्जिर्न वक्षतीत्यापि निगमो भवति । परं घंसमोमनर्न
वां वयो गात् । पर्यगाद्वां घंसमहरवनायाचम् ॥ ४ ॥

इति षष्ठाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

- ५ 'आजासः पूरणम्' । भरद्वाजस्यार्षम् । आवहन्तु अजा अश्वा
निशृम्भा निशृम्भहारिणः । य एवंलक्षणा
'निशृम्भाः' अश्वास्ते आवहन्तु पूरणं देवं रथे व्ययस्थितं
इत्यस्य विभ्रतः धारयमणा जनश्रियं जातश्रियम् ।
उद्धृतश्रिमित्यर्थः । एवमत्र समानविभक्त्यन्त-
१० त्वात् 'आजासः' इत्यनेन 'निशृम्भा' इत्येतदश्वविशेषणम् । सति
आश्वविशेषणत्वे 'मिशृम्भहारिणः' शीघ्रहारिणः । स्तथाभीष्टादा-
गमनस्य ।

'युवदुक्थः' (१३) इत्यनवगमम् । 'महदुक्थः' इति
या 'वक्तव्येक्य इति या' शान्दस्यमार्थी । 'युवदुक्थं हवामहे' सूप्रकारस्य

- १५ मुनेयं । साधु वृणन्तमनसि' (ऋ० सं० ८ ।
'युवदुक्थः' ३२ । १०) ॥ १३ इत्यपस्यार्षम् । प्रथमे पौर्वीये
इत्यस्य भैत्रावरुणस्य शस्त्रे (आ० श्रौ० ६ । ४)
तृचाशीतिषु च मह व्रते (ऐ० आ० ५ । २ ।

- ३) शस्यते । 'उक्थम्' इति शस्त्रमुच्यते । तद्यस्य वृहत् महत् स युव-
२० दुक्थः । अथवा तद्यस्य वक्तव्यं न युवदुक्थः । तं युवदुक्थम् इन्द्रं हवा-
महे ययमः हवामहे एतस्मिन् कर्मणि मृषकारस्य सूप्रकारं दीर्घशब्दम् उक्तये
अथनाय रक्षणायामनः साधु कृन्वन्तं साधुकारिणं नित्ययातमेवाश्व

१ क. ख. छ. त. द. 'इवन्तवम्'. २ क. ख. ५ (४), छ. त. द. ५. ३
क. घ. घ. 'इति०पादः' नास्ति ; छ. 'इति ०४५.५५५' नास्ति ; त. इति
६५ षष्ठाध्याये प्र० ; द. इति नैरुक्तस्य षष्ठा०. ४ क. झ. ट. पूरणं रथे० विभ्रतः । भर० ;
ठ. ह. अ. गण इति । भर०. ५ ठ. क. निशृम्भहारि०. ६ क. ख. च. झ. ट.
'भक्त्यन्तंसादना' ; ग. ज. 'विभक्तत्वादाना'. ७ ग. ख. ज. निशृम्भ०. ८
क. ख. घ. झ. तस्याभी० ; ट. तस्याभी० वा. ९ झ. 'मार्थ' । १३ । वृ०.
१० ग. ग. 'महे । कृ०य' ; च. झ. ट. 'महे० मवते । कृ०य'. ११ च. ट.
२० वरे०रसर्गं भेषाविधेः. १२ ग. ज. 'वन्दे' नास्ति ; च. वन्दे०नेना० पय०दि.

जगतः साधु कीरण्यानीत्यभिप्रायम् अवसे तस्यैव तर्पणाय । तमागतं
सन्तमेतस्मिन् कर्मणि : तर्पयिष्याम इत्येतेनाभिप्रायेण ह्वयामहे । एतत्र
'हवामहे' इत्यनेन संबन्धात् 'बृवदुक्थो महदुक्थो वक्तव्योक्थो वा'
इत्युपपद्यते । य एव हि महदुक्थो भवति वक्तव्योक्थो वा स एव सुत-
रामाहूयत इति ।

'ऋदूदरः' (१४) इत्यनवगतम् । 'मृदूदरः' इत्यवगतम् । 'सोमः'
अभिधेयः । 'ऋदूदरेण सखां सचेय यो मा न
'ऋदूदरः' ररिष्येत्तत्त्व पीतः । अयं यः सोमो न्यधायस्मे
इत्यस्य तस्मा इन्द्रं प्रतिरिभ्य्यायुः' (ऋ० सं० ८ ।
४८ । १०) ॥ प्रगाथस्यार्पम् । सौमेन्द्रस्य

इत्यात्मकस्य चरोर्योऽथैषा सोमवामिप्रायश्चित्तेष्टौ (भैत्रा० सं० २ । २ ।
१३ ॥ ४ । ११ । २) । ऋदूदरेण मृदूदरेण सोमेन । मृदू हि सोम-
स्योदरं सुपिरत्वात् । अथवा मृदुरयमुदरे स्यादित्येवमाशास्यते पातृभिर्व-
मनाशङ्कया । तस्मान्मृदूदरः सोमः । स पुनरेष मृदूदरः सन्मृदूदर इत्युच्यते ।
तेन मृदूदरेण सखा समानखानेनेव केनचित्पुरुषेण मित्रेण सचेय
संसेवेयम् । पुनरार्याभिषु ऋचन्तरणु सोमो यः सोमो न रिष्येत् न हि स्यात्
पीतः सन् यथाहमनेन सोमेनाहिसितः तेन सचेयम् । हे हर्षद इन्द्र
एतदस्तु नः । किंच । अयं यः सोमो न्यधायस्मे निहितोऽन्नास्यासीत् ये-
नेमामापदमापादिताः सोमो वमनद्वारेण तस्मै तदर्थं तेनास्माकमायुषो यद-
वखण्डनं कृतं तत्प्रतिपूर्णाया इन्द्रं प्रतिरिं प्रतीर्णम् अनेवखण्डितं सर्वम्

१ घ. ट. ठ. ड. 'वक्तव्योक्थो वा' नास्ति. २ ग. 'धेयः । १४ । ऋदू. ३ ग.
ज. सखा । प्रगाथः; घ. झ. ट. सखा० प्रतिभेय्यायुः । प्रगाथः. ४ क. ल. घ. झ.
ठ. ठ. ड. 'अस्येयमार्पम् । त्रिष्टुप् 'सोमो । सोमे' (ठ. ड. सोमं). ५ घ. झ.
ट. ठ. ड. सोमवामिनः प्रायः; च. सोमवामिप्रायः नः. ६ क. ल. घ. झ. ट.
ठ. ड. सचेय संसेवेयं सते; च. सचेयसंसेवेयं संसेवेयं. ७ क. ल. घ. झ. ट. ठ.
ड. संसेवेयम्; च. संसेवेयं यम्. ८ च. 'रागेपि' ना. ९ क. ल. घ. झ. ट. ठ.
ड. मा मां; च. सोमोमां मा. १० क. ल. घ. झ. ट. ठ. ड. सचेयं; च. सचेयं
यं. ११ क. ल. घ. झ. ट. ठ. ड. इन्द्र सोमस्याग्नि एतः; च. इन्द्र एतः
सोमस्याग्नि १२ च. 'तीर्णं अरत्'.

अ.युः एमि । याचामीत्यर्थः । सोमवमनवैगुण्यादायुपसृष्टेदमाशङ्कमान इन्द्रं दीर्घमायुर्थयाच यजमानाय । एवमास्मिन् 'ऋदूदरः सोमः' प्रकरणाच्छब्दसारूप्याच्च ।

५. 'ऋदूप्ते' (१५) इत्युपरिष्ठाद् व्याख्यास्यामः । 'ऋदूप्ते चिद्वृद्धा' (निरु० ६ । ३३) इत्यत्र ।

'पुलुकामः' (१६) इत्यनवगतम् । 'पुरुकामः' इत्यवगमः । 'इमं नु सोममन्तितो' इमु पीतमुपं ब्रुवे । यत्सीमाग-

१०. 'पुलुकामः' इत्यस्य अथकृमा तस्मि मृळुतु पुलुकामो हि मर्त्यः' (ऋ० सं० १ । १७९ । ५) ॥ अगस्त्यलोपामुद्रा-संवादे^१ । इमम् अहं सोमम् अन्तितः अन्तिकेऽव-

स्थितम् उपगम्य चेत्तस्मा ब्रुवे । न च अहिरन्तिकेऽवस्थितमुपब्रुवे । किं तर्हि । पीतं सन्तं हृत्स्वेव स्व एव हृदयेऽवस्थितमुपब्रुवे । यत्सीमागश्चकृमा यत्सर्वतः सर्वप्रकारमागश्चकृम पापं कृतवन्तो ययं तदयं सोमः सुमृळुतु सुप्तु सुखविधिपारिणामं करोतु । किं कारणम् । इतो यस्मात् पुलुकामो हि १५. बहुकामो हि मर्त्यः । स बहुकामत्वनुभ्यस्वामान्यादवश्यमागः करोति । तदयं पीतः सोमः शमयधित्यभिप्रायः । एवमत्र पुलुकामशब्देन पुरुकामो बहुकाम उच्यते मर्त्यशब्दमामानाधिकरण्यात्सारूप्याच्च ।

'असिन्वती' (१७) इत्यनवगतम् । 'असंखादन्वौ' इत्यर्थ-प्रतीतिः । 'अपश्यमर्त्यं महतो महित्वममर्त्यस्य २०. 'असिन्वती' मर्त्यासु विक्षु । नाना इन् विभृते संभरेते असिन्वती वप्सती भूर्यधः' [ऋ० सं० १० । ७९ १] ॥ वैश्वानरस्याग्नेः सौचीकस्य वा वाजग्भ-

१ ग. 'गमः' । १५ । १५०. २ ग. ज. 'न्तितः' । अग^०; घ. झ. ट. 'न्तिनो० कामो हि मर्त्यः' । अग^०. ३ ड. ख. च. मृळुतु. ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'वादे अन्तेकसी मत्तवापी इमां सौमी बृहतीमपश्यत् । इम^०; अ. 'वादे- । इम^० अन्ते०००पश्यत्. ५ ग. ज. घ. झ. सुमृळुतु. ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'विधिपरि'. ७ ग. 'तीतिः' । १६ । अप^०. ८ ग. ज. 'मस्य' । वैश्वा^०; घ. झ. २८. ट. 'मस्य०भूर्यधः' । वैश्वा^०. ९ ग. झ. 'वा' नास्ति; च. 'कस्य-वाग्' वा.

रस्य वा सत्तेरार्षम् । अपश्यमहं भगवतोऽनेर्महतो महिम्नं माहाभागम्
अमर्त्यस्य अमरणधर्मिणो मर्त्यासु मरणधर्मिणीषु विश्व । मनुष्येऽप्येवमर्थः ।
माह । किंपुनस्तन्माहाभाग्यमिति । उच्यते । नानामावेनैते हनू हननसमर्थे
आले अवस्थिते विभूते विविधमवधूते सत्यौ संमरेते एव एकत्र हरेते हवीं
दारुणि वा । संभृत्य च असिन्वती असंखादन्यौ असंखादन्याविव अथवा
संचूर्णयन्त्याविव । अनेन प्रकारेण शीघ्रं बन्सती भक्षयन्त्यौ भूरि अपि दारुजातं
हविर्जाते वा यदतो भक्षयतो न च श्रम्यतः एतदस्य माहाभाग्यमहमपश्य-
मस्मिन्मनुष्यलोके इति । हनुरूपकसंबन्धाद्द्वीष्वपि आलमु द्विवचनमेव
कृतम् । एवमत्र हेनुसंबन्धान् 'असिन्वती असंखादन्यौ' इत्युपपद्यते ।

'कपनाः' (१८) इत्यनग्रगतम् । 'कल्पनाः' इति शब्दसमाधिः । १०
'कृमयो भवन्ति' इत्यभिधेयवचनम् । 'अभ्राजि

'कपनाः' इत्यस्य शीघ्रं मरुतो यदंर्णसं मोषधा वृक्षं कपनेन वेधसः ।
अथ स्मा नो अरमति सजोपसधक्षुर्विव यन्तमनु

नेपथा सुंगम् [अ० सं० ५ । ५४ । ६] ॥ इत्याद्याश्चस्यात्रेयस्येयमार्थम् ।
भ्राजते वो हे मरुतः सत् शर्धः तद्वलं येन बलेन मेघं वृद्धमुदकपूर्णम् १५

अनुप्रविश्य मोष्य मुष्णीथ यूयम् । निरुदकं कुरुत्येवमिषायः । कथं पुन-
मोष्येति । वृक्षे कपनेन वेधसः । कम्पनः कृमय इव वेद्धारः । यथा
वृक्षमनुप्रविश्य कृमयोऽन्तर्गतं दारुचूर्णं रसं वा मुष्णन्त्येव यूयमुदकं

१ क. ख. घं. झं. टं. ठ. ड. वा सत्तेरियमार्थम् । त्रिहृवाग्रेयी । अप°; ग.
ज 'वा' नास्ति; च. 'रस्य सत्तेरार्ष' । 'अप' त्रिहृप् । आग्रेयी. २ ग. ज. महा°;
च. महा° मा. ३ ग. ज. 'धर्मणः'; घ. 'ट. 'स्वामरणमिणीषु विश्व; झ. 'स्वामरणमि-
णधर्मिणीषु विश्व. ४-च. हननसामर्थ्यः ५ झ. ट. विभूते. ६ क. ख. घ. झ. ट.
ठ. ड. त्रिविवमिव धू. ७ क. ख. घ. ज. ट. ॥ ड. '९५' नास्ति; च. ह्वं. ८
च. हविषि दारुणि वा. ९ च. शीघ्रं शी. १० घ. झ. ट. ठ. ड. हनून्. ११ क.
ख. घ. झ. ट. ठ. ड. कृमयो°; च. कृमयो° कि. १२ ग. 'चनम्' । १३ अग्र°. १४
ग. ज. शर्धः । इया°; च. झ. ट. शर्धो° नेपथा सुंगम् । इया°. १५ क. ख. घ. झ. ट.
ठ. ड. 'मार्थम्' । मारुती (जम्ती) । दारुसात्रिके भिबृत्तोमे प्रथमेद्वन्याद्रिमार्ते विनि-
युक्ता । दशर्धाधेत्यामिमा (व. ट. 'शिना) रुन इति सूत्रान् (ठ. ड. 'मारुते सूत्रवाद्') ।
अभ्राजि भ्राजते°; च. 'मार्थम्' । भ्राजते° मारुती° सूत्रान् । अभ्राजि. १५
क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. कुरुत्येव°; ग. ज. कुरुत्येव°. १६ क. ख. घ. झ.
ट. कृमयो°.

यान् यष्टतरो मनुष्यहोतारमपेक्ष्य । एवमत्र 'भाञ्जजीको प्रतिद्वयोः' ५
इत्युपपद्यते ।

'रुजानः' (२०) इत्येतदेकपदमनवगतम् । 'रुजैत्यः' इत्य-
वगमः । 'नद्यो भवन्ति' इत्यभिधेयवचनम् ।
'रुजानाः' 'रुजन्ति कूजानि' इति हेतुनिर्देशः । 'अयोद्धेव'
इत्यस्य दुर्मदे आ हि जुहे महावीरं तुविबाधमृजीपम् । १०
नातारीदस्य समृतिं वधानां सं रुजानाः विपिव
इन्द्रशत्रुः' (ऋ० सं० १ । ३२ । ६) ॥ हिरण्यस्तूपस्यार्धम् । अग्नि-
ष्टोमे निष्केयल्ये शस्यते (आ० श्रौ० ५ । १५) । अयोद्धेव । यथा
कश्चिदयोद्धा दुर्मदो दुर्मत्तो वाष्पात्रसारः । आह । स यथा किं करोतीति ।
उच्यते । आ हि जुहे । आह्वयतीत्यर्थः । कमाह्वयति । महावीरं महाविक्रान्तं १५
तुविबाधं बहूनां शत्रूणां बाधितारम् ऋजीपम् । ऋजीपिणमित्यर्थः । तदु-
क्तम् 'ऋजीपी वज्री' (ऋ० सं० ५ । ४० । ४) इति । तमेवंप्रभाव-
मिन्द्रमाहूय मेवो नातारीत् इतरवदुर्मदो न तर्तुं शक्नोति अस्य इन्द्रस्य
समृतिं समागमं वधानां प्रहाराणाम् । अतरमाणो या एता नद्यः संरुजाना
जर्मिभिः कूजानि वहन्त्यो रुजन्ति ताः प्रति विशीर्यमाणः विपिवे इन्द्र- २०
शत्रुः । इन्द्रस्य शातपितव्य इत्यर्थः । एवमत्र शब्दार्थोपपत्तेः 'नद्यो
रुजानाः' इत्युपपद्यते ।

'जूर्णिः' (२१) इत्यनवगतम् । 'जवनाद्वा द्रवणाद्वा देवनाद्वा'
इति शब्दसमाधयः । शक्तिरभिधेया । 'जवतैः'
'जूर्णिः' गत्यर्थस्य जूर्णिः । 'द्रवतेर्वा' गत्यर्थस्यैव जूर्णिः । २५
इत्यस्य 'दुनोतेर्वा' हितार्थस्य । 'प्रप्रां वो अस्मे स्वधेशो-
भिरूती परैर्वा इन्द्रे' दुर्मतीनां दरीर्मन्दुर्मतीनाम् ।

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'देकं प' ; ग. 'देकनवगतं' ; ज. 'देव पद'. २
ग. रुजन्ति इ° ; च. रुजन्ते इ° त्य ; ज. रुजन्त्य इ० ; ठ. ड. रुजइत्य°. ३ ग.
'देशः । १९१ अयो'. ४ ग. ज. 'मंदः । हिर' ; घ. स. ट. 'मंदः० इन्द्रशत्रुः ।
हिर'. ५ ग. ज. दून द्वा ; च. दूनद्वननाद्वा. ६ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. जव-
तेर्वा म°. ७ ग. 'रिन्त्य । २० । पमा°. ८ ग. ज. अस्मे । पृ° ; घ. स. ट.
अस्मे ख० सिप्ता जूर्णिर्न वज्रति । पृ°. ९ च. दरीमं ड°.

- स्वयं सा रिपन्धे या न उपेये अत्रैः । हतेमसन्न वक्षति क्षिता जूर्णिर्न
वक्षति' (ऋ० सं० १ । १२९ । ८) ॥ परुच्छेपस्यार्पम् । अति-
च्छन्दाः । पृष्ठवस्य पष्ठेऽहनि निष्केवल्ये शस्यते (आ० श्रौ० ८ । १) ॥
प्रव्रवीमि हे स्तोतारः प्रवृत्त अस्मै स्वयशोभिः आत्मीयैर्यशोभिः संयुक्ताः
५ स्तुनीः । किं कारणम् । यस्मादेयः इन्द्रः स्तुत ऊती अविता रक्षिता पारि-
वर्गे संप्राप्ते । यत्र हि प्राणाः परिवृज्यन्ते वियुज्यन्ते तत्रायमस्माकं रक्षिता
भविष्यति । दुर्मतीनां च पापमतीनामस्मच्छद्रूणां हन्ता भविष्यति । तमे-
तमेवगुणविशिष्टमिन्द्रं दरीभन् दारयितुमतं दुर्मतीनां पुनः पुनः स्तुतं ।
अ. ह । कथं पुनरसावस्माकं रक्षिता भविष्यतीति । उच्यते । स्वयं सा रिप-
१० यधै रेपणाय भविष्यति । किञ्चिदप्यङ्गैस्त्वास्मादपिन्द्रप्रभावात्स्वयमेव विन-
ह्यतीत्यभिप्रायः । का पुनरसाविति । या न उपेये अत्रैः । या अस्मान् उपा-
गच्छति अत्रैः अदनैः रक्षोभिः प्रहिता सा । हतेमसन्नं वक्षति । ' ईम् '
इत्यनर्थकः । हता सती इन्द्रेण न वक्षति अस्मान् प्रति । क्षिता अपि च
तैः पुनरादरेणापि रक्षोभिः जूर्णिः जवसंपन्ना वि सती शक्तिर्न वक्ष्यत्य-
१५ स्मान् प्रति । न प्राप्स्यतीत्यर्थः । एवमत्र क्षेपणसंक्रान्तात् 'जूर्णिः शक्तिः'
इ पुपाद्यते ।

‘ओमना’ (२२) इत्यनवगतम् । ‘अवनाय’ इत्यवगमः । ‘युवोः

श्रियं पारि योषां वृणीत स्रीं दुहिता पारितकम्या-

‘ओमना’ इत्यस्य याम् । यदेवयन्तमर्थः शर्चाभिः पारि प्रममो-

२० मनां वा ययो गान्’ इति (ऋ० सं० ७ ।

६९ । ४) ॥ वसिष्ठैस्त्यार्पम् । प्रातरनुवाक्यादिवनयोः शस्यते (आ०

श्रौ० ५ । १५) । दे अदिवनौ युवोः श्रियं युवयोर्पोथीस्तां परिहृणीत

१ क. ॥. घ. स. ठ. ड. अतिदृश्यते; घ. ‘स्त्यार्पम्’ - अति’ अतिशब्दी.

२ म. ज. प्रवोचत. ३ क. ख. घ. स. ट. ठ. ड. भवति. ४ क. ख. घ. स.

६५ ट. ‘च’ नास्ति. ५ म. घ. ज. दरीय. ६ क. ख. घ. रतनः. ७ क. ख. घ.

स. ट. ठ. ड. ‘प्यहृत्वा’; घ. ‘प्यहृत्वा’ क. ८ म. ‘ममः’ १२१ । युवोः

९ म. ज. योषा वक्षि; घ. स. ट. योषां ओमना वा ययो गान् । वमि. १०

क. म. घ. स. ट. ठ. ड. ‘हस्येदमार्पम्’ । विहृप् । आश्विनी । मान; घ.

‘हस्यार्पम्’ । - मातं विहृप् । आश्विनी. ११ क. घ. स. ट. ठ. ड. परि

२० अदुर्गतं.

सर्वतः संभजते योपा । अ.ह । कतमेति । उच्यते । सूरौ दुहिता सूर्यस्य
दुहिता । येयमुपःसंज्ञिकेयमवृणीत । परितवम्पायां राज्याम् ऊर्ध्वमर्धरात्रात् ।
स ह्यश्विनोः कालः । किंच । यदेवयन्तमवथः शचीभिः । यस्मात् देव-
यन्तं देवान्यष्टमिच्छन्तं यजमानम् अवथः शचीभिः स्वैः कर्मभिः तेन
कारणेन वा पर्यगात् परिगच्छति सर्वासु दिक्षु यजमानैर्दयमानं युवां प्रति
ययः अन्नं हविर्लक्षणं प्रसं प्रति वहः प्रति । अहनि प्राप्त इत्यर्थः । पूर्वो-
हो ह्यश्विनोर्यागकालः । तदुक्तं 'प्रातर्यावाणा प्रयमा यजन्वम्' (अ०
सं० ५ । ७७ । १) इति । कमथं पुरस्कृत्य वयोऽन्नं गच्छति । अर्व-
नाय । तर्पणायेत्यर्थः । एवमत्राश्विनोर्हविःसंप्रदानसंबन्धात् 'ओमना'
इत्यस्य शब्दस्य 'अवनाय' इत्येष विपारिणाम उपपद्यते ।

केचिदत्र 'अवनेनान्नम्' इत्येवमधीयते भाष्यम् । तेषां योजना ।
'अवनेनान्नम्' 'अवनेन' तर्पणेन भवतोर्निमित्तभूतेन 'पर्य-
इति' भाष्यपाठेऽर्थः गादनम्' इति ।

केचित् 'अनेनान्नम्' इत्येवमधीयते भाष्यम् । तेषाम् 'अनेन'
'अनेनान्नम्' मन्त्रेण 'अन्नं' परिगच्छतीति योजना
इति पाठे च स्यादिति ॥ ४ ॥

एकादशस्य प्रथमः पादः ।

उपलभक्षिण्युपलेषु भक्षिणात्युपलभक्षेपिणी वेन्द्रं ऋषी-
न्पमच्छ दुर्भिक्षे केन जीवतीति तेषामेकः म युवाच । शकटः
शाकिनी गावो जालमस्यन्दनं वनम् । उदधिः पर्वतो राजा दुर्भिक्षे
नव वृत्तय इति । सा निगदव्याख्याता ॥ ५ ॥

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. दुहिता । कदा तां त्रियमुपःसंज्ञे । २ क. ख.
घ. ङ. ट. ठ. ड. मंसं परि प्रति अहनि । ३ य. ङ. ट. ठ. ड. पूर्वोहो । ४ क.
ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. ओमना अवना । ५ क. ख. ५ (४); ग. ५; इतरेष्वङो
नास्ति । ६ क. ख. घ. ङ. ट. 'दशाध्यादस्य प्रथ' ; ठ. ड. इति कज्वर्थायां
निरुक्तटीकायां षष्ठ्यायि चतुर्थः खण्डः । गुर्नरपाठे निचण्टसह एकादशाध्याये
प्रथमः पादः । ७ छ. त. द. 'इन्द्रोऽऽनिगदव्याख्याता' नास्ति ; ठ. ड. वा
॥ ४ ॥ अत्र महाराष्ट्रवेदिकापाठः । इन्द्रं (उ. पुस्तके '४' नास्ति). ८ क. ख.
द. १ ; छ. त. द.

‘उपलप्रक्षिणी’ (२३) इत्यनवगतम् । ‘सक्तुकारिका’ अभि-
 धेया । सा हि ‘उपलेषु’ यवान् ‘प्रक्षिणोति’
 ‘उपलप्रक्षिणी’ हिनास्ति । एवमस्योपलप्रक्षिणीशब्दस्याप्रतीयमा-
 इत्यस्य व्युत्पत्तिः नार्थस्य निग्रहेणार्थप्रतीतिरवगमः । अथ ‘वा
 ५ उपलेषु प्रक्षेपिणी’ स्यात् । उपलेषु ततेषु भर्ज-
 नार्थं यवान् प्रक्षिपति । सा हि गौलेषु प्रसिद्धिः । उपलान् वा यवेभ्यः
 प्रक्षिपति । विचिनोतीत्यर्थः । सेयम् ‘उपलप्रक्षेपिणी’ सती ‘उपलप्र-
 क्षिणी’ इत्युच्यते ॥ ५ ॥

- १० कारुरहं ततो भिषगुं उपलप्रक्षिणीं नना । नानाधियो वसूय-
 वोऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परि स्रव (ऋ० सं०
 ९ । ११२ । ३) ॥ कारुरहमस्मि कर्ता स्तोमानां ततो
 १५ वसूयवो वसुकामा अन्वास्थिता स्मो गाव इव लोर्कमिन्द्रायेन्दो
 परिस्रवेत्यध्येषणा । आसीन ऊर्ध्वाश्रुपासि क्षिणात्युपस्थे प्रकल-
 विद्वणिग्भवति कलाश्च वेद प्रकलाश्च । दुर्भित्रासः प्रकलविन्मिमाना
 इत्यपि निगमो भवत्यर्थ्ययज्वाभ्यर्घ्ययन्यजति । सिपक्ति पूषा
 अभ्यर्घ्ययज्वेत्यापि निगमो भवतीक्ष ईक्षिषे । ईक्षे हि वस्व
 २० उभयस्य राजभित्यापि निगमो भवति । शोणस्यः क्षयणस्य ।
 महः शोणस्याभिनां कण्वायेत्यपि निगमो भवति ॥ ६ ॥

‘कारुरहं सैतः’ । शिशुराङ्गिरसस्तस्याधम् । पङ्क्तिः । ईन्दुष्वृ-

१. च. ‘हेणार्थस्य प्र’ । २ ग. ज. ‘प्रक्षिणी’ । ३ क. ख. १ (५) ; ग.
 २५ २; ठ. ड. ‘च्यते’ । इति निरुद्धटीकायां पद्याध्याये चतुर्थः खण्डः । ४ ठ. ड.
 लोक इन्द्रां । ५ क. ख. छ. त. द. क्षिणाति । उप० । ६ त. ‘वति । अम्य’ ।
 ७ क. ख. २ (६) छ. त. ५; द २. ८ घ. झ. ट. ततो भि० येन्दो परि स्रव
 (झ. स्रव । १२) । शिशु०; ठ. ड. ‘रहति । शिशु’ । ९ क. ख. घ. झ.
 ट. पङ्क्तिः । ऐन्द्री । रुद्रु०; च. पङ्क्तिः । रुद्रु० ऐन्द्री । १० ग. ज. रुद्रुः; ११
 २० च. रुद्रुः ।

ताशङ्कया किलापरिस्तवति सोमे पापैर्कार्तनादात्मशुद्धिर्भवन्प्रतीति

प्रयोगश्च

मन्यमान आत्मानमेव निर्दिशन्नाह । अहं ताव-
त्कस्मिंश्चिदनाकाले परेषां स्तोमकर्ता स्तुतीनां
प्रयोक्ता यज्ञकर्मणि होतृत्वेनावस्थितो बहिर्वा
यज्ञात्प्रियवक्ता लौकिकीभिर्वाचोयुक्तिभिर्वाविकापरतया औसम् । ततो मम
पिता पुत्रो वा भियक् असौ ब्रह्मा । स हि प्रायश्चित्तरोग उत्पन्ने
यज्ञस्य भैषजं करोति । यदुक्तं ' भैषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद्ब्रह्मा
भवति ' (छा० उ० ४ । १७ । ८) । इतरो लौकिको वा भियक् ।
' तत इति संताननाम पितुर्वा पुत्रस्य वा ' । पिनुर्हि सकाशात्पुत्रस्तन्यते ।
एवमपादाने कारके ' ततः ' पिता । पुत्रैस्तन्यते । अयं ' तनः ' कर्मणि

ततः इत्यस्य
द्वावयौ

कारके । उपलप्रक्षिणी सवनोयानां पेष्टी । ' दासी
पिनादि ' (आप० श्रौ० १ । २१ । ८)
इति श्रुतम् । इतरेषां लौकिकानां सक्तूनां पेष्टी
नना माता मर्मासीत् । सा हि स्तनसंयदानायुक्कारार्थमपत्यं प्रति नता
भवति । ' दुहिता वा ' नना स्यात् । सापि
' नना ' हि परिचर्यार्थं पितुः प्रह्वीभवति । यस्मिन्
पक्षे पिता भियक् तस्मिन् पक्षे ननाशब्देन
मातोध्यते । यस्मिन् पुनः पक्षे पुत्रो भियक्

तस्मिन् पक्षे ननाशब्देन दुहितोध्यते । ते वयमेवमनाकाले कस्मि-
श्चिज्जीविकाप्रधानाः सन्तो नानाधियो नानाकर्माणो यथोक्तेन क्रमेण
काररहमित्येवमादिना वसूयवो वमुकायाः । कथं नाम वमु लभे-
महि येन प्राणधारणं स्यादित्यनेनाभिप्रायेण । अनु गा इव तस्थिम ।
अन्वास्थिताः स्मो लोकमिमम् । कथं पुनरन्वास्थिताः स्म इति । गाव
इव । यथानैकरूपकारप्रकारैर्लोकमन्वास्थिता गाव एवमन्वास्थिताः स्मो
वयमपीमं लोकम् । स त्वम् इन्दो विज्ञायैतदनेन स्वदुरितानुकीर्तनेन क्षपि-

१ क. ख. प. झ. ट. ठ. ड. पापसंकीर्तं; च. पाप-कीर्तं सं. २ क. ख. प.
झ. ट. ठ. ड. तया । ततो; च. तयासर्वे. ३ क. ख. प. झ. ट. ठ. ड.
भैषजं; च. भैषजं ज्यं. ४ क. ख. प. झ. ट. ठ. ड. पुत्रः पुनस्तन्यते. ५ प.
झ. ट. ठ. ड. तदासीत् । दासी पिनं; म. ज. पेष्टी । सदासीत् । पिनं; च.
पेष्टी । ६ सदासीत् पिनं तदासीत्. ६ ग. ज. समासीत्. ७ क. ख. प. झ. ट.
ठ. ड. दित्येतेनाभि. ८ ग. ज. साडुं.

तत्कल्मषाः स्म इति मन्यमान एतस्मादज्ञापवित्रात् इन्द्राय इन्द्रार्थं परिस्त्रव ।
अस्माभिरेवमप्येष्यमाणः कथं वा न परिस्त्रविष्यसीत्यभिप्रायः । एवमत्र
' उपलप्रक्षिणी सक्तुकारिका ' शब्दार्थोपपत्तेरित्युपपद्यते ।

५ ' उपसि ' (२६) इत्यनवगतम् । ' उपस्थे ' इत्यवगमः । ' पत्तो
जंगौर प्रत्यञ्जमचि शीर्ष्णा शिरः प्रति दधौ वरूथम् । आसीन
ऊर्ध्वामुपसि क्षिणाति । न्यङ्ङुत्तानामन्वेति ।

' उपसि ' इत्यस्य भूमिम् ' (ऋ० सं० १० । २७ । १३) ॥
वसुक्रस्येन्द्रपुत्रस्यार्थम् । ऐन्द्री । त्रिष्टुप् । महाव्रते

मरुत्वतीये शस्त्रे सस्यते (ऐ० आ० ५ । १ । १) । पत्तः पादतो
१० रश्मिभिरितो लोकाद्यदादित्यो जगार गृह्णत्युदकं । तदिन्द्रो मध्यस्थान
आसीनः आत्मानं प्रत्यक्षितं प्राप्तं तेन भगवतादित्येन शीर्ष्णा उत्सृष्टम्
अस्ति । स्वीकरोतीत्यर्थः । तदेवमसौ स्वीकृत्य चतुर्षु वार्षिकेषु मासेषु
पृथिवीलोकनिवासिनां जनानां शिरः प्रति दधौ शिरस उपरि दधाति
वरूथं वरतममुदकम् । एवमयमिन्द्रो जगद्रूपकाराय प्रतिसंश्रमरमेति

१५ शुलोकास्त्वां गाम् आदित्योर्पसंस्तब्धाम् ऊर्ध्वाम् उपर्यवस्थिताम्
अन्तरिक्षलोके आसीन उपसि आत्मान उपस्थे उपस्थाने अन्तरि-
क्षलोके क्षिणाति प्रक्षारयति । यच्च प्रक्षारयति तदिमं लोकं प्रति
पुनरुत्सृजति । तत्तेनोत्सृष्टं न्यक् नीचेर्वर्षभावेनागच्छति । तत्त
उत्तानां भूमिं यथानिम्नम् अन्वेति । एवमत्र ' उपसि ' इत्यस्य

२० शब्दसारूप्यार्थोपपत्तेश्च ' उपस्थे ' इत्येव प्रतीतिः । ' अपि वा शिर
आदित्यो भवति ' इत्युक्तम् (निर० ४ । १३) । तस्मात् ' शीर्ष्णा ' ।
इत्यत्रोपपद्यते शिरस्त्वमादित्यस्य ।

१ ग. ज. स्थ इति. २ ग. 'गमः । २३ । पत्तो'. ३ ग. ज. जगार । वसु';
घ. झ. ट. जगार प्रत्यञ्जमचि० मन्वेति भूमिम् । वसु'. ४ ग. ज. ' आसीनः '
नास्ति. ५ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. वरतमम्'; ग.ज. वरतमम्'; घ. वरतनम्'
६ क. ख. घ. झ. ठ. ड. 'त्योपसृष्टामूर्ध्वाम्'; ग. ज. 'त्योपसंस्तब्धामूर्ध्वाम्';
घ. 'त्योपसंस्तब्धाम्' गृष्टा. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. उपस्थे आत्मनः; घ. ८
२८ आत्मेन उपस्थे. ८ ग. २४ सा; ग. टमा. ९ घ. झ. ट. ठ. ड. इत्येव.

‘ प्रकलवित् ’ (२५) इत्यनवगतम् । ‘ प्रकलावित् ’ इत्यवगमः ।

‘ वणिग्भवति ’ इत्यभिधेयवचनम् । स हि

‘ प्रकलवित् ’ ‘ कलाश्च वेद प्रकलाश्च ’ । कलासंरन्धेर्नवेह

इत्यस्य प्रकला उच्यन्ते कला एव ह्यपेक्ष्य प्रकला

भवन्तीति । यथाधिष्ठानमपेक्ष्य प्रत्यधिष्ठान-

५

मिति । ‘ इन्द्रेणैते तृस्तस्रो वेविपाणा आपो न सृष्टा अववन्त नीचीः ।

दुर्मित्रासः प्रकलविन्मिमाणा जहुर्विश्वानि भोजना सुरासे ’ (ऋ० सं०

७ । १८ । १५) ॥ वसिष्ठस्यार्षद् । त्रिष्टुप् । महाव्रते निष्के-

षल्ये दक्षिणे पक्षे शस्यते (ऐ० आ० ५ । २ । २) । इन्द्रेण एते

तृस्तस्रो दारयितव्या मेघा वेविपाणाः पुनः पुनर्व्याप्यमाना आपो न आप

१०

इय सृष्टाः केनचित् अधवन्त अगच्छन् नीचीः । नीचैरित्यर्थः । उच्चैर्गतय

एते सन्ति । इन्द्रबलादेयां नीचैर्गतयः संबृता इत्यभिप्रायः । किंच ।

दुर्मित्रासः । सुमित्राण्यपि सन्तो येऽतिसन्धानपरास्ते दुर्मित्राः । के पुनस्त

इति । प्रकलविदः । वणिज इत्यर्थः । ते यथाभिदोहबुद्ध्या किञ्चिद् द्रव्यमल्पं

ददत्येवमेते मेघाः पूर्वमल्लोदकदातारो भूत्वाधुनेन्द्रवणेद्यताः सन्तः जहुः

१५

विश्वानि सर्वाण्यशेषाणि भोजनानि उदकानि सुदासे राजानि यजमाने वा

कल्पाणदाने । ऐश्वर्योदकात्पदानोपमासंबन्धात् ‘ प्रकलविद्वणिज् ’ इत्यु-

पपद्यते । अवयवप्रत्ययवया हि कलाः प्रकलाशब्देनोच्यन्ते । तेषु च वणिगेव

निपुणो भवति गणितकुशलत्वान्न तथःप्य इति ।

‘ अम्पर्ययज्वा ’ (२६) इत्यनवगतम् । ‘ अम्पर्ययन् ’ अभिवर्ध-

१०

यन् यो ‘ यजति ’ । यंजतिरत्र दानार्थः [धा० १ । १०२७] ।

१ ग. ज. प्रत्ययिदि°; घ. प्रकलविदि°. २ ग. ज. केवलाश्च पक्ष°. ३ ग.

°मिति । २५ । इन्द्रे°. ४ ग. ज. तृस्तस्रोः । वनि°; घ. ज. ट. तृस्तस्रोऽभाजना

मुदासे । वशि°. ५ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. त्रिष्टुवेन्द्रा । मण°; च. त्रिष्टुप् । मण°

ऐन्द्रो°. ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. सन्तः. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.

‘ पयो ’ नास्ति. ८ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘ सौ पुनर्बुभुविः ’; घ. ‘ सौ पुन’

पुनः. ९ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘ एव लोदका ’. १० क. ख. घ. झ. ट. ठ.

ड. अप्पेयनिर्ज; घ. यंजतिरत्र° अम्पर्ययजति. ११ ग. ‘ र्थः । २९ । निम्न’.

तत्कल्मषाः स्म इति मन्यमान एतस्मादशापवित्रात् इन्द्राय इन्द्रार्थं परिस्त्रय ।
अस्माभिरेवमध्येप्यमाणः कथं वा न परिस्त्रवेष्यसीत्यभिप्रायः । एवमत्र
' उपलप्रक्षिणी सक्तुकारिका ' इन्द्रार्थोपपत्तेरित्युपपद्यते ।

५ ' उपसि ' (२६) इत्यनवगतम् । ' उपस्थे ' इत्यवगमेः । ' पतो
जंगौर प्रत्यञ्चमसि शीर्ष्णा शिरः प्रति दधौ वरूथम् । आसीन
ऊर्ध्वमुपसि क्षिणाति । न्यङ्कुत्तानामन्वेति ।
' उपसि ' इत्यस्य भूमिम् ' (ऋ० सं० १० । २७ । १३) ॥
वसुक्रस्येन्द्रपुत्रस्थार्षम् । ऐन्द्री । त्रिष्टुप् । महाव्रते

मरुत्वतीये क्षत्रे शस्यते (ऐ० आ० ५ । १ । १) । यत्तः पादतो
१० रश्मिभिरतो लोकाद्यदादित्यो जगार गृह्यत्युदकं । तदिन्द्रो मध्यस्थान
आसीनः आत्मानं प्रत्यञ्चितं प्राप्तं तेन भगवतादित्येन शीर्ष्णा उत्सृष्टम्
असि । स्थीकरोतीत्यर्थः । तदेवमसौ स्थीकृत्य चतुर्षु वार्षिकेषु मासेषु
पृथिवीलोकनिवासिनां जनानां शिरः प्रति दधौ शिरस उपरि दधाति
वरूथं वरतमेमुदकम् । एवमयमिन्द्रो जगद्रुपकाराय प्रतिसंयत्सरमेतां

१५ शुलोकाख्यां गाम् आदित्योर्ध्वमस्तन्धाम् ऊर्ध्वाम् उपर्यवस्थिताम्
अन्तरिक्षलोके आसीन उपसि आत्मानं उपस्थे उपस्थाने अन्तरि-
क्षलोके क्षिणाति प्रक्षारयति । यच्च प्रक्षारयति तदिमं लोकं प्रति
पुनरुत्पृजति । तत्तेनोत्सृष्टं न्यप्त् नीचेर्ध्वमभावेनागच्छति । सत
उत्तानां भूमिं मथानिश्नम् अन्वेति । एवमत्र ' उपसि ' इत्यस्य

२० शब्दसारूप्यादर्थोपपत्तेश्च ' उपस्थे ' इत्येव प्रतीतिः । ' अपि वा शिर
आदित्यो भवति ' इत्युक्तम् (निर० ४ । १३) । तस्मात् ' शीर्ष्णा ' ।
इत्यत्रोपपद्यते शिरस्त्रयमादित्यस्य ।

१ ग. अ. एष इति. २ ग. 'ममः । २३ । पतो'. ३ ग. ज. जगार । वसु';
४. स. ट. जगार मरुत्वतीये० मन्वेति भूमिम् । वसु'. ४ ग. ज. ' आसीनः '
नासि. ५ क. ल. घ. स. ट. ठ. ड. वरतम्'; ग. अ. वरतम्'; ख. वरतम्'
६. ६ क. ल. घ. स. ट. ठ. ड. 'इन्द्रोपगृह्यतां'; म. ज. 'इन्द्रोपगृह्यतां';
ख. 'इन्द्रोपगृह्यतां' इत्या. ७ क. ल. घ. स. ट. ठ. ड. उपस्थे आत्मानं; घ.
२८ आत्मानं उपस्थे. ८ ग. २४. ५; ७. उवा. १ घ. क. ट. ठ. ड. इत्येव.

‘ प्रकलवित् ’ (२५) इत्यनवगतम् । ‘ प्रकलावित् ’ इत्यवगमः ।
 ‘ वणिग्भवति ’ इत्यभिधेयवचनम् । स हि
 ‘ प्रकलवित् ’ ‘ कलाश्च वेद प्रकलाश्च ’ । कलासंक्वधेनैवेह
 इत्यस्य प्रकला उच्यन्ते कला एव ह्यपेक्ष्य प्रकला
 भवन्तीति । यथाधिष्ठानमपेक्ष्य प्रत्यधिष्ठान-

मिति । ‘ इन्द्रेणैते तृत्स्वो वेविपाणा आपो न सृष्टा अववन्त नीचीः ।
 दुर्मित्रासः प्रकलविन्मिमाणा जहुर्विश्वानि भोजना मुदासे ’ (ऋ० सं०
 ७ । १८ । १५) ॥ वसिष्ठस्यार्षन् । त्रिष्टुप् । महाव्रते निष्के-
 वल्ये दक्षिणे पक्षे शस्यते (ऐ० आ० ५ । २ । २) । इन्द्रेण एते
 तृत्स्वो दारयितव्या मेधा वेविपाणाः पुनः पुनर्व्याप्यमाना आपो न आप
 इव सृष्टाः केनचित् अववन्त अगच्छन् नीचीः । नीचैरित्यर्थः । उच्चैर्गतय
 एते सन्ति । इन्द्रवलादेर्षी नीचैर्गतयः संवृत्ता इत्यभिप्रायः । किञ्च ।
 दुर्मित्रासः । सुमित्राण्यपि सन्तो येऽतिसन्धानपरास्ते दुर्मित्राः । के पुनस्त
 इति । प्रकलविदः । वणिज इत्यर्थः । ते यथाभिद्रोहबुद्ध्या किञ्चिद् द्रव्यमल्पं
 ददत्येवमेते मेधाः पूर्वमल्लोदकदातारो भूत्वाधुनेन्द्रवलोत्पताः सन्तः जहुः
 विश्वानि सर्वाण्यशेषाणि भोजनानि उदकानि मुदासे राजनि यजमाने वा
 फलपाणदाने । एवमत्रोदकाल्पदानोपमासंक्वत् ‘ प्रकलविद्वणिक् ’ इत्यु-
 पपद्यते । अवयवप्रत्ययवत्वा हि कलाः प्रकलाशब्देनोच्यन्ते । तेषु च वणिगेव
 निपुणो भवति गणितकशलत्वान्न तथान्य इति ।

‘ अभ्यर्चयन् ’ (२६) इत्यनवगतम् । ‘ अभ्यर्चयन् ’ अभिवर्ध-
 यन् यो ‘ यजति ’ । यजतिरत्र दानार्थः [धा० १ । १०२७] ।

१ ग. ज. प्रलयत्रिंशः; च. प्रकलवदि. २ ग. ज. वेविपाणा पक्षः. ३ ग.
 ०मिति । २५ । इन्द्रे. ४ ग. ज. तृत्स्वः । वपि; च. झ. ट. तृत्स्वोभाजना
 मुदासे। वसि. ५ क. ख. व. झ. ट. ठ. ड. त्रिष्टुवेन्द्री। महा; च. त्रिष्टुप्। महा
 ऐन्द्री. ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. सन्तः. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
 ‘ एता ’ नास्ति. ८ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘ एते पुनर्वृत्तिः; च. ‘ एते-पुनः
 पुनः. ९ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘ एव-एव-एव. १० क. ख. घ. झ. ट. ठ.
 ड. अभ्यर्चयन्निष्ठ; च. यजतिरत्र अभ्यर्चयति. ११ ग. ‘ र्थः । २६ । विम्य?.

‘अभ्यर्धयन्वा’ इत्यस्य ^१मिम्यक्ष येपुं रोदसी नु देवीं सिपत्ते पूषा अभ्यर्धयन्वा । श्रुत्वा हवम् मरुतो यद्ध याथ भूर्मा रेजन्ते अध्वाने प्रविक्ते ’ (ऋ० सं० ६ ।

५० । ५] ॥ ऋजिदश नाम तैश्वर्यम् । वैश्वदेवे सूक्ते । हे मरुतो

येषु युष्मासु रोदसी देवीं रुद्रस्य पत्नीं मिम्यक्ष युनः पुनरेकर्ता गच्छति ।

‘व्यक्षति मियक्षति’ इति गतिकर्मसु पठति [निघ० २ । १४] ।

यश्च युष्माक मध्येऽवस्थितः सिपत्ते सेवते पूषा सूर्यो रश्मिभिः अभ्यर्धयन्वा

अभिवृद्धदानः ते यूयमेवगुणयुक्ता उच्यध्वे । श्रुत्वा हवम् आह्वानं यद्ध याथ

यदा यूयमायाथ अस्मान् प्रति तदा भूर्मा वहूनि बलानि ध्वजाग्राणि वा रेजन्ते

कम्पन्ते एतस्मिन् अध्वनि अन्तरिक्षे प्रविक्ते विविक्ते । विस्तीर्ण इत्यर्थः ।

एवमत्र ‘पूषा अभ्यर्धयन्वा’ । स हि स्वस्मिपोषं पुष्यन् भूतान्याभिमु-

रूपेण वृद्ध्या योजयन्नभिमतानर्थान् भूतेशो ददाति ।

‘ईक्षे’ (२७) इत्यनवगतम् । ‘ईशिषे’ इत्यवर्गमः ।

‘नृवत्ते इन्द्रे नृतमाभिः’ वसोमाहि वामं श्रोमतेभिः । ईक्षे हि वर-

उभयस्य राजन्वा रत्नं माहि स्थूरं वृहन्तम् ’

(ऋ० सं० ६ । १९ । १०) ॥ भरद्वा-

जश्वरिणम् । व्यूढस्य दशरात्रस्याष्टमेऽहनि मरुत्वतीये दास्रे शस्यते (आश्व०

श्रौ० ८ । ७) । नृवत्ते । यथा मनुष्याः केचिदुत्पन्नप्रणयाः कंचि-

दीश्वरं मनुष्यं स्तुतिभिः संभजेरन्नेयं वयं त्वां नृतमाभिः मनुष्यतमयो-

ग्यामिः ऊती अवन्तीभिस्तर्पयन्तीभिः स्तुतिभिः वसोमाहि संभजेमहि

१ म. ज. रोदसी । ऋजि०; व. झ. ट. रोदसी, अध्वनि प्रविक्ते । ऋजि०.

२ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ढ नाम भरद्वाजश्वर्यम्; । च. नामभरद्वाज भरद्वाजः.

३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ढ. सूक्ते । त्रिष्टुप् । हे; च. सूक्तेहे त्रिष्टुप्. ४ क.

ख. घ. झ. ट. ठ. ढ. इयप्रति; च मियक्षति इय; ज व्यक्षति ६ क. ख. घ. झ.

ट. ठ. ढ. पठितव; च पठति ठिग. ७ ग. ज. दाता; च. तैदी तदा. ८ घ.

झ. ट. ठ. ढ. भूय. ९ ग. ज. ‘विप्रेते००० योजयन्नभ’ नास्ति. १० च.

भूतान्ये (न्या) भिनुन्नन’ स्ये. ११ ग. ‘गमः । २७ । नृव’ १२ ग. ज.

इन्द्राभर; घ. झ. ट. इन्द्रं नृतमाभिः० माहि स्थूरं वृहन्तम्। भर. २३ क. ख.

२९ प. झ. ट. ठ. ढ. ‘श्वर्यम् । त्रिष्टुप् । व्यूढ’; च ‘श्वर्यम् । व्यूढ’ त्रिष्टुप्.

वामं पार्थिवं वननीयं श्रोमतोभिः श्रमणीयतमैः शब्दैः । केन पुनरर्थेन
वंसीमहि । इतो यस्मात् ईक्षे ईक्षिषे त्वं वस्वः वमुनो धनस्य उभयल-
क्षणस्य दिव्यस्य पार्थिवस्य च वमुनस्त्वं हे राजन् धा रत्नं देहि धनम् ।
कीदृशं पुनर्देहि । महि महत् वस्तुभूतं स्थूरं बहु बृहन्तं च बहुकालं
यस्यात्तेदेहि । एवमत्र वमुसंन्धात् 'ईक्षे' इत्येव शब्दः 'ईक्षिषे'
इत्येवमुपपद्यते ।

'क्षोणस्य' (२८) इत्यनवगतम् । 'क्षीयणस्य' इत्यवगमैः ।

'क्षोणस्य' युवं श्यावाय ईक्षतीमदत्तं महः क्षोणस्या-
श्विना कर्णाय । प्रवाच्यं तद्वृणणा कृतं वां
इत्यस्य यन्त्रार्थेन श्रवो अन्वयधत्तम्' (ऋ० सं० १ । १७ । ८) ॥

कक्षीवत अर्पम् । त्रिष्टुप् । मातरनुवाकाश्विनयोः शस्यते
(आश्व० श्रौ० ४ । १५) । युवं युवां हे अश्विनौ । श्यावाय राज्ञे
इक्षती उज्जितरूपां श्रियम् अदत्तम् । युवामेव च महतः क्षोणस्य
क्षयणस्य निवासस्य दातातौ कर्णाय ऋषये । अथ । प्रवाच्यं प्रकर्षेण
वचनीयं श्रोतव्यं तदनुवाच्यां कृतं हे वृषगौ वर्धितारौ यत् नार्पदाय ऋषये
वधिरीभूताय श्रवः श्रोत्रम् अन्वयधत्तम् अधिकं दत्तवन्तौ स्थः । एवमत्र
दानसंबन्धाधिकाराच्छब्दसारूप्याच्च 'क्षोणस्य गृहस्य' इति प्रतीयते ।

'क्षीयणस्य' (२८) इत्येवमेके मन्यन्ते । तत्पुनरनुपपन्नम् ।

'क्षयणस्य' इति भाष्यकारो निराह ।

'अस्मे' (२९) इत्येतत्पदं सर्वविभक्त्यन्तं तस्मादनेकार्थम् । एकमेव
क्षेत्तच्छब्दरूपं सप्तस्ववि विभक्त्यर्थेषु वर्तते । प्रकरणदिग्घातस्य नियमो
भवति । तद्यथा । प्रथमायास्तावत् 'अस्मे ते वन्धुः । ययमित्यर्थः' ॥ ६ ॥

१ अ. पार्थिव. २ क. ग. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'नीयं धनं धो'; घ. 'नीयं
धो' धनं. ३ घ. दा. ट. ठ. ड. शब्दः. 'केन तु पुन'. ४ क. ल. घ. श. ट. ठ. ड.
भनस्योभयस्य उभय. ५ म. ज. वस्तुभूतं; घ. वस्तुभूतं. ६ ग. ज. क्षणस्थितम्.
७ म. 'ममः'. ८ ग. ज. दृशती. कक्षी; घ. म. ट. दृश-
अन्वयधत्तं. कक्षी. ९ अ. यन्त्रार्थेन. १० क. म. घ. ङ. ट. आर्षः. आश्विनी
। त्रिष्टुप्; घ. आर्ष. त्रिष्टुप् आश्विनी. ११ क. उ. २ (६), ग. २९; इत्ये-
वमत्रो नास्ति.

अस्मे ते वन्धुः । वयमित्यर्थः । अस्मे यातं नासत्या
 सजोपाः । अस्मानित्यर्थः । अस्मे समानेभिर्वृषभ पौंस्येभिः ।
 अस्माभिरित्यर्थः । अस्मे प्र यान्धि मघवन्नृजीपिन् । अस्मभ्य-
 मित्यर्थः । अस्मे आराचिद् द्वेषः सनुतर्धुयोतु । अस्मदित्यर्थः ।
 ऊर्व इव पप्रथे कापो अस्मे । अस्माकमित्यर्थः । अस्मे धत्त
 वसवो वसूनि । अस्मास्वित्यर्थः । पाथोऽन्तरिक्षं पथा व्याख्या-
 तम् । द्येनो न दीयन्नन्वेति पाथ इत्यपि निगमो भवत्युदकमपि
 पाथ उच्यते पानात् । आ चष्ट आसां पाथो नदीनामित्यापि
 निगमो भवत्यन्नमपि पाथ उच्यते पानादेव । देवानां पाथ उप-
 बक्षि विद्वानित्यपि निगमो भवति सवीमनि प्रसवे । देवस्य वयं
 सवितुः सवीमनीत्यापि निगमो भवति सप्रथाः सर्वतः पृथुः ।
 त्वमग्रे सप्रथा असीत्यपि निगमो भवति विदूथानि धेदनानि ।
 विदूथानि प्रचोदयन्नित्यपि निगमो भवति ॥ ७ ॥

- १५ 'तपसस्तनुरसि प्रजापतेर्वर्णः परमेण पशुना क्रीयसे सहस्रपोषं
 पुष्यन्ती । अस्मे ते वन्धुः पुष्यम्' इति । सोम-
 'अस्मे' इत्ययं कथंने द्रव्यापाकरणमन्त्रेष्वजाया एवोऽपाकरण-
 प्रथमार्थे प्रयोगः मन्त्रः । सोच्यते । हे अजे । तपसः अग्नेः त्वं
 तनुः शरीरम् असि । 'आग्नेयेना अजा' इति
 १० शुचाम् । 'स एवा षम्यः प्रदेचयत्' इति च । तस्मादुपपद्यतेऽग्नेस्तनुव-
 मजायाः । प्रजापतेर्वर्णः वरुणाया त्वं सहस्रपोषम् अस्माकं पुष्यन्ती
 एतस्मिन् कर्भण्यङ्गभावमुपेहि । एवमजामभिष्टुत्याधुना सोमं प्रसीति । हे
 सोम अनेन परमेण अष्ट्रेण पशुना क्रीयसे । किं कारणम् । अस्मे वयं

१ ट. थ. दीपन्ने°. २ क. स. १ (७); III. त. ८; द. ३. ३ क. स.
 'शुचमस्य द्रव्या'; व. स. ट. 'कदमद्रव्या'; उ. ट. 'कदम द्रव्या'. ४ ग.
 ज. 'मन्त्रः । सोच्यते. च. 'कश्चै(ण) मन्त्रे(ऽ)प'°. ५ क. स. च. स. ट. ट. द.
 अग्नेयेना; च. आग्नेयेना° ह्यं. ६ क. स. प. ह. एता; च एवा; ट एना° च;
 १८ ट. द. एता षम्यः°

ते तव बन्धवः । विनियोक्तार इत्यभिप्रायः । एवमत्र प्रथमान्तेन 'बन्धु'-
शब्देन सामानाधिकरण्यात् 'अस्मे' इत्यस्य 'वयम्' इत्येव प्रथमया विप-
रिणाम उपपद्यते ।

१ आ श्येनस्य ज्वसा नूतनेनास्मे यातं नासत्या सजोपाः । हवे हि

वामश्विना रातहव्यैः शश्वत्तमाया उपसो व्युष्टौ

तस्यैव द्वितीयार्थे (ऋ० सं० १ । ११८ । ११) ॥ कक्षीयत
आर्षम् । त्रिष्टुप् । प्रातरनुवाकाश्विनयोः शस्थते

(आश्व० श्रौ० ४ । १५) । आयातम् अस्मे अस्मान् प्रति हे नासत्यौ

अश्विनौ । कथं च पुनरायातम् । श्येनस्य पक्षिणः जवसा जवेन वेगेन

नूतनेन नवतमेन । परिश्रान्तस्य हि श्येनस्यापि मन्दतरो जवो भवति । १०

सजोपाः मया सह प्रीयमाणौ परस्परेण वा युवाम् । कस्मात्पुनरेवं ब्रवीमि ।

इतो यस्मात् हव हि वाम आङ्ग्यामि युगम् । न चैवमेवाङ्ग्यामि ।

किं तर्हि । रातहव्यः दत्तहव्यः । युवामुद्दिशोत्सृष्टमेतद्वयं मया । तौ

युवामेतद्विज्ञाय शश्वत्तमायाः शश्वतिकतमाया अस्या उपसो व्युष्टौ

व्युच्छेदेकाले आहूयमानावागच्छतम् । एवमत्र 'आयातम्' इत्यनेन संब- १५

धात् 'अस्मे' इत्यस्य 'अस्मान्' इत्येवं द्वितीयया विपरिणाम उपपद्यते ।

२ भूरि चकर्थं युज्येभिरस्मे समानेभिर्वयम् पौर्त्येभिः । मृरीणि हि

कृण्वामा सविष्टेन्द्र कर्वा मरुतो यद्वशाम् (ऋ०

तृतीयार्थे सं० १ । १६५ । ७) ॥ इन्द्रमरुतवादे

मरुतामर्षम् । महर्षते (ऐ० आ० ५ । १ । १) २०

१ च. 'ति' नास्ति. २ ग. 'हवे' । ३. 'आ हवे'. ३ ग. ज. जवसा ।

कक्षी°; घ. झ. ट. जवसा० उपसो व्युष्टौ । कक्षी°, ४ च. रातदुष्यैः° इत्याः.

५ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. त्रिष्टुप् । आश्विनी । प्रात°; च. त्रिष्टुप् । प्रात°

आश्विनी. ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. वा वा युगम्; च. वा युगम् वां. ॥

क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. न वृथेवाङ्ग°; च. न चैवमेव ह्वं वृथे. ८ क. ख. घ. २५

झ. ट. ठ. ड. व्युच्छेदनकाले; च. व्युच्छेद° काले° न. ९ ग. 'यते' । ३१ ।

भूरि°. १० ग. अ. युज्येभिरस्मे । इन्द्र°; घ. झ. ट. युज्येभिः° यद्वशाम् । इन्द्र°.

११ क. ख. घ. झ. ट. 'मार्षम्' ऐन्द्री° । त्रिष्टुप् । महा°; च. 'मार्षम्' । महा°

ऐन्द्री त्रिष्टुप्; ठ. ड. मार्षम् । त्रिष्टुप् । महा°. १२-क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'यते च मृ'.

व्यूहस्य दशरात्रस्य च सप्तमेऽहनि मरुत्वतीये शौळे (आश्व० श्रौ० ७।३)
 शस्यते । इन्द्र उच्यते । सै च भूर बहु चकर्थ कृतवानसि कर्न तस्मि-
 स्तस्मिन् संप्राप्ते । तत्पुनः युग्मेभिः अस्मे अस्माभिः एव संयुक्तः समानेभिः
 समानैः पौंस्येभिः वनैः हे वृषभ वर्धितः । नैकाक्रीत्यभिप्रायः । किंच । वयमपि
 भूराणि बहूनि कर्माणि कृण्वाम तस्मिस्तस्मिन् संप्राप्ते हे शत्रिष्ठ वलिष्ठ
 इन्द्र । न च केवलं वाद्मात्रेणैतद्भूमः । किं तर्हि । कृत्वा एव कर्मणैव एतत्सं-
 पादयामो यद्यद् वशाम यद्यत्कामयामह इत्यर्थः । एवमत्र 'युग्मेभिः'
 इत्यनेन संबन्धात् 'अस्मे' इत्यस्य 'अस्माभिः' इति तृतीयया विपरिणाम
 उपपद्यते ।

- १० 'अस्मे प्र यन्धि मववन्नृजापिन्निन्द्रं राधो विश्ववारस्य भूरः । अस्मे शतं
 शरदो जीवसे धा अस्मे वीराञ्छदशत इन्द्र शिप्रिन्'
 चतुर्थ्ये (क० स० ३।३६।१०) ॥ वीरस्याङ्गिरसस्येवमा
 धम् । त्रिष्टुप् । जातकर्मणि विनियुक्ता (आश्व०
 गृ० १।१५) । अस्मे अस्मभ्यं प्रयन्धि देहि हे मघवन् धनवन्निन्द्र ऋजी-
 १५ पिन् राधो धनस्य विश्ववारस्य सर्वा आपदो यद्भन वारयति तस्य भूरः
 बहुनो यस्माधिप्रतिस्व तस्य अभिलपिता मात्रा देहि । किंच । अस्मे अस्मभ्यं
 शतं शरदः शतं वर्षाणि जीवनाय धाः देहि । अस्मे अस्मभ्यं वीरान्
 पुत्रान् शश्वतो दीर्घायुनो देहि हे शिप्रिन् । एवम् 'अस्मे प्र यन्धि' इत्यनेन
 पौंस्येन संबन्धात् 'अस्मे' इत्यस्य 'अस्मभ्यम्' इति चतुर्थ्या विपरिणाम
 २० उपपद्यते ।

१ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'च' नास्ति. २ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
 'शस्त्रे' नास्ति. ३ घ. झ. ट. ठ. ड. सभ्य भूरि°. ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
 युग्मेभिःवासने. ५ घ. झ. ट. ठ. ड. 'स्मिन्संप्राप्ते'. ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ.
 ड. यद्दशाम. ग. यद्दश°. ७ क. ख. घ. झ. ट. ड. यद्दशाम°; ट. यन्तदाम° घ.
 ८ ग. 'यते । ३२ । अस्मे. ९ ग. ज. यन्धि । यते ; घ. झ. ट. यन्धि मववन्नृ०
 इन्द्र शिप्रिन् । वीर°. १० क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. त्रिष्टुप्-द्विः ; च. त्रिष्टुप् ।
 जात° ऐन्द्री. ११ घ. देहि° शि° हे. १२ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. एव-
 मघ.स्मे. १३ ग. याम्यर्थेन ; च. य.ञ्ज्यर्थेन ; ज. राजार्थेन. १४ ग. 'यने । ३३ ।

‘तस्य वयं सुमती यज्ञियस्यापि भद्रे सोमनसे स्याम । स सुग्राम
 स्वर्वा इन्द्रे अस्मे आराच्चिद् द्वेयं सनुतयुयोतु’
 पञ्चम्यर्थे (ऋ० सं० ६ । ४७ । १३) ॥ गर्गस्य भार-
 द्वाजस्यापि पष्ठे मण्डले । ऐन्द्री । त्रिष्टुप् । पुनरपि
 चैपमेव कौक्षीवतः सुकीर्तिर्नाम तेन दशमे मण्डले दृष्टा । पष्ठे चाहनि ५
 पृष्ठपस्य विश्वजिति चैयं तृतीये सवने ब्राह्मणाच्छंसिनः शस्त्रे विनियुक्ता
 (आश्व० श्रौ० ८ । ४) । तस्य इन्द्रस्य यज्ञियस्य यज्ञार्हस्य वयं
 सुमती शोमनेऽप्यवसाये स्वम । अपि चैत्य भद्रे भन्दनापे स्तुत्ये सोम-
 नसे शोमनसंकल्पे मनसि नित्यमेव स्याम । स सुग्रामा इन्द्रः स्ववान्
 धनवान् अस्मे अस्मत्तः आराच्चित् दृतरमपनीय द्वेयः द्वेयं पापं ततः १०
 सनुतः स्वन्तर्हितं कृतं यथा तं न पश्येम तथा युयोतु । नाशयत्वित्यर्थः ।
 एवमत्र ‘द्वेयः’ इत्यनेन संवन्वात् ‘अस्मे’ इत्येतस्य ‘अस्मन्’ इत्येवं
 पञ्चम्या विपरिणाम उपपद्यते ।

‘आ नो भर भगमिन्द्र धुमन्तं नि ते’ देष्णस्य धौमहि प्ररेके । ऊर्ध्व
 इव पप्रथे कार्मा अस्मे तमा पृण वमुपते १५
 पृष्ठपर्थे वसूनाम् (ऋ० सं० ३ । ३० । १९) ॥
 ‘उर्ध्वे रक्षः’ इत्यस्या एवानन्तरा । आभिर नः ह
 इन्द्र भगं मजनीयं धनराशिं धुमन्तं दीप्तिमन्तम् । आह्वय चास्मभ्यं देहि ।
 तथा प्रभूतं देहि यथा मुक्तशेषस्य प्ररेके अतिरेके सति विदधीमहि ते
 तव ध्वभूतस्य देष्णस्य ; दानस्येत्यर्थः । कस्मात्पुनरेवं प्रवीमि प्रभूतं देहीति । २०
 इतो यत्तु ऊर्ध्व इव यथा वडवामुखेऽवस्थित ऊर्वोऽग्निः अपः पिवन्

१ ग. च. ज. सुमती (इति प्रतीकयेक) २ ग. ज. शयोर्वाहिसास्त्यपि पष्ठे
 मण्डले । पुनरपि ; च. शयोर्वाहिसास्त्य (गार्ग्य भारद्वाज) स्यात्पष्ठे ऐन्द्री त्रिष्टुप्
 ३ ट. मण्डले. ४ ग. ज. ‘कौक्षीवतः’ नास्ति ; च. ‘मेव सुकी’ कौक्षीवतः.
 ५ प. झ. ट. ठ. ड. ‘कौक्षी’ ६ च. ‘पृणये’ ७ ग. च. ज. वत्स्य. ८ ॥. ‘वने’
 १ ३४ । आ नो. ९ ग. ज. ‘मिन्द्र । उर्ध्व’ ; च. झ ट. ‘मिन्द्र । वसूनाम् ।
 उर्ध्व’. १० ज. ‘उर्ध्व’. ११ क. ग. द. झ. ट. ठ. ड. आभिर आह नोऽ-
 स्मभ्यं दे ; च. आभिर नः दे आह नोऽस्मभ्यं. १२ ग. ग. ‘नि’ नास्ति. १३
 च. पृथग्वत् १४.

पप्रथे प्रथते एवमयम् अस्मे अस्माकं कामः प्रथते विस्तीर्यते । तम्
आभिमुख्येन पूष पूर्य वसुनां हे वसुपते । एवमत्र 'कामः पप्रथे'
इत्यनेन संबन्धादात्मविपश्वादाशिषः 'अस्मे' इत्यस्य 'अस्माकम्'
इत्येवं पप्रथा विपरिणाम उपपद्यते ।

- ५ 'अस्मे घत्त वसुनो वसुनि' । अत्र 'घत्त' इत्यनेन संबन्धात्
सप्तम्यर्थे 'अस्मे' इत्यस्य 'अस्मासु' इत्येवं सप्तम्या
विपरिणाम उपपद्यते । सप्तदशोऽध्याये 'सुगावो
देवाः सुपथैः' इति शेषो वर्धयत एव (निरु० १२ । ४२) ।

- १० 'पाथः' (३०) इत्यनवगतमनेकार्थं च । 'अन्तरिक्षं तावत्पाथ
उच्यते' । तत्पुनरेतत् 'पथा व्याख्यातं'
अन्तरिक्षार्थे पाथः- 'पन्थाः पेततेर्वा' इत्यत्र (निरु० २ । २८) ।
शब्दः 'यत्रां चक्रुर्मृतां गातुमस्मै श्येनो न दीयन्नन्वेति
पाथः । प्रति वा सूर उदिते विधेम नमोभिर्मि-

- त्रावरुणोत हव्यैः' (ऋ० सं० ७ । ६३ । ५) ॥ वसिष्ठस्वार्थम् ।
१५ अस्याः प्रथमोऽर्धचः सौर्य इति प्रतिजज्ञं शौनका मित्रावरुणो द्वितीय
इति । एवं ह्यह 'ऋचः सौर्यो हि गीयन्त उद्वेतित्यर्धपञ्चमाः' इति ।
यत्र यदा चक्रुः कृतवन्तः अमृता देवा गातुं गमनमार्गम् उदयादारभ्य
यावदस्तमय इति यदा चायमारब्धः सूर्यः श्येनो न श्येन इय दीयन्नन्वेति
दीयमानो गच्छन् पाथः अन्तरिक्षं तेन मार्गेणाथ तदा प्रारभ्य प्रतिविधेम
२० वाम् । प्रतीत्य चेतसा युवाम् उदिने सूर्ये विधेम परिचरम ययं हे
मित्रावरुणौ नमोभिः नमस्कारैः अपि च हव्यैः । एवमत्र 'श्येनो न दीय-
न्नन्वेति पाथः' इत्यनेन संबन्धात् 'पाथोऽन्तरिक्षम्' इत्युपपद्यते । अप-
ठितमेतदन्तरिक्षनामस्त्वित्यप्रतीतिार्थम् । अथैवमन्यथा स्यात्प्रथमस्वार्ध-

- १ च. इत्यस्माकं स्या. २ ग. ज. 'अग्निं येवं पप्रथा' इत्यस्यास्मा' नास्ति.
३ ग. च. ज. सुययानगते. ४ क. ख. ग. ज. च. झ. ट. ठ. ड. उच्यते;
च. उच्यते वरु. ५ ग. ज. पथते; च. पथते त. ६ ग. 'एवमत्र' । ७ ।
यत्रा. ७ ग. ज. 'मृता' । वपि; च. झ. ट. 'मृता गातुं' मित्रावरुणोत हव्यैः ।
वसि. ८ ग. ज. 'अह सूर्याय गीयन्त उद्वे'; च. सौर्यः ऋचः गीयन्त उद्वे
ऋचः सूर्यो (सौर्यो हि) ९ क. ख. च. झ. ट. ठ. ड. यदा अस्मे सूर्याय
१० चक्रुः; च. यदा चक्रुः अस्मे सूर्याय.

सूर्यप्रधानत्वात् । उत्तरार्धचो निराकाङ्क्ष एव । यत्र
 यस्मिन्नभसः प्रदेशे गातुं कृतवन्तः अमृता
 अथवा प्रथमा- देवाः सूर्यस्यै तेनैव प्रदेशेन श्येन इव दीयन्-
 धस्य सूर्यप्रधानत्वा- न्वेति अनुगच्छति पाथः । न तां मर्यादामी-
 दन्योऽर्थः श्रोतोऽपि सन्नतिक्रामतीत्यर्थः ।

५

‘उदक्मपि पाथ उच्यते पानात्’ । ‘अभि वो देवां धियं दधिष्वं
 म वो देवत्रा वाचं कृणुष्वम्’ (ऋ० सं० । ७ । ३४ । ९) । ‘आ चष्ट
 आसां पाथो नदीनां वरुण उग्रः सहस्रचक्षाः’
 उदकार्थे (ऋ० सं० ७ । ३४ । १०) ॥ वसि-
 ष्टस्वार्पम् । व्यूहर्षस्य दशरात्रस्य चतुर्थेऽहनि १०

तृतीयैसवने वैश्वदेवशस्त्रे शस्यते (आश्व० श्री० ८ । ८) । हे
 ऋत्विजः अभिवदामि यः । एतां देवां धियं यूपमेतान् विश्वान् देवान्
 प्रति दधिष्वम् धारयष्वम् । किञ्च । प्र वो देवत्रा वाचं कृणुष्वम् । प्रव्रीमि
 चैतत् । देवत्रा देवगामिनीभेतां वाचं स्तुतिलक्षणां कृणुष्वम् । किञ्च ।
 आ चष्ट आसां पाथो नदीनां वरुणः । वरुणोऽपि देव आदित्य आचष्ट १५
 इव प्रकथयतीति जनानां वर्षमुत्सृजन् आसां रश्मिनदीनां स्वभूतमुदकं
 पाथः । किलक्षणः पुनर्वरुण आचष्टे । उग्र उद्गूरुः सहस्रचक्षाः । बहु-
 दर्शन इत्यर्थः । एवमत्र ‘पाथः’शब्देन ‘उदकम्’ उच्यते नदी-
 संवन्धात् ।

‘अन्नमपि पाथ उच्यते पानादेवै’ । ‘वनस्पते रश्नया निर्व्यूपा
 देवानां पाथ उप वक्षि विद्वान् । स्वदाति देवः कृणवद्दधीष्वधेतां
 दावीपृथिवी हवं मे’ (ऋ० सं० १० ।
 ७० । १० ।) ॥ आप्रीसृक्ते सुमित्रस्ये-
 यमार्पम् । हे वनस्पते रश्नया निर्व्यूपा निर्व्यूपा
 देवानाम् एतत्स्वभूतं पाथः अन्नं हविर्लक्षणम् उपवक्षि समीपं वहसि विद्वान् २५

१ क. ल. घ. ङ. ट. सूर्यश्च. २ ग. पानात् । ३ ऋ. अभि. ४ ग. ज. धियं ।
 वसि. ५ घ. ङ. ट. धियं उग्रः सहस्रचक्षाः । वसि. ६ क. ल. घ. ङ. ट. ठ.
 ट. व्यूहर्षस्य. ७ क. ल. घ. ङ. ट. तृतीयै सं. ८ क. ल. घ. ङ. ट. ठ. ड.
 एतां ; घ. एतां देवां नां. ९ ग. देव । १० । वन. ८ ग. ज. निर्व्यूपा आनी ;
 घ. ङ. ट. निर्व्यूपा देवानां प्रायः दावापृ. १ क. ल. घ. ङ. ट. ‘एके
 वाप्यस्य सुमि’ ; घ. ‘सृक्ते- सुमि’ बाध्यभार्य.

जानान् । कस्मात्पुनरेवं ब्रवीमि । इतो यस्मात् स्वदाति स्वादयति स
स देवः त्वयोदान्वेतानि हवींषि यानि कृगवत् अकरोत् एष यजमानः ।
यनस्पतिमेवमुक्त्वा पुनर्यावापृथिव्यावाह । हे यावापृथिव्यौ युवमपि
अवताम् अवगच्छताम् एनं हवम् आह्वानं मम । एवमत्र हवनसंबन्धादर्नं
पाथ इत्युपपद्यते ।

‘सवीमनि’ (३१) इत्यनवगतम् । ‘प्रसवे’ इत्यवगमः । ‘देवस्य

वयं संवितुः सवीमनि श्रेष्ठं स्याम वसुनध दावने ।

‘सवीमनि’

यो विश्वस्य द्विपदो यश्चतुष्पदो निवेशने प्रसवे

इत्यस्य

चासि भूमनः’ (ऋ० सं० ६ । ७१ । २) ॥

१०

भरद्वाजस्यार्षम् । जगती । गवामयने चतुर्विंशं

नाम द्वितीयमहः । तत्रेयं तृतीयसयने वैश्वदेवं शस्यते (आश्व० श्रौ० ७ ।

४) । देवस्य सवितुः सर्वार्थप्रसवितुः । तस्य वयं सवीमनि श्रेष्ठे प्रसवे

सर्वार्थभ्यनुज्ञाने नित्यकालं वयमेव स्याम । वसुनध धनस्य च दावने

दाने श्रेष्ठे प्रवृत्ते वयमेव उन्धारः स्याम । हे संवितः यस्त्वं विश्वस्य सर्व-

१५

स्यास्य द्विपदो मनुष्यादेः यश्चतुष्पदो गवादेः भूमनो भूमनो निवेशने च

स्थितौ प्रसवे च सृष्टौ प्रभुः तस्य तत्रैवंगुणविशिष्टस्य प्रसवे च दाने च

वयमेवाङ्गभूताः स्यामेति । एवमत्र ‘सवितुः’ इत्यनेन संबन्धात् ‘सवीमनि’

इत्यस्य ‘प्रसवे’ इत्येवं विपरिणाम उपपद्यते ।

‘समधाः’ (३२) इत्यनवगतम् । ‘सर्वतः पृथुः’ इत्यवगमः ।

२०

‘त्वमग्निं मर्यादां अभि जुष्टो होता योग्यः ।

समधाः इत्यस्य

त्वया यज्ञं वि संन्वेते’ (ऋ० मं० ५ । १३ ।

४) ॥ मुतग्नास्त्वयमार्षन् । प्रातर्गुणाकादिदनयोः

शस्यते (आश्व० श्रौ० ४ । १३) । हे अग्ने त्वमेव समधाः सर्वतः

- १ क. ग. घ. ङ. ट. ठ. ड. वां युवा; ब. दृष्टिन्वी- युवा; वा. २ घ. ट.
२५ ठ. ड. वहनम्. ३ ग. गनः । ३८ । देव; घ. ट. दमः । ३७ । देव. ४
ग. ज. कवितुः । भर; घ. ङ. ट. कवितुः पर्वतानि० इत्येव यासि ध्रुवनः । भर.
५ क. म. घ. ङ. ट. ठ. ड. देवस्य प्रसवे. ६ ब. दन्वि. ७ ब. दन्वि-
विरिणो; घ. ट. व. व. घ. ङ. ट. ठ. ड. दन्वि मरु; ब. दन्विः मरु.
धुति. ९ ग. दमः । १९ । मरु. १० ग. ज. मरुधाः । ध्रुव; घ. ङ. ट.
दन्वि० विरिणो. ध्रुव. ११ क. ग. घ. ङ. ट. मरुन् । मरुन्मरिषी ।
१२ गन; ब. मरुन् - गन मरुन् मरुन्मरिषी.

पृथुः विस्तीर्णो जुष्टश्च आसेवितो यजमानैः होता आह्राता देवानां भवसि ।
वरेण्यो वरणीयः सर्वथापि । किं बहुना । त्वयैव हेतुभूतेनैते यजमाना एतं
यज्ञं वितन्वते विविधं तन्वते विस्तारयन्ति । एवमत्र शब्दसारूप्यादर्धोपप-
त्तेश्च 'सप्रथाः सर्वतः पृथुः' इत्युपपद्यते ।

'विद्यथानि' (३३) इत्यनवगतम् । 'वेदनानि' इत्यङ्गमैः । ५

'विद्यथानि' धानि प्रचोदयन् (ऋ० सं० ३ । २७ । ७) ॥
इत्यस्य विश्वामित्रस्यार्पणम् । प्रातरनुवाकाश्चिनयोः शस्यते
(आश्व० श्रौ० ४ । १३) । अग्नीषोमप्रण-

यने विनियुक्ता (आश्व० श्रौ० ४ । १०) । होता आह्राता देवः अग्निः १०
अमर्त्यः अमरणधर्मा पुरस्तात् अस्य यज्ञकर्मणः सोमस्य वा प्रणीयमानस्य
एति गच्छति मायया स्वया प्रज्ञया एषामृत्विजां विद्यथानि विज्ञानानि प्रक-
र्षेण चोदयन् । अनुगृह्णन्नित्यर्थः । एवमत्र शब्दसारूप्यादर्धोपपत्तेश्च
'विद्यथानि वेदनानि' इत्युपपद्यते ।

'श्रायन्तः' (३४) इत्यनवगतम् । 'समाश्रिताः' इत्येवमर्थप्रतीतिः ॥ ७ ॥ १५

श्रायन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत । वसूनि जाते जन-
मान ओजसा प्रति भागं न दीधिम (ऋ० सं० ८ । ९९ । ३) ॥
समाश्रिताः सूर्यमुपतिष्ठन्तेऽपि वोपमार्थं स्यात्सूर्यमिवेन्द्रमुपतिष्ठन्त
इति सर्वाणीन्द्रस्य धनानि विभक्ष्यमाणाः स यथा धनानि २०
विभजति जाते च जनिष्यमाणे च तं वयं भागमनुध्यायामाजसा
बलेनौज ओजतेर्वोऽजतेर्वाशीराश्रयणाद्वाश्रयणाद्वाधेयमितराशीरा-
शास्तेः । इन्द्राय गाव आशिरभित्यपि निगमो भवति । सा मे
सत्याशीर्दिवेष्विति च (तै० सं० ३ । २ । ७) । यदा ते मर्तो

१ ग. ज. इत्येतदुपप०. २ क. ल. ग. विद्यथानि. ३ ग. 'गमः । ४० । २५
होता. ४ ग. ज. 'मर्त्यः । विष्वा'; घ. झ. ट. 'मर्त्यः ० इत्योदयन् । विष्वा'.
५ क. ल. घ. झ. ट. ठ. ड. स्यावम् । गाव्यी । आग्नेयी । मात'; घ. 'स्या-
वम् ०, मात' गाव्यी आग्नेयी. ६ क. रा. 'द्वेते । ३ (७) । माय'; ग. गृ. ट.
'प्रतीतिः । इति निरुक्त्यास्त्वया द्रष्टव्याने स्तवः सण्डः ७ ड. इति विरोधो
नास्ति. ८ क. ल. घ. ४ । यदा'; छ. त. घ. १ । यदा'; इ. घ. ४ ।
यदा'.

अनु भोगमानल्लादिद्वसिष्ठ ओषधीरजीगः । यदा ते मर्तो भोग-
मन्वापदथ ग्रसितृतम ओषधीरगारीर्जिगर्तिर्गिरतिकर्मा वा गृणा-
तिकर्मा वा गृह्णातिकर्मा वा । मूरा अमूर न वयं चिकित्वा महि-
त्वमग्नेः त्वमङ्गः वित्से । मूढा वयं स्मोऽमूढस्त्वमसि न वयं विशो
महत्त्वमग्ने त्वं तु वेत्थ शशमानः शंसमानः । यो वां यज्ञः शश-
मानो ह दाशतीत्यपि निगमो भवति । देवो देवाच्या कृपा । देवो
देवान् प्रत्यक्तया कृपा कृप् कृपतेर्वा कल्पतेर्वा ॥ ८ ॥

‘श्रायन्त इव सूर्यम्’ । बृहती । नृमेधस्याङ्गिरस्स्येयमार्पम् । ‘अनर्हा-
रातिम्’ (ऋ० सं० ८ । ९९ । ४) इती-
यमनन्तरैतस्याः । महाब्रते बृहतीसहस्रे विनियोगः
(ऐ० आ० ५ । २ । ४ ।) । श्रायन्त इव

सूर्यम् । इवोऽनर्थक एतस्मिन् प्रथमेऽर्थे । समाश्रिताः समन्तादाश्रिताः
सूर्यम् उपतिष्ठन्ते रश्मयः । किमिति । विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत । ‘इत्’
इत्यनर्थक एव । विश्वानि सर्वाणि इन्द्रस्य धनानि सूर्यस्य स्वभूतान्युद-
कानि तेन प्रक्षीणि विभक्ष्यमाणा विभक्तुमिच्छन्तः । अथ ‘वा’ ‘इव’ इत्य-
यम् ‘उपमार्थे स्यात्’ नानर्थकः । आह । कथमिति । उत्पत्ते । सूर्य-
मिवेन्द्रमुपतिष्ठन्ते । यथा सूर्यमहन्वहनि रश्मय उपतिष्ठन्त एवं मध्यस्था-
नमिन्द्रमुदकेस्वरमुपतिष्ठन्ते तस्य इन्द्रस्य स्वभूतानि धनानि उदकानि तेन
प्रक्षीणि आत्मनो जनानां वा विभक्तुमिच्छन्तः । किंच । वसूनि जाते
जनमान ओजसा । यथेन्द्र आदित्यो वा वसूनि धनानि जाते च उत्पन्ने धै
जनमाने जनिष्यमाणे च स्येन ओजसा ऐश्वर्यवलेन विभजति तथैव यथा
विभक्तस्तेन तं भागं भूतानि उपजीवन्ति तदैश्वर्यानुपवृत्तयैव । यत एव-
मतो वयमपि तमेव भागं प्रति न दीविम । अत्र ‘न’ इत्ययमनर्थकः ।

२५ १ फ. ख. छ. त. द. ‘नलादि’ । २ छ. त. द. मूला. ३ छ. त. द.
‘मूढस्त्व’ । ४ क. ख. ५ (८) ; छ. त. १० ; द. ५. ५ घ. झ. ट. सूर्य०
भागं न दीविष । वृ० ; ठ. ड. सूर्यमिति । वृ०. ६ ग. घ. ज. नृमेधस आङ्गिः.
७ क. ख. घ. झ. ट. ‘नन्तरा चास्याः’ । ८ क. ख. ग. ज. घ. झ. ट. ठ. ड.
प्रवृत्तानि ; च. प्रवृत्तानि. ९ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. प्रवृत्तानि ; च. प्रवृत्तानि
१० वृ. १० ग. ज. ‘मिच्छतामानाः’ । ११ घ. ट. ठ. ड. ‘च’ नास्ति.

अनोर्वा स्थाने । 'तं वयं भागमनुष्यायाम्' इति भाष्यकारो निराह ।
एवमत्र 'श्रायन्त इव सूर्यम्' इति सूर्यसंबन्धाद्रस्मयोऽध्याहृताः । रश्मि-
संबन्धाच्च 'श्रायन्तः' इत्येष शब्दः समाह्वावुपसर्गादध्याहृत्य 'समाश्रिताः'
इत्येवमुपेयार्थो भवतीत्युपपद्यते ।

'ओजः ओजतेर्वा' वृद्धवर्थस्य । 'उञ्जतेर्वा' न्यग्भावार्थस्य ।

'आशीः' (३५) इत्यनवगतमनेकार्थश्च । 'आशिरम्' इत्येवमर्थ-
प्रतीतिः । या यजमानस्य व्रतबुक् तामाशिरं

'आशीः' इत्यस्य दुहन्ति । एतस्मिन्पक्षे दध्यभिधेयम् । तेन हि
न्युत्पत्तिः सोम उपैरि श्रीयते । तस्मात्तदाशिरमित्युच्यते ।

अथ 'वा श्रपेणात्' । ईषद्भि तच्छृत्तं भवति
दधिभावात् । 'अथ' पुनर्या 'इयमितराशीः' इयम् 'आशास्तेः' ।
आहूपूर्वस्य शास्तेरभिलाषार्थस्यै (वा० १ । ६३०) ।

'इन्द्राय गाव आशिरं दुदुहे वज्रिणे मधु । यत्सीमुपहरे विदत्'
(ऋ० सं० ८ । ६९ । ६) ॥ प्रियमेधसं

प्रयोगश्च आह्निरसस्येयमार्थम् । मय्यमे रात्रिपयसि द्वाह-
णान्छंसिनः शस्त्रे विनियुक्ता (आश्व० ६ । ४) ।

इन्द्राय वज्रिणे अर्थाय गावः आशिरं श्रपणार्थं पयो यज्ञे च पुनः पुनः
दुदुहे मधु मध्वास्वादं यत्सीं सर्वत उपहरे उपैरिन्द्रे ऊधःप्रदेशे दोग्धा
अविदत् । सैनैर्दुदुहे । एवमत्र गोसंबन्धात् 'आशीः' शब्देन 'आशि-
रम्' उच्यत इत्युपपद्यते ।

१ क. स. प. स. ट. ड. 'सुरमार्थं भव' ; ग. ज. 'त्येवमयमर्थो भव' ; घ.
'सुरमार्थो भव' धे. २ क. स. प. स. ट. 'मित्यर्थम्'. ३ क. स. प. स. ट.
उपभीय' ; ठ. ड. 'उपभीयते. ४ घ. च. स. ठ. ड. अयणात्. ५ ग. 'धेय
। ४२ । इन्द्रा'. ६ ग. ज. गावः । मिय' ; घ. स. ट. गाव आशिरं । विदत् ।
मिय'. ७ ग. ज. 'मेघसस्येयमार्थम्' ; घ. 'मेघस आह्निरस्ये'. ८ क. स. अयना'.
९ क. स. प. स. ट. ठ. ड. 'य' नास्ति ; घ. घ. १० प. ट. ठ. ड. दुहे.
११ क. स. प. स. ट. ठ. ड. उपहरे. १२ क. स. प. स. ट. ठ. ड.
ताराज्ञे' ; घ. 'विदत्'. सने 'तत्.

‘अधेयमितराशीरागास्तेः’ इति यदुक्तं तत्रेदमुदाहरणम् । ‘सा मे सत्याशीर्देवान् गम्यात् । शृण्वन्तु ते समर्धयन्तु ।

आशीर्वादर्धे जुष्टाञ्जुष्टतरा पण्यात्पण्यतरा । अहेढता मनसा-
आशीःशब्दस्य नुगच्छ यज्ञो देवान्गच्छतु । प्रस्तरे प्रहियमाणे
यजमानो जपत्येनम् (भैत्रा० सं० १ । ४ ।

५ ॥ मान० श्रौ० १ । ४ । २ । १७) । सा मे मम आशीः सत्या यथाप्रार्थितैव देवान् गम्यात् प्राप्नोतु । शृण्वन्तु ते देवाः । श्रुत्वा च समर्धयन्तु । जुष्टात् अपि जुष्टतरा प्रियादपि प्रियतरा पण्यात् अपि पण्य-
तरा स्तुतादपि स्तुततरा । किंच । अहेढता मनसा अक्रोधवता मनसा

१० प्रहितोऽऽभाभिर्हे प्रस्तर त्वमपि देवान्गच्छ । यज्ञः अपि देवान्गच्छतु । त्वमपि चान्यं यज्ञम् । तद्योचामोऽस्तावपि देवान्गम्यात् । एवमत्राशीरेव
‘आशीः’ शब्देनाभिधीयते आशिषो हि देवान्प्रति गमनमभीष्टमिति ।

‘अजीगः’ (३६) इत्यनवगतम् । ‘अङ्गारीः’ इत्यवगर्गः ।

‘अत्रो ते रूपमुत्तमपदं जिगीयमाणमिदं आ पदे गोः । यदा ते

१५ मर्तो अनु भोगमानल्लादिदमसिष्ठ ओषधीरजीगः’ (ऋ० सं० १ ।

‘अजीगः’ इत्यस्य १६३ । ७) ॥ दीर्घतमस इयमार्यम् । अश्वमेधेऽ-
श्वस्तुतो विनियुक्ता (आश्व० श्रौ० १० । ८) ।

अत्र एतस्मिन्काले ते तव हे अश्व रूपम् अहम्

उत्तमम् उत्कृष्टम् अपश्यं जिगीयमाणं जेतुमिच्छमानम् इमे अन्ने जेतव्ये

२० निमित्तभूते आ पदे गोः उपरि भूम्याः शैरपथे वेशां वा । यज्ञेनापि ह्यन्नमेवामुष्मिहोके जीयते । तस्माद्वैयामित्येवमुपपद्यते । किंच । यदा यस्मिन्-
काले ते तव मर्तो मनुष्यः अनु भोगम् आनट प्राप्नोति वाहयैवा अथ परि-
श्रान्तस्त्वम् ओषधीरङ्गारीः ओषधीर्गृह्णासि गिरसि वा । अन्ये हि प्राणिनः
परिश्रान्ताश्चारेतुं न शक्नुवन्ति । त्वं तु मुतरामोपधीर्भक्षयसीत्येतदधिकं तव ।

- २५ १ ग. ‘रणम् । ४३ । सा’ । २ ग. ज. ‘शृण्वन्तु ते समर्धयन्तु’ नास्ति;
च. गम्यात् । जुष्टं शृण्वन्तु ते समर्धयन्तु. ३ ग. ज. अहेढता; च. अहेढं रे; ङ.
ह. अहेढता. ४ ग. ज. अहेढता; ङ. ह. अहेढता. ५ क. ख. घ. झ. ट.
तदयं याचा; च. तयोः इयं या. ६ क. ख. ‘मिति । ४ । अजी’, ७ ग. ज.
अङ्गारीः; च. अङ्गारीः. ८ ग. ‘गमः । १५ । अत्रा’. ९ ग. च. ज. ‘मुत्तमं ।
दीर्घ’; द. ह. ट. ‘मुत्तमं ओषधीरजीगः दीर्घ’. १० ग. ज. खर; च. खर
११ डा. ११ ग. ज. ‘इयत्ताऽप्यप. १’.

अष्टमः खण्डः ८]

निरुक्तम् ।

एवमत्रौषधसंवेग्यात् 'जिगर्तिर्गिरतिकर्मा वा गृह्णातिकर्मा वा' इत्यु-
पपद्यते ।

'अमूरः' (३७) इत्यनवगतम् । 'अमूढः' इत्यवगमैः । 'मूरा
अमूर न वयं चिकित्वो महित्वमग्रे त्वमङ्ग विंसे ।
'अमूरः' इत्यस्य शये वन्निश्चरति जिह्यादज्जरेखाते युवति विदपतिः
सन्' (ऋ० सं० १० । ४ । ४) ॥ वित-

स्यास्यस्यार्पम् । त्रिष्टुप् । प्रातरनुवाकादिवनयोः शस्यते (आश्व० श्रौ०
४ । १३) । हे भगवन्मग्रे अमूर अमूढ मूरा मूढा वयं स्मो भवतो
माहाभाग्यपरिज्ञानं प्रति । मन्दबुद्धित्वात् न वयं चिकित्वः न वयं भवतः
प्रभावस्यान्तं विजानामः । हे अग्रे त्वम् एव आत्मनो महिमानं महित्वं माहा-
भाग्यं वेत्सि । कस्तवान्यो महोभागस्यान्तं वेत्तुमर्हतीत्यभिप्रायः । किञ्च ।
शये शयपरिमाणे प्रदेशे उत्तरखेचाप्ये वन्निः विशेषात्मा तत्र रूपाख्यः
चरति । समिद्धत्वान्मुहुर्मुहुश्चरति । स त्वमनेन रूपेणोत्तरखेचामवस्थितो
जिह्या ज्वाल्या तानि तानि हवींषि अदन् भक्षयन् रेखाते युवति तां
तामाहुतिं पुनः पुनरास्वादयसि विश्वपतिः विश्वस्य सर्वस्य पतिः मनुष्यप-
तिर्वा सन् । यस्त्वमेवं करोषि हितैषित्वाद्यजमानानां सोऽस्माकं त्वमिदं
नाम कुर्वित्यभिप्रायः । एवमत्र 'मूराः' इत्यात्मनिन्दाद्वारेणाम्निः 'अमूढः'
इत्यनेन स्तूयत इत्यस्य 'अमूरशब्दस्य' 'अमूढः' इत्येव विपरिणाम उपपद्यते ।

'शशमानः' (३८) इत्यनवगतम् । 'शशमानः' इत्यवगमैः ।
'यो धीं यज्ञैः शशमानो ह दाशति कविर्होता
'शशमानः' यजति मन्मसाधनः । उपाह तं गच्छधो धीधो
अश्वरमच्छा गिरैः सुमति गन्तमस्मू' (ऋ०
सं० १ । १५१ । ७) ॥ दीर्घतमस आर्पम् ।
जगेती । यः अयं यजमानो युवां हे मित्रावरुणौ यज्ञैः निमित्तभूतैः शशमानः

१ ग. 'ममः' । ४५ । मू० । २ ग. ज. वयं । वित० ; प. स. ट. वयं० २५
विदपतिः सन् । वित० । ३ च. महा० ४ क. य. स. ट. माहाभाग्यस्यान्तं ; ग.
ज. माहाभाग्यस्यान्तं ; य. महाभाग्यस्यान्तं । य. ५ प. चरति सति समि० ; ट. चरति
समिति समि० ; ठ. च. चरति समिति समि० । ६ क. रा. ग. ज. घ. स. ट. 'हं'
नारिच. ७ ग. 'ममः' । ४६ । यो० । ८ ग. ज. शशमानः । दीर्घ० ; प. स. ट.
शशमा० गन्तमस्मू । दीर्घ० । ९ क. रा. घ. स. ट. ठ. ड. मन्दी० उन्दी० ।
१० क. रा. घ. स. ट. ठ. ड. 'अयं' नारिच. ३१

शंसमानः स्तुवन् दास्यति ददाति हवींषि वा युवाम्यां कविः क्रान्तदर्शनो
होता आह्वाता यजति मन्मसाधनो मननसाधनः । विज्ञानसाधन इत्यर्थः ।
आह । तस्य किमिति । उच्यते । उपाह तं प्रत्युपागच्छथो युवां वीथः
च तस्य अध्वरं अध्वराधितानि हवींषि । ययमपि चैवंगुणविशिष्टा एव
यतो ब्रूमः । अञ्छा गिर एता अस्मद्गिरः आभिमुख्येन आगन्तुमिच्छथो
युवाम् । युवाम् अस्मयू । अस्मान्कामयमानावित्यर्थः । एवमत्र 'यज्ञैः शश-
मानः' इति यज्ञसंबन्धाच्छब्दसारूप्याच्च 'शशमानः शंसमानः' इत्ये-
वमुपपद्यते ।

- १० 'देवो देवाच्या कृपा' (३९) इत्येते अनवगते । देवशब्दोऽनपेरे-
षोपलक्षणार्थोऽत्र समाज्ञातः । 'देवः देवाच्या
कृपा' इत्यस्य 'देवान्मत्सखितया' इत्यर्थप्रतीतिः ।
व्यापत्तिः 'कृपा' इत्यस्यापि 'कल्पितया' इत्येवमर्थ-
प्रतीतिः* । 'अग्निं होतारं मन्ये दास्यन्तं वसुं
१५ सुनुं सहस्रो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम् । य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो
देवाच्या कृपा । घृतस्य विभ्राष्टिमनुं वष्टि शोचिपा-
प्रयोगश्च जुह्वानस्य सर्पिषः' (ऋ० सं० १ । १२७ ।
१) ॥ परुच्छेत्स्यार्षम् । अतिच्छन्दाः । अग्नि-
चयन इष्टकोपधाने विनियुक्ता (मैत्रा० सं० २ । १३ । ८) ।
२० अग्निम् अहम् होतारम् आह्वातारं देवानां मन्ये दास्यन्तं दानवन्तं दातृतमं
वसुं वासयितारं सर्वस्य जगतः सुनुं सहस्रो बलस्य पुत्रं जातवेदसं जात-
प्रशानं विप्रं न जातवेदसं विप्रमिव जातप्रज्ञानम् । यथा हि कश्चित्कचिन्म-

१ ग. अ. शशमानः; च. 'शशमानः' स्तुवन् शंसमानः. २ क. ख. घ. झ.
ट. ठ. ड. 'वां' नास्ति. ३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'ब्रूमः । सुनति शोभन-
प्रज्ञं यजमानमनुलक्ष्य अञ्छा'; च. ब्रूमः । 'अञ्छा' सुमति शोभनप्रज्ञं यजमानम-
नुलक्ष्य. ४ ग. 'तीतिः । ४७ । अग्नि'. ५ ग. च. ख. मन्ये । सर्पिष इति
परुच्छे'; घ. झ. ठ. मन्ये० सर्पिषः । परुच्छे'. ६ क. ख. घ. ट. ठ. ड. अति-
च्छन्दा अत्यष्टिः; च. 'छन्दाः ~ । अग्नि' अत्यष्टिः. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ.
११ ड. 'अहं' नास्ति. ८ ग. अ. 'प्रज्ञानं यथा दातृजानीयादेव'.

नुष्यं समानपृष्ठोदरपाणिपादं विप्रासंज्ञानं यथावज्जानीयादेवमहमग्निं यथा-
वज्जाने । यः अग्निः स्वध्वरः शोभनयज्ञो देव ऊर्ध्वया कृपा सामर्थ्या-
ख्यया कल्पितया देवाच्या देवान्प्रत्यञ्चितया गत्यौ घृतस्य विभ्राष्टि
विभ्रंसैर्नम् अनुषष्टि आहुतिप्रक्षेपम् अनुकामयते । 'वाञ्छति वष्टि' इति
कान्तिकर्मसु पठितम् (नि० घ० २।६) । आजुद्धानस्य उपरि ह्यमा-
नस्य सर्पिषः सर्पणशीलस्य । यमग्निमहमेवं जाने यक्षैवंगुणयुक्तः स इदं
नामास्माकं करोत्यित्यभिप्रायः । एवमत्र ' देवाच्या कृपा ' इत्येतौ शब्दौ
' देवान्प्रत्यक्तया ' कल्पनया इत्येवमुपपद्येते शब्दसारूप्यादर्थोपपत्तौ ।

' विजामातुः ' (४०) इत्यनवगतम् । उपसर्गस्यापारिसमाख्ये
वृत्तिरत्रानवगमः । ' असुसमात इव वरोऽभिप्रेतः ' इति हि भाष्यकारो
निराह । निगतजामातृभाव इव यो ह्यर्पयत्तजामातृभावं स विजामा-
तुः स्यात् । स हि दाक्षिणात्येषु प्रसिद्धः ॥ ८ ॥

अश्रवं हि भूरिदावत्तरा वां विजामातुरुत वां घा स्यालात् ।
अथा सोमस्य प्रयती युवभ्यामिन्द्राग्नी स्वोमं जनयामि नव्यम्
(ऋ० सं० १।१०९।२) ॥ अश्रौपं हि बहुदातृतरौ वां
विजामातुरुसुसमात्ताज्जामातुर्विजामातेति शब्ददाक्षिणाजाः क्रीता-
पतिमाचक्षतेऽसुसमात्ता इव वरोऽभिप्रेतो जामाता जा अपत्यं
तन्निर्मातोत वा घा स्यालादपि च स्यालात्स्याल आसन्नः
संयोगेनेति नैदानाः स्याल्लाजानावपतीति वा लाजा लौजतेः
स्यं शूर्पं स्यतेः शूर्पमशनपवनं शृणातेर्वाथ सोमस्य प्रदानेन

१ च. विप्रासंज्ञं त. २ क. ख. कृपा कृपया; घ. झ. ट. ठ. ड. कृपया. ३ घ.
गत्पा - घृतं शोचिपा ज्वालया. ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. विभ्रंसम्. ५ क.
ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'क्षेपं शोचिपा ज्वालया अनुष्ठा'. ६ घ. ख. 'पत्तेष्व ।
५ (८) । विजा. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'हि' नास्ति. ८ क. ख. घ.
झ. ट. इव च यो; च. इव - यो' च. ९ क. ख. घ. झ. ट. ड. ह्ययात्ताजा;
ट. ह्ययात्ता' पर्या. १० ग. ज. भावं. ११ ग. ३०; ठ. 'प्रसिद्धः । इति निरुक्त-
व्याख्यायां षष्ठाध्यायेऽष्टमः खण्डः; ड. 'प्रसिद्धः । इति भाष्ये ८ खण्डः; इतो-
र्विश्वो नास्ति. १२ छ. बहुदायत्तरौ; त. द. बहुदायितरौ; घ. बहुधातृतरौ.
१३ छ. त. द. राजतेः.

युवाभ्यामिन्द्राग्नी स्तोमं जनयामि नव्यं नवतरमोमास इत्युपरि-
ष्टाद्व्याख्यास्यामः (निरु० १२ । ४०) ॥ ९ ॥

इति षष्ठाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

- ५ 'अश्रवं हि' । कुत्सस्यार्पम् । त्रिष्टुप् । अश्रौपम् अहं युवां हे इन्द्राग्नी
भूरिदावत्तरा भूरिदातारौ । कुतः । विजामातुः
'विजामातुः' अमुसमासजामातुः । यो ह्यसमासजामातृभावी
इत्यस्य भवति स जामातृगुणहीनत्वाद्वृदानेन कन्या-
पितृनाराध्य तेभ्य आत्मानं रोचयति । ततोऽपि
१० बहुतरस्य धनस्य दातारौ अहमश्रौपं भवन्तौ । उत वा घा स्यालात् ।
'घा' इत्यनर्थकः । स्यालादपि बहुर्दातारौ युवामहमश्रौपं भवन्तौ ।
स्यालोऽपि हि भगिनीप्रियचिकीर्षया बह्वेव ददाति । यत एवमहमश्रौपं
भवन्तावेतस्मात्कारणात्सोमस्य प्रयती प्रदानेन अहं युवाभ्यां स्तोमं
जनयामि उच्चारयामि नव्यं नवतरमन्येभ्यः स्तोमेभ्यः । एवमत्र 'विजा-
१५ मातृ'शब्देन 'अमुसमासजामातृभावः' उच्यते तस्य बहुदातृत्वादि-
त्युपपत्तिः ।
'विजामातेति शश्वत्' । प्रसिद्धमेतत् । 'दक्षिणार्जाः क्रीतापतिमा-
चक्षते' । सै हि विगुणत्वादात्मनः क्रीणाति
'विजामातादिश- कन्यामात्मनो भार्यार्थे । तस्मात् 'अमुसमास
२० व्दानां व्युत्पत्तिः इव' असौ 'वरोऽभिप्रेतः' । 'र्जा अपसं
तन्निर्माता' जामाता । स्त्रीत्वं हि मैथुनेन
व्यवहारेणासौ निर्भिणोति । तेनासौ दुहितुः पतिर्जामाता भवति । 'स्याल
आसन्नः संयोगेनेति' निदानविदो मन्यन्ते । अथ 'वा स्पम्' इति
'शूर्पम्' उच्यते । तस्मादसौ गृहीत्वा विवाहे 'स्त्राजानावपति' । तस्मा-
२५ त्स्याल इत्युच्यते । 'स्यं शूर्पं स्यतेः' धातोः क्षेपणार्थस्य (घा० ४।४१) ।

१ क. ख. ६ (९), छ. त. ११; द. ६. २ ड. थ. प. छ. त. ' इति०
पादः' नास्ति; द. इति नेरुक्तस्य षष्ठा०. २ व. स. ट. हि भूरिदावत्तरा वा० जन-
यामि नव्यम् । कु०. ४ ग. ज. 'दाइतरो; थ. 'दायितरो; द. 'दानारो' पित.
५ क. ख. प. ट. 'नेव हे इन्द्राग्नी युवा'. ६ क. ख. घ. स. दाक्षिणात्याः; ट.
दाक्षिणात्योः जाः; उ. द. दाक्षिणात्याः । जाः. ७ क. ख. घ. स. ठ ड. तस्य
विगु०; ट. तस्य० स हि. ८ क. र. घ. स. ट. ड. द. जामाता जा अप०; थ.
१२ 'मेतः ५ जा० जामाता. ९ क. ख. घ. स. ट. ठ. द. पक्षेप०.

तेन हि तुषाः क्षिप्यन्ते । 'शूर्पमशनपवनम्' । तेन हाशनं पूयते ।
'शृणातेर्वा' । तद्धि शरमयं भवति ।

'ओमांसः (४१) इति' एतत्पदम् 'उपरिष्ठाद्वाह्यास्यामः'
'ओमासश्चर्यणीभृतः' इत्यत्र सप्तदशोऽध्याये । (निरु० १२।४०) ॥९॥

एकादशस्य द्वितीयः पादः ।

तृतीयः पादः ।

सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते । कक्षीर्वन्तं य औशिजः
(ऋ० सं० १।१८।१) ॥ सोमानं सोतारं प्रकाशनवन्तं कुरु
ब्रह्मणस्पते कक्षीवन्तमिव य औशिजः कक्षीवान् कक्ष्यावानौ- १०
शिज उशिजः पुत्र उशिग्वष्टेः कान्तिकर्मणोऽपि त्वयं मनुष्यकक्ष
एवाभिमेतः स्यात्तं सोमानं सोतारं मां प्रकाशनवन्तं कुरु ब्रह्म-
णस्पते ॥ १० ॥

'सोमानम्' (४२) इत्यनवगतम् । 'सोतारम्' इत्यवगतम् । १५
'सोमानं स्वरणम्' । मेधातिथेः काण्वत्पार्यम् ।
'सोमानम्' अग्न्युपस्थाने विनियुक्ता । (मैत्रा० सं० १ ।
इत्यस्य ५ । ४ ।) । 'सोमानं स्वरणमिति ब्राह्मण-
स्यात्ययोपतिष्ठेत' इति द्रुक्तम् (मैत्रा० सं० १ ।
५ । ११) । सोमानम् अनेकेषां सोमानां सोतारम् अभियोतारं २०

१ ग. ज. मीणा^१; च. मिणा^२ शृ. २ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'स्यामः सप्त-
दशोऽध्याये ओमा' ३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'सप्तदशोऽध्याये' नास्ति, ४ क.
ख. ६ (९); ग. ३३; इतरेष्वङो नास्ति. ५ क. ख. घ. झ. ट. 'दशाध्यायस्य;
ठ. ड. इत्येक' दशाध्यायस्य द्वितीयः पादः । इति निरुक्तटीकायां निबण्टसहैकादश-
ध्याये नवमः खण्डः समाप्तः. ६ क. ख. छ. त. प. सोमानां. ७ छ. त. कक्षा^३.
८ क. ख. छ. त. द. घ. सोमानां. ९ क. ख. १ (१०); छ. त. १२; द. १.
१० ग. ज. सोमानामित्य^४. ११ क. घ. ट. स्वरणं य औशिजः । मेधा^५; च.
सोमानां स्वरणं मेधा^५ औशिजः; ठ. ड. स्वरणमिति । मेधा^५. १२ ग. ज.
सोमानामनेकेषां स्वरणं स्तोता^६; च. सोमानामनेकेषां स्वरणं स्तोता^६ सोमानां. २३

मां स्वरणं शब्दधितारं स्तुवन्तं यैशस्त्रिनं कुरु हे ब्रह्मणस्पते । कथं
च पुनः प्रकाशनवन्तं कुर्विति । कक्षीवन्तं य औशिजः । लुप्तोपममेतत् ।
य औशिजः कक्षीवांस्तमिव । अत्र करोतिसंबन्धात् 'प्रकाशनवन्तम्'
इत्येतदध्याहृतं भाष्यकारेण ।

५ 'कक्षीवान्' कक्षया तद्वान् । 'अपि त्वयं मनुष्यकक्षं एवाभिप्रेतः स्यात्' ।
स हि कक्ष उत्पन्नः । तदुत्पत्तिसंयोगात्तु कक्षीवान् । 'औशिज औशिजः
पुत्रः' । 'उशिक्' पुनः 'वष्टेः' कान्त्यर्थस्य । एवमत्र 'सोमानम्'
इत्यस्यैव शब्दसारूप्यात् 'सोतारं सोमानाम्' इत्येष विपरिणाम उपपद्यते ।
अपि वैवमन्यथा स्यात् । योऽहं सोमानां सोता कक्षीवानौशिजस्तमे-

१० वंगुणविशिष्टं मां प्रकाशनवन्तं कुरु हे ब्रह्मणस्पते ।
'अनवायं' 'अनवायं' (४३) 'किमीदिने' (४४)
'किमीदिने'
इत्येते अनवगते । 'अनवायम्' इत्यस्य 'अन-
वयवम्' इत्यवगमः । 'किमीदिने' इत्यस्य
'किमिदं किमिदमित्येवंकारी पिशुनः' ॥ १० ॥

१५

इन्द्रासोमा समघशंसमभ्य १ यं तपुर्व्यस्तु चरुरन्निवाँ इव ।
ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेपो धत्तमनवायं किमीदिने'
(ऋ० सं० ७ । १०४ । २) ॥ इन्द्रासोमावयस्य शंसितारमघं
हन्तेनिर्हसितोपसर्ग आहन्तीति तपुस्तपतेश्चरुर्मृचयो भवति चर-
१० तेर्वा समुच्चरन्त्यस्मादापो ब्रह्मद्विषे ब्राह्मणद्वेष्टे क्रव्यादे क्रव्य-
मदते घोरचक्षसे घोरख्यानाय क्रव्यं विकृताज्जायत इति
नैरुक्ता द्वेपो धत्तमर्नवायमनवयवं यदन्ये न व्यवेयुरद्वपेस
इति वा किमीदिने किमिदानीमिति चरते किमिदं किमिदमिति
वा पिशुनाय चरते पिशुनः पिशतेर्विपिशतीति ॥ ११ ॥

२५

१ ग. ज. मां; च. 'सोतारं स्वरणमां' मां. २ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
सुपदः. ३ ग. ज. 'कक्ष एवा'; च. 'कक्ष इवा'. ४ घ. ठ. ड. ड.
'औशिजः' नास्ति. ५ च. 'त्यस्य स्थाने शब्द'. ६ क. ख. १ (१०); ग.
५१; इतरेष्वङो नास्ति. ७ क. ख. 'क्रव्यादे' नास्ति; छ. त. द. 'द्वेष्टे'
'क्रममदते घोरख्यानाय'. ८ छ. त. द. 'मन्यवेदमन'. ९ क. ख. २ (११);
११ छ. १३ । द्वितीयःपादः; त. १३; द. २.

‘इन्द्रासोमा समवशंसे’ । संसिष्टस्यार्पम् । हे इन्द्रासोमौ संतापयंतं
 भयन्तौ अवशंसं पापस्य संसितारम् अम्यघं पापमेव कर्तुमाभिमुख्येन
 नित्यकालमेव योऽवस्थितस्तं संतापयतम् । स च युवाम्यां संताप्यमानः
 चरुरग्निर्य इव चरुरवाग्निसंयुक्तो ययस्तु । क्षयं यावित्यर्थः । किंच । ब्रह्माद्विषे
 ब्राह्मणद्वेष्टे कन्यादे क्रव्यमदत्ते पृष्ठमांसं मक्षयित्रे घोरचक्षसे घोरदर्शनाय
 द्वेषः सर्वलोकद्वेष्यतां धत्तं युशाम् अनवायम् अनवयवम् । सकल-
 मित्यर्थः । अथ ‘वा यदन्ये’ तत्सुहृदः ‘अद्वेपसः’ अद्वेष्टारो ‘न व्यवेयुः’
 व्यवेयवितुं वियोजयितुं घटमाना अपि न शक्नुयुः तादृशं द्वेषो धत्तं किमी-
 दिने । पिशुनायेत्यर्थः । एवमत्र ‘अनवायम्’ इत्यस्य ‘अनवयवम्’ अवि-
 योजनीयं चेत्पर्यप्रतीतिस्तथाभीष्टत्वात् ।

किमीदी च पिशुनः । स हि ‘किमिदानीं’ वर्तते ‘इति’ एवमन्वे-
 पमाणः ‘चरति’ । अथ ‘वा किमिदं’ वर्तते
 किमीदीत्यादीनां ‘इति’ एवमन्वेपमाणः ‘चरति’ । स हि तस्य
 व्युत्पत्तिः स्वभावः । ‘चरुर्मृच्चयो भवति’ । मृदादिसंचितो
 भवति । ‘चरतेर्वा’ । ‘समुच्चरन्ति’ हि ‘अस्मा-
 दापः’ । ‘क्रव्यं’ मांसम् । तद्धि ‘विकृताज्जायते’ । ‘पिशुनः पिशितेः’
 धातोः । स हि स्वल्पमपि पापं ‘विपिशाति’ । विपुष्पतीत्यर्थः ।
 अमवानित्यनवगतमनेकार्थं च ॥ ११ ॥

कुणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजेवामवाँ इभेन । २०
 तुष्वीमनु प्रसितिं द्रूणानोऽस्तासि विध्य रससस्तपिष्ठैः (ऋ०
 सं० ४ । ४ । १) ॥ कुणुष्व पाजः पाजः पालनात्प्रसितिमिव

१ प. झ. ट. संसं० मनवायं किमीदिने । वसि०. २ क. ख. झ. ट. ठ.
 ड. संतापयंतं. ३ ग. ज. संसियितारं; व. संसियितारं० सि. ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ.
 ड. च तपुः युः; घ. चयुः तपुः. ५ ग. ज. ‘मदने; च. ‘मदने’ ते. २५
 ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘मांसम्’. ७ क. ख. घ. झ. अतद्दुहः; ट.
 अतद्दुहः० तत्सुहृदः; ठ. ड. अतद्दुहः सुहृदः. ८ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
 व्यवेयुः; ग. ज. नावयवितुं; व. ‘व्यवेयुः ये न वियितुं’ व्यवे. ९ च. किमीदिने
 पि० दी च. १० घ. झ. ट. ठ. किमिदं किमिदं. ११ च. पिशितेः० श. १२ क.
 ख. २ (११); ग. ३; इतोष्यो नास्ति.

पृथ्वीं प्रसितिः प्रसयेनात्तन्तुर्वा जालं वा याहि राजेवामात्यवा-
नभ्यर्धेनवान्स्ववान्वेराभृता गणेन गतभयेन हस्तिनेति वा तृष्या-
नु प्रसित्या द्रूणानस्तृष्वीति क्षिप्रनाम तरतेर्वा त्वरतेर्वासितासि
विध्य रक्षसस्तपिष्ठैस्ततमैस्तृप्तमैः प्रपिष्टतमैरिति वा । यस्ते
गर्भमयीवा दुर्णामा योनिमाशये । अमीवाभ्यमनेन व्याख्यातो
दुर्णामा क्रिमिर्भवति पापनामा क्रिमिः क्रव्ये भेद्यति क्रमतेर्वा
स्यात्सरणकर्मणः क्रामतेर्वा । अतिक्रामन्तो दुरितानि विश्वा ।
अतिक्रममाणा दुर्गतिगमनानि सर्वाण्यप्या यदेनया विद्धोऽपवीयते
व्याधिर्वा भयं वा । अप्वे परेहीत्यपि निगमो भवत्यमतिरमामयी
मतिरात्ममयी । ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिगुतदित्यपि निगमो
भवति । श्रुष्टीति क्षिप्रनामाशु अष्टीति ॥ १२ ॥

‘कृणुष्व पौजः’ । वामदेवस्यार्पम् । अग्निचयने पुरुषव्याधारणे
विनियुक्ता (मैत्रा० सं० २ । ७ । १५) ।

१५ ‘अमवान्’ ‘रक्षोघ्नेन व्याधारयेत्’ इति हुक्तम् (मैत्रा०
इत्यस्य सं० ३ । २ । ६ ॥ मान० श्रौ० ६ । १ । ७) ।
हे भगवन्नग्ने कृणुष्व एतदात्मीयं पौजो बलं

प्रसितिं न प्रसितिमिव वागुरातन्तुमिव जालमिव यौ पृथ्वीं विस्तीर्णाम् ।
तत् एवमेतद्विस्तीर्णं कृत्वा याहि त्वं रक्षास्त्रभिमुखैः । कथं च पुन-
र्याहि । राजेव । यथा राजा यायात् अमवान् अमात्यवान् नीतिपुक्तो
विजयाय तैथा याहि । अथवा यथा अभ्यमनवान् रोगभूतः परेभ्यो
भयदाता यायात्तथा याहि । अथवा यथा स्ववान् आत्मवित-
वान् सुमृतसैन्यो यायाद्विजयाय तथा याहि । इमेन इराभृता अन्नभृतेन

- १ छ. त. द. प्रसदनात्. २ त. ‘भ्यवनवा’; द. ‘भ्यमनवान्त्व’; ३ तादण-
२५ भाष्यस्थानिकम्भे ‘स्तप्तमैस्तपिष्टतमैरिति’. ४ घ. प्रपिष्टतमैः. ५ क. ख.
छ. दुर्णामा; त. दुर्णामा ‘र्ना’; द. दुर्णामा ‘र्णा’. ६ क. ख. ३ (१२); छ.
त. १४; द. ३. ७ घ. स. ट. पाजः प्रसितिं न० रक्षसस्तपिष्ठैः । वाम’; ठ. ड.
पाज इति । वाम’. ८ ग. च. ज. रक्षो’. ९ ग. च. ज. ‘हि’ नास्ति.
१० ग. च. ज. बलं पाजः. ११ घ. ज. ‘वा’ नास्ति; च. ‘मिव’ ५० वा.
१२ घ. स. ट. पृथिवीं; च. पृथिवीं पृथ्वीं. १३ च. ‘सुपैः’ तः. १४ क. ख. घ.
२१ स. तथा त्वं याहि; च. तथा ‘हि’ त्वं या.

गणेन सुपुष्टेन युक्तो यथा राजा यायात्तथा याहि । अथवा । इमेन गतभयेन
भूरेण हस्तिना यथा यायात्तथा याहि । किंच । तृष्णामनु प्रसितिं द्रूणानः ।
क्षिप्रमनुप्रसितया गत्या संततया गत्या द्रूणानो रक्षांसि हिंसन् याहि ।
कस्मात्पुनरेवमुच्यते । इतो यस्मात् अस्तासि अस्ता क्षेप्ता त्वं रक्षांसि
प्रति दीता अर्चिषः । स त्वमेवमागत्य विध्य एतान् रक्षसः अस्मच्छत्रून्
तपिष्टैः तप्ततमैः अर्चिभिः । एवमत्र राजोपमानसंबन्धात् 'अमवान् अमा-
त्यवान्' इत्येवमाशुपपद्यते ।

'पाजः' इति बटनाम । तेन हि पार्यते । 'प्रसितिः' प्रसहेनात् ।
तन्तुर्वा जालं वा । उभाम्यामपि ताम्यामभिभूयन्ते मृगाश्च मत्स्याश्च ।

'अमीवा' (४६) इत्यनवगतम् । 'अम्यमनवान्' इति यदुक्तम् । १०

'अमीवा' इत्यस्य माधस्त्ये मन्त्रेऽनेनैव तत् 'व्याख्यातम्' ।
'यस्ते गर्भममीर्वा दुर्णामा योनिमाशये' । अग्निष्टं
ब्रह्मणा सह निष्कृत्वा ईमनीनशत्' (ऋ० सं०

१० । १६२ । २) ॥ रक्षोहा नाम ब्राह्मणस्तस्येयमार्यम् । पुत्रकामस्य
पडाहुतो नाम स्थालीपाकस्तत्रेयं विनिशुक्ता (मान० गृ० २ । १८ । १५
२) । यः ते तव हे स्त्रि गर्भम् अमीवा रोगभूतो दुर्णामा पापनामा
किमिः पापप्रदेशे नतः परिणतः उत्पन्नो योनिम् आगत्य शये शेते गर्भ-
हिंसिता तम् अग्निः ब्रह्मणा सह निरनीनशत् नाशयतु क्रव्यादं मांसभ-
क्षयितारम् । एवमत्र 'अमीवा' इत्यस्य 'किमिः' अभिधेयः । किम्पुप-
हते हि योनां गर्भो न संभवतीत्युपपत्तिः । २०

'दुरितम्' (४७) इत्यनवगतम् । 'दुर्गतिगमनम्' इत्यर्थप्रति-
पत्तिः । वैश्वदेवा मूततामारमणं शुद्धा भवन्तो यज्ञियासः पावकाः ।

'दुरितानि' अतिक्रामन्तो दुरितानि विद्धा शतं हिमाः सर्व-
धीरा मदेम' ॥ वैश्वदेवा वाचं मूततां सत्याम्
आरमण्यम् उपक्रमन् वक्तुम् । तयैवंलक्षणया २५

वाचा शुद्धा इहानभिन्नस्ताः पूताश्च परलोके भवथ यज्ञियाः यज्ञसं-

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'मूतया' २ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'च्ये'.
३ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'दीतायाः' च. 'दीता' अ. 'याः'. ४ च. ट. प्रसहे-
नात्' घ. ५ ग. 'स्थानम्'. ५२ । यज्ञे'. ६ ग. ज. 'भीम रक्षो'; घ. ङ.
ट. 'मीवा' मनीनशत् । रक्षो'. ७ घ. ङ. ट. ठ. ड. दुर्णामा. ८ च. मीमं भृगु'
स. ९ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'प्रतीतिः'; ग. 'पतिः'. ११ ५१ । वैश्व'. १२

पादिनः । किंच । अतिक्रममाणा वयं तस्या वाचौ माहाभागेन
दुरितानि दुर्गतिप्रापकाणि कर्माणि विश्वा विश्वानि शतं हिमाः
शतं हेमन्तानां सर्ववीरा अनवखण्डितपुत्रपौत्रा मदेम । दृष्ट्येभ्यर्थः ।
एवमत्रातिक्रमणसंबन्धात् 'दुरितं दुष्कृतम्' इत्युपपद्यते तस्य ह्यतिक्रमण-
मभीष्टमिति ।

'अप्या' (४८) इत्यनवगतम् । 'अपभ्ययति' इत्यवगमः । रोग-
जातिर्वाभिधेया भयजातिर्वा । तथा हि 'विद्वोऽपवीयते' अपचेष्टयते वा
प्राणै । 'अमीपां चित्तम्' इत्यपरिष्ठाच्छेयः (निरु० ९ । ३३) ।

१० 'अमतिः' (४९) इत्यनवगतम् । 'अमामयी मतिः' अमतिः ।
एवमपि न प्रतीयत इत्यत आह । 'आममयी यस्य मतिः असौ अमतिः इत्यु-
च्यते । कश्चासौ । आदित्यः । तस्य ह्यात्मप्रकाशमयी मतिः । 'अभि त्वं

'अमतिः' इत्यस्य देवं सवितारमोर्षेयः कश्चिन्तुमर्चामि सत्यसंघं
रत्नधाममि प्रियं मतिर्भू । ऊ र्वा यस्यामतिर्भा
अदिद्युनःसवीमनि हिरण्यपाणिरमिमीत मुक्रतुःकृपा

१५ र्वः' (फा. सं. १ । १९) ॥ नकुलस्वार्थम् । अतिदृष्ट्वाः । प्रवेगेन शस्यते ।
सोमसंमाने चाध्वर्यवे विनियुक्ता (मैत्रा० सं० १ । २ । ५ ॥ फा. सं०
३७ । ६ ॥ मान० श्रौ० १ । ४ । ३) । अर्ध्वचामि त्वं तम्
अहं देवं सवितारम् ओण्योः द्यावापृथिव्योः पान्थन्तरा भूतानि वर्तन्ते तेष्वपः
सर्वेभ्यः सकाशात् कश्चिन्तुं क्रान्तप्रज्ञानं सत्यसरं सत्याम्पनुज्ञं रत्नधा
२० रमणीयानां धनानां दातारम् अभिमतिम् अभिमन्तारं सर्वार्थानामोदररसात्
प्रियं च सर्वभूतार्थम् । ऊ र्वा यस्य सविर्भूः अमतिः आत्मप्रकाशमयी
मतिः । आह । कतमा पुनरमापूर्वेनि भाः या अदिद्युनन् अयोर्तेत ।

१ ग. अ. दुर्गतिपापकर्माणि विश्वा. २ ग. अ. दुःकृतं. ३ क. ग. प.
ल. ट. ठ. ड. 'परेष्टये प्राणैः; अ. 'पचे(षे)-यने वा'. ४ ग. मतिः । ५ ४ ।
१५ अभि. ५ ग. अ. देवं कृपा स्वः इन्द्रः; प. अ. ट. देवं सवितारं कृपा स्वः ।
इति नकु. १ ठ. 'ह्यारण्यो'. ७ ठ. ड. अति कश्चि. ८ ऊ र्वा. ९ ठ. ड.
इति नकु. १ क. ल. प. ट. ठ. ड. 'अदित्यः अदि. १ ग. अ. अदित्यः. १
प. अदिः १० ग. अ. ठ. दृष्ट्ये. ११ ग. अ. 'इयते । संमाने. १२ अ.
'भूतानां' = ऊं कश्चिन्तुं प्रज्ञानं. १३ ग. अ. कश्चिन्तुः अः अमतिः. १४ ग.
३० क. ट. ठ. अयोर्तेत; प. अयोर्तेत.

समर्थयैमि । किंच । सन्धीमनि प्रसवे यस्य सर्वमिदं प्रवर्तते हिरण्य-
पाणिः रदिमपाणिः सर्वमिदं जगत् अमिमीत निर्मितवान् सुक्रतुः सुकर्मा
कृपां स्वयां सामर्थ्यकल्पनया स्वः आदित्यः । सु अरण इत्यर्थः । एवमत्र
'अमति' शब्देन आत्मप्रकाशगतमादित्यस्य विज्ञानमुच्यते । स हि प्रकाशस-
त्तत्त्व एव नान्यप्रकाशान्तरमपेक्षत इत्युपपत्तिः ।

५

... 'श्रुष्टी' (५०) इत्यनवगतं 'पुरन्धिः' (५१) इति च ।
श्रुष्टीत्यस्य 'श्वशनुम्' इत्यवगमः । 'पुरन्धिः' इत्यस्यापि 'पुरन्धीः'
इत्यवगमः ॥ १२ ॥

तौ अध्वर उशतो यक्ष्यन्ते श्रुष्टी भगं नासत्या पुरन्धियम् । १०
तानध्वरे यज्ञ उशतः कामयमानान्यजाग्रे श्रुष्टी भगं नासत्यौ
धाभिनौ सत्यावेव नासत्यावित्यौर्णवाभः सत्यस्य प्रणेतारा-
वित्याग्रायणौ नासिकाप्रभवौ बभूवतुरिति वा पुरन्धिर्वहुधीस्तत्कः
पुरन्धिर्भगः पुरस्तात्तस्यान्वादेश इत्येकमिन्द्र इत्यपरं स बहु-
कर्मतमः पुरा च दारयितृतमो वरुण इत्यपरं तं प्रहया स्तौति । १५
इमामू नु कवितमस्य मायामित्यपि निगमो भवति रुशदिति
वर्णनाम रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः । समिद्धस्य रुशददर्शि पाज
इत्यापि निगमो भवति ॥ १३ ॥

ते हि यज्ञेषु यज्ञियास ऊर्ध्वः सधार्थं विश्वे अभि सन्ति देवाः । २०
तौ अध्वर उशतो यक्ष्यन्ते श्रुष्टी भगं नासत्या
'श्रुष्टी' 'पुरन्धिः' पुरन्धियम्' (ऋ० सं० ७ । १९ । ४) ॥
इत्यनयोः यसिष्ठस्यार्पम् । वैश्वदेवी । ते ये विश्वेदेवाः
यज्ञेषु यज्ञियासो यज्ञसंपादिन ऊर्ध्वा अवितारो रक्षितारः अघनीया

१ क. ख. घ. ङ. ट. ड. ठ. 'म्यर्चयैमि'; च. 'म्यर्चयामि' चा. २ ग. ज. २५
पुरन्धियम्; च. पुरन्धित्वम् ४. ३ क. ख. ३ (१२); ग. ३३; घ. ट. च. ज.
अत्रो नास्ति. ४ क. घ. घ. 'अग्नेः श्रुष्टी'. ५ क. द. 'बहुभिस्त'; त.
'बहुभिस्त' भि. ६ क. ख. ४ (१३); छ. त. १५; द. ४. ७ ग. ज. यज्ञेषु ।
वति; ७. तौ अध्वर उशतः ते हि यज्ञियेषु य० वति; ङ. तौऽ अध्वर उशतः
ते हि यज्ञियेषु य० वति. ८ क. ख. ङ. ट. ठ. ड. 'देवी । विष्टुम् । ते'. २०

वो तर्पणीयाः सधस्थं वैश्वदेवं समानं स्थानम् अभिसंतिष्ठन्ते । किं तेषामिति । तान् विश्वान्देवान् हे अग्ने एतस्मिन् अध्वरे यज्ञे उद्यतः स्वमंशं कामयमानान् श्रुष्टी क्षिप्रम् अविलम्बमानो यक्षि यज भगं च यज नासल्यौ चाश्विनौ यज पुरन्धिं च यज । एवमत्र यागस्य विघ्नभयात्क्षिप्रस्येष्टत्वात् 'श्रुष्टीति क्षिप्रनाम' इत्युपपद्यते । अन्यत्र हि वक्ष्यति 'श्रुष्टीवरीः सुखवरीः' इति (निरु० ६ । २२) । तस्मादेतदनेकार्थमपि भवति ।

- १० 'नासल्यौ' इत्यस्य व्यापत्तिः । 'सत्यावेव नासत्याविलोर्णवामः' आचार्यो मन्यते । तौ हि सत्यमेव ब्रूतो न कदाचिदप्यसत्यम् । तस्मान्नासत्यावित्युच्यते । द्विः प्रतिषेधः प्रकृतिमापादयति । अथवा 'सत्यस्य' उदकस्य यज्ञस्य वा 'प्रणेतारौ' नासल्यौ । तथाहि 'आम्रायणः' आचार्यो मन्यते । अथ 'वा' ऐतिहासिकपक्षेण 'नासिकाप्रभवौ हि' तौ यभृवतुरिति । पुरन्धिशब्दोऽत्र गुणपदत्वात्संदिह्यत इति विचार्यते ।
- १५ 'पुरन्धिः' इत्यस्य च । 'सत्कः पुरन्धिः' इति । 'भगः' अत्र 'पुरस्तात्' 'श्रुष्टी भगम्' इति 'तस्य' अयम् 'अन्वादेश इत्येकम्' आचार्यमतम् । नासत्यापनन्तरावपि सन्तौ न संदिद्येते द्विवचनवाच्यत्वात्तयोरेकवचनात्तत्त्वार्थं पुरन्धिशब्दस्य । 'इन्द्रः' उक्तः स्यात्पुरन्धिशब्देन 'इत्यपरं' मतम् । किं कारणम् । 'स' हीन्द्रो 'बहुकर्मतमः' अन्येभ्यो देवेभ्यः । 'धीः' इति कर्मनाममुपेतम् (निघ० २ । १) । तद्यस्य पुरं बहु ॥ पुरन्धिः । स चेन्द्रः । तस्मान्पुरन्धीन्द्र इत्युपपद्यते । अथवा । अन्येन पुरन्धित्वमिन्द्रस्य स्यात् । 'पुरां च दारमितृतमः' । मेघपुरोः दारत्वादेव दारयति । 'वरुणः' पुरन्धिशब्देनोच्यते 'इत्यपरं' मतम् । किं कारणम् ।

- २५ १ ग. ज. 'वा' नास्ति. २ क. ल. घ. झ. ट. ठ. ड. एयां अभिसन्ति अभितिष्ठन्ते; म. स्थानमभिषंतिष्ठ' ति; ख. स्थानमभि- सं- स्तानि अभि. ३ घ. ट. ठ. ड. 'पुरन्धिं य यज' नास्ति. ४ म. च. 'त्युपदे; ख. 'त्युपदे' पद्ये. ५ क. ल. घ. झ. ट. ठ. ड. वा नेतारौ; ग. ज. प्राणे; ख. प्राणि' म. ६ ग. घ. ज. आश्व'. ७ क. ल. घ. झ. ट. ठ. ड. 'हि तौ' नास्ति. ८ क. ल. घ. झ. ट. ठ. ड. 'व' नास्ति. ९ क. ल. घ. झ. ट. ठ. ड. 'शब्दस्य ख.

‘तं’ हान्यत्रापि मन्त्रद्वक् ‘प्रज्ञया’ बुद्ध्या ‘स्तोति’ । तद्यथा । इमाम्
 नु कवितमस्य मायां महो देवस्य नकिरा दधर्ष । एकं यदुद्गा न पृणन्त्ये-
 नीरासिञ्चतीरवनयः समुद्रम्’ (ऋ० सं० ५ ।

वस्यामृचि वरु- ८५ । ६) ॥ अत्रैर्विम् । इमा मायां प्रज्ञां
 णस्य प्रज्ञा स्तूयते कवितमस्य मेघाणितमस्य महो महती मायां न
 किरा दधर्ष न कश्चिदप्याधर्षयितुं शक्नोति ।

कतमां मायामिति । एकम् एतं सन्तं वरुणम् आदित्यं यत् एता उद्गा उद-
 केन रश्मिनयः एनीः गमनशीलाः । सततमुदकमादायादित्यमण्डलं गच्छ-
 न्ति । एवं नामाहर्निशमेता गच्छन्त्यः अवनयो नद्य इव समुद्रं सिञ्चन्त्यो
 नै पृणन्ति न प्रीणयन्ति । तेषां रश्मीनां च मायामेवंलक्षणां भगवतो वरुणस्य
 आधर्षयितुम् अभिभवितुं विज्ञातुं न शक्नोति कश्चिदपि कथयितुं कथम-
 प्ययं न संपर्यत इति । एवमत्र वरुणः प्रज्ञया

तस्माद्वरुणोऽपि स्तूयते । धीरिति च प्रज्ञानाम् (निघ० १ । ९) ।
 पुरन्धिः स्यात् सा यस्य पुर्वी बह्वी सं पुरन्धिः । वरुणश्च
 प्रज्ञया स्तूयते । तस्मात् ‘वरुणः पुरन्धिः’

इत्युपपद्यते ।

‘रुशत्’ (५२) इत्यनवगतम् । ‘रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः’ इति
 निर्ध्वचनम् । ‘रोचनम्’ इत्यवगमः । ‘अबोधि

‘रुशत्’ इत्यस्य होतो यजथाय देवानूर्ज्वो अग्निः सुमनाः प्रातर-
 रथात् । सर्मिद्धस्य रुशददर्शि पाजो महान्देवस्त-

मसो निरमोचि’ (ऋ० सं० ५ । १ । २) ॥ गविष्टिरवुधयोराधर्मं ।

१ ग. तपथा । ५६ । इमा. २ ग. ज. कवितमस्य । अत्रे. ३ घ. स.
 ट. कवित० नयः समुद्रम् । अत्रे. ३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘सर्वम्’ ।
 बाष्णी । विष्टु. इमां; च. ‘सर्वम्’ । इमां बाष्णी । विष्टु. ४ क. ख. घ.
 झ. ट. ठ. ड. ‘तमस्य देवस्य योतमानस्य मही’; च. ‘तमस्य-मही’ देवस्य
 योतमानस्य. ५ ग. ज. ‘न पृणन्ति’ नास्ति. ६ ग. ज. ‘तेषां माया एवं-
 लक्षणा भग’ । ७ च. स्तूयत इति । धी. ८ ग. ‘गमः’ । ५७ । अबो. ९ ग.
 ज. होता यजथाय । गवि; घ. झ. ट. होता । स्वमसो निरमोचि गवि. १० क.
 ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘सर्वम्’ । आग्नेयी । विष्टु. अग्नि; च. ‘सर्वम्’ ।
 अग्नि आग्नेयी विष्टु.

अग्निचयन इष्टकोषधाने विनियुक्ता (मैत्रा० २ । १३ । ७) । अबोधो
होता बुध्यते होता अग्निः यजथाय यजनाय यष्टव्यतया देवान् । ऊर्ध्वो
ज्वलनक्रियायोगात् प्रातरस्थात् । अग्निहोतृणां गृहेषु योऽवतिष्ठते सुमनाश्च
शोभनमनाः । समिद्धस्य च यस्य रुशत् रोचिष्णुर्वर्णः अदर्शि दृश्यते ।
पाञ्चश्च वर्णं यस्याप्रैतिमं यश्च प्रभावतो महान् तमसैश्च सर्वमिदं निरमोचि
निर्मोचयति । बुध्यते देवान् यष्टव्यतया । एवमन्यविकारादत्र शब्दसारूप्याच्च
'रुशत् इति' एतत् 'वर्णनाम' इत्युपपद्यते ।

'रिशादसः' (५३) इत्यनवगतम् । 'रिषेयदासिनः' इत्यवगमः ॥ १३ ॥

- १० अस्ति हि वः संजात्यं रिशादसो देवासो अस्त्याप्यम् ।
अस्ति हि वः समानजातिता रेशयदारिणो देवा अस्त्याप्यमाप्य-
मामोतेः सुदन्नः कल्याणदानः । त्वष्टा सुदन्नो विदधातु राय इत्यपि
निगमो भवति सुविदन्नः कल्याणविद्यः । आग्ने याहि सुविदन्ने-
भिरर्वाकित्यपि निगमो भवत्यानुषगिति नामानुपूर्वस्यानुषक्तं
१५ भवति । स्तृणान्ति बहिरानुषगित्यपि निगमो भवति तुर्वणि-
स्तूर्णवनिः । स तुर्वणिर्महौ अरेणुर्पोस्य इत्यपि निगमो भवति
गिर्वणा देवो भवति गीभिरेनं वनयन्ति । जुष्टं गिर्वणसे बृह-
दित्यपि निगमो भवति ॥ १४ ॥

- २० अस्ति हि वः संजात्यं रिशादसो देवासो अस्त्याप्यम् । प्र णः
पूर्वस्मै सुविताय वोचत मशु मुन्नाय नग्यते'
'रिशादसः' (ऋ० सं० ८ । २७ । १०) ॥ मनुर्वेव-
इत्यस्य स्वतस्तस्येयमार्यम् । सतोबृहती । वैश्वदेवे सूक्ते
(ऋ० सं० ८ । २७) । द्वे रिशोदसो रेशय-
२५ दासिनो देवाः । यो हि रेशयति हिंसात्रान् भवति तस्मै त आयुधान्य-

१ क. स. घ. झ. ट. ठ. ड. 'होत्रिणां; च. होतृणां' त्रि. २ क. स.
घ. झ. ट. ठ. ड. 'पमितं. ३ ठ. ड. तपश्च. ४ च. रेशाय' श. ५ क.
स. ४ (१३); ग. ५८; इतरेष्वङो नास्ति. ६ क. स. ५ (१४); छ. त.
१६; 'द ५. ७ ग. ज. वः संजात्यम् । मनुर्वेव; घ. स. ट. घः तजात्यं. ८ घ
नग्यते. 'मनोर्वे'. ९ क. स. घ. झ. ट. ठ. ड मनोर्वेवस्तस्मै'. १ ग. ज.

११ रिशपदासिनो देवाः; च. रिशाद-सिनो' सो रेशयदा.

स्यन्ति । 'रेशयदारिणः' इति केचिदधीयते 'निर्वचनम् ।
तेषां रेशयन्तं हिंसन्तं दारयन्तीत्यर्थः । अस्ति युष्माकं सजात्यं समान-
जातिता देवत्वम् । अस्ति च युष्माकम् आप्यम् आसव्यं मनुष्यैः । ईश्वरा
यूयमित्यभिप्रायः । यत् एवमतो ब्रवीमि प्रवोचत यूयमनुजानीत सुवि-
ताय सुगताय सुभोगाय स्थानाय सुम्नाय सुखाय च पूर्वस्मै स्वभूताय ५
नव्यसे नवतरायै । कथं च पुनः प्रवोचतेति । मक्षु । क्षिप्रमित्यर्थः । एवमत्र
शब्दसारूप्यादर्धोपपत्तेश्च 'रेशादसो रेशयदांसिनो वा रेशयदारिणो वा'
इत्युपपद्यते ।

'सुदत्रः' (५४) इत्यनवगतम् । 'सुदानः' इत्यवगमः ।

'सुदत्रः' इत्यस्य 'ता नो रासत्रातिप्रोचो वसुन्या रोदसी वरु- १०
णानी शृणोतु । वरुञ्जीभिः सुशरणो नो अस्तु
त्वष्टा सुदत्रो वि दधातु रायः' (ऋ० सं०

७ । ३४ । २२) ॥ वसिष्ठस्यार्षम् । दशरात्रस्य चतुर्थेऽहनि तृतीय-
सवने वैश्वदेवशस्त्रे द्विपदा एताः शस्यन्ते (आश्व० ८ । ८) । ताः
देव्यः अस्मभ्यं रासन् वसूनि । ददस्वित्यर्थः । किलञ्जणा देव्यः । १५

रातिपाचः हविर्दानं याः सचन्ते सेवन्ते । किं च आमिमुद्ध्येन स्थित्वा
रोदसी रुद्रस्य पत्नी शृणोतु वरुणानी च । किंच । वरुञ्जीभिः वरयित-
व्याभिः सहितः सुशरणः स्वाश्रयणः अस्माकम् अस्तु त्वष्टा सुदत्रः
कल्याणदानो विदधातु चास्माकं रायः । धनमित्यर्थः । एवमत्र 'रायः'
संबन्धात् 'सुदत्रः कल्याणदानः' इत्युपपद्यते । २०

'सुविदत्रः' (५५) इत्यनवगतम् । 'सुविद्यः' इत्यवगमः ।

'सुविदत्रः' इत्यस्य 'कल्याणविद्यः' इत्यभिधेयवचनम् । 'ये
तातुर्पुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमं तद्यासो
अकैः । आग्ने याहि सुविदत्रेभिर्वाह सत्यैः

कन्यैः पितृभिर्धर्मसज्जिः' (ऋ० सं० १० । १५ । ९) । शङ्खस्य २५

१ प. स. ट. ठ. ड. दारयती०. २ क. ख. घ. स. ट. यूयमस्मभ्यमनु०.
३ च. 'तरात्र' । कथं च. ४ ग. 'गमः' । ५ ग. ज. 'पाचः ।
पति' ; प. स. ट. 'पचो' वि दधातु रायः । वसि०. ६ च. तृतीयं घ०. ७ प. स.
ट. हविर्दानं ; ज. हविर्दानं ; ठ. ड. हविर्दानं. ८ ग. च. ज. 'मुद्ध्येन याः
स्थित्वा'. ९ ग. 'चनम्' । १० । ये०. १० ग. ज. देवत्रा । शस्त्रं ; प. स.
ट. देवत्रा । पितृभिर्धर्मसज्जिः । शस्त्रं०.

यामायनस्यार्थम् । पितृयज्ञे स्विष्टकृत्वाज्येपा (आश्व० श्रौ० २ । १९) ।
 ये तातृपुः स्तीर्णवन्तो देवत्रा देवान् प्रति जेहमाना गच्छन्तो होत्राविदः
 स्तुतिविदः स्तोमतष्टासः स्तोमकर्तारः अकैः मन्त्रैः । स्तोमकर्तारो यै एवं-
 लक्षणाः पितरस्तैः साकम् आयाहि हे अग्ने सुविदत्रेभिः कल्याणविधैः
 अर्वाह् अस्मानाभिमुख्येन । तैश्च साकमेवंगुणयुक्तैः पितृभिरागत्य सत्यैः
 एतैर्यथावत्संस्कृतैः कव्यैः पितृदेवैर्यैर्हविर्भिस्तृप्तिमुपयाहि । अधवा । सप्त-
 षादिभिः पितृभिः कव्यवाहैः साकमायाहीति । एवं पितृविशेषणत्वेनैव
 योज्यमेतदपि पदद्वयम् । एवमत्र शब्दसारूप्यात् 'सुविदत्र'शब्दः
 कल्याणविशेषवाचीत्युपपद्यते ।

- १० 'आनुपक्' (५६) इत्यनवगतम् । 'अनुपक्तम्' इत्यवगतम् ।
 'नामानुपूर्वस्य' इत्यर्थवचनम् । 'आ वा ये
 'आनुपक्' अग्निभिर्धत्ते स्तृणन्ति बर्हिर्ऽनुपक् । येषामिन्द्रो
 इत्यस्य युवा सखा' (ऋ० सं० ८ । ४५ । १) ॥
 त्रिशोकस्यार्थम् । बृहतीसहस्रे तृचाशीतिपुत्रिणि-

- १५ युक्ता (ऐ० आ० ५ । २ । ३) । य एव नित्यमग्निम् आभिमुख्येना-
 वस्थिता इन्धते यज्यानो य एव यज्ञेषु बर्हिः अनुपक्तं स्तृणन्ति तेषामेव
 इन्द्रो युवा समानख्यानो याज्ञे कर्मणि भवति नेतरोपामयज्यनाम् । बर्हिः
 संबन्धात् 'आनुपक्' इति 'नाम' एतत् 'आनुपूर्वस्य' इत्युप-
 पद्यते ।

- २० 'तूर्वाणिः' (५७) इत्यनवगतम् । 'तूर्णवनिः' इत्यर्थवचनम् ।

१ क. स. घ. झ. ट. ठ. ड. 'सर्वम् । विष्टम् । पेत्री । पितृ' । २ ग. अ.
 'ये' नास्ति. ३ च. 'वर्ण-इने' । सृष्ट. ४ क. स. 'वर्ततेः चर्मसज्जिर्धनसादिभिर्हविः';
 घ. झ. ट. ठ. ड. 'वर्ततेः चर्मसज्जिर्धनस्यादितिहविः'; च. 'वर्ततेः - हवि' 'चर्मसज्जि-
 र्धनसादिभिः'. ५ ग. 'यनम्' । इति । आ०. ६ ग. च. ज. अ. अग्निः । त्रिशोः; घ.
 झ. ट. अग्निपि० युवा सखा । त्रिशोः. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. युवा नित्यः

तूर्णं हि यः संभजते स तूर्णवनितां सन् तूर्णवनिरित्युक्तैः । 'स तूर्वणिः

मेहं अरेणु पौस्थं गिरेर्मृष्टिर्न भोजते तुजा शवः ।

'तूर्वणिः' येन शुष्णं मायिनमायसो मदे दुध्र आभूपु राम-

इत्यस्य यन्नि दामनि' (ऋ० सं० १ । ५६ । ३) ॥

इन्द्रस्य सन्त्यत्वापन्नस्येयमार्यम् । वैयवतेऽहनि

निष्केयल्ये शस्त्रे शस्यते (आश्व० श्रौ० ८ । ६) । स इन्द्रः तूर्णव-

निता । इन्द्रो हि स्तोतारं तूर्णं संभजते । महान् प्रमावतः । अरेणुपौस्थे ।

अन्तरिक्षे हि यद्वलं भवति तत्र न रेणवः सन्ति तस्मादरेणुपौस्थमित्यु-

च्यते । 'पौस्थम्' इति बलनामसु पठितम् (निघ० २ । ९ । २४) ।

तस्मिन्नेणुपौस्थे बले अन्तरिक्षे संप्राप्ते वा गिरेः मृष्टिः गिरिशृङ्गमिवो-

च्छित्तौ भजते तुजा वज्रेण प्रगृहीतेन शवः शविष्ठो बलिष्ठ इन्द्रः ।

येन वज्रेण शुष्णं शोषयितारम् असुरं मेवं मायिनं प्रज्ञावन्तं आयसो

देवान् प्रति अयनशीलस्य सोमस्य मदे प्राप्ते दुध्रो दुर्धरः शत्रूणाम् आभूपु

उपर्युपर्यात्मनो भवनमिच्छन् रामयन्नि दामनि दाम्नीव न्यरमयत् । सुप्राव-

भादित्यर्थः । एवमत्र शब्दसारूप्यादर्थोपपत्तेर्य 'तूर्वणिस्तूर्णवनिः' इत्युपपद्यते ।

'गिर्वणसे' (५८) इत्यनवगतम् । 'गीर्वननीयः' इत्यवगमः ।

'गीर्भिः' स्तुतिभिः 'एवं वनयन्ति' इत्यर्थवचनम् । 'आमासु पक्-

मेर्यं आ सूर्यं रोहयो दिवि । घर्म न सामन्त-

'गिर्वणसे' पता सुवृक्तिभिर्जुष्टं गिर्वणसे बृहत्' (ऋ० सं०

इत्यस्य ८ । ८९ । ७) ॥ नृमेधसः प्रियमेधसो वी-

र्यम् । ऐन्द्रे सुक्ते (ऋ० सं० ८ । ८९) । आमासु अपक्वासु गोषु

१ ग. ज. 'वनिताः सं तूर्ण' ; च. 'वनिताः सं तूर्ण' ता सन्. २ ग. 'त्युक्तः
१ ६२ । सं. ३ ग. ज. महान् । इन्द्र' ; घ. झ. ठ मही अरेणु० रामयन्नि दा-
मनि । इन्द्र'. ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'मार्यम् । जगती । ऐन्द्री । ६९' ;
च. 'मार्यम् - । वेडु' जगत्येन्द्री. ५ च. 'रिक्षे कियद्' हि. ६ ग. ज. मृष्टि
गिरि'. ७ ग ज वज्रेण नित्यंशुष्णं ; च. वज्रेण अहिं नित्यं (त्वं). ८ ग. ज.
'मृदुष्ययु'. ९ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'मयत् सुवत्रा' ; च. 'मयन् स्ववत्रा'
तु सु. १० ग. 'वनम् । ६३ । आमा'. ११ ग. ज. 'रयः । नृमे' ; घ. झ. ट.
'रयः ० गिर्वणसे बृहत् । नृमे'. १२ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. वा इत्यार्यम् ।
बृहती । ऐन्द्रे' ; च. वार्यम् - । ऐन्द्रे' बृहती.

क्षीरं पक्कम् ऐरयः त्वमिन्द्र । 'तस्मादामा सती पक्कं दुहे' [मैत्रा० सं०
४ । ६ । ९] इति ह विज्ञायते । तदिदमामायां सत्यां गवि शृतं
पय इति । किंच । आ सूर्यं रोहयो दिवि । आरोहयः सूर्यं दिवि । दुलोक
इत्यर्थः । एवमिन्द्रमुक्त्वा स्तोतृनाह । अस्मा इन्द्रायैवंगुणविशिष्टाय धर्मं न
५ धर्ममिव सुतसं मुष्टं सुगुणं सामन् तपत । स्थानकरणानुप्रदानवदुच्चारय-
तेत्यर्थः । मुवृक्तिभिः शोभनाभिः स्तुतिभिः जुष्टं प्रियं गिर्वणसे इन्द्राय
स्तुतिसंभक्त्रे । कतमप्युनस्तत्सामेति । बृहत् । तद्धि प्रियमिन्द्रस्य । एवमत्र
'गिर्वणा देव' उच्यते शब्दसारूप्यादित्युपपद्यते ।

'असूर्ते सूर्ते' (५९) इत्येते अनवगते । 'असुसमीरिताः सुसमी-

१० रिते' इत्यवगमः ॥ १४ ॥

असूर्ते सूर्ते रजसि निपत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि ।
असुसमीरिताः सुसमीरिते वातसमीरिता माध्यमका देवगणा ये
रसेन पृथिवीं तर्पयन्तो भूतानि च कुर्वन्ति त आयजन्तेत्यतिक्रान्तं
१५ प्रतिवचनम् । अम्पक्सा तं इन्द्र क्रष्टिः । अमाक्तेति वाभ्यक्तेति
वा । यादृश्मिन्वायि तमपस्ययाविदत् । यादृशेऽधायि तमपस्यया-
विदत् । उस्तुः पितेर्वं जारयायि यज्ञैः । उस्त इव गोपिताजायि
यज्ञैः ॥ १५ ॥

२० '■ आयजन्तं द्रव्येणं समस्मा ऋषयः पूर्वे जरितारो न भूना ।

'असूर्ते सूर्ते' असूर्ते सूर्ते रजसि निपत्ते ये भूतानि समकृण्व-
इत्यनयोः निमानि' (ऋ० सं० १० । ८२ । ४) ॥

विश्वकर्मणो भौवनस्थेयमार्षम् । 'वैश्वकर्मणाभ्यां
जुहोति' इति ह्युक्तमग्निप्रणयने (मैत्रा० सं० ३ । ३ । ७) । तत्र

२५ १ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. दुहः; च. दुहं ह. २ ग. सुष्टं; च. सुष्टं
दु. ३ क. ख. घ. झ. ट. समन् साम तप. ४ क. ख. ५ (१४); ग. दुष्ट; ठ.
ड. 'पयते । इति निरुक्तटीकायां पद्याध्याये चतुर्दशः खण्डः; इत्येवमेव नास्ति. ५
छ. याजसमी; त. याजसमी; त; द. याजसमी; ज. ६ क. ख. छ. त. द.
'गणासे रोषे'. ७ क. ख. ६ (१५), छ. त. १७; द. ६. ८ ग. च. झ. द्रविणं ।
विश्व; घ. झ. ट. 'विणं' सप्तङ्गवाभिमानि । विश्व. ९ क. ख. ग. ज. वैश्वकर्म-
३१ णीभ्या; च. 'विश्वकर्मणाभ्यां' वै.

विनियोगः । असूर्ताः । असुः प्राणः प्राणश्च वायुः । 'योऽयं वायुः
 पत्रेन एव प्राणः' इति ह्युक्तम् । तेन समस्ता ईरिता असुसमीरिताः ।
 वातसमीरिता इत्यर्थः । के पुनस्त इति । माध्यमका देवगणा मेघा इतरे
 च मरुदादयः । ते हि वातेन समीर्यन्ते । वात एव हि तान्वहति । क पुनैरव-
 स्थिताः समीरिता इति । सूर्ते सुसमीरिते विश्रिते । विस्तीर्ण इत्यर्थः । ५
 रजसि अन्तरीक्षलोके निपत्ते । निपण्ण इत्यर्थः । 'ये किं कुर्वन्तीति । ये
 भूतानि समकृष्वन् समस्तानि कृतवन्त इमानि । तेषां किमेति ।
 त. आयजन्तेति । अतिक्रान्तं प्रतिवचनम् । प्रतिनिर्देशः प्रतिवचनमुच्यते ।
 त एव पूर्वकाले प्रयोगार्हो यच्छब्दः पश्चात्प्रयुक्तः पश्चात्प्रयोगार्हश्च
 तच्छब्दः पूर्वं प्रयुक्तो मन्त्रपाठक्रमेण । तदेतद्वाच्ये क्रमेण प्रद- १५
 शितमस्मिन्मन्त्रे 'त आयजन्तेत्यतिक्रान्तं प्रतिवचनम्' इति ।
 त आयजन्तेत्यस्य पादस्य समासेनैतद्वाच्यकारेण निर्वचनमुक्तं
 'ते रसेन पृथिवीं तर्पयन्तो भूतानि च कुर्वन्ति' । ते मेघा
 रसेन उदकेन पृथिवीं तर्पयन्तो भूतानि सर्वाण्युत्पादयन्ति स्थितिं चैषां
 कुर्वन्ति । आयजन्त द्रविणम् उदकम् । आभिमुख्येन ददति सर्वमुदकम् । १५
 समस्मै सर्वस्मिन् भूतजाते । एवं भूतान्युदकेन कुर्वन्त्यनुगृह्णन्ति च ।
 अधुना दृष्टान्तमाह । ऋषयः पूर्वं विश्वसृजो जारितारो न भूना भूना
 कर्मणा वार्षाहस्त्रिकेण सत्रेण । तर्हि सर्वो भूतप्रायः पूर्वं सृष्टोऽनुगृही-
 तश्च । एवमत्र शब्दसारूप्यादर्थोपपत्तेश्च 'असूर्ते सूर्ते' इत्येतयोः 'असु-
 समीरिताः सुसमीरिते' इत्येते शब्दसमाधी उपपद्येते । २०

'अम्यक्' (६०) इत्यनवगतम् । 'अमाक्तेति वाम्यक्तेति वा' शब्द-
 समाधी । 'ऋष्टिः' अभिधेया । तां हि संप्राप्ते दान्तवो मन्यन्ते मामेवा प्र-
 त्यञ्जिता क्षिप्ता मामेवा प्रत्यञ्जितेति । अथवा 'अम्यक्तेति वा' । अभिगतैव

१ क. ख. ठ. ड. परत; ग. ज. पचन. २ घ. झ. ट. तेन वाते. ३ क.
 ख. घ. झ. ट. ठ. ड. पुनरेतेऽवस्थि. ४ क. ख. झ. 'त्यर्थः । समीरिताः किं';
 ग. न. ये कुर्वन्तीति; घ. ट. ठ. ड. ये समीरिता किं; च. ये-कुं कि. ५ ग.
 ज. पूर्वप्रयु. ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'जादयक्रेण प्र'. ७ ग. ज. च
 तेषां. ८ क. ख. घ. ट. ठ. ड. वार्षाह. ९ च. धनः प्रा. १० क. ख. ग.
 ज. घ. झ. ट. ठ. ड. मामेवा दत्त. ११ क. ख. ग. ज. मामेवा दत्त. २३

नित्यकालं शत्रुप्रति भवतीत्यम्यगित्युच्यते । 'अम्यक्सा तै इन्द्र ऋष्टि-

रस्मे सनेम्यम्भं मरुतो' जुनन्ति । अग्निध्विद्धि
'अम्यक्' इत्यस्य म्भान्तसे शुशुक्तापो न द्वीपं दधति प्रयासि'

(ऋ० सं० १ । १६९ । ३ ।) ॥ अगस्त्य-

- ५ स्वार्षम् । त्रिष्टुप् । ऐन्द्री । छन्दोमेपु द्वितीयेऽहनि मरुत्वतीये शस्त्रे शस्यते
(आश्व० श्रौ० ८ । ७) । अम्यक्सा ते । यदा एवंलक्षणा रेपणां शक्तिः
आभिमुख्येन मेघम् अञ्जिता त्वर्यो क्षिता भवति आत्मनस्तव या स्वभूता अथ
तदा मरुतोऽपि तदनुविष्टस्यैव हे इन्द्र अस्मे अस्मदर्थं सनेमि चिरंत-
नम् अम्यं बहूदकमिह पातयितव्यमिति स्थान्यायुधानि मेघविदारणाय
१० जुनन्ति गमयन्ति । किंच । सर्वेषामेवायुधानां मध्ये भावत्कैव शक्तिः
अग्निध्वित् अग्निरेव अतसे काष्ठे शुशुक्तान् देदीप्यमान एतस्मिन्मेव आस्ते ।
किंच । आपो न द्वीपं यथा नदीया आपो द्वीपं परिवार्यात्मानं धारयन्त्येव-
मेतानि मेघानि प्रयासि उदकानि महत्त्वादृष्टेः तानि मज्जयितुमशक्नुवन्ति
द्वीपमिव परिवार्य धारयन्ति । एवमत्राञ्जतेर्गतपर्यस्य 'अम्यक्' इत्येतद्
१५ ऋष्टिसंक्रन्धादित्युपपद्यते ।

'यादृश्मिन्' (६१) इत्यनवगतम् । 'यादृशे' इत्यवगमः ।

'यादृश्मिन्' इत्यस्य ज्यायांसमस्य यतुनस्य केतुन ऋषिस्वरं
चरति यासु नाम ते । यादृश्मिन्धायां तमपस्य-
यो विदय उ स्वयं बहेते सो अरं करत्'

- २० (ऋ० सं० ५ । ४४ । ८) ॥ अवस्तारस्येवमर्षम् । जगती । आग्नेयी ।
'तं प्रथया' इत्येतस्मिन्सूक्ते (ऋ० सं० ५ । ४४) । उपह्वये तृतीयसवने
यैवंदेवे शस्यते (आश्व० श्रौ० ९ । १०) । ज्यायांसं महत्तरम् । अस्य यतुनस्यै

१ ग. 'च्यते । ६५ । अम्य० । २ ग. वेति । अग०; च. त इन्द्र प्रयासि ।
अग०; घ. झ. ट. त इन्द्र० दधति प्रयासि । अग०; ज. त । अग०. ३ ग. ज.
रेपा श०. ४ च. त्वमाक्षिता. ५ ग. ज. भावशक्ति. ६ क. स्व. घ. झ. न दीप्या
आपो०; ट. न दीप्या० नाध्या. ७ ग. ज. परिवार्य; च. परिषर्य. ८ ग. ज.
मेवानि. ९ ग. 'गमः । ६६ । ज्याया०. १० ग. ज. 'मस्य । अत्र०; घ. झ. ट.
'मस्य यतुनस्य० सो अरं करत् । अत्र०; च. 'मस्य यतुनस्य केतुन० रं करत् ।
२१ अव०. ११ क. झ. घ. झ. ट. 'नस्य कर्मणि षट्थो वा यतन०'.

यतनशीलस्य भगवतः सूर्यस्य केतुना कर्मणा प्रज्ञया वा क्लीस्वरम् ।
 ऋषिभिः स्वर्यते स्तूयते इत्यृषिस्वरस्तमृषिस्वरं स्तुवन् चरति प्रचरति
 क्रियासु यामु नाम ते । यामु क्रियासु नाम नमनं ते तत्र हे भगवन्मम ।
 स एवं चरंस्तासु क्रियासु यादृशमन् यादृशे कामे ध्यायि मनो धत्ते तादृशं
 कामं तथा अपस्यया क्रियाया हविःस्तुत्यादिदृक्षणया तत्र प्रसादात्
 अधिदत् । अलभतेत्यर्थः । किंच । य उ स्वयं वहते त्वां प्रति आदरवान्
 प्रापयति स्तुतीः स एव अरं कर्तुं पर्यत्तमात्मनोऽभिप्रेतमर्थं करोति ।
 एवमत्र शब्दसारूप्यात् ' यादृशमन् ' इत्यस्य ' यादृशे ' इत्येवं विपरि-
 णाम उपपद्यते ।

' जारयायि ' (१२) इत्यनवगतम् । ' अजायि ' इत्यवगमः । १०
 ' सास्माकेभिरेतरी नै शुपरग्निः एषे दम आ
 ' जारयायि ' इत्यस्य जातवेदाः । इजो बन्वन् कृत्वा नार्वोमः पितेवं
 जारयायि यज्ञैः ' (ऋ० सं० ६ । १२ ।
 ४) ॥ भरद्वाजस्यार्षम् । आग्नेयी । त्रिष्टुप् । प्रातरनुवाकाधिनयोः शस्यते
 (आर्ष० श्रौ० ४ । १३) । ' सास्माकेभिः ' इति छान्दसमात्वम् । १५
 सः अग्निः । ' सास्माकेभिः ' गुरैः मुखैः स्तोत्रैः स्तवे स्तूयते एतरी न
 अतिधिरिव दमे यज्ञगृहे आभिमुख्येनावस्थितैः स्तूयते जातवेदाः जात-
 विद्यो वा जातधनो वा । इजः द्रुमानः बन्वन् कृत्वा वननीयकर्मा
 वननीयप्रज्ञानो वा अनावी अनर्वा अनाश्रितः कंचिदन्यम् उल्लः पितेयं
 साण्ड इव गोपिता गवां पिता अजयि । यथा साण्डः पुत्रपौत्रादिभिर- २०
 नेकधा प्रजायत एवं यज्ञेषु विहितमाणोऽनेकधा जायतेऽग्निः । एवमत्र
 ' जारजायि ' इत्यस्य ' अजायि ' इत्यर्थप्रतीतिः ।

१ प. ट. ' यामु ' नास्ति. २ ग. ज. ' क्रियासु ' नास्ति. ३ ग. ' चरंता ' ; ज.
 ' चरंता ' . ४ ग. ज. अर्थे मनो ध्यायि धारयति तदर्थं तथा अप . ५ ग. ज. क्रियाया
 तत्र प्रसा . ६ ग. ' मन् ' ; ६७ । साप्ता . ७ ग. ज. न । भर . ; व. स. ट. न
 सू० जारयायि यज्ञैः । भर . ८ व. अस्मा आ . ; क. त. प. स. ड. उ. ह.
 ' गुरो दमे आभि ' ; ग. ज. यज्ञे गृहे.

‘अप्रिया’ (६३) इत्यनवगतम् । ‘अग्रगमनेन’ अप्रियाः

अग्रगाः । ते ह्यग्रे देवसैन्यस्य गच्छन्ति । अध-

‘अप्रिया’

वा । अग्रमात्मानं संपादयन्तीत्यप्रियाः । अधवा ।

उत्स्य व्युत्पत्तिः

अग्रमेव अप्रियाः । अनर्थक एवाग्रशब्देन ‘इया-

कार उपबन्ध उपात्तः । ‘अपि वाग्रमित्येतदनर्थ-

कमुपबन्धमाददीत’ इति हेतुकं भाष्यकारेण ॥ १५ ॥

प्र वोऽच्छां जुजुपाणासो अस्थुरभूत विभे अग्रियोत वाजाः ।

प्रास्थुर्वो जोषयमाणा अभवत् सर्वेऽग्रगमनेनेति वाग्रगरणेनेति

१० वाग्रसंपादिन इति वापि वाग्रमित्येतदनर्थकमुपबन्धमाददीत ।

अद्दीदिन्द्र प्रस्थितेमा हर्षापि चनो दधिष्व पचतोत सोमम् ।

अद्दीन्द्र प्रस्थितानीमानि हर्षापि चनो दधिष्व चन इत्यन्ननाम

पचतिर्नामीभूतैस्तं मेदस्तः प्रति पचताग्रभीष्टामित्यपि निगमो

भवत्यपि वा मेदसश्च पशोश्च सात्त्वं द्विवचनं स्याद्यत्र होक्-

१५ वचनार्थः प्रसिद्धं तद्व्रवति । पुरोडां अग्रे पचत इति यथा

शुरुष आपो भवन्ति शुचं संरुन्धन्ति । ऋतस्य हि शुरुषः सन्ति

पूर्वीरित्यपि निगमो भवत्येमिनोऽमितमात्रो महान् भवत्यभ्य-

मितो वा । अमिनः सहोभिरित्यपि निगमो भवति जज्झतीरापो

भवन्ति कृत्तुफारिण्यः । मैरुतो जज्झतीरिवेत्यपि निगमो भवत्य-

२० प्रतिष्कृतोऽप्रतिष्कृतोऽप्रतिस्वलितो वा । अस्मभ्यमप्रतिष्कृत

इत्यपि निगमो भवति शाशदानः शाशाद्यमानः । प्र स्वां मति-

मतिरच्छाशदान इत्यपि निगमो भवति ॥ १६ ॥

इति पद्याध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

१ ग. अ. ‘प्रियोःत्रगाः; च. ‘प्रियोःत्राः’ योऽ (यः अ). २ ग. ज.

२५ अप्रिया अन^०; च. अप्रियो अन^० याः ३ ग. अ. एवाग्रि^०; च. एवाग्रि (प्र)
शब्दे- याका^० ने. ४ क. ख. य. स. ट. ठ. ड. ‘हि’ नास्ति. ५ क. ख. ६ (१५);
गं. १६ (६८); ठ. ड. १५ । इति निरुक्तटीकायां पद्याध्याये पञ्चदशः सूत्रः;
इतरेष्वङ्को नास्ति. ६ छ. त. द. ‘वाग्रगरणेनेति’ नास्ति. ७ क. ख. छ. त. ‘भूतः ।
तं; द. ‘भूतः सं’ ८ त. ‘दन्त्यपि’ ति । अ. ९ क. ख. छ. त. द. पुरोडा.
१० त. ‘वत्यमि’ ति । अ. ११ क. ख. पदिको ज^०. १२ क. ख. ‘प्रतिष्कृतो;
द. ‘प्रतिष्कृतो’ रङ्. १३ क. ख. ५ (१६); छ. त. १८; द. ५. १४ ड. य.
च. ‘इति’ पदः’ नास्ति; छ. ‘इति पद्याध्यायस्य’ नास्ति; त. इति पद्याध्याये तृ^०;
१३ द. इति नेरुक्तस्य स्ववदके पद्य^०.

‘अयं वो’ यज्ञ ऋभवोऽकारि यमा मनुष्यत्प्रदिवो दधिष्वे । प्र वोऽ-
च्छा जुजुपाणासो अस्थुरभूत विश्वे अम्रियोत

प्रयोगश्च

वाजाः’ (ऋ० सं० ४ । ३४ । ३) ॥ वाम-
देवस्यार्षम् । व्यूढस्य दशरात्रस्य पञ्चमेऽहनि

तृतीयसवने वैश्वदेवे शस्यते (आश्व० श्रौ० ८ । ८) । हे ऋभवो
युष्माकम् अयं यज्ञो यम् अहमकार्षं तम गम्य मनुष्यत् मनुष्यवैत् दधिष्वे
धारयष्वे । एतद्दः प्रमवीमि । किंच । प्र वोऽच्छा जुजुपाणासोः अस्थुः ।
प्रस्थितानि यान्येतानि हवीषि तानि यूयं जोषयमाणा देवैः सेव्यमाना
वा आत्मनो अम्रिया भवन्त । उत वाजाः । अपि च हे वाजा यूयमप्येव-
मेव भवत । एवमत्रै ‘अग्रगामिनोऽग्रसंपादिनो वाग्रमेव वाम्रिया’ तथार्थो-
पपत्तेः शब्दसारूप्याच्च ।

‘चनः’ (६४) इत्यननाम । पचता’ (६५) इत्यनवगतम् । एतच्चेक-
वचनं द्विवचनं यौ भवति प्रकरणाविशेषात् । आख्यातस्वरूपं चैतन्नाम ।

‘पचतिर्नामीभूतः’ इति भाष्यकारो ब्रवीति । ‘अद्वीदिन्द्रं प्रस्थितेमा
हवीषि चनो दधिष्व पचतोत् सोमम् । प्रय- १५

‘चनः’ ‘पचता’
इत्यनयोः
स्वन्तः प्रति हवीमसि त्वा सत्याः संन्तु यज-
मानस्य कामाः’ (ऋ० सं० १० । ११९

८) ॥ इयमम्रियुतस्य वाम्रिषूपस्य वार्षम् । अदि
भक्षय हे इन्द्र प्रस्थितानि इमानि हवीषि । चनः अन्नेमेतद्दविलक्षणं दधिष्व

प्रक्षिप जठरे । पचता पकानि इमानि हवीषि । अत एवं ब्रवीमि दधिष्वेति । २०

१ ग. न. ‘कारि । वाम’; प. स. ट. ‘कारि० अम्रियोत वाजाः । वाम’ २
क. ख. प. स. ट. ठ. ड. ‘स्वार्षम् । आर्भवी । विष्टुप् । व्यू’; प. ‘स्वार्षम्’ ।
‘यू’ आर्भवी । विष्टुप्. ३ क. ख. प. स. ट. ठ. ड. ‘वत् प्रदिवः प्रकर्षेण
योतमानाः सन्त आदधि’ ४ ग. ‘णासो अस्थुः’ । प्र’ प्रास्थुः; प. ज. ‘णासः प्रास्थुः
प्रस्थि’; प. ट. ‘णासः प्रास्थुः । प्र’; ठ. ड. ‘णासः । प्रास्थुः प्रास्थि’ ५ क. ख. प. २५
स. ट. ठ. ड. ‘अत्र’ नास्ति. ६ प. स. ट. ड. वा दंहुवचनं वा भन’; प.
‘चन-वा’ दंहुवचनं. ७ ग. ‘ति । ६५’ । अदि’ ८ ग. ‘दिन्द्र प्रस्थितेमेति
इय’; ज. ‘दिन्द्र प्रस्थितेमा । इय’; प. स. ट. दिन्द्र ० यजमानस्य कामाः ।
इय’ १ क. ख. प. स. ट. ठ. ड. ‘वार्षम् । विष्टुप् । पेन्दी । अदि’; प.
‘वार्षम्’ । अदि’ विष्टुपेन्दी. १० प. ‘इमांशोर्नो ह’ नि-

उत सोमम् अपि च सोमं दधिष्व । प्रयस्वन्तः अन्नवन्तो वयं हवींषि
 कामयमानं त्वां प्रतिहर्यामसि प्रतिकामयामहे
 अत्र 'पचता' सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः इत्यभिप्रायेण ।
 बहुवचने इह 'हवींषि' इत्यनेन संबन्धात् 'पचता' इत्येत-
 दन्नविषयं बहुवचनम् । 'पंचतिर्नामीभूतः' इति
 धातुनिर्देशः ।

द्वितीयमुदाहरणं ब्रवीत्यर्थवैशेष्यदर्शनादस्येति 'तं मेदस्तः प्रति पचता-
 प्रमीष्टाम्' (मैत्रा० सं० ४ । १३ । ९) इति । तं पशुं मेदस्तः

१० अत्रैकवचनम् यतस्तस्य मेदो यपासहयोगि ततस्तेन प्रदे-
 शेन प्रत्यप्रमीष्टाम् इन्द्राग्नी पचता । एकमित्यर्थः ।

एवमेतदेकवचनं भवति । अपि वा मेदसश्च
 यपासहयोगिनः पशवदानस्योभिधायकमेतत् 'सास्यं' सस्यविषयं

अथवा द्विवचनम् 'द्विवचनं स्यात्' । सन्ति द्वौवरूपाणि
 द्विवचनान्यपि । तद्यथा । 'दैव्या होतारा
 मिपजा' (मैत्रा० सं० ३ । ११ । ११) ।

किं कारणमुच्यते 'द्विवचनम्' एतत् 'स्यात्' इति । यतो यस्मात्
 'यत्र द्वेकवचनार्थः प्रसिद्धम्' एव निःसंदेहमेव 'तद्वति' । 'पुरोर्ध्यं
 अग्ने पचतस्तुभ्यं वा वा परेष्कृतः । तं जुपस्व
 यत्रिष्टय' (ऋ० सं० ३ । २८ । २) ॥

९० विश्वामित्रस्यर्पम् । आश्विनस्य द्विकपालस्यातिरात्रे
 यदि स्विष्टकृद्भवति तस्येयं पुरोमुवाक्या भवति (आश्व० श्रौ० ६ । ९) ।

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. प्रतिहर्यामः कामं; च. प्रति-कामं हार्यामः. २
 क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. चतसृष्यते. ३ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'र्थवि-
 शेषदर्श'; ग. 'र्थविशेषादर्श' वै; ज. 'र्थवैशेषादर्श'. ४ क. ख. 'नस्य चाभि';
 घ. ङ. ट. ठ. ड. 'नस्य चाभि'; च. 'नस्यो (स्य) चाभिषेक' वा; ग. ज. 'नस्य-
 मिषेयकतत्'. ५ ग. 'वति । ७० । पुरो'. ६ क. ख. ग. घ. ज. घ. ट. पुरोडा.
 ७ ग. पचतस्तुभ्यमिति । विश्वा; ज. पचतस्तुभ्यः । विश्वा; च. ङ. ट. पचतः.
 यत्रिष्टय । विश्वा. ८ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'स्याम्' । गायत्री । आग्नेयी ।
 आश्वि; च. स्याम्. ९ आश्विं ग. यज्याग्नेयी.

पुरोळाः पुरोडाशः पचतः । पक् इत्यर्थः । तुभ्यं त्वदर्थं भगवन्मन्त्रे । 'वा, चा' इत्यनर्थकौ । न केवलं पक्कः । किं तर्हि । परिष्कृतः । सुसंस्कृत इत्यर्थः । तं जुपस्व सेवस्व हे यविष्ठेय युवतम् । अथवा । मिश्रयितुम् । 'एवमत्र परिष्कृतः' इत्येतस्मादेकवचनसंबन्धात् 'पचतः' इत्येकवचनमिति सिध्यति ।

५

'शुरुधः' (६६) इत्यनवगतम् । 'आपो भवन्ति' इत्यभिधेयवचनम् । 'शुचं संरुधन्ति' इति निर्वचनम् । 'शुरुधः' इत्यस्य नम् । 'शुश्रुधः' इति न्यायम् । 'ऋतस्य न्युत्पत्तिः' हि शुरुधः' इति । दैवते शेषः (निरु० १० । ४१) ।

१६

'अमिनः' (६७) इत्यनवगतम् । 'अमितमात्रः' इत्यवगमः । न यस्य मात्राणां मानमस्ति सोऽमिन इत्युच्यते । 'अभ्यमितो वा' । अनभिहितो यः केनचित्सोऽमिनः । 'महो इन्द्रो नृवर्द्धा चर्षणिषा' उत द्विवर्द्धा अमिनः सहोभिः । अस्मद्रपवाद्गृध्रे 'अमिनः' इत्यस्य वीर्योवाहः पृथुः सुकृतः कर्तृभिर्भूत् [ऋ० सं० ६ । १९ । १) ॥ मरद्वाजस्यार्थम् ।

१५

दशरात्रस्याष्टमेऽहनि मरुत्वतीये शस्त्रे शस्यते [आश्व० श्रौ० ८ । ७] । मोहेन्द्रश्च महोऽनयेव गृह्यते [मैत्रा० सं० १ । ३ । २५] । महान् प्रभावतः इन्द्रो नृवत् मनुष्यवत् आचर्षणिषाः आपूरयिता चर्षणीनां मनुष्याणां कामैः । यथा हि मनुष्य ईश्वरः परितुष्टः कामैर्वश्यं भृत्यमापूरयत्येवमिन्द्रोऽपि स्तोतारम् । उत द्विवर्द्धाः । अपि च द्वयोः

२०

१ क. ख. ग. घ. ज. पुरोडाः; घ. स. पुरोलाः पुरोलाशः; ट. पुरोळाः पुरोळाशः. २ ठ. ड. 'इत्यर्थः । मृषदृशात्यादिना कर्मण्यच् । पच्यतेऽसौ पचतः । तुभ्यं'. ३ च. केवलः. ४ गं. घ. युवतम् यविष्ठेय; ज. युवतम् यविष्ठय. ५ क. ख. घ. स. ट. ठ. ड. 'चनमेव सि'. ६ ग. ज. आभ्यमि; च. अभ्यमि. ७ क. ख. घ. स. ट. ठ. ड. 'चिदसौ अमि'; गं. जं. तसोऽमिनः । ७१ । मडा; घ. 'चित्सोमि' दसौ अ. ८ ग. वदेने । भर; घ. स. ड. 'वत् ० कर्तृभिर्भूत् । भर; ज. 'वत् । भर'. ९ क. ख. घ. स. ट. ठ. ड. 'स्वार्थम् । विष्टु । ऐन्द्रो । दश'; घ. 'स्वार्थम् ५ दश' विष्टु-ऐन्द्रो.

स्थानयोर्मध्यमोत्तमयोः परिवृद्धैः अमिनश्च अमितमात्रः । अथवा । अनभिहि-
सितः केनचित् । केन पुनरमिन इति । उच्यते । सहोभिः । बलैरित्यर्थः ।
न हीन्द्रस्य बलमात्राः केनचिन्मितपूर्वा इत्यर्थः । अनभिहिंसितपूर्वो वा
केनचिदिन्द्रः । अस्मद्रथक् अस्मदनुग्रहाय अस्मदर्शनाय वावृधे वर्धते ।
५ वीर्याय वीरकर्मणे वर्षार्थम् उरुः महान् परिमाणतः पृथुश्च विस्तीर्णो यः
सोऽस्माकं प्रत्यभिमुखो दानायाभिप्रेतानामर्थानां सुकृतः स्तुतिभिरेतैः
कर्तृभिः ऋत्विग्भिः भूत् । भूयादित्यर्थः । एवमत्र 'अमिन'शब्देन
'अमितमात्रः' अनभिहिंसितमात्रो बोध्यते शब्दसारूप्यादर्थोपपत्तेश्च ।

'जज्जतीः' (६८) इत्यनवगतम् । शब्दानुकरणात् 'आपः' इति

१० 'जज्जतीः' इत्यस्य प्रतीयन्ते । 'आ रुक्मैरा युधो नरं ऋत्वा ऋशीरं-
सृक्षत । अन्वेनो अहं विद्युतो मरुतो जज्जतीरिव

भानुरर्तं त्मना दिवः' [ऋ० सं० ५।१२।६] ॥ यावाश्चस्यार्थम् । आभिमु-
ख्येन शत्रून् शातयितव्यान् मेघान् प्रति एतान्यायुधानि रुक्मैः विकृतानि
एताश्च ऋषीः शक्तीः असृक्षत असृजन्त हे नरः मरुतः । किंच । अनु एनान्

१५ प्रहारान् विद्युतो भानुः आदित्य इव आत्मना दिवो सुलोकादपगच्छन्तु ।
मेघेभ्यो हन्यमानेभ्यस्तदन्वेव चापोऽपि आर्तं आगच्छन्तु । कथमिति ।
जज्जतीरिव शब्दकारिण्य इव स्तोतस्या आप ऋत्वाः । प्रमृता इत्यर्थः ।
एवमत्र शब्दानुकरणात् 'आपो जज्जतीः' इत्युपपद्यते ।

'अप्रतिष्कृतः' (६९) इत्यनवगतम् । 'अप्रतिष्कृतोऽप्रतिखलितो
वा' इति शब्दसमाधी । 'स नो' वृत्तमुं ध्वं

२० 'अप्रतिष्कृतः' सत्रादावनपा वृधि । अस्मभ्यमप्रतिष्कृतः' (ऋ०
सं० १।७।६) ॥ मधुच्छन्दस आर्षम् ।
इत्यस्य

पृष्ठयाभिप्लवयोः प्रातःसवनिके आवापे विनियुक्ता ब्राह्मणाच्छंसिनः शस्त्रे

२५ १ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. परिवृद्धः. २ ग. ज. घ. ङ. ट. ठ. ड. ववृधे.
३ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. वेत्युच्यते. ४ ग. 'यते । ७२ । आ'; ज. 'यते ।
आ'. ५ ग. युधेति । इवा'; घ. ङ. ट. युषा नरः० भानुरर्तं त्मना दिवः । इवा'. ६
क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'स्यार्थम् । मास्ती । पञ्चिः । आभि'; घ. 'स्यार्थम्'.
आभि' मास्ती पञ्चि'. ७ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'कादातपगच्छ'; ग. ज.
'कादागच्छ'; घ. 'कात्-आ' आर्त. ८ घ. ङ. प्रमृताः, ट. प्रमृताः 'मृ. ९
ग. नाथी । ७२ । ष'. १० ग. ज. च६ । मधु'; घ. ङ. ट. च६० । मनिष्कृतः ।
मधु'. ११ घ. 'निष्कृतः. १२ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. आवर्त् । गावर्त्ती ।
२२ रेन्त्री । ट'.

(आश्व० श्रौ० ७ । ५) । हे वृषन्-इन्द्र वर्षितः यस्त्वमनुग्रहीतास्माकं
स त्वं शृणु यत्कुरुष्व । अमुं चरुम् अमुं मेवं हे सत्रादावन् सततदानं
अपावृधि अपावृणु उदकदानार्थमस्मभ्यम् । अप्रतिष्कृतः । न हीन्द्रः
प्रतिष्कृतः परान् प्रति पराद्मुखः कृतपूर्वः केनचित् । अथवा । ' अप्रति-
स्खलितः ' संप्राभेषु । एवमत्र ' अप्रतिष्कृत ' शब्दः ' अप्रतिष्कृत '
वाची अथवा ' अप्रतिस्खलित ' वाची । तथार्थाविरोधः ।

' शाशदानः ' (७०) इत्यनवगतम् । ' शाशाद्यमानः ' इत्य-
यंगमैः । ' अभि सिन्धो अजिर्गादस्य शत्रुन्वि तिग्मेन वृषभेणा
पुरोऽभेत् । सं वज्रेणासृजद्वज्रमिन्द्रः प्र स्वां मतिर्मतिरच्छाशदानः '

(ऋ० सं० १ । ३३ । १३) ॥ हिरण्यसू-

' शाशदानः ' पस्यापम् । गोसवत्रिवधयोर्निष्केवल्ये शस्यते
इत्यस्य (आश्व० श्रौ० ९ । ८) । अम्यजिगात्

अम्यगच्छत् अस्य इन्द्रस्य स्वभूतः तिग्मः
उत्साहवान् वज्रः शत्रून् प्रति सिन्धः साधयिता शत्रूणां वितिग्मेन
तौक्ष्णेन वृषभेण वर्षप्रवर्तकेन पुरः मेर्वपुरः असुरपुरो वा अभेत् । किं च ।
समसृजद्वजेण वृषमिन्द्रः । स च भिद्यमानः प्रातिरत् स्वां मतिं न दात-
व्यमुदकभेदामित्येतां मतिं स्वां प्रातिरत् । प्राजहादित्यर्थः । शाशदानः
पुनः पुनः शाशाद्यमानः इन्द्रेण । एवमत्र ' शाशदानः शाशाद्यमानः '
इत्युपपद्यते शब्दसारूप्यादर्थाविरोधाच्चेति ॥ १६ ॥

एकोदशस्य तृतीयः पादः ॥

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'मनुषन्तरिणे चरणशीले मेवं'; घ. 'अमुं - मेवं'
'अन्तरिणे चरणशीले. २ घ. 'दानं अपा' नः; ट. 'वानि अरा' ता. ३ ग.
ज. हेऽप्रतिष्कृतः. ४ घ. 'वाची वा'; ज. 'वाची वा. ५ ग. 'मयः । ७४ ।
अभि'. ६ ग. ज. 'जिमात् । हिर'; घ. ङ. ट. 'जिमादस्य. प्र स्वां मतिम-
तिरच्छाशदानः । हिर'. ७ घ. मेवः पु. ८ क. ख. घ (१६); ग. १८;
इतोपपद्यते नादि. ९ ठ. ड. 'अभि । इति मुनेषां निरुक्तस्यैव न १६-
दशाध्यायस्य तृतीयः पादः । इति निरुक्तस्यैव न १६-
दशाध्यायस्य तृतीयः पादः । इति निरुक्तस्यैव न १६-
दशाध्यायस्य तृतीयः पादः । इति निरुक्तस्यैव न १६-

चतुर्थः पादः ।

- सुप्रः सर्पणादिदम्पतीतरत्सुप्रमेतस्मादेवं सर्पिर्वा तैलं वा ।
 सुप्रकरस्नमूतय इत्यपि निगमो भवति करस्नौ वाहू कर्मणां
 प्रस्नातारौ सुशिममेतेन व्याख्यातम् । वाजे सुशिम गोमतीत्यपि
 ५ निगमो भवति शिम्रे हनू नासिके वा हनुर्हन्तेर्नासिका नसतेः ।
 विष्यस्व शिम्रे विसृजस्व धेने इत्यपि निगमो भवति धेना
 दधाते रंसु रमणात् । स चित्रेण चिकित्ते रंसु भासेत्यपि निगमो
 भवति द्विवर्हा द्वयोः स्थानयोः परिवृढो मध्यमे च स्थान उत्त-
 मे च । उत्त द्विवर्हा अभिनः सहोभिरित्यपि निगमो भवत्यक्रं आक्रम-
 १० णात् । अक्रो न वध्नः समिधे महीनामित्यपि निगमो भवत्युराण
 उरु कुर्वाणः । दूत ईयसे प्रदिव उराण इत्यपि निगमो भवति ।
 स्तिया आपो भवन्ति स्त्यायनात् । वृषा सिन्धूनां वृषभः
 स्तियानामित्यपि निगमो भवति स्तिपा स्तिर्यापालन उपस्थितान्
 पालयतीति वा । स नः स्तिपा उत भवा तनूपा इत्यपि निगमो
 १५ भवति जवारु ज्वमानरोहि जरमाणरोहि गरमाणरोहीति वा ।
 अग्रे रूप आरुपितं जवारित्यपि निगमो भवति जरुथं गरुथं
 गृणातेः । जरुथं हन्यक्षि राये पुरान्धमित्यपि निगमो भवति
 कुलिश इति वज्रनाम कूलशातनो भवति । स्कन्धांसीव कुलि-
 शेना विवृण्णाहिः ज्ञयत उपपृवपृथिव्याः । स्कन्धो वृक्षस्य
 २० समास्कन्धो भवत्ययमपीतरस्कन्ध एतस्मादेवास्कन्धं कायेऽहिः
 शयत उपपर्वनः पृथिव्यास्तुजस्तुजतेर्दानकर्षणः ॥ १७ ॥

- ‘सुप्र’ (७१) इत्यनवगतम् । ‘सर्पः’ इत्यवगमः । ‘सर्पणात्’
 १५ ‘सुप्रः’ इत्यस्य इति निर्वचनम् । ‘इदमपीतरत्सुप्रमेतस्मादेव’
 सर्पणात् । यदेतत् ‘सर्पिर्वा तैलं वा’ तदपि हि
 सर्पेति । ‘सुप्रकरस्नमूतये’ इति निगमः । ‘वृष-
 दुक्थं हवामहे’ इति व्याख्यातः जेपः (निरु० ६ । ४) । ‘करस्नौ
 वाहू कर्मणां प्रस्नातारौ’ । निर्वर्तयितारानित्यर्थः ।

- १ छ. त. द. परिहृन्ते. २ छ. द. त. “वति । अक”. ३ क. रा. द. “वति
 । १ । स्तिया ; छ. त. “वति । ११ । स्तिया”. ४ छ. त. द. “तृतीयां पाल”. ५ छ.
 त. द. “वा” नास्ति. ६ क. रा. छ. त. द. जरमा ; “जवाड जरमाणरोहीति वा
 जरमानरोहीति वा” इति सायणशङ्कः. ७ छ. त. द. भवतीदृशीरुहस्कन्ध (द.
 १२ “राजम्). ८ क. रा. २ (१७); छ. त. २ ; द. २.

‘सुशिप्रः’ (७२) इत्यनवगतम् । तत्पुनरेतत् ‘एतेन’ एव सूत्र-

शब्देन ‘व्याख्यातम्’ । सर्पतेरेवैतदपि । ‘शिप्रे
‘सुशिप्रः’ इत्यस्य हनू नासिके वा । ते यस्य शस्ते स सुशिप्रः ।

‘वाजे सुशिप्र गोमति’ इति निगमा ‘विद्रा सखि-
त्वम्’ इति व्याख्यातैः (निरु० ५ । २३) । नास्मिन्मन्त्रे नासिकयो-

र्हन्योर्वा शिप्रशब्दवाच्यत्वे विशेषलिङ्गमस्तीति यतः ‘शिप्रे हनू नासिके
वा’ इत्युक्त्वा विशिष्टतरैलिङ्गमन्यदुदाहरणं ब्रवीति ‘वि ष्यस्व शिप्रे’ इति ।

‘मादयस्व हरिभिर्ये तं इन्द्र वि ष्यस्व शिप्रे वि सृजस्व धेने । आ
त्वा सुशिप्र हरयो वहन्तु शह्व्यानि प्रति नो

शिप्रे’ इत्यस्य जुपस्व’ (ऋ० सं० १ । १०१ । १०) ॥ १०

कुत्सस्येयमार्थम् । ऐर्द्री । जगती । दशरात्रस्य
नवमेऽहनि मरुत्वतीये शस्त्रे शस्यते (आश्व० श्रौ० ८ । ७) । माद-

पस्व हर्षपस्व स्वम् आत्मानं हे इन्द्र हरिभिः अद्वैः ये ते तव स्वभूताः
तैः सह । कथं च पुनर्मादयस्वेति । विष्यस्व विमुञ्चस्व शिप्रे सुप्रे दीर्घे

हनू हविर्भक्षणाय । नानिके वा । ते अपि हि गन्धाघ्राणाय सर्पत इव । १५
भक्ष्यं द्रव्यं ह्याह्वादयतो वा जिघ्रतो वा हर्ष उत्पद्यते । अत इदमुक्तं विमु-

ञ्चस्व हनू हविर्भक्षणाय नासिके वा गन्धाघ्राणाय । एवं मादयस्वात्मान-
मिति । विसृजस्व धेने आधस्ये दंष्ट्रे वा । ‘जिह्वोपजिह्वैके वा’ इत्येके ।

तयोर्द्वयं धीयते । किञ्च । आ त्वा वहन्तु हरयोः । दृष्टाः सन्त आग्रहन्तु
त्वा हरयोऽस्मान्प्रति हे सुशिप्र । तशन् कामयमानो हव्यानि हर्षापि एता-

नि अस्मत्प्रत्तानि स्तुतिभिरस्माभिरासेवितः प्रतिजुपस्व नः । प्रतिसंसेवस्व
नः कामैरित्यभिप्रायः । एवमत्र मादनसंयन्वाद्द्विःसंप्रदानसंयन्वाच्च ‘शिप्रे

हनू नासिके वा’ इत्युपपद्यते ।
यत्तदुक्तं ‘शिप्रे इत्युपरिष्ठाद् व्याख्यास्यामः’ (निरु० ४ । १०)

इति एतद् व्याख्यातं ‘शिप्रे हनू नासिके वा’ इति । २५
‘हनुर्हन्तेः’ धातोः । ‘नासिका नसतेः’ । ‘नस्तितिरामोतिकर्मा

वा नमतिकर्मा वा’ इति हि वक्ष्यति (निरु० ७ । १७) ।

१ ष. शिप्रे. २ ष. ‘क्ष्यात । आस्मिन्मन्त्रे’; ३. ‘क्ष्यात ~ । ना’ क्षेपः; ४.
४. ‘क्ष्यातक्षेपः । आस्मिन्मन्त्रे’; ५ क. स. ष. झ. ट. ठ. ड. तत्सिद्धं. ५ ग.

इति । ७ ष. ‘माद’; ५ ग. अ. हतिभिः । कुत्स’; ५ झ. ट. हतिभिर्हेतुं इति नो
जुपस्व । कुत्स’. ६ ग. अ. ‘ऐर्द्री’ नास्मि. ७ ग. अ. गन्धाघ्रा’. ८ ग. अ.
‘जिह्वोपे. ९ ग. अ. ‘हरयो’ नास्ति. १० ष. ‘उपपत्ति. ११ ग. अ. ‘हि’ नास्ति. १२

‘रंसु’ (७३) इत्यनवगतम् । रमणीयेषु इत्यवगमः । ‘रमणात्’
इति निर्धचनम् । ‘आ यन्मे अम्बं’ वनदः पन-

‘रंसु’ इत्यस्य न्तोऽशिम्यो नाभिमीत वर्णम् । स चित्रेण चिकिते
रंसु मासा जुजुर्वो यो मुहुरा युवा भूत्

५ (ऋ० सं० २।४।५) ॥ सोमाहुतेर्भागेवस्यार्पम् । त्रिष्टुप् । आग्नेयी ।
प्रातरनुवाकाश्विनयोः शस्यते (आश्व० श्रौ० ४।१३) । आपनन्तं
आभिमुख्येन पनन्त आस्तुयत मे मम स्वभूते कर्मणि अम्बं महान्तम्
अग्निम् । वनदो वननीयस्य हविषो दातार ऋत्विजो यं वर्णं वरं वृण्वन्ति
अस्मदर्थं तेभ्यः उशिम्यः मेधाविभ्यः तमसौ वर्णं वरणं प्रार्थनां नाभि-

१० भीत न हिनस्ति । किं तर्हि । यथाप्रार्थितमेव समर्थयतीत्यर्थः । किंच । सः
अग्निः चित्रेण चायनीयेन भासा युक्तो रंसु रमणीयेषु स्थानेषु युलोका-
दिषु अग्निहोत्रेषु वा चिकिते । फिलक्षणो योऽग्निरिति । जुजुर्वान् पुनः
पुनर्जरावान् अपि भूत्वा इन्धनक्षयाः पुनरिन्धनं प्राप्य तस्योपरि दीप्यमानो
मुहुर्मुहुर्येव भवति । एवमत्र शब्दसारूप्यादर्थविरोधाच्च ‘रंसु’ इत्यस्य

१५ ‘रमणीयेषु’ इति विपरिणाम उपपद्यते ।

‘द्विवर्हाः’ (७४) इत्यनवगतम् । ‘द्विपरिवृद्धः’ इति न्याय्यम् । मध्यमे
‘द्विवर्हाः’ च स्थाने वैयुतात्मना उत्तमे च सूर्यात्मना ।
इत्यस्य ‘उत्त द्विवर्हाः’ इति निगमः । ‘महो इन्द्रः’ इति
व्याख्यातः शेषः (निरु० ६।१६) ।

२० ‘अक्रः’ (७५) इत्यनवगतम् । ‘आक्रमणः’ इति न्याय्यम् ।
‘आक्रमणात्’ इति निर्धचनम् । प्राकारोऽभिधेयः । ‘अक्रो न वैभिः
समिधे महीनां दिदक्षे यः सुनधे भाक्कजीकः ।
‘अक्रः’ इत्यस्य लटुस्त्रिया जर्भता यो जजानापां गर्भो नृत्तमो
यहो अग्निः’ (ऋ० सं० ३।१।१२) ॥

२५ विश्वामित्रस्यार्पम् । त्रिष्टुप् । आग्नेयी । प्रातरनुवाकाश्विनयोः शस्यते

१ ग. ज. ‘णीयमित्यव’; च. ‘णीयेष्वित्यनवगमः’ २ ग. ‘चनम्’ । ३ द. ।
आ. ३ ग. ज. वनदः पनन् इति । गृत्समदस्यार्पम् । प्रातः; घ. स. ट.
वनदः० मुहुरा युवा भूत् । सोमा. ४ क. ख. घ. स. ट. ठ. ड. अस्तु; ग. ज.
अस्तुवत. ५ च. तथा. ६ ग. ‘धेयः’ । ७७ । अक्रो. ७ ग. ‘भग्निः समिध
इति । विश्वा’; ज. भग्निः समिधे विश्वा’; घ. स. ट. त्रिभिः स० यहो अग्निः ।

११ विश्वा. ८ ग. ज. ‘त्रिष्टुप् । आग्नेयी’ नास्ति.

(आश्व० श्रौ० ४ । १३) । अक्रो न अक्र इव प्राकार इव वभिः
भर्ता धारयिता । क । समिधे संप्राप्ते । कस्य । महीनां महतीनां शत्रुसेना-
नाम् । एवंलक्षणो योऽग्निः । किंच । दिदृक्षे यः दृश्यते यः सूनवे सोमाभि-
पवकर्त्रे यजमानाय नित्यकालमेव भाक्तजीकः प्रसिद्धभाः प्रसिद्धीति ।
नित्यो ज्वलित इत्यर्थः । किंच । सर्वस्य लोकस्य जनयिता उत्तिष्या उज्ज- ५
जान उत्तिष्या आहुतीः आत्मानि प्रक्षिप्ताः सैतीः देवतातृप्तिसमैर्वेन रूपेण
जर्घ्या यो जनयति । अथवा । गाव एव बोक्षियाः स्युः । ता अपि ह्यसौ पशु-
कामकर्मण्यङ्गभावं गच्छन् जनयति । यश्च अपां गर्भो यश्च नृतमो मनु-
ष्यतमो यश्च यद्गो महान् अग्निः स इदं नामास्माकं करोत्विति । एवमत्र शब्द-
सारूप्यादर्थाविरोधाच्च 'अक्रः प्राकारः' इत्युपपद्यते । असौ ह्यक्रम्यते जनैः । १०

'उराणः' (७६) इत्यनवगतम् । 'उरु कुर्वाणः' इत्यवगमैः ।

वेरध्वरस्य दूतानि विद्वानुभे अन्ता रोदसी

'उराणः इत्यस्य' संचिकित्वान् । दूत ईपसे प्रादिब उराणो विदु-
ष्टो दिव आरोधनानि' (ऋ० सं० ४ । ७ । ८) ॥

वामदेवस्यार्यम् । त्रिष्टुप् । आग्नेयी । प्रातरनुवाकाशिनयोः शस्यते (आश्व० १५
श्रौ० ४ । १३) । हे भगवन्मत्ते येः त्वं जानीषे । किम् । अध्वरस्य
यज्ञस्य दूतानि दूतकर्माणि यानि दूतेन कर्तव्यानि । किंच । उभौ अपि
अन्तौ रोदसीः विद्वान् असि विजानीषे । किंच । समस्तमप्येतज्जगत्
चिकित्वान् असि । न ते विज्ञानप्रतीघातोऽस्ति कृत्वोऽपि जगति । विजा-
नीषे सर्वाणि देवतास्थानानि । प्रादिष एवासि दूतः चिरंतनः सर्वेषां यज- २०
मानानाम् । यतोऽस्माभिस्त्वमेतस्मिन्कर्मणि दूतो दूतत्वेन ईपसे याप्यसे ।
स त्वम् उराणः अल्पमपि हृतं हविर्देवतातृप्तिसमर्थं बहु कुर्वाणो विदुष्टो
विद्वत्तरो मनुष्यहेतुः सकाशात् दिव आरोधनानि आरोढव्यानि देवता-
स्थानानि प्रति । वर्हतानि हवीर्धीत्यभिप्रायः । एवमत्र शब्दसारूप्यादर्थोपप-
त्तेरु 'उराणः' इत्यस्य 'उरु कुर्वाणः' इत्येव निपरिणाम उपपद्यते । २५

१ ग. ज. 'किंच । उदुक्षिया उज्जजानोमृण आहुती' । २ ग. घ. ज. हती
दे' । ३ ट. 'समर्थेन० सामर्थ्ये' ; ठ. ड. तृप्तिसामर्थ्येन । ४ ग. 'गमः' । ७८ । १०.
५ ग. ज. दूतानि विद्वान् । वाय' ; घ. झ. ट. दूतानि० दिव आपोपमानि ।
वाम' । ६ ग. ज. 'त्रिष्टुप् । आग्नेयी' नास्ति । ७ ग. घ. ज. रोदसी वि' । ८
ग. ज. 'विद्वत्तः' नास्ति ; घ. विदुष्टा० द. ९ घ. ट. ठ. ड. 'नानि आनानि
आपो' । १० क. स. 'वते' । १ । सियाः ।

‘स्तिपाः’ (७७) इत्यनवगतम् । ‘स्त्यायनाः’ इति न्यायम् ।

‘स्तिपाः’ इत्यस्य
व्युत्पत्तिः
‘आपो भवन्ति’ इत्याभिधेयवचनम् । ‘स्त्याय-
नात्’ संहननात् इत्यर्थः । आप एव हि पार्य-
वानामवयवानां संहनने हेतुभूता भवन्ति । अथैवा ।
हिममावेने ता आत्मनैव संहता भवन्ति ।

वृषासि दिवो वृषमः पृथिव्या वृषा सिन्धूनां वृषभः स्तिथानाम् ।

वृष्णे त इन्द्रो वृषभ पीपाय स्वादू रसो मधुपेवो

प्रयोगश्च वराय’ (ऋ० सं० ६ । ४४ । २१) ॥

शंयोर्बर्हस्पत्यस्त्रेयमर्थम् । ऐन्द्री । हे इन्द्र वृषासि ।

१० दिवो वर्यितासि । पृथिव्याश्च वर्यिता । सिन्धूनां स्यन्दमानानामपां च वर्यिता ।

स्तिथानां संहन्त्रीणामपाम् । अथवा । संहतानामात्मनैव हिममावेन । वायस्कि-

चित्सेचनकर्म तत्सर्वं त्यदर्थानभित्यभिप्रायः । तस्मै ते एवंगुणविशिष्टाय वृष्णे

वर्यित्रे तुभ्यम् एव इन्द्रः सोमो हे वृषभ वर्यितः पीपाय पुनः पुनराप्था-

प्यते । अथवा । पानाय संस्कृतः । स्वादू रसः स्वादुरससंयुक्तो मधुपेयो मधुर-

पेयो वराय तुभ्यम् । श्रेष्ठायेत्यर्थः । एवमत्र ‘स्तिपा’ शब्देन ‘संहन्त्याः

संहता वा आप’ उच्यन्ते शब्दसारूप्यान् ‘स्त्रे’ शब्दसंवातयोः’ (धा०

१ । ९३५) इत्यस्य ।

‘स्तिपाः’ (७८) इत्यनवगतम् । ‘स्तिथीपालनः’ इत्यवगमः ।

‘वृषः’ अभिधेयः । स हि ‘उपाधितान्’

१० ‘स्तिपाः’ इत्यस्य पातून् ‘पाठयति’ । ‘यं त्वां पूर्वभीलितो

वध्यस्वः संधीवे अग्रे ॥ इदं जुगुप्सव । स. नः

स्तिपा उत भवा तनूपा दात्रे रक्षस्व यदिदं ते अस्मे’ (ऋ० सं०

१ क. ल. घ. झ. ट. स्त्यायजाः; ठ. ड. स्तिपजाः. २ ग. ज. सहेने; च.

अथवा हसनेन संहनने. ३ ग. ज. ‘अथवा’ नास्ति; च. ‘न्ति । ‘हिम’ अथवा.

२५ ४ क. ल. ग. ज. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘भावन च ता’; च. ‘भावेन च ता’.

ग. ‘वन्ति । ५ वृषा’ ७९ । ६ ग. ज. ‘वृषः’ शो’; घ. झ. ट. ‘वृषः’

‘मधुपेयो वराय । शो’.

७ घ. झ. ट. ठ. ड. ऐन्द्री । विष्टु’ । हे’.

८ ग. ज. सन्द’.

९ ग. ज. स्तिप इ’; च. स्तिप इ’ पा. १० ग. ज. स्तिपाल’; च. स्तिपाल’ या. ११ ग. ‘याति । ८० । यं’.

१२ ग. ज. ‘भीलितो’; घ. झ. ट. ‘भीलितो’ वध्यस्वः ‘दात्रे रक्षस्व यदिदं ते अस्मे’; वाध्य’.

१० । ६९ । ४) ॥ वाङ्मयस्य सुमित्रस्येयमार्यम् । त्रिष्टुप् । हे अग्ने
यं त्वां वधयस्वः ईदितः अपि सर्वमहर्षिभिः पूर्वं समधि समेधितवान् उर-
चीर्णवान् तं त्वामहमपि समिन्धे । को हि नाम त्वां न समिन्ध्यात् । त-
त्वं समिन्धमानोऽस्माभिः इदं हविः जुषस्व संसेवस्व । किंच । य एवमस्मा-
भिरीडयसे त्वं स नः स्तिपा कूप इव तनूपाः भव । कूपो हि तृष्ण्या
आतीन् पातून् पात्युदकसंप्रदानेन । किंच । दात्रे दानं रक्षस्व । कृतमत् ।
यदिदं ते अस्मे अस्मान्मु । वर्तत इत्यर्थः । एवमत्राविरोधाच्छब्दसारूप्याच्च
'स्तिपाः कूपः' इत्युपपद्यते ।

'जवार' (७९) इत्यनङ्गत्तम् । 'जर्वमानरोहि' इत्येवमाद्याः
'जवार' इत्यस्य शब्दसमाधेयः । 'तमिन्धे' इव समनो १०
समानमभि क्रत्वा पुनती धीतिरस्याः । ससस्य
चर्मनधि चारु पृथेगे रूप आरुपितं जवार' (श्र० सं० ४ । ५ । ७) ॥
वामदेवस्यार्यम् । वैश्वानराय भीहृद्वे सजोपाः इत्येतस्मिन् वैश्वानरीये सूक्ते
(श्र० सं० ४ । ५) । तम् एव हे यजमान त्वम् अम्बश्याः प्रमुपाः
वैश्वानरं सूर्यं समना समानयैव तदनुरूपयैव स्रुत्या समानम् । केन पुन- १५
रम्बश्याः । क्त्वा पुनती स्वात्मपवनसमर्थेन कर्मणा प्रज्ञेन वा । किञ्च-
क्षणः पुनर्यो वैश्वानरस्तमम्बश्या इति । ससस्य पृथेः स्वपनस्य युञ्जो-
क्तस्य पृथेः प्रपृथ्वर्णस्य अभि उपरि । स्वपितीव हि युञ्जोको निधत्तत्वात् ।
चर्मन् चरणार्थम् । कथं नाम सौर्येण प्रकाशेन जनाधोऽधोऽधोऽधोऽधोनामिषा-
येण । चारु दीप्तिमत् । अग्रे पूर्वसर्गादौ रूप आरुपितम् । 'रिपः' इति २०
विपरिणामः । भूपा इत्यर्थः । आरुपितम् आरोपितं देवैः जवार कण्डजं
यस्य तं त्वमम्बश्याः । 'इह वा आदित्य आसीत्तमांसां परेगृहोपरिष्ठा-
चासां प्रजानां न्यदधुः' (मैत्रा० सं० २ । २ । २) इति विज्ञायते ।
एवमत्र 'जवार आदित्यमण्डलम्' उच्यते । तद्धि जवमानं गच्छजमसो

१ क. ए. प. स. ठ. ड. त्रिष्टुप् । जाग्रोषी । हे; च. त्रिष्टुप्; । ६० २५
आग्नेयी. १ य. ज. ईदित; च. ईदित; डि. ३ प. च. ट. ठ. जराह. ४ ड.
जवमा. ५ य. 'यतः । ८९ । तमि'. ६ ट. 'ये १ व; उ. ट. 'ये २ व. ७
य. समना समानं जवार । यान; प. स. ट. समना इव आरुपितं जवार ।
यान. ८ च. स. ट. ठ. जवार. ९ य. स. ट. ठ. ड. दत्तनेन. १० क. ए.
प. स. ट. ठ. ड. 'इति' नारिक; च. हति. ११ य. ज. 'इति ह तिज्ञा'. १०

मध्यमारोहति जायते वा । उदेतीत्यर्थः । ज्वमानमेव हि तत्र तत्रोदेति ।
 'जरमाणरोहि' वा स्यात् । तद्धि जरमाणं सर्वभूतानि रोहति । 'गर-
 माणरोहि वा' । तद्धि गरमाणं रसानारोहति ।

५ 'जरूथम्' (८०) इत्यनवगतम् । 'गरूथम्' इत्यवगमः । 'गृणतेः'
 इति धातुनिर्देशः । 'त्वामिमे समिधानो वैसिष्ठो जरूथं हन्यक्षिं राये
 पुरांश्चिम् । पुराणीथा जातवेदो जरस्व यूयं पात
 'जरूथम्' इत्यस्य स्वस्तिभिः सदा नः' (ऋ० सं० ७ । ९ ।
 ६) ॥ वसिष्ठस्यार्थम् । प्रातरनुवाकादिवनयोः

१० प्राश्यते (आश्व० श्रौ० ४ । १३) । हे भगवन्नग्रे वसिष्ठः त्वां समि-
 धानः संदीपयन् जरूथं स्तोत्रं हन् गमयन् त्वां प्रति । ' हन्ति सेधति'
 (निष० २ । १४ । १०९-११०) इति गतिकर्मणु पठितम् ।
 यक्षि यजति राये धनप्राप्त्यर्थम् । पुरांश्चि बहुकर्मतमम् । धनसंयन्धाद्वा
 बहुदातृतममिति स्यात् । यत्त्वं वसिष्ठेनैरमिग्यसे तं त्वां वयमपि यजाम
 एव । स त्वं पुराणीं बहुलुत जातवेदः अस्माभिरिज्यमानो जरस्व जुपस्व
 १५ एतद्भिरिस्मत्प्रप्तम् । किञ्च । यूयम् अस्मान् पात रक्षत । एकस्यैव पूज-
 नार्थे बहुवचनम् । स्वस्तिभिः स्वस्ययनैराशीःप्रयोगैः पात नः सदा ।
 नित्यमेवेत्यर्थः । एवमत्र जरतेः स्तुत्यर्थस्य शब्दसारूप्यादर्थाविरोधाच्च 'जरू-
 थं स्तोत्रम्' उपपद्यते ।

२० 'कुलिशम्' (८१) इत्यनवगतम् । 'वज्रनाम' इत्यभिधेयवचनम् ।
 'कूलशातनः' इति शब्दसमाधिः । अहंयूत्रं वृत्रतरं व्यंसन्मिन्द्रो वज्रं
 'कुलिशम्' महता वधेन । सन्धासीव कुलिशेना विवृक्काहिः
 इत्यस्य शयत उग्रपुक्त्रिभ्याः' (ऋ० सं० १ । ३२ ।
 ५) ॥ ऐन्द्री । त्रिष्टुर् । द्विरणस्तुस्यार्थम् । अग्नि-
 द्यौमे निष्केवल्ये शरयते (आश्व० श्रौ० ५ । १५) । अहन् हतवान् हन्ति

२५ १ अ. 'रोहि तं वा' । २ ग. 'वैतः । ८१ । स्तु' । ३ ग. अ. वसिष्ठः ।
 वसिष्ठः, प. अ. ट. वसिष्ठो जरूथं हन् नः । वसिष्ठः, ४ अ. व. प. अ. ट. ठ. ड.
 'स्वार्थम् । आग्नेयी । त्रिष्टुर् । पात' ; च. 'स्वार्थम्' । 'पात' अग्नेयी । त्रिष्टुर्.
 ५ प. अ. ट. ठ. ड. 'नीपा. ६ ग. 'मात्रिः ८३ अट'. ७ ग. अ. 'तरं व्यंसं ।
 द्विर' ; च. 'तरं पदस्युध्याः । ऐन्द्री ; प. अ. ट. 'तरं व्यंसं उग्रपुक्त्रिभ्याः ।
 १० ऐन्द्री. ८ ग. अ. 'ऐन्द्री । त्रिष्टुर्' नास्ति.

वा इन्द्रः वृत्रं मेवम् । 'वृत्रतरम्' इति तस्यैव वा विशेषणम् । अन्यो वा वृत्र-
 तरो यस्तमपि हन्ति । कथं पुनर्हन्तीति । व्यंसं विच्छिन्नसंधिवन्धनं कृत्वा ।
 केन पुनर्हन्तीति । वज्रेण महता प्रहारेण । किंच । स्कन्धांसीव वृक्षशाखा
 इव कुलिशेन कूलशतनेन वज्रेण विवृण्वानि । स एवम् अहिः अगमनो
 मेघः छिद्यमानः अस्याः पृथिव्याः उपपृक् उपपर्वनः संपर्कस्य कर्ता भूत्वो- ५
 दकभावेनास्यामेव पृथिव्याम् अहिः शयते अगमयत् । अवस्थानमात्रमेव
 स्वप्नोऽभिमतः । एवमत्र यधसंबन्धात् 'कुलिशो वज्रः' इत्युपपद्यते ।
 'तुञ्जे' (८२) इत्यनवगतम् । 'तुञ्जतेः' दानार्थस्येति निर्व-
 चनम् । 'तुञ्जनम्' इति स्यात् ॥ १७ ॥

१०

तुञ्जेतुञ्जे य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः । न विन्दे
 अस्य सुष्ठुतिम् (ऋ० सं० १ । ७ । ७) ॥ दाने दाने य
 उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणो नास्य तैर्विन्दामि समाप्तिं स्तुतेर्व-
 र्हणा परिवर्हणा । बृहच्छ्रवा असुरो वर्हणा कृत इत्यपि निगमो
 भवति ॥ १८ ॥

१५

'तुञ्जेतुञ्जे य उत्तरे' । मनुच्छन्दस आर्यम् । ऐन्द्री । गायत्री ।
 'तुञ्जे' इत्यस्य प्रातःसवने ब्राह्मणाच्छंसिन आवापे त्रिनिपुक्ता ।
 तुञ्जे तुञ्जे दाने दाने उत्तरोत्तरे दानपरितुष्टेन
 मया स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः विन्त्यन्त एतैः २०
 स्तोमैरसौ योग्यः स्तोतुमिति । किं तेषाम् । न विन्दे न अस्य सर्वेरापे
 तैर्विन्दामि सुष्ठुतिं समाप्तिं स्तुतेरित्यर्थः । यावत् एव स्तुतय उपादीयन्ते
 ताः सर्वा एवेन्द्रं प्राप्य न्यूना भवन्तीत्यामिप्रायः । एवमत्र स्तोमसंबन्धात्
 'तुञ्जे'शब्दो दानपर्यायवचनस्तुञ्जतेश्च दानार्थस्य (धा० १० । ३३)
 दर्शनात् ।

२५

१ ग. ज. 'हिरण्यो' । २ ड. ड. 'यते' । इति निरुक्तटीकायां निरण्यपत्रकेन
 सह निरुक्तिकादशाध्याये सप्तदशः खण्डः । तुञ्जे' । ३ च यावत् । ४ क. ख. (२)
 १७, ग. २० । ८४ ; इत्येवञ्चो नास्ति । ५ क. ख. ३ (१८) ; छ. त. २१ ; द.
 ३. ६ घ. झ. ट. 'तुञ्जे य उत्तरे' सुष्ठुतिम् । मनु' ; च. 'तुञ्जे सुष्ठुति' । इति मनु' ;
 द. ड. तुञ्जेतुञ्ज इति । ७ ग. ज. 'ऐन्द्री । गायत्री' नास्ति । ८ ड. उदीर्यन्ते । २०

‘ बर्हणा ’ (८३) इत्यनवगतम् । ‘ परिवर्हणा ’ इत्युपसर्गा-
ध्याहारेणार्थप्रतीतिः । परिवर्हणा परिवृद्धिः परिर्हिसा वा । ‘ अर्चा
‘ बर्हणा ’ इत्यस्य दिवे बृहते शूष्यं १ वचः स्वक्षत्रं यस्य धूपतो
धूपन्मनः । बृहच्छ्रुत्वा अमुरो बर्हणा कृतः पुरो
हरिभ्यां वृषभो रथो हि पः ’ (ऋ० सं० १ ।

- ५ ५४ । ३) ॥ सव्यत्रमापन्नस्थ्यास्वेन्द्रस्यार्पम् । जगती । ऐन्द्री ।
चतुर्थे पौदे रथः हि सः इति पदानि । हे स्तोतः अर्च प्रोक्षारय
इन्द्राय दिवे योतनवते बृहते च महते शूष्यं धनसंयुक्तं बलकृतिसंयुक्तं
या वचः । किंलक्षणायेन्द्रायार्चति । स्वक्षत्रं यस्य स्वमेव क्षत्रं धनं बलं
१० वा यस्य । न कदाचिदपि यः परकीयमाकाङ्क्षतीत्यभिप्रायः । किंच । यस्य
धूपतो धर्षयतः शत्रून् धूपत् एव धृष्टं मनो भवति । तदर्धमर्चति । किंच ।
येनेन्द्रेण बृहच्छ्रुत्वाः बृहद्वोपः अमुरः मेघो वा बर्हणा परिवृद्ध्या परिवृ-
द्धेन वधेन परिर्हिसया वा पुरः अर्वाक् हरिभ्यां प्राप्तेः । नैव तावदधौ
हरी रथे युक्तौ तममुरं प्राप्तुः अयेन्द्रेण शीघ्रास्त्रयात् दूरपातिनाञ्च वृषभः
१५ वर्धिता कृतः । अथ च तावत् रथो हि पः । रथो हि शीघ्रः स
मेघः । तथा हि येनेन्द्रेण पुरेव हरिभ्यां प्राप्तेः प्रहार्जर्जरीकृत्य वर्धिता
कृतो मेघस्तमम्यर्च । एवमत्र शब्दसारूप्यादमुरसंख्याञ्च ‘ बर्हणा
परिवर्हणा ’ इत्युपपद्यते ।

‘ ततनुष्टिः ’ (८४) इत्यनवगतम् । ‘ तितनिपुः ’ अयं स्यात् ॥ १८ ॥

२०

यो अस्मै ग्रंस उत वा य ऊर्ध्वनि सोमं गुनोति भवति
शुभो अहं । अपाप शक्रस्तननुष्टिर्मूढानि तनून्नुभ्रं मयवा यः
कवासरवः (ऋ० सं० ५ । ३४ । ३) ॥ ग्रंस इत्यधनाम

१ ग. वा । ८५ । अर्चा । २ ग. ज. वचः । ३ ग. २. वचः ।
वृषभो रथो हि पः । इत्यं । ३ ग. ज. ‘ अयेन्द्रेणायम् । ४ ग. ज. ‘ ऐन्द्री ’ नास्ति ।
५ ग. ज. ‘ पौदे रथं हि सः ’; च. ‘ पौदे रथः हि सः ’ । ६ ग. ज. ‘ वृद्धं ’ वा ‘ बलकृति-
संयुक्तं । ७ ग. ज. ‘ परिवृद्ध्या ’ नास्ति । ८ ग. ‘ हरी ’ । ९ क. ख. ३ (१८) ;
ग. २१ । ८६ ; ठ. ड. ‘ स्यात् । इति निरुक्तीकार्या षष्ठाध्याये अष्टादशः शब्दः ;

प्रस्यन्तेऽस्मिन्नसा गोरूथ उद्धततरं भवत्युपोन्नद्धमिति वा
 स्नेहानुप्रदानसामान्याद्रात्रिरप्युच्यते स योऽस्मा अह्न्यापि
 वा रात्रौ सोमं सुनोति भवति ह द्योतनवानपोहत्यपोहति शक्र-
 स्तितनिपुं धर्मसंतानादपेतमलंकरिष्णुमयज्वानं तनूशुभ्रं
 तनूशोभयितारं मघवा यः कवासखो यस्य कपूयाः सखायः । ५
 न्याविध्यदिलीधिशस्य दृहला वि शुङ्गिर्णमभिनच्छुष्णमिन्द्रः ।
 निरविध्यदिलीधिलशयस्य दृहलानि व्यभिनच्छुङ्गिर्णं शुष्ण-
 मिन्द्रः ॥ १९ ॥

‘यो अस्मै प्रंस० उत वार्यः’ । प्रौजापत्यस्य संवरणस्वार्थम् । ऐन्द्री १०
 जगती । यो अस्मै इन्द्राय व्रते अहनि अपि
 ‘ततनुष्टिः’ वा य ऊवनि रात्रौ सोमं सुनोति अभियुगोति ।
 इत्यस्य नित्यकालमेव यः सोमाभिपवे प्रयतत इत्यर्थः ।
 तस्य किमिति । स एव निश्चयेन शुमान् द्योतन-
 वान् भवति । अथ पुनरितौ यो विपरीतो भवति पूर्वश्च पूर्वतरैश्च धर्म- १५
 संतानात् अनुष्ठितात् अपेतः तमलं कर्मभिरित्येवं वादिनम् अलंकरिष्णुम्
 अयज्वानम् अयजनशालम् आत्ममण्डनपरं वा विपयौपभोगपरतया
 स्वचित्तितनिपुम् अनेकैः प्रकारैर्यो वित्तानि तनितुमिच्छति तम्
 अन्नदधानं धर्मे शक्रः शक्त इन्द्रः अपोहत्यपोहति । उपसर्गान्यासुदर्श-
 नादूहतेरप्यभ्यास आदरार्थं कृतः । पुनः पुनरपोहति नाशयतीत्यर्थः । तनूशुभ्रं २०
 शरीरशोभयितारम् । ततनुष्टेवैतद्विशेषणम् । यश्चान्योऽपि कवासखाः कपूय-
 सखो भवति तमप्यपोहति मघवा धनस्वामी इन्द्रः । अवश्यंभावी तस्य हि
 विनाश इत्यभिप्रायः । केचित्तु कवासखशब्दं तनूशुभ्रविशेषणमेव वर्णयन्ति ।
 इतरो विषयप्रधानोऽपि भूत्वा साधुसंपर्कं कदाचिन्प्रेषेत् । इतरंस्त्वसाधुसंप-
 र्कादत्यन्तनष्ट एवेत्यनेनाभिप्रायेण । एवमत्र ‘ततनुष्टि’ शब्देन विषयोप- २५
 भोगप्रधान उच्यते शब्दार्थाविरोधादित्युपपत्तिः ।

१ छ. त. द. इह्ला. २ छ. त. द. न. म. इह्लानि. ३ क. ख. ४ (१९);
 छ. त. २९; द. ४. ४ घ. झ. ट. यः० कवासखः । मा०; च. ठ. ड. यः
 कवासख इति सर्वा कम्प्रीयते. ५ च. इति प्रागाः. ६ ग. ‘ऐन्द्री जगती’
 नास्ति. ७ म. न. पुनरतो. ८ क. ख. ‘शुभ्रं वि’; च. ‘शुभ्रं वि’ प्र. १ म. ज.
 ‘इत्युपपद्येत.

‘ग्रस्त इत्यहर्नाम । अग्र्यन्तेऽस्मिन्नसाः’ सूर्येण । ‘गोरुख उद्धततरम्’
इति शब्दसारूप्यप्रसक्तम् । तद्व्यन्येभ्योऽङ्ग्रेभ्यः ‘उद्धततरं भवति’ ।
‘उपोनद्धमिति वा’ । तद्धि विज्ञायते केनचिदुपस्थित्य गोरुरे नद्धमिति ।
तत्सामान्यात् ‘रात्रिरप्युच्यते’ । सापि ह्यवश्यायानोपधिवनस्पतिस्नेह-
कान् दधाति ।

‘इलीविशैः’ (८५) इत्येतदेकपदमनवगतम् । ‘इलाविलैशयः’
इत्यवगमः । ‘मेघः’ अभिधेयः । स हि इल्लहेतो-
‘इलीविशस्य’ दकस्यात्मीयानि निर्गमनविल्लानि संरुप्य शेते ।
इत्यस्य तस्यैव वा विल्लविलाहेतुरुदकं शेते इति इलीविशैः ।
‘न्याविध्यादिल्लविशस्य दृष्ट्य वि शृङ्गिणमभिन-
च्छुप्यामिन्द्रः । यावत्तरो मघवन्यायदोजो वज्रेण शत्रुमवधीः पृतन्युम्’
(क० सं० १ । ३३ । १२) ॥ हिरण्यस्तूपस्यार्यम् । ऐन्द्री । त्रिष्टुप् ।
गोसयविषधयोर्निष्क्रेवस्ये शरयते (आश्व० श्रौ० ९ । ८) । श्रविष्यत्
निरताडयत् इलीविशैस्य मेघस्य दृष्ट्य दृष्टानि दुर्भेदानि उदकसरोधक्ष-
माणि स्थानानि । न च केवलमैताडयदेव । किं तर्हि । वि शृङ्गिणमभिनत्
शृङ्गिणं शिखरवन्तं दीक्षिमन्तं वा विशुद्धिः शुष्णं बलवन्तं मेघैर्म । इन्द्रः
एवं स्तूयमानः प्रत्यक्षीभूतः । प्रत्यक्षकृतः उत्तरोऽर्धर्चः । हे मघवन् याव-
त्तारः यावद्बलमेतस्मिन्मेघेऽस्ति तावदेनं जहि । यावच्च तव व्यथनसमर्थम्
ओजो बलमस्ति या ते शक्तिस्तयैनं वज्रेण शत्रुं शातयितव्यम् अवधीः ।

- १० १ ग. ज. नद्धं भवति. २ क. स. ट. ‘निशस्येत्ये’; घ. च. झ. ट. ड. ‘विश-
स्येत्ये’. ३ घ. झ. ‘विशस’; ठ. इत्यविल्लस’; ड. इलाविल. ४ च. ठ. ड.
इल्लहे. ५ घ. झ. ‘नविल्लानि. ६ घ. झ. विल्ले’; ठ. ड. विल्लेऽपिच्छादे. ७ ग.
विशः । ८ न्या’; घ. झ. ट. ड. ‘विशः. ९ ग. ज. ‘विशस्य. हिर’; घ. झ. ट.
‘विशस्य० मवधीः पृतन्युम् । शिर’; च. ठ. ड. ‘दिल्लीविशस्य (ठ. ड. ‘दिल्ली
ति’) दृष्ट्येत्यादि सर्वा ऋद्धीयते. १ ग. ज. ‘ऐन्द्री त्रिष्टुप्’ नास्ति. १० क.
स. ग. ज. न्यावि’. ११ घ. झ. ट. ठ. ड. ‘विशस्य. १२ क. स. घ. वृडा;
ग. ज. ‘दृष्ट्या’ नास्ति; घ. झ. दृष्ट्या. १३ क. स. घ. झ. ट. ठ. ड. केवल-
मेतावदेव. १४ क. स. घ. झ. ट. ड. मेघम् इन्द्र’; ग. च. ज. मेघमिन्द्र’.

जदीत्यर्थः । पृतन्युः पृतनाभिच्छ्रुतम् । एवमत्र 'इलीविशो मेवः' शब्द
सारूप्यादर्थविरोधाच्च ।

‘कियेधाः’ । (८६) इत्यनवगतम् । ‘कियद्धाः क्रम-
माणघा वा’ इत्यवगमः । कियदप्युदक्रमपरि-
माणं धाः धारयतीति कियद्धा मेवः । क्रममाणो
व्युत्पत्तिः धा धारयतीति क्रममाणघा मेव एव ॥ १९ ॥

अस्मा इदु प्र भरा तूतुजानो वृत्राय वज्रमीशानः कियेधाः ।
गोर्न पर्व वि रंदा तिरश्चेप्यन्नर्णीस्यपां चरथ्यै (ऋ० सं० १ ।
६१ । १२) ॥ अस्मै महर तूर्णं त्वरमाणो वृत्राय वज्रमीशानः
कियेधाः कियद्धा इति वा क्रममाणघा इति वा गोरिव पर्वाणि
विरद मेघस्येप्यन्नर्णीस्यपां चरणाय भूमिभ्राम्यते । भूमिरस्यु-
पिकृन्मर्त्यानामित्यपि निगमो भवति विष्पितो विप्राप्तः । पारं नो
अस्य विष्पितस्य पर्यमित्यपि निगमो भवति ॥ २० ॥

अस्मा इदु प्र भरो । नोधा नाम गौतमस्तस्यार्पम् । त्रिष्टुर् । ऐन्द्री ।
आहीनिकेष्वहःस्वहीनसूक्ते विनियुक्ता । (आश्व०
व्युत्पत्तिश्च औ० ७ । ४) । हे इन्द्र यैः एष वृत्रः कियदप्यु-
दक्रमपरिमाणं धारयति क्रममाणो वा धारयति अस्मै त्वं तूतुजानः त्वर-
माणो वज्रं प्रभर । ईशानः ईश्वरो यस्मात्त्वमस्माकं तस्मादेवमुच्यते । किंच ।
प्रहृत्य वज्रं वज्रप्रहारसमूहस्यास्य मेघस्य गोर्न पर्व गोरिव पर्वाणि विरद
विदारय । यथा गोविकर्ता गोः पर्वाणि विरदेत् विच्छिन्त्यात् एवं त्वमपेतं
मेघमवयवशो विरद विच्छिन्दि । कथं च पुनर्विरदेति । तिरश्चा वज्रेण तिर्य-
गामिना । केन पुनरर्थेन विरदेति । इष्यन्नर्णांसि उदकानीच्छन् चरथ्यै
चरणाय अर्पां प्रजाम्यो दातुम् । एवमस्माद्विशकलीकृतादापो निधरेष्य-
न्तीत्यनेनार्थेन विरद । एवमत्र 'कियेधाः मेवः' शब्दसारूप्यादर्थविरोधाच्च ।

१ प. झ. ट. ड. ह. 'विशो. २ ऋ. ख. झ. 'धाः' नास्ति. ३ क. ख. ४
(१९), ग. 'यैः' च. ५; ठ. ड. 'एव । इति निष्पटीकायां पद्येऽप्ये पकोन-
विंशतिः खण्डः; इत्येष्वग्रे नास्ति. ४ क. ख. ५ (२०); छ. त. २२; द. ५.
५ घ. झ. ट. भरा तू० चरथ्यै । नोधा०; ५. सर्वां ऋक् पठयो; ठ. ड. भोति ।
नोधा. ६ ग. अ. 'त्रिष्टुर् । ऐन्द्री' नास्ति. ७ क. ख. प. झ. ट. ठ. ड. 'यैः'
नास्ति. ८ ठ. ड. महर महर. ९ अ. 'प्रहर'. १० ग. ज. 'वि' नास्ति.

‘कियेधा इन्द्रः’ इत्येवमेके मन्यन्ते । स हि यदपि न ज्ञायते कियत्परि-

‘कियेधाः’ इत्यस्ये- माणमेतद्वलमिति तदपि धारयति । क्रममाणो
न्दार्थे ऋचोऽन्योऽर्थः वा शत्रुबलं धारयतीति कियेधाः । एवं सर्तीयं
योजना । यस्मादीशानस्त्वं कियेधाश्च तस्मात्प्रहर

वज्रमिति ।

‘भूमिः’ (८७) इत्यनवगतम् । ‘भ्रमणम्’ इत्यवगमः । ‘भ्राम्यतेः’
इति निर्वचनम् । ‘अग्निः’ अभिवेयैः । ‘इमामग्ने शरणिं भीमृषो न इमम-

ध्वानं यमगाम दूरात् । अपिः पिता प्रमतिः

‘भूमिः’ इत्यस्य सोम्यानां भूमिरस्यपि कृन्मर्त्यानाम् (ऋ० सं०

१ । ३१ । १६) ॥ हिरण्यस्तूपस्पर्षम् ।

प्रातरनुवाकास्थिनयोः शस्यते (आश्व० श्रौ० ४ । १३) । हे भगव-

न्मग्ने इमां शरणिं मरणलक्षणां हिंसाम् इमां संसृतिं वा भीमृषो नः मार्ज-

यस्य नाशयस्व नः । कतमां शरणिम् । इममध्वानं यमेतं संसाराध्वानम्

अंगाम गतवन्तो वयममुष्माह्लोकादिमं लोकेकम् । अस्मत्स्वेतां संस्तरहिंसामेतां

वा संसारसृतिभेतम् आजवं अत्रीमावं त्वमस्माकं मार्जयस्व । कस्मात्पुनरेव-

मुच्यसे । इतो यस्मात् अपिः त्वमस्माकम् आप्तः । अथवा ।

व्यापयिता कृत्स्नस्य जगतो महिम्ना । पिता च रक्षिता सोम्यानां सोम-

संपादिनां मनुष्याणाम् । प्रमतिश्च प्रकृष्टमतिः भूमिश्च त्वमेव संसारे

भ्रामयिता । पञ्चाग्निविवोक्तेन प्रक्रमेण त्वदधीन एव संसारो मोक्षश्च ।

२० ऋषिकृन्म दर्शनकर्त्तासि त्वम् । त्वदधीनमेव दर्शनं मर्त्यानां मनुष्याणाम् ।

सर्वविज्ञानप्रकाशो नानुगृह्णास्मान्मोचयस्वास्मात्संसारदिव्यभिषायः । देवयाने-

नैव पथा गमय मा पितृर्यानेनेति । एवमत्र ‘भूमिः अग्नेः’ अर्था-

विरोधात् ।

१ ग. ‘धियः । ८९ । इमां’ २ ग. ज. शरणिं । हिरं; घ. झ. ट. शरणिं

भीमृषोऽस्यपि कृन्मर्त्यानाम् । हिरं. ३ ग. ज. शरणिमिमां स्मृतिं वा भीं. ४ ग.

२६ ज. आगाम. ५ च. औषीं ज. ६ ग. ज. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘वाग्मेनेति’

‘विष्णितः’ (८८) इत्यनवगतम् । विस्तीर्ण इत्येतच्च सर्वतो
यः प्राप्नोति सः विष्णितः । ‘इमे दिवो अनिमिषा

‘विष्णितः’ इत्यस्य पृथिव्याश्चिकिवांसो अचेतसं नयन्ति । प्रवाजे
चिन्तयो गाधमस्ति पारं नो अस्य विष्णितस्य

पर्यन् (ऋ० सं० ७ । ६० । ७) ॥ ‘यद्य सूर्य ब्रवोऽनागाः’ ५

इत्येतस्मिन् सूक्ते (ऋ० सं० ७ । ६०) । अस्य पुनः सूक्तस्य
प्रथमा सौरीति प्रतिजज्ञे शौनकोऽन्याः सर्वा मैत्रावरुण्य इति । ‘इमे’

इति द्वयोरेव मित्रावरुणयोः पूजनार्थं बहुवचनम् । अर्थमा वा तृतीयः
स्यात् । असावपि ह्यस्मिन् सूक्ते श्रूयते । शौनकाभिप्रायस्त्वेवं सति परिहृत्यः ।

‘इमे मित्रावरुणार्थमाणो दिव एत्य अनिमिषाः आदरवन्तः पृथिव्याः । १०
पृथिवीलोकादित्यर्थः । चिकित्वांसः सुकृतदुष्कृतानि कर्माणि प्राणिनां

जानन्तः अचेतसम् अचेतयमानं प्रार्थनं कर्मानुरूपेणामुं लोकं नयन्ति ।
यत एवमतस्तानहं ब्रवीमि । प्रवाजे प्रकृष्टे एतस्मिन् ब्रजने मरणाख्ये

मृत्युकाळे उपस्थिते यदि गाधं संसारागाहनसमर्थं कर्म विज्ञानं वा अस्त्य-
स्माकं ततोऽस्य विष्णितस्य विप्रासस्य संसाराच्चनो नद्या इव पारं पर्यन् । १५

पारयन्वित्यर्थः । एवमत्र शब्दसारूप्यादर्थाविरोधाच्च ‘विष्णितो विप्रासः’
संसाराच्चेत्युपपद्यते ।

‘तुरीपम्’ (८९) इत्यनवगतम् । ‘तूर्णापि’ इत्ययममुः ।
‘उदकम्’ इत्यभिधेयम् । तद्धि तूर्णमाप्नोति ॥ २० ॥ २०

तत्रैस्तुरीपमद्भुतं पुरु वारं पुरु त्मना । त्वष्टा पोपाय
वि प्यतु राये नाभां नो अस्मयुः (ऋ० सं० १ । १४२ । १०) ॥

तत्रस्तूर्णापि महत्संभृतमात्मना त्वष्टा धनस्य पोपाय विप्यत्वि-

१ क. ख. ‘धात् विशेष्यते । विष्णितः’ च. ‘धात् । विष्णितः’ विष्णितः । २५

२ ग. ‘पितः । २३ । ‘इमे’ । ३ ग. ज. अनिमिषा । यद्य’ ; घ. झ. ट. अनिमिषा तस्य पर्यन् । यद्य’ । ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड पूजार्थे. ५ ग. च.

ज. ‘दुःख’ । ६ च. प्राणिनां. ७ ठ. ड. ‘घने । २० । इति निरुक्तटीकायां
व्याख्यायां विज्ञातिः खण्डः । तुरी’ । ८ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘इति’ नास्ति.

९ क. ख. ५ (२०) ; ग. १४ । ११ ; इतोऽष्टो नास्ति. २३

त्यस्मयुरस्मान् कामयमानो रास्पिनो रास्पी रपतेर्वा, रसतेर्वा ।
 रास्पिनस्यायोरित्यपि निगमो भवत्यृज्जतिः प्रसाधनकर्म । आ
 व ऋज्जस ऊर्जा व्युष्टिष्वित्यपि भवत्यृजुरित्यप्यस्य भवति ।
 ऋजनीती नो वरुण इत्यपि निगमो भवति प्रतद्वसू प्राप्तवसू ।
 ५ हरी इन्द्र प्रतद्वसू अभि स्वरेत्यपि निगमो भवति ॥ २१ ॥

तन्नस्तुरीपमद्भुतं पुरुवारमिति निगमः । दीर्घतमस आर्षमै ।

आर्षिसूक्ते । तन्नस्तुरीपं तदस्माकं तुरीप-
 'तुरीपम्' इत्यस्य मुदकम् अद्भुतं च । महत् इत्यर्थः । 'अद्भुतः

१०

बर्हिष्ठः' इति महन्नामसु पठितम् (निघ०

३ । ३) । पुरु वारं च बहु देशान्तरमावृणोत्युदकम् । पुरु त्मना बर्हु आत्मना ।

यदेवंलक्षणमुदकं तदस्माकं नामा नामौ मध्ये त्वष्टा विष्यतु विमुञ्चतु वर्ष-

भावेन अस्मयुः अस्माननुग्रहीतुं कामयमानो राये पोषाय । धनपोषायेत्यर्थः ।

१५

वर्षे हि सति पशवः पुष्यन्ति । अथवा ' नामानः ' इत्येतत्त्वष्टरेव

विशेषणं स्यात् । ' नामानः ' न अदीप्यमानः । किं तर्हि । दीप्यमान
 एव विष्यतु । एवमत्र माष्यमिक्तस्त्वष्टेति त्रिष्यत्स्वित्यनेन संबन्धात् ' तुरी-

पमुदकम् ' इत्युपपद्यते ।

' रास्पी ' (९०) इत्यनवगतम् । ' रांपी ' इति वा स्यात्

' रासी ' इति वा । ' रपतेर्वा ' शब्दार्थस्य ' रसतेर्वा ' शब्दार्थस्यैव ।

१० रपणशीलो वा रसनशीलो वा यः स रीसी । ' उत स्या मे' यैशेसां

१ त. 'वति । ऋज'. २ छ. त. द. 'कर्म कृतुरित्य'. ३ क. ल. ६
 (२१), छ. त. २४; द. ६. ४ घ. झ. ट. 'शिपमद्भुतं ० नामा नो अस्मयुः ।

दीर्घ'; ठ. ड. तुरीपमिति । दीर्घ'. ५ क. ल. घ. झ. ट. ठ. ड. आर्षम् ।

त्वाष्ट्री । अनुष्टुप् । आ'; च. आर्षम्- । आ' त्वाष्ट्री । अनुष्टुप्. ६ ग. ज. ' बहु

आत्मना ' नास्ति. ७ घ. झ. ट. ठ. ड. इत्येवं ॥'. ८ क. ल. घ. झ. ट. ठ.

ड. रास्पिन इत्यन'. ९ घ. झ. ट. ठ. ड. रास्पीति. १० ग. न. 'शब्दार्थस्य रपतेर्वा'

नास्ति; च. रपतेर्वा- शब्दा' शब्दार्थस्य रपतेर्वा ११ ग. रास्पी । १२ । टा'.

२८ १२ ग. अ. यशसा । कृष्णी'; घ. झ. ट. दशगा० रास्पिनशयोः । कृष्णी'.

श्चेतनायै व्यन्ता पान्तौशिजो हुवथै । प्र वो नर्पातमपां कृणुध्वं प्र मातरां

रास्मिनस्यायोः ' (ऋ० सं० १ । १२२ ।

' रासी ' इत्यस्य

४) ॥ कक्षीवत आर्षम् । वैश्वदेवे सूक्ते । उत

त्यौ अपि तौ अश्विनौ मे मम यज्ञसा हविर्लक्ष-

णेन धनेन तर्पमाणौ श्वेतनाया उपसः काले प्राते व्यन्ता पान्ता वीतां ५

भक्षयेतां पुरोडासं पिबेतां सोमम् । यतो ब्रवीमि । हे औशिजो मेधाविन

ऋत्विज आह्वयध्वं तावश्विनौ । किंच । ब्रवीमि वः । कृणुध्वमपां नपा-

तम् अप्येतस्मिन् कर्मणि भागिनम् । किंच । प्र मातरौ यावापृथिव्यावपि

सर्वभूतनिर्माज्यौ कृणुतैव एतस्मिन् कर्मणि भागिन्प्राविष्येत्तच्च वः प्रे- १०

ब्रवीमि । कं च पुनरर्थं पुरस्कृत्यैतकुरुध्वमिति । रास्मिनस्य आयोः । रपर्ण-

शीलस्य वा रसनशीलस्य वा शब्दकारिणो वर्षभूतस्योदकस्य प्राप्त्यर्थम् ।

अथवा । स्तोतुः पुत्रस्य प्राप्त्यर्थम् । ' आयवः ' इति हि मनुष्यनाम ।

(निघ० २ । ३ । १७) । एवमत्र ' रास्मि ' शब्देनोदकं स्तोता

वाभिधीयते शब्दसारूप्यादर्थाविरोधाच्च ।

' ऋजतिः (९१) प्रसाधनकर्मा ' । ' भाऋजीकः ' इत्यनेन १५

गतार्थतामस्य मन्यमानो भाष्यकारो निगमं नाधीते । केचित्त्वज्रैतं शेषम-

धीयते । ' दूतं यो विश्वेदेदसं हव्यवाहममर्त्यम् । यजिष्ठमृजसे गिरा ' १०

(ऋ० सं० ४ । ८ । १) ॥ वामदेवस्या-

ऋजसे

र्षम् । प्रातरनुवाकादिभ्योः शस्यते (आश्व०

श्री० ४ । १३) । ' वः ' इत्येतस्य ' त्वम् ' १०

इति विपरिणामः । हे यजमान त्वं दूतं विश्वेदेदसं सर्वप्रधानं हव्यवाहं

हविषो वोढारम् अमर्त्यम् अमरणधर्माणं यजिष्ठं यष्टुतमम् ऋजसे प्रसा-

धयसि गिरा । स्तुत्येत्यर्थः । एवमत्र ' ऋजतिः प्रसाधनकर्मा ' । दूतसं-

बन्धाच्च ।

१ क. ख. घ. ङ. ट. आर्षम् । त्रिष्टुप् । वे०; च आर्षम् । ~ वे० त्रिष्टुप्.

२ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. प्रब्रवीमि. ३ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. ' प्र '

नास्ति. ४ च. रपर्णशी० ण. ५ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. ' हि ' नास्ति. ६ क. ख.

घ. ङ. ट. ठ. ड. रास्मिनशब्दे. ७ ग. ' यते. १३ । दूतं. ८ ग. ज. ' वेदसं ।

वाम०; घ. ङ. ट. ' वैश्व० मृजसे गिरा । वाम०. ९ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड.

' स्थाप्यम् । भाष्यजी । आश्वेयी । प्रात०; च. ' स्थाप्यम् । ~ प्रात० गायत्र्याश्वेयी.

१ 'ऋजुः (९२) इत्यप्यस्य' एव ऋजुतेः 'भवति' ।

२ 'ऋजुनीती नो वरुणो मित्रो नयतु विद्वान् ।

३ 'ऋजुः अर्यमा देवैः सजोषाः' (ऋ० सं० १ ।

९० । १) ॥ गौतमस्यार्थम् । वैश्वदेवसूक्ते ।

५ गवामयनस्य द्वितीयेऽहनि शस्यते भैत्रावरुणस्य शस्त्रे (आश्व० श्रौ० ७ । २) । ऋजुनीती ऋजुनयनः ऋजुप्रज्ञो वा वरुणः अस्मानितो लोकादमुं लोकं कर्मफलप्राप्त्यर्थं नयतु । मित्रश्च विद्वानयतु । अर्थमा देवैः सह प्रीयमाणो नयतु । एवमत्र 'ऋजु' शब्देन प्रसिद्धं नयनं प्रसिद्धा वा मतिरुच्यते ।

१० 'प्रतद्वसू' (९३) इत्यनवगतम् । 'प्रातवसू' इत्यवगमः ।

'अश्वौ' अभिधेयौ । 'इह' त्या । संधर्माद्यां

प्रतद्वसू युजानः सोमपीतये । हरीं इन्द्र प्रतद्वसू अभि

स्वर' (ऋ० सं० ८ । १३ । २७) ॥

नारदस्येयमार्थम् । उष्णिक् । महाव्रते औष्णिही तृचाशीतिस्तस्यां शस्यते

१५ (ऐ० आ० ५ । २ । ५) । हे इन्द्र इह कर्मणि त्या तावश्वौ हरी

प्रतद्वसू प्रातवसू प्रातधनौ । तयोर्हि ऋजीवं धानाश्च धनम् । स हि

ताभ्यां यज्ञे भागः प्रातः । सधमाद्या सहमदनौ युजानो युक्त्वा रथे ततः

सोमपीतये सोमपानार्थम् अभिस्वर अर्भ्यागच्छास्मान् प्रति । एवमत्र 'हरी'

इत्यनेन संबन्धात् 'प्रतद्वसू प्रातवसू' अश्वावित्युपपद्यते ।

२० 'हिनोत' (९४) इत्यनवगतम् । 'प्रहिणुत' इत्यवगमः ॥ २१ ॥

हिनोता नो अध्वरं देवयज्या हिनोत ब्रह्म सनये धनानाम् ।

ऋतस्य योगे वि प्यध्वमूर्धः श्रष्टीवरीर्भूतनास्मभ्यमापः (ऋ० सं०

१० । ३० । ११) ॥ प्रहिणुत नोऽध्वरं देवयज्यायं प्रहिणुत ब्रह्म

२५ १ म. ज. नः । गौत०; प. स. ट. नः० देवैः सजोषाः । गौत०. २ क. ल.

प. स. ट. ठ. ड. 'सूक्ते । गायत्री । गवा' ; च. सूके । ~ गवा' गायत्री. ३ ग.

'धेयौ । १४ । इह' . ४ म. ज. 'माद्या । नार' ; प. ल. ट. 'माद्या युजानः सो०

प्रतद्वसू अभि स्वर । नार' . ५ च. युजानो. ६ पं. स. ट. ठ. ड. अस्मान्प्रत्य-

म्यागच्छ । एव' . ७ ठ. ड. 'यते । इति निहन्दीकायां पञ्चाध्याये दृढविशतिः

३० सण्डः । हिनो' . ८ क. स. ६ (२१) ; ग. २५ (१५) ; इतरेष्वङ्गो नास्ति.

धनस्य सननाय ऋतस्य योगे यज्ञस्य योगे याज्ञे शकट इति वा
 शकटं शकृदितं भवति अनकैस्तकतीति वा, शब्देन तवतीति
 वा । श्रुष्टीवरीभूतनास्मभ्यमापः । सुखैवत्यो भवतास्मभ्यमापः ।
 चोष्कूयमाण इन्द्र भूरि वामम् । दददिन्द्र बहु वननीयम् ।
 एधमानद्विष्टुभयस्य राजा चोष्कूयते विश इन्द्रो मनुष्यान् । ५
 व्युदस्यत्येधमानानहर्द्वेष्ट्यसुन्वतः । सुन्वतोऽभ्यादधात्युभयस्य
 राजा दिव्यस्य च पार्थिवस्य च चोष्कूयमाण इति चोष्कूयते-
 श्वर्करीतवृत्तं सुमत्स्वयमित्यर्थः । उप प्रागात्सुमन्मेऽधायि मन्मे ।
 उपप्रेतु मां स्वयं यन्मे मनोऽध्यायि यज्ञेनेत्याश्रमेधिको
 मन्त्रो दिविष्टिषु दिव एषणेषु । स्थूरं राधः शताश्वं कुरु- १०
 ङ्गस्य दिविष्टिषु । स्थूरः समाश्रितमात्रो महान् भवत्यणुरनु
 स्थवीयांसमुपसर्गो लुप्तनामकरणो यथा संप्रति कुरुङ्गे राजा
 बभूव कुरुगमनाद्वा कुलगमनाद्वा कुरुः कृन्ततेः क्रूरमित्यप्यस्य
 भवति कुलं कुष्णातेर्विकुपितं भवति दूतो व्याख्यातो जिन्वतिः
 प्रीतिकर्मा । भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नय इत्यपि १५
 निगमो भवति ॥ २२ ॥

इति पष्ठाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

हिनीता नो अंधारम् । कवपस्थेयमार्पम् । अपोनन्वीयावृक्षु शस्यते
 (आश्व० श्री० ५ । १) । हे ऋषिजो हिनीत २०
 'हिनीत' प्रहिणुत प्रगमयत प्रोत्सर्यत एतम् अन्धरं यज्ञं
 देव्यजनार्थम् । किंच । प्रहिणुत ब्रह्म खुत्याख्यं
 यथाशास्त्रदृष्टक्रमेण सनये लब्धये अस्माकं धनानाम् । किंच । ऋतस्य

१ त. सै(श)कृदितं (दितं); द. शकृदितं. २ छ. त. द. सुखवतीभूतं. ३ छ.
 त. द. 'सुखवत्यो भवतास्मभ्यमापः' नास्ति. ४ क. ख. छ. त. द. 'द्विष्टुभ'. २५
 ५ छ. त. द. मां यन्मम मनो. ६ क. ख. द. 'णेषु । ७ । स्थूरं'; छ. त. 'णेषु
 । २५ । स्थूरं. ७ छ. 'सर्गो लुप्तो (त) नाम'; त. सर्ग (गो) लुप्तो (म) नाम;
 द. 'सर्गलुप्तो नाम'. ८ क. ख. ८ (२२); छ. त. २६; द. ८; ठ. अत्रो
 नास्ति. ९ छ. य. घ. 'इति०० पादः' नास्ति. १० क. ख. घ. झ. ट. 'चि०
 भूतनास्मभ्यमापः । कव'; ठ. द. हिनीता न इति । कव. ११ ग. अ. आपोनन्वी-
 यवृक्षु; घ. अपोनन्वीयावृक्षु १७.

यज्ञस्य योगे संयोगो यदेतत् ऊँधः इव सोमपूर्णमधिपवणचर्म वर्तते । अथवा ।
योगसंबन्धाच्छकटं योगः । तद्धि तैर्हि युज्यते । तेनाधिपवणचर्मणा ऊँधसेवा-
धस्तादेवस्थितेनेति मन्यमानो भाष्यकारो ब्रवीति । ‘ याज्ञे शकटे इति ’ ।
यदेतदज्ञशकटस्याधस्तादुपरि वाधिपवणचर्म एतत् विष्यच्चं विमुञ्च्यम् ।

- ५ ग्रहचमसस्थास्यादिषु यो निषेकः सोमस्यैतद्विमोचनमधिपवणचर्मोऽधसः ।
तद्धि सोम उत्सिच्यमाने स्पर्धाभवति यधेतैरद्रोरूधो दुहाम्मानायां गवि ।
एवमृत्विज उक्त्वाधुना तौ एव सोमसंमिश्रा अपो ब्रवीति । यूपमपि हे आप
एभिर्ऋत्विग्भिरुत्सिच्यमानाः श्रुष्टीवरीः सुखवत्यो भूतन भवत अस्मभ्यम् ।
एवमत्र ‘ प्र ’ शब्देनार्थस्य सुतरां प्रकटता भवतीति भाष्यकारेण ‘ प्र ’ शब्दोऽ-
१० ध्याहृतः । ‘ अध्वरम् ’ इत्यनेन संबन्धाद्धिनोतेर्गोख्यत्वमुपपद्यते । ग्रहिणुते-
त्याप उच्यन्त इति केचित् ।

‘ शकटं शकृदितं भवति ’ । यदानङ्गान्युक्तः शकृन्मुञ्चति । तेन
तैदेति । ‘ शनकैस्तकतीति वा ’ । तद्धि भाराक्रान्तं शनकैर्मच्छति ।
‘ शब्देन तकतीति वा ’ । तद्धि शब्देन गच्छति ।

- १५ ‘ चोष्कूयमाणः (९५) चोष्कूयते (९६) ’ इत्येते
अनपगतौ । धातुरेवायमप्रतीतः । एति मुबन्ततिङन्ते । तदनयोः पूर्वं
मुबन्तमुत्तरं तिङन्तं दानार्थं वर्तमानस्य । चोष्कूयमाण इन्द्र मूरीति
निगममुक्त्वा ‘ दददिन्द्र ’ इति हि पूर्वस्य निर्वचनं चकार भाष्यकारः ।
व्युदसने वर्तमानस्योत्तरस्य ‘ चोष्कूयते विद्वा इन्द्रो मनुष्यान् ’ इति
२० निगममुक्त्वा ‘ चोष्कूयते ’ इत्यस्य शब्दस्य ‘ व्युदस्यति ’ इति निर्वच-
नमाह भाष्यकारः । उभयत्रापि तु चोष्कूयतिशब्दधर्करीतवृत्तेन द्रष्टव्यः ।

१ घ. संयोगे; ठ. ड. ‘ संयोगे ’ नास्ति. २ घ. झ. ट. ठ. ड. ‘ यदेन दूष इव ’.
३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. तत्र; च. तर्हि ’ अ. ४ च. ‘ धस्तादेव स्थि ’. ५ ग.
ज. ‘ तर्गं गोरु ’; च. तर्गं गोरु ’ रत्. ६ य. ज. ‘ ताः ’ नास्ति; च. एताः ७ क.
ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘ तेनेतामिति. ८ य. ज. ‘ एते ’ नास्ति; च. ‘ तीतः ’ ।

‘चोष्कृत्यमाण इन्द्र भूरि वामम्’ इत्यस्य शेषः । ‘नि सर्वसेन

इषुधी रसक्त समर्थो गा अजति यस्य वाष्टि ।

‘चोष्कृत्यमाणः’ चोष्कृत्यमाण इन्द्र भूरि वामं मा पणिर्भूरस्म-

दधिं प्रवृद्धैः (ऋ० सं० १ । ३३ । ३) ॥

हिरण्यस्तूपस्यार्थम् । उद्भिद्रत्नमिदोर्निष्केवल्ये शस्यते । न्यसक्त न्यवध्नात् ५

इषुधीन् तूणान् पृष्टे रथस्य सर्वसेनः समग्रसेन इन्द्रः । एवं तूणान् संनह्य

बद्ध्वा गोधाङ्गुलित्रयान् भूत्वा समर्थो गा अजति । इषुभिर्मेषांश्छिन्दन्

समजति समस्ताः क्षिपति गा अपः अर्य ईश्वर इन्द्रः । कस्मै समजति ।

यस्य वाष्टि । यस्य राज्ञो देशे कुटुम्बिनो वा क्षेत्रे कामपते क्षेत्रं तस्यैव

क्षिपति । वर्यं प्रवर्तयत इत्यर्थः । एवं स्तूयमानः स इन्द्रः प्रत्यक्षीभूतः । १०

यतः प्रत्यक्षकृत उत्तरोऽर्थर्चः । हे इन्द्र चोष्कृत्यमाणस्त्वं ददतु एतदुक्तं

जनेभ्यो भूरि बहु वामं वननीयं सस्यसंपाकरं शृणु दत्तुरुष्य । मा पणि-

र्भूः । मा पणिक्क्षीलोऽस्मान् प्रति मन्दोदकदाता कृपणो भूः । किं

तर्हि । प्रवृद्धोर्दक उन्नतचित्तोऽस्मान् प्रति बहुदकदाता भव । एवमत्र

‘मा पणिर्भूरि वामम्’ इत्येभिः पर्दः संबन्धात् ‘चोष्कृत्यमाणः’ १५

इत्यस्य ‘ददतु’ इत्येवमर्थ उपपद्यते । एवमत्र दानार्थश्चोष्कृत्यतिः ।

‘एधमानद्विर्लुभयस्य’ इत्यत्र व्युदसनार्थः । अस्य शेषः । ‘शृण्वे

वीर उग्रमुग्रं दमायन्नन्पमन्यमतिनेनीयमानः ।

‘चोष्कृत्यते’ एधमानद्विर्लुभयस्य राजा चोष्कृत्यते विश इन्द्रो

मनुष्यान् (ऋ० सं० ६ । ४७ । १६) ॥ २०

‘गर्गः चार्हस्पत्यायेयंमार्गं’ (दमायन्) इत्येकं पदम् । शृण्वे वीरः ।

१ ग. शेषः । १६ । नि सर्वे° । २ ग. ज. इषुधीन् । हिर°; प. स. ट. इषुधी-
रसक्त° रसमदधि प्रवृद्धः । हिर° । ३ क. ख. घ. स. ट. च. प्रवृद्धः° । ४ क. स.
प. स. ट. ठ. ड. °स्वार्थम् । ऐन्द्री । विष्टुप् । उद्भि°; च. °स्वार्थम् । ° उद्भि-
° ऐन्द्री । विष्टुप् । ५ क. ख. प. स. ट. ठ. ड. दददददकं ज°; च. दददेतदुक्तं २५
ज° दुदकं । ६ ग. ज. प्रवृद्धो दक्ष उन्न° । ७ ग. च. ज. पणिर्भूरि° । ८ क. ख. ग.
च. ज. प. स. °द्विर्लुभ° । ९ ग. शेषः । १७ । शृण्वे° । १० ग. ज. °मुग्रं ।
शंयोवर्हि°; प. स. ट. °मुग्रं° इन्द्रो मनुष्यान् । मर्ग° । ११ क. स. °द्विर्लुभ°;
च. °द्विर्लुभ° । १२ क. ख. घ. स. ट. ठ. ड. °मार्गम् । विष्टुप् । ऐन्द्री । दमा°;
च. मार्गम् । ° दमा° विष्टुप् । ऐन्द्री ।

- अथौपमहं वीरमिन्द्रम् उग्रम् उद्गूर्णवज्रम् । आदरार्थो द्विरभ्यासः ।
 आदरे चार्धभूयस्त्वम् । ' अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते ' (निरु० १० ।
 ४२ ।) इति हि वक्ष्यति । अथवा । उग्रं शत्रुं प्रत्युद्गूर्णवज्रं दमायन्
 ५ दमयितारं शत्रूणाम् । कथं पुनरथौपमिति । अन्यमन्यं देवताविशेषमतिश-
 येन स्थाभीष्टेनैव कामेन तुष्टूपया अमुष्मात्तुतात्कामान् प्राप्स्यथेत्येवं पुनः
 पुनर्निर्णयैमानः । किंलक्षणं पुनर्वीरमथौपमिति । एधमानद्विट् । एधमानान्
 दीप्यमानानपि द्वेष्टि अमुन्वतः सोमाभिषवमकुर्वाणान् । अयञ्चन इत्यर्थः ।
 अत एव वैपरीत्येन ' सुन्वतोऽभ्यादधाति ' इत्यभ्याजहार भाष्यकारः ।
 क पुनरादधाति । ' सुकृतस्य लोके ' इति सामर्थ्याद्भवति । ये हि सुन्वते
 १० त इष्टा इन्द्रस्य ये न सुन्वन्ति ते द्वेष्या इत्यभिप्रायः । उभयस्य राजा
 दिव्यस्य च धनस्येश्वरो मानुषस्य च । किंच । चोष्कूयते व्युदस्यति यो
 विशः एधमानानमुन्वत ईतरांश्च सुन्वतो मनुष्यानां दधाति सुकृतलोक
 इति । एवमत्र ' एधमानद्विट् ' इत्यनेन संबन्धात् चोष्कूयतिः व्युदसनार्थ
 उपपद्यते ।

- १५ ' सुमत् ' (९७) इत्यनवगतम् । ' स्वयम् ' इत्यवगर्भः । ' उप
 प्रागात्सुमन्मेऽधापि मन्म देवानामाशा उप वात-
 सुमत् पृष्ठः । अन्वेनं विप्रा आर्पयो मदन्ति देवानां पुष्टे
 चक्रमा सुबन्धुम् ' (ऋ० सं० १ । १६२ ।
 ७) ॥ दीर्घतमस आर्पम् । अश्वमेधेऽवस्तोमीयेन षोडशाहुतयो हवन्ते
 २० तत्रेयं विनियुक्ता (भैत्रा० सं० ३ । १६ । १) । उँपमैतु मां प्रकर्षेण एतु
 सुमत् स्वयमेव यदेनेन यज्ञेन प्राप्नुयामिति मे मम मनः अप्यध्यापि ।
 अहं मनसा ध्यातवानित्यर्थः । किं पुनस्तत् । मन्म मननीयमर्थजातम् ।

- १ ग. ज. मन्यन् इति वक्ष्यति. २ ग. ज. 'मुष्मात्सुतानुक्रामा'; च.
 'मुष्मात्सु' (त्वत्) तान्कां (त्का) वा". ३ क. ख. घ. झ. ठ. ड. पुनर्नयमानः; ड.
 २५ पुनर्नय" निर्णो. ४ ग. ज. सुतपन्ध; च. सुतरां च" इतरांश्च. ५ क. ख. घ. झ.
 ट. ड. ड. "पानम्यादधाति सुकृतस्य लोक". ६ ग. "ममः । ९८ । उप". ७ ग.
 ज. प्रागात्सुमत् । दीर्घ"; च. प्रागात् । दीर्घ"; घ. झ. ट. प्रागात्सुमन्मे० चक्रमा
 सुबन्धुर । दीर्घ". ८ क. ख. घ. झ. ठ. ड. आर्पम् । विष्टुर् । अश्वदेवताया ।
 धन्व"; च. आर्पम् । - अश्व" विष्टुर् । अश्वदेवताया । ९ घ. ट. ठ. ड. षोडश-
 तपये हुतयो". १० ग. ज. उँपु. ११ क. ख. घ. झ. ट. यत् यदनेन.
 १२ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. "ध्यापि । अनेकविषयं संक्षेपान् (क. ख.
 २२ झ. संक्षेपविकल्पान्) चकार तच्चदमेव । अहं"; ग. ज. ध्यापि ध्यातवानित्यर्थः

किंच । अयमपि वीतपृष्ठः कान्तपृष्ठः अश्वः उपैतु उपगच्छतु देवाना-
माशाः यमेते वयं देवानां पुष्टे पोषणाय चक्रम् कृतवन्तः सुवन्धुं शोभ-
नयूपबन्धनम् । तमेतमुपगच्छन्तम् अनुमदन्ति अनुमन्यन्तां विप्रा ऋषयो
मेधाविनः । एवमत्र शब्दसारूप्यादर्थोपपत्तेश्च 'सुमत्' इत्यस्य 'स्वयम्'
इत्येव विपरीणाम् उपपद्यते । 'आह्वमेधिको मन्त्रः' इति प्रकारणोपप्रदर्श-
नार्थमाह । मन्त्रार्थं निर्गुणतां प्रकरणमप्युपेक्षितव्यामिषेतदनेन प्रदर्शितं भवति ।

... 'दिविष्टिषु' (९८) इत्यनवगतम् । 'दिव एणेषु' इत्यवगमः ।
यामिः क्रियाभिर्दिवमिच्छन्ति गन्तुं ता दिविष्टयः ।

'स्थूरं राधः शताश्वं कुरुङ्गस्य दिविष्टिषु । राज्ञस्त्वेपस्य सुभगस्य रातिषु
तुर्वशेष्वमन्महि' (ऋ० सं० ८ । ४ । १९) ॥

'दिविष्टिषु' मेधातिथेरार्षम् । बृहती । दानमनया प्रशस्यते ।
स्थूरं स्थूलं महत् राधो धनं शताश्वं बहुश्वसं-

शुक्तं कुरुङ्गस्य राज्ञस्त्वेपस्य महत्तः सुभगस्य शोभनस्य दिविष्टिषु क्रियासु
दक्षिणामूर्तं सर्वेष्वपि तुर्वशेषु मनुष्येषु या रातयो दत्तयस्तासु चैतदेव
स्थूलमित्येवं धयम् अमन्महि । मन्यामह इत्यर्थः । एवमत्र 'दिविष्टि' शब्देन
'क्रिया' उच्यन्ते । ताभिर्हि शुलोकमिष्यते गन्तुम् ।

'स्थूरः समाश्रितमात्रो महान् भवति' । समस्ता हि तत्र मात्रा
आस्थिता भवन्ति । स्थूलप्रसङ्गेनैव अणुशब्दो निरुच्यते । 'स्थूर्धापांस-
मनु' यो वर्तते सः 'अणुः' इत्युच्यते । अन्वित्ययम् उपसर्गो लुप्तनाम-
करणः । येन प्रत्ययेन न्याय्यमेतन्नाम स्यात्सोऽत्र लुप्तः । न श्रूयत इत्यर्थः ।
कथं लुप्त इति । 'यथा संप्रति' इति । अस्मिन्नामकरणलोपेन प्रयोगार्थ-
सिद्धिः । सांप्रतमिति न्याय्यम् । तथापि संप्रतित्येवमपि वर्तमानकालविपर्ययः
प्रयोगः प्रसिद्धः । एवमिहाप्यनुशब्दे । 'कुरुङ्गो नाम राजा वभूव' । कुरुगम-
नाद्वा कुरुङ्गः । स हि कुरुन् प्राति पुत्रत्वेन गतो जेतुं वा । 'कुलगम-
नाद्वा' । शत्रुकुलानि हि स नित्यमेव याति विजेतुम् । 'कुरुः कन्ततेः' ।

१ प. सं. ट. ठ. ड. तदेनेन. २ ग. ज. "भिर्देवभिः". ३ क. ख. "दयः । ७।
स्थूरं"; ग. "दयः । २६ (१९) स्थूरं". ४ ग. ज. शताश्वं; मेधा; घ. सं. ट.
शताश्वं तुर्वशेष्वमन्महि । मेधा. ५ क. रा. प. सं. ट. ठ. ड. "नविद्धिः" ।
क. ख. घ. सं. ट. ठ. ड. "विपयप्रयोगः".

स हि शत्रून् कृन्तति । ' क्रूरमिति ' एतत् ' अप्यस्य ' एव कृतन्तेः
' भवति ' । ' कुलं कुण्ठातेः ' । तद्धि ' विवृणोति ' इव ' भवति '
विस्तारित्यात् ।

५ ' दूतः ' (९९) इत्यनवगतम् । ' जूतः ' इति न्याय्यम् ।
' दूतः ' ' अवतेर्वा द्रवतेर्वा ' इति व्याख्यातम्
(निरु० ५ । १) ।
' जिव्यतिः ' (१००) प्रीतिकर्मा ' इत्यर्थवचनमप्रतीतार्थत्वात् ।
' जिव्यतिः ' ' समानमेतत् ' इत्यत्र उपरिष्ठाद् व्याख्यास्यामेः
(निरु० ७ । २३) ॥ २२ ॥

१० ईति निरुक्तटीकायामेकादशाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

पञ्चमः पादः ।

अमत्रोऽमात्रो महान् भवत्यभ्यमितो वा । महौ अमत्रो वृजने
विरशीत्यपि निगमो भवति । स्तवै वज्रयूचीपमः । स्तूयते वज्रयूचा
१५ समोऽनर्शरातिमनश्च्रीलदानमश्च्रीलं पापकमर्थिमद्विपमम् । अन-
र्शरातिं वसुदामुपस्तुहीत्यपि निगमो भवत्येनर्वाप्रत्युतोऽन्यस्मिन् ।
अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वं बृहस्पतिं वर्धय नव्यमर्कैः । अनर्वम-
प्रत्युतमन्यस्मिन् वृषभं मन्द्रजिह्वं मन्दनजिह्वं मोदनजिह्वमिति वा
बृहस्पतिं वर्धय नव्यमर्कैरर्चनीयैः स्तोमैरसामि सामिप्रतिपिद्धं
२० सामि स्पतेः । असाम्योजो त्रिभृथा सुदानवः । अगुसमाप्तं बलं
विभृथ कल्याणदानाः ॥ २३ ॥

१ गं. ज. कृन्तेर्भ०; च. कृन्तेर्भ० त. २ क. ख. घ. झ. ट. ड. ठ. 'स्यामो
दादशेऽध्याये (ठ. ड. दादशाध्याये). ३ क. ख. <(२३); ग. २७; इतरेष्वष्टौ
नास्ति. ४ ग. च. ज. एकादशस्य चतुर्थः; ठ. ड. इति निरुक्तटीकायां निषण्ट.
पञ्चमेन सह एकादशाध्यायस्य चतुर्थः पादः इति त्रयोविंशतिः सगृहः. ५ च. पादः
समाप्तः. ६ ड. 'मश्चिमाहि'; त. 'मश्चिमाहि' स्ति. ७ उ. त. द. 'वाने। अन'.

२८ ८ क. ख. १ (२२); उ. त. २७; द. १.

‘अमत्रः’ (१०१) इत्यनवगतम् । ‘अमात्रः’ इति शब्द-
समाधिः । ‘महान् भवति’ इत्यर्थवचनम् । यो हि महान् भवति न

तस्य मात्राः प्रमातुं शक्यन्ते । अतोऽसौ ‘अमत्रः’
‘अमत्रः’ इत्युच्यते । ‘अभ्यमितो वा’ स्यादनभिहिंसितः

केनचित् । ‘महौ अमत्रो वृजने’ विरूप्यु १ प्रं
शब्दः पत्यते धृष्योजः । नाह विव्याच पृथिवी चनेन यत्सोमासो हर्ष-

इवममन्दन् (ऋ० सं० ३ । ३६ । ४) ॥ विश्वामित्रस्यैवम् ।

पृष्ठस्य चतुर्थपञ्चमयोरहोर्माष्यन्दिने सवनेऽष्टवाकस्य शस्त्रे संपातसूक्तं
नाम तत्रेयं विनियुक्ता (आश्व० श्रौ० ७ । ५) । महान् प्रभावतः

अमत्रश्च अपरिमाणमात्रः इन्द्रो वृजने संप्राप्ते विरूप्यो विरावणशीलः उग्रम्
उद्गूणम् अभ्युच्यत शवः शत्रुबलं पत्यते पातयते । धृष्णु ओजः धर्पयितृ यस्य

बलम् ओजः तत् पत्यते । किंच । नाह विव्याच नैनं व्याप्नोति पृथिवी
नापि यौरुपमानत्वेन । कदा पुनरेवं भवति । यत्सोमासः यदा सोमाः

हर्षयम् इन्द्रम् अमन्दन् । अतर्पयन्नित्यर्थः । एवमत्र ‘शवः पत्यते वृजने’
इत्यनेन संबन्धात् ‘अमत्रो महान्’ इत्युपपद्यते ।

‘ऋचीपमः’ (१०२) इत्यनवगतम् । ईकारोऽत्रानवगतः ।

‘ऋचा समः’ इत्यवगमः । ‘इह श्रुत इन्द्रो
‘ऋचीपमः’ अस्मै अद्य स्तवे’ वज्रपृचीपमः । मित्रो न यो जनेष्व
यज्ञैश्चक्रे असांश्च (ऋ० सं० १० । २२ । २) ॥

विमदस्पर्धम् । आस्तास्पर्द्धिः । स पुनरेन्द्रो वा प्राजापत्यो वा ।
वासुकस्य वा वसुकृतः । पृष्ठस्य चतुर्थेऽहनि निष्केवल्ये शस्यते
(आश्व० श्रौ० ७ । ११) । श्रुतो विख्यातः सर्वासु दिक्षु इह
एतस्मिन् कर्मणि अद्य स्तवे विजेतुं स्तूयतेऽस्माभिः वज्री । किलक्षणः ।

१ ग. ‘चित् । १०० । महौ’ । २ ग. ज. वृजने । विश्वा° ; प. स. ट. वृज-
ने विर० हर्षयममन्दन् । विश्वा° । ३ क. ख. प. स. ट. ठ. ड. ‘स्पर्धम् ।
त्रिष्टुप् । ऐन्द्री । ५° ; प. ‘स्पर्धम् । ५° त्रिष्टुप् । ऐन्द्री’ । ४ क. ख. प. स. ट.
ठ. ड. संपातं नाम सूक्तं । ५ ग. ‘गमः । १०१ । इह’ । ६ गं. ज. अद्य । वि° ;
प. स. ट. अद्य° चक्रे असांश्च । वि° । ७ क. ख. प. स. ट. ठ. ड. ‘पद्धिः ।
ऐन्द्री । स° ; च. पद्धिः । स० ऐन्द्री ।

ऋचीपम ऋचा समः । यावत्तैवार्धेन युक्तोच्चार्यते ऋक् स्तुत्यभिप्रायेण
 तावन्नेवासौ भवत्यैश्वर्ययोगात् । किंच । मित्रो न मित्र इव । यथा हि
 कश्चिदासौ मित्रो जनेषु यशः कुर्यादेवं य इन्द्रो यश आचक्रे आभिमु-
 ख्येन सर्वासु दिक्षु करोति । किलक्षणं पुनर्यशः करोति । असामि अस-
 माप्तम् । अनन्तमित्यर्थः । य एवंगुणयुक्त इन्द्रोऽस्मागिरेह स्तूयते । एवमत्र
 स्तुतिसंबन्धाच्छब्दसारूप्याच्च 'ऋचीपम ऋचा समः' इत्युपपद्यते ।

'अनर्शरातिम्' (१०३) इत्यनवगतम् । 'अनल्लीलदानम्'
 इत्यवगमः । विग्रहप्रसक्तस्याल्लीलशब्दस्यार्थमाह ।

'अनर्शरातिम्' 'अल्लीलं पापकम्' इति । न यस्याल्लीला
 रातिर्दानं सोऽनर्शरातिः । शब्दसारूप्यप्रसक्त-

माह 'अल्लीलम् अश्रिमद् विपमम्' । तत्सारूप्योपपत्तितोऽल्लीलमित्युच्यते ।
 'अनर्शरातिं वसुदामुप स्तुहि भद्रा इन्द्रस्य रातयः । सो अस्य कामं
 विधतो न रोपति मनां दानाय चोदयन्' (ऋ० सं० ८ । ९९ ।
 ४) ॥ 'आयन्त इव सूर्यम्' इत्यस्या अनन्तरेव । सतोबृहती ।

हे स्तोतः अनर्शरातिम् अपापदानम् एतन्मिन्द्रं वसुदां वसुदातारम् उपग-
 म्योपगम्य चेतसा स्तुहि । फिकारणम् । यस्मात् भद्राः भन्दनीयाः
 इन्द्रस्य रातयो दत्तयः । किंच । सः अस्य कामम् अभिप्रायं विधतो दधतः
 कामिनां कामान् रोपति न पीडयति । मनश्च इन्द्रस्य आत्मनो दानाय
 चोदयन् भवति य एवं स्तुत्वा याचते । एवमत्र शब्दसारूप्यवदर्थविरोधाच्च

'अनर्शरातिम् अनल्लीलदानम्' इत्युपपद्यते ।

'अनर्वा' (१०४) इत्यनवगतम् । 'अप्रपृतः' इत्यवगमः ।

यः 'अन्यस्मिन्' नाश्रितो भवति स्वप्रधान

अनर्वा

एव सः 'अनर्वा' इत्युच्यते । 'अनर्वाणं

वृषभं मन्द्रजिह्वं बृहस्पतिं वर्धया नर्व्यमर्कः ।

गाथान्यः मुरुचो यस्य देवा आशुष्वन्ति नर्वमानस्य मर्ताः (ऋ० सं०

१ । १९० । १) ॥ अगस्त्यस्यार्पम् ॥ त्रिष्टुर् हि स्तोतः
 अनर्थाणं स्वेन महिम्ना युक्तम् अप्रतिगतं कंचिदन्यं प्रति अर्धानत्वेन वृत्तं
 वर्णितारं मन्द्रजिह्वं मेन्दनजिह्वम् । हर्षकरो हि तस्य जनानां स्तनयितुर्वेषः ।
 ' जिह्वा घोषः ' (निघ० १ । ११) इति हि वाङ्मामसु पठितम् । बृहस्पति
 वर्धय नव्यं स्तुत्यम् अर्कः मैत्रेः । किंलक्षणे बृहस्पतिमिति । गाथान्यः स्तुति- ५
 प्रापणार्हा देवाः सुरुचो दीप्तिमन्तो यस्य शुष्णम् आभिमुख्येन स्थित्वा
 शृण्वन्ति आदरेण मर्ताश्च । नवमानस्य । नवो हि भानस्तस्याहन्पहन्य-
 नया स्तुत्या स्तुत्यस्य भवति । तेनासौ नवर्मानः । अथवा । नवमानस्य
 प्रशासत इत्यर्थः । अथवा । अयमन्यो मन्त्रार्थः स्यादेतिहासिकपक्षेण ।
 मन्द्रजिह्वः । हर्षकरो हि जिह्वा तस्य स्तुतिः । गाथानीः । स एव १०
 पौरोहित्येन गाथाः स्तुतीर्निवति प्रापयति देवान् प्रति । स एव च सुरो-
 चनः । तस्थैव च नवमानस्य स्तुवतो देवा आशृण्वन्ति मर्ताश्च ।
 ' बृहस्पतिर्वै देवानां पुरोहितः ' (मैत्र० सं० १ । ११ । ५ ॥
 शत० ब्रा० ५ । ३ । १ । २) इति ह विज्ञायते । तस्मादेवमप्युप-
 पद्यते । एवं मन्त्रार्थाविरोधात् ' अनर्था अप्रनृतः ' इत्युपपद्यते । १५

' असामि ' (१०५) इत्यनवगतम् । सामीति समाप्तमुच्यते । तस्य प्रति-
 पेक्षः असामि । ' असांमोर्जा विभृषा मुदानवोऽ-
 असामि सामि धृतयः शर्वः । ऋषिर्द्विषे' मरुतः परिमन्यव
 इपुं न सृजत द्विषम् ' (ऋ० सं० १ । ३९ ।
 १०) ॥ कण्वस्यार्पम् । सतोबृहती । हे मुदानवः कल्याणदानाः मरुतो २०

१ ग. ज. अगस्त्यस्यार्पम्; घ. झ. ट. ठ. ड. आ (ठ. ड. अ) मरुत-
 स्यार्पम् । बार्हस्पत्या । त्रि; घ. अगस्त्यार्पम् । त्रि बार्हस्पत्या । २ ग. ज.
 मेन्दनं. ३ ठ. ड. ' अर्कः स्तुत्यैर्मेन्द्रैः. ४ क. ल. प. झ. ट. ठ. ड. सुदीप्ति'. ५
 घ. ठ. ठ. ड. ' स्तुत्या ' नास्ति. ६ क. ल. प. झ. ट. ठ. ड. ' भानस्तस्य; घ.
 ' भानः ' । अयं तस्य. ७ ग. ज. स्यादिति. ८ ठ. ड. इति ब्राह्मणे मूलो.
 ९ ग. ' सामि ' । १० ग. अ. विभृषः मुदानवः । कण्व; घ. झ. ट.
 विभुं सृजत द्विषम् । कण्व. ११ क. ल. प. झ. ट. ठ. ड. ' हती । मास्ती ।
 हे'; घ ' हती ' । दे ' नास्ती. २८

यूपम् असामि अपारिसमाप्तम् अनन्तम् ओजो वैलं त्रिमृथ धारमथ ।
असामिधृतयः असमाप्तगतयः । धवनं धूतिः । 'धवति धावति' (निघ०
२ । १४ ।) इति गतिकर्मसु पठितम् । एतत्कुरुष्वे । य एष ऋषिदेष्टा
स्तोतृदेष्टा तस्मै हे मरुतः परिमन्यवे प्रकृष्टक्रोधाय इषुमिर्वै सर्वलोकदेष्टवतां
सृजत क्षिपत । एवमत्र 'असामि असुसमाप्तम्' इत्युपपद्यतेऽर्थाधिरोधात् ।

'गल्दया' (१०६) इत्यनवगतम् । 'गलितवानी स्यात्' । गलितं
हि तस्यां धीयते । 'धमनिर्भवति' इत्यभिधेयवचनम् । नाडीत्यर्थः । २३ ।

मा त्वा सोमस्य गल्दया सदा याचन्नहं गिरा । भूर्णिं मृगं न
सवनेषु चुक्रुधं क ईशानं न याचिषत् (ऋ० सं० ८ । १ । २०) ॥
मा चुक्रुधं त्वा सोमस्य गालनेन सदा याचन्नहं गिरा गीत्या
स्तुत्वा भूर्णिमिव मृगं न सवनेषु चुक्रुधं क ईशानं न याचिष्यते
इति गल्दा घमनयो भवन्ति गलनमासु धीयते । आ त्वा विश-
न्तिवन्दं आगल्दा धमनीनाम् । नानाविभक्तीत्येते भवन्ति आग-

१५ लना धमनीनामित्यन्वयः ॥ २४ ॥

मा त्वा सोमस्य गल्दया । मेधातिथेरोर्षम् । बृहती । महाव्रते बृहतीसहस्रे
विनियुक्ता (ऐ० आ० ५ । २ । ४) । हे

गल्दया इन्द्र मा चुक्रुधं त्वा मा क्रोधयेषम् अहं सोमस्य

गल्दया गलनेन धमनिपूरणेन सोमस्य सदा
नित्यकालमपि याचन् गिरा ॥ गीत्या स्तुत्या च सवनेषु यज्ञेषु । कथं च

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. वलं शवः अभिवृद्धिरूपं च वलं विभृ°; च. वलं
विभृ° शवः अभिवृद्धिरूपं च वलं. २ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'मिव दिपं सर्व°;
च. 'मिव-सर्व° दिपं. ३ क. ख. १ (२३); ग. ह. ठ. ड. 'त्यर्थः । इति
२५ नेरुन्टीकायां पष्ठाध्याये त्रयोविंशतिः सण्डः; इतरेष्वशौ नास्ति. ४ छ. त. द.
याचिष्यतीति. ५ त. 'भक्तीत्येते°. ६ छ. त. द. भवतो गल°. ७ क. ख. ९
(२४); छ. त. द. अशौ नास्ति. ८ प. ङ. ट. सोमस्य गल्दया० न याचिषत् ।
मेधा°; ठ. ड. सोमस्येति । मेधा°. ९ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'र्षम् । ऐन्द्री ।
वृ°; च. 'र्षम् । वृ° ऐन्द्री. १० क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'नेन धमनेन पूर°;
ग. ज. 'नेन च धमनिर्धमनिपूरणेन; च. 'नेन धमनिपूर° नेन. ११ क. ख. घ.
२१ ङ. ट. ठ. ड. 'च' नास्ति.

पुनर्मा चुक्रुधमिति । भूर्णिमिव मृगम् । भ्रमणशीलो भूर्णिः । कः पुनरसौ ।
व्याघ्रो वा सिंहो वा । स हि भ्रमणशीलो विमर्ति च शृगालादीन् । तेनेन्द्र
उपमीयते । यथा शृगालादयो लाङ्गूलजालनादिनोपचारेणोपसर्पमाणस्तं न
क्रोधयन्नेवमहं सोमसंप्रदानपूर्विकया स्तुत्योपसर्पमाणो मा चुक्रुधं भवन्त-
मिति । अथ मंतं यंदि क्रोधाद्विभेयि मास्मान्याचिष्टा इति । क ईशानं
न याचिषत् । को हि नाम सोऽस्ति लोके य ईशानमीश्वरं न याचिष्यति ।
न ह्ययाचतां वृत्तिः सिध्यति । एवमत्रेन्द्रस्य या गर्लधमनिर्नयया सोम
आगत्यते सा तेनैवागलनेनोपलक्ष्यमाणा 'गल्दा' इत्युच्यते । न इवमर्थ-
विरोधोऽस्ति ।

'गल्दा धमनिर्भवति' इत्यस्य भाष्यकारवाक्यस्य मन्त्रे नात्र धमनि-
लिङ्गं विशिष्टमस्तीत्यतो विशिष्टलिङ्गमन्यदुदाहरणं
तस्यैवान्यदुदा-
हरणम्
मर्षति । 'आ त्वा विशन्तिवन्दवः' इति । हे
इन्द्र आविशन्तु त्वात्त्वाम् इन्दवः सोमाः । कथं च
पुनराविशन्तु । आगल्दा धमनीनाम् । योः आग-
लनाः धमनयो यौभिरनुप्रविष्टाः सन्तो नवं मद्रमुत्पादयन्ति अधोवाहिन्यो
याः ताभिराविशन्तु । शेषो मृग्यः । एवमिह 'धमनी' शब्दसहयोगी
'गल्दा' शब्द इति कृत्वा 'आगल्दा धमनिः' इति उपपद्यते ।

'नानाविमर्क्षी त्वेते' पदे 'भवतो' गल्दया गल्दा' इति न तु
नानार्थे । आह कोऽभिप्राय इति । उच्यते । पूर्वस्मिन्मन्त्रे यद्यपि धम-
निशब्दो नास्ति तर्थापि 'गल्दा' शब्देन 'धमनिरेवोच्यते । तत्र 'आगल्दा
धमनीनाम्' इत्येतदेव ज्ञापकमित्यभिप्रायः । 'गल्दया' इति तृतीयान्तं

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. यदि मम को; च. 'यदि' को' यम. २ क. ख.
घ. ङ. ट. 'न्ययेया इ'; ठ. ड. 'न्यायेया इ'; च. 'न्यायेया' येया. ३ क.
ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. याचिष्यते; च. याचिष्यति ते. ४ क. ख. घ. ङ. ट.
ठ. ड. गलना धम; च. गल-ध' ना. ५ ग. ज. आगत्यते. ६ च. विशिष्ट-
मन्यदु. ७ ग. मर्षति. ८ आ त्वा. ९ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'शन्तु
त्वामिन्द्रः; आग'; च. 'शन्तु' आग' त्वामिन्द्रः. १ ग. ज. 'याः' नास्ति.
१० ग. ज. याचि धमनुमति. ११ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'मदीत्येते';
च. 'मदी त्वेते' त्वे. १२ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. तथापि निगमे गल्दा; च.
तथापि गल्दा निगमे.

‘गल्दाः’ इति प्रथमाबहुवचनान्तम् । एतदनयोर्नानाविभक्तिवत्तम् ।

‘जल्हवः’ (१०७) इत्यनवगतम् । ‘ज्वलनहीनाः’ इत्यवगमः । २४ ।

५ न पापासो मनामहे नारायासो न जल्हवः । न पापा मन्या-
महे नाधना न ज्वलनेन हीना अस्त्यस्मासु ब्रह्मचर्यमध्ययनं
तपो दानकर्मेत्यृपिरवोचक्रकुरो भास्करो भयंकरो भातमानो
द्रवतीति वा ॥ २५ ॥

१० ‘न पापासो मनामहे नारायासो न जल्हवः । यदिन्विन्द्रं वृषणं सचां
मुते सखायं कृणवामहे’ (ऋ० सं० ८ ।
६१ । ११) ॥ मर्गो नाम प्रगाधपुत्रस्तस्येय-

मर्षम् । बृहती । तस्यामेव तृचाशीत्यां विनियुक्ता (ऐ० आ० ५ । २ । ४) ।
न वयं पापाः इत्येवं मन्यामहे । किं कारणम् । अस्त्यस्मास्वपापत्वहेतुः ब्रह्म-
चर्यम् अध्ययनं तपो दानकर्म च । अथ मतमेतैरपि युक्तो यो निर्धनः
१५ स पाप एवेति । तच्च न । किं कारणम् । नारायासः । न वयमधनाः । अथपि
स्याद्धनवैश्वेऽपि सत्यनाहिताग्निवाज्ज्वलनहीनत्वेन पापत्वमिति । तदपि न ।
किं कारणम् । न जल्हवः । न वयं ज्वलनहीनाः । किं तर्हि । आहिताग्नयो

वयम् । तदेतदध्ययनादि अपापत्वहेतुभूतं सर्वमस्मात्स्वस्ति । किं व । यदिन्वि-
न्द्रं यस्माद्वयम् इन्द्रं वृषणं वर्षितारम् एतस्मिन्वृषणकर्मणि सखायं सहभूतस्य
२० सोमपानस्य ह्यापयितारम् अभीभिः सह मया सोमः पीत इत्येवं यत्कारं
कृणवामहे तस्मान्न वयं पापा नापि वयमरायासो नापि जल्हव इत्येवमात्मानं
मन्यामहे । न हि पापानामधनानामनाहिताग्नीनां चेन्द्रः सखा भवतीत्यभि-
प्रायः । एवमत्र ‘जल्हवो ज्वलनहीनाः’ शब्दसारूप्यादर्थाविरोधाच्च ।

१ क. ख. ‘भित्तिम् । २ (२४) गल्दा’ । २ ग. ७; ठ. ड. ‘गमः । इति निष्क-
२५ टीकायां षष्ठाध्याये चतुर्विंशतिः खण्डः; इत्येवमशौ नास्ति. ३ क. ख. २ (२५);
छ. त. २८; द. २. ४ ग. ज. ‘महे । मर्गो’; घ. झ. ट. ‘महे० कृणवामहे ।
मर्गो’ । ५ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘मर्षम् । ऐन्द्री । वृ’; च. ‘मर्षम् । ७ वृ’
ऐन्द्री । ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘पापत्वे हे’; ग. ज. ‘पापत्वहेतु अ.’
७ ग. ज. ‘दानकर्म’ नास्ति; घ. तपश्च । अथ दानकर्म च. ८ ग. ज. ‘दानमत्वे’.
१ क. ख. घ. झ. ट. ड. पापवत्त’ । १० ग. ज. ज्वलहीनाः; च. ज्वल-
२१ हीनाः । न. ११ घ. ज. ‘पापानामनाहि’; च. ‘पापाना- मनाहि’ मधनाना.

‘वकुरः’ (१०८) इत्यनवगतम् । ‘भास्करो भयंकरो भास्वद्र-
वणो वा’ इति शब्दसमाधयः ॥ २५ ॥

यवं वृकेणाश्विना वपन्तेपं दुहन्ता मनुपाय दत्ता । अभि
दस्यु वकुरेणा धमन्तोरु ज्योतिश्चक्रयुरार्याय (ऋ० सं० १ ।
११७ । २१) ॥ यवमिव वृकेणाश्विनौ निवपन्तौ वृको लाङ्गलं
भवति विकर्तनालाङ्गलं लगतेर्लाङ्गलवद्वा लाङ्गलं लगतेर्लाङ्ग-
तेर्लम्बतेर्वाचं दुहन्तौ मनुष्याय दर्शनीयावभिधमन्तौ दस्युं वकु-
रेण ज्योतिषा बोदकेन वार्य ईश्वरपुत्रो वेकनाटाः खलु कुसी-
दिनो भवन्ति द्विगुणकारिणो वा द्विगुणदायिनो वा द्विगुणं काम-
यन्त इति वा । इन्द्रो विश्वान्वेकनाटो अहर्दृश उत क्रत्वा पर्णी-
रभि । इन्द्रो यः सर्वान् वेकनाटानहर्दृशः सूर्यदृशो य इमान्यहानि
पश्यन्ति न पराणीति वाभिभवति कर्मणां पर्णीश्च वणिजः ॥ २६ ॥

यवं वृकेणाश्विना । कक्षीवत आर्षम् । प्रातरनुवाकाश्विनयोः
शस्यते (आश्व० श्री० ४ । १५) । यवादि
‘वकुरः’ धान्यं वृकेण लाङ्गलेन वपन्तौ युवां हे अश्विनौ ।
तद्वृते महानुग्रहे सति वर्षादौ लाङ्गलकर्मणः
फलसंपन्नवतीत्यतस्तावेवाश्विनौ वपन्तावित्युच्यते । इपम् अन्नं दुहन्तौ
प्रपूरयन्तौ मनुपाय मनुष्याय दत्तौ शत्रूणां दासयितारौ दंसयितारौ वा
कर्मणां कृष्यादीनां कारयितारौ वा वर्षाद्यनुग्रहेण । एतावेवंविधं कर्म कार-
यन्तौ कुर्वाणौ वा अभि दस्युं दासयितारमनाकालं दुर्मिक्षं धमन्तौ
विनाशयन्तौ कृत्स्नं जगदभिपुष्पन्तौ युवाम् । केन पुनरभिधमन्ताविति ।

१ क. ख. २ (२५) ; ग. ८ । २८ ; ठ. ड. ‘षयः । इति निरुक्तीकायां
पष्ठाध्याये पञ्चविंशतिः खण्डः ; इतरेष्वशो नास्ति. २ क. ख. घ. लङ्गते. ३ ड. २५
थ. छ. त. द. ईश्वरः पुत्रो. ४ क. ख. ३ (२६) ; छ. त. २९ ; द. ३. ५ क.
ख. घ. झ. ट. वृकेणाश्विना० रार्याय । कक्षी ; ग. च. ज. वृकेणाश्विना । कक्षी ;
ठ. ड. वृकेणेति । कक्षी. ६ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. आर्षम् । आश्विनी ।
त्रिष्टुप् । प्रातः ; च. आर्षम् । प्रातः आश्विनी । त्रिष्टुप् । ७ क. ख. घ. झ. ट.
ठ. ड. तद्वृते यद्वृते मदा ; च. तद्वृते तद्वृते य.

वकुरेण जलसमूहेन ज्योतिःसमूहेन वा । मध्यस्थानो ह्रदकसमूहेन शुस्थानो
ज्योतिषा सस्यमनुगृह्णाति ततो दुर्भिक्षं ध्वस्यते जगच्च पुण्यति । किंच ।
युवामेव उरु ज्योतिश्चक्रयुः । विस्तीर्णमविकलं चक्षुः चक्रयुः आर्याय
ईश्वरपुत्राय ऋज्जाश्वाय । स हि युवाम्यामन्धीमूतश्चक्षुष्मान् कृतः इत्यभि-
प्रायः । एवमत्र ज्योतिःसमूह उदकसमूहश्च ' वकुर'शब्देनोच्यते
शब्दार्थाविरोधात् । ' ज्योतिषा बोदकेन वा ' इति भाष्यपौठः ।

' बेकनाटान् ' (१०९) इत्यनवगतम् । ' द्विगुणकारिणो वा
द्विगुणदायिनो वा द्विगुणकामिनो वा ' इति शब्दसमाधयैः । ' इन्द्रो
विश्वान् बेकनोटान् अहर्दश उत क्त्वा पर्णान् रमि । कद्रुं महीरधृष्टा अस्य
तविपीः कद्रुं वृत्रघ्नो अस्तृतम् ' (ऋ० सं० ८ । ६६ । १०) ॥
प्रागाधः कलिर्नाम तस्यार्पणम् । बृहती । महावते बार्हस्पत्यां तृचाशीत्यां
विनियुक्ता (ऐ० आ० ५ । २ । ४) । इन्द्रः सर्वान् बेकनाटान् कुसी-
दिनो वृद्धिजीवनान् अहर्दशः । यैरिहैव जन्मनि सूर्यो दृष्टः । न पुनर्द-
क्ष्यन्तीत्यर्थः । अथवा । य इमानि एव अहानि पश्यन्ति विषयभोगप्रधानां
नास्तिकतया न पारलौकिकेष्वहःस्वस्य द्रुष्टव्यस्य कर्मणः कोऽपि फल-
परिणामो भविष्यतीत्येवंभाविनः पश्यन्ति । तानभिभवति क्त्वा स्थेन
कर्मणा । उत पर्णान् अपि च पर्णान् । ' पणिर्वणिग्भवति ' (निह०
२ । १७) । न हि ते विशुद्धेन कर्मणा व्यवहरन्ति । याभिरेतत्कर्म
करोति याभिः पुनरेवमादीन् द्रुष्टव्यकारिणोऽभिभवति कद्रु महीः वा ता
महस्यः सेना इन्द्रस्य अधृष्टाः अनाधर्पितपूर्वाः परैः तविपीः याश्च महस्यः ।
कद्रु वृत्रघ्नः । कर्च वृत्रघ्नः इन्द्रस्य तत् अस्तृतम् अनुपहतं बलं येनेतान्
हन्तीति । एवमत्र ' बेकनाटाः कुसीदिनः ' अर्थाविरोधादित्युपपद्यते ।

' अभिधेतन ' (११०) इत्यनवगतम् । ' अभिधावत ' इत्यवगतम् । २६ ।

- ५५ १ क. ख. घ. ङ. ट. च; च. पा० च. २ च. भाष्यपौठः० करः. ३ ग.
धयः । १ । इन्द्रो० ४ ग. ज. नाटान् । कद्रु महीरधृष्टा० स्मृतम् । प्रागा०, ठ.
ड. हयोर्पर्ययोर्विपर्ययोऽत्र. ५ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. तद्वर्णम् । ऐन्द्रो ।
धृ०. ६ ग. च. अ. दुःकृ०. ७ घ. ङ. ट. ठ. ड. 'अपि च पर्णान्' नास्ति. ८
ग. ज. च इन्द्र वृत्रस्य प्र तत्. ९ क. ख. २ (२६); ग. १० । ११; ठ. ड.
२० पश्यते । इति निरुद्धटीकायां पद्याध्याये पद्यविततिः खण्डः.

जीवान्नो अभिधेतनादित्यासः पुरा हयात् । कद्द स्य हवन-
 श्रुतः (ऋ० सं० ८ । ६७ । ५) ॥ जीवतो नोऽभिधा-
 वतादित्याः पुरा हननात्क नु स्य हानश्रुत इति मत्स्यानां
 जालप्रापन्नानामेतदार्थं वेदयन्ते मत्स्या मघा उदके स्यन्दन्ते
 माद्यन्तेऽन्योन्यं भक्षणायेति वा जालं जेलचरं भवति जलेभवं
 वा जलेशयं बाहुरोऽहस्वानंहूरणमित्यप्यस्य भवति । कृष्ण-
 हूरणादुर्वित्यपि निगमो भवति । सप्त मर्यादाः कवयस्ततश्चुस्ता-
 सामेकामिदं हुरो गात् । सप्तैव मर्यादाः कवयश्चकुस्तासामेका-
 मप्यधिगच्छन्तं हस्वान् भवति स्तेयं तत्पारोहणं ब्रह्महत्यां भूण-
 हत्यां सुरापानं दुष्कृतस्यै कर्मणः पुनः पुनः सेवां पातके नृतो-
 यमिति वत इति निपातः स्वेदानुकम्पयोः ॥ २७ ॥

जीवानो अभिधेतन । उक्तमार्थं भाष्यकारेणैवात्रोपप्रदर्शनार्थमेवं सर्वत्र
 परिज्ञेयमर्थमिति । हे आदित्याः जीवानः जीवतः
 'अभिधेतन' अस्मान् अभिधावत यूयं पुरा हयात् पुरा हननात् । १५
 अहतानस्मान् संभावयतेत्यभिप्रायः । क नु स्य ।

क नु स्थिता यूयं येन न शृणुत क्षिप्रं नोभिधावत हे हवनश्रुतः । ते ह्यार्ता-
 नामाह्वानं शृण्वन्ति । एवमत्र 'पुरा हयात्' इत्यनेन संबन्धात् 'अभिधे-
 तन' इत्यस्य 'अभिधावत' इत्येष विपरिणाम उपपद्यते ।

अपेक्षा मत्स्यवधकारुण्याभिभूतस्येतदार्थम् । मत्स्यानां केचिन्मन्यन्ते । १०
 'मत्स्या मघा उदके स्यन्दन्ते' । मध्विलुदकनाम (नि० १ । १२) ।
 तत्र हि ते स्यन्दन्ते गच्छन्ति । 'स्यन्दति कसति' इति मतिकर्मसु पठि-

१ क. ख. छ. त. द. 'एव' नास्ति. २ ड. य. घ. स्तेयमतल्या. त. स्तेय-
 मतल्या० यं. ३ य. 'पापं. ४ छ. दुष्कृतकर्मणः; त. दुष्कृतस्यै क'. ५ द. दुष्क-
 त'क' स्य. ५ क. ख. ४ (२७); छ. त. ३०; द. ४. ६ घ. स. ट. जीवानो २५
 अभिधेतना० हवनश्रुतः । उक्तं; ठ. ड. जीवान इति । उक्तं. ७ क. ख. घ.
 स. ट. ठ. ड. 'मिति । गायत्री । आदितेयी । हे'; ख. 'मिति । हे' गायत्री ।
 आदितेयी । ८ क. ख. घ. स. कद्दस्य कनुस्य यूयं; ठ. कद्दस्य कनुस्य यूयं
 स्थिता; ठ. ड. कद्दस्य क नु स्य स्थिता यूयं. ९ ग. ज. 'स्थिताः' नास्ति.
 १० ठ. ड. धामि. ११ क. ख. घ. स. ट. ठ. ड. 'नां वा केचि'; ख. 'ना
 केचि' वा. १२ ग. ख. ज. स्यन्द.
 ५४

वकुरेण जलसमूहेन ज्योतिःसमूहेन वा । मध्यस्थानो ह्युदकसमूहेन द्युस्थानो
ज्योतिषा सस्यमनुगृह्णाति ततो दुर्भिक्षं ध्वस्यते जगच्च पुष्पति । किंच ।
युवामेव उरु ज्योतिश्चक्रयुः । विस्तीर्णमविकलं चक्षुः चक्रयुः आर्याय
ईश्वरपुत्राय ऋज्राश्राय । स हि युवाम्यामन्वीभूतश्चक्षुष्मान् कृतः इत्यभि-
प्रायः । एवमत्र ज्योतिःसमूह उदकसमूहश्च 'वकुर'शब्देनोच्यते
शब्दार्थाविरोधात् । 'ज्योतिषा वोदकेन वा' इति भाष्यपठः ।

- ५ 'वेकनाटान्' (१०९) इत्यनवगतम् । 'द्विगुणकारिणो वा
द्विगुणदायिनो वा द्विगुणकामिनो वा' इति शब्दसमाधयैः । 'इन्द्रो
विश्वान् वेकनोटीं अहर्दृशं उत क्रत्वा पणीं रमि । कद्रुं महीरधृष्टा अस्य
१० तविपीः कद्रुं वृत्रघ्नो अस्तुतम्' (ऋ० सं० ८ । ६६ । १०) ॥
प्रागाधः कलिर्नाम तत्स्यार्पमे । बृहती । महावते बार्हस्पत्यां तृचाशीत्यां
विनियुक्ता (ऐ० आ० ५ । २ । ४) । इन्द्रः सर्वान् वेकनाटान् कुसी-
दिनो वृद्धिजीवनान् अहर्दृशः । यैरिहैव जन्मनि सूर्यो दृष्टः । न पुनर्द-
क्षन्तीत्यर्थः । अथवा । य इमानि एव अहानि पश्यन्ति विषयमोगप्रधानां
१५ नास्तिकतया न पारलौकिकेष्वहःस्वस्य द्रुष्टव्यस्य कर्मणः कोऽपि फल-
परिणामो भविष्यतीत्येवंभाविनः पश्यन्ति । तानभिभवति क्रत्वा स्थेन
कर्मणा । उत पणीन् अपि च पणीन् । 'पणिर्वणिग्भवति' (निह०
२ । १०) । न हि ते विशुद्धेन कर्मणा व्यवहरन्ति । याभिरेतत्कर्म
करोति याभिः पुनरेवमादीन् द्रुष्टव्यकारिणोऽभिभवति कद्रु महीः क ता
२० महस्यः सेना इन्द्रस्य अधृष्टाः अनाधर्षितपूर्वाः परैः तविपीः याश्च महस्यः ।
कद्रु वृत्रघ्नः । क र्च वृत्रघ्नः इन्द्रस्य तत् अस्तुतम् अनुपहतं बलं येनैतान्
हन्तीति । एवमत्र 'वेकनाटाः कुसीदिनः' अर्थाविरोधादित्युपपद्यते ।

'अभिधेतन' (११०) इत्यनवगतम् । 'अभिभावत' इत्यवगमः । २६ ।

- ५५ १ क. ख. घ. ङ. ट. ष. च. वां च. २ च. भाष्यपठः कः. ३ ग.
धयः । ४ । इन्द्रो. ४ ग. ज. नाटान् । कद्रु महीरधृष्टा स्तुतम् । प्रागाधः । ठ.
ड. द्योतार्पणोर्विषयातोऽव. ५ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. तत्स्यार्पम् । ऐन्द्रो ।
कृ. ६ ग. घ. ज. दुःकृ. ७ घ. ङ. ट. ठ. ड. 'अपि च पणीन्' नास्ति. ८
ग. ज. च इन्द्र वृत्रस्य म तत्. ९ क. ख. ३ (२६); ग. १० । ११; ठ. ड.
१० पयते । इति निरुक्टीकायां पष्ठाध्याये पदविंशतिः खण्डः.

जीवानो अभिधेतनादित्यासः पुरा हयात् । कद्धं स्य हवन-
श्रुतः (ऋ० सं० ८ । ६७ । ५) ॥ जीवतो नोऽभिधा-
वतादित्याः पुरा हननात्क नु स्य हानश्रुत इति मत्स्यानां
जालप्रापनानामेतदार्पं वेदयन्ते मत्स्या मघा उदके स्थन्दन्ते
माद्यन्तेऽन्योन्यं भक्षणायेति वा जालं जेलचरं भवति जलेभवं
वा जलेशयं बाहुरोऽहस्वानंहूरणमित्यप्यस्य भवति । कृष्ण-
हूरणादुर्वित्यपि निगमो भवति । सप्त मर्यादाः कवयस्ततश्चुस्ता-
सामेकामिदं ह्यंहुरो गात् । सप्तैव मर्यादाः कवयश्चकुस्तासामेका-
मप्यधिगच्छन्तंहस्वान् भवति स्तेयं तल्पारोहणं ब्रह्महत्यां भ्रूण-
हत्यां सुरापानं दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवां पातके नृतो-
द्यमिति वत इति निपातः सेदानुकम्पयोः ॥ २७ ॥

जीवानो अभिधेतन । उक्तमार्पं भाष्यकारेणैवात्रोपप्रदर्शनाधेमेवं सर्वत्र
परिज्ञेयमार्पमिति । हे आदित्याः जीवानः जीवतः
'अभिधेतन' अस्मान् अभिधावत यूयं पुरा हयात् पुरा हननात् ।
अहतानस्मान् संभावयतेत्यभिप्रायः । क नु स्य ।
क नु स्थिता यूयं येन न शृणुत क्षिप्रं नैभिधावत हे हवनश्रुतः । ते ह्यार्ता-
नामाह्वानं शृण्वन्ति । एवमत्र 'पुरा हयात्' इत्यनेन संबन्धात् 'अभिधे-
तन' इत्यस्य 'अभिधावत' इत्येव विपरीणाम उपपद्यते ।
ऋषेर्वा मत्स्यवधकारुण्याभिभूतस्तेतदार्पम् । मत्स्यानां केचिन्मन्यन्ते ।
'मत्स्या मघा उदके स्थन्दन्ते' । मध्विलुदकनाम (नि० १ । १२) ।
तत्र हि ते स्थन्दन्ते गच्छन्ति । 'स्थन्दति कसति' इति गतिकर्मसु पठि-

१ क. ख. छ. त. द. 'एव' नास्ति. २ ड. घ. य. स्तेयमतस्या. त. स्तेय-
मतस्या० यं. ३ य. 'पार्ण'. ४ छ. दुष्कृतकर्मणः; त. दुष्कृतस्ये कं; द. दुष्क-
तकं स्य. ५ क. ख. ४ (२७); छ. त. २०; द. ४. ६ घ. स. ट. जीवाचो. ७ य.
अभिधेतना० हवनश्रुतः । उक्तं; ठ. ड. जीवाच इति । उक्तं. ८ क. ख. य.
स. ट. ठ. ड. 'मिति । गायत्री । आदितेयी । हे'; य. 'मिति । हे' गायत्री ।
आदितेयी । ९ क. ख. घ. स. कद्धस्य कनुस्य यूयं; द. कद्धस्य कनुस्य यूयं
स्थिता; ठ. ड. कद्धस्य क नु स्य स्थिता यूयं. १० य. ज. 'स्थिताः' नास्ति.
१० ठ. ड. गायत्री. ११ क. ख. घ. स. ट. ठ. ड. 'नो वा केचि'; य. 'ना
केचि' वा. १२ ग. य. ज. स्थन्द-

तम् (निघ० २ । १४) । 'माचन्ते' 'दृष्यन्ति' 'अन्योन्यं भक्षणाय इति वा' मत्स्याः । ते हीतेरेतरभक्षजीविनः । 'जाळं जलचरं भवति १ । तद्धि जले चरति । जले वा भवति । जले वा शेते इति जालम् ।

'अंडुरः' (१११) इत्यनवगतम् । 'अंहस्वान्' इत्यवगमः । रो मत्वर्थे । 'अंडूरणमित्यप्यस्य भवति' इति प्राप्तिक्रिकम् । एवमपि हि प्रयोगो भवतीति । 'त्रितः कूपेऽर्धहितो देवान्हवत

'अंडुरः' उतये' । तच्छुश्राव बृहस्पतिः कृष्णमंडूरणादुर विचं मे' अस्य रोदसी' (ऋ० सं० १ ।

१०५ । १७) ॥ 'सप्त मर्यादा' इत्येते त्रितस्यैव कूपे पतितस्यैर्यम् । एतयोः पूर्वा कुरुसस्य घौ । प्रातरनुवाकाश्चिनयोर्विनियोगैः । त्रितः कूपे अवहितः पतितो देवान् हवते आह्वयते उतये रक्षणायात्मनः । तस्याह्वानं बृहस्पतिः शुश्राव । 'विचं मे अस्य रोदसी' इत्येतत्पुनः पुनरुच्यमानं धावापृथिव्यौ शुश्रुवतुः । किमितेतदसौ श्रावयांचकारेति । कृष्णमंडूरणात् अंहस्वतः कृपादात्मन उरु विस्तीर्णं श्राणं कुर्वन् । एवमत्र 'अन्ध-
१५ कूपोऽहूरणः' इत्युपपद्यते प्रकरणाविरोधात् ।

'सप्त मर्यादाः कवयस्ततश्चुस्तासामेकामिदम्यंहुरो गात् । आयोर्ह' स्क० भ सप्तमस्य मीले पथां विसर्गे धरुणेषु तस्यौ' (ऋ० सं० १० । ५ । ६) ॥ सप्त मर्यादाः सप्त स्थितीः

स्पष्टार्थाय तस्यैव कवयो मेधाविनो हिरण्यगर्भमनुप्रभूतयः ततश्चुः
२० द्वितीयमुदाहरणम् कृतवन्तः । निर्या एष हि ताः । तैस्तु तैः प्र-
त्याख्यायकानुस्मरणार्थं निराकरणार्थं ग्रन्थसं-
दर्भोऽभिव्यजितः । एतदेव करणमित्युपचर्यते । तासामेकामिदम्यंहुरो गात् ।

- १ ग. 'तीति । ११ । त्रितः'; ठ. ड. 'इति' नास्ति. २ ग. ज. 'हितः । सप्त'; घ. झ. ट. 'हितो' अस्य रोदसी । सप्त'. ३ क. ख. प. झ. ट. ठ. ड. 'स्पर्धे'; च. 'त्रितस्यैवैर्यम्' स्या. ४ क. ख. च. झ. ट. ठ. ड. 'वा । वैश्वदेवी । पङ्क्तिः । प्रातः'; च. 'वा । - प्रातः' वैश्वदेवी । पङ्क्तिः. ५ क. ख. प. झ. ट. ठ. ड. 'निधुका. ६ ग. ज. 'त्राणं' नास्ति. ७ ग. 'धात् । १२ । सप्त'. ८ ग. ज. मर्यादा । सप्त'; घ. झ. ट. मर्यादाः कवयः धरुणेषु तस्यौ । सप्त'. ९ क. ख. मीले; च. मीले. १० ग. ज. स्थितयः; च. स्थितयः तीः. ११ क. ख. प. झ. ट. ठ. ड. तदवस्थापकोऽनुस्मरणार्थं ग्रन्थ'; ग. ज. तदवस्थापकानिराकरणार्थं अनुस्मरणार्थं ग्रन्थ'; च. तदवस्थापकौ (पकोऽ)नुस्मरणार्थं निराकरणार्थं (पौ)ग्रन्थ'.

‘इत्’ इत्यनर्थकोऽप्यर्थः वा । तासो मर्यादानाम् एकामभिगच्छन्
अतिक्रामन् अहंत्वान् भवति । ‘अगात्’ इत्येतत् अभेः समीपमाकृष्य
‘एकामप्यभिगच्छन्’ इति । कतमाः पुनस्ता मर्यादा इति । स्तेपं
तत्पराहणमित्येवमाधाः । यः पुनरेता नाभिगच्छति तस्य किमिति । स
आयोः अयनस्य सूर्यस्य स्कम्भे स्कम्भने मण्डले उपमस्य सर्वभूतोपनि- ५
र्मातुरादित्यान्तरपुरुषस्य नडे निलये स्थाने यानि धरुणानि धारयितुणि
स्थानानि अप्रघ्वंसीनि आर्भूतसंप्रवस्थाधीनि तेषु तस्यो तिष्ठति । आह ।
कस्मिन् काले इति । उच्यते । पथा विसर्गे विषयानुप्रवेशमार्गभूतानामि-
न्द्रियाणां विसर्गे विसर्जनकाले प्राप्ते । मृषुकाल इत्यर्थः । मर्यादासं-
न्धात्पृष्ठतर एष निगम इत्यतो द्वितीय उपात्तः । स्मृतिसमाचारस्थानेन १०
प्रतिविशिष्ट उपदर्शितो भविष्यति । एवं मन्त्रेभ्य एवोपभुज्य सर्व एव समा-
चारो विशिष्टैः स्मृतिकारैः संदृष्टो न स्वतन्त्रैरिति ॥

‘वत इति निपातः खेदानुकम्पयोः’ । ‘वत’ (११२) ।
इत्यनवगतमनेकार्थं च । ‘निपातः’ इति पदजात्यवधारणम् । ‘खेदा-
नुकम्पयोः’ इत्यर्थवचनम् ॥ २७ ॥ १५

वतो वतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम । अन्या
किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् (ऋ० सं०
१० । १० । १३) ॥ वतो बलादर्तीतो भवति दुर्बलो वतासि यम
नैव ते मनो हृदयं च विजानीमोऽन्या किल त्वां परिष्वक्ष्यते १०
कक्ष्येव युक्तं लिबुजेव वृक्षं लिबुजा व्रततिर्भवति लीयते विभ-
जन्तीति व्रततिर्वरणाच्च संयनाच्च वतनाच्च वाताप्यमुदकं भवति
वात एतदाप्याययति । पुनानो वाताप्यं विश्वश्चन्द्रमित्यपि निगमो

१ घ. झ. ट. ठ. ड. अगात्. २ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. निलयने. ३ ग.
ज. ‘शिन्याहृतव’; च. ‘शिन्याहृतव’ घ. ४ घ. काले । उच्यते इति. ५ घ. ज. २५
विसर्जने काले. ६ ग. झ. ‘त्यतोहरशद्विती’. ७ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
‘व्यतीत्येवं’; च. ‘व्य-त्येवं’ ती. ८ क. ख. घ. झ. ट. स्वतन्त्र इति; ठ. स्वतन्त्र
इति निरुक्तदीक्षायां पृष्ठाध्याये सप्तविंशतिः खण्डः; ड. स्वतन्त्र इति । २७ खण्डः १.
१ क. ख. ४ (२७); ग. १३ (३०); इतरेष्वो नास्ति. १० छ. त. द.
बलादतीतो. ११ छ. त. ‘भजतीति. १२ क. ख. छ. शयना’; त. हयना’ ॥ १०

तम् (निघ० २ । १४) । 'माद्यन्ते' 'दृष्यन्ति' 'अन्योन्यं' भक्षणाय
इति वा' मत्स्याः । ते हीतेरेतरमक्षजीविनः । 'जाळं जलचरं भवति' ।
तद्धि जले चरति । जले वा भवति । जले वा शेते इति जालम् ।

'अंहुरः' (१११) इत्यनवगतम् । 'अंहस्वान्' इत्यवगमः । रो
मत्वर्थे । 'अंहूरणमित्यप्यस्य भवति' इति प्राप्तिक्रिकम् । एवमपि हि प्रयोगो

भवतीति । 'त्रितः कूपेऽर्वाहितो देवान्हवत

'अंहुरः' ऊतये' । तच्छुश्राव बृहस्पतिः कृष्णं हूरणादुर
वित्तं मे' अस्य रोदसी' (ऋ० सं० १ ।

१०५ । १७) ॥ 'सप्त मर्यादा' इत्येते त्रितस्यैव कूपे पतितस्यैर्षम् ।

१० एतयोः पूर्वा कुत्सस्य घौ । प्रातरनुवाकाश्विनयोर्विनियोगैः । त्रितः कूपे
अवहितः पतितो देवान् हवते आह्वयते ऊतये रक्षणायात्मनः । तत्साह्वानं
बृहस्पतिः शुश्राव । 'वित्तं मे अस्य रोदसी' इत्येतत्पुनः पुनरुच्यमानं
धावापृथिव्यौ शुश्रुवतुः । किमित्येतदसौ श्रावयांचकारेति । कृष्णमंहूर-
णात् अंहस्वतः कृपादात्मन उरु विस्तीर्णं प्र्राणं कुर्वन् । एवमत्र 'अन्ध-
१५ कूर्पोऽहूरणः' इत्युपपद्यते प्रकरणाविरोधात् ।

'सप्त मर्यादाः कवयस्तत्तक्षुस्तासामेकामिदम्यंहुरो गात् । आयोर्ह'
स्क० भ० छेपमस्य नीले पथां विसर्गे धरुणेषु तस्यो' (ऋ० सं० १० ।

५ । ६) ॥ सप्त मर्यादाः सप्त स्थितीः

१० स्पष्टार्थाय तस्यैव कवयो मेधाविनो हिरण्यगर्भमनुप्रभूतयः सप्तक्षुः
द्वितीयमुदाहरणम् कृतवन्तः । निम्ना एष हि ताः । तैस्तु सैध-

त्याख्यायकानुस्मरणार्थं निराकरणार्थं ग्रन्थसं-

दर्भोऽभिप्रेयजितः । एतदेव करणमित्युपचर्यते । तासामेकामिदम्यंहुरो गात् ।

- १ ग. 'तीति । ११ । त्रितः'; ठ. ड. 'इति' नास्ति. २ ग. ज. 'हितः ।
सप्त'; घ. झ. ट. 'इतो० अस्य रोदसी । सप्त'. ३ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड.
२५ 'स्पर्धे'; च. 'त्रितस्यैवार्थम्' स्या. ४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. 'वा । वैश्वदेवी ।
पङ्क्तिः । प्रातः'; च. 'वा । प्रातः' वैश्वदेवी । पङ्क्तिः. ५ क. ख. घ. झ. ट. ठ.
ड. 'निपुका. ६ ग. ज. 'घाण' नास्ति. ७ ग. 'घात् । १२ । सप्त'. ८ ग. ज.
मर्यादा । सप्त'; घ. झ. ट. मर्यादाः कवयः० धरुणेषु तस्यो । सप्त'. ९ क. ख. नीडे;
च. नीले. १० ग. ज. स्थितयः; च. स्थितयः० तीः. ११ क. ख. घ. झ. ट. ठ.
ड. तत्तदस्यापकोऽनुस्मरणार्थं ग्रन्थ'; ग. ज. तत्तदस्याख्यायकानिराकरणार्थं पुनः-
२१ रणार्थं ग्रन्थ'; च. तत्तदस्याख्यायकोऽपकोऽनुस्मरणार्थं निराकरणार्थं (य) ग्रन्थ'.

‘इत्’ इत्यनर्थकोऽप्यर्थः वा । तासां मर्यादानाम् एकामभिगच्छन्
अतिक्रामन् अहस्वान् भवति । ‘अगात्’ इत्येतत् अभेः समीपमाकृष्य
‘एकामप्यभिगच्छन्’ इति । कतमाः पुनस्ता मर्यादा इति । स्तेपं
तत्पारोहणमित्येवमाद्याः । यः पुनरेता नाभिगच्छति तस्य किमिति । स
आयोः अयनस्य सूर्यस्य स्कम्भे स्कम्भने मण्डले उपमस्य सर्वभूतोपनि- ५
र्मातुरादित्यान्तरपुरुषस्य नडे मिलये स्थाने यानि धरुणानि धारयितुणि
स्थानानि अप्रखंडीनि आभूतसंप्रवस्थायांनि तेषु तस्थौ तिष्ठति । आह ।
कस्मिन् काले इति । उच्यते । पथां विसर्गे विषयानुप्रवेशमार्गभूतानामि-
न्द्रियाणां विसर्गे विसर्जनकाले प्राप्ते । मृत्युकाल इत्यर्थः । मर्यादासंब- १०
न्धात्स्पष्टतर एव निगम इत्येतौ द्वितीय उपात्तः । स्मृतिसमाचारश्चानेन
प्रतिविशिष्ट उपदर्शितो भविष्यति । एवं मन्त्रेभ्य एवोपश्रुत्य सर्व एव समा-
चारो विशिष्टैः स्मृतिकारैः संच्यो न स्वतन्त्रैरिति ॥

‘वत इति निपातः खेदानुकम्पयोः’ । ‘वत’ (११२) ।
इत्यनवगतमनेकार्थं च । ‘निपातः’ इति पदजात्यवधारणम् । ‘खेदा-
नुकम्पयोः’ इत्यर्थवचनम् ॥ २७ ॥

वतो वतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम् । अन्या
किल त्वां कस्येव युक्तं परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् (ऋ० सं०
१० । १० । १३) ॥ वतो बलादेतीतो भवति दुर्बलो वतासि यम
नैव ते मनो हृदयं च विजानीमोऽन्या किल त्वां परिष्वक्ष्यते २०
कस्येव युक्तं लिबुजेव वृक्षं लिबुजा व्रततिर्भवति लीयते विम-
र्जन्तीति व्रततिर्वरणाच्च संयनाच्च ततनाच्च वाताप्यमुदकं भवति
वात एतदाप्यापयति । पुनानो वाताप्यं विश्वश्चन्द्रमित्यपि निगमो

१ पं. झ. ट. ठ. डं. अगात्. २ क. स. प. झ. ट. ठ. ड. निष्ठयने. ३ ग.
ज. ‘भीन्याहृतव’; प. ‘भीन्याहृतव’ मू. ४ प. काले । उच्यते इति. ५ प. ‘ज. २५
विसर्जने काले. ६ ग. ज. ‘त्यतोहरादादिति’. ७ क. स. प. झ. ट. ठ. ड.
‘व्यतीत्येवं’; प. ‘व्यतीत्येवं’ ती. ८ कं. स. प. झ. ट. संतन्त्र इति; ठ. स्वतन्त्र
इति निरुक्तीवापां पञ्चाप्याये सप्तविंशतिः खण्डः; ड. स्वतन्त्र इति । २७ खण्डः ।
९ क. स. ४ (२७); ग. ११ (३०); इत्येवमशौ नास्ति. १० छं. त. द.
वडादिति. ११ छ. त. ‘व्रततीति. १२ कं. स. छ. सयना’; त. हयना’ श. १३

भवति । वने न वायो न्यधायि चाकन् । वन इव वायो वेः
 पुत्रश्चायन्निति वा कामयमान इति वा वेति च य इति च चकार
 शाकल्य उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यदसुसमाप्तश्चार्थो रथर्यतीति
 सिद्धस्तत्प्रेप्सु रथं कामयत इति वा । एष देवो रथर्यतीत्यपि
 ५ निगमो भवति ॥ २८ ॥

इति पष्ठाध्यायस्य पञ्चमः पादः ॥

वतो वतोसि । यमी यमं ब्रवीति । दुर्बलो बत दुर्बलहृदयस्त्वम् । अर्ध-
 र्मेभीरुर्मोहमयस्त्वमेवमसकृन्मया प्रार्थ्यमानः खेद-
 ३० 'वत' मुपयासि नेच्छसि मया संमोक्तम् । स त्वं सर्वथा
 क्षानुकम्प्यः । शोष्य इत्यर्थः । अथवा । नैव
 ते तव मनः संकल्पं हृदयं हृद्रतं हृद्रतमप्यवसायं च
 विजानीमः । अथवा । लब्धस्ते मयामिप्रायः । अग्न्या किल त्वां मत्तो विशि-
 ष्टतरा योषित् परिष्वङ्क्ष्यते । ततः किल त्वं मां तयापहतचेतस्त्वानेच्छसि
 १५ परिष्वक्तम् । कथं च पुनरग्न्या त्वां परिष्वङ्क्ष्यते । कक्ष्येव युक्तं लिबुजेव
 वृक्षम् । कैक्षजातेव सुवृद्धा लिबुजा वल्ली यथा युक्तम् आत्मना संयुक्तं
 समीपजं परिष्वजेत्परिवेष्टयेदेवं किल त्वामग्न्या परिष्वङ्क्ष्यत इति । एव-
 मत्र प्रकरणाविरोधाद् बत इत्येव निपातः खेदानुकम्पयोः । अत्र 'कक्ष्येव
 युक्तं लिबुजेव वृक्षम्' इत्येक 'इव' शब्दोऽनर्थकः । अथवा । उपमानद्वयमेव
 २० स्यात्कक्ष्येव च लिबुजेव च । यथा कक्ष्या च लिबुजा च परिष्वजनीया-
 वशवृक्षौ परिष्वजेते एवं परिष्वङ्क्ष्यत इति ।

'वाताप्यम्' (११३) इत्यनवगतम् । 'उदकं भवति' इत्यभिधे-
 यवचनम् । वातो ह्युदकम् औप्याययति शीती-
 'वाताप्यम्' करोति । अथवा आप्यायतिर्द्वयार्थः स्यात् । पुरो-
 २५ वातेन हि वृष्टिभूतमुदकं संवर्धते । 'नू नो
 रयिमुपं भास्वं नृवन्तं पुनानो वाताप्यं' विश्वध्वन्द्वम् । प्र धेन्द्रितुरिन्द्रो

१ उ. त. द. भवति । धेनुं व० । २ ड. य. घ. 'इति ०० पादः' नास्ति.
 ३ प. स. ट. वतासि यम० जेव वृक्षम् । यमी०, ठ. ड. वतासीति । यमी०.
 ४ ग. ज. संकल्पा हृद० । ५ घ. स. ट. ठ. ड. कक्षं कक्षजा० । ६ ग. ज. 'नीया-
 वृक्षौ. ७ ग. च. ज. अप्या०. ८ ग. संवर्धयते । १४ । नू०; ज. संवर्ध-
 यते. ९ ग. भास्व नृवन्तं पु । नोष०; ज. भास्व । नोष०; घ. स. ट. भास्व० वसु-
 ३२ र्गमप्यात् । नोष०.

तार्यायुः प्रातर्मधु धियावमुर्जगम्यात्' (ऋ० सं० ९ । ९३ । ५) ॥

नोधसो गौतमस्यैयमार्षम् । पावमानी सौमी । हे सोम नु नः क्षिप्रम-
स्माकं रयिं धनम् उपमास्व उपनिर्मिलुहि नृवन्तं पुत्रपौत्रैः सहितं पुनानः
पूयमानो वाताप्यम् उदकं प्राप्य द्रवीभूतः चन्द्रं चायनीयमुदकं विश्वः च
सर्वः पूयमानः । किंच । प्रतारि प्रतीणं दीर्घं कुरु हे इन्द्रो सोम वन्दितुः
स्तोतुः आयुः । किंच । तथोपमास्व यथा प्रातः नित्यमेव धियावसुः
कर्मवसुः इन्द्रः त्वां पातुमस्माकम् आजगम्यात् । आगच्छेदित्यर्थः । एव-
मत्र 'वाताप्यमुदकम्' अर्थाविरोधाच्छब्दोपपत्तेश्च ॥

'चाकन्' (११४) इत्यनवगतम् । 'चायन्निति वा कामयमान
इति वा इति शब्दसमाधी । 'वने न वायो

'चाकन्' न्यधायि चाकञ्चुचिवां स्तोमो भुरणावजीगः ।

यस्येदिन्द्रः पुरुदिनेषु होता नृणां नयो नृतमः

क्षपावान्' (ऋ० सं० १० । २९ । १) ॥ वसुक्लृप्त्येयमार्षम् । वने न

वने इव वृक्षे इव शकुनिः स्वे नीढे वायम् आत्मीयं पुत्रं न्यधायि निद-

धाति शिशुकम् अजातपक्षम् । स यथा तत्र निहितः चाकन् पश्यन्

भवादितो निरीक्षमाणः आसीदधवा कामयमानः तदुत्सुकमना आसीत्

एवमयमस्मासु वृक्षस्य नीढभूतेषु शकुनिपुत्रभूतः शुचिः व्यपगतसर्वदोषः

शुभयोः स्वभूतः स्तोमः हे भुरणो भर्तारावश्विनौ शीघ्री वा । भुरप्युरिति

क्षिप्रनाम (निघ० २ । १५) इति । किंच । यस्य स्तोमस्य पुरुदिनेषु

बहुष्वहःसु इन्द्रो होता इन्द्रोऽप्याहता भवति ममायं स्तोमः स्यादिति ।

किंलक्षणः पुनरिन्द्र आहता । यो नृणां नृतमो मनुष्याणामपि मनुष्य-

तमः । शूराणामपि मध्ये शूरतम इत्यर्थः । नर्यश्च नृम्यो हितः । यः

क्षपावान् च रात्रिपर्यायेषु सोमभागी । एवंगुणयुक्तेन यः स्तोम इन्द्रे-

णापि प्रार्थ्यते अस्मासु वर्तमानः स युवां प्रति अजीगः । नित्यकालमेव

गच्छतीत्यर्थः ।

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'इयं' नास्ति. २ ग. अ. तथा वृक्षस्य. ३ क. ख.
घ. ङ. ट. ठ. ड. 'वा' नास्ति; च. वा. ४ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'वा इति'
नास्ति. ५ ग. 'माधी'. १५ । वने'. ६ ग. अ. चाकन्. वसु'; घ. ङ. ट.
चाकन्. नृतमः क्षपावान्. वसु'. ७ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'मार्षम्'. देन्द्री ।
विदुर्. वने'; च. मार्षम् । - वने' देन्द्री । विदुर् ।

एवं तावदेतामृचमाश्विनीमिति कृत्वा व्याचक्षते । तदसाधु । ऐन्द्रे हि

प्राकृतविवरण-
स्यासाधुत्वे कारणम् सूक्ते प्रथमैवेयं भवति । तच्च पुनः पृष्ठपस्य षष्ठेऽ-
हनि स्तोमे वर्धमाने माघ्यन्दिने सवने ब्राह्मणा-
च्छंसिनः शस्त्रे विनियुज्यते (आश्व० श्रौ०

॥ १२) । हे मुरण्यौ भर्तारौ देवता-

ना पती य एष स्तोमोऽस्मिन् निहितः शुचिः व्यपगतदोषः शकुनिपुत्र
इव यने वनावयवे वृक्षे चाकन् पश्यन्निव कामयमान इव वा ईन्द्रम् आस्ते ।
यस्य स्तोमस्य किमिति । यस्येन्द्रः पुरुदिनेषु बहुष्वहःसु आहता अभू-
दपि नाम भामनेन स्तोमेन स्तुरारितः । किलक्षणः पुनराहता यस्येन्द्र

१० इति । नृणां नृत्तमः नर्यश्च क्षपावांश्च । समानमेतत्पूर्वार्णोर्धेन । यमेवमिन्द्रः
प्रार्थयते स एष स्तोमस्तं प्रत्यजीगः । गच्छतीत्यर्थः । अथवा । स एष
स्तोमोऽस्माभिरुदीर्यमाणस्तस्येन्द्रस्य गुणान् गृह्णातीति स्यात् । ' जिर्ग-
र्तिर्गृह्णातिकर्मा ' इति द्युक्तम् (निर० ६ । ८) । एवमत्र ' चाकन् '
इत्यस्य ' चायन् ' इति कामयमानः इति वा ' इत्येतौ विपरिणामादुपपद्येते
१५ शब्दसारूप्यादर्थाविरोधाच्च ।

एतस्मिन्निगमे पदविभागतः कश्चिद्विचारोऽस्ति । समाह माघ्यकारो

' वेति च य इति च चकार शाकल्यः ' इति ।

अस्यामृचि

वा इति य इति च पदे चकार शाकल्यः पद-

' वायम् ' इति यत्पदं

कारः । तदेतद्विचार्यमाणं न साधु भवति । किंका-

१० तःसंबद्धो विचारः

रणम् । ' उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यत् ' । एवम्

एतस्मिन् पदद्वये सति यदेतत् आख्यातं ' न्यधायि '

इत्येतत् उदात्तमभविष्यत् । यदुच्चारणस्य नित्यमाख्यातस्य निघातो न भव-

तीति लक्षणविदो मन्यन्ते । न चेदमुदात्तम् । तस्मात् ' यः ' इति नेदं

यदुत्तम् । किं तर्हि । ' वायः ' इत्येकमेव पदम् । किंच । ' अमुसमासार्थः '

१५

अपुष्कलः । एवमेतस्मिन् पदद्वये सति मन्त्रार्थोऽमुसमासो भवति । कथम् ।

द्विपदत्वे हि सति वानन्दस्यार्थेन केनचिद्विवृतव्यम् । न चेह विकल्पः

१ क. ख. प. झ. ट. ठ. ड. ' वेत्युभयवति. २ ग. ज. इन्द्रनाभे. ३ क. ख.
प. झ. ट. ठ. ड. यः स्तोमस्तस्य किं. ४ क. ख. प. झ. ट. ठ. ड. पूर्वो-
वाधेन; च. पूर्वोवाधेन ' नेवा. ५ प. ट. यनेवतिदः मां; ठ. ड. यनेवनेनेन्द्रः मां.
६ ग. च. ज. निगतिं गृह्णा. ७ ग. ज. विधानो. ८ क. ख. प. झ. ट. ठ.
११ ड. मन्त्रस्यार्थो.

समुच्चयो वा कश्चिदर्थोऽस्ति । स्यादेतदुपमार्थो भविष्यतीति । तदपि न
संभवति नकारेणोपमार्थस्य कृतत्वात् । 'यः' इत्यस्यापि पृथग्भूतस्य न
कश्चिदर्थोऽस्ति । तस्मादाख्यातस्यानुदात्तत्वादर्थसंभवाच्च द्विपदत्वे 'वायः'
इत्येतदेकपदमेव । 'शकुनिपुत्रः' एव चास्याभिधेय उपपद्यते ।

'रथ्येति' (११५) इत्यनवगतम् । 'रथं हर्षति' इत्यवगमः । ५

हर्षतिशब्दो हि प्रेप्तायाम् (निघ० २ । ६) ।

'रथ्येति' 'रथं' हि यः 'कामयते' स रथ्येति ।

'एष देवो रथ्येति पर्वमानो दत्तस्तीति । आवि-

ष्कृणोति यन्वनुम्' (ऋ० सं० ९ । ३ । ६) ॥ शुनःशेषस्वार्थम् । पाव-

मानी सौमी । प्रावस्तुत आवापे (आश्व० श्रौ० ५ । १२) । एष सोमो १०

देवो रथ्येति रंहेणमात्मनो गमनमिच्छति । पर्वमानो दत्तस्यति दानमा-

त्मन इच्छति कथं नाम मां देवेभ्यो दद्युरिति । किंच । आविष्कृणोति प्रकाशी-

करोति यन्वनुं वाचो वननीयं दत्त मां देवेभ्य इति । एवमत्र 'रथ्येति

रथप्रेप्सुः' शब्दसारूप्यादिर्लुप्यपद्यते ॥ २८ ॥

एकादशस्य पञ्चमः पादः ॥ १५

पष्ठः पादः ।

धेनुं न इपं पितृवतमसंक्राम् । असंक्रमणीम् । आधव
आधवनात् । मतीनां च साधनं विप्राणां चाधवमित्यपि निगमो
भवत्यनवग्रहोऽनवशिष्टवचनः । विजेषकृदिन्द्र इवानवग्रह इत्यपि १०
निगमो भवति ॥ २९ ॥

१ प. स. ट. ठ. ड. 'मार्थे'. २ प. स. ट. ठ. ड. 'वतीति नरः'. ३ ग. ज.
'रथ्येति'. ४ क. ख. ज. घ. स. ट. रथ्येति; ग. रथ्येति । १५ । १५; ठ.
ड. रथ्येति. ५ प. स. ट. 'रथ्येति' यन्वनुम् । शुनः. ६ ग. ज. स्याति । शुनः. १५
७ क. ख. प. स. ट. सौमी । प्रावत्री । आश्वः. ८ घ. 'रथ्येति' रथः. ९ क.
ख. प. स. ट. ठ. ड. 'रूप्यादेनदुप'. १० ग. २१; इत्येवमत्रो न विद्यते. ११ क.
ख. 'यते । अश्वकाभिः'; ठ. ड. 'यते । इति निरुक्तभाष्ये निरुक्तपञ्चाशयेन षड्
एकादशाध्याये पञ्चमः पादः । इत्यष्टाभिःशतैः खण्डः. १२ क. ख. ड. 'मनीम्'.
५ । इति (द. इति नेरुक्तस्य) पञ्चाध्यायस्य पञ्चमः पादः; छ. त. 'मनीम्' । १३ ।
पञ्चमः पादः (त. 'चतुर्थः पादः' इति शब्दोऽस्ति इति) . १३ क. ख. १
(२९) ; छ. त. २९; द. १.

‘असक्राम्’ (११९) इत्यनवगतम् । ‘असंक्रमणीम्’ इति

शब्दसमाधिः । ‘पुरु हि वां पुरुभुजां देष्णं

‘असक्राम्’ धेनुं न इयं पिन्वतमसक्राम् । स्तुतश्च वां माध्वी

सुष्टुतिश्च रसांश्च ये वामनु रातिमगमन्’ (ऋ० सं०

५ ६।१३।८) ॥ भरद्वाजस्यैषम् । प्रातरनुवाकाश्विनयोः शंस्यते (आश्व०

धौ० ४।१५) । पुरु हि वां बहु देष्णं दानं युवाम्यां यज्ञे यस्मात्

हे पुरुभुजा बहुभोजिनौ अश्विनौ तस्माद्युवां ब्रूमः । धेनुं नः तर्प-

यन्तीमस्मभ्यम् इषम् अन्नलक्षणं पिन्वतं प्रक्षारयतम् असक्राम् असंक्रमण-

शीलाम् अनपायिनीमस्मत्तः । अथवा । असंक्रमणशीलां वाम् ईव इषम्

१० इषो हेतूदकमस्मदर्थं प्रक्षारयतमिति स्यात् । किं पुनः तद्युवयोर्बहुदानमिति ।

स्तुतश्च स्तुतशस्त्रैवांश्च सोमो युवयोरन्नं हे माध्वी मधुपौ । सुष्टुतिश्च

शोभन्तभिः स्तुतिभिः सुष्टु स्तुतः । रसाश्चाग्न्यादयः य एते राति पुरो-

डाशस्यानुगच्छन्ति । सर्व एते युवयोरेव । तस्माद्युवां ब्रवीमि पिन्वतमिति ।

एवमत्र शब्दसारूप्यादर्थाविरोधाच्च ‘असक्राम्’ इत्यस्य शब्दस्य ‘असं-

१५ क्रमणीम्’ इत्येव विपरिणाम उपपद्यते । इडभिधेया वीर्था ।

‘आधवः’ (११७) इत्यनवगतम् । ‘आधवनात्’ इत्यवगमः ।

‘आधवः’ आकम्पनादित्यर्थः । मंसीमहि त्वा वर्यमस्माकं

देव पून् । मतीनां च सार्धनं विप्राणां चाध-

यम्’ (ऋ० सं० १०।२६।४) ॥ विप्रेन्द्रस्यैषम् । मंसीमहि त्वा

२० १ ग. ज. असंक्रामिणीं; च. असंक्रामिणीम्. २ ग. मापिः. १७। पुरु.

३ ग. ज. भुजा । भरः; घ. झ. ट. भुजा देष्णं० मनु रातिमगमन् । भरः.

४ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. स्यार्षम् । त्रिष्टुप् । आश्विनी । प्रातः; स्यार्षम् -

प्रातः त्रिष्टुप् । आश्विनी । ५ ग. झ. ब्रूमः; च. ब्रूयः० ६ क. ख. घ. झ. ट. तर्प-

यित्रीम्; ग. तर्पयति तर्पयित्रीमीम्; ज. तर्पयितर्पयित्रीमीम्; च. तर्पयन्तीं यित्री;

२५ ठ. ड. तर्पयित्री अस्वन्. ७ क. ख. ग. ज. यन्तम्. ८ च. ईव; इतोऽु ईव

मासि. ९ ग. झ. निषेते. १० ग. ज. शर्ववां; च. शर्ववां स्त्र. ११ क.

ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ष्छति. १२ क. ख. वीर्वा ॥ ५॥ इति निष्कृष्टो पद्या-

दशाध्यायस्य (पद्याध्यायस्य) पञ्चमः पादः. १३ ग. स्यर्थः. १८। मंसी.

१४ ग. झ. वयं विमः; घ. झ. ट. वयं० नां वायवम् । ऐन्द्रस्य विमः. १५ क. ख.

घ. झ. ट. ठ. ड. ऐन्द्रस्य विमः; च. - विमः ऐन्द्रस्य. १६ क. ख. घ. झ. ट.

२१ ठ. ड. स्यार्षम् । अनुष्टुप् पौष्णी । मं; च. स्यार्षम्. - मं० अनुष्टुप् । पौष्णी.

हे पूयन् देव मतीनां च प्रज्ञानामस्याकं साधयितारम् । आदियेन हि
प्राणिनां प्रज्ञा अभिष्यज्यन्ते । किंच । ये चान्येऽपि विप्राः प्राप्तप्रज्ञा
मेधाविनः तेषाम् आधवम् आकम्पयितारम् । स्वयमेव तथा त्वमात्मनो
गुणयत्तां दर्शयसि यथा श्रोतृकम्पमानद्वेषास्ते त्वां स्तुवते । एवमत्र शब्द-
सारूप्यादर्थाविरोधाच्च 'आधवः आकम्पयिता' इत्युपपद्यते ।

'अनवग्रवः' (११८) इत्यनवगतम् । 'अनवक्षितवचनः'

इत्ययममः । 'विजयेकृत् इन्द्र इवानवग्रवो ३-

'अनवग्रवः' स्माकं मन्यो अधिषा भवेद् । प्रियं ते नाम सद्दे-

गुणीमसि विद्या तमुत्तं यत् आबभूय (ऋ० सं०

१० । ८४ । ५) ॥ मन्योरर्पम् । मन्त्रवे सूक्ते । इत्येनादिषु निष्केवर्णे

शास्यते (आश्व० श्रौ० ९ । ७) । विजयेकृत् विजयकृत् इन्द्रः इव

अनवग्रवः इन्द्र इवानवक्षितवचनः । न हीन्द्रस्य केनचिदाक्षिपते वचः ।

हे मन्यो यत्स्वमनवाक्षितवचन इन्द्र इव स त्वमस्याकम् अधिषाः अधि-

ष्टाय पाता भव । किंच । हे सहुरे शत्रूणां सहनशील प्रियं ते यत् नाम

तेन त्वां गुणीमसि । नित्यमेव स्तुम इत्यर्थः । किंच । विप्र जानीमो वयं

तमुत्तम् उत्तयन्दनं यतः त्वम् आबभूय । आभवसीत्यर्थः । एवमत्र

शब्दसारूप्यादर्थाविरोधाच्च 'अनवग्रवोऽनवक्षितवचनः' इत्युपपद्यते ।

'सदान्वे' (११९) इत्यनवगतम् । 'सदानोनुवे' इति शब्द-

समाधिः ॥ २९ ॥

अरायि काणे विक्रंते गिरिं गच्छ सदान्वे । शिरिभिर्गण्डस्य
सत्त्वभिस्तोभिष्टा चातयामसि (ऋ० सं० १० । १५५ । १) ॥

१ क. ल. घ. झ. ट. ठ. ड. 'अपि' नास्ति; ग. ज. 'न्येऽपि विगतप्रज्ञाः.
२ ग. 'गमः' । १९ । विजे०. ३ ग. ज. झ. 'मन्यो'; घ. झ. ट. इवा० यव
आबभूय । मन्यो०. ४ क. ल. घ. झ. ट. ठ. ड. 'पार्थम् विदुर् । मान्य'; घ. २५
'पार्थम्' । 'मान्य' विदुर् । ५ घ. झ. ट. ठ. ड. 'वस्ये सूक्ते श'; घ. 'वस्ये'
सं सूक्ते. ६ ग. ज. 'हे सहुरे शत्रूणां सहनशील' नास्ति; घ. 'किंच - प्रियं'
हे सहुरे शत्रूणां सहनशील. ७ क. ल. 'ये । १ (२१) । तदा'; ठ. ड.
'यते । इति निरुक्तरीत्या यदाप्याये एवोपनिषत्प्रकृतः. ८ ग. २० । १२;
इत्येवमत्र नास्ति.

- अदायिनि काणे विकटे काणोऽविक्रान्तदर्शन इत्यौपमन्यवः
 कणतेर्वा स्यादणूभावात्कर्मणः कणतिः शब्दाणूभावे भाष्यतेऽनुकण-
 तीति मात्राणूभावात्काणो दर्शनाणूभावात्काणो विकटो विक्रान्तग-
 तिरित्यौपमन्यवः कुटतेर्वा स्याद्विपरीतस्य विकुटितो भवति गिरि-
 गच्छ सदानोनुवे शब्दकारिके । शिरिम्बिठस्य सत्त्वंभिः । शिरि-
 म्बिठो मेघः शीर्यते विठे विठमन्तरिक्षं विठं वीरितेन व्याख्यातं तस्य
 सत्त्वैरुदकैरिति स्यात्तैर्वा चातयामोऽपि वा शिरिम्बिठो भारद्वाजः
 कालकर्णोपेतोऽलक्ष्मीनिर्णोशयावकार तस्य सत्त्वैः कर्मभिरिति
 स्यात्तैर्वा चातयामश्चातयतिर्नाशने पराशरः पराशीर्णस्य वसि-
 १० ष्ठस्य स्थविरस्य जज्ञे । पराशरः शतयातुर्वसिष्ठ इत्यपि निगमो
 भवतीन्द्रोऽपि पराशर उच्यते पराशातयिता यातूनाम् । इन्द्रो
 यातूनामभवत्पराशर इत्यपि निगमो भवति क्रिविर्दती विक्र-
 तनदन्ती । यत्रा वो दिष्टुद्रदति क्रिविर्दतीत्यपि निगमो भवति
 करुळती कृत्तदती । अपि वा देवं कंरितुकृत्तदन्तं दृष्ट्वैवम-
 १५ चक्षत् ॥ ३० ॥

अरायि काणे विकटे । शिरिम्बिठस्य भारद्वाजस्पर्धम् । दुर्भिक्षाधि-
 देयतेष्यते कालकर्णा वा अलक्ष्मीः । हे अरायि
 'सदान्वे'
 अदायिनि दुर्भिक्षाधिदेयते । अथवा । हे अउक्षिम् ।

- १० दुर्भिक्षोपनिषादितानां न दाने मतिः प्रभवति
 नाप्यलक्ष्माभिभूतानाम् । काणे । दुर्भिक्षेण दौर्भूतानां मान्द्यं चक्षुषा-

- १ त. 'अतेर्बुठ' नु २ क. ख. छ त द. 'भवात्कणो'. ३ छ. त. द.
 'विपरीतस्य' नास्ति. ४ छ. त. द. 'विठमन्तरिक्षं' नास्ति. ५ क. ख. त. द.
 'लक्ष्मीनिर्णोश'; छ. 'लक्ष्मी निर्णोश'. ६ छ. त. द. 'परा' नास्ति. ७ क. ख.
 २१ छ. त. द. करुळती. ८ छ. त. द. 'अपि वा' दक्षत्' नास्ति. ९ क. ख. २
 (३०); छ. त. २३; द. २. १० क. ख. काणे. चातयामसि । शिरि'; प.
 स. ट. काणे विकटे. चातयामसि । शिरि'; ठ. ड. काय इति । शिरि'. ११
 क. ख. प. स. ट. ठ. ड. 'शर्मा'. अनुष्टुप् । दु'. १२ ग. न. काष्ठगर्भा.
 १३ क. ख. प. स. ट. ठ. ड. दुर्भिक्षेण पीडित'; च. दुर्भिक्षोऽपि' छेग १४
 १५ ग. न. स्वतेव'.

भवत्यत्राभावात् । अलक्ष्मीपञ्चेऽपि तद्ग्रा अलक्ष्मीरिति प्रतीयते । 'लोकेऽपि'
या विरूपा भवति अलक्ष्मीरिति सोच्यते । 'विकटो' दुर्मित्ये दुर्बलत्वादि-
कटोव प्राणिनां गतिर्भवति । अलक्ष्मीरपि तद्ग्रा । गिरिं गच्छ । मात्राव-
स्थानं कार्यः । सदाम्ने सदानोनुवे शब्दकारिके । 'दुर्मित्ये हि क्षुब्धीदृताः
प्राणिनो निःश्वासन्तः सदैव शब्दं कुर्वन्ति । अलक्ष्मीरपि तद्ग्रा । पिशाचादीनि
नित्यमभ्यक्तं शब्दं कुर्वन्ति । पिशाचाद्या हि शृणु नमुनायन्तस्थेति लोके
यकारो भवन्ति । एतत्प्रसिद्धम् । शिरीष्वठस् मेघस्य स्वभूतैः सत्वभिः
उदकैः । 'सत्वम्' इति ह्युदकनामसु पठितम् (निघ० १ । १२) ।
तैर्हृदयैर्वयं त्वां चातयामः । चातयतिर्नाशने प्रसिद्धः । प्रचातिस्त इति हि
लोके श्रूयते । चतति पततीति गतिकर्मसु पठि.म् (निघ० २ । १४) ।
मेघोत्थैरेव ह्युदकैर्दुर्मिक्षं नाशये । 'अथ वा शिरीष्विच्छे भारद्वाजः ।
तस्य सत्त्वैर्नामभिः' । तेन यानि दृष्टानि नामानि संभवनसमर्थाणि स्तुति-
संयुक्तानि तैर्वयं त्वां नाशयामः । एवमत्र शब्दार्थाविवेधात् 'सदाम्ने'
इत्यस्य 'सदानोनुवे' इत्येव निपरिणाम उपपद्यते ।

निगमप्रसक्तान्यधुनोध्यन्ते । रातीति दातीति दानरूपमु पठिः (निघ०
३ । २०) । तस्य प्रतिषेधपूर्वस्य 'अरायि' इति भवति । 'कणतिः
शब्दगुणाभावे भाष्यतेऽनुकणतीति । मात्राणूमायात्कणः' इयमात्कारिः ।
तत्सामान्यात् 'दर्शनगुणावाकर्षणः' । अथवा 'काणो विक्रान्तदर्शनः
इत्योपमन्यवः' । विक्रान्तं हि तस्य दर्शनं भवत्येतीभूतवात् । 'अवि-
क्रान्तदर्शनः' इति वा मन्दचक्षुष्ट्वत् । 'विकटो विक्रान्तगतिः' ।
विक्रान्तगतिरित्यर्थः । 'अथवा कुट्टोः घातोः स्यात्' । असौ हि
'विकृष्टो भवति' । कुर्वीभूत इत्यर्थः । 'त्रिष्ठम्' इत्यपठितमन्त-
रिक्षनाम । तत्पुनरेतत् 'वीरेटेन व्याख्यातम्' । तत्र ह्युक्तम् 'वीरेट-
मन्तरिक्षं भियो वा भासो वा ततिः' (निरु० ५ । २८) । तस्मिन्

१ क. ख. घ. ट. 'वि च दा; च. 'वि-या' च. २ ग. ज. निः स्वन्तः
च. निःस्वन्तः' च. ३ ग. ज. पिशाचो मुणुन मुनयं तथा (ग. २७) ति लोके;
च. पिशाचोणन मुनायंतस्थनि लोके. ४ ग. च. ज. 'यनिर्नाशने. ५ घ. स. ट.
ठ. ड. अतती'. ६ क. ख. 'इति राति इति'; घ. ट. ठ. ड. 'दातीति' नास्ति.
७ च. पठितः' तं. ८ ट. 'त्रिष्ठः' त्रि. ९ घ. ट. ठ. ड. 'त्येष्टम्' १० क. ख.
घ. स. 'कुर्वीभू'; ट. कुर्वीभू' ज्ञी. ११ क. ख. घ. स. ट. ठ. ड. 'नामसु.
१२ क. ख. स. अत्र; घ. ट. ठ. ड. अत्र.

‘ विटे ’ यः ‘ शीर्यते ’ सः ‘ शिरिम्बित्ये (१२०) मेघः ।
 ‘ अपि वा शिरिम्बित्ये भारद्वाजः ’ । सोऽनेन सूक्तं ‘ अलक्ष्मीर्निर्नाश-
 यांचकार ’ इति निदानमन्वाख्यातम् । अद्यापि योऽलक्ष्माभिभूतो भवति
 स आस्यदन्न उदकेऽवतीर्य सूक्तमेतज्जपति । तस्यालक्ष्मीर्निर्नश्यति ।

५ ‘ पराशरः ’ (१२१) इत्यनवगतमनेकार्थं च । ‘ पराशीर्जः ’
 इत्यवगमैः । ‘ प्र ये गृहादममदुस्त्वाया पराशरः
 ‘ पराशरः ’ शतयातुर्वसिष्ठः । न ते भोजस्य सख्यं मृपन्ताधा
 सूरिभ्यः सुदिना व्युच्छन् ’ (ऋ० सं० ७ ।

१८ । २१) ॥ वसिष्ठस्यार्षम् । ऐन्द्रे सूक्ते । प्रकर्णेण ये अममदुः तृप्त-

१० वन्तः सोमेन हृष्टवन्तो वा यज्ञेषु हे इन्द्र त्वाया त्वया सह पराशरः च
 शतयातुः बहूनां रक्षसां यातयिता । तेन हि रक्षोघ्नं सत्रमाहृतमासीदिति
 भारते ध्रुयते । वसिष्ठश्चेत्येवमादयः । किं तेषामिति । न ते भोजस्य भोगिनः
 तव सख्यं सखिभावं मृपन्त मार्जयन्ते । नाशयन्तीत्यर्थः । अथैवंगुणयुक्तेभ्यः
 सुदिना शोभनानि दिनानि व्युच्छन् । विभान्तीत्यर्थः । तेषामेव सुप्रभाता

१५ रात्रय इत्यभिप्रायः । एवमत्र ‘ ऋषिः पराशरो ’ वसिष्ठसंबन्धात् ।

‘ इन्द्रोऽपि पराशर उच्यते ’ । स हि परितः ‘ शातयिता यातूनां ’
 यातयितव्यानामसुरादीनामिति । ‘ इन्द्रो यातु-
 इन्द्रोऽपि पराशरः नामभवत्पराशरः ’ (ऋ० सं० ७ । १०४ ।
 २१) इति । व्याख्यातः शेषः (निरु० ३ । २०) ।

२० ‘ क्रिविर्दत्ता ’ (१२२) इत्यनवगतम् । ‘ विकर्तनदन्ती ’ इत्यव-
 गमैः । ‘ ययं न उग्र मरुतः मुचेतुनारिष्टप्रामाः
 ‘ क्रिविर्दत्ता ’ सुमतिर्पिपर्तन । यत्रा यो दिष्टुर्दति क्रिविर्दत्ता
 रिणाति पदः सुधितेव बर्हणा ’ (ऋ० सं०

१ । १६६ । ६) ॥ अगस्त्यस्यार्षम् । जगती । हे मरुतः । उद्गूर्णाः

२५ १ ग. ‘ लक्ष्मीं निर्नाश ’; च. ‘ लक्ष्मीं निर्नाश ’; ज. ‘ लक्ष्मीं निर्नाश ’. २ क. ख.
 झ. ‘ शीर्ग इत्य ’ ३ ग. ‘ मयः । २१ । म. ’. ४ ग. ज. ‘ गृहादममदुः । वसि ’;
 घ. झ. ट. ‘ गृहात् व्युच्छन् । वसि ’. ५ क. ख. घ. झ. ट. उ. ड. सुक्ते ।
 विष्टुर्, मरुतः; च सुक्ते । ‘ ययं ’ विष्टुर्, ६ क. ख. घ. झ. ट. उ. ड. ‘ केम्पस्येभ्यः
 सूरिभ्यः सुदिना ’; च. ‘ केम्पः - सुदिना ’ तेष्यः सूरिभ्यः. ७ ग. ‘ गवः । १२१ । ययं ’.
 २० ८ ग. ज. ‘ मरुतः । अगस्त्यः; घ. झ. ट. ‘ मरुतः । बर्हणा । अगस्त्यः ’.

अरिष्टप्रामाः अनुपहंसितसंघाता युष्मत्समाकं सुचेतुना शोभनेन प्रज्ञाने-
न एतां सुमतिं शोभनां मतिं पिपर्तनं पूरयत प्रीणयत वा । केन पुनः पू-
रयत कुतो वा पूरयेति । यत्रा वो दियुत् यत्र यस्मिन् मेघे दियुद् आयुधं
क्षितं युष्मभित्तयेव मेघं रदति विलिखति विदास्याति वर्धार्थम् । किल-
क्षणा पुनर्दियुदिति । किर्विर्दती विकर्तनसमर्थेर्दन्तैर्या रदति । कथं पुनर्या
रदति । रिणाति पञ्चः सुधितेवेति । यथा पशोरङ्गानि निरिणाति पृथक्क-
रोति सुधिता स्वधित्या बर्हणा परितृद्धया हिंसया । एवं यस्मिन् मेघे दियुद्
अस्ता रदति ततः प्रभयेनोदकेन सुमतिमस्माकं पिपर्तनं । एवमत्रार्थावि-
रोधादायुधं किर्विर्दतीशब्देनोच्यत इत्युपपद्यते ।

‘करुळती’ (१२३) इत्यनवगतम् । ‘कृतदती’ इत्यवगमः ॥ ३० ॥

१०

वामं वामं त आदुरे देवो दंदात्वर्यमा । वामं पुषा वामं भगो
वामं देवः करुळती (ऋ० सं० ४ । ३० । २४) ॥ वामं वन-
नीर्यं भवत्यादुरिरादरणात्तत्कः करुळती भगः पुरस्तात्तस्यान्वा-
देश इत्येकं पूषेत्यपरं सोऽदन्तकोऽदन्तकः पूषेति च ब्राह्मणम् ।
दनो विशं इन्द्रं मृधवाचः । दानमनसो नो मनुष्यानिन्द्र मुदु-
वाचः कुरु । अवीरामिव मामयं शरारुरुभि मन्यते । अवलामिव
मामयं बालोऽभिमन्यते संशिशरिपुरिदंयुरिदं कामयमानोऽथापि
तद्ददर्थे भाष्यते । वसूयुरिन्द्रो वसुमानित्यत्रार्थः । अश्वयुर्गव्यरथः
सुर्वसूयुरिन्द्र इत्यपि निगमो भवति ॥ ३१ ॥

१५

१०

‘वामं वामं तै’ । वामदेवस्वार्थम् । ऐन्द्रे सूक्ते । रात्रिपर्याये प्रशस्तः

शस्त्रे विनियुक्ता (आश्व० श्रौ० ६ । ४) ।

‘करुळती’

वामं वामं त इति भूयस्त्वार्थोऽभ्यासः । ‘अभ्यासे

भूयस्त्वर्थं मन्यन्ते’ इति हि वक्ष्यति (निरु०

२५

१० । ४२) । यत्सुप्तं वननीयम् इष्टं च तत्र धनं तत्तत् हे आदुरे

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. पालयत वा; च. प्रीणय" फल. २ क. ख.
ग. च. न. प. ट. करुळती. ३ क. ख. २ (३०); ग. २३ । २३; ठ. ड.
‘गमः’ इति निरुक्तभाष्ये पञ्चाध्यायं त्रिंशत् खण्डः. ४ क. ख. छ. त. द. करुळती.
५ ड. य. घ. तदर्थे; छ. तदर्थे द. ६ क. ख. छ. त. द. ‘इन्द्रः’ नास्ति.
७ क. ख. ३ (३१), छ. त. ३४; द. ३. ८ घ. ङ. ट. त आदुरे. देवः
करुळ (ट. छ) ती । वामं; ठ. ड. वामं त इति । वामं. ९ क. ख. घ. ङ.
ट. ठ. ड. सूक्ते । अश्वयु. । रा; च. सूक्ते । १० अश्वयु. ।

३२

- आदरयन् यजमान । स हि यागं प्रति नित्यमादृतो भवेतीत्यत एवं संबो-
ध्यते । हे आदुरे वामं ददात्वयमा । यदर्यग्णो वामं वनर्नयम् इष्टमात्मनो
धनं तदसौ त्वयं ददातु । किंच । वामं पूषा ददातु । वामं भगो ददातु ।
वामं देवः करुळैती ददात्वित्येतदेवानुवर्तते । ' करुळैती ' इत्येतद्रुणपद-
५ स्वात्संदिश्यते । ' तत् ' एतद्विचार्यते । ' कः करुळैती ' इति । भगः पुरः
स्तात् ' करुळैतीशब्दस्य । ' तस्य ' ऐगोऽयम्
कः करुळती ' अन्यादेशः ' संनिधानसामर्थ्यात् । ' इत्येकम् '
आचार्यमतम् । ' एतेत्यपरम् ' । किं कारणम् ।
' सः ' हि पूषा ' अदन्तकः ' । आह । कुत एतदिति । उच्यते । ' अदन्तकः
१० एवेति च ब्रह्मणम् ' । प्राशित्रभाग्न ह्मणे हि श्रूयते । ' तत्पूष्णे पर्याज-
हुस्तः पूषा प्रःश्नात्तस्य दतो निर्जघान तस्मादहुरदन्तकः पूषा ' (शत०
ब्रा० १ । ७ । ४ । ६) । इति । यत् पुनरेतदुक्तं संनिधिसामर्थ्या-
द्भगः करुळैती स्वादित्यकारणमेतत् । ' यस्य येनार्थसंबन्धो दूरस्थमपि तस्य
सत् । अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्धमकारणम् ' इति न्यायविदः पठन्ति ।
१५ तस्मात्पूषैव करुळैती इत्युच्यते शब्दसत्त्वादर्शोपपत्तेर्येति ।

' दनः ' (१२४) इत्यनवगतम् । ' दानमनसः ' इत्यवगमैः ।

' दनो विश्वं इन्द्रं मृध्वाचः सप्त यत्पुरः शर्म

' दनः ' शारदीर्दत् । ऋणोऽनववाण्यां यूनं वृत्रं

पुरुकुत्साय रन्धीः ' (ऋ० सं० १ । १७४ ।

- २० २) ॥ अगस्त्यस्यार्थम् । हे इन्द्र दनो दानमनसः एतान् अस्मभ्यं
विशो भनुमान् कुरु मृदुवाचः । कस्मत्पुनरेवमुच्यते । इतो यस्मात्त्वं
सप्त सृताः पुरः भेषपुरः शारदीः शरत्कल्लेत्थाः संवत्सरोत्था वा । संवत्स-
रोऽपि शरदित्युच्यते ' स जीव शरदः शतम् ' इति लिङ्गात् । शर्म मुख-
मिच्छन् जनानां दर्तृत्वं दारयासि च । किंच । अनववाण्यां अनदयोदकाः साः

५५ १ क. ख. ग. च. ज. घ. ङ. करुळती. २ क. ख. घ. ङ. करुळती; ग. च.

ज. करुळती. २ ग. ज. ' इति ' नास्ति; च. करुळती. भगः इति. ४ क. ख.

घ. ङ. ट. ठ. ड. एवार्थः. ५ ग. ' भगः ' । ६ ग. ज. इन्द्रः ।

अगः. ७. ८. इन्द्रं कुत्साय रन्धीः । अगः. ७ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड.

कुरु मृध्वाचो मृदुः; च. कुरु मृदु मृध्वाचः. ८ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड.

१० ' धे ' नास्ति. १ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. ' च ' नास्ति; च. च.

पुरः ऋणोरपेः गमितवानसीमं लोकं प्रति अपः । स्वभाव एवैष तव
लोकाननुप्रेक्षी । मित्यभिप्रायः । किंच यूने वृत्रम् । यौनिः स्तुत्यर्थः । स्तोत्रे
यजमानाय पुरुकुसाय बहुस्तुतिकर्त्रे वृत्रं धनं रन्धीः । संपादितवानसी-
त्यर्थः । यत एवमुपकारैर्ब्रवृत्तो भवान् स्तोतृणामन्येषां च जनानां तस्मा-
द्ब्रह्मोऽस्माकमन्येतन् मृदुवाचः कुरु मनुष्यानि । एवमत्र 'दनः' इत्ये- ५
तस्मिन् पदे दक्षरे 'दानमनसः' इत्येतान्यक्षरप्यप्य इतानि भाष्यकारेण
नकारश्च स्मर्योगे विभज्योदाहृतस्तथार्योपपत्तिदर्शनात् । 'कुरु' इत्ये-
तच्चार्थपरिसमप्यर्थमध्याहृतम् । उत्तराश्रयः पादा हेतुभावेन 'सप्त
यत्पुरः' इत्येतस्मात्सर्वनामसंबन्धात् ।

'शरारुः' (१२५) इत्यनवगतम् । 'संशिशरिपुः' इत्ययमैमः । १०

'अवीरामिव मामयं शरारुमिव मन्यते । उताह-

'शरारुः' मरिम धीरेणीन्द्रपत्नी मरुसखा विश्वस्मादिन्द्र

उत्तरैः (भा० सं० १० । ८६ । ९) ॥ इन्द्रपत्न्येव ब्रवीति । अधी-

रामिव अपरिमहामिव अबलामिव मामयं शरारुः बालो मूर्खः संशिशरिपुः

संशर्तुमिच्छन् । शरीरं तिस्रुरित्यर्थः । अभिमन्यते । अभिभविष्याम्ये १५

तामित्येवमभिमन्यते क्षुद्राश्च युद्धा नहुषोऽन्यो वा कथित । नहुषेण हीन्द्रा-

ण्यभिभवितुमारब्धासीदित्याख्यानं श्रूयते । उताहमस्मि धीरेणी । अथ

च तावदस्मि धीरेण्येव । केन च पुनर्वारेण धीरेणी । इन्द्रपत्नी इन्द्रस्याहं

पत्नी । मरुसखा य इन्द्रः सर्वस्मय उत्तरो जगत उद्यततरः प्रमोषेण स

मैम धीरः । तदयं बालो न ब्रवीते येन मामभिभवितुमिच्छतीत्यभिप्रायः । २०

एवमत्र 'शरारुः संशिशरिपुः' शब्दसारूप्यादर्थोपपत्तेश्च ।

'इंदयुः' (१२६) इत्यनवगतमनेकार्थं च । इदमिति यत्किंचिद-

भिप्रेतं निर्दिश्यते । तद्यः कामयते स इंदयुरि-

'इंदयुः' ल्युच्यते । 'युः' इत्येष शब्दोऽप्रसिद्धः काम-

यतेरर्थः । तेनानवगतमेतत् । 'नानाधियो वसूयवः' (निरु० ६ । ६) २५

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'रपगनि'. २ क. ख. ग. घ. ज. घ. ङ.

ठ. ठ. ड. 'उपशितु'. ३ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'कोरे प्र'. ४ क. ख. घ. ङ.

ठ. ठ. ड. इत्यस्मिन्. ५ ग. 'गमः'. २५ । अवी'. ६ ग. ज. मां । इन्द्रा'.

घ. घ. ट. मामयं । इन्द्रः उत्तरः । पङ्क्तिन्दी । इन्द्रा'. ७ च. उत्तरः । इन्द्रा'.

पङ्क्तिन्दी. ८ ड. उत्तरः । पङ्क्तिन्दी । इन्द्रा'. ८ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड.

'पत्न्येव ब्र'. ९ च. मूर्. 'पत्नी'. १० क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. घे. ११ क.

ख. घ. ङ. मन्यते; ट. मन्यते' बुध्य; ठ. ड. मन्यते बुध्यो. . . १२

इत्यभिप्रायः । ' प्रमदको वा ' । नित्यप्रमुदितोऽपि विषयपरः प्रमगन्दः स्यात् । ' पण्डको वा ' । नपुंसकः प्रमगन्दः स्यात् । तयोर्वापि धनानि क्रियामु न विनियुज्यन्ते । शब्दसारूप्यं च प्रमगन्दशब्द उभयोरस्ति तस्मात्तावद्युपपद्यते । नैच.शाखं मववन्नधया नः । यदेतेषामन्यतमस्य नीचोः

- ५ शाखाप्रसूतस्य नीचवंशप्रसूतस्य हीनकुलस्य धनं तत् हे मघवन् शीघ्रं रन्ध्रं संस्थापय । अस्मदंशं कुर्वित्यर्थः । एवमत्र ' कीकटाः किं-कृताः ' किमेते कृता इत्येवमभिप्रायाद्वारमर्हन्ति न तैः कश्चिदर्थोऽस्ति । न ते देवपितृमनुष्याणामुपकारं कुर्वन्तीत्यर्थः । अथ ' वा । किं क्रियामिरेति ' एवं ' प्रेप्ताः ' । ते नास्तिका एवमभिप्राया इत्यर्थः । एतस्माच्छब्दसारूप्यदर्थोपपत्तेश्च ' कीकटा ' अनर्थदेशनिवासिन इत्युपपद्यते ।

- १० ' मगन्दः कुसीदी ' इत्युच्यते । स हि ' माम् ' इयादद्यतनोऽर्थोऽयं च आगमिष्यतीत्येवमनुचिन्त्य परेभ्यो धनानि ' ददाति ' । ' तदप्यं प्रमगन्दः । अत्यन्तवृत्तिर्दिकुलीनः ' । तद्वितार्थे प्रमगन्दः ' प्रस्कण्डः ' इति यथा (निरु० ३ । १७) । ' प्रमदकः ' प्रमोदशीलः । १५ ' अयमेव ' एको ' लोकांस्ति न पर इति ' एवं प्रेप्ताः । नास्तिकः । ' पण्डकः ' तृतीयाप्रकृतिः । स हि पण्डं गच्छति स्त्रीरूपत्वात् । ' प्रार्दकः ' इति ' वा ' स्यात् । प्रकर्षेण ह्यसौ ' अर्दयर्ग्यण्डो ' । अशीतोः स्त्रीत्वेन गच्छति । ' अण्डो ' कस्मात् । तौ ' आण्डौ आणी इव व्रीडयति ' । तौ ह्यसौ पण्डको मुखेन मेथुने कर्मणि वर्तमान आणी इव व्रीडयति । संस्तभातीत्यर्थः ।

- २० ' बुन्दः ' (१२८) इत्यनवगतम् । ' इयुर्भवति ' इत्यभिधेयवचनम् । ' भिन्दे ' वा भयशो वा भासमानो द्रवतीति वा इति शब्दसमाश्रयः ॥ ३२ ॥

१ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'अग्नि' नास्ति. २ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'नीचशा'. ३ च. हीनस्य कुल'. ४ च. संश. राधय. ५ ग. च. ज. एवमे°. ६ घ. ङ. ट. ठ. ड. 'कुषीदकु'; च. 'कुषीदकु' व. ७ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'तायं प्रः प्रम'. ८ ग. ज. प्रमद°. ९ ग. ज. पण्ड. १० क. ख. ग. ज. 'आण्डौ' नास्ति; च. 'यनि ~ । अस्मा' आण्डौ. ११ क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. 'शानैः सह स्त्री'; च. 'शानैः ~ स्त्री' सह. १२ च. तौ-आणी° आण्डौ. १३ ठ. त्यर्थः । इति नेरुके षष्ठाध्याये द्वाविंशतलण्डः ३२ । बुन्दः; ड. 'त्यर्थः'; इति. निरुक्टीकायां षष्ठाध्याये ३२ लण्डः । बुन्दः. १४ क. ख. ४ (१२); ग. १२ २४ (२५); इतोऽण्डो नास्ति.

तुविक्षं ते सुकृतं सुमयं धनुः साधुर्बुन्दो हिरण्ययः । उभा ते
बाहू रण्या सुसंस्कृत ऋदूषे चिद्वृष्ट्या (ऋ० सं० ८ । ७७ । ११) ॥
तुविक्षं बहुविक्षेपं महाविक्षेपं वा ते सुकृतं सुमयं सुसुखं धनुः
साधयिता ते बुन्दो हिरण्यय उभौ ते बाहू रण्यौ रमणीयौ सांग्राम्यौ
वर्दूषे अर्दनपातिनौ गमनपातिनौ शब्दपातिनौ दूरपातिनौ वामर्मण्य- ५
र्दनवेधिनौ गमनवेधिनौ शब्दवेधिनौ दूरवेधिनौ ॥ ३३ ॥

‘तुविक्षं ते सुकृतं’ ‘निरविध्यद्विरम्यः’ इति कुस्तुतेरार्यमेतद्वा-
द्वयम् । हे इन्द्र तुविक्षं ते बहुविक्षेपं बहूनां
‘बुन्दः’ विक्षेपाणां सोढुं । सुकृतम् । शोभनानि हि १०
तेन कर्माणि क्रियन्ते । तदेव वा शोभनं
कृतम् । सुमयं च सुखकरं सुदृशम् । किं पुनस्तदिति । धनुः । किंच । साधु-
र्बुन्दो हिरण्ययः । साधयिता स्तोमानां शत्रुसंघातानां वा । बुन्दः इष्टः ।
हिरणीयः । हिरण्यविकृत इत्यर्थः । किंच । उभा ते बाहू उभावपि ते
व ह १०११ रमणीयौ स्वायती पीनौ च । अथवा । रणयोभ्यौ रणे । सुसंस्कृतौ १५
समलंकृतौ । ऋदूषे अर्दनपातिनौ । अर्दनेन हि गमनेन क्षेपणेनेष्टु । तौ शत्रून्
पातयतः । ऋदूष्या । ‘ऋदु’ इति मर्मोच्यते । तत्र यौ विन्ध्यैनां तौ
ऋदूष्यौ । मर्मवेधिनोर्विषयः । भाष्यमत्र न सम्पागिव लक्ष्यते । तस्य सम्पक्
पाठोऽन्वेष्यः । ततो योज्यम् । एवमत्र धनुःसंघातः ‘बुन्दः ईर्षुः’ । इदं
सम्पत्फुटतरमुदाहरणम् ॥ ३३ ॥ १०

१ छ त. द. बहुविक्षं. २ छ. त. द. ‘ण्यौ’ नास्ति. ३ छ. त. द.
‘शाम्यावर्द्ध’. ४ छ. त. द. सायणश्च ‘शब्दपातिनौ दूरपातिनौ’ नास्ति ५ छ. त.
द. सायणश्च ‘शब्दपातिनौ दूरवेधिनौ’ नास्ति. ६ क. ख. ५ (३३); छ त.
३६; द. ५. ७ घ. झ. ट. कृतं ० चिद्वृष्ट्या । निराविध्यदिति च कुठ; द.
ड. ‘कृतमिति । निराविध्यदिति च कुठ. ८ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘द्वयम्’ २५
रेन्द्री । सतो बृहती पूर्वा गायत्र्युत्तरा । हे. ९ ग. घ. ज. ‘क्षेपणं सोढुं’ (च.
सोढुं टु). १० क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. येन. ११ घ. ट. ठ. ड. ‘हिरण्ययः’
नास्ति. १२ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘रण्यौ’ नास्ति. १३ घ. झ. ट. ठ. ड.
विध्यतः. १४ क. ख. इष्टः । ५ (३३) । इदं; ठ ड. इष्टः । इति निरेक्तभाष्ये
पठान्याये त्रयसिंशत्खण्डः (ड. ‘खण्डः ३३) । इदं. १५ ग. २९ (३६);
इतोऽन्वयो नास्ति.

निराविध्यद्विरभ्य आ धारयत्पकमोदनम् । इन्द्रो बुन्दं
स्वाततम् (ऋ० सं० ८ । ७७ । ६) ॥ निरविध्यद्विरभ्य
आधारयत्पकमोदनमुदकदानं मेघम् । इन्द्रो बुन्दं स्वाततम् । बुन्दं
बुन्देन व्याख्यातं वृन्दारकश्च ॥ ३४ ॥

५

निराविध्यत् । बहूनां मेघानां मध्ये यः पको मेघः उदकदान-
समर्थः तम् इन्द्रः निरविध्यत् । विद्वत्वा च
तस्यैवान्यदुदाहरणम् तावत् आधारयत् अदारयत् यावन्निरुदकः संवृत
इति । कथं पुनर्निरविध्यदिति । बुन्दं स्वाततं

- १० श्वाकृष्टम् आकर्णाकृष्टम् । एवमत्राकर्षणसंबन्धात् ' इषुबुन्दः ' इत्युपपद्यते ।
' वृन्दम् ' (१२९) इत्येतत्परं ' बुन्देन ' एव ' व्याख्यातम् ' ।
' वृन्दम् ' अस्यापि हि ता एव व्युत्पत्तयो या बुन्दशब्दस्य ।
' वृन्दारकः ' ' वृन्दारकश्च ' बुन्देनैव ' व्याख्यातः ' ।
इती वृन्दारकः प्रकरणवशाद्वाच्यः कश्चित् ।

- १५ ' किः ' (१३०) इत्यनङ्गातम् । ' कर्ता ' इत्यङ्गातः ॥ ६४ ॥

अयं यो होता किरु स यमस्य कमप्युदे यत्समञ्जन्ति देवाः ।
अहरहर्जायते मासिमास्यथा देवा दधिरे हव्यवाहम् (ऋ० सं०
१० । ५२ । ३) ॥ अयं यो होता कर्ता स यमस्य कमप्यु-
२० देऽन्नमभिवहति यत्समञ्जन्ति देवा अहरहर्जायते मासे मासेऽ-
र्धमासेऽर्धमासे वाथ देवा निदधिरे हव्यवाहमुल्लभून्तिर्दृणोनेवा ।

१ क. ख. ६ (३४) ; छ. त. ३७ ; द. ६. २ घ. स. ट. ' च्छाद्विरि०
बुन्दं स्वाततम् । ऐन्द्री गायत्री । बहू' ; छ. ड. ' ध्यादिति । ऐन्द्री । गायत्री ।
बहू' । २ ग. ज. बहून् । ४ क. ख. घ स. ट. ठ. ड. ' दाने रुम' । ५ क. ग.
घ. झ. ट. ठ. ड. निरवि' । ६ घ. झ. ट. ठ. ड. ' तावदाधारयत् ।
आ अदार' । ७ क. ख. ' धित् । ६ (३४) । ' किः' ; छ. ड. ' धित् । इति
निष्कभाष्ये पष्ठाध्याये चतुर्लिंग सण्डः (छ. सण्डः ३४) । अयं यो' । ८ ग.
१८ ३७ । ३० ; इतरेणश्चो नास्ति । ९ क. ख. छ. त. द. कल्पमन्त्रि' ।

महत्तदुल्लं स्थविरं तदारादित्यपि निगमो भुवत्पृथ्वीसमपगतर्भा-
समपहतभासमन्तर्हृतभासं गतभासं वा ॥ ३५ ॥

अयं यो होतो । सौचीकस्याग्नेर्विश्वेषां देवानां संवादसृक्तं तत्रेयं विश्वे-
देवानामार्यं महत्तदुल्लम् (ऋ० सं० १०।५१।१)।

‘किः’ इतीर्यं चै । योऽयम् अग्निः आह्वाता देवानां पृथि-
वीस्थानः । किं तस्येति । किं स यमस्य । कर्ता

यमस्य भगवत आदित्यस्य । अग्नेर्ह सकाशाप्रातरादित्यः प्रसूयते । तदुक्तम्
‘एष प्रातः प्रसूयति तस्मत्प्रातर्नोपतिष्ठन्ते’ (मैत्रा० सं० १।५।७) इति ।

‘यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे’ इत्यस्यामृचि यमस्वमादित्यस्य वक्ष्यति (निरु०
१२।२९) । किंच । कमप्यह् । कमप्यन्नमभिवहति । कमित्यन्ननाम ।

अन्नमपि चापमेवाभिवहति । कतमत् । यत् एतद्विर्लक्षणं समञ्जन्ति
समभन्ति देवाः । अङ्गीतिरत्र प्रकरणरताद्भोजनार्थः । किंच । अपमेव अह-

रहः अहन्यहन्यग्निहोत्रिणां गृहेषु उद्धोष्यमनो महान् जायते । मासि मासि
जायते पितृयज्ञेषु अर्धमासे चार्धमासे च दर्शपूर्णमासेषु । यस्मादेवंगु गवि-

शिष्टोऽयमग्निः अथ एतस्मात्कारणादेतमग्निं सर्वे देवा निदधिरे हव्यवाहम् ।
हविषां वेदारमित्यर्थः । एवमत्र शब्दसारूपात् ‘यमस्य’ इत्येतस्माच्च

पठोयोगात् ‘किः’ इत्यस्य ‘कर्ता’ इत्येव विपरिणाम उपपद्यते ।
‘उल्लम्’ (१३१) इत्यनवगतम् । ‘ऊर्णोतेः’ इति धातुनि-

र्देशः । ‘ऊर्णम्’ इति तैत्तिर्यत् । ‘वृणोतेर्वा’ स्यात् । तेन हि गर्भं
आहृतो भवति । ‘महत्तदुल्लं स्थविरं तदारा-

‘उल्लम्’ देवानां विहितः प्रविशेतिथापः । विश्वा अग्नेर्ह-
इवा ते अग्ने जातवेदस्तन्वा देव एकः (ऋ०

सं० १०।५१।१) ॥ महत्परिमणतः तदुल्लं जरायु आसीत् । स्थविरं

१ ‘भासमप्यचित्ताभासमप्य’ सायणभाष्ये । २ सायणभाष्ये ‘अजर्दितभासं’ नास्ति ।

३ क. ख. ७ (३५); छ. ३८; द. ७. ४ क. ख. घ. झ. ट. होता ० हव्य-

वाहम् । सौ; च होम किः । सौ; ठ. ड. होतेति । सौ. ५ घ. झ. ट. ठ.

ड. घ । त्रिभावाग्नेय्यौ । यो. ६ घ. झ. ट. ठ. ड. स एव कर्ता. ७ म. ज.

अजन्ति; घ. ट. ठ. ड. अजति. ८ म. ज. झ. ‘अर्धमाने’ लङ् १० क.

स. घ. झ. ट. ठ. ड. ‘हेषु च. १० म. घ. ज. ‘अग्निः तथेत. ११ क. ख. घ.

झ. ट. ‘तत्’ नास्ति. १२ म. भवति । १३ मह. १४ म. ज. ‘दुल्लं स्थविरम् ।

मह’; घ. झ. ट. ‘दुल्लं स्थविरं तदुल्लम् ० जातवेदस्तन्वा देव एकः । मह’; ठ.

ड. ‘दुल्लमिति मह’. १४ घ. ‘प्रविशेतिथाप’ ये. १५ घ. इत्यत्.

चिरंतनं च तदांतीत् येन त्वम् आवेष्टितः आवृतो हे भगवन्मग्ने प्रविवेशिथ
प्रविष्टयानसि पूर्वम् आदिसर्गे अपः । किंच । विद्याः सर्वाः तन्वः तव हे
ज्ञातवेदो बहुधा अनेकेष्वभिधानेषु वर्तमानाः अपश्यत् एको देवः प्रजा-
पतिः । कोऽयस्त्वव तन्नानामन्तं वेत्तुमर्हतीत्यभिप्रायः । एवमत्र जरायु 'उत्त्व'-
शब्देनोच्यत आवेष्टनसंबन्धादित्युपपद्यते ।

‘ ऋषीसम् ’ (१३२) इत्यनवगतम् । ‘ अपगतभासम् ’ इत्ये-
वमाद्याः शब्दसमाधयः । ‘ पृथिवी ’ अभिवेषा । सा हि कृष्णच्छया ।
तस्मादपगतभासाभिव्येवमाद्याः शब्दसमाधय उपपद्यन्ते ॥ ३५ ॥

- १० हिमेनाग्निं घ्नंसमवारयेथां पितुमतीर्णमूर्जमस्मा अधत्तम् । ऋषींसे
अग्निमश्विनावेनीतमुन्निन्यधुः सर्वगणं स्वस्ति (ऋ० सं० १ ।
११६ । ८) ॥ हिमेनोदकेन ग्रीष्मान्तेऽग्निं घ्नंसमहरवारयेथामन्न-
वतीं चास्मा ऊर्जमधत्तमग्नये योज्यमृषींसे पृथिव्यामग्निरन्तरौ पृथि-
वनस्पतिष्वप्सु तमुन्निन्यधुः सर्वगणं सर्वनामानं गणो गणनाहु
१५ णश्च यदृष्ट ओपधय उद्यन्ति प्राणिनश्च पृथिव्यां तदश्विनो रूपं
त्रेनैनौ स्तौति स्तौति ॥ ३६ ॥
इति षष्ठाध्यायस्य षष्ठः पादः ॥

- हिमेनाग्निं घ्नंसमवारयेथाम् । कक्षीवत आर्षम् ।
१० ‘ ऋषीसम् ’ प्रातरनुवाकाश्विनयोः शरयते (आश्व० श्रौ०
४ । १५) । हे अश्विनौ हिमेन उदकेन अभिमष्टुं
ग्रीष्मान्ते अग्निं घ्नंसम् अहर्लक्षणम् इगोल्लोकान् दिक्षश्चन्तमिव युवाम् अवार-
येथाम् । वारयित्वा च पितुमतीम् अन्नवतीं पुरोह शायन्नमहिताम् ऊर्जम्
अव्यलक्षणां युवाम् अधत्तम् अस्मै अग्नये हविर्भाजे वर्धनुमहर्षिकयौ पृथि-

- २५ १ च. प्रविवेशि° ने; व. ट. ठ. ड. प्रविवेशि प्रविष्ट°. २ क. ख. घ. झ. ट.
ठ. ड. कोऽन्वस्तत्तव. ३ ठ. ड. 'षो'. ३५ (ठ. '३५' नास्ति) । इति
निष्कर्षः षष्ठाध्याये षड्विंशत् षष्ठः । ऋषी°. ४ क. ख. उ (३५) ; ग.
३८ । ३२ ; इति षष्ठो नास्ति. ५ क. ख. ८ (३०), छ. त. ३ ; द. ८ । ४२.
६ ३. इति नैष्ठिके षष्ठा° ; द. घ. प. छ. त. 'इति० पादः' नास्ति. ७ द. पादः
समाप्तः. ८ घ. झ. ट. 'नाग्निं मग्ने० सर्वगणं स्वस्ति । ऋषी° ; ठ. ड. 'नाग्नि-
मग्निः । ऋषी° . ९ क. ख. घ. झ. ट. ठ. ड. आर्षम् । विष्टुः । आश्विनी ।
३२ प्रातः°. १० क. ख. झ. 'वेनातिथः' ; घ. ट. ठ. ड. 'वेनातिथः'.

निष्पत्त्या । किंच । ऋचीसे अत्रिपदित्रनावनीतम् । युवामेव हे अश्विनौ योऽगम्
 ऋचीसे पृथिव्याम् अग्निरनुप्रविष्टोऽन्तर्येनेमानि पृथिवीगर्भेऽपि निहितानि
 तिन्द्रुकादीनि पच्यन्ते यमवेत्युक्तम्, ' ऋचीसपक्वं नार्धयात् ' (मान०
 श्रौ० १।५।६।१४) इति तमुज्जिन्यधुः युवामोपध्यायन्तर्वा-
 तिनमोपध्यादिरूपेणैव सर्वगणं सर्वनामानम् । अग्निरेव ह्यगमनेनोपध्या-
 दिरूपेणावस्थितः सर्वेर्नोमभिरभिधीयते अग्नेः सर्वत्रोपपत्तिदर्शनात् ।
 कं पुनरर्थं पुरोधायोज्जिन्यधुरिति । स्वस्त्ययनायास्य जगतः । ओपध्यायमा-
 वेन हि सर्वमेव जगदिनेह्नुवाति । एवमत्र ' ऋचीस' शब्देन पृथि-
 व्युच्यते ।

' गणो गणनात् ' । स हि गण्यते बहुसंयोगात् । ' गुणश्च ' ।
 गुणोऽपि गणनादेव । असावपि हि गण्यत एव द्विगुगुणगुग इति ।
 निगमप्रसक्तमेतदुक्तम् । अधुनास्य मन्त्रस्य माध्यकारः समस्तार्थमाह ।
 ' यद्वष्ट ओपधय उच्यन्ति प्राणिनश्च पृथिव्यां तदश्विनो रूपम् ' ।
 सोऽश्विनोरधिकारस्तदश्विनोर्भाहाभाष्यम् । ' तेन ' महाभाष्यमलक्षणेन
 रूपेण ' एतौ ' अश्विनौ मन्त्रद्वक् स्तोति ' ॥ ३६ ॥
 एकादशस्य षष्ठः पार्दः ॥

इति श्रीजम्बूवर्माश्रमवासिन आचार्यभगवद्गुरुस्य कृतौ
 ऋजुर्योषा निरुक्तस्तोत्रवेकादशोऽध्यायः ॥

स्वमग्नेऽलौतृणउदेवृहाजोऽसउपलंपसिणीर्कारुहमस्मेतेश्वर्यन्त-
 श्वाथेवंहि सोमं नस्वरणमिन्द्रो सोमार्कैणुपपजस्तो अश्वरेऽस्ति हि-

१ प. स. ट. ड. सर्वत्रोपपत्तिदं; ट. सर्वत्रोपपत्तिदं पप. १ च. किं पुं कं.
 २ क. स्व. प. स. जम्बूवर्माश्रमवासिन; ट. जम्बूवर्माश्रमवासिन विद्वद्वाति; ठ. ड. जगद्-
 भक्ष्यत. ४ च. महाभाष्यं. ५ प. स. ट. ठ. ड. स्तोति स्तोति. ६ क. स्व. ८ (१६);
 ग. २९; इत्येवमत्रो नास्ति. ७ ठ. ड. इति निगमप्रसक्तमाध्यकारेण तद एकादशानिद्रुका-
 ध्यायस्य षष्ठः पार्दः । इति श्री. ८ ग. 'पादः । यद्वष्टोपधयः । इति जम्बू'; च.
 ज. 'पादः । समाप्तवेकादशोऽध्यायः । ग्रन्थमन्त्रः १५५६ । अग्निमोपध्याये
 व्यासपातजम्बूः १७० । एवमप्यायपटके जम्बूः ४६० पूर्वे जम्बूः स्या । इति
 नेरक्तः ग. 'पूर्वार्धः समाप्तः (ज. ' इति समाप्तः) नास्ति । इति जम्बू'. १ ग.
 निरुक्तदीपिकायापेक्षः; च. म. निरुक्तदीपिकायापेक्षः. १० क. स. च. ज.
 '१५५६ः समाप्तः.

५

१०

१५

२०

२५

३२

वोऽसूतसूतैर्ध्वोच्छासृप्तस्तु जेतुं जेतो^{३२} अस्मा^{३३} अस्मो^{३४} इदुत^{३५} तन्न^{३६} स्तुरीपहि-
 नोता^{३७} भ्रामा^{३८} त्वानपा^{३९} पासो^{४०} र्यव^{४१} वृकेण^{४२} जीर्वो^{४३} भ्रवतो^{४४} त्रिता^{४५} सिधे^{४६} नुनो^{४७} ऽरी-
 यिकाणे^{४८} वीमं^{४९} वामं^{५०} किंते^{५१} विक्षंते^{५२} निरी^{५३} विध्य^{५४} दयं^{५५} योहि^{५६} मे^{५७} नार्नि^{५८} पट्त्रिंशत् ।

इति निरुक्ते पूर्वपट्ठे पष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इति निरुक्तपूर्वार्धः समाप्तः ॥

टिप्पणी ।

- पत्रे पाङ्क्तिः
१ अथ किमर्थं । च. वज्रं सर्वेषु पुस्तकेषु प्रारम्भे ' आदितः पाणिनीयं तु ' इत्यादिलोकद्वयं वर्तते । तन्प्रक्षिप्तमिव भाति । यस्मात् पाणिनीयं शिक्षेत्यादिक्रमो भाष्यक्रमाद्भिन्नः । शिक्षा छन्दः कल्पो उपोतिर्व्याकरणं निरुक्तमिति भाष्यक्रमः । श्लोके तु व्याकरणं शिक्षा उपोतिश्छन्दः (ग. पुस्तके छन्दःस्थाने कल्पः) निघण्टुपञ्चाध्यायी निरुक्तमिति । भाष्यक्रमे निघण्टोर्निर्देशोऽपि नास्ति । रुद्रायेति चतुर्थी सदैवैव येतो नमःप्रसङ्गे चतुर्थ्यधिकृता । अत्र द्वितीयैव भाष्यम् । श्लोकरचना सर्वथा संदोषा । महलकार्यम् ' अय'शब्दे- नैव निवृत्तं स्यात् । च. पुस्तके इदं श्लोकद्वयं पत्रस्योपरितनमागे भिन्नाक्षरैर्भिन्नमस्या च लिखितम् ।
- ८ प्रतिनियतः अर्थः प्रयोजनं स एव विषयः तस्मिन् वृत्तिः । अङ्ग- स्याङ्गस्य भिन्नं प्रयोजनं भिन्नो विषयः । तत्रैव तस्य प्रवृत्तिः । भिन्नैः प्रयोजनैर्वेदमास्फुटन्ति = वेदार्थं विशदीकुर्वन्ति ।
- ९ ' अत्मा युद्धा समर्थार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया ' । समर्थ्य = अवगम्य ।
- ११ ' मारुतस्नूरसि चरमन्दं जनयति स्वरम् । प्रातःसवनयोगं तं छन्दो गायत्रमाश्रितम् । कण्ठे माष्यंदिनयुगं मध्वमंत्रैष्टुभानुगम् । तारं तार्तीय- सवनं शीर्षण्यं जागतानुगम् ' (पा० शि० ७-८) ।
- १२ स्वरसौष्टवम् = स्वरः उदात्तादिः । ' सुतीर्थार्थगतं व्यक्तं स्वास्नायं सुव्य- स्थितम् । सुस्थरेण सुस्वरेण प्रयुक्तं ब्रह्म राजते ' (पा० शि० ५१) ।
- १३ अपूर्वं पुण्यं तस्य अङ्गभाषाय साहाय्याय ।
- १५ ' इन्द्रशत्रुः ' इत्यत्र स्वरभेदेन विग्रहो द्विप्रकारः । इन्द्रस्य शत्रुः । अथवा । इन्द्रः शत्रुः (शातयिता) यस्य । इन्द्रश्चतुः पुत्रं विध- म्पात्य जघानेति त्वष्टा सोमयागे इन्द्रं नोपाह्वयत् । इन्द्रश्च यज्ञविघ्नं कृत्वा वयाम्भोमं पीत्वा जगाम । अवशिष्टेन सोममेनेन्द्रस्याभिचारं कर्तुं त्वष्टा ' स्वाहेन्द्रशत्रुर्वधस्य ' इत्यनेन मन्त्रेणाजुहोत् । तत्र शत्रुशब्दो घातकमाचष्टे । भो उत्तरस्यमानपुरुषेन्द्रस्य घातकस्य वधस्येति विवक्षित्वा मन्त्रनुचारिन्धान् । तदानीं तत्पुरुषममाम्वाहन्तो दास्येन भक्षिष्यम । इन्द्रशत्रुवेदः शत्रुः इन्द्रः प्रवृत्तः । स च स्वः

पत्रं प्रकृतिः

१ बहुव्रीहौ समासे लभ्यः । ततश्चेन्द्रो घातको यस्येत्यर्थे पर्यवसानादिन्द्रेण यस्यां यत्र उदपद्यत (तै० सं० २।५।२) ।

१७ पठनस्य गुणा दोषाश्च शिक्षायां विस्तरेण कथिताः । ते गुणदोषा लौकिकग्रन्थपठनेऽपि समाना एव । ग्रन्थविस्तररचनानां = विस्तृत-ग्रन्थानाम् ।

१८ अक्षर० = किसंख्याकोऽक्षरसमुदायः (कोशः) श्लोके क्रियन्तः पादाः पादानां का व्यवस्था कः क्रमः । छन्दोविचितिर्नाम छन्दःशास्त्रीयो ग्रन्थः । छन्दःशास्त्रे छन्दोलक्षणानि दीयन्ते । छन्दोविचितिः = गायत्र्यादिछन्दोविशेषचनम् । इदं सर्वं पिङ्गलछन्दःसूत्रे स्पष्टम् ।

१ ' गायत्र्या वसवः ' ' जगत्या आदित्याः ' इत्यादिसूत्रैश्छन्दसां ग्रन्थेकपादेऽक्षरसंख्या निश्चीयते । त्रिपाद् गायत्री । सैवाष्टाक्षरेण चतुर्थेन पादेनानुष्टुम्भवति । षट्सप्तकाष्टकैः पादैर्नर्धमानागायत्री भवति । सैव विपरीता प्रतिप्रागायत्री भवति । गायत्रयोः पादयोर्मध्ये जागतश्चेत्पादो भवति तदा उष्णिक्कुक्षंज्ञां लभते । छन्दसां पादे पादेऽक्षरसंख्या पादानां पृथक् पृथक् विन्यासस्तेनोत्पद्यमानानि भिन्नानि छन्दासि एतत्सर्वं पिङ्गलछन्दःसूत्रैः स्पष्टीक्रियते ।

२ अर्थुकः = कलोपादनसमर्थः ।

३ यस्य मन्त्रस्य ऋषिः छन्दः दैवतं ब्राह्मणं (ब्राह्मणकृतो विनियोगः) च न ज्ञायन्ते । आर्षेयः = ऋषिभिः संबन्धः ।

४ वंश्छति = वा ऋच्छति गच्छति । ' गतं वा प्रतिपद्यते ' इति शङ्करकृत-शारीरभाष्ये (१ । ३ । ३०) ' गतं वा पात्यते प्रमीयते वां णपी-यान्भवति तस्मादेतानि मन्त्रे विद्यात् ' इति सायणभाष्यपाठः । ' छन्दो-दैवतविनियोगेन ब्राह्मणेन मन्त्रेण ' इति ' वा स रथाणुं ' इति ' पद्यते वा प्रमीयते ' इति पिङ्गलाचार्यकृतछन्दःमूत्राणां हलानुध-भट्टकृतवृत्तौ पाठाः ।

५ यातयामानि = याता यामाः क्षपांशा येषां तानि मुक्तो-क्षितानि गतर-सानि । व्यर्थानीत्यर्थः ।

७ ' लौकिकम् ' इति पिङ्गलछन्दःशास्त्रेऽधिकारसूत्रम् (अ० ४ मू० ८) । ' पादसंयानुष्टुब्धवक्रमित्यपि च ' (अ० ५, मू० ९) । ' अनुष्टुब्धवक्रः ' इति छन्दोनाम । वक्रमित्यनुष्टुब्धो विनिष्टं नाम ।

पत्रं पङ्क्तिः

२. तस्य पथ्यादयो भेदाः । तेषां लक्षणानि पञ्चमाध्याये दीयन्ते । 'अनुष्टु-
ब्बक्त्रादि' इति ठ. पाठः ।

यो ह त्वेति ब्राह्मणवाक्यमस्यपाठभेदेन सप्तमाध्यायेऽपि पाठितम्
(निरु० ७ । १) ।

९ ' इषे त्वेति छिनात्ति ' (मान० श्रौ० १ । १ । १ । १३)

' ऊर्जे त्वेत्यनुमाष्टि ' (मान० श्रौ० १ । १ । १ । १४)

१५ ' प्रयाजाः सविभक्तिकाः कर्तव्याः ' । इदं महामाष्यस्य प्रथमाह्निके

वर्तमानमवतरणम् । अस्य मूलं नोपलब्धम् । ' अग्नेऽग्नेऽग्नावग्नेऽग्नि-
नाग्नेऽग्निमग्न इति चतुर्षु प्रयाजेषु चतस्रो विभक्त्यर्थादधाति ' (आप०

श्रौ० ५ । २८ । ६) । तेनैवं मन्त्रपाठः संपद्यते । ' समिधोऽग्नेऽग्न

आज्यस्य विद्यन्तु । तन्नूतपादमावग्न आज्यस्य वेतु । इदोऽग्निनाग्न

आज्यस्य विद्यन्तु । बर्हिर्गमिमग्न आज्यस्य वेतु ' इति (तै० सं०

सायणभाष्यं १ । २ । ५) । संवृद्धिः सप्तमी तृतीया द्वितीया ।

एवं चतस्रो विभक्तयः । प्रयाजा इति केषांचिद्यागानां नाम ।

सविभक्तिकाः प्रयाजाः पुनराधेये कर्तव्याः ।

१७ दर्शपूर्णमासेष्टौ प्रकृतियागे ' अग्नये जुष्टं निर्वपामि ' इति मन्त्र

आम्नातः । स च मन्त्र ऐन्द्राग्नेष्टौ विकृतियागेऽतिदिष्टः । ॥

कर्मसमवेतार्थप्रकाशनायाम्निपदं पारित्यज्य ' इन्द्राग्निम्या जुष्टं

निर्वपामि ' इत्यहनीयः । ऊहः = मन्त्रे शब्दपरिवर्तः । ' अग्नये

जुष्टं निर्वपामि ' इत्यस्य सौर्यचरौ सूर्याय जुष्टमिन्वेयं पदान्तरप्रक्षेप

ऊहः । श्रीहीनवहन्तीत्यत्र प्रकृतानामवघातविषयाणां श्रीहीणां

परित्यागेन श्रीहिस्थानेऽवघातविषयत्वेन श्रीवाराणां प्रयोग ऊहः ।

धान्यमसि धिनुहि देवानिति मन्त्रे मांसमसि धिनुहि देवानिति धान्य-

स्थाने मांसादेश ऊहः । ऊहितुं मघ्नान् = मन्त्रेषु शब्दान्तराणि

प्रयोजितम् ।

' अध्ययनविध्यधीतानां मघ्नवाक्यानां स्वाध्यायपाठावधृतस्वरूपा-

णामर्थवशाद्रूपान्तरकरणमूहः । न प्रकृतावृहो विद्यते (प्रकृतौ लिङ्ग-

संख्याविरोधेऽपि नोद्यते इति हरदत्तटीका) । उपदिष्टमग्नौ

नोद्यन्ते । अतिदिष्टा एवोद्यन्ते । विकृतौ यथार्थमूहः (आपस्ताव-

परिभाषामूहम्) ।

पत्रं पङ्क्तिः

२ अयमूहविचारः पूर्वमीमांसायां नवमाध्याये वर्तते । तत्र प्रकृतौ विद्यमाना संख्या न विकृतौ परिवर्त्यते नापि लिङ्गमिति प्रतिपादितम् । १६ 'संख्यादयो न विवर्धन्ते' इति कुत्रसमिदं सूत्रमिति न ज्ञायते ।

१९ नान्तरायकः = व्यापकः । अवच्छेदकः । (च.ट. पुस्तकयोः 'प्रासङ्गिकः' इत्यर्थो दीयते) ।

अनन्तरेण = व्याकरणज्ञानादेव ।

३ १ अर्थाभिधानसंयोगात् मन्त्रेषु शेषशेषिभावः = गौणमुख्यभावोऽर्थज्ञानावलम्बी ।

१६ पदविभागपरिज्ञानं निरुक्तशास्त्रादेव जायत इति प्रतिज्ञा । अवबोधः अथवा तदवबोधः तेषां मन्त्राणामवबोधः अर्थज्ञानं तस्मिन् पदविभागपरिज्ञानस्यावलम्बित्वं तस्य प्रदर्शनाय ।

१७ याज्ञिकस्य अपरिज्ञानं निरुक्ताज्ञानमेव । तत् देवताया अपरिज्ञाने कलति ।

१८ मन्त्रार्थानवबोधे महाननर्थो जायत इति निश्चयोक्तिः । च. ज. पुस्तकयोः 'अनर्थो' र्थज्ञा इति पाठो दीयते । न अर्थज्ञः अनर्थज्ञः । अनर्थज्ञः कः का तस्य गतिर्भवतीति निश्चयेन कथ्यते । अधेन्वा चरतीत्यत्रानर्थज्ञस्य वेदपठनमफलं भवतीत्युच्यते ।

१९ निघण्टुसमाभ्यायविरचनस्य प्रयोजनं तस्मिन्प्रकरणे नैव कथितम् । वेदवेदाङ्गव्यूहस्य प्रयोजनं कथ्यते । सप्रयोजनः इति कदाचित् पाठः स्यात् । तच्च 'व्यूहः' इत्यस्य विशेषणं भवेत् (१२१ पत्रं १० पङ्क्तिः तथा १४३ पत्रं १७ पङ्क्तिश्च द्रष्टव्या) । प्रयोजनं = कारणम् ।

२० शब्दानामर्थेषु वृत्तयः तासु विष (श ?) यः संशयः तस्योपदेशः । बहुसंशयवत्यः शब्दानामर्थेषु वृत्तयो भवन्तीति वक्ष्यते ।

२३ अन्तस्थाः = परलब्धाः । अन्तर्धातु = धातुमध्ये । अन्तस्था अन्तर्धातु भवन्ति तन्निमित्तेन ।

२४ मायिका (भाषायां) प्रायोगिकीयेषां तेभ्यः -

२ तच्च निर्वचनोद्गहरणं व्यवस्था यस्यां तथा (व्याख्याया) ।

३ 'नामाभ्यातोपसर्गनिपातानां विभागेन' इत्यस्य न किञ्चिदप्यत्र प्रयोजनम् । अयं विभागः प्रथमाध्यायस्य १-३ पादेषु व्याख्यातः ।

पत्रं पङ्क्तिः

६ एतेभ्यो हेतुभ्यो निदानपरिज्ञानं भवतीति कथयितुम् । येन प्रसङ्गेन विशिष्टो मन्त्र श्रविर्भिर्दृश्यते स प्रसङ्गो निदानम् ।

७ अव्यात्मोपदेशः = सर्वे आत्मनो विकाराः सर्वमात्मन्यारोपितमित्युपदेशः । प्रकृतेर्भूतत्वं बाहुल्यम् अनेकधा विपरिणामः ।

११ 'स्तुत्युदाहरणं' इत्यत्रानुस्वारः प्रागादिकः (निरु० ७ । १७ वृत्तिः) ।

विषयाणामध्यायाः खण्डाश्च—

१ ११-१२ नामा० लक्षणं (निरु० १ । १॥ १ । ३॥ १ । ४) ।

१२ मानवविकारलक्षणं (१ । २) ।

१३-१५ त्रामान्यारूपाद्यन्वपीति (१ । १२-१४) ।

१५-१६ मन्त्राणामर्थ० वधारणं (१ । १५-१६) ।

१६-१७ पदविभाग० दर्शनाय (१ । १७) ।

१७ आदिमध्यान्ता० प्रतिज्ञा (१ । १७) ।

१८ अर्थद्वयप्रसङ्गा (१ । १८-२०) ।

अनर्थज्ञानवधारणं (१ । १८-२०) ।

१९ वेदवेदाङ्गव्यूहः (१ । २०) ।

सप्रयोजननिघण्टु० विभागेन (१ । २०) ।

२० नैघण्टुकप्रधानदेवता० लक्षणं (१ । २०) ।

२०-२१ निर्वचनलक्षणा० प्राधान्यात् (२ । १) ।

२१-२३ लोपोपधा० दाहरणाचिन्ता (२ । १-२) ।

२३-२४ अन्तस्था० संप्रसार्य० नोपदेशः (२ । २) ।

२४-२५ भाषिक० सिद्धिः (२ । २) ।

२५ नेगम० सिद्धिः (२ । २) ।

२ शब्दरूपद्वयुपदेशः (२ । २) ।

तद्धितसमास० लक्षणं (२ । २-३) ।

२ तिथ्यलक्षणं (२ । ३-४) ।

२-४ विशेष० नैघण्टुकप्रकरणानुक्रमणं (२ । ५ तृतीयाध्यायान्तं यावत्) ।

४ अनेकार्थनिवर्गतसंस्कारानुक्रमणं (अग्न्यायाः ४-६) ।

४-६ परोक्षकृत० मन्त्रलक्षणं (७ । १-२) ।

पत्रं पङ्क्तिः

४ ५-६ स्तुत्याशीः० निदानपरिज्ञानव्यापनाय (७ । ३) ।

६-७ अनादिष्टं प्रकृतिभूतत्वं (७ । ४) ।

७ इतरेतरजन्मत्वं (७ । ४) ।

७-८ स्थानत्रयं नामधेयप्रतिलम्भः (७ । ५) ।

८-९ पृथगाभिधानं स्तुतिसंबन्धाद्वा (७ । ५) ।

९ देवतानामाकारचिन्तनं (७ । ६-७) ।

९-१० भक्तिसाहचर्यं = आकृतानि (७ । ८-१३) ।

१०-१२ पृथिव्यन्तरेक्षं दैवतप्रकरणनिर्णयः (७ । १४ द्वादशाध्यायान्तं यावत्) ।

१२-१३ विद्यापारं द्वारेण (१३ । १२-१३) ।

१३ देवताताद्वान्यं (१३ । १३)

४ १५ निघण्टुग्रन्थस्य पञ्चाध्यायी पाणिनेरष्टाध्यायीसदृशी ।

५ १५ तस्या निघण्टुपञ्चाध्याय्या इयं द्वादशाध्यायी भाष्यविस्तारः पतञ्जलि-
भाष्यवत् । दुर्गवृत्तिः काशिकावृत्तिसदृशी । अत एव वृत्तिसंज्ञा
अन्वर्थका न टीका व्याख्या पद्धतिर्वा ।

पञ्चाध्यायीरूपं शास्त्रं तस्मिन् संग्रहः तस्य भावो रूपम् । अयं
समाम्नायो निघण्टुपञ्चाध्याय्यां संगृहीतः ।

२०-२१ मृगः (निरु० १ । ६) कर्णः (१ । ९) दक्षिणा (१ । ७)

लक्ष्मीः (४ । १०) निघण्टुः (१ । १) भद्रं (४ । १०)

अधः (२ । ११) ।

२१ ' एवमाद्यानां ' व्यर्थमेव ।

२५ एतावद्भ्यां लक्षणोद्देशाभ्यामुदाहरणभूतः निघण्टुशब्दसमुदायो यस्य ।
अथवा । एतावन्तौ लक्षणोद्देशौ यस्य । तादृश उदाहरणभूतो निघण्टु-
शब्दसमुदायस्तेन तत्साहाय्येन ।

६ २ आगमवता = शास्त्रज्ञानवता ।

८ यथासामान्नातव्याख्यातव्य इति च. पाठः समीचीनः । सामान्नात-
मनतिक्रम्य सामान्नातक्रमेणैव व्याख्यातव्यः ।

२२ दुर्गाचार्यो यस्मादिति पदमप्याहरति । वस्तुतस्तु छन्दोम्यः ० समा-
म्नाता इति ' ते ' इत्यस्य विशेषणम् ।

पत्रं पङ्क्तिः

७ ५ समाम्नातं समाम्नायः । तमेव निघण्टुपदेन दर्शयति । 'समाम्नात-
मात्रं' इति पाठे समाम्नातानेव ।

६ नित्याः = एकार्थसंबन्धाः ।

८ उदाहृताः किंतु असमाम्नाताः । च. पुस्तके 'उदाहृताः समाम्नाये'
इति पाठः । तदिदं स्वतन्त्रमेव वाक्यं भवति । किंत्वयमसमीचीनः
पाठः । ठ. पुस्तके 'उदाहृतासमा' इत्यत्र 'ता' अक्षरस्य पश्चात्के-
नापि भिन्नमस्या विसर्गो लिखितः ।

११-१३ 'अतिपरोक्षवृत्तिना.....टकारं कृत्वा' इत्यसंपूर्णमेव वाक्यम् ।

१६ च. पुस्तकस्य 'अविद्यमानक्रिया अतिपरोक्षवृत्तयः' इत्यधिकं
वाक्यमावश्यकम् ।

अन्तर्लीना अथवा अन्तर्णीता = गुदा ।

१७ एषः = निघण्टुशब्दव्युत्पत्तौ दर्शितः ।

११-१८ 'अतिपरोक्षवृत्तिना शब्देन० प्रत्यक्षवृत्तिना शब्देन निर्वक्तव्याः'
इति वाक्यसमुदायो न. सुबद्धः । केचिच्छब्दा गलिता भवेयुः ।

८ २ के. एते लक्षणविद इति न ज्ञायते ।

३ पृथक् उदरम् इति यथा धृतोदरशब्दः साध्यते तथा । द्रष्टव्याः सिद्धा
इति । 'सिद्धिरेव द्रष्टव्या' अस्मिन्पाठे या धृतोदरादिशब्दानां सिद्धिः
सातिपरोक्षवृत्तिषु शब्देषु द्रष्टव्या ।

४ अभिव्याहारः उच्चारणं तस्य अनभिघाताय तत्साधु इति दर्शयितुम् ।

१६ ओषशब्दवत् (निरु० २ । २) ।

२० आहतं पठितम् इत्यर्थो नैव प्रसिद्धः ।

९ ९ यदा शब्दाः परोक्षवृत्तितामापादयितुं न शक्यन्ते तदा रूढिशब्दे एव
धातुरूपेक्ष्यः ।

१५-१७ रूढिशब्दे स्वरवर्णसामान्येन यो धातुरूपेक्ष्यते तस्मिन् रूढिशब्द-
वाच्येऽर्थे या क्रिया तस्या योगक्षेदयं निर्वचनाभ्युपायः । नोचेदातुलि-
ङ्गमकिंचित्करम् । अयं निर्वचनमार्गः व्याकरणशास्त्रप्रसिद्धः । व्याक-
रणं प्रसिद्धमर्थं नैवापेक्षते । व्याकरणे धातुलिङ्गमेव व्युत्पत्तिसमर्थम् ।

१७-१८ धातौ विवक्षितक्रियायाः अभावे तद्वत्त्वाश्रितं यन्निर्वचनं तदुपेक्ष्यम् ।

२१ व्यापनं = वर्णान्तरमापादितम् ।

यस्तुतस्तु अयं निघण्टुशब्दश्चर्यादिगणस्थेन निउपसर्गयुक्तेन घटिधा-

पत्रं पङ्क्तिः

९. तुना व्युत्पादयितुं युक्तः । घटि भाषायाम् । घण्टयति । निः एक-
स्मिन्संग्रहे घञन्ते भाष्यन्ते संगृह्यन्ते इति निवण्टयः ।

१० ११-१२ ऐन्द्रं व्याकरणमधुना नैवोपलभ्यते । कातन्त्रमेवैन्द्रं व्याकरणमिति डाक्टर
बेलवलकराः । किंतु कातन्त्रेऽनेकपदानि । इन्द्रो देवैः प्रार्थितो व्याकरणं
निर्ममे । ऐन्द्रवायवग्रहब्राह्मणे श्रूयते ' वाग्वै पराध्यव्याकृताव-
दत्ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निर्मां नो वाचं व्याकुर्विति । सोऽप्रवीद्वरं वृणो
महां चैवैष वायवे च सह गृह्याता इति तस्मादैन्द्रवायवः सह गृह्यते
तस्मिन्द्रो मय्यतोऽयकम्य व्याकरोत्तस्मादियं व्याकृता वागुच्यते ।
(तै० सं० ६ । ४ । ७ ॥ मैत्रा० सं० ४ । ५ । ८) ।

१३ प्रादयः क्रियायोगे उपसर्गसंज्ञका गतिसंज्ञकाश्च भवन्ति । क्रियाभ्यो
व्यवहिताः सन्तः कर्मप्रवचनीयसंज्ञां लभन्ते ।

११ १ इतरेतराकाङ्क्षित्वादिति पाठः स्यादथवा समासेनाभिधाने इति स्यात् ।
समासेन = द्वन्द्वसमासेन ।

९ अल्पाक्षरम् (पाणिनि २ । २ । ३४) ।

९-१० आख्यातस्यार्थो नामपदवाच्यार्थाश्रयक्रिययोपलक्ष्यते ।

१२ ६ इदमन्तरेण = लक्षणेऽपदेशं विना । सात्पर्येण = तत्तदर्थपरतया ।

१६ अनेकेषु कारकेषु अनेकैः कारकैर्वा प्रविभक्ता । स्फुरमाणः प्रधानद्र-
व्यभावः तस्याभिव्यक्तिः तस्यै उन्मुखीभूता ।

१७ स्वात्मलाभः [= स्वस्यास्तित्वं) प्रधानं यस्य ।

२१ ' एकपदे ' इति ग.ज.योः पाठः । इतरेषां तु ' एकदेशे ' इति ।
' एकदेशे ' इत्यस्य ' एकपदे ' इत्यर्थो न कुत्रापि दृष्टः ।

२६ स्वरूपस्था = क्रियारूपेण वर्तमाना ।

११ ८ प्रकृतः धातोरर्थः । प्रत्ययार्थः प्रकृत्यर्थं विशिनष्टि । आदिशब्देन
साधनानि लक्ष्यन्ते ।

९ अनर्थान्तरं न.र्थभेदः । समानार्थाः शब्दा इति भावः ।

१०-११ आख्यातरूपात् स्त्रीपुंनपुंसकानि कथं ज्ञायेरमिति न स्पष्टम् ।
' क्रियावाचकमाख्यातं लिङ्गतो न विशिष्यते ' इत्यस्माद्वाक्यात्
' स्त्रीपुंनपुंसकानि ' इति पाठोऽसाधुरयुक्तश्च । स्त्रीपुंनपुंसकस्थाने
' साधनानि ' इति स्यात् ।

१७ ' यन्किञ्चित् ' ' साधनं ' इत्यनेनान्वेति ।

पत्रं पङ्क्तिः

१४ १८ पक्त्रादौ साधने सति ।

२० सोऽर्थ एव तस्य शब्दस्य ।

२५ ' ननु ००० आख्यातमिति ' इयं शङ्का ।

१ निरुपाख्या निर्देष्टुमशक्या । ४ तथा-अग्रहणे ।

७ पूर्वं गृहीता गृहीतपूर्वा ।

८ ओदनकर्म्मिकाया देवदत्तकर्तृका क्रिया सा ।

१० ग. च. ज. पुस्तकेषु ' व्यापरं ' वर्तते ।

११ अपाकरोति आकाङ्क्षाम् । पूर्यतीत्यर्थः ।

१५ ४ ' अवयवार्थानि ' इत्यस्य पाठस्य न कोऽप्यर्थः ।

५ लक्ष्यमाणः शब्दः । तयैव = तया क्रिययैव ।

१३ क्रिया = अविधाक्षिता ।

१४ क्रियाजनितं क्रियाशेषभूतम् उत्तरकालम् इति समानार्थाः ।

तत् द्रव्यं हि क्रियया जनितम् । क्रिया संपूर्णा विनष्टा । तस्याः शेषभूतं पाकरागाख्यं सर्वं द्रव्यम् उत्तरकालम् उत्तरकालीनम् अभिधाय कियारूपोऽसौ धात्वर्थो निवृत्तो भवति । स्वजनितं स्वशेषभूतम् उत्तरकालीनं सर्वमभिधाय क्रियासौ निवृत्ता भवति ।

'तद्विक्रिया' इति नायं पाठः समीचीनः । तस्मिन् द्रव्ये ओदने विक्रिया तया जनितं पाकम् अभिधाय । द्रव्यं पाकाख्यं क्रियाशेषभूतं तत् विक्रियाजनितम् । विक्रिया च ओदने तण्डुलादौ भवति ।

च. ठ. पुस्तकयोः ' धात्वर्थः ' इत्यस्य स्थाने ' कृतार्थः ' इति पाठः । असौ आख्यातशब्दः कृतार्थो भूत्वा व्यावर्तते ।

२४ कृदन्ते विहिताः कृतप्रत्ययाः ण्डुलादयः ।

१६ ५ तदक्षरविधौ युक्तं = तस्य शब्दस्य अक्षरविधौ अक्षररचनायां युक्तम् । तम् अक्षरसमुदायम् इत्यर्थः ।

७-८ यत् विभक्तिप्रत्ययान् गृह्णाति यस्य च भिन्नानि लिङ्गानि वचनानि च सन्ति तन्नाम ।

१८ परस्परविनाभूतयोः = परस्परासंबन्धयोः । एते नामाख्याते वाक्यस्थे परस्परसंबन्धे । यदा न वाक्यस्थे तदा नामानि सत्त्वग्रथानान्याख्यातं भावमधानम् । च. पुस्तके ' परस्परविना ' इति शुद्धः पाठः । केनाप्यशान्त्रेण ' परस्पराविना ' इति स पाठोऽनुद्धीकृतः ।

पत्रं पङ्क्तिः

२ यतः = अतः ।

१७ ८ तासामनेकासाम् उपानदधिनहनादिकानाम् अभिनिर्वृत्तिः निष्पादनम् ।
अभिनिर्वर्त्यमानं भावम् ।

१८ ५ अभिनिर्वर्तमानं = अभिनिर्वर्त्यमानम् । अकर्मकप्रयोगः सौकर्य-
दर्शनार्थः ।

९ भावप्रधानमाख्यातमिति प्रयुक्तं लक्षणम् ।

१०-११ संख्या = एकवचनादीनि । विभक्तिव्ययः = प्रथमाददिभिः रूपभेदः ।
लिङ्गानि प्रसिद्धानि ।

१४-१६ एवञ्चब्दस्त्रिवारं प्रयुक्तो निश्चयद्योतनार्थम् ।

१७ उक्तप्रयोजनम् । = अविभक्तकर्तृकमिति ।

२१ १३ व्याहारौ (पाठभेदः) = पाठौ । प्राप्तः = संभवतः ।

१५ मतमाशङ्क्य तद्वारेण । अवतार्यते = अवतरणमिति दीयते ।

प्रतार्यते (ग. ज. ज. पाठः) = विस्तरेण कथ्यते ।

१७ अभिधानाभिधेयाभिधातृणां व्याप्तिरूपेण सङ्घासः । यदा अभि-
धेयानि वाच्यार्था अभिधातारश्च कल्पान्ते ब्रह्मणि विहीना भवन्ति
तदा अभिधानान्यपि कारणभावमापद्यन्ते ।

१८ अधिकं कार्यभावादप्यम् ।

१९ अन्यस्मिन् पूर्वस्मिन्कल्पे कृतानि विशिष्टानि कर्माणि (हिरण्यगर्भेण)
तैर्निर्मितानि कार्यकारणानि येन । अत्र च शाङ्करमाध्यम् 'अती-
तकल्पानुष्ठितप्रकृष्टज्ञानकर्मणामीश्वराणां हिरण्यगर्भादीनां वर्तमानकाले
प्रादुर्भवतां परमेश्वरानुगृहीतानां मुक्तप्रतिबुद्धवत्कल्पान्तरव्यवहारानु-
संधानोपपत्तिः' (ब्र० सू० १ । ३ । ३०) । 'निर्मित' 'निर्मित'
इति उभावपि पाठौ दुर्वोधौ । 'निर्मित' इति पाठस्तु दुर्वोधितरः ।

२२ ११ तयोराभिधानरूपेत्यादिवाक्यमशुद्धं कठिनं च । च. पुस्तकस्थपाठः
'तयोराभिधानरूपा शास्त्राभिमतप्रयोजनविजिज्ञापयिषया पुरुषेण तद-
भिव्यक्तिसामर्थ्येन स्वयुणभूतेन प्रयत्नेनोदीर्यमाणा सन्धुरः कण्ठादिषु
वर्णस्थानेषु निश्चयमानतया पुरुषार्थाभिधानसमर्थवर्णादिमाद्यमापद्यमानः
पुरुषप्रयत्नेन बहिर्विनिश्चितोऽविनाशिनि व्यक्तिमाद्यमापन्नः श्रोत्रद्वारे-
णानुप्रविश्य प्रयाप्यस्य बुद्धिं सवार्थरूपां सर्वाभिधानरूपां व्याप्नोति' ।
अभिधानरूपा बुद्धिः । शास्त्राभिमतप्रयोजनं कमपि पुरुषार्थं विज्ञाप-

पत्रं पाङ्क्तिः

यितुं पुरुषः तत्प्रयोजनाभिव्यक्त्यै यदावश्यकं सामर्थ्यं तेन प्रयत्नं कृत्वा तां बुद्धिमुदीरयति । उदीर्यमाणा सती सा बुद्धिः उरःकण्ठादिस्थानेषु निपद्य (स्थानानि व्याप्य) पुरुषार्थं कथयितुं ये वर्णा आवश्यकान्तेषां रूपाणि गृह्णन्ती ('आपद्यमानः' इति पुल्लिङ्गमाकस्मिकमेव यस्मात् 'उदीर्यमाणा सती' इति स्त्रीलिङ्गम्) पुरुषप्रयत्नेन बहिर्विनिक्षिप्ता व्यक्तिभावमापन्ना यस्मिन्प्रतीतिरुत्पाद्या तस्य बुद्धिः व्याप्नोति । च. पुस्तके बुद्धिकर्तृकं वाक्यं शब्दकर्तृकं च वाक्यं मिश्रिते । मूलपुस्तके बुद्धिकर्तृकमेव वाक्यं स्यात् । तदर्थमज्ञानता केनापि शब्दकर्तृकं वाक्यं रचितं स्यात् । अभिधानरूपा बुद्धिः सामान्या । सा व्यक्तिभावं भिन्नभिन्नवर्णभावमापद्यते ।

१२ अभिधानरूपपा बुद्ध्या = अभिधानबुद्धिसाहाय्येन ।

१४ तथा = अत एव ।

१५ अविनाशिनः = आकाशे ।

१६ प्रत्याप्यः प्रत्यापयितुं योग्यः इष्टो वा । प्रत्युपसृष्टस्य इण्धातोः णिजन्तस्य कृत्यप्रत्ययान्तं रूपम् । 'मानतया' अथवा 'निष्पद्यमानतया' इत्यस्यार्थो न ज्ञायते ।

२१ स्फोटविचारः शाङ्करभाष्ये ब्रह्मसूत्रे १-३-२८ । शब्दनित्यत्वं मीमांसादर्शने प्रथमाध्यास्य प्रथमपादे ४-२४ सूत्रेषु प्रतिपाद्यते ।

१९ 'आदधीत' इत्यस्य शब्दः कर्ता ।

२० शब्दः प्रथमं परस्य बुद्धिं प्रविश्य तां व्याप्नोति । अनन्तरं च तस्य प्रत्ययमुत्पादयति । बुद्धौ अनवस्थितौ तां न व्याप्नुयात् ।

२३ २ तिरोभावितुमुपक्रमते शब्दस्य नित्यत्वपक्षे । विनाशं योपैति अनित्यत्वपक्षे ।

२-३ नामाख्यातादयः शब्दाः स्वस्वदेशे उपजन्मन्ते । वाक्यान्ते एते प्रदेशविशेषाः स्मर्यन्ते । अनन्तरं वाक्यस्थशब्दानां परिसंख्यानं भवति । तस्य विशिष्टशब्दस्य विशेषप्रदेशोपजनितस्य स्वस्वदेशे उपजनितास्तैः शब्दैः परिसंख्यानम् ।

५ च. पुस्तकस्थापाठः. 'पुरुषप्रयत्नोपजनिता वक्त्रोद्याताः शब्दः

२३ ५ व्यक्तयः' = पुरुषप्रयत्नेनोपजनिताः वक्त्रादुद्याताः (उत्पन्नाः) शब्दव्यक्तयः ।

पत्रं पङ्क्तिः

२७

तमेव विज्ञायते ' अस्मिन्पाठे अविचारितमेव विज्ञायते इति न ।
किंतु यद्विचार्यते तदेव सुष्ठु ज्ञायते इत्यर्थः । सम्यग्ज्ञानायेदृशेन विचा-
रेणेदृशो वाद आवश्यकः । ' वादे वादे जायते तत्तद्वोधः ' ।

१ स्वात्मस्थो विशेषः क्रियात्वद्रव्यत्वरूपः । कार्यात्मभावात् प्रध्व-
स्तयोः ।

३ ' सदन ' (क. ख. ट. पाठः) इत्यस्यार्थो न ज्ञायते । ' सीद-
त्येव न किञ्चित्करोति अचलस्तिष्ठति ' इत्यर्थः स्यात् । भवनमेव
भवनमात्रं तेनाभिसंबन्धस्तद्वत्तात्मभावेन । ' मात्राभिसंबन्धिना तनु-
मात्रा ' (घ. च. झ. ट. पाठः) इदमपि न ज्ञायते । ठ. पुस्तकं
'तनुमात्रः' ।

६ ' प्रदीणसर्वविशेष ' अत्र - ' विशेष ' इत्यस्य पश्चाद्विसर्गेण
भाव्यम् । च० पुस्तके भिन्नमस्या विसर्गोऽधोभागे लिखितः ।

८ शब्दस्य विन्वी गतिः । अस्मिन्ब्रह्माण्डे न किञ्चिद्वस्तु वर्तते यच्छब्देन
नाक्रम्यते । अस्माच्च कारणाच्छब्दे नानाप्रकारा नाना विशेषा
विद्यन्ते । तान् सर्वान् विदोषानपेक्ष्य शब्दः केवलस्तिष्ठति । यथा
शब्दः सोपपदस्तथा निरुपपदेऽपि । ' शब्दगत ' इति पाठे शब्द-
संबन्धि विभुत्वम् ।

९ आस्कन्दतः = आक्रमतः । यतः = अतः । सत्त्वं साधारण्यमित्येकार्थी ।
साधारण्यं = सामान्यरूपम् ।

१२ एके सांख्याः ।

१३ एते सर्वे भावविकारा इति हेतुः ।

१५ तेनैव हेतुना शक्तिः पुरुषमप्याक्रामति । पुरुषभाव इति सोपपदप्रयोगः ।

१७ शून्यशब्दस्थाने भावशब्दः प्रयुक्तो न दृष्टः । शून्यशब्देन सह भाव-
शब्दः प्रयुक्तो न कदापि दृष्टः । यथा प्रधानभावः परमाणुभाव इति
प्रयोगस्तथा शून्यभाव इति प्रयोगो न दृष्टः । भावशब्दस्य आसन्नः
इति संधिविग्रहे शून्यभाव इति प्रयोगो दृश्यते । शून्यशब्दोऽपि भाव-
शब्देन संगतो दृष्टः ।

१९ ' तस्मान्न शून्यशब्देनेहाभाव एवेत्यते ' इति ट, पाठः । शून्यश-
ब्देन इह एषदाहरणेषु केवलः अभावो नैवोच्यते किंतु सोपपदोऽभाव
उच्यते ।

पत्रं पाङ्क्तिः

२७

अयं कारणात्मभाववादो दुर्गाचार्येण विद्वत्ताप्रदर्शनार्थमेव प्रसङ्गितः । शङ्कराचार्यकृतब्रह्मसूत्रभाष्येऽयं वादः प्रसिद्धः । शङ्कराचार्यभाष्येण दुर्गाचार्यस्य परिचयस्तत्र तत्र स्पष्टः ।

२० प्रत्यपेक्षाकृतम् अथवा अपेक्षाकृतं किञ्चिद्वस्तुसंबन्धं न तु केवलं यथा गृहस्य शून्यत्वं ग्रामस्य शून्यत्वमिति ।

२८

१ अस्मिन् कारणात्मवादे कारणात्मा अभावोऽथवा कारणं शून्यमिति वैनाशिको मन्यते । तथा सति वैनाशिकपक्षे भावो नाम शून्यम् । तस्मात् शून्यभाव इतिवत् भावभाव इति प्रयोगो भवेत् । न चेदृशः प्रयोगो दृष्टः । प्रसिद्धपूर्वः पूर्वं प्रसिद्धः । पूर्वप्रयोगः पूर्वः प्रयोगः । अत्र द्वावपि पाठौ समीचीनौ ।

३ भू = अम् (घञ्) = भावः ।

६ एतं सद्भावं (सर्वोपपदहीनम् आत्मभावं) विदन्ति ते ।

७ ' अवधृत'स्थाने च० पुस्तके ' विवृत'शब्दः ।

आत्मनः संप्रपातः प्रणाशः भावविकारा एवात्मा इति दुर्दर्शनेन । तस्मात् संप्रपातात् कातर्यं तेन हीनाः ।

८ विशुद्धौ दर्शनं ज्ञानं प्रयोगश्च येषाम् ।

तानि तानि कर्माणि कृत्वा मुक्तानि गतानि अधिकारबन्धानि कर्मबन्धानि येषाम् ।

७-८ ' आत्मसंप्रपातेत्यादि'तत्तत्कारितया ? इत्यस्य स्थाने ' आत्मकृत्तत्कारितया ' इति घ. झ. ट. पाठः समीचीनतरः । आत्मा कृत्तं करोतीति सर्वं खल्विदमात्मेति ज्ञानेन कर्मबन्धानामुक्ताः ।

१० वेदानुशासनस्य एकदेशान् । वेदो ब्रह्ममात्रं भावं वानुशास्ति । प्रधानादयस्तस्यैकदेशाः ।

११ स्वमतौ या याः कल्पनास्तासां ये हेतवस्तेरते प्रधानादयो व्यवहिताः । ' स्वमत'इति पाठे स्वेषाः स्वमात्मा या । न होते साक्षात्स्वधारः । प्रधानादीन् तैस्तैः श्रुतिविरुद्धैर्हेतुभिरेते सांख्यद्वयः प्रस्थापयन्ति । ते एते प्रधानादयः श्रुतिप्रतिपादितब्रह्मणो व्यवहिता दूरे स्थिताः । एते कारणात्मेति कृत्वा (घ. झ. ट. पाठः ' मत्वा ' मुनोधः समीचीनश्च) अस्थिरानपि स्थिराकृत्य नित्या एते इति मन्यन्ते । इदं नित्यत्वं सापेक्षं न तु निरपेक्षम् ।

पत्रं पङ्क्तिः

१२ तदेतस्मात् = तस्मादेतस्मात् । केवलात्मान एते सांख्यादयो विभ्याति । 'मवनमात्राभिसंन्धेन' इत्यस्य 'उद्विजन्तः' इत्यनेन संबन्धः । यदि वयं केवलात्मानि श्रद्धयाम कर्माणि उपभोगांश्च त्यजेम सत्यं खलु वयं प्रणश्येमेति मत्वा कर्मसु व्यापृता भवन्ति उपभोगांश्च मुञ्चते ।

१३ 'कर्मोपभोगसंन्यासमाप्य संतानं' इति घ. झ. ट. पाठे दुर्बोधोऽ-
मुद्वत्तात् ।

१४ एते हानसमर्थाः किंतु भीताः । केचित्पुनर्ज्ञानमवाप्नुमसमर्थाः । तेषां शक्तिहानम् असंबोधनात् अज्ञानात् एव ।

१५ कृदन्तप्रत्ययः घञ् । तेन भवतेर्भावः । भवतेर्भावस्य वा ।

१७ वेदरहस्यब्राह्मणैः = आरण्यकैः उपनिषद्भिर्वा । 'ब्राह्मणे' इति च.-
पुस्तकपाठः । किमिदं रहस्यब्राह्मणमिति न ज्ञायते ।

२९

१ कारणे यावत् स्थितिः तावत् भावस्याविक्रतिः । तस्यामवस्थायां भावोऽभिन्न एवेति सुष्ठु ज्ञायते ।

४ उपचारतः = विस्तरेण ।

७ मू सत्तायामिति भवतिपदस्य वाच्यार्थः सत्ता । तस्या भवनं संपादनं भावः । पूर्णा भवतिक्रिया भाव इति उच्यते । ७ सन्नायं = सत्तैव ।

९ प्रस्कन्दाः = निर्झराः । उपलब्धकोशेष्वयं शब्दो न विद्यते । वैशे-
षिकेण = गुणेनेत्यर्थः । भावविकारात्मलाभाय भवन्ति = भावविका-
ररूपाणि लभन्ते । अनेन भवन्तिशब्दस्य स्वारस्यं कथ्यते ।

१० भवन्तिशब्द इतिपरः ।

१२ 'तिकादिभ्यः क्तिञ्' (पा० ४ । १ । १५४) ।

१३ सुखार्थम् = अल्पमपि शङ्काकारणं न स्यादिति ।

१८ ग. ज. पाठः प्रियमायमान = प्रियमाण = वियमान । च. पाठः
प्रियमाण ।

२४ निष्ठा = 'तत्त्ववत्-निष्ठा' इति पाणिनिसूत्रम् (पा० १ ।
१।२६) ।

३० ७ द्वारद्वारभावेन = अस्तिविकारो द्वारी अनिर्द्धारम् । अस्तिविकारो
अनिर्द्धारान्नःसरति ।

८ 'विपारेणमतिः' इति पाठे विपारीणमतिविकारः । किंतु 'अस्ति'

- पत्रं पङ्क्तिः
 शब्दस्थानन्तरं विसर्गो न विद्यते । च. पाठो ' विपारिणमति ' ।
 च. पुस्तकेऽनन्तरीयवाक्ये ' विपारिणमते ' इत्यात्मनेपदरूपं वर्तते ।
 २२ च. पुस्तके ट. पुस्तकस्थशुद्धीकृतपाठे च ' अपूर्णत्वात् ' इत्यस्य
 स्थाने ' अपूर्वत्वात् ' इति वर्तते ।
 ३२ २ उपेक्षितव्याः = उपगम्य ईक्षितव्याः ।
 १८ यो यस्मिन्वचने यथा स्यात्तथा । अथवा । वचनमनातिक्रम्य ।
 ३३ ७ ' प्रेसादि...भृशार्थेषु ' । ' प्र ' आदिकर्मणि उपदीर्घे भृशे अर्थे
 वर्तते । आदिकर्मणि यथा प्रारभते । भृशे यथा प्रकृष्टम् । उपदीर्घे
 यथा प्रभ्रष्टम् ।
 ३४ ९ स्वप्नस्थेन विदुषाम् = अस्माकमयमभ्युद्यमोऽभ्युदयनिःश्रेयसार्थ इति
 विद्वांसो निश्चयेन प्रतियन्ति जानन्ति ग्रह्यते ।
 १४ स्वार्थमिधानशक्त्याः आचारभूते । उपसर्गाः नामाख्यातसंबन्धेनैव
 स्वमर्थमभिधातुं शक्नुवन्ति ।
 २४ अयं तावत् आ उपसर्गः ।
 ३५ उपजायत इति यदुक्तं तत्र ब्रूमः ।
 ३५ १० अपरभावः = पश्चाद्भाविनी क्रिया ।
 ११ ' अपीति संसर्गे ' इत्यस्योदाहरणानि ' अपिवानम् ' ' अपिकशे '
 ' अपिशर्वरी ' इत्यादीनि । ' सर्पियोऽपि ' इत्यत्र ' अपिः ' लेश-
 वाचकपदस्थाने प्रयुज्यते । ' अपिः पदार्थसंभावनाभ्यवसर्गगर्हा-
 समुच्चयेषु ' (पा० १।४।५६) ।
 १२ पारिधापयति [च. पाठः] = पारितः सर्वतः आच्छादयति ।
 १३ अधितिष्ठतिरिति (घ. ट. पाठः) = अधितिष्ठति + अधिपतिरिति ।
 १६ न गृह्यते = न सम्प्रगुक्तम् ।
 १७ ' सिद्धः ' इति घ. झ. ट. ठ. पाठः ।
 ३६ २३ नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगशोतका भवन्तीति सामान्यलक्षणं निपा-
 तानामपि । तदनुपक्तं निपातलक्षणम् ।
 २३ वर्तयिष्यामः = कथयिष्यामः । २५ ये एतेषामर्थाः इति वाक्यस-
 माप्तिः ।
 ३७ १ ' उच्यन्ते ' इति घ. ट. ठ. पाठः । च. पुस्तके ' उच्यन्ते ' इति पाठः
 संशयास्पदं यस्मादनुस्वारचिह्नमतीवालग्निरत्रस्थानुस्वारविसदृशं च ।
 उच्यन्ते अर्थाः ।

पत्रं पङ्क्तिः

३७ ४ तस्य गुणस्य प्रकाशनमिति सुवचम् । 'तद्वृण'शब्दो न केवलं
व्यर्थः किंतु व्यामोहकारकः ।

१५ 'क्वा बोपमा' पाठभेदः । अत्र वा = च ।

२२ क. ख. घ. झ. ट. ठ. पुस्तकानि ग. च. ज. पुस्तकेभ्योऽर्वाची-
नानि । यतः 'क्वादिपुस्तकवर्गे' 'अथर्व'शब्दो विद्यते । पुरातनकाले
'अथर्वसंहिता' वेदसमुदाये बहुभिर्नान्तरभाष्यत ।

३८ १ ऐतरेयके रहस्यब्राह्मणे = ऐतरेयारण्यके ।

३ शतार्चिनः माध्यमाः गृत्समदः इत्येकैकं मन्त्रद्रष्टारमनुक्रमेण गृहीत्वा
तत्तन्नाम व्युत्पादयति । ततश्च पर्यायेण 'एतमेव प्राणं शतार्चिन
आचक्षते' इत्यादिना सर्वे एते मन्त्रद्रष्टारः प्राण एवेति दर्शयति ।
'पर्यायवृत्त्या' 'पर्याहृत्या' इति द्वावपि पाठावेकार्थौ ।

६ 'एता ऋचः शौनकेन संदृष्टाः' इति वचनस्य क आधारः । सर्वा-
नुक्रमणी काव्यायनेन विरचिता ।

७ श्रुतिस्मृत्योर्विरोधेऽनुमानगम्यं तर्कमूलं स्मृतिप्रामाण्यमुपेक्ष्यम् । असति
विरोधेऽनुमानं प्रमाणम् ।

१० परिशयः = आश्रितः । अयं शब्दो न कस्मिंश्चिदपि कोशे दीयते ।
'यदेव एकादशः प्रयाजः परिशय आत्मा वा एतदात्मानं परिशये'
(मैत्रा० सं ३।९।८) । अत्रत्यः परिशयशब्दो दुर्गेण आश्रि-
तार्थे प्रयुक्तः स्यात् । परिशय एवेति परिशयमात्रम् । बोपशब्दो व्यर्थः ।
अकस्मात् = परमेश्वरानुग्रहादिना ।

उभावपि क्षेत्रज्ञौ जीवात्मपरमात्मानौ मन्त्रद्रष्टारौ । १२ 'विपा-
कानुरूपेण' इति ग. च. ज. ठ. पाठः । किंतु 'अनुरूपेण'
इत्यस्य विशेष्यं न दृश्यते ।

१८ ताण्डकरहस्यब्राह्मणं छान्दोग्योपनिषदेव ।

२० विशिष्टोपाध्यायं* (घ. झ. ट. पाठः) = विशिष्टोपाध्यायं* + विशेषार्थं* ।
विशेषार्थम् अथवा विशिष्टार्थं = विशिष्ट ऋषिः ।

२१ इथेनादिषु = इथेनयागादिषु । इथेनयागाः केचिदभिचारायागाः ।

निष्केश्वरं = मध्यदिने पठ्यमानं (गद्यरूपं) सप्तमम् ।

माम्ययी = मय्युदेवतायाः । माम्यये ग. च. ज. पाठः । माम्यये = मय्यु-
देवमूलसंभवे ।

- पत्रं पङ्क्तिः
 शब्दस्थानन्तरं विसर्गो न विद्यते । च. पाठो ' विपारिणमति ' ।
 च. पुस्तकेऽनन्तरीयवाक्ये ' विपारिणमते ' इत्यात्मनेपदरूपं वर्तते ।
 २२ च. पुस्तके ट. पुस्तकस्थशुद्धीकृतपाठे च ' अपूर्णत्वात् ' इत्यस्य
 स्थाने ' अपूर्वत्वात् ' इति वर्तते ।
 ३२ २ उपेक्षितव्याः = उपगम्य ईक्षितव्याः ।
 १८ यो यस्मिन्वचने यथा स्यात्तथा । अथवा । वचनमनातिक्रम्य ।
 ३३ ७ ' प्रेयादि... भृशार्थेषु ' । ' प्र ' आदिकर्मणि उपदीर्णे भृशे अर्थे
 वर्तते । आदिकर्मणि यथा प्रारभते । भृशे यथा प्रकृष्टम् । उपदीर्णे
 यथा प्रभ्रष्टम् ।
 ३४ ९ स्वप्रत्ययेन विदुषाम् = अस्माकमयमभ्युद्यमोऽभ्युदयनिःश्रेयसार्थ इति
 विद्वांसो निश्चयेन प्रतियन्ति जानन्ति श्रद्धते ।
 १४ स्वार्थाभिधानशक्त्याः आधारभूते । उपसर्गाः नामाख्यातसंबन्धेनैव
 स्वमर्थमभिधानुं शक्नुवन्ति ।
 २४ अयं तावत् आ उपसर्गः ।
 ३५ उपजायत इति यदुक्तं तत्र ब्रूमः ।
 ३५ १० अपरभावः = पश्चाद्भाविनी क्रिया ।
 ११ ' अपीति संसर्गे ' इत्यस्योदाहरणानि ' अपिवानम् ' ' अपिकशे'
 ' अपिशर्वरी ' इत्यादीनि । ' सर्पिषोऽपि ' इत्यत्र ' अपिः ' उदा.
 वाचकपदस्थाने प्रयुज्यते । ' आपिः पदार्थसंभावनान्वयसंसर्गार्हा-
 समुच्चयेषु ' (पा० १।४।५६) ।
 १२ पारिधापयति [च. पाठः] = पारितः सर्वतः आच्छादयति ।
 १३ अधितिष्ठपतिरिति (घ. ट. पाठः) = अधितिष्ठति + अधिपतिरिति ।
 १६ न गृह्यते = न सम्यगुक्तम् ।
 १७ ' सिद्धः ' इति घ. झ. ट. ठ. पाठः ।
 ३६ २३ नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगशोतका भवन्तीति सामान्यलक्षणं निपा-
 तानामपि । तदनुपक्तं निपातलक्षणम् ।
 २३ वर्तयिष्यामः = कथयिष्यामः । २५ ये एतेषामर्थाः इति वाक्यस-
 माप्तिः ।
 ३७ १ ' उच्यन्ते ' इति झ. ट. ठ. पाठः । च. पुस्तके ' उच्यन्ते ' इति पाठः
 संशयास्पदं यस्मादनुस्वारचिह्नमतीवाल्पमितरत्रस्थानुस्वारविसदृशं च ।
 उच्यन्ते अर्थाः ।

पत्रं पङ्क्तिः

३७ ४ तस्य गुणस्य प्रकाशनमिति सुवचम् । 'तद्गुण'शब्दो न केवलं
व्यर्थः किंतु व्यामोहकारकः ।

१५ 'फा वोपमा' पाठभेदः । अत्र वा = च ।

२२ क. ख. घ. झ. ट. ठ. पुस्तकानि ग. च. ज. पुस्तकंभ्योऽर्वाची-
नानि । यतः कादिपुस्तकवर्गे 'अथर्व'शब्दो विद्यते । पुरातनकाळे
'अथर्वसंहिता' वेदसमुदाये बहुमिर्नास्तरभाज्यत ।

३८ १ ऐतरेयको रहस्यब्राह्मणे = ऐतरेयारण्यके ।

४ शतार्चिनः माध्यमाः गृत्तमदः इत्येकैकं मन्त्रद्वयारमनुक्रमेण गृहीत्वा
तत्तन्नाम व्युत्पादयति । ततश्च पर्यायेण 'एतमेव प्राणं शतार्चिन
आचक्षते' इत्यादिना सर्वे एते मन्त्रद्वयारः प्राण एवेति दर्शयति ।
'पर्यायवृत्त्या' 'पर्यावृत्त्या' इति द्वावपि पाठावेकापि ।

६ 'एता ऋचः शौनकेन संदृष्टाः' इति वचनस्य क आधारः । सर्वा-
नुक्रमणी कात्यायनेन विरचिता ।

७ श्रुतिस्मृत्योर्विरोधेऽनुमानगम्यं तर्कपूर्णं स्मृतिप्रामाण्यमुपेक्ष्यम् । असति
विरोधेऽनुमानं प्रमाणम् ।

१० परिशयः = आश्रितः । अयं शब्दो न कस्मिंश्चिदपि कोशे दीयते ।
'यदेव एकादशः प्रयाजः परिशय आत्मा वा एतदात्मानं परिशये'
(मैत्रा० सं ३।९।८) । अत्रत्यः परिशयशब्दो दुर्गौण आश्रि-
तार्थे प्रयुक्तः स्यात् । परिशय एवेति परिशयमात्रम् । शेषशब्दो व्यर्थः ।
अकस्मात् = परमेश्वरानुग्रहादिना ।

उभावपि क्षेत्रज्ञौ जीवात्मपरमात्मानौ मन्त्रद्वयारी । १२ 'विपा-
कानुरूपेण' इति ग. च. ज. ठ. पाठः । किंतु 'अनुरूपेण'
इत्यस्य विशेष्यं न दृश्यते ।

१८ ताण्डकरहस्यप्राप्त्यं छान्दोग्योपनिषदेव ।

२० विशिशेषाध्यापं* (घ. झ. ट. पाठः) = विशिष्टाध्यापं* + विशेषाध्यापं* ।
विशेषाध्यापं* अथवा विशिष्टाध्यापं* = विशिष्ट ऋषिः ।

२१ श्येनादिपु = श्येनयागादिपु । श्येनयागाः केचिदभिचारयागाः ।

निष्केवस्त्रं = मय्यदिने पठ्यमानं (गद्यस्त्रं) शस्त्रम् ।

मान्यया = मन्युदेवतायाः । मान्यये ग. च. ज. पाठः । मान्यये = मन्यु-
देवमूलसंभवे ।

पत्रं पङ्क्तिः

३८ २१ मन्युः पुनरिन्द्र एवेति समर्थयितुं 'मन्युरिन्द्रो मन्युरेवास देवो मन्युर्होता वरुणो जातवेदाः' (ऋ० सं० १०।८३।२) इति मन्त्रः क. ख. पुस्तकयोरुदाह्रियते ।

२२ 'माहाभ्याम् ००० स्तुत्यभिधानसंबन्धात्' इदं सप्तमाध्याये द्वितीयपादस्य प्रथमे खण्डे स्पष्टम् । पृथगभिधानानां स्तुत्यभिधानैः संबन्धात् । पृथगभिधानेन स्तुतिः । तस्मादेवतान्तस्य । 'संबन्धत्वात् (ग. च. ज. पाठः) । त्वप्रत्ययो हेतुं दर्शयति । 'स्तुत्यभिधान' अत्र 'अभिधान'शब्दो व्यर्थः । भूमिकायां विषयसंग्रहे 'स्तुतिसंबन्धात्' इत्येव वर्तते ।

३२ १ यजिः = यागः । अभिहितः = अभिधानम् ।
२ अभिहितसंस्कारेणासमर्थो वक्तुं = महेन्द्रस्य नाम्नास्मिन्मन्त्रे न विद्यते ।
३ स्तुत्युत्पाद्यं फलं भिन्नम् । तन्माहेन्द्रग्रहयजिसंनिधौ वर्तते । अतस्तन्मुख्यफलस्योपकरोति । ग्रहः = आहुतिपात्रम् ।
५ स्तौतिशंसती = स्तोत्रं स्तौति शस्त्रं शंसति । एते प्रधानत्वेन क्रियोत्पत्तिम् अपूर्वोत्पत्तिं कर्तुं समर्थे यतो मुख्ययागमते स्तुतः शंसतश्च ।

८-१० इन्द्र अपः सूर्यादयश्च देवताः स्तुतिभाज एव ।

१६ 'येऽपि' इत्यत्र 'यद्यपि' इति च. ठ. पाठः । अपि च यदि केचित् प्रत्याजिहीर्षन्त्येतद्धनं (तर्हि) तेषामित्यन्वयः ।

४० ६ विभूतिवोगेऽवस्थितम् = विभूतियुक्तं समृद्धम् ।

११-१२ 'किं पुनर्लक्षणम्' इत्यस्य नेन्द्रं देवममंसतेति प्रतिषेधार्थादेन संबन्धो नोपमार्थादेन । किंतु 'प्रतिषेधार्थायः पुर०' इत्यादि क. ख. घ. पुस्तकेष्वेव विद्यते ।

१२ उपचारैः = प्रयोगः ।

४१ ५ कुत्मापाः = अर्धस्विन्ना यवाः कुत्सितमाया वा । 'आचार्यः कस्मा०००बुद्धिमिति' (३६।८।९) श्लेषकमिव भाति यस्मादुर्गाचार्यस्तत्र विवृणोति ।

६ आहारिष्यति (च. पाठः) = अयं वराहः किमन्यदाहारिष्यति ।

पत्रं पङ्क्तिः

४१ ७ हेत्वपदेशे (३६ । ११) = हेतुर्न भविष्यतीति शङ्काकथने ।
 ' इदं नु कारिष्यति ' अयं प्रथमः प्रश्नः । तस्योत्तरं कारिष्यतीति ।
 ' कथं नु कारिष्यति ' अयं द्वितीयः । तस्योत्तरं प्रश्नगुणरुक्तिः ।
 केवलमुत्तरे संदेहभावद्योतकः स्वरभेदः । ' पुनः पृच्छसि कथं
 नु कारिष्यति ' इति । कारिष्यत्येवेति ममोत्तरम् ।

८ ' कथं नु कारिष्यति ' अस्मिन्प्रथमप्रश्ने नुनिपातोऽनावश्यकः । ठ.
 पुस्तके च नास्ति । कथं नु कारिष्यतीति द्वितीयप्रश्ने कारिष्यतीति
 वचनस्य संदेहपूर्वकमनुज्ञानम् अनुज्ञा । दुर्गाचार्येण कृतं विवरणं
 दुर्बोधम् ।

११ ग. च. ज. झ. ट. पुस्तकेषु ' कथं ' स्थाने ' कठं ' घ. पुस्तके च
 ' कठं ' वर्तते । कथमित्यस्यायं तिरस्कृतित्यञ्जक उच्चारः स्यात् ।

२२ पर्यायवचनः पर्यायवाचकः शब्दः । वक्तीति वचनः ।

४२ ४-५ सरूपविरूपैकशेषात् = ' सरूपाणाभेकशेष एकविभक्तौ ' (पा० १ ।
 २ । ६४) यथा रामश्च रामश्च रामौ रामश्च रामश्च रामश्च रामाः
 इति सरूपसमासे । रामश्च लक्ष्मणश्च रामलक्ष्मणौ इति विरूप-
 समासे । माता च पिता च पितरो इत्येकशेषसमासे । एषु समा-
 सेषु चलोपः । ' च ' शब्दो न श्रूयते । अभ्याहतश्च द्वौ भिन्नौ
 रामौ अनेके भिन्ना रामा इति ज्ञापयति ।

६ ' अर्पतो वा ' क. ख. च. पुस्तकेषु विद्यते । किंतु ' वा '
 इत्यस्य कैमर्थ्यं न ज्ञायते । च. पुस्तकस्थप्रतीकेऽपि ' पृथक्त्वतो
 वा मह ' (४२ । २) इत्यत्र ' वा ' विद्यते । किञ्चन पाठोऽनुदो
 दुर्बोधश्च ।

७ न तु इत्यादि = सत्यं श्रूयते किंतु तयोर्न पृथक्कथनम् ।

९ तेन ' च ' शब्देन । ' नात्वेन ' इति ठ. पाठोऽनुदः । ' नानात्वेन '
 इति स्यात् ।

१२ तद्भवति = स भवति ।

१७-१८ भरातीया चित् = अदानशीलोऽपि ।

१८ अतिर्विजः तदन् हे वज्रिन् ।

२० ' पङ्क्त्या ' इति पाठभेदः । पङ्क्तिनाम शब्दः ।

पत्रं पङ्क्तिः

४३ ९ यामी=यमपुत्रस्य दमनस्यार्थम् ।

४४ १६ 'वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वेति युनक्ति न वा एतन्मनुष्या योक्तुमर्हन्ति देवताभिरेवैनान्युनक्ति' (मैत्रा० सं० १।११।६) । 'वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वेत्याह । एतं वा एता देवता अप्रे अश्वमयुञ्जन् । ताभिरेवैनान्युनक्ति' (तै० ब्रा० १।३।९) ।

४५ २ द्यगोरर्धयोः उद्दिष्टयोः ।

११ अभिमतस्सगोपायनस्य = अभिमतः दुग्धरूपः रसो यासां ताम्ब्यो गोम्य उदकदानं पानाय । अथवा । अभिमतस्सेन उदकेन गवां पायनम् ।

२२ घ. झ. ट. पाठः विध्वंसस्यते = विध्वंसते + विध्वस्यते ।

४६ ९ उपह्वानम् = आह्वानम् ।

९ अपिन्वत् = पुष्टा अकरोत्

१४ व्याकरिष्यति = व्याकर्तुं स्पष्टीकर्तुं शक्नुयात् ।

१८ विद्याप्रकर्षे = स्वज्ञानविशेषं दर्शयितुम् ।

४७ २-३ अयमर्थ एवं नेति मत्वा ततः* । पूर्वस्य पूर्वोक्तम् । इतरम् अर्थम् । अन्यः अर्थः अर्थान्तरम् (च. पाठः) । देवदत्तो यदवदन्न तत्तादृशमित्यन्यं पृच्छति । ६ 'खल्विति च' प्रतिषेधे । नैस्यं प्रतिषेधे एव । ८ खलुनिपातः पदपूर्णेऽपि । खल्वित्यस्य प्रतिषेधाधीनः प्रयोगः कचिदेव । पदपूर्णेऽपि विरलः । खलु भाषायां सत्यमित्यर्थे वर्तते । यास्ककाळे नायमस्यार्थ आसीदिति भाति ।

९ शब्दत् = नित्यम् (भाषायाम्) । निचिकित्सार्थो न दृश्यते । छन्दसि के तेऽन्येऽर्था इति न ज्ञायते । 'अनुपृष्टे अस्वयं पृष्टे' (४४।१२) अस्यार्थो न ज्ञायते ।

२३ स्यै शब्दसंघातयोरित्यस्य निष्ठान्तं रूपम् ।

२२ च. पुस्तके कुम्भ इत्यस्य स्थाने कुजः ।

४८ १८ 'अय'स्थाने ज. ठ. पाठः 'अय' ।

४९ ९ कारकनियमः= 'सतः' इत्यनेन कारकम् अत्र नियतं द्रष्टव्यम् ।

६ सचेतसा=शुद्धिमता । 'चेतसा' अयं युक्ततमः पाठः ।

९ नानात्वेत (न ?) व्यनास्थितपा (स्या ?) पन्थ (स ?) मसमनु-
लजस्येति घ. झ. ट. पुस्तकस्थोऽशुद्धः पाठः ।

पत्रं पङ्क्तिः

४९. १० सतामानेयः=सतां वश्यः शास्यो वा ।
५०. २३ 'अन्येभ्योऽपि दास्यासि चेदेहि' अयं छ. पाठः समीचीनतरः ।
५१. ५-७ दक्षिणालयनं. (मैत्रा. सं. ४।८।२।३ मान० श्री०
२।४।५।९—१३) ।
- १२ 'न त्वन्येन' इत्यपपाठः । 'तु' 'तु' इत्यस्य स्थाने प्रमादात् ।
- १४ परिवृहं हि परिवृहं (ग. च. ज. पाठः) = 'परिवृहं ।
परिवृहं हि' एवं स्यात् ।
- १६ वासाभविमुखः (च. पाठः) = वासामभिमुखः । 'मभि' इत्यस्य
स्थाने 'भवि' प्रमादात् ।
५२. ४ सीमिति परिग्रहार्थीयं चेत् ।
- ६-७ स्पन्दनाः स्पन्दन्ते । हस्तलिखितपुस्तकेषु 'प' 'य' वर्णौ सदृशौ
भातः । 'स्पन्दनात् स्पन्दनात् स्पन्दते स्पन्दते' द्वावपि पाठौ साधू ।
- १२ शीघ्रा एव शीघ्रिका । स्वार्थे कन् । 'प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यात् इदा-
प्यसुपः' इति पाणिनिसूत्रेण (७।३।४४) 'शीघ्रिका'-
पाठोऽशुद्धः ।
- १४ प्रतिसर्गः प्रविसर्गो वा दाने । एतौ शब्दौ न कस्मिन्नपि शब्द-
कोशे वर्तते ।
५३. ११ 'विपीव्यति' (९०।१३) इत्येव शुद्धं 'विसीव्यति'
अशुद्धम् (पा० ८।३।७०)
- १३ 'विनिग्रहार्थीयम्' इत्यस्य व्याख्या (पत्रम् ४५।१०) इत्यत्र ।
५५. ११ 'तदाहुर्महावदाः' (= ब्रह्मवादिनः) यद्वचैव हीवं क्रियते यजुषा-
ध्यर्षवं साम्नोद्गीषं व्याख्या त्रयी विद्या भवत्यथ केन ब्रह्मत्वं क्रियते
इति त्रय्या विद्येति ब्रूयात् (ऐ० ब्रा० ३५।८) । अत्र
'मनया'—शब्दो न वर्तते ।
- १४ घ. झ. ट. पाठः नानाप्रकाशाम् । कार्मिषिन्मूलपुस्तके 'नाना-
प्रकाराम्' इत्यत्र 'रां' 'शां' सदृशः स्यात् ।
- १७ 'इमान्चै लोकां प्रजापतिः सृष्ट्वेदं सर्वमशक्नोद्यदिदं किंच यदिमो-
ल्लोकान् प्रजापतिः सृष्ट्वेदं सर्वमशक्नोद्यदिदं किंच तच्छक्यमोऽमयं-
स्तच्छकरीणां शकरीत्वम्' (ऐ० ब्रा० २२।२) ।

पत्रं पङ्क्तिः

- प्रमाणाः । 'प्रमाणे द्वयसज्जन्मात्रचः' (पा० ५ । २ । ३७) ।
- ५८ १२ कक्षः = तृणम् ।
- १९ अञ्जू व्यक्तिप्रक्षणकान्तिगतिषु (धा० ७ । २२) ।
- ५९ १-२ यच्छब्दो विद्यमानश्वेदन्वाकृष्यतेऽविद्यमानश्वेदुत्पाद्यते । विद्यमानं यच्छब्दमन्वाकृष्याविद्यमानं बोत्पाद्य ।
- ८ खे कर्णौ प्रत्युद्गच्छतः । अथवा । कर्णौ आकाशभागौ । आकाशान् भिद्येते इत्यर्थः ।
- ५९ १५ पूर्वतरात्परिमाणात् तत् अथः स्ववर्तीव । 'उत्तरात्' इति च.— पाठः साधुतरः । उत्तरात् अथवा उत्तरस्मात् = उच्चतरात् ।
- २० 'अथापि समुच्चयार्थं भवति' इति मूलम् । दुर्गस्तु समुच्चयार्थं वर्तमानो निपातोऽपरः 'त्व' इत्येतस्माद्विभक्ति इति मन्यते । यास्कमते 'त्व' 'त्वत्' न भिन्नौ ।
- ६० ५ कर्मोपसंग्रहार्थं निपाताः 'च' 'आ' 'वा' इति । 'अह' 'ह' 'उ' विनिग्रहे वर्तमाना अपि समुच्चयमेव दर्शयन्ति । विनिग्रहार्थप्रसङ्गेन 'हि' 'किञ्च' 'न किञ्च' 'ननु किञ्च' 'स्मा' 'खलु' 'शब्दत्' 'नूनम्' इत्येते निपाता उदाहृताः । 'त्व' विनिग्रहार्थं वर्तमान उदाहृतः । त्वत् समुच्चयार्थेऽपि वर्तते । वस्तुतस्तु यथा 'अह' इत्यादयो वाक्ये विशिष्टस्थले प्रयुज्यन्ते तथा 'हि' इत्येवमादयोऽपि । एतेन प्रसङ्गेन तेऽत्र कथिताः । न केवलं यास्केन प्रयोऽपि वर्गाः परस्परैर्भिन्निताः वर्गत्रयभिन्ना अपि निपाता वर्गत्रयमध्ये प्रवेशिताः ।
- ६ च. पुस्तके 'अन्यार्था' इत्यत्र 'नार्था' इत्यशुद्धः पाठ आदौ लिखितः । तस्य दुर्बोधत्वात् केनाप्यङ्गेन 'नानार्था' इति पाठः कृतः । प्रायः 'च' इत्यादयः सर्वेऽपि नानार्थाः ।
- 'हि' इत्यादय उपमार्थकर्मोपसंग्रहार्थपदपूर्णार्थेषु वर्तमानेभ्यो निपातेभ्यो भिन्ना अत एव 'अन्यार्थाः' ।
- ८ ग. च. ज. पुस्तकेषु 'प्रवृत्ते परिप्रापिते' छ. पुस्तके च 'प्रवृत्ते प्रापिते परिसमाप्ते' इति पाठौ । 'प्रवृत्ते समाप्ति परिप्रापिते' इति शुद्धः पाठो भवेत् । 'एमेनं सृजतां मुते' (१ । ९ । २ ऋ० सं०) इत्यस्य सापणभाष्ये 'अथ ये प्रवृत्ते = अन्यैरेव पदे विवक्षितेऽप्येव समाप्ते सति' ।

पत्रं पङ्क्तिः

६० १२ पदपूर्णवाक्यपूर्णान्यान्यत् अर्थान्तरम् । यदि किञ्चिदर्थान्तरं भवेत् पदपूर्णं वाक्यपूर्णं वा तदर्थान्तरं स्यान्नान्यत् । एवम् अन्यत्पदं सार्थम् ।

१६ 'च. पाठः 'येऽप्रवृत्तेऽर्थे' । पूर्वपाठः 'ये प्रवृत्ते' । ग. ज. पूर्वपाठः (८) 'येऽप्रवृत्ते' । अप्रवृत्ते=असमाप्ते । इदं 'पारि-
प्रापितेऽन्यैरेकवाक्यगतैः पदैः' इत्यस्य विरुद्धम् । अन्यैः पदैर्वा-
क्यार्थः समाप्यते । एते केवलं वाक्यपूर्णाः ।

६१ ७ 'गम्यते' अशुद्धः पाठो लेखकप्रमादात् ।

११ च. पाठः 'उकारवन्तौ' = उकारवन्तौ + उकारवत्तौ । 'खलु'
'नूनम्' इत्येतयोः उकारो वर्ततेऽतस्तौ उकारवन्तौ । 'उ' इत्य-
नेन सर्वे उकारवन्तो निपाता गृहीता द्रष्टव्याः । उकारवत् तावपि
अर्थवन्तौ अनर्थकौ च । दुर्गाचार्यकृतमिदं समर्थनं शुष्कम् ।
यास्ककृतं निपातवर्गीकरणं सदोपमित्युक्तमेव पूर्वम् ।

१७ 'अर्थलवे' 'अर्थलाभे' 'अर्थे तावत्' एते सर्वेऽपि पाठाः
साधवः । 'अर्थलवे' पाठस्तु साधुतमः । 'वाक्यपूर्णाः' इति
यद्यास्केनास्मिन् खण्डे उक्तं तत्सर्वधार्यासंभवे । यः कश्चिच्छब्दो
वाक्ये वर्तते स सार्थ एवेति दुर्गाचार्यमतं विचारार्हम् ।

६२ ११ अनुयोगः = निमग्नणम् ।

१२ अन्ते भवम् अन्यम् । आसनमित्यर्थः ।

१३ अत्रापि 'येऽप्रवृत्ते' इति ग. च. ज. पाठः ।

१३ न्यत्ययः = शब्दानां वाक्ये यत्र कुत्रापि प्रयोगः ।

१५-१६ ब्रह्म (वेदार्थः) परिरक्षितव्यमित्युरेतेनादिमग्नान्तभवाः शब्दाः कदा-
चिदुत्पद्यन्ते कदाचिदप्रच्छाद्यन्ते वापिधीयन्ते वा (प्रच्छन्नापिहितसं-
न्दावेकार्थवेव) कदाचित्स्वस्थस्थानेभ्यः प्रप्यान्यान्वत्र प्रयुज्यन्ते ।

६४ ५ प्रतिविशिष्टम् = अतिशयेन विशिष्टम् ।

१७-१८ 'कतमः सः' इति पाठोऽपि माधुः । ग. ज. पाठः 'कयः
तमः' = यः कतमः ।

६५ २२ वयमेतद् भूम (इति) न वितर्कयति ।

- पत्रं
६६ 'न वै सु विदुरिव मनुष्या नक्षत्रे मीमांसन्त इव'
(काठ. सं० ८ । ३) । 'न वै सु विदुरिव मनुष्या यज्ञम्'
(८ । १३-इति । इदमवतरणद्वयमाधानब्राह्मणे । 'तस्मा-
त्पुरुषश्चाध्वश्च नक्तं प्रत्यञ्चौ न सु विज्ञायेते इव ' (६
२) । इदं दर्शपूर्णमासब्राह्मणे । 'कठानां दर्शपूर्णमास-
प्रकरणे आधानेप्रकरणे' ४. पुस्तकप्रान्ते-टिप्पणी ।
- ६७ १ मर्तृन्प्रति विप्रलम्बमानाः ।
२ तेन तेन कर्मणा ।
८ 'एतानपि' 'एतेषामपि' अत्र अपिशब्देन तेषां दुष्टा-
चरणं लक्ष्यते ।
- ६७ १९ तर्हि नरकं पताम पतिष्याम इत्यस्माकं परिभवम् ।
२० समाहिताः = संक्षेपेणोदाहिताः ।
२४ निगमनार्थः = विषयसमाप्तिद्योतनार्थः ।
तद्यान्येतानीति प्रतिज्ञां प्रथमे खण्डे कृता । तस्या अभ्यासः
पुनरुक्तिरत्र क्रियते ।
- ६९ २१ डविरयः = दारुमयो मृगः । अरविन्दः = कमलं वक्तुं
वा । 'अवाविड'शब्दो न कुत्राप्युपलभ्यते ।
२४ समर्थता = उपपत्तिः ।
२५ लक्षणेन अविप्रतिपत्तिरविरोधः ।
७० १ अविप्रतिपत्तिः = मताभेदः ।
६-७ उपलक्षणमूलाः = सहायमूलाः ।
७ अनुसहायभावं प्रति = सहाया इति ।
८ शब्दस्याप्रच्युतौ = शब्दो धातोर्न प्रच्यवते । धातुः शब्दे
दृश्यते । शब्दोऽभिधानं वा धातानुपलभ्यते दृश्यते । तदि-
दमभिधानं लोके प्रचलते अयुज्यते । गच्छति काले शब्दोऽर्थो-
न्तरमापद्यते ततश्च धातुस्या क्रिया न लभ्यते । कर्तृकर्म-
दर्शकाः प्रत्यया अपि उपरता अदृष्टा भवन्ति । तदा क्रिया
न साक्षाल्लभ्यते किंतु निरूप्या प्रकृत्या भवति । अभिधानं
केवलं विशिष्टं वस्तु निर्दिशति । तदिदमभिधानं रूढमभि-
धानमित्युच्यते । इदं वाक्यं प्रायो दुर्बोधमेव ।

पत्रं पङ्क्तिः

७० १० स्वदिशब्देषु प्रकल्पिताः क्रियाः केवलं शब्दान् व्युत्पादयन्ति । शब्दार्थानानुगच्छन्ति । शब्दार्थाः क्रियाभिर्न समर्थ्यन्ते । शब्दार्थे या क्रिया शब्दरूपे च या क्रिया तयोर्न कोऽपि संबन्धः ।

३४ 'अन्वितौ अतौ अनुगतौ' इति घ. ट. पाठः । 'अतौ' अन्वितौ इति शब्दः स्यात् । 'अन्वितौ । अन्वितौ अनुगतौ' इति पाठः स्यात् ।

३५ न्यायवान् = अष्टाध्यायीलक्षणोपेतः । कर्मकृतम् अथवा कर्मण आख्यातादुत्पन्नं नाम कर्मनाम । 'तस्येदम्' अनेन पाणिनिसूत्रेण (४ । ३ । १२०) कर्मनामिकः (संस्कारः) । यदाख्यातेभ्यो नामान्युत्पाद्यन्ते तदा विशिष्टाः प्रत्यया विशिष्टपाणिनिसूत्रानुसारेणोपयुज्यन्ते । 'कारक' इत्यत्र अकप्रत्ययो वृद्धिश्च । 'कर्ता' इत्यत्र तृप्रत्ययो गुणश्च । एतादृशानि न्यायवत्कर्मनामिकसंस्कार-स्थोदाहरणानि ।

'न्याय०० 'संयुक्तेन संस्कारेण' इति क. ख. घ. झ. ट. ठ. पाठः । न्यायवन्तः कर्मनामिकाः कर्मनामान्युत्पादयितुमावश्यकः प्रत्यया गुणवृद्ध्यादयश्च विकाराः । तैः संपुष्कः संस्कारः । नायं पाठः समीचीनः ।

३७ आख्यातजं = गुणकृतं धातूपन्नम् ।

३८ अनुगतौ = दृष्टौ । अथवा । 'धातुरूपेणानुगता' इत्यन्वयः स्यात् ।

३८ न्याय्यः = न्यायादनपेतो न्यायवान् ।

२१-२२ च. पुस्तके 'संविज्ञानपदत्वम् । यच्च संविज्ञानभूतं स्यात् । तथा वृत्रहा पुरन्दर इत्येवमादीनां' नास्ति ।

७१ ३ 'पाचरु' इत्यत्र ग. च. ज. पाठः 'पायक' । लेखने चर्वा सदृशो भातः ।

७ तत्कृतः = प्रदेशकृतः ।

लक्षणेन शब्देऽनुग्रहः क्रियते शब्दरूपं व्युत्पाद्यते । शब्द-व्यवहारे वा व्युत्पाद्यते । लक्षणरूपोऽनुग्रहोऽवयवो वा ।

- पत्रं षष्ठिः
- ७१ १३ 'संविज्ञानानि' इति न कस्मिन्नपि पुस्तके पाठः ।
 १३ 'अथवा' इत्यस्य न किमपि स्वारस्यम् । अत्र न काश्चि-
 न्नीनः पक्षः प्रस्थाप्यते ।
 १४ प्रदेशशब्दः सत्त्ववाचीति मत्वा ।
 २१ यत्किञ्चित् कर्म ।
- ७२ ४ ईदृशक्रियानिरपेक्षः (च. ठ. पाठः) = आह्वयातजानि
 सर्वाणि नामानीति मत्वा अशनादिसदृशक्रियाम्यो वामव्यु-
 त्पत्तये योऽयं प्रपन्नः सर्वोऽपि स व्यर्थो यस्मान्नामानि
 व्यवहारे क्रियानिरपेक्षाण्येव प्रयुज्यन्ते ।
 १६ 'दरसया' इति ठ. पुस्तके निरुक्तमूले पाठः (६८।१२)
 टीकायां तु 'दर्शया' । 'दर्शया' इति छ. द. पाठः ।
- ७३ २० प्राप्नोति = आवश्यकं शब्दरूपं भवति ।
- ७४ १८-१९ निरुक्तं चतुर्दशप्रमेदं = निरुक्तस्य चतुर्दशाध्यायाः ।
 २३-२५ भू + लट् (वर्तमानकालप्रत्ययः) । 'हलन्त्यं' (पा० १ ।
 ३ । ३) 'लशक्वतद्धिते' (पा० १ । ३ । ८)
 इत्येताभ्यां सूत्राभ्यां लटौ इतौ । 'तस्य लोपः' (पा० १ ।
 ३ । ९) इत्यनेन तयोरनुबन्धयोर्लोपः । भू + अ ।
 'लस्य' (पा० ३ । ४ । ७७) तिबादय आदेशा
 भवन्ति । भू + ति । 'कर्तरि शप्' (पा० ३ । १ । ६८)
 इत्यनेन भू + अ + ति । गुणादेशेन भवतिरूपम् ।
 कृतः अनुबन्धयोः (लटोः) लोपो यस्य । अनच्कस्य =
 अञ्चिरहितस्य । ल एव स्थाने आदेशा नाकारस्य स्थाने ।
 'लट्' इति सानुबन्धं सूत्रमधीयते लटोश्च लोपं कुर्वन्ति ।
 ७५ ८ धातुसमुदायमात्रम् अनेकधातुजं नामेति शब्दानुवि-
 धानमार्गः तेषां गार्ग्यपाणिन्यादीनाम् अप्रसिद्धः न
 शास्त्रसिद्धोऽत एवासंमतः ।
 ८ यतः = अतः ।
 १० प्रतायमार्गः = न्युत्पाद्यमानः संस्क्रियमाणो वा ।
 १६ पदेतरार्थान् = एकस्य पदस्य इतरान् इतरान् अर्थान् भागान् ।
 मागवाची 'अर्ध'शब्दः पुंसि । समांशकवाची नपुंसकः
 ('अर्धं नपुंसकम्' पा० २ । २ । २) ।

पत्रं

पङ्क्तिः

७५

१७ इतराणीतराण्याख्यातपदानि तेषामवयवैः ।

अन्यमर्थम् = अन्यमन्यमर्थम् । 'अन्यदन्यदर्थम्' इति सप्रमादः
पाठो यतोऽस्मिन्नेव वाक्ये 'अर्थान्' इति पुंलिङ्गः प्रयोगः ।२० कारितान्तं कारितप्रत्ययान्तम् । 'कारितम्' इति 'णिञ्'
इत्यस्य प्राचीनसंज्ञा । 'इ' इत्यस्य कारितरूपम्
'आयय्' ।२२ न कारितान्तं किंतु शुद्धमेव । तत्कारितान्तं (पाठभेदः) =
तत्कारितः तत्कारयुक्तः अन्तो यस्य ।

७६

१५ सा संज्ञा ।

७७

२४ वाक्योपादाने = गार्ग्यस्यैकैकं वाक्यमुपादत्ते निरसनाय ।

७८

१ आचार्येण गार्ग्येण । प्रसिद्धमाख्यातजत्वं गार्ग्याचार्येण प्रति-
पिद्धम् ।

२ समीकरिष्यामि = प्रतिपादयिष्यामि ।

६ समीकरिष्यामः = निराकरिष्यामः ।

१२ आख्यातशब्दो नपुंसकः । तस्मात् 'ः आख्यातान्'
(पाठभेदे) इत्यपपाठः ।

उपेक्ष्य = कल्पयित्वा ।

अनुविधेयो अष्टाध्यायीलक्षणैः । यावद्द्रव्यं यावदुपलब्धं
शक्यो तावत् ।१२-१३ लक्षणानां गतिः विन्ध्यी = व्याकरणलक्षणान्यप्रतिवृत्तं च-
राणि । प्रायः सर्वे शब्दा लक्षणेः व्युत्पादयितुं शक्यन्ते ।

१५ अन्यत् = शाकटायनव्याकरणान् स्वदधीताद्वा ।

१६ लक्षणानामेकैकदेशा इन्द्रचन्द्रकाशशृङ्गान्नापिरादिशाकटा-
यनपाणिन्यमरजनेन्द्राणां व्याकरणेषूपलभ्यन्ते ।१७ अपि च पाणिनिव्याकरणेऽपि (अष्टाध्याय्या) केचि-
द्विधयः सूत्रेषु स्पष्टं दीयन्ते । केचित्तुनः 'तु च वा'
निपातेभ्योऽतिरिक्तम् अमिष्टाहारम् अथ गृहीत्वा एकं सूत्रं
द्विधा विभज्य अन्यैश्चेतादौः साधनेर्लभ्यन्ते । 'अतिरिक्त-
आहार' इति पाठे एतेनां निपातानामतिरिक्तः अधिकः

पत्रं

पङ्क्तिः

७८

अर्थः अध्याहारश्च । पाणिनिसूत्रेषु न कदाऽप्यध्याहारः क्रियते । 'अतिरिक्तः अध्याहारः' इत्यत्र अतिरिक्तपदस्य न कोऽप्यर्थः ।

१७ 'धाविधिः तुः' इति घ. झ. ट. पाठे 'धातुः + विधिः'

'इति द्वौ पाठौ । 'धातुः' इत्यपपाठः ।

१८ व्याकरणसंप्रदायेषु प्रायशोऽभिनेष्वपि कश्चिद्विधिरस्मिन् व्याकरणे दीयते कश्चिदन्यस्मिन् ।

२० यया यैयाकरणाः शब्दरूपाणि साधयितुं भिन्नभिन्नव्याकरणस्थलक्षणान्यबलम्बन्ते तथा स्वरसंस्कारावनुविधातुं सशास्त्राविति प्रतिपादयितुं निरुक्तकारैरवश्यं प्रपतितव्यम् ।

२० 'अखिलस्वरः' इति पाठे अखिलशब्दो व्यर्थः । यत्र स्वरसंस्कारौ साधारणलक्षणैरनुविधातुं न शक्येते तत्रैव सर्वाणि लक्षणशास्त्राण्यपेक्ष्याणि न तु अखिलस्वरसंस्कारसिद्धये ।

२१ अनिर्विण्णः = निर्वेदनं नैराश्यं न गत्वा ।

७९ ८ अत्र द्वौ पाठौ । 'न चेदानीं' 'न वेदानीं' 'संयुक्तः' 'संयुज्यते' 'एकेन वा' 'सत्यमेकेन वा' । 'न चेदानीं न वेदानीं' तथा 'संयुक्तः संयुज्यते' इत्यत्र च न कोऽप्यर्थभेदः । 'एकेन वा सत्यं लब्धम्' इत्येकस्य पाठस्यार्थः । 'एकेन वा वस्तु लब्धम्' इत्यन्यस्य ।

१३ कश्चिन्मनुष्यः कस्मिंश्चित्स्थले कस्मिंश्चित्काले च तक्षतीत्यस्मात्कारणाच्च स तक्षा । प्रसङ्गेन तक्षणं कुर्याणो न तक्षा ।

८० १ यो ज्ञात्वा तक्षा यः सर्वेषु स्थलेषु कालेषु च तक्षेत्यभिधीयते स एव नियमेन तक्षति अन्येऽनियमेन तक्षन्ति । तस्माच्च ते तक्षाणः ।

'तक्षेति' इति पाठे यः सर्वदा सर्वत्र च तक्षा स एव तक्षेत्यभिधातव्यः ।

२ 'लक्षणम्' इत्यपपाठः । 'तक्षणम्' इति मूलपाठः

पत्रं

पाङ्क्तिः

८०

स्यात् । तदेतत्तक्षणम् अनियतम् अन्येषु ये जात्या न तक्षणैस्तेष्वपि भवेत् । किंतु ते न तक्षाणः ।

‘ कदाचित्कचित् ’ इत्यस्य ‘ काममन्येष्वप्यस्तु ’ इत्यनेनान्वय इष्टः । तक्षभिन्नाः पुरुषैः तक्षण क्रियमाणं कदाचित्क कचित्कं चात एवानियतम् । ३ किंतु तेषां तक्षणानियमः (लक्षणानियमत इत्यशुद्धः पाठः) । तक्षायाः (= तक्षणायाः) अनियमः । अत एव तक्षतीति कर्म तेषु विशिष्टम् । तक्षभिन्नाः पुरुषा यत्तक्षकर्म कुर्वन्ति स तेषां विशेषः । न सा तेषां वृत्तिः । ‘ तेषां तु तक्षणानियमतस्तक्षतीति विशेषः ’ इति मूलपाठः स्यात् ।

४ ‘ अङ्गारकः कुजो मौमो छोहिताहो महीमुतः ’ इति पञ्चमङ्गलस्य (अमरः १ । ३ । २५) ।

१३ ‘ ठभयम् अपि ।

१८ सर्वाणि सत्त्वानि ।

८१

१ एवमाह्वयमानानि कानिचित् ।

३ प्रकृत्यादिना अप्रतीतार्थानि = का प्रकृतिः कः प्रत्यय एषु शब्देषु इत्यप्रतीतार्थान्यपि सत्त्वनामानि ।

३ शास्त्रार्थत्वं=शास्त्रम् इति अर्थः प्रयोजनम् उपपुक्तता वा । शास्त्रं शास्तीति तस्योपपुक्तता । ‘ शास्त्रत्वम् ’ इति समीचीनतरः पाठः ।

५ अप्रतीतार्थेषु शब्देषु लक्षणशास्त्रं रुढिमनुविधत्ते रुढशब्दान् प्रतिपादयति । अत्र लक्षणं न मुख्यया वृत्त्या साकल्येन वर्तते । लक्षणस्य तत्र गौणी वृत्तिः ।

६ प्रतीतार्थान्यपि शब्दरूपाणि सन्ति । प्रतीतार्थाः शब्दाः अल्पप्रयोगा इति वस्तुतोऽन्वयः ।

७ ‘ कृदतिङ् ’ (पा० ३ । १ । ९३) = तिङ्भिन्नः प्रत्ययः कृत्संज्ञः स्यान् यथा कः किल् इप्पुच् । ‘ ऐकपदिकम् ’ इति निरुक्तस्य द्वितीयप्रकरणस्य संज्ञा ।

८ तद्वर्माणः = अनवगतसंस्काराः । एते शब्दा ऐकपदिकप्रकरणे न वर्तन्ते किंतु तत्सदृशा एते ।

पत्रं

पङ्क्तिः

८१

९ व्रततिः = प्रव्रततिः । यस्य वभावः । प्रकृष्टा ततिर्यस्याः ।
ततिः = तन् + क्तिन् । दुर्गमते व्री + ततिः = तति व्रीणातीति ।
व्रीततिः = व्रततिः । वृणीते ततिमित्यपि स्यात् । ' वृ '
इत्यस्य वभावः ।

१० ' दमेरुनसि ' इत्यनेन दमुना दमूना वा ।

१० ' अग्निरतिधिर्वा इति ' दमूना ' इत्यस्यार्थः ।

११ ' जाय्यः = जटाम्यः ष्यञ् (काल्पनिक उणादिः) ।

अट् + णारः (काल्पनिक उणादिः) ।

जागरूकः । ' जागरूकः ' (पा. ३।२।१६५ ।)

१२ दर्वि + ड् + मिन् । नैते शब्दाः सुगमाः । यास्कमते तु प्रती-
तार्था एते भवेयुरिति सुगमत्वेनैत आख्यायन्ते । एतेषां
शब्दानां प्रयोगा ऋग्वेदेऽन्वेष्ट्याः ।

८२

१ अन्यथाऽपि हि = यथनेक्रियाभावेऽपि पृथुदर्शनक्रिया
विद्यते एव ।

४ दृष्टमवादाः = यथा दृष्टं तथा ये प्रवदन्ति ते ।

५ ' दोषः ' अयम् अशुद्धः पाठो भाति । ' दोषयुक्तः ' इत्यर्थः ।

१२ अनुगमम्य = अनेके धातव एकाभिधानगतानर्थाननुग-
च्छन्ति । आचार्यस्तैर्धातुभिस्तानर्थाननुगमयति ।

१२ " तान् धातून् " इति द्वितीययास्मिन्वाक्ये भाव्यम् ।
यथा ' शत्रून्गमयत्सर्गम् ' इत्यत्र ।

१४ तेषां पुरुषगर्हा = एतां गर्हा योऽनन्वितेऽर्थे संचस्कार
सोऽर्हति न शास्त्रम् । अयं सरलोऽर्थः । दुर्गस्तु ' य
आचार्यशाकटायनस्याभिप्रायं न जानाति स गर्हाः ' इत्यर्थं
करोति ।

८३

१ यस्मात्कारणाद्भ्रम उद्भियमाणं सन्नवमैत् नवं नूतनं रूपम-
भवत्तस्मान्नवं च तन्नीतं चेत्युद्धृतस्य सारपिण्डस्य नवनीत-
नाम संपन्नम् । यस्मादग्निसंपर्के सति पिण्डो विहीयमानोऽ-
सर्पत्पसृतोऽमूतस्मात्सर्पिरिति नाम ।

' यन्नवमैत्तन्नवनीतमभवच्चदसर्पत्तत्सर्पिरभवच्चदभियत तद्धृत-
मभवत् ' (तै० सं० २।३।१०) । संहिताक्रमो दुर्गेण
किमर्थं त्यक्त इति न शक्यते ।

पत्रं

पङ्क्तिः

८३

४ तत्र = ब्राह्मणे । अथवा । तत्र तत्र ।

६ अभिहरन्ति बलिम् ।

७ ददन्ति वीर्यम् ।

५-९ लिखितपुस्तकेषु स्वरा न विद्यन्ते ।

१० तद्ब्राह्मणप्रमाणमनुद्श्य ।

१७ योगेन = क्रियायोगेन ।

१८ क चान्यत्र० = अन्येषु केषुचिन्नामसु नोपपद्यते । 'क चान्यत्रोपपद्यते' इति पाठे एषोपपत्तिरन्यत्रापि केषुचिन्नामसु दृश्यते । अन्यान्यपि कानिचित्सत्त्वानि पश्चात्कालीनया क्रियायाख्यायन्ते ।

१९ अनैकान्तिकत्वात् = अन्यापकत्वात् । नैतद्युष्माकं यचनं सार्वत्रिकम् ।

२१ बीजानां भूतं = बीजपूर्णम् ।

२२ मक्ष्यमाणं सत् जनं विमर्ति पोषयति ।

२४ अतिबहिव = अतिविस्तृतम् । इषो भूशार्धे ।

२-६ यस्मादन्युत्पन्नबुद्धिः शिष्य इदं व्याकरणं निरुक्तं वाऽप्रमाणमिदमन्यत्प्रमाणमिति वक्तुमसमर्थस्तस्मात्तेनेदृशेनाभ्यासेन न्युत्पन्नबुद्धिना भाव्यम् ।

८४

६ वदुक्तुं (घ. ट. पाठः) = वक्तुं + वदितुम् (!) ।

८५

४ अपीति संभाषणे = इदं शास्त्रं विनाऽर्थसंभवो नास्ति । पदस्य वाक्यस्य वाऽर्थो न लभ्येत ।

८ अपि वाक्यार्थे = नापि वाक्यार्थे ।

९ निराकारं साकारं वा यदं भवति ।

१४ गौर्न वहति न दुग्धे किंतु गच्छत्येव । यो गच्छति स गौर्नाश्वो न वा गर्दभः ।

८५

१५ * प्रकरणाविरोधी ? इत्यशुद्धः पाठो यस्माद्वाक्यार्थस्य प्रकरणेन विरोधोऽयमेव । प्रकरणाविशेषेण (घ. पाठः) = प्रकरणामेदेन प्रकरणाविरोधेन । विशिष्टस्य पदस्य कोऽर्थ इति वाक्यार्थान्निधीयते ।

१६ 'सुतिरुन्तं पदम्' पा० १ । ४ । १४) । अवार्थस्य न किमपि प्रयोजनम् । पदार्थः पदादिभिः ।

पञ्च

पाङ्क्तिः

८५

१६-१७ पदानां का प्रकृतिः कः प्रत्यय इत्यादिज्ञाने पदार्थसंनियोगो-
नावश्यको न वा पदानामर्थाः । निरुक्तशास्त्रगौरवार्थमि-
दमप्रमाणमभिधीयते दुर्गाचार्येण ।

१७ पदानां प्रकृतिप्रत्ययादिपृथक्करणं व्याकरणाद्भवति ।

१९ 'अनवत्तार्थस्य' (ग. ज. पाठः) । अवत्तः (अव + दा)
= गृहीतः ।

२४ स्वरसंस्कारावर्येऽदलभ्येते इति वचनमप्रमाणम् । 'हरिः'
इत्यस्य बहवोऽर्थाः । तथाप्यर्थभेदे स्वरसंस्कारौ न
भिद्येते ।

८६

७ व्याकरणे यत्स्वरसंस्कारानुचिन्तनं तदर्थाधीनम् । अर्थश्च
निरुक्तादेवाधिगम्यते ।

८ यथा 'उणादि'प्रकरणं पाणिनिव्याकरणस्य सौप्तभूतं
तथा ।

९ स्वार्थजहृद्गुणः = स्वार्थमपरिहाय । 'जहृद्गुणा' 'अजह-
द्गुणा' एतौ शब्दावलंकारशास्त्रे उपलभ्येते ।

१० 'अपरिहाय' इति णिच्चाऽत्र न किमपि प्रयोजनम् ।
'आत्मानं स्वार्थमपरिहाय' इत्यन्वयः स्यात् ।

१४ अर्थनिर्वचनरूपं विद्यास्थानम् ।

२२ चेदं शास्त्रं च (च. पाठः) = अत्र चद्वयस्य न किमपि
प्रयोजनम् ।

२३ वृथेति वा = वृथा वेति ।

२५ 'केचिदाहुः' इत्यस्मात् दुर्गसदृशा अन्येऽपि निरुक्त-
व्याख्याकारा अभवन्निति भाति ।

८७

१ वाचोयुक्तयः = प्रयुक्ता वाचः । 'पटुवचनानि' इति
सामान्यार्थः ।

२ नियतम् आनुपूर्व्यं याताः । नियतनिष्ठेत्यादि घ. श. ट.
पाठोऽनुद्धो दुर्बोधश्च । 'नियतानुपूर्वा' इति ठ. पाठोऽ-
तीव सुस्पष्टः ।

■ इति मन्त्रेऽभिधानानि नियतानि सन्ति ।

५ नियतनिष्ठा = नियता । अथवा नियता = निष्ठा । नियता
आनुपूर्वी तथा ।

पने पङ्क्तिः

८७ यथा गवादिप्रयोगे ।

‘ गौणी ’ इति गवार्ये देशीशब्दः । अभ्याज = बहिर्नय ।

२० ‘ उरु प्रथा इति प्रथयति ’ (कात्या० श्रौ० सू० २।५।२०) ।

२१ नियताक्षरपादावसाना ऋक् । अनियताक्षरपादावसानं यनुः ।

२४ ‘ अघ्वर्युणा सोमाभिपवे कृते उद्गातारो हस्तद्वयेन द्रोणकल-
शमालभेरन् । ऋतुपात्रमसीति (हविर्धानशकटस्य)
अक्षस्याधस्ताद् द्रोणकलशं माश्वं प्रोहेयुः । वानस्पत्योऽसि
ब्राह्मणस्पत्योऽसि प्रजापतेर्मूर्धास्पत्यापुपात्रमसि इदमहं मा
माश्वं प्रोहामि तेजसे ब्रह्मवर्चसायेति ’ (अग्निष्टोमपद्धतिः
पत्रं १९ कलिकातायां १७९६ शके मुद्रिता) । ‘ अभि-
पुते राजनि ऋतुपात्रमसीति द्रोणकलशमालम्ब्य वानस्पत्य इति
प्रोहेयुः ’ (लाटपायनश्रौ० सू० १।९।२०) ।

२५ ‘ प्रोहाणि ’ इत्यनुज्ञाप्रश्नः । अनुज्ञाप्राप्तौ प्रोहति । इदं
ब्राह्मणं द्रोणकलशस्य प्रोहणं विधत्ते ।

२४-२६ कुत्रत्योऽयं यजुर्मन्त्र इति न ज्ञायते । लाटपायनब्राह्मणस्यः
स्यात् । इदं ब्राह्मणं न कुत्राप्युपलभ्यते ।

१ लिङ्गसंपन्नस्य लिङ्गयुक्तस्य मन्त्रस्य कर्मणि विधानात् ।
५ कस्मिन्देशे कस्मिन्काले केन का च दक्षिणा देयेति ज्ञानं
ब्राह्मणादेवोपलभ्यते । कर्मसंपत्तय एतज्ज्ञानमावश्यकम् ।
तैर्दिनाः कर्म साङ्ग न स्यात् ।

१-७ ‘ मन्त्रब्राह्मणमोर्वेदनामधेयम् ’ । (हिरण्य० श्रौ० १।१) ।
वेदैकदेशस्य = ब्राह्मणस्य । ‘ वैदैकदेशस्य ब्राह्मणाख्यस्य ’
इति च. पाठः ।

८ ‘ कर्मविधानं ब्राह्मणानि ’ (हि० श्रौ० १।१) इति
ब्राह्मणानां विव्यर्थत्वं ‘ तच्छ्रेयोऽर्थवादः ’ (हि० श्रौ० १।
१) इत्यर्थवादानां स्तुत्यर्थत्वम् ।

१० कामं = मन्त्रा अनर्थका इत्यनुमन्तव्यमेव मन्त्रा । अनर्थकाः ।
किन्तु यदाकदाचिदेतेष्वर्थः कल्प्येत न महता श्रमेण लभ्य-
मानोऽर्थो नोपपद्यते ।

१२ मन्त्राः कर्मसु विधेया विनियोग्याः । यस्तुनस्वनर्थकास्ते.

पत्रं

पङ्क्तिः

८८

१८ यदा यूपवृक्षस्य कुशमन्तर्धानं करोति तदा कुशं ब्रवीति ' हे कुश (ओषधे) इमं यूपवृक्षं स्वधितिमयात्रायस्व ' इति ।
यदा परशुनां (स्वधितिना) वृक्षं प्रहरति तदा ' हे स्वधिते (परशो) यूपवृक्षमेनं मा हिंसीः ' इति ब्रवीति । ' ओषधे त्रायस्वैनं स्वधिते मेनं हिंसीः ' इति मन्त्रः क्षौरकर्मणि पशुमारणे च विनियुज्यते । ' ओषधे त्रायस्वैनमित्यूर्ध्वान्नं दर्भद्वयमतर्धाय स्वधिते मेनं हिंसीरिति स्वधितिना प्रहरति ' इत्यापस्तम्बः ।

८९

२-३ ' विप्रतिषेधः ' इत्यस्य द्वावर्थौ । विरुद्ध्यर्थेन प्रतिषेधः । अर्थयोः । ' विप्रतिषेधः = व्याघातः ।

१८ रुद्ररूपतामापन्नस्याग्नेरुपशमनार्थो होमः शतरुद्रियः ।
' शतरुद्रिये ' (ग. ज. पाठः) इति दीर्घमपि (तै० सं० का० ५ । ४ । ३ शतरुद्रियं जुहोति) । ' जर्तिट्य-
काभ्या वा जुहुयाद्गर्तीधुकयवाभ्या वा ' ' अथो लखाहु-
रनाहुतिर्वै ' जर्तिट्याश्च गर्वीधुकाश्चेत्यजक्षीरेण जुहोत्याग्नेयी
षो एषो यदेजा ' (तै० सं० का० ५ । ४ । ३) ।
' स्वयमातृष्णां च विकर्णां चोत्तमे उपदधाति । नान्यामुत्त-
रामिष्टकामुपदध्यात् ' (तै० सं० का० ५ । ३ । ७) ।

१९ अग्निचर्यने = इष्टकानामग्निसंज्ञके चर्यने ।

गवेधुकाः = आरण्या गोधूमाः ।

सक्तुस्थानेऽजाक्षीरमिति केचित् ।

गवेधुकाः सक्तवः = गवेधुकानां भर्जितं पिष्टम् । उत्तरस्यां
श्रोणौ = उत्तरपश्चिमस्यां सक्तौ ।

२० चयनस्योत्तरस्यां श्रोणौ अन्त्यायां चरेमायामिष्टकयामेव नाम्नौ ।

९०

४ षोडशिं शस्त्रम् । स्तोत्रं गीयमे शस्त्रं पठ्यते । स्तोत्रिषा-
नुरूपं शस्त्रम् । साधो या प्रथमा ऋक्सैव शस्त्रस्य प्रथमा
आक् । षोडशिनाम्नी संस्था यागो या । तत्र ' त्वं
सिन्धून् ' इति वृत्तं शस्यम् ।

१६ साक्षिचिन्त्ये क्तनौ चित्यप्रिपु प्रणीयमानेषु शक्षिगतो वनता

पत्रं पङ्क्तिः

९० ब्रह्मणैतत्सूक्तं जघ्मम् । अप्रतिरय इन्द्रोऽस्या ऋचो देवता ।
अप्रतिरये सूक्ते ।

१६-१७ 'रुद्रो वा एष यदग्निः' (तै० सं० ५ । ४ । ३) इति
चयनस्यैवाग्निसंज्ञा । तस्मिन्नग्न्याख्ये चयनेऽग्निः प्रणीयते ।
तदेदं सूक्तं (ऋ० सं० १० । १०३ । १) पठनीयम् ।

९१ ८ 'अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि' इत्यध्वर्युर्होतारं संप्रेष्यति होता
च सामिधेनीमन्त्रान् पठति ।

१८ एवमर्थम् = एतेनोद्देशेन । इयम् = ऋक् ।

१९ किमपि = कारणं विना ।

२४-२५ अग्न्यक् इत्यादयः शब्दा निघण्टुचतुर्थाध्याये समागता
निरुक्ते निरुच्यन्ते ।

२७ अर्धवैशतम् = अपूर्णा हत्या । अन्याय इत्यर्थः ।

९२ १७ निदानं = निधयः ।

९३ ३ 'कर्मणो यदङ्गं रूपसमृद्धं भवत्येतदेव यज्ञस्याङ्गेषु समृद्धं
संपूर्णम् । न तु तस्मिन् किञ्चिदपि वैकल्यमस्ति । कर्म
रूपसमृद्धिरिति चेत् पठ्यमानेयमृगनुष्ठीयमानं कर्माभिवदति
साकल्येन ब्रवीतीति यदस्ति एवैव रूपसमृद्धिः ' (सायण-
भाष्यम् ऐ० ब्रा० १ । ४) । दुर्गकृतोऽर्थो न स्पष्टः ।

४ ऐ० ब्राह्मणे 'यजुर्था' नास्ति (ऐ० ब्रा० १ । ४ ॥ १ ।
१३ ॥ १ । १६ ॥ १ । १७ ।) । डेक्कनकॉलेजस्य-
ग्रन्थालये ^{१०} _{३८७१-८०} निरुक्तमूले 'ऋगभिवदति' इति पाठः ।
अन्यत्र सर्वत्र वृत्तिपुस्तकेष्वपि 'ऋगंशुर्वाभिवदति' इति ।

७ घ. ङ. ट. पुस्तकेषु ब्राह्मणवाक्ये (३) अत्र च 'यद्रूप-
समृद्धं' नास्ति ।

'यद्रूपसमृद्धं तदेव हि०' इत्यादि ठ. पाठः साधुतरः ।

यद्रूपसमृद्धं मन्त्रलिङ्गैरभिधीयते = यदा मन्त्राः कर्म
कर्माङ्गं वा रूपसमृद्धं रूपसंपन्नं कुर्वन्ति तदैव तत्समग्र-
कल्पात्समृद्धं भवति । मन्त्रैर्विना रूपसमृद्धिर्नास्ति । या रूप-
समृद्धिः सैव यज्ञकर्मस्य समृद्धिः । १३ 'अथापि....
विधीयन्त' इति ब्रुवता भवता ।

पत्रं पङ्क्तिः

- ९३ १७ यस्मात् क्रीळन्ताविति ऋग्वेदाहियते तस्मात् ' ऋगभिन्न-
दति ' इति ऐ० ब्रा० मूलापाठः स्यात् ।
- १९ विवाहरूपं कर्म ऋष्यवैः समृद्धं क्रियते ।
- २० ' वियुज्येताम् ' इत्यशुद्धः पाठः ।
- ९४ ४ नियतानुपूर्वत्वं (च. ठ. पाठः) = नियतम् आनुपूर्वं येषां
तेषां भावः । आनुपूर्वम् आनुपूर्वम् आनुपूर्वम् इति त्रीणि
रूपाणि ।
- ५ ' अजायदन्तम् ' (पा० २।२। ३३) इत्यनेन ' इन्द्राग्नी ' ।
' अभ्यर्हितम् ' इति वार्तिकेन च पितापुत्रौ ।
- १३-१४ असमर्थो इति न विधीकन्ते । आत्मनः (मन्त्राणां)
विनियोगः (कर्मणि) । तस्याश्रयः कारणम् (अनुरूपः)
अर्थः ।
- १५ मन्त्राणां योऽर्थस्तस्य संतुष्ट्या सम्यक् स्तोतुमिच्छा ।
- १८ प्रकरणे = कर्मणि ।
- १९ यथा धान्यखले कपोताः संनिपतन्ति तद्वत् ।
- १ त्वं पूर्वा यस्य सः त्वत्पूर्वकः । त्वमस्य छेदनस्य साक्षिणी ।
- ५ प्रतिमनस्यते (च. पाठः) = छेदनस्य प्रतिबन्धं कारिष्यते ।
- ७ अतत्र (घ. झ. ट. पाठः) = अत्र + तत्र ।
- ८ ' प्रतीयेत ' इति निरुक्तपाठः (९.२ । ७) । अत्र तु
' प्रतीयते ' ।
- ११ आघ्रायः = आगमः ।
- १५ अपि चैतत् = अन्यत्समर्थनं यत् ।
- ' इन्द्राय राज्ञे सूक्तो वरुणाय राज्ञे कृष्णः ' इति सैत्तिरीय-
संहितायाम् (५ । ५ । ११ अनुवाकादारम् ५ । ५ । २४
इत्यनुवाकेषु) पशुमृगपक्षिसरीसृपा यज्ञियाः कर्ष्यन्ते । तेषु
हन्त्यमानेषु ' न वा उ एतन्त्रियसे ' इत्यस्मादिदेशः
क्रियते । पशवः = सूक्तादयः । मृगाः = कृष्णमृगादयः ।
पक्षिणः = चटकादयः । सरीसृपाः = नीलह्वादयः ।
ओषधिः = दर्भाः ।
- १८ ' पर्व ते राध्यासमिष्याहर्ष्य आग्नेया ते मा रिपमित्याह च '
(तै० ब्रा० १ । २ । २) इति दर्भच्छेदने । ' वेष्णवो वे देव-

पत्रं
९८ पाङ्क्तिः

भट्टोजीदीक्षिताः । पराश्चावराश्वेति परोवरा इति समासे
अवरस्योत्वं निपात्यते । किंतु नायं स्वतन्त्रः शब्दः । तेन
' पारोवर्यम् ' इति शब्दोऽसाधुरेव । यदि यास्कः पाणिनेः
प्राचीनस्तर्हि ' पारोवर्यवित्सु ' इति शब्दः पाणिनिना
ज्ञात एव स्यात् । तेन स शब्दः साधुरेव भवति । पुत्रपौत्र-
वत् ' परोवर ' इति शब्दः स्वतन्त्रः स्यात् ।

परोवराः = प्राचीनार्वाचीना आचार्याः ।

१३ अनेकविषये बहुदृष्टत्वात् = नानाविषयसंबद्धं बहुज्ञानं तेना-
सम् । ' जानपदीष्टु० ' इत्यस्य च. ट. पुस्तके प्रान्ते
विवरणं ' यथा जनपदे भवा याः ओदनउदकाद्याः शिल्पि-
क्रिया वा चित्रकर्मोद्याः तासु विद्यातः पुरुषाणां विशेषः ।
य आगमने शिक्षति अम्यस्यति च स सुष्ठु जानाति च ।
इतरस्तु मनाक् नैव जानात्येवमत्रापीति वाक्यशेषः । ततश्च
येन मन्त्रार्थः शिक्षितोऽभ्यस्तश्च तस्य न किञ्चिदप्यविस्प-
ष्टार्थम् । ग्रन्थान्तरे ' ।

' पारोवर्यवित्सु भूयोविद्यः ' इत्यस्य च तत्र व्याख्यानं
' पारोवर्यम् आगमपरम्परा तथा ये विदन्ति वेदितारः
तेषां मध्ये यो भूयोविद्यः स प्रशस्यो भवति नेतरो
य लोपेक्षया कल्पयत्यल्पविद्यो वा । अत आगमपरम्परया
निरुक्तव्याकरणादिविद्याभिर्भूयोविद्यो भूत्वा । अविस्पष्टा-
र्थानामर्थो ज्ञेय इत्यर्थः । ग्रन्थान्तरे ' । किमिदं ग्रन्थान्तर-
मिति न ज्ञायते ।

२०-२१ इति प्रभिज्ञेष्ट्विति श्लोक आनन्दस्फूर्त्या दुर्गाचार्येणैव रचित
इति भाति ।

९९ अस्मिन्खण्डे क. ख. छ. त. द. पुस्तकेषु तत्र तत्र विरा-
मचिह्नानि स्वराश्च विद्यन्ते ।

१५ ' अथापीत्यादि प्रयोजनान्तरवचनम् । अपि च । इद-
मन्तरेण पदविभागः । पदविभागेनात्र ज्ञानं लक्ष्यते । इदं
निरवग्रहमिदं सावग्रहमिति तुल्यायां संहितायामिदं पद्यम-
न्तमिदं पठ्यन्तमिति च । इदमाकारान्तमिदं चतुर्थ्यन्तमैक-

- पत्रं १०० पङ्क्तिः ७ प्रसिद्ध एष पदविभागः । सर्वासु तैत्तिरीयादिशाखासु
संहिताया अनन्तरं पदानि पठ्यन्ते ।
'पद्मदवसं गावः पथ्यदनम्' (९९ । ३) इत्यत्र 'गावः'
पदं दुर्गोणं न व्याख्यातम् ।
८ के एते केचिदिति न ज्ञायते ।
९ ग्रन्थेषु=वाक्येषु ।
१० 'अवसाय पद्मते । अवसमिति पथ्यदनमुच्यते । गावश्च पथ्य-
दनं तत्संभवस्य पयआदेः पथ्यमानत्वात् । पथ्यदनाय
पद्मते गोलक्षणाय पादसंयुक्ताय । हे रुद्र मूळ सुखं देही-
त्यर्थः । एवमत्रावसायेति न स्यतेरूपपूर्वस्य रूपवन्तस्य
रूपम् । धातूपसर्गयोर्ध्वश्चात्रार्थसंभवात् । पद्मते इत्यनेन
सामान्याधिकरणाच्चतुर्थ्यन्तत्वावगतेऽर्थः । किं तर्हि । अवते-
र्गत्यर्थस्यासौ नामकरणः । नाम क्रियते येन शब्दस्य नाम-
करणः प्रत्यय उच्यते । तस्मादेतत्पदं नावगृह्णन्ति पदकाराः ।
अवग्रहस्यार्थभेदप्रतिपादनार्थत्वात् तस्य चेहाभावात्' (ट.) ।
११ पथ्यदनं=गोलक्षणं पाथेयमित्यर्थः ।
१२ निगमप्रसक्तस्य=श्रुत्युपलब्धस्य ।
१३ उपसर्गेण संयुक्तो धातुर्भेदिकैः समस्त इत्यभिधीयते
(१०१ । ७) ।
१७ इदं सूक्तं कक्षीवद्गोत्रस्य शबरस्यार्पमित्यनुक्रमणायमुच्यते ठ.
पुस्तके च । सुमरा नाम गौतमस्तस्यार्पमिति बचनं किमा-
धारमिति न ज्ञायते ।
१०१ २ रोगेण दुष्टास्तान्पान्तीति रोगदुष्टपातृकाः ।
९ यतः=अतः ।
११ ' योनिष्ट इन्द्र । कुत्सार्थम् । योनिः स्थानं वेद्याख्यं ते तव
हे इन्द्र निपदे उपवेशनाय अकारि कृतमस्मानिः । तम् आ ।
तमिति कर्मणः आ- इति चोपसर्गश्चुतेः क्रियापदमप्या-
हार्यम् । तमागत्य निर्वादीपविश । स्थानो नार्था । स्वन
शब्दे । स्वनति स्वान्यत इति वा स्वानः । आगमनस्ये-
दमुपमानम् । अर्सेत्यश्वनाम । यथा हेयिनशब्दं पुर्वन्

पङ्क्तिः

रान्तमित्यादिभिर्न्यः पदविभागस्तस्य ज्ञानं न विद्यते तस्यार्थ-
ज्ञानाधीनत्वात् । भाष्यान्तरे ' [ट.] ।

१७ यदि मन्त्रार्थप्रत्ययायानर्थकं भवतीति कौत्सेन निरुक्त-
शास्त्रस्यानर्थक्यमुपपादितम् ।

१८ तेषु हेतुषु प्रत्युक्तेषु ।

१९ तेषां = मन्त्राणाम् ।

२० आख्यातजानि नामानीति प्रसक्तम् । तद्वृणं कैश्चिद्वैदितं
निराकृतम् । तत्प्रसङ्गेन निरुक्तशास्त्रस्यार्थवत्ता प्रतिपा-
दिता ।

कश्चिद्वैदको दोषोत्पादकः कश्चिच्च शास्त्रकार इति मिथं
कृत्वा ।

२१ हेतवः परेण प्रस्थापिताः । शास्त्रस्य समयाः सिद्धान्ताश्च ।
अविष्टद्वप्रज्ञः = अपक्वबुद्धिः । विष्टद्वप्रज्ञः (क, ख,
घ, झ, ट, ठ, पाठः) = अनेन खण्डनखण्डनेन परि-
पक्वबुद्धिः । अयं गाढो न समीचीनो यतः परिपक्वबुद्धिर्हेतु-
समयाभिज्ञः स्यादेव ।

गूढाः शब्दा अर्धा न्यायाः (शब्दसंस्काराश्च) तैर्दुर्बो-
धेषु स्थलेषु अपक्वबुद्धिरपि न मुखेदिति ।

२५ अपिशब्दः प्रमाद्यने वर्तते (१०५ । ८ ' संभावने '
इति सार्वत्रिकः पाठः) । प्रभावने = संभावनम् । ट.
पुस्तके ' संभावने ' इति पाठः । संभावने = संभवः ।
प्रभावने विशेषणं ' महत् उत्कृष्टम् ' इत्यर्थे । प्रमादना =
आविष्करणम् । अत्र ' संभावनम् ' अर्थः । इदमपरं प्रयो-
जनं संभवति प्रभवति वेत्यपिशब्दस्यार्थः ।

५-६ ' इदमन्तरेण ' इत्यस्य द्वावर्थौ । इदं निरुक्तशास्त्रमिति दुर्ग-
व्याख्या । इदं मन्त्राणामर्थवत्त्वमित्यन्येषां निरुक्तटीका-
काराणां व्याख्या । पदविभागो न व्यर्थः किंतु सार्थ इति
समर्थयितुं मन्त्राणामर्थवत्त्वमवश्यं ग्राह्यम् । अयमर्थो न
दुर्गसंमतः । ' अयापीदमन्तरेण ' (निरु० १ । १५)
इत्यत्र ' इदं ' निरुक्तशास्त्रमित्यर्थे वर्तते तथाद्यापि ।

पत्रं

पाङ्क्तिः

१०४

क्रमेणोदीनां लक्षणानि विदधाति । स लक्षणसमूहः पार्यदं प्रातिशास्त्रमिदमुच्यते ।

१० शाखान्तराणाम् = अन्यासां शाखानाम् । कस्याः शाखाया अन्या इति न ज्ञायते । 'शाखानाम्' इति पाठः स्यात् । च. पुस्तके 'शाखान्तराणां' ग, ज, पुस्तकयोः 'शाखान्तराणाम्' इत्यनयोः पाठयोरर्थो न ज्ञायते ।

११ स्वचरणपर्ययेव = प्रतिशाखानियतमेव ।

११-१२ प्रातिशास्त्रे पदस्य अवग्रहस्य प्रगृह्यस्य अप्रगृह्यस्य च क्रमस्य संहितायाः स्वराणां च लक्षणानि दीयन्ते ।

२२ (वचेल्लिटि शानच्) अनु-उच्-आनः = अनुचानः । साङ्गो वेदो येनाधीतः सोऽनुचानः ।

१०५

२ समयमात्रमितरत् = इतरे सर्वसमयाः सर्वसिद्धान्ताः । 'तदेनोपेक्षितम्यम्' (९९ । ९ । १०) इति न व्याख्यातम् ।

१० षड्विंशो विधिप्रदेशा भवन्ति = मन्त्राणां षड्विंशप्रकारो विनियोगो भवति । सर्वेषु मन्त्रेषु देवता न स्पष्टा । मन्त्रलिङ्गैः सा निर्णीयते । विधौ प्रदेशः मन्त्राणां विनियोगो देवतेषु लिङ्गेन । तदैवतलिङ्गं न सर्वत्र स्पष्टम् । 'प्रदेशाः = वचनानि आग्नेय्याग्नीध्रमित्यादीनि' (ट) । 'लिङ्गं = देवताभिधानसमर्थः शब्दः' (ट.) ।

११ 'उपतिष्ठते' इत्यादि (मान० श्रौ० २।३।१।१) ।

११-१२ ऐन्द्रा = इन्द्रदेवताकया ऋचा । तथा च । अग्निदेवताकया ऋचा आग्नेय्या । विष्णुदेवताकया ऋचा वैष्णव्या । 'सदः आग्नीध्रं हविर्धानम्' इत्येते यज्ञमण्डपास्तत्तदेवताकाः । सदस इन्द्रदेवता । आग्नीध्रीयस्याग्निः । हविर्धानस्य विष्णुः । तेषामुपस्थानं तत्तदेवताकर्मभिः क्रियते । तस्मादेवताज्ञानमावश्यकं तत्र निरुक्तादेव उच्यते । 'उपतिष्ठते' इत्यादि उपोतिष्ठोमे श्रूयते ।

१४ 'लिङ्गक्रमसंख्यानात्कायं सुकं समानानम्' इति घ. श. ट. पाठः । च. पुस्तके 'काम्य' इत्यस्य स्थाने शुद्ध

शन्यमानो वाश्वः शौघमायच्छति तद्वत् । आगत्य च विमुच्य वयः । अश्वरश्मयोऽत्र वय इत्युच्यन्ते । अश्वं च सारथिं च प्रगस्तृत्वात्तान्विमुच्याश्वेभ्यः अवसायाश्चान् । अवत्येषवीत्येतस्य स्थाने । अश्वान् विमुच्य योदत्रेभ्यो रथाद्वा । दोषावस्तोः रात्रावहनि च । बहोयसः अतिशयेन वोढून् प्रपित्वे प्राप्ते यागकाले । एवमत्रागमनकारणं यद्वन्धनं तद्विमोक्तकरणस्य विमुच्या वय इति प्रस्तुतत्वात् अश्वानिति च कर्मश्रुतेः अवसायेति स्यतिरयमुपसृष्ट उपसर्गेणावेत्यनेन युक्तो विमोचने वर्तत इति गम्यते । तस्मादेतत्पदमवगृह्णन्ति धातूपसर्गयोरेर्धभेदप्रदर्शनार्थम् । (ट. पुस्तके इदं भाष्यं सायणभाष्यं च दीयते) ।

१३ अनुक्रमण्यां कुत्सस्यार्पमित्येव न कुत्सस्याङ्गिरसस्य ।

१६ अश्वं यन्नातीत्यश्वबन्धः ।

८ निर्ऋत्या इति पदे निरुच्यमाने व्याख्यायमाने । निरुच्यमानः (घ. झ. ट. ठ. पाठः) = प्रतिपाद्यमानो निष्कर्षेणोच्यमानः ।

१२ निर्ऋतिपुत्रस्य कपोताख्यस्यार्पित्यनुक्रमण्याम् ।

१३-१४ कपोतो यदि गृहं प्रविशेत्तदानेन सूकेन होतव्यम् । सूच्यते हि 'कपोतश्चेदगारमुपहन्पादनुपेद्वा देवाः कपोत इति प्रत्यृचं जुहुयाज्जपेद्वा' (आ० गृ० ३ । ७ । ७) इति । कपोतस्य गृहं निलयनम् आगमनम् । तस्य पदस्पर्शाज्जा- तस्य पापस्य निर्हरणम् ।

१८ पापस्य विपाकलिङ्गम् ।

१२ ' प्रकृष्टम् आतः ' इति ग. ज. पाठोऽपि समीचीनः ।

१४ बुद्धिः अधिकरणं यस्य ।

१७ विभागवैलक्षण्यं = भिन्नः पदविभागः ।

७ ' संहृत्यमानानि ' इत्यनुद्धः पाठः । ' संहन्यमानानि ' ' संचाल्यमानानि ' इति वा शुद्धं रूपम् ।

१० पर्यद् = परिपद् समा । पार्येदमित्यवप्रातिशाख्यनाम ।

* तामु तामु शाखामु प्रवीणाः समायां (पर्यदि) एकीभूय

पत्रं

पङ्क्तिः

१०६

हे अग्ने । कंतम उच्यते । इन्द्रमिव त्वां शवसा । शव इति बलनाम । अन्तर्णीतमन्वर्थं चेह दष्टव्यम् । बलवता सारवता । सारवस्येति पाठः । स्वारस्यवतेत्यर्थः । देवता देवतां वायुम् । लुप्तोपममेतत् । वायुसदृशं गृणन्ति प्रीणन्ति राघसा धनेन हविलक्षणेन नृतमाः प्रकृष्टा नराः । (नेदं सायणभाष्यम्) ।

१५ आग्नेये ऋतौ प्रातः पठ्यमानानि सूक्तानि प्रातरनुवाक-संज्ञानि । तेषां प्रतीकानि आश्वलायनश्रौतसूत्रे ४ । १३ दीयन्ते । तान्येवाश्विनशस्त्रे शंसनीयानि ।

२४ 'बलवतीभिः' इति पाठः समीचीनतरः । स्तुतयः कथं बलवतयो भवेयुः । ता हि बलवतीः स्तुवीयुः ।

१०७

५ अग्निरेवेति मन्त्रः निरु० १ । ४ इत्यत्र व्याख्यातः ।

७ मान्यवे = मन्युदेवते ।

८ अनेकदेवतानां लिङ्गैः संकटेषु पूर्णेषु ।

९ दुरवधारं = दुःखेनावधार्यते ।

मन्त्राणां व्याख्यानस्य यः प्रसिद्धः शास्त्रसिद्धः समयः सिद्धान्तो मार्गस्तेन निरुक्तशास्त्रमनधीतवता ।

१२ 'अस्य' इन्द्रस्य त्विपिरपि भवति । 'इन्द्राय मनस्वते त्विपीमते एकादशकपालं निर्वपेत्' (काठ० सं० १० । ८) । ज्वाला त्विपिः न केवलमग्नेः । इन्द्रस्यापि । निघण्टुप्रथमाध्याये ज्वलतो नामधेयान्येकादशैव (निघ० १ । १७) । तेषु त्विपिवत् दीप्तिरपि न विद्यते ।

१३ अग्न्याग्न्यापि ज्वलतो नामधेयानि सन्ति । 'दीप्तिनाम भवति' इति मूले । वृत्तौ 'भवति' शब्दो न दृश्यते । दुर्गदृष्टे निरुक्तमूले 'भवति' शब्दो न स्यात् ।

१०८

१ 'स्याणुरित्येतौ पूर्वाचार्यश्लोकौ । लिङ्गशास्त्रं बहुमुखं स्थाणु-शब्देनोच्यते । लुप्तोपमध्यायम् । स्थाणुरिवं भारहार इति' (ट.) । अनयोः श्लोकयोः केषुचित्पुस्तकेषु (क. ख. छ. त.) किलाभू सफलं मद्रमश्रुते नाकमेति इत्येवं स्या दीयन्ते । घ. पुस्तके द्वितीयः श्लोको न स्वर्पते । निरु० २ । ४ इत्यत्र नाकशब्दो न्युत्पाद्यते ।

पङ्क्तिः

१०५

इति कृत्वा ' कस्य ' इति पाठः स्वीकृतः । ठ. पुस्तके
 ' संह्यानात्कस्य ' इत्यस्य स्थाने ' समाख्यानात्काम्य ' इति
 पाठः स्वीक्रियते । को मूलपाठ इति न ज्ञायते । जैमिनीय-
 न्यायमालायां शाबरभाष्ये चान्ये पाठा न दीयन्ते । सर्वासु
 यजुःसंहितासु काम्ययाज्यानुवाक्याकाण्डं वर्तते । ता
 याज्यानुवाक्याः किं काम्यकर्मभ्योऽन्यत्र विनियोज्या उत
 काम्येष्वेवेति प्रश्नः । यद्यपि केवलाहिङ्गात्तत्तदैवताके कर्मणि
 ताः शेषत्वम् अङ्गभावं गन्तुमर्हन्ति तथापि य एव काम्य-
 कर्मणां क्रमः यच्च समाख्यानं ते एवासु याज्यानुवाक्यासु
 दृश्येते । तेन काम्यकर्मस्वेव तेषां विनियोगो युक्तः ।
 समाख्यानम् = काम्ययाज्यानुवाक्याकाण्डमिति काम्यकर्म-
 संबद्धं नाम । शेषभावः = अङ्गत्वम् । कर्म अङ्गि । मन्त्राः
 अङ्गानि ।

१६ ' अधिकारे एव च ' इति घ. झ. ट. पाठः ।

अधिकारे मण्डपोपस्थाने मन्त्राणां विधिर्वर्तत एव । आग्नीप्र-
 सदोहविधानानां मण्डपानामुपस्थानाय प्रकरणाद्विहित-
 माना मन्त्रा नावश्यक्य यस्मात्तद्विद्वा मन्त्रा उपोतिष्टोम-
 प्रकरणे अतदाख्येषु उपस्थानभिन्नेषु वैसर्जनादिकार्येषु
 विहिता एव । त एव मन्त्रा अग्रातिदेष्टव्याः ।

१०६

३ नैघण्टुकं = गौणम् । ' तद्यदन्यदेवते मन्त्रे निपतति
 नैघण्टुकं तत् ' (निरु० ४ । २०) ।

४ एकमन्नगतानां देवताभिधानानां गुणप्रधानमावमजानन्तः ।

८ दुरिष्टहेतुकः = अन्यदेवतैर्मन्त्रैर्योगो दुष्ट इति ।

११ एतन्निरुक्तशास्त्रं प्रतिविशिष्टमुपकारं करोति ।

१३-१४ (ट. पुस्तके) ' मरद्वाजस्यार्थम् । त्वां हि । ह्रियंस्वादर्थे ।
 यस्मात्त्वा मन्दतमम् अतिशयेन स्तुत्यम् । अर्कशोकैः । अर्को
 मन्त्रः । शोको दीप्तिः । अर्कश्च ते शोकात्कार्कशोकास्तैः ।
 स्वदीप्या । दीप्तैर्मन्त्रैरित्यर्थः । बभूवो महि संभजामहे ।
 नित्यं स्तुम इत्यर्थः । यस्मादिति श्रुतेस्तस्मादित्यप्याहार्यः ।
 तस्मान् महि मह स्तुतिरूपं नः अस्माकं श्रोत्रं शृणु

पत्रं

पङ्क्तिः

११०.

१४ अनया वाचा (ऋगर्थम्) अर्थस्य प्रकाशनमाह इति
यास्कमतोऽन्वयः । चतुर्थे पादे ' उत्तमया वाचा उपमा '
(१०९।२१) । वस्तुतस्तु जायया उत्तमाया वाच उपमा ।

१९ नीरजस्का शुद्धा भवति ।

२१ य इतरस्तामेव घनपटाच्छादितां पश्यति न स तां सम्यक्पश्यति ।

२३ समस्तं = वाक्यार्थम् । व्यस्तं = पदार्थम् । ' सुवासाः
कल्याणवासाः कामयमाना ऋतुकालेषु ' (१०९।२२)
इदं छ. त. द. पुस्तकेषु न विद्यते दुर्गेणापि न व्याख्या-
यते । ' स शृणोति ' (१०९ । २४) इत्यपि न
व्याख्यायते ।

१११

२-३ अमुना ज्ञानप्रशंसाख्येन फलेन । प्रतिविशिष्टम् = उत्तमम् ।

११२

१७ ' आहुः ' इत्यस्य लोका विद्वांसो वा कर्ता । वाक् कथंकारं
कर्ता स्यात् । मूले ' वाक्सख्ये ' इति समासः । वाचा
सख्यं वाक्सख्यं तस्मिन् । वाक्परिचयेऽप्ययने ज्ञाने च ।
ग. च. अ. पुस्तकानां निरुक्तपाठः छ. त. द. पाठसदृशः ।

१९ ' बलवत्सु ' इत्यनेन ' अपि ' नान्वेति । अपि=अपि च ।

२० देवतापरिज्ञानं पदविभागो मन्त्रार्थप्रत्यय इत्यादिषु ।
व्याकरणम् = विवरणम् ।

२५ ' धिवि प्रीणने ' (धा० १।५९४) । धिनोति प्रीणयति ।
' वाग्धिनोति ' इति यदि पाठस्तदा वाक् हिनोति प्रेरयति ।
किंतु ' धिनोति ' ' धेन्या ' इत्यनेन संबद्धम् । ' वाक्
हिनोति ' ' हिन्वन्यपि वाजिनेषु ' इत्यनेन ।

११३.

१ यां वाचमसौ विभर्ति न सा वाक् किंतु अवाक् यादृमाया ।
वाक्प्रतिरूपा माया । ' वाक्प्रतिरूपया ' (१११।११)
एतत्पदं दुर्गेण न व्याख्यातम् ।

२५ अधिदेवतं सर्वं ज्ञानेनाभ्यात्मं भवति ।

२६ कार्याणां करणानां च या अधिदेवतास्तेषां द्वारेण ।
सोऽयमुपासकः ।

११४

३ अभ्यात्मज्ञानमेव पुरुषार्थः । पुरुषार्थस्य निष्ठानम् आत्य-
न्तिकी निष्ठा अन्त्यं स्थानमभ्यात्मे । ' न निष्प्रभवात् '

पत्रं

पङ्क्तिः

१०८

१९ स्थाणुः = गर्दभः । अयमर्थः कस्मिन्कोशे दीयत इति न ज्ञायते ।

२२ 'यद्गृहीतमिति । ग्रन्थतो वेदस्य । विज्ञातं नार्थतः । निगद उच्चारणमात्रम् । तेनैवाध्येत्रा शन्यते । नास्यार्थज्ञानमस्मिन्भवति । यथाग्निरहिते प्रदेशे शुष्कैधो न ज्वलति । एवमग्निस्थानीयेनार्थज्ञानेन रहितेऽस्मिन्नध्येतारि न ज्वलति । स्वकार्यं न करोतीत्यर्थः । कर्हिचित् कदाचिदपि । एवमनयोः स्मृतिश्लोकयोः पूर्वोणाधेनाज्ञाननिन्दापरेण ज्ञानप्रशंसा । उत्तरेण श्लोकेनाज्ञानस्य निन्देति ' (ट.) ।

अर्थतः किञ्चिदप्यविज्ञातम् ।

२३ निगदमात्रेण = शब्दमात्रेण ।

१०९

७ 'स्थाणुस्ति० स हि तिष्ठत्येव न चलति । अर्थोऽर्तेर्ग-
त्यर्थस्य । यस्तावच्छब्दस्यार्थः स तस्माद्गम्यते । यो हिर-
ण्यादिः सोऽध्यानादिष्ववहारेणान्यस्मात्पुरुषादन्यं गच्छति ।
अराश्वो वा । अरणं गमनं शब्दस्य तावदुच्चरितस्य तिरो-
धानं तस्मिन्नर्थस्तिष्ठति न शब्देन सह तिरोधीयते । इतरत्रापि
गमनम् । मरणश्चामिनि तस्यान् हिरण्यादिरर्थस्तिष्ठति न
स्वाभिना सह गच्छतीति ' (ट.) ।

८ आसीत = आसु इत्यस्य विभ्यर्थे रूपम् । आसनस्य संम-
थोऽपि नास्ति । 'आसीदिति' इति पाठः समीचीनः ।

११ दीनारशब्देन सुवर्णम् (ट.) ।

१३ शिष्टैरनुगम्यते या स्मृतिस्तस्याम् । शास्त्रे इत्यर्थः ।

१४ लोके वेदे शास्त्रे चेति घ. झ. ट. ठ. पाठः ।

११०

५ अनर्थज्ञस्तीक्ष्णविद्य उच्यते । केवलपठनेन तस्य विद्या
तीक्ष्णा ।

१० मूले 'अर्थमाह' इत्यन्वयः (१०९ । २०) । 'अर्थेन
मन्त्रदगाह' इति दुर्गकृतोऽन्वयः ।

११ 'उतो' इति उ शब्दस्यार्थः । एकस्मिन् तु अर्थज्ञाय
तन्वं शरीरम् आत्मीयं वाक् सर्वप्रसारं विसृजे । सर्वेर्ग-
त्यर्थस्यान्तर्णीतार्थस्येदं रूपम् । विविधं गमयति विवृणुते
प्रकाशयतीत्यर्थः (ट.) ।

पत्रं

पङ्क्तिः

११५

नमसा स्तुत्या हविर्भिः पुरोडाशादिभिः । तदर्थं च सानु
समुच्छ्रितं प्रदेसं गार्हपत्यादिस्थललक्षणं वदिलक्षणं च
संमार्जिम् गोमयपाण्डुरमृत्तिकादिना । दिधिषामि । धिप
धारणे । धारयितुं चेच्छामि गार्हपत्यमाग्नेम् । वित्मैः उपायैः
ज्वलनस्म(म ?)यैः मस्मानि गोमयनिखननादिभिः
दधामि धारयाभि चैनम् अन्नैः सायंप्रातरग्निहोत्रहोमद्रव्य-
लक्षणैः यवाग्वादिभिः । परिवन्दे सर्वतः स्तौमि ऋग्भिः
स्तुतिभिः । एवमस्मिन्मन्त्रे वित्मशब्दस्य प्रयोगादिहोवादानं
निर्वचनं चैवमर्थं द्रष्टव्यम् (ट.) ।

२० आगयातम् (घ. ट. पठः) = आगतम् + आयातम् ।

आतामः वेदः परिशोधितः विद्वतः स्पष्टीकृतः ।

११६ २२-२३ अस्मिन्मन्त्रे इदं देवतानाम नैघण्टुकम् (इयम्) अन्यत
(देवतानाम) अत्र प्राधान्येन वर्तते इत्यन्वयः ।

११७ २०-२१ ' क० ' इत्यस्य ' यज्ञानां मध्येऽवस्थितमुत्तरवेद्यादिषु
धिष्ण्येषु ' (११) इत्युत्तरम् । ' कथम् ' इत्यस्य न
किमपि ।

११८ १. ' तेनानभिभूयमानः ' इति ठ. पाठः समीचीनः । तेन
प्राणिविशेषेण । तैः कैः ।

६ ' मृधः संग्रामयु(मोयु)कान् युयुम्न् ' इति ठ. पुस्तकेऽ-
धिकं सायणभाष्यादृहीतम् ।

२० तद्वान् = पर्वशान् ।

११९ १ संधय एवेति संधिमात्रं तदेव सामान्यम् । यथा शिलायां
संधयस्तथा कालानाम् । ' मात्र ' शब्दो मूले न विद्यते ।
इतरत् शिलापर्यं कालपर्यप्रकृति । कस्मात्कारणात् शिला-
संधिः पर्यंत्यभिधीयते । कालसंधिः । वस्तुतस्तु शिलासंधेः
कालसंधिः पर्यंत्यभिधीयते ।

२ कालसंधिश्च शिलासंधिश्चेत्यत्र संधित्वं सामानम् ।

पत्रं

पङ्क्तिः

इति घ. झ. ट. ठ. पाठः । पुरुषार्थः अध्यामे अध्या-
त्मज्ञाने निष्पन्नः । फलतीत्यर्थः । 'न' पदं प्रामादि-
कम् । ग. ज. पाठः 'निष्पन्नत्वात्' इति ।

१२ औपचारिक्या वृत्त्या=लक्षणया ।

११४

१८ 'इन्द्रमनोज्ञादिभ्यश्च' (पा० ५ । १ । १३३) इति
सूत्रेण 'शैष्योपाध्यायिका' इति रूपम् । 'शैष्योपा-
ध्यायिका' इति प्रामादिकम् ।

११५

३ 'इत्येतवमर्थ' (घ. झ. ट. पाठः) = इति एतमर्थ +
इति एवमर्थम् ।

५ फालानुरूपाम्=भायुःसंकोचानुरूपाम् ।

इमं ग्रन्थं निघण्टुसंज्ञकम् ।

९ ध्यासेन भेदेन विशिष्टरचनया ।

१२ यास्कः पाणिनेः प्राचीनः । तेन शाकटायनादीनां व्याक-
रणानि सर्वाणि प्रातिशाख्यानि च तस्य परिचितानि ।
यास्कापुरातनानि सर्वाणि निरुक्तशास्त्राणि चतुर्दशाध्याया-
त्मकान्यासन्निति कथं ज्ञायते ।

१६ भाष्यवाक्यप्रसक्तं = भाष्यवाक्ये प्रसङ्गेनागतम् । 'भाष्य-
कारप्रसक्तं' (घ. झ. ट. ठ. पाठः) । इदं 'भाष्यकारः
प्रसक्तम्' इति स्वाद्यस्माद्यो निर्गम्यतीति स भाष्यकार एव ।

१६ 'विलम्बम्=उपायः' (ट.) । 'विलम्बमिति विभर्तेः रूपम् ।
उपायो विभर्त्युपेयं भासते च प्रकाशीभवति । तत्तेन विलम्-
बान्दस्य साक्षात्पसिद्धस्य लोके यदुपादानं निर्वचनं च कचि-
त्तस्य मन्त्रेषु प्रयोगोऽस्ति तदर्थं तदर्थीयेष्यामः । 'अस्मै
बहूनामवमाय सख्ये० परि वन्द ऋग्मिः' (ऋ० सं०
२ । ३५ । १२) इति । गृह्यसमदस्यार्थम् । अस्या ऋचोऽ-
पात्रपादेवता अपोनन्त्रीयसूक्ते समाम्नातत्वात् । अपान्नपात्र
मन्थमः । अस्मै प्रकृतायापान्त्र्ये बहूनां यजमानानाम् ।
अवमाय अन्तिकनाम । अन्तिकाय संनिष्ठाय प्राप्तयेत्यर्थः ।
सर्वत्र द्वितीयार्थं चतुर्थी । बहूनां सख्ये सख्याय यज्ञैः
सोम्याग्नैः ज्योतिष्टोमादिभिः । विधेम परिचरेभ्यसाशास्महे ।

पत्रं

१२१

पङ्क्तिः

१९ अवैपरीत्येन संगतार्थो = 'लक्षणशास्त्रविहितयोपपत्त्या युक्तौ नान्यथा । लक्षणाविप्रतिपत्त्या स्वरोऽवस्थित एवं संस्कारोऽपि' (दुर्गावृत्तिः ६९ । १४-१६) ।

२० 'प्रदेशाभिधायिना० वनुगतौ' इत्यस्यार्थः = अभिधेयस्थे धातुरूपा स्याताम् । यथा हरः = संहारस्य कर्ता शिवः । इ हरणे इत्यस्य हर इति रूपम् । 'हर'शब्दस्य योऽर्थस्तदनु रूपमिदं धातुरूपम् । 'हर'शब्दे विशिष्टः स्वरो विशिष्टः संस्कारश्च वर्तते । इधातोरर्थः विशिष्टरूपसिद्धये संस्कारः व्याकरणशास्त्रानुरूपः या रूपसिद्धिः यश्च व्याकरणशास्त्रानुरूपः स्वरः तौ च इमौ च उभावपि एकौ एव । दुर्गाः 'शब्दे स्वरसंस्कारौ संगतार्थौ स्याताम् अभिधेये या क्रिया लक्ष्यते तदभिधायकं च धातुरूपं वर्तते' इति 'च'शब्देन धातुरूपात् स्वरसंस्कारौ भिन्नौ मय्यते तदुक्तं धम् । इदं सर्वं १ । १२ खण्डस्य टीकायां सुगमम् ।

२०-२१ अभिधेयस्थे धातुरूप० = अभिधेयं द्रव्यम् । द्रव्यस्याभिधानं तस्मिन् द्रव्ये (अभिधेये) या क्रिया लक्ष्यते तस्याः क्रियाया अभिधायकं यद्भातुरूपं वर्तते तदनु रूपं प्रायशो भवति । तस्मिन् रूपे वर्तमानौ स्वरसंस्कारौ लक्षणशास्त्रानुसारिणौ यदि स्याताम् (दुर्गाः १ । १२) ।

१२२

१ अन्विष्यमाणः = व्युत्पाद्यमानः ।

४ शब्दे कश्चिद्भातुर्लक्ष्यते तस्य धातोरर्थः शब्दस्य वाच्यार्थाद्भिन्नो यत्र वर्तते तत्र किं कर्तव्यम् ।

७ अभिधेयं = सत्त्वं द्रव्यम् । ततश्च क्रिया ।

९ 'मुद्रनिलः' ईदृशो निलशब्दस्य 'प्रधानम्' इत्यर्थे प्रयोगो न कुत्रापि दृष्टः । अर्थनिलः = अर्थतत्परः अर्थावलम्बी ।

१२ अर्थसामान्यम् = अर्थसादृश्यम् । वृत्तिसामान्येन = अस्मिन् शब्देऽस्य धातोरर्थसादृश्येन वृत्तिरस्तीति धातुः कल्प्यः । धातोर्विशिष्टोऽर्थो न स्यात् ।

१३ ततः = अर्थप्राधान्येन ।

१६ ' तत्र निर्वचनीयपदसमूहमध्ये येष्वग्न्यादिपदेषु पूर्वोक्तरीत्या स्वरसंस्कारौ समर्थौ व्याकरणसिद्धौ स्याताम् । स्वर उदात्तादिः संस्कारो निप्रत्ययादिः । किंच तौ स्वरसंस्कारौ प्रादे० ताम् । शब्दस्यैकदेशः पूर्वोक्तोऽगिधातुः प्रदेशः । तत्र मयो गुणो गतिरूपोऽर्थः । तेनान्वितौ । तान्यग्न्यादिपदानि तथा व्याकरणानुसारेण निर्मूयात् । तच्च निर्वचनमस्माभिः प्रदर्शितम् । अथ पूर्वोक्तवैलक्षण्येन कक्षित्वेन विवक्षितोऽर्थोऽनन्वितः तस्मिञ्छब्देऽनुगतो न भवेत्तस्यैवं व्याख्यानमप्रादेशिके विकारे इति । अप्रनयनादिरूपः क्रियाविशेषो विकारः । स च प्रदेशेनाग्निशब्दैकदेशेनात्र नाभिधीयते इति अप्रादेशिकः । एवं सति यः पुमानर्थनित्यः स्वविशक्षितेऽर्थे नियतो निर्बन्धवान् ब्राह्मणानुसारेण वा देशतान्तरविशेषणत्वेन योजयितुं वा सनिर्बन्धः । तदानीं स पुमान् केनचिद्वृत्तिसामान्येन विवक्षितमर्थं परीक्षित तस्मिञ्छब्दे योजयेत् । वृत्तिः क्रिया । तद्रूपेण सामान्यं सादृश्यम् । अस्माभिश्चाप्रनयनादिरूपं क्रियात्वसाम्यमुपजीव्याप्रणीत्याद्यर्थो योजितः । तदिदं यास्काभिमतं निर्वचनम् । स्थौलाष्टीविरक्षरसाभ्यानिर्बन्धि । अक्तोपनशब्दस्यादौ निषेधार्थमकाररूपमक्षरं विद्यते । अग्निशब्दस्याप्यादावकारोऽस्ति । तदिदमक्षरसाम्यम् । शाकपूणिस्तु वर्णसाभ्यानिर्बन्धे । दग्धशब्दाग्निशब्दयोर्गकारेण वर्णेन साम्यम् । सर्वथापि निर्वचनं न त्याज्यमिति विचारण्याः ' (ट.) इदमत्रतरणं ' अग्निर्मीळे० ' विचारण्यकृतमाध्ये वर्तते ।

१३ ' निर्वचनलक्षणतः ' (ट. ट.) निर्वचनस्य लक्षणं दत्त्वा ते नैघण्टुकनैगमे प्रकरणे व्याख्यास्यामः ।

१४ अपिहितस्य = प्रच्छन्नस्य ।

१३-१४ ' अथ निर्वचनं लक्षणतो व्याख्यास्यामः ' इत्यन्वयोऽनावश्यकः । अधुना निर्वचनं कथं कर्तव्यमिति प्रदर्शयिष्यामः । यास्को निर्वचनशब्दस्यात्र लक्षणं न ददाति ।

१५-१६ ' स ए० इत्युच्यते ' अत्र ' इति'शब्दो व्यर्थः । अथवा । ' एवम् ' अर्थे । एवम् उच्यते वर्धते ।

पत्रं

पङ्क्तिः

१२४

स्थितौ चेतसा प्रतीत्य विचार्योपि निश्चयमावेन (अप्रति-
पक्षः = प्रतिपक्षं निश्चयं न प्राप्तः) अयमर्थः स्यादयं
वेति संमुह्य नरोऽस्मिन्नर्थनिर्धारणे शेत इवेति विशयः
संशयः । इदं च. दत्तपाठभेदस्य विवरणम् ।

९-१० विचारयन् शेत इति विशयः । अयं पठः सुबोधः ।

१० शब्दानामर्थेषु नानाप्रकारा प्रवृत्तिः । अस्मादकारणादयमर्थः
इत्थं प्रवृत्त इति निश्चयं कर्तुमशक्नुवन्तः प्रतिपक्षसंमोहात्
परस्परविरुद्धव्युत्पत्तिभिः समृद्धा ईदृशोऽनिश्चये शरत्त इवेति
विशयः संशयः ।

१४-१५ सुपां स्थाने सुपो भवन्ति = ' सुपां सुलक् ' इति पाणिनि-
सूत्रेण (७।१।३९) एकस्या विभक्त्याः स्थाने वदंज्या
विभक्तिर्भवति । यथा साधु मत्स्या उरुणा इत्येतेषां स्थाने
साधुया मत्सी उरुया ।

१४ व्यत्ययः = एकस्य स्थानेऽन्यस्य प्रयोगः ।

२२ दा = द् + आ । ' क्तवत् निष्ठा ' (पा० १ । २६)

इति ' त ' प्रत्ययस्य निष्ठासंज्ञा ।

२३-२४ ' दो दद्वोः ' इत्यस्य ' अच उपसर्गात्तः ' इत्यपवादः ।

१२५

६ प्र + द् + आ + तं = प्र + द् + त् + तं = प्र +
द् + तं = प्र + त् + तं = प्रत्तम् ।

७ अव + दो + तं = अव + द् + ओ + तं = अव +
द् + आ + तं = अव + द् + त् + तं = अव + द् +
तं = अव + त् + तं = अवत्तम् । एवं ' दा ' इत्यस्य
' दो ' इत्यस्य च ' त् ' एव सिध्यते ।

१० परगमनं ' परः संनिकर्षः संहिता ' इत्यनेन ।

१२ निवृत्तिस्थानेषु = येषु प्रत्ययेषु परतो गुणवृद्धी न भवतस्तत्र ।
गुणवृद्धयभावस्य निवृत्तिरिति प्राचां संज्ञा । तस्य ' कृत्ति '
इति पाणिनिसंज्ञा ।

२३ ' अनुदात्तोपदेशवर्णोत्तितनोत्पादीनामनुगसिक्कलोपो शक्ति
कृत्ति ' (पा० ६ । ४ । ३७) । गमेरनुदात्तो-
पदेशः । अतो निष्ठाप्रत्यये क्वाप्रत्यये च परे ' मः '
लोपः । ' गम०लोपः कृत्त्र्यनङि ' (पा० ६ । ४)

पत्रं

१२२

१२३

पङ्क्तिः

२१ सूत्रेण बद्धं वस्तु यथा सूत्रान्मुक्तं प्रसार्य प्रदर्शयते तथा स
सूक्ष्मो धात्वर्थः विस्तार्य प्रदर्शयितव्यः ।

१ 'स्वार्थभिधेय' इत्यत्र 'अर्थ'शब्दः 'अभिधेय' शब्दो वा व्यर्थः । एभिः शब्दैः स्वार्थः संबन्धस्त्यक्तः ।

२ क्रियागुणः धातुरूपम् । क्रियासादृश्यमेव हेतुः भिन्नार्थेषु शब्दस्य प्रयोगे कारणं नान्यत्किञ्चित् ।

अन्धेषु अर्थान्तरेषु = अन्धेषु अर्थेषु । अन्ये अर्था अर्था-
न्तराणि । तस्मात् 'अन्येषु'शब्दो व्यर्थः ।

५ अभिवेयम् = अभिधातुं योग्यम् । 'प्रवीणः' इत्यस्म
गान्धर्वं गानम् अभिधेयोऽर्थः । स त्यज्यते । केवलम्
अभ्यासपाठनं गृह्यते । सर्वेष्वर्थेष्वभ्यासपाठनमेव सामान्यम् ।

८ आरः अधवा आरं = कशा अङ्गुली वा । आरा = चर्मप्र-
भेदिका । महाराष्ट्रभाषायाम् 'आरी' इति ख्याता । तस्मात्
'प्रागारसं' इति पाठः शुद्धः ।

'आकृतेनैव' इत्यस्य स्थाने 'वाक्संकेतेनैव' इति ठ. ड.
पाठः । व्याहृते शब्दोच्चारणे आकृतस्य न प्रयोजनम् ।
व्याहृतमत्रेणैव = वाक्संकेतेनैव संकेतितशब्दोच्चारणेनैव ।
संकेतः = निश्चितो वाक्प्रयोगः । आकृतम् = उद्देशः संकेतो
वा तस्य ज्ञानम् ।

९ उद्गतरत्नात् = आङ्गः अश्वशरीरे नैव पतति । नित्यं स
उद्गतो धार्यते ।

१३ शसति (च. पाठः) = हिनस्ति ।

१४ 'मुखप्रहणात्' घ. श. ट. ड. पाठो दुर्बोधः । मुख-
प्रहणात् मुख्यार्थस्य प्रहणात् ।

१५ निर्गतस्त्रिशतोऽङ्गुलिभ्यः इति वस्तुतो व्युत्पत्तिः । अधुनापि
निस्त्रिशशब्दः खट्वायै एव वर्तते । क्रूर इत्यर्थो द्यक्षाणिक
एव । इदं दुर्गस्य केवलं वाचालत्वं प्रदर्शयति ।

१२४

१ 'सिद्धेव' इति पाठः साधुतरः । तथा 'आद्रियेत' (५)
इत्यपि ।

२ ग. च. ज. पुस्तकेषु द्वौ पाठौ । यदा कश्चिच्छब्दो नानार्थेषु
वर्तते तस्योऽर्थः क इति च न निश्चीयते तदा अर्थानिव-

पङ्क्तिः

१९ 'मद-तृतीयोमे' इति धातुपाठः (१० । १७२) ।

२३ वृञ् इति ग. च. ज. घ. ट. पाठः । 'वृञ् वरणे'

(५ । ८) 'वृञ् आवरणे' (१० । २८०) इति

धातुपाठः । 'वृञ् संभक्तौ' धातुपाठे न वर्तते । (आ)

वृणोति आच्छादयति इति द्वारः इति समीचीना व्युत्पत्तिः ।

२५ 'भरुना' इति पाठः । न भरुन्वः । भरुना=क्रोष्टी ।

२७ 'दृष्टः' इत्यशुद्धं दृष्टाः इति स्यात् ।

१९ ६ 'चतस्रोऽन्तस्थास्ततः' इति ऋक्प्रातिशाख्यस्य प्रथम-

पटले सूत्रम् । 'अन्तस्था' इति खल्लिङ्गं किमर्थमिति

न ज्ञायते । स्पर्शानाम् उष्मणां च मध्ये वर्तन्त इत्यन्तस्थाः ।

२० 'सिद्धायामनुपपद्यमानायां यदैका प्रकृतिः सिद्धा सती नानु-

पपद्यते तदा ।

२२-२३ 'यया' (ड. ङ. पाठः) = यया प्रकृत्या । तया =
तया प्रकृत्या ।

२३ 'उभयथाप्यनु' इदं वाक्यं दुर्गेण स्वकपोलकल्पितम् ।

नेदं कस्यचिन्निरुक्तवान्यस्य विवरणम् ।

१३० १ अर्थशास्त्रं = निरुक्तम् । लक्षणशास्त्रम् = स्याकरणम् ।

८-९ 'धृष्टोः शूट्' इत्यनेन 'अव' इत्यस्य 'व' स्यैव ऊट्-

भावः स्यात् । 'अवत्वर' इत्यनेन 'अ व' इत्युभयोः

स्थाने ऊट् भवति ।

१३ 'पृषु सेचने' (धा० १ । ७०६) न तु ज्ञेहने ।

'पृषु दाहे' (धा० १ । ७०४) इत्यत्र स्फारस्य

संप्रसारणं स्यात् । किंतु दाहार्थः पृषु (जलविन्दुषु)

न युज्यते । 'पृषु' इत्यत्र संप्रसारणप्राप्तिर्नास्ति । 'पृषु

ज्जोहन्सेवनपूरणेषु' (धा० ९ । ५६) अपमेय

धातुः स्यात् ।

१४ कुणारः = मेघः ।

१३२ १० मृतकः = मृतदेहः ।

१२-१३ प्रकृतिविकारयोः 'चेतनावचेतनारहितौ' इत्येतावर्थो या-
स्केन नैवाभिप्रेतौ ।

पत्रं

पङ्क्तिः

१२५

९८) । परस्मैपदे लिटि अतुस् उस् इत्यादि प्रत्ययः ।
कितः ।

१२६

१ नोपधायाः=नान्तस्योपधायाः ।
इन्नन्तस्योपधायाः सौ परे दीर्घः ।

२ अनपुंसकाः स्वादिपञ्चप्रत्ययाः सर्वनामसंज्ञाः (पा० १ ।
४ । १७) ।

८ ' याच् ' इत्यस्य चकारलोपः ।

१३ ' यजमानः हरिश्चन्द्र इति ' (ट.) ।

११-१६ उपाकृतः=वर्हिर्युक्त्या वृक्षशाखया मन्त्रपुरःसरं समुप-
स्पृश्य स्वीकृतः । तत ऊर्ध्वं यूपबन्धनं विशसनं च ।

१६-१८ पथमाग्निष्टोमस्यानन्तरं चयनं भवति । एतादृशे साग्निचित्या-
ग्निष्टोमे संमिष्टयजुर्नामका एकादशाहुतयो दीयन्ते ।
तदनन्तरमेका आज्याहुतिरनेन मन्त्रेण दीयते (तै० सं०
५ । ७ । ६) ।

१८ चातुर्मास्येषु वरुणप्रघासनामको यागः । तत्र वरुणदेव-
ताकं हविरनेन मन्त्रेण दीयते (तै० सं० ४ । २ । ११)

२२-२३ सांनाय्यः=अधिपयोमिश्र आहुतिविशेषः ।

१२७

१ त्रि+ञ्च=तृचः । अत्र त्रिगतौ ' र इ ' इयेतौ छ-
ध्येते । ऋवर्णस्यात्र क लोप इति न ज्ञायते ।

' ऋवर्ण ' इत्यस्य स्थाने ' इवर्ण ' इति मूलपाठः
स्यात् । ' त्रि ' इत्यत्र रेफ इवर्णोदरमनुप्रविष्टः । स
इवर्णेन सह लुप्ते ।

२ घ. ट. ठ. ड. पाठः ' रेफ एव ऋवर्णोदरं कृमिवत् बदरं
कृमिवदनुप्रविष्टः ' । अत्र ' बदरं कृमिवत् ' इति ' कृमि-
वत् ' इत्यस्यार्थ इति भाति ।

९ वाटी गृहोद्यानं तस्य वायः ।

१२ स्तोकाः=त्रपाविन्दवः ।

१४ तर्कुः=कर्तनसाधनम् । इदं स्त्रीलिङ्गं पुलिङ्गं वा । न
नपुंसकं यथात्र ।

१२८

१८ ' गाधम् ' इति ग. च. ज. पाठः । निरुक्तमूले ॥ (ग-
च. ज. पुस्तकेष्वपि) ' गाधः ' एव ।

पत्रं

पङ्क्तिः

१३६

ड. य. घ. पुस्तकेषूत्तरार्धौ न स्वयंते । श्वेताश्वतैरप-
निषदि सर्वोऽपि श्लोकः स्वररहित एव ।

१३ स्वम् = आत्मीयम् ।

१६-१८ 'स्वात्मनि स्वात्मना' 'विनिवर्त्य निवर्त्य' इति भेदः
सार्थः । 'स्वात्मनि विनिवर्त्य' इत्येतौ शब्दौ राजाधिकारं
दर्शयते । 'स्वात्मना निवर्त्य' राजवश्यतां दर्शयते ।

१६-१७ पुरुषः भृत्यार्थे एव वर्तमानो राजानमन्येभ्यो भृत्येभ्यो निवर्त-
यते किंतु न सर्वथा ।

१८ अन्योन्यविमिश्रणदार्थकौ = मिथः संसृष्टपदार्थौ ।

१९ घ. ट. पाठः संसृष्ट' = संसृष्ट' + संसृष्ट' ।

२१ राज्ञः = राजन् + अस् । अथ 'राजन्' उपसर्जनम् ।
'अस्' प्रत्ययः तस्यार्थः प्रधानम् । पट्टीप्रत्ययः स्वम्या-
भिभावं व्यनक्ति । राज्ञः स्वाभिभावः पट्टीप्रत्ययेन व्यङ्ग्यते ।
राज्ञः = राजस्वामिकं धनादि ।

११७

६ सर्वाभा 'अन्तरपुरुष' इति किमित्युच्यते । सोऽन्तःकरणं
सर्वं विश्वं च प्रत्यतीत्येतस्मात्कारणात् ।

१३ 'स एव सर्वम्' इति वाक्यशेषो नापदयत्तः । 'स एको
दिवि तिष्ठति' (१०) इत्यन्वयः ।

१४ च. पुस्तके 'सर्वविभागेन'शब्दः 'सर्वविभागम्' इति
सुद्धीक्रियते । ट. पुस्तके च. 'सर्वविभागेन'शब्दः
'सर्वविभागेन' एवम् ।

१६ विधकद्रकर्षस्य द्विप्रकारा व्युत्पत्तिः । उभयत्र 'वि' मत्वर्थः ।
अयं शब्दः कस्मिन् ग्रन्थे विद्यत इति न ज्ञायते ।

११८

८ पादविकल इति कस्मान्ज्ञायते । कोऽग्रन्थः पाठः स्यात् ।

११ रूपसमासः इति प्राचां केषां चिदुपमायुक्तबहुव्रीहिसमा-
सानां नाप । इदमेकमेव चोत्तयति गद्यास्कः पाणिनेः
पाचीनाः ।

११९

६ 'संस्कारपूर्वं महर्षेः स्यादुपाकरणं श्रुतेः' इत्यमरः (२ ।
७ । ४१) अत्र 'उपाकरणं' = व्युत्पादनम् ।

१२: 'नानुपसन्नाय । धर्माधौ यत्र न स्यातां शुभ्र्या पापि

पत्र

पङ्क्तिः

१३२

१८ ' अनेनैव ' (ठ. ड. पाठः) समीचीनः ।

१९ रूढिव्यवस्थया = देशभाषाप्रसिद्धिविभागेन । ' भाषाव्यवस्थया वा निगमव्यवस्थया वा ' (१८-१९) इत्येवालम् ।

१३३

१९ कोचिद् द्वन्द्वसमासा एकवद्भवन्ति केचिन् ।

२० उपसर्गनिपातः = उपसर्गप्रयोगः । ' निपात ' शब्दोऽत्र व्यर्थः ।

२२ समानाधिकरणः समासः ।

२६ ' दण्ड्यः पुरुषो दण्डपुरुषः ' इति मूले केतुचित्पुस्तकेषु (१२८।५-६) । ' दण्डपुरुषः ' दुर्गेण न व्याख्यायते ।

१३५

५ ' एवं किमस्मिन् ' इति पाठे ' अस्मिन् कक्षे एवं ह्यापनीयं किमस्ति इत्यन्वयः ।

९-१० अस्यां कक्षशब्दव्युत्पत्तौ अन्योन्याश्रयः । अश्वकक्षसामान्यान्मनुष्यकक्षः । मनुष्यकक्षसामान्यादश्वस्य । स्त्री मनुष्यगणे न वर्तते किमिति दुर्गेः प्रष्टव्यः । वस्तुतस्तु कक्षस्तृणं तद्गवा कक्ष्या । कक्षो जलं गाहत इति गाह+कसः = कक्षः । अथवा । कक्षः = कल्पः । इदं तृणं निःसारं कः पदार्थ इति न ह्यापनमर्हति । अथवा । कर्षति हिनस्ति घर्षतीति कक्षः । कषणसामान्यान्मनुष्यस्य बाहुमूलप्रदेशः कक्षः । बाहुमूलसामान्याश्चाश्वस्य कक्षः । ॥ सेवत इति कक्ष्या । वस्तुतस्तु द्वयोरनयोः कोऽपि संबन्धो नास्ति ।

१२ यास्कस्तद्धितार्थं समासार्थं च पूर्वं निरुक्तिं ततः पदार्थान् (१३३ । २३-२५) । तद्धिते समासे च वर्तमानं पूर्वं पदं पूर्वं निरुक्तमपरं पदमपरं निर्वक्तव्यमित्यर्थं कल्पमाने ' दण्ड्यन् ' इत्यत्र कमेवपदं वर्तते । तत्र पूर्वं पूर्वमित्यस्य न किमपि प्रयोजनम् । तस्मान्नायमर्थः साधुः ।

के इमे अन्ये इति न ज्ञायते ।

१४ ' यद्यथमेवायं स्यान्नान्येस्त्वर्हि ' इति ' एव ' पदस्यार्थः ।

१३६

१-३ यस्मान्परिमात लोको छ. त. द. पुस्तकेषु एकधा स्वर्थे । त. = नापरमस्ति । द्विवि. । पुर्वेण सर्वे* ।

छ. = नापरमस्ति । उपायोऽस्ति । पुर्वेण सर्वे* ।

पत्रं

पङ्क्तिः

१४१

४-५ 'चतुर्दशानां विशास्थानानामधिष्ठात्री देवता स्वयमेव वा-
विद्या विमोहिणी यथादर्शनं शिष्यान्ध्यापयन्तं कंचिद्वा-
ल्लणमुपाध्यायमाजगाम । किमिति । अध्येयणार्थम् । त्वं
गोपाय त्रायस्व माम् । किमेवं स्यादित्युपचयं दर्शयति ।
रक्षिता सती शेषविः सुखनिधानं ते तवास्मि भवामि ।
क्रीदशीं रक्षेति च दर्शयति । असूयकेत्यादि । असूयकः
परगुणमध्वंसनशीलः । उपाध्यायद्विद् हेतुको वा । तत
एष निर्दग्धश्रद्धासिक्त्यभावः सर्वमेवासूयन् किञ्चित्प्र-
तिपद्यते । अनृजुः शठः । अन्यथादाक् अन्यथाचारः ।
अयतः अप्रयतोऽशुचिः भिन्नवृत्तो वा । अयतेन्द्रियः ।
एवंविधाय मा ब्रूयाः । मा बोच इत्यर्थः । कीर्थवती क-
लस्य साधिका तथाच स्यां भवेयम्' (ट. ठ.) ।

१२ ग. ज. पाठः 'ब्रूयात्स्त्वम् = ब्रूयाद्यम् + ब्रूयात्स्वम् । ब्रूयास्व-
रि अ इति घ. ट. पाठः । अत्र ठ. पुस्तके 'कार्यशुचिः'
(११) इत्यत्र बो 'र्य' तस्य 'रि अ' इति विश्लेषः
पत्रस्याधस्तनभागे लिख्यते । स विश्लेषो वृत्तौ मिश्रितो भवति ।

१४ 'परतः श्रोतुरपदेशः । य आतृणचि विध्यति सत्येन ब्रह्मणा
कर्णौ । अदुःखम् । असमर्थसमासोऽयम् । सूचीवर्ति-
प्रवेशनादिनिमित्तं दुःखमकुर्वन् । अमृतम् अमृतत्वहेतुभूत-
सुधिदेवादिविषयं ज्ञानं सम्यक् प्रयच्छन्तम् । तं मन्येत
ज्ञानीयात् पितरं च मातरं च नेतरौ । तौ हि स्वार्थं प्रव-
र्तेते । पुत्रस्तु वाजिनवदनुनिष्पादि । अयं तु स्वार्थमनपेक्षै-
तदनुजिघृक्ष्यैव प्रवर्तते । तस्यापि वाजिनस्थानीयं यशः ।
तस्मै न दुः ० नाह । अह शब्दो विनिर्ग्रहार्थायः' (ट. ठ.) ।

१४२ ५-७ 'यथा ते गुरोः न फ (पा ?) लकाः तथैव तान् श्रुतं
तत्र मुनाकि न पालयति' (ट. ठ.) ।

१० 'च'पदं 'ब्रह्मचर्योपपन्नम्' इत्यस्य पश्चाद्युक्तम् ।

१४३ १४ 'सर्वनाम्नाम्' इत्यत्र 'सर्व'शब्दो व्यर्थः ।

१७ आगमः वेदः । परितोषितः सार्ध इति प्रतिपादितः ।

१४४ २३ 'आधावतेति । अयास्यस्यार्थम् । आधावत आगच्छत हे

पत्रं

पङ्क्तिः

१३९

तद्विधा । तत्र विद्या न चक्षुष्या शुभं बीजमिवोखरे ' (ट.) ।

१६ ' अनिदंविदे । विद्यैव समं काममिति च स्वामी ' (ट.) ।

१८ ' किञ्चित् ' प्रकरणम् ।

२३ आस्फालितं=संचालितं फुल्लं वा । ' चिस्फुरोणौ ' (पा० ५६ । १ । ५४) इत्यनेन स्फारयति । स्फारितस्फालितौ समानौ । कुड्मलमित्यनेन हृदयं गम्यते । शास्त्रेण यस्मिन् हृदयं न पूर्णं विकसितं नास्फालितम् (२४) आसमन्तान् धौतं वा तस्मै । विशेषणद्वयं दुर्गस्य बावदूक्तत्वं दर्शयति ।

१४०

१ ' असूया अक्षमा परगुणासहिष्णुत्वं चैतोर्धर्मः प्रादुर्भवतीति शेषः । ततश्चासावसकृदपि विविक्तमुच्यमानोऽपि अपरिगच्छन्मृयकत्वात्सामोदमुपाध्याये न्यसे (स्पे?) त् । यदयमेवं न बुध्यते तत्कथमन्यान्बोधयिष्यतीति । तथा च सति अस्य यशः काम + ने = स्यादिति स्वाभी । असूयकः परगुणप्रध्वंसनशीलः ' (ट.) ।

६ अखिन्नमनसे=अनघचेतसे साहंकाराय । ' खिन्नमनसे ' (ट. ठ. पाठः) = असूयापरिघातितमनसे । ' सिद् (तृदादि ६ । १५५) परिघाति ' । अथवा । खिन्नमनसे=अनुलसितमनसे ।

८ ' जन्मान्तर ' इत्युक्ते ' अन्य'शब्दो व्यर्थः । अनुभाविता=अनुभवयुक्ता ज्ञानयुक्ता कृता ।

२२. ङ. तृणरथवर्तयेन २४ मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न हृद्येत्कृतमर्चनाह । २४ अप्यापिता ये गुहं नाद्रियन्ते । मनसा । २५ यथैवेत्यादि न स्वर्धते । २३ ध. तं मन्येतेत्यर्थं न स्वर्धते । २४ अप्यापिता ये गुहं नाद्रि ।

२५ ध. मनसा कर्मणा । यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान् भुनक्ति । प्रमेयं विद्याः शुचिमममत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् । दस्तेन हृद्येदित्यादि न स्वर्धते ।

पत्रं

पङ्क्तिः

१४८

४ ततो (धनुषः) = तस्मात् ।

‘ विरिति शकुनिनाम येतेर्गतिकर्मणोऽधापीपुनामेह भवत्ये-
तस्मादेव ’ (१४७ । ८) इत्यस्य दुर्गकृता व्याख्या न-
सरला । यास्कमतेऽत्र पक्षिसंबन्धो नास्ति । गुणवृत्त्या
पक्षिसंबन्धः स्यादिति दुर्गमतम् ।

१२ ‘ वृत्वा क्षां तिष्ठतीति वा क्षा क्षियतेर्निवासकर्मणः ’
(१४७ । ५) इत्यस्य दुर्गो व्याख्या न करोति । दुर्गेण
छ. त. द. निरुक्तमूलं स्वीकृतमिति भाति ।

१३ कः शेषो विवरणीय इति न ज्ञायते ।

१४९ ७ हेरणयम् = हेरणं हेडनम् अवहेलनं तन्मयम् । कालचक्रं
(६) सर्वभूतान्मवहेत्येते ।

१५ ‘ अन्मयम् ’ इति रूपं ग्रामादिकं ‘ प्रत्यये मापायां निवम् ’
इत्यनेन (पा० ८ । ४ । ४५ कार्तिकम्) ।

१६ ‘ तत्तेजःसंबन्धात् ’ अत्र तस्य = आदित्यस्य ।

२२ साम्राज्याभिपेके राष्ट्रभृशान्यो द्वादशाङ्गुतयो ह्यन्ते ।

१५०

४ गमनस्य गोक्षन्दवाच्यता । गोमतः = गमनवतः । गन्धर्वः =
गां (गमनं) धारयतीति ।

६ स्वाहा = सु + आहा = आहुतिः ।

१५१

१९ अत्राह = अत्र- अह (खलु) ।

२३-२५ ‘ बहुवृद्धाः ’ (१५० । १७) ‘ शम्नातेर्वी ’ ‘ शर-
णायोद्गतमिति वा ’ (१५१ । २) इत्येतदुर्गेण न
व्याख्यातम् ।

२६ ‘ अर्धाद्यत् ’ (पा० ४ । ३ । ४) ‘ परावराधमोत्तम-
पूर्वाच्च ’ (पा० ४ । ३ । ५) इत्येताभ्यां सूत्राभ्यां
परेऽर्धे स्थितं = परार्धम् ।

१५२

१ ‘ परया ऋद्धया युक्तं परार्द्धम् ’ इति रूपसाधनार्थं किं
सूत्रम् । परेऽर्धे स्थितमिति तद्वित्ते परार्धस्यम् इत्यत्र स्थः
पुनरुक्तः । सा पुनरुक्तिः परमया ऋद्धया युक्ते स्थाने
स्थितमित्यत्रापि वर्तते एव । किंच परा ऋद्धिः परार्द्धेत्येव
स्यात् । तथा युक्तं परार्द्धम् । प्रथमाभ्युपगमेन सार्धार्धता ।

पत्रं

पङ्क्तिः

१४५

मुहस्यः । अचर्युणामिदं संवोधनम् । क्षिप्रकारित्वाऽनुवर्णेन
 चालङ्कृतत्वात्सुशोभनो हस्तः मुहस्तः । स यस्यास्तीति
 मुहस्ती । छन्दसीवन्निपौ चेति मत्वर्थे । इन्नन्त इदं बहु-
 वचनं मुहस्यः । आगत्य शुक्रा गृष्णीत मन्धिनौ प्रहौ
 गृह्णीत । गृहीत्वा चानन्तरं गृहीतं गोभिर्गोविकारैः पय-
 ओदिभिः त्रीणीत मिश्रयत मत्सरं मादयितारं सोमम् । मैत्रा-
 वरुणादिकं पयसा मैत्रावरुणः स्त्रीणाति दध्मादित्यमिति श्रुतेः
 प्रकृतित्यागोऽत्र द्रव्येण पृथिव्यादिभिश्च मिश्रणसंभवात् ।
 पयश्च श्रुत्वा निश्चित्याह । पयस इति । मत्सरं निगमप्रसक्तं
 निराह । मत्सरः सोमः । अत्रापि प्रसिद्धस्य सोमस्य मिश्रणा-
 संभवात्सोमस्य मिश्रणोपदेशात्क्रियायोगमङ्गीकृत्य मत्सरः सोम
 इत्याह्वेति स्वामी ? (ट.) ।

१४५

८ तेन = मत्सरेण छोभेन । धनाभिमुख्येन = धनस्यानुकूल-
 तया । ' मत्सरोऽन्यशुभद्वये तद्वत्कृपणयोस्त्रिषु ' (अम०
 ३ । ३ । १७२) ।

१६ ज्ञापकम् ईरो नामकरण इत्यस्य ।

१८ ' सौमन्ध्याक्रान्तत्वम् ' अयं किम् ईरप्रत्ययस्यार्थः ।

१४६

३ अभ्यग्रम् = अन्तिकम् । ' उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णाभ्यग्राः ' (अमर० ३ । १ । ६७) ।

९ सोमाभिषवे युक्तानां प्राण्याम् अर्धानम् ।

११ अष्टमात्रः = व्याप्तमात्रः अभिपुत एव । अद् व्याप्तौ ।
 अंशुः = अद् + शम् । ' शमष्टमात्रो व्याप्तमात्रः पीतमात्रः
 मुखो भवतीत्यर्थः । अपाम सोमममृता इति श्रुतेरिति
 स्वामी ? (ट.) ।

२० संश्लेषकाः (च, पाठः) = श्लेषणा सहिताः । अयं पाठः
 नाधुतरः । संश्लेषिताः = संयोजिताः ।

१४७

१ ' गोपयतोर्धत् ' (पा० ४ । ३ । १६०) इति गम्या
 गोविकारः । ज्यार्थे वर्तमानो गोशब्दः कथं तादितः
 स्यात् ।

३ गौः गोस्त्वथाद्रिन्नद्रव्यस्य विकारः ।

- पत्रं
१५५ पङ्क्तिः
बोधयन्ति । ' दधिक्राव्णो अकारिपम् ' इति सर्वाः मुरभि-
मतीमृचमन्ततो जयन्ति (तै० सं० ७ । ४ । १०) ।
दुर्गेण दत्तः कल्पोऽन्यसूत्रस्थः स्यात् ।
- १५६ १-२ ' अश्वः शस्त्रं शास्त्रं वीणा वाणी नरश्च नारी च । पुरुष-
विशेषं प्राप्य भवन्ति योग्या ह्ययोग्याश्चेति ' (ट) ।
३ लक्षणोद्देशमात्रं० = एकैकस्य मन्त्रस्य निर्वचनं निर्वचनस्य
लक्षणमुद्देश्यं च प्रतिपादयितुमेव क्रियते । न तु सर्वेऽर्था
दीयन्ते ।
५ ग. च. ज. पाठः नात्रापरोधोऽस्ति = उपपन्नार्थकरणे न
कोऽपि प्रतिबन्धः ।
६ संदेहाधिकारं (घ. ट. ठ. ड. पाठः) इत्यत्र ' वि '
प्रामादिकम् । ' धि' स्थाने ' वि ' लेखनदोषात् । संदेह-
प्रकरणमिदम् । तदुपजीवन् = तदन्तरेणैव ।
७ पूण्यति = संहन्ति = रासीकरोति ।
' जानामीति ' च. पुस्तके ' जानानीति ' शुद्धीक्रीयते ।
किंतु निरुक्तमूले नैकस्मिन्नपि पुस्तकेऽयं पाठो विद्यते
(१५३ । १५)
- १५७ १-३ सायणस्यापि विस्तृतं भाष्यमस्या श्रवः ।
८ सायणभाष्ये अयं खण्डः २ । ८ न तु २ । ९ ।
- १५८ २० निर्णेतव्यः (च. पाठः) = संशोध्यः निर्णेतव्यः ।
२३ सर्वा देवता जानामीति साकपुणेः साभिमानं मतं
(संकल्पः) तस्मै देवता प्रादुर्बभूव तां स न जज्ञ इत्येव-
मार्थादमत्र संदेहप्रकरणसंबन्धेन कथितम् । गवादिगन्धा-
नुक्रमणं तु मुख्यो विषयः ।
२४ अभ्युद्य = वितर्क्य ।
- १५९ २ ' नैवष्टुह्य हि ये शब्दाः प्रत्यर्थं गगनाः स्थिताः ' इत्येवं
प्रथमार्थेन भवितव्यम् । अन्यथान्वयो दुर्लभ एव । तेषां
तत्त्वार्थान् छन्दोम्योऽन्विष्य योगतस्तान् निर्वृणोत ।
- १६० ११ आदम्पदानं = शिल्पिभिः ००० विस्मर्यमाणम् । धनि-
भिर्हिष्य एव । ' हिषणे चोर्गः' आदम्पदानं वन्दमानं

- पत्रं पङ्क्तिः
 १५२ २ तस्य पादनिधानात् ।
 ४ वस्तुनः प्रभागेण यः पादः चतुर्थो भागः स पशुपाद-
 प्रकृतिः । पशोः पादसमुदायस्यैकः पादश्चतुर्थांशः स प्रकृ-
 तिर्यस्यन् । पादः अंशः भागः इति सामान्यात् ।
 १६-१७ यस्य भूतजातस्याभिधानानि । यद् भूतजातम् आश्रयो यासां
 क्रियाणां तासां वचना अभिधायकाः ।
 १७ तेषां = लोकानाम् ।
 १९ ' भागरूपनामभ्यो धेयः ' (पा० ५।४।२५ वार्तिकं) इति
 नामधेयम् ।
 १५३ २१ ' अस्य वामस्य पलितस्य होतुः ' इति ऋ० सं० १ ।
 १६४ सूक्तम् । अस्य वाभीयमिति तस्य सूक्तस्य नाम
 ' मत्तौ छः सूक्तसाम्नोः ' इति (५।२।५९) पाणिनि-
 सूत्रेण ।
 २२ अपत्यानि दुष्पोषत्वाद्वापन्नानि मृतानि ।
 २३ क एते परिवाजकाः । ' परिवाजकानाम् आत्मविदां दर्शनेऽ-
 स्या ऋचोऽर्थः । नैरुक्तानां स्वप्रिमः ' (ट.) ।
 १५४ ५ ' यः पश्यति० तस्मात् तस्यैव० ' अस्मिन् वाक्ये 'तस्मात्'-
 शब्दो व्यर्थः ।
 ७ द्वितीयः ' सः ' व्यर्थः ।
 १६ ' यो रेतः सिञ्चति सः भूयो० ' इति वाक्यं शुद्धम् ।
 ' यद्रेतः सिञ्चति तद् भूयो० ' इति वा । यत् तत् = यदा तदा ।
 १५५ ८-१० ' मातुर्योनी ' इत्यत्र माता तद्योनिश्च द्वे अपि ' अन्तरिक्षम् '
 इति दुर्बोधम् ।
 १२ मूले ' परिबीतः ' शब्दो न तु ' परियुतो भवति ' इति ।
 १९ ' दधिक्राव्णो अकारिपमिति दधिक्रावत्योपतिष्ठते ' (भैत्रा०
 सं० १।५।६) ।
 २१-२२ ' दधिक्राव्णो अकारिपमित्याग्नीध्रीये दधिदस्तान् प्राश्य '
 (आश्व० श्रौ० ६।१२।१२) । ' आग्नीध्रे दधि भक्ष-
 यन्ति ' इत्यन्यसूत्रस्थं स्यात् ।
 १५५ २२-२३ ' ऊर्ध्वमेनामुच्छ्रयतात् ' इत्यनेन महिषीभित्तरा राजद्राय

पत्रं

पङ्क्तिः

१६२ () आत्मनेपदे 'च' । 'शशास' इदं किं शास्तेः शसतेः ?

'शसते'वेति न ज्ञायते । 'शस' हिंसायाम्' इत्ययं धातु-

रत्रायुक्तः । 'शामु अनुशिष्टौ' (विद्यादाने) । दुर्गः

'शशास' इत्यस्य 'अभिगमितवान्' इत्यर्थं करोति ।

'शामु अभिगमने' इत्यर्थो धातुपाठे नास्ति । 'शशा

'प्लुतगंतौ' (स्वारितायां गंतौ) तस्य 'शशाश' इति

रूपं स्यात् । राज्येन (राज्यं दातुमिच्छया) स्वरितं तमभि-

गतवान् । 'अभिगमितवान्' इत्यत्र णिचो न किमपि

प्रयोजनम् । अपि 'शशाश' इति मूलपाठः स्यात् ।

देवापिः राज्यमभिगच्छति शंतनुस्तं राज्यमभिगमयति स्वी-

कारयति । राज्येन शशास=तेन राज्यं स्वीकारयितुं येते ।

६ अभ्युद्यतेन = अर्पितेन दत्तेन । ७ वार्षिकेण = वर्षकारिणा ।

१६ 'पुनरकम्' इत्येकास्मिन्नेव पुस्तके लभ्यते । इतरेषु

'पुनरकम्' इत्येव ।

१७ 'तद्यदेनान्' इत्यस्य स्थाने तै० आ० २ । ९ इत्यत्र

'अजान्हि पृथ्वीन्' इति वर्तते ।

१६३

७ तथा तथा (च. पाठः) = तेन तेन प्रकारेण । साधु-

तरोऽयं पाठः ।

११-१२ 'स देवाप्यधिकारे००० अभिसंबध्यते' इति न सुबोधम् ।

अन्यस्मिन् कल्पे देवाप्यधिकारं वर्तमानः स आर्द्धिपेण इद-

मकरोत् । शन्तनोरिव ममाप्येतदेवमेवास्तु । एवं वाक्यद्वयं

स्यात् । देशप्यधिकारे=होमृत्वे । वृष्टस्पतिना दिव्या वाग्देवा-

पये दत्ता तेन सोऽधिकारसंपन्नो भूत्वा वृष्टिमकरोत् । एवम-

धिकारसंपन्नोऽन्योऽपि देवापिरस्मिन्कल्पे शन्तनुसदृशस्य

मगापि वार्षिकं कर्म करोतु । सर्वा ऋक् एकमेव वाक्यम् ।

दुर्गेण तस्य वाक्यस्य श्रीणि वाक्यानि कृतानि ।

१४ ऋष्टिः खड्गस्तरवारीति त्रिकाण्डशेषः । 'आर्द्धिपेणशब्दस्य

प्रकारान्तरेण व्याख्यानम् । ऋष्टयः शक्तयः । तन्प्रधाना

सेना महता यस्य । असेषुव (?) ऋष्टयः । विगुद्रथा मस्त

ऋष्टिमन्तः (ऋ० सं० ३ । ४ । १३) । आर्द्धिपेण-

पत्रं

पङ्क्तिः

१६५

७. तत् = शम् ।

८. 'पुरोहितः पुर एनं शान्त्यर्थं राजानं दधति कुर्वत इत्यर्थः' (ट.) ।

१६६

२२-२३. अन्यग्रहापेक्षमेतत् = चन्द्रादीनामयं प्रभानाशो न शाश्व-
तिकः किंतु सूर्यप्रकाशापेक्षः । आर्यज्योतिषे सूर्यो ग्रह एव ।

१६७

६ उपर्युपरि = सातत्येन । ऋचामयम् आर्चः । अभितः साक-
त्येन आघ्रायन्ते अस्मिन् सोऽम्याघ्रायः । 'संख्याया अय-
यवे तयप्' (पा० ५ । २ । ४२) इत्यनेन दश अय-
यवा अस्य स दशतयः । दशतयः = ऋग्वेदो दशमण्ड-
लात्मकः ।

९. चोदितपूर्व = पूर्वं चोदितम् । अथावधि आध्वर्यवे याजुषे
कर्मणि आदितेयनाम्ना हविर्देयमिति चोदनाविधिर्नास्ति ।
यामुतस्तु 'पूर्व'शब्दो व्यर्थः ।

१०. नैघण्टुकवृत्त्या = गौणवृत्त्या ।

१० आदितेयं 'छात्र्यो ढक्' (पा० ४ । १ । १२०) ।

१४ तै० सं० २ । १ । १० इत्यत्र 'सौर्यं बहुलपमालभेत'
इति विद्यते न 'आदित्यम्' इति ।

१८ किंतु अल्पः हविःसुक्तविषयो यस्य तत् ।

'सूक्तमाकृशब्दस्यायमर्थः । सूक्तमप्ये इदं पदमस्ति ।

हविर्भाकृशब्दस्यायमर्थः । आदितेयायानुग्रहि । आदि-

तेयं यज । ये यंजामह आदितेयं यदेदेनय० इति नास्ति ।

अनेन पदेनाध्वर्यवे हवीं च हविश्चोदितं नास्तीति न हवि-
र्भागिति' (ट.) ।

१६८

१८ 'दानपती' (१०) न व्याख्यातम् ।

१९ घ. ट. ठ. ड. पाठः - 'अनवनुष्यमानौ' । अत्र हात-

दोषेण 'रु' स्थाने 'नु' । 'रु' केपुचिपुस्तकेषु

'नु'एवं लिख्यते । अनव्वरम् अयपूर्वस्य हस्तेरतिरुद्धः ।

'हृ योदित्ये' (धा० १ । ९५६) । 'अवहरो'

भक्षः । अनवमक्षितम् अनवहस्तिनं रथोभिर्गन्धः

(ट.) ।

पत्रं

पङ्क्तिः

१६३

नम्रतां विशेषणम् । ऋष्टयस्ते च मध्यमानुचराः ' (ट.) ।

२० ' पुत्राग्नौ जरक्ताद्यस्मात्पितरं त्रायते सुत इति स्मृतिः ' (ट. ठ.) ।

२१ ' ऋषिर्दर्शनात् । देवापिरस्यैव सूक्तस्य । सामान्येनैतन्निर्वचनम् । स्तोमान् त्रिवृदादीन् ददर्शेति विशिष्टमघ्नदर्शनादेवेत्यौपमन्यवः । व्याख्यान्तरम् ' (ट.) ।

२२ ' ब्राह्मणमप्यास्मिन्नर्थे सामान्येन दर्शयति । तपदेनान् मधुच्छन्दःप्रभृतीन् तपस्पमानान् तस्यैव तपसोऽनुभावात् ब्रह्म ऋगादि स्वयंमु अकृतकं नित्यं पूर्वाधीतमिवाभ्यानर्पत् । ऋ गतावित्यस्य छिटि (!) रूपम् । आगतम् आधिर्भूतम् ' (ट.) । अम्यागच्छत्=आविरभवत् ।

१६४

१ ' त ऋपयोऽभयन् ' (१६२ । १८) इति दुर्गेण न व्याख्यातम् ।

३ यस्मात्तत्तयोपरिष्ठादवस्थानं स्थितिस्तस्मान्न उद्गततरः ।

४ न धावति = नोत्पतति ।

२१ ' होकाग्निकर्मणि ' (च. पाठः) । अत्र ' बा ' स्थाने ' का ' हस्तदोषेण ।

२३ ' अन्वष्यायत् व्यातवान् । किम् । सामर्प्यात् वृष्टिम् । मनोरथेः प्रार्थितवान् ' (ट.) ।

२४ ' देवधृतं देवैः श्रुते वृष्टिनिम् । यनु याचने । घतुर्घ्यं चोभयत्र द्वितीया । देवैः श्रुत्या (ताः) य वृष्टिनिषे वृष्टि-याचने । राणः । रातेः ' अन्वष्यो वृष्टम् ' (पा० ३ ।

१ । ट. ५) इति नपुं श्रुः । दद्वंद्विनिर्धयः ' (ट.) ।

ट. पुनस्तत्तमिदं टिप्पणद्वयं ट. द. पुनस्तयोः दुर्गवृत्तौ मिश्रितम् ।

१६५

१ घ. ट. ठ. द. पुनक्तेषु 'मः' नाग्नि । तेन ' राणो दद-दिह ००० वाचनपष्ठद्वयार्थः ' इत्येकं वाक्यम् ।

५ ' यं यं करेण स्पृशन्ति - ज्ञानं न मुञ्चन्ति । पुनर्वया च भवन्ति तस्मात्तं शान्तं विदुर्भिति भारते आदिपर्वणि वंगानुकीर्तने ' (ट.) । इदमपि ट. द. पुनस्तयोर्मंड मिश्रितम् ।

पत्रं

पङ्क्तिः

१७० यतीति सतः । यमनियमाख्यं तद् व्रतं पापाद्वारयति । इदमपी-
तरत्कर्मख्यं व्रतं वारयतीत्येतस्मादेव । तदादित्यादिदेवादिष्टं
कर्म कृतं सदानेष्टं वारयति । कर्माकरणे तु वरुणादयः
क्रुष्यन्ति पीडयन्ति चोपश्लासनेन । अथवा वृणोतीत्येव सतः ।
दुर्गेः 'निर्वृत्तितोपसर्ग आहन्तीति' (१७९ । २९)
इत्यत्र 'अथवा' शब्दमग्राहरति । तथात्रापि स शब्देऽ-
प्याहर्तव्यः । अन्नमपि व्रतमुच्यते वृणोतीति सतो यस्मात्तदा-
वृणोति शरीरम् । दुर्गेण 'एतस्मादेव' (१६६ । ७) न
व्याख्यायते । तेन यः पाठव्यत्यासः कृतः ॥ किमाधारः
इति न ज्ञायते ।

१५ व्रतं यमनियमाख्यं भवेत् । वेद्यां वेद्या बहिर्वा कर्तव्यत्वे-
नादिष्टं स्यात् । द्विविधमपि तत्कर्मः वारयतीति सतः ।

१६ आन्तर्बैदिकं = वेद्याम् इति अन्तर्बैदि । तत्र भवम् आन्तर्बै-
दिकम् 'अन्तःपूर्वपदादृञ्' (पा० ४ । ३ । ६०)
इत्यनेन सूत्रेण । वेद्याः बहिः बहिर्बैदि । तत्र भयं बहिर्बै-
द्यम् 'अव्ययीभावाच्च' (पा० ४ । ३ । ५९) इत्यनेन
सूत्रेण । बाहिर्बैदिकं रूपं केन सूत्रेण ।

१७ दीक्षितः स्त्रियं नोपेपादनृतं न वदेदिति ब्राह्मणे ब्राह्मणे आदि-
ष्टम् । 'तदनु स्मृत्वा' इति ग. च. ज. पाठः । तदनु
तद्व्रतानुसूत्येन स्वकर्तव्यं स्मृत्वा । 'तदनुस्मृत्य' इति
पाठः साधुः ।

१८ 'अवकीर्णा क्षतव्रतः' (अमर० २ । ७ । ५४)
इति द्वे नष्टब्राह्मणस्य ।

१७२ १६-१७ 'नेता रसानाम्' (१७१ । ६ तथा १४) इति दिवा-
रमस्मिन् सण्डे ब. थ. घ. ङ. ड. पुस्तकेषु । दुर्गेण तन
व्याख्यायते ।

१८ 'बन्धयते' 'बन्धयतीति' द्वे अपि साधुनी ।

२० 'प्रतिप्रियेत्' (१७१ । ७) इति निष्कम्बे । दृष्टं
तु 'प्रतिप्रियेत्' ।

- पत्रं पङ्क्तिः : :
- १६८ १९ अनन्वयरम् अकुटिलमिति यजमानविशेषणमेव सायणभाष्ये ।
‘ सचेते इति छोडर्थे छट् । सचेतां सेवेताम् । किम् ।
सामर्थ्यादस्मच्छम् ’ (ट.) ।
- १६९ ४ यदि ‘ अद्यापि मित्रस्थैकस्य ’ इत्यत्र ‘अपि’शब्दस्य
अयं विशिष्टोऽर्थस्तर्हि ‘ अद्यापि मित्रावरुणयोः ’ इत्यत्रापि
स एवार्थः स्यात् ।
- ८ ट. पुम्नके ‘ कर्मणा ’ इत्यस्य ‘ यागाख्येन ’ इति सव्य-
प्रान्ते व्याख्या दीयते । मा ट. ड. पुस्तकयोर्दृष्टायेव
‘ कर्मणा यागाख्येन ’ इति लिख्यते ।
व्रतेन शिक्षति = व्रतमर्पयति । ‘ राज्येन शिक्षति ’
(१५९ । १९) = राज्यमर्पयामास । ऋग्वेदे शिक्षतेः
कर्मणो द्वितीया तृतीया वा भवति । यथा । ‘ दोहेन गम-
मुपशिक्ष ’ (१० । ४२ । २) । ‘ स शक्र शिक्ष पुरु-
हूत नो धिया ’ (८ । ४ । १५) । ‘ शिक्षा शचीव-
स्तव नः शर्चाभिः ’ (१ । ६२ । २) । एतेषु तृतीया ।
अथ द्वितीया । ‘ शिक्षा ण इन्द्र रायः ’ (८ । ९२ ।
९) । ‘ शिक्षा शचीवस्तव ताः ’ (९ । ८७ । ९) ।
‘ असम्यं मु त्वमिदं तां शिक्ष ’ (१० । १३६ । ७) ।
- १२ त्वोर्तं = त्वया उक्तं शक्तिम् ।
- १७० १ वारणस्य = वारण्या आभिधायाः । निष्कायः = भाण्ड-
लेपः । तेनावभूधेष्टी हविः । वारणस्य तु निष्कायद्वयः
(ग. घ. ज. पाठः) = वारण्या आभिधाया यो निष्कायो
भाण्डलेपः (अघोषः) यवानां च नृपास्ते हृयन्ते ।
‘ वारण्या निष्कामेन नृपेधावभूधमवयन्ति ’ (मत्स्य०
श्री० मृ ५ । २) । वरुणप्रशामाः = आनुमोक्षान्मभून्तो
यागः ।
- १३ सर्वेषु लिखितपुस्तकेषु ‘ व्रतमिति कर्मनाम निवृत्तिकर्म० ’
(१६६ । ६) इत्येव पाठः । क. ख. पुम्नकयोर्दुर्गदृष्ट-
नुसारेण पाठ्यं व्ययस्तः । किन्तु दुर्गदृष्टान्नं प्रमादिकमव-
भाति । व्रतमिति कर्मनाम । यदा व्रतं निवृत्तिकर्म तदा तद्वार-

- पत्रं यज्ञिः
- १७७ ' यं एष मन्त्रेषु तत्र तत्र संग्रामः श्रूयते तत्र कः समाधिः ' इति घ. ट. ठ. पाठोऽपि साधुः ।
- ६ उद्धृतवृत्तेः = प्रत्यक्षस्य ।
- ८ इन्द्रः = वैद्युतं ज्योतिः । तद्धि वायुना वेष्टयते आविश्यते वा । ' वाय्वाविष्टेन ' इति च. पाठः ।
- ११ सर्वेषु लिखितपुस्तकेषु ' रूपकानि ' इत्येव वर्तते । क. ख. पुस्तकयोरेव ' रूपकाणि ' इति ।
- १७८ २-६ ' शत्रुं न विविस्ते ' इति सरलोऽन्वयः । दुर्गेण तस्य द्वे वाक्ये कृते ।
- १३ वृत्रो मेघो वा त्वाष्ट्रोऽसुरो वेत्यत्र वादः । किंतु मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु च वृत्रोऽहिरिति वर्ण्यत इत्यत्र न कोऽपि वादः । तु-शब्दोऽत्र भेदं दर्शयति न समुच्चयम् । ' च ' इति क. ख. घ. ट. ठ. ड. पाठो व्यर्थः ।
- १५ ' शाखान्तरेषु ' पदं व्यर्थम् । का प्रस्तुता शाखा काश्चान्या इति न ज्ञायते । ऋक्शाखा प्रस्तुता चेत्तस्यामपीदृशानि वर्णनानि सन्त्येव । ऐतरेयब्राह्मणे यदीदृशं वर्णनं न स्यात्तर्हि शाखान्तराणां ब्राह्मणेषु तदन्वेध्यम् ।
- १७९ १२ कस्मिंश्चिद्दीप्यन्तरे = कस्यांश्चिद्दीप्याम् । ' कस्मिंश्चिद्दीप्यान्तरे ' (ठ. ड. पाठः) ।
- १८ दासपत्नीः = ' दासः कर्मकर्ता यजमानस्तत्पाठयिष्यः ' (च.) ।
- १८० २ ' पंणिरसुरो वा ' (ट.) ।
- ८ ' यदिमोहोक्तानवृणोत्तद्वृत्रस्य धृतरत्वम् ' (तै० सं० २। ५। २) ।
- १० ' तस्य (सोमस्य) यदत्यशिष्यत तत्तथा हवनीयमुपप्रा-वर्तयन्त्वाहेन्द्रशत्रुर्धस्तेति ' (तै० सं० २। ५। २) ।
- १०-११ विश्वरूपो नाम त्वष्टुः पुत्र इन्द्रेण हतः । तस्मात्त्वष्ट्रेन्द्रं पथे नामन्त्रयत्तामै सोमं च नाददान् । इन्द्रो बलाकारेण सोमं पपी । सोमापशेषं त्वष्टा ' इन्द्रशत्रुर्धस्य ' इत्युक्त्याप्राप्त-जुहोत् । ततः सोमोऽग्निरूपेण प्रादुरभवत् । यथा पश्या-

- पत्रं पाङ्क्तिः
- १७३ ११ आविष्टः = आभिमुख्येन विष्टः । तेन ' आभिमुख्येन आविष्टः ' इति प्रयोगं पुनरुक्तिः ।
- १५ ' ये चान्ये ' इत्यत्र ' अन्ये ' शब्दो व्यर्थः । नो चेज्ज्योती-
भ्यपि पुण्यकृतस्वन्तर्भवेयुः ।
- १७४ १२ ' दय दानगतिर्हिंसारक्षणदानेषु ' (धा० १ । ४८२) ।
- २३ गुर्जरपुस्तकेषु ' नाम ' नास्ति । तथापि ' अनेकस्यापि सत्त्वस्य नाम भवति ' इति पाठो दुर्गेणापि स्वीकृतः ।
- २४ ' सत्त्वस्य = द्रव्यस्य ' [ट.] ।
- १७५ १ आग्नेयादिका उपदिश इतराम् इतरां दिशं कान्त्वा स्थिता भवन्ति । मुष्यदिशानां मेलनेन क्षुपदिशो जायन्ते ।
- २ एवं स्थानं = एवं प्रदेशम् ।
- ७ मेघाः = मेघे भवाः । मेघा इत्यपपाठः ।
- १७६ ८ ' नीचैर्णमति ' इति ग. च. ज. पाठः ' निर्णामम् ' (१७५ । १५) इत्यनुसारेण ।
- ११ तमःसतत्त्वः = तमः सतत्त्वं तात्त्विको भावो यस्य सः । मेघतमसोरैकरूप्यमेव । ' धूमज्योतिःसलिलमरुता संनिपातः क मेघः ' इति कालिदासो मेघदूते ।
- १२ नीचैः पतितुमारप्स्यमाणा अत एव निम्नमनुसरन्त्यस्ता आपो मेघस्य यावन्तं प्रदेशं यावतः प्रदेशात् स्नुता (गताः) भवन्ति तस्मादपीत्यादि । ११ ' यावत्तम् ' इति ग. च. ज. पाठः प्रामादिक एव भाति । १२ ' स्नुताः ' ' निःपिस्तन्त्यः ' इति घ. ट. ठ. ड. पाठौ प्रामादिकावेव । मेघस्य प्रदेशं ' स्नुताः ' इति दुर्बोधम् ।
- ११-१२ मेघस्य तं प्रदेशं यावत् स्नुता भवन्ति (तावत्) ततः इत्यादिः ग. च. ज. पाठेऽन्वयः स्यात् ।
- १६ त्रयादिगणे ' शम् ' धातुर्नास्ति । ' शम उपशमे लोचने ' इत्येतयोरेवार्थयोर्वर्तते । १६-१७ ' द्राघ सामर्थ्यं आया-
मे च ' ।
- २१ ' तदेव तत् ' ग. च. ज. पाठे ' तत् ' द्विवर्तते । तस्य ' एत ' इत्यस्य च प्रयोजनं न ज्ञायते ।

पत्रं

पाङ्क्तिः

१८८

३ सायणभाष्ये ' माध्यमिका देवगणाः ' । अत्र सर्वेषु लिखितः पुस्तकेषु ' माध्यमकाः ' (१८७ । १४) ।

९ ' कृतन्त्रमन्तारिणं विकर्तनं मेघानाम् ' (१८७ । १५) इति वृत्तौ न व्याख्यातम् ।

१० तात्स्थ्यात् (च. तात्स्थ्ये) ताच्छब्दम् । तस्मिन् मेघे तिष्ठन्ति इति तात्स्था. आपः । तासां भावः तात्स्थ्यम् ।

सः शब्दो यासा ते तच्छब्दाः । तेषां भावः ताच्छब्दम् । यस्मादापो मेघे तिष्ठन्ति तस्मान्मेघनाम्ना ता उच्यन्ते ।

यथा मद्यस्येषु क्रोशन्सु मद्याः क्रोशगतीत्युच्यते ।

११ ' प्रोहिताः ' (क. ख. घ. ट. ठ. ड. पाठः प्रामादिकः) तथा (ग. ज. पाठः) ' पुरोहिताः ' = प्ररोहिता ।

१२ ' तपन्ति = संतापयन्ति पाचयन्तीत्यर्थः । पृथिवीलोकं तत्रस्था ओषधीरित्यर्थः ' [ट.] ।

१४ यथार्थं = यथा इष्टं मयेत्यथा ।

१५ ' बाध्यादित्यौ बहतः = पाचितास्त्वोषधिषु स्थितम् आदित्यमण्डलं प्रति शोषणेन रश्मिभिश्च बहत इत्यर्थः ' [ट.] ।

१८९

२ म + अच् = प्राच् + ईन = प्राचीन । किन्तु अनु + भाप् = अन्वाप् = अनुप् । अत्र कीदृशं सादृश्यमिति न ज्ञायते । ' ऊदनेर्देसो ' (पा० ६ । ३ । ९८) इत्यनेन अनोः पश्चात् आप इत्येतस्य ऊप भवति ।

१९०

२२ ' पृष्ठः पठहे चतुर्थेऽहनि व्यूहपक्षे षडगवृत्ते विनियुक्तम् ' [ट.] । इयं टिप्पणी ठ. ड. पुस्तकयोः वृत्तावन्तर्भाविता । सायणभाष्ये विनियोग एभिः शब्दैर्न दत्तः ।

२४ ' वनति ' (घ. झ. ट. ड. प्रामादिकः पाठः) = एनति ।

१९१

७ ' शोभनाभिः ' (१९० । १०) ' नदी ' (१९० । ११) इत्यौ न व्याख्याते ।

११ ' सत इति ' कारकावधारणं ' विपर्ययेणापि ' इत्यादिकं च दुर्गस्य वायव्यत्वं दर्शयति । अत्रापि न किमपि प्रयोजनम् ।

१५ ' उद्भूतम् ' इति ग. च. ज. पाठे ऐष्वनदोप ५२ ।

पत्रं पाङ्क्तिः

- १८० लभ्यतेऽह्यते च तथा सोमोऽपि (तै० सं० २।५।२) ।
 १३ ' स इषुमात्रमिषुमात्रं विश्वहृद्वर्धत ' स इमोल्लोकानवृणो-
 यदिमोल्लोकानवृणोच्छद्वत्तस्य वृत्रत्वम् ' (तै० सं० २।
 ५।२) ।
 २१ ' अनेकस्यापि सत्त्वस्य भवति ' इति क. ख. छ. त. द.
 पाठः (१७४।२) दुर्गसंमतो यतोऽत्र सर्वेषु पुस्तकेषु
 ' सत्त्वस्य ' इत्यनन्तरं ' नाम'शब्दो नास्ति ।
 १८१ ११ ' प्राप्तायां ' च. पाठः प्रामादिकः ।
 १६ ' विप्रुषः ' इति ग. ज. पाठः ' प्रुषाः ' इति च. पाठः ।
 द्वयोरपि जलबिन्दव इत्यर्थः ।
 २४ अस्या उपस उच्छतीत्येतस्मिन् कर्मणि वर्तमानाया उप
 इति नाम ।
 १८२ १८ अथ त्रिशीतः (घ. ट. पाठः) । अत्र ' थ ' स्थाने
 ' थ ' लेखनदोषात् ।
 १८३ ५ एको योनिशब्दः परियोत्तरभिर्घातेष्वन्युत्पाद्यते इत्याश्वर्थम् ।
 १८४ ११ श्वेतो वर्ण एति अस्यां सा श्वेत्वा इति क. ख. घ. ट. ठ.
 ड. पाठः ।
 १६ निरुक्तमूले ' एने ' (१८३।२१) वृत्तौ ' एते ' ।
 १९ ' अनुद्यौ ' ' आभिन्वाने ' (२४) वृत्तौ न व्याख्यायते ।
 १८५ ३ ' शब्दत्वा ' घ. ट. ठ. ड. पाठः प्रामादिकः = शब्दतत्त्वा ।
 ७ ' वस्तोर्विहमानम् (ऋ० सं० १०।४०।१) इत्यादि ' (ट.) ।
 १८६ १० ' अपहरन्ति ' घ. ट. ठ. ड. पाठः प्रामादिकः = अपहन्ति ।
 यास्कः ' अवातिरत् ' इति पदम् ' अवाहन् ' इत्यनेन
 व्याख्याति । वृत्तौ ' अपहरत् ' इति पदं तस्य व्याख्या-
 नम् ' अपहन्ति ' इति ।
 ११ अत्र ' न ' (१८५।१८) पादपूरण इव भाति ।
 ' उपमाया न किमपि प्रयोजनम् ।
 १३ तमसः अपघतः = तमोपघतः ।
 १९ गो + अत्र = गोत्र (ः) । विचित्रेयं व्युत्पत्तिः । कदा-
 चिदन्यः पाठः स्यात् ।
 १८७ २ एकस्मिन् शब्दे उपरे उपले वा निरुक्ते ।

- पत्रं १९३ पङ्क्तिः १४ 'इमाः' (१९० । १३) दुर्गेण न व्याख्यायते ।
- १९ " संगतम् = अपृथग्भूतमित्यर्थः (ट.) । १६ सुष्ठु पात्रेभ्यो ददा-
तीति सुदाः । वित्तम् = वृतम् । वृङ् संमकौ । ' द्रुतनिम्नां
दीर्घश्च वा ' इति चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् कप्रत्ययः ।
' संमध्यते सर्वैः । स वित्तं गृहीत्वा विपादच्छुतयोः संभेद-
माययौ- इत्यत्र घृतमिति धर्मनामेति स्कन्दस्वामिभाष्ये इति
' निघण्टुभाष्यकारः ' (ट.) ।
- १८ स्पर्धतत्प० इति ग. ज. पाठः । अत्र ' तव्यत्तव्यानीयर ' इत्यादि ' स्पर्ध ' ' नीय ' इत्येतयोर्मध्ये छिदितम् ।
स्पर्धनीयशब्दः ' तव्यत्तव्यानीयरः ' (पा० ३ । १ । ९६) इत्यनेन सूत्रेण स्पर्धधातोर्निष्पन्नः ।
- १९४ ३ निघण्टोः पञ्चाध्यायाः + निरुक्तस्य नव = एवं चतुर्दशा-
ध्यायाः । दुर्गे निरुक्ताध्यायानिघण्ट्वध्यायैः सह संख्याति ।
- २० त्रिष्टुम एताः ' रमध्वं मे ' ' इन्द्रो अस्माँ ' ' आ ते
कारो ' इति-तिस्त्र ऋचः ।
- २३ इदं सोमसंपादि वचः सत्सं भवतु ।
- १९५ ७ ' प्रवर्तते ' (ग. च. ज. पाठः) इति वर्तमानकालः
प्रार्थनाया औत्कट्यं दर्शयति । ' प्रवर्तते ' इतीतरेषां पाठः
सरल एव ।
- ९ ' महत्या ' (१९४ । १५) पदं न व्याख्यायते ।
' सिन्धुं = द्रुतदीम् इति वार्धः ' (ट.) ।
- ११ ' अवस्युः अवनम् आरमनो रक्षणं वा (इच्छन्) । क्वच ।
' क्याच्छन्दस्युः ' (ट.) ।
- १७ मूढः = अस्मः ।
- २२-२३ काल (घा० १० । ३४७) इति पृथग्धातुस्त्र्येके ।
अथवा ' कल क्षेपे ' (घा० १० । ७१) इत्येतस्मा-
त्कालः ।
- २४ ' कुश आह्वाने रोदने च ' (घा० १ । ८८१) ।
' क्रोशति ' इत्येष रूपम् । कथं क्रोशयति (२६) ।
शिञ् स्यात् । राजपुरुषाः क्रोशन्ति स तान् क्रोशयति ।
तेराघीपणां करोतोऽर्थः ।

५५

पङ्क्तिः

१९१

१७ नदीसत्त्वं = नद्या बलम् । इमे त्रयः शब्दा नदीसत्त्वं दर्शयन्ति । सरस्वत्यत्र नद्येवेति स्पष्टमेतेभ्यो ज्ञायते । सरस्वाया नद्यभिधायकत्वे इमानि विशेषलिङ्गानि ।

१९ ' अतः सरस्वतीशब्दस्य नद्यभिधायकत्वम् ' इति च. पाठः ।
अतः = एतेभ्यो विशेषलिङ्गेभ्यः ।

२० मैत्रायणीयके = मैत्रायणीसंहितायाम् । अस्मिन् पदर्थे चतस्रः ऋचः ७।९५ सूक्तात् द्वे च ६।६।१ सूक्तात् ।

२१ उत्तमा = अन्तिमा ।

२२ मैत्रायणांसंहितायाश्चतुर्थेऽध्याये याग्यानुवाक्याः पठ्यन्ते । द्वितीयेऽध्याये काम्याः पठ्यन्ते । पशोर्वपायाः (१) पुरोडाशस्य (२) हविषः (३) वैकैका पुरो-
नुवाक्या याग्या च । एवं तिस्रः पुरोनुवाक्यास्तिस्रो याग्याः । एवं प्रत्येकस्य पशोर्वकैकं पदार्चम् । यावन्तः पशवस्तावन्ति पदार्चानि । पदार्चानामनुक्रमेण पशूनामनुक्रमेण च ' उत स्या नः सरस्वती ' इति पदार्चं सारस्वत्या धेनुष्टव्याः । तत्र ' इयं शुष्मेभिः ' याग्या । यया ऋचा हूयते सा याग्या । प्रथम वपायागः । तदनन्तरं पुरोडाशः । तदनन्तरं च हविः । एवं पशुहविष इयं याग्या ।

१९२

२ ' इयमपि ' (क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. पाठः) ऋक् । ' इदमपि ' (ग. च. ज. पाठः) = अभिधानम् ।

६ विभवः = तं तमर्थं यक्तुं समर्थाः ।

९ यदा सरस्वती देयता तदा सरस्वदेयतावाप्यनुयागेऽप्यर्चो वाग्यात्वेन विनियोगोऽनुविहितो मैत्रायणांसंहितायाम् तदभिधायेण तदनुसारेण ।

१० माध्यमिका वाक् = ' वाग्यं सरस्वतीं याचिरेतां याचं यद्वै ' (मैत्रा० सं० २।५।४) । पशुमन्त्राधिनि क्षेप्रमन्त्राधिनि वा वादेऽनेन पशुयागेन प्रतिस्थापितां वाच एव नदयन्ति ।

११ ' मञ्जनि ' इति सर्वेषु लिखितपुस्तकेषु । ' मञ्जयति ' क. ख. पुस्तकयोः । किन्तु पुरादिगणस्थो ' भजि ' धानुर्मा-
दने वर्तते । मञ्जयति (भ्रामादिकं) = मनजि ।

- पत्रं पाङ्क्तिः
 २०० १२ 'अनुसन्तथीजत्' पूर्वा प्रकृतिः कथमिति न ज्ञायते ।
 १८ 'पन्थतेर्वा पथतेर्वा' (ग. च. ज. पाठः) निरुक्तमूलपुस्त-
 केषु नास्ति ।
 २१ चर्करीतेन वृत्तं रूपम् । यद् इत्येतस्य चर्करीत इति पूर्वेषां
 नाम । कृधातोः चर्करीति । तस्माच्च चर्करीतशब्दः ।
 २०१ ७ 'जमु अदने' (धा० १ । ४७२) । गमनार्थो दुर्गेण
 कुतो लब्धः ।

तृतीयोऽध्यायः ।

- २०३ ११-१२ अयं खण्डयोः कस्मितः संबन्धो बादरायणसंबन्ध एव ।
 १४ 'अपस्' इत्येतत् लातिनमापायाम् ' ओपम् ' इत्यनेन
 सदृशम् ।
 २१ 'तनयम्' इति किमिति नपुंसकम् । निघण्टुपाठः
 'तनयः' एव ।
 २०४ २५ स्वयंजातम् = स्वयंजनितम् ।
 २०५ १ 'क्षेत्रजं कृतकं वा' इति च. पाठः साधुः । एक एव
 'वा' शोभनतरः । 'क्षेत्रजादीन् मुतनेतानेकादश
 यथोदितान् । पुत्रप्रतिनिधीनाहुः क्रियालोपागमनीपिण इति
 मनुः' (मनुस्मृतिः ९ । १८०.) (ट.) ।
 ५ 'विदूदुपः दुप वैकृत्ये' (ट.) ।
 २१ 'अनेनैव चाप्य' इत्यत्र चः व्यर्थः । च. पाठे स
 नास्ति ।
 २३ 'अस्थैवार्धस्योत्तरा० इदतराय (?) निर्निविध्य यधनाय
 ग्रासत्वस्य स्पष्टत्वाय । अथाचिदोक्त इति च हेतुदचनान्
 भूपस्त्वम्' (ट.) ।
 २०६ १० प्रभाय = पुत्रत्वेन ग्रहणाय । १८ 'ममत्वं पुत्रः' (४)
 इत्यत्र 'पुत्रः' न व्याख्यायने ।
 १३ 'समुत्तमः' (३) इत्यत्र 'मु' न व्याख्यायने ।
 २०७ १० के धर्मविद् दशहरणि ।

पत्रं . पङ्क्तिः

१९५ २६ 'कंस' नैव घातुपाठे नापि कस्मिन्नपि कोशे ।

१९६ १ 'उक्तवन्तं विश्वामित्रम्' (ट.) ।

२ 'वज्रबाहुः । वज्रयुक्तो बाहुर्धस्यासौ' (ट.) । इदं साय-
णभाष्यस्थम् । 'बाहुनात्र हस्तो लक्ष्यते वज्रहस्त इत्यर्थः'
(ट.) । इदं ट. ड. पुस्तकयोर्वृत्तावन्तर्भाव्यते ।

११ 'रद त्रिलेखने' (धा० १ । ५३) ।

१९ 'कस्याणपाणिः' (७) न व्याख्यायते ।

१९७ १ 'अन्ते = मध्ये' (ट.) ।

१-२ 'प्रावृषि प्रवृद्धोदकाः प्रत्याख्यायैनं तदर्थानामन्ते वर्षाणां
शरदि प्रत्यं (?) तारतम्येन क्षीयमाणोदका आशुश्रुबुः तद-
र्थानां कृतधस्य इत्यर्थः' (ट.) ।

११ निनमै इति एकवचनमात्मनेपदे लोटि ।

२१ 'ययाधेति मध्यमः प्रथमपुरुषस्य स्थाने । यान्तु सर्व एव
जना इति स्वामी' (ट.) । 'ओषु स्वसारः कारवे
शृणोत ययौ वो दूरादनसा रथेन । नि पू नमध्वं भवता सुपारा
अधोअक्षाः सिन्धवः स्रोत्याभिः' (ऋ. सं. ३ । ३३ ।
९) । ओषु पादपूर्णौ । हे स्वसारः मगिन्यः कारवे
स्तौत्रे शृणोत शृणुत । ययौ वः युष्मान् दूराद्विप्रकृष्टात्
अनसा शकटेन रथेन च आत्मनः । नि पू नमध्वम् । सुः
पादपूर्णः । बिस्ममध्वम् । भवतेत्यादि । सिन्धवो नद्यः ।
स्रोत्याभिः रसनदनैः सह भवथ । सूक्तस्यान्ततः आशुश्रुबुः
तथेति प्रतिज्ञातवत्यः । स्वामी' (ट.) ।

१९८ २० प्रथमः 'अथवा'शब्दो व्यर्थः ।

२०० १ वरत्रद्वन्य (ग. ज. पाठः) = वरत्रेण + वध्रेण ।

२ 'अथासनि' (क. ख. घ. ङ. ट. ठ. ड. पाठः) ।
'अप्या' त्वरितलेखने 'अथा' इव भाति ।

५ त्वन्वारोहस्याभिप्रेतमर्थं मनसि कृत्वा शीघ्रगमनेन तस्य
कामं पूरयति ।

७ 'सन्ति' 'तानि' इत्येतस्य विशेषणम् । पाठान्तरे
'सन्ति' इत्येतत् क्रियापदम् ।

पत्रं

पङ्क्तिः

२०९ :) रूपे । तयोः ' अङ्गादङ्गात् ' इति कौपीतक्यारण्यके
(४ । ११)

१३ ' मिथुनाः ' इत्येतत् ' पुत्राः ' इत्येतस्य विशेषणम् ।

मिथुनाः = युग्मजाताः ।

२४ ' अथ प्रोप्यायन् पुत्रस्य मूर्धानमभिमृशति । अङ्गादङ्गात्सं-
भषसि हृदयादधिजायसे । आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव-
शरदः शतम् ॥ असाविति नामास्य गृह्णाति । अश्मा भव-
परशुर्भव हिरण्यमस्तुतं मय तेजो वै पुत्रनामासि स
जीव शरदः शतम् ॥ असाविति नामास्य गृह्णाति ।
येन प्रजापतिः प्रजाः पर्यगृहीतारिष्टे । तेन त्वा परिगृह्णा-
म्यसावित्यथास्य दक्षिणे कर्णे जपति । अस्मै प्रयन्धि मघ-
वन्नृजीमिजितीन्द्र वेष्ठानि द्रविणानि धेहीति मा च्छेत्ता मा
व्ययिष्टाः शतं शरद आयुषो जीव पुत्र । ते नाम्ना मूर्धा-
नमभिजिघ्राग्यसाविति त्रिरस्य मूर्धानमभिजिघ्रेत् । त्वा
हिंकारेणाभिहिकरोमीति त्रिरस्य मूर्धानमभिहिकुर्यात् ' (कौपी-
तक्यारण्यके ३ । ११) ।

२१०

१४ शरदि जीवनं न कष्टं यस्मात्तस्मिन्नृता सत्पसमृद्धिरस्ति ।
शरद् संपन्नफला अत एव इष्टा ।

१९-२० पूर्वार्धे नैव श्रुत्वा । ' पुत्राणां मिथुनानाम् ' इत्यस्य कोऽर्थः ।
' पुत्राणां ' पदं व्यर्थमेव । अथवा । ' मिथुनानां पुत्राणाम् ' इत्यस्य
इत्यस्य ' पुत्रयुगलानां युग्मजातानां पुत्राणाम् ' इत्यर्थो
भवेत् । तेन दुहितृदायाद्यत्वेऽस्य श्लोकस्य नानुकूल्यम् ।

२५-२६ ' आप्रयणद्रव्यं मृन्मय्यां स्थाव्यां गृह्यते दारुमयेन पात्रेण च
हूयते न तथा स्थाव्या यस्मात् स्थाव्री होमसाधनं न
भवति । यदावमृत्यं गच्छन्ति - तदानीं स्थाव्रीर्वेद्यामेव परा-
स्यन्ति परित्यजन्ति । दारुपात्राण्युद्धरन्त्यवमृत्यदेशे नपन्ति ।
तस्मात्स्थाव्रीवल्लोकेऽपि स्त्रियं, दुहितरं विवाहेन वरकुले
परित्यजन्ति । पुमांसमुद्धरन्ति सम्पक्पोषयन्ति ' (सायण-
भाष्यं तै० सं० १ । ४ । २८) । ' यत्स्थाव्रीं रियन्ति '
इति मेत्रापणीसंहितापाठः । ' रियिर् निरेचने ' (भा०

पत्रं

पङ्क्तिः

२०८ ।

१-१

‘कुशिकः प्रसङ्गात्कचिच्छांस्त्रार्थं श्रूते । अपुत्रो यः पिता
कन्यामन्यकुलं प्रापयति स वह्निरित्युच्यते । अत्रातृर्क मदा-
स्यामि तुभ्यं कन्यामलंकृताम् । अस्यां यो जायते पुत्रः स
मे पुत्रो भवेदिति (वासि० १७. १७) स्मृत्युक्तमनु-
शासनं कुर्वन् दुहितुः पुत्रिकाया नप्यं नमृभवं पिण्डदाना-
दिकं कर्तव्यतया गात् गच्छति । किं कुर्वन् । विद्वान् अस्यां
दुहितरं जातः पुत्रो मम स्वधाकरो भविष्यतीति जानन् ।
अतस्य पुत्रोत्पादने सव्यस्य समर्थस्य रेतसो दीधितिं धर्तारं
विदूषति जामातरं सपर्यन् बच्चालंकारादिना पूजयन् पिता
नमृभावं गच्छति यत्र यस्या दुहितुः पिता पालकः पति-
र्जामाता सेकं तस्यां रेतःसेकं ऋजन् प्रसाधयन् संशम्येन
केवलं सुखनिमित्तेन मनसा तया स्वशरीरं संदधन्वे संधत्ते
न तु पुत्रनिमित्तेन मनसा । सायणमाव्यम् (ट. ४.)
‘शासत् शास्ति आचष्टे इत्यर्थः । वह्निः पिता । अत्र
जातमात्राया उत्सङ्गेन दानकाले वा जामातरं प्रति बोद्धृ-
त्वात् वह्निरित्युच्यते । स दुहितुः पुत्रमिति शेषः’ (ट. ४.)
४. पुस्तके इदं वृत्तावन्तर्भाव्यते तथा पूर्वा टिप्प-
णी च ।

२४ ‘अपुत्रस्य पौत्रः’ इत्यस्मात् ‘अपुत्रस्य पुत्रः पौत्रः’ इति
ग. च. ज. पाठः साधुतरः स्पष्टतरश्च ।

२०९

५ हृदयानुस्मरणनिमित्तेन = मया जननयज्ञस्तन्यत इति
हृदये स्मृत्या स्मृत्या । तस्मात् तद्रेतो हृदयादभिजायते ।
‘हृदयानुसरणनिमित्तेन’ इति च. पाठः स्पष्टतरः । तद्रेतो
हृदयादनुसरति ततश्च मातरं प्रत्यृतं भवति ।

१० मिथुनाः = पुत्रा दुहितरश्च । यथा पुत्रः पुत्रस्तथा दुहि-
तापि । अत एवोभयेऽपि दायादाः । ‘मिथुनाः पुत्राः’
इत्यत्र ‘पुत्राः’ इत्येतस्य स्वारस्यं दुर्गेण न ज्ञातम् ।

१२ ‘तदेतद्वक्श्लोकम्यामप्युक्तम्’ (कौ० आ० ३. ६) ।
ऋक् श्लोकश्च । अथवा । ऋक् श्लोकरूपः ऋक्श्लोकः ।
‘अज्ञादज्ञात्’ ? ‘अविशेषेण पुत्राणाम्’ इति ऋचौ श्लोक-

- परं पङ्क्तिः
२११ मध्यमे संपादयांचक्रुः शुनःशेषे । अतिसर्गः । 'तस्य
ह विश्वामित्रस्यैकशतं पुत्रा आसुः पञ्चाशदेष ज्यायांसो मधु-
च्छन्दसः पञ्चाशत्कनीयांसस्तथे ज्यायांसः०' इति स्वामी
(ट. ठ. ड.) ।
- २१२ ३ मधुच्छन्दआदीनामिति प्रामादिकम् । ज्येष्ठो मेत्वं पुत्राणां स्या
इति विश्वामित्रः शुनःशेषमुवाच । मधुच्छन्दसो ये ज्यायांसस्त
एतन्न कुशलं मेनिरे । तान्विश्वामित्रः शशाप । मधुच्छन्दास्त
ये आत्मनः पञ्चाशत्कनीयांसस्तैः सह तदनुमेने ।
- ११ 'अन्यः'पदं व्यर्थम् ।
- १८ 'अभ्रातृका इव योषा०=यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहि-
ता समा । तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेदिति
स्मृतिः (मनु० ९ । १३०) स्कन्दस्वामिभाष्ये' (ट.) ।
- २२ 'अमूर्या यन्ति जामयः सर्वा लोहितवाससः' इदमर्थं गुर्ज-
रपुस्तकेषु नास्ति ।
- २२-२३ 'अमूर्या यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः । अभ्रातरं इव
जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः (अथ० सं० १ । १७ । १) ।
अत्र निरुक्तमूलाद्विन्नः पाठः ।
- २४ इयमधर्वणामृक् । प्रसवमार्गवहनरोगः तद्वती ।
- २१३ १ मृतौ 'तिष्ठन्तु' इति पाठः । घ. झ. ट. पुस्तकेषु
'अमूर्या०' इत्यस्यामृचि 'तिष्ठन्तु (२१२ । २३)
इत्येव । इतरेषु पुस्तकेषु 'तिष्ठन्ति' ।
- २१४ ६-७ 'अभ्रातृका स्त्री येभ्य उत्पन्ना तानेव पुंसः पितृमेति
गच्छति संतानकर्मणे पिण्डदानाय च । एवमुषा यत उत्पन्ना
तमेवादित्यं गच्छति । तत्रैव प्रलीयत इत्यर्थः । स्कन्दस्वामी ।
गौतमपुत्रस्य कक्षीवत आपं प्रत्यन्तरे' (ट.) ।
- ७ पित्रा दत्ता । भर्त्रा ऊढा ।
- १२ 'दाक्षिणाजा' अथवा 'दाक्षिणात्या' (२१ । ३ ।
१४) इति दुर्गस्थीकृतनिरुक्तमूले पाठः स्यात् ।
- १३ निवपनं = प्रक्षेपः ।
- १४ कितवः = अक्षधृताः द्यूतकृत् (अमरः २ । ९ । ४४) ।
- १६ 'जायेव पर्ये० द्वितीयाथे चतुर्थी । पतिम् उशती फाम-
दमाना मुवासाः निर्विशङ्का परमया प्रात्या मुक्ता गच्छन्ति
- ११

पत्रं

पङ्क्तिः

२१०- ' ७ । ४-) । ' ऋच्छ गतीन्द्रियप्रलपमूर्तिभावेपु (धा० ६ । १६) ।

परास्यन्ति त्यजन्ति वने यस्मात्त्रियोऽनिष्टाः । वरकुले परि-
त्यजन्तीत्यर्थः न सरलः । श्रूयते च यथा केचित्क्षत्रियाः
जातामेव चालां प्रान्ति । अनृतं स्त्रीत्येव प्राचीनानां मतम् ।

२११ १-२ ' तस्मात्त्रियं जाताम् ' इतीदं वाक्यं मैत्रा० सं० अन्यत्रापि
विद्यते (मैत्रा० सं० ४ । ७ । ९) । तत्र स्त्रियः पुरु-
षेभ्योऽतिरिच्यन्ते तस्मात्स्त्री परस्मै दीयत इत्यर्थः ।

४ हवनकर्मणः । (अपादाने पञ्चमी) परास्यन्ति ।

१२-१३ ' चातुर्मास्येषु ' इति पदं ' दर्शयति ' इत्यनेनान्वेति ।
चातुर्मास्येषु प्रतिप्रस्थाता यजमानपत्नीं पृच्छति कस्ते जार इति ।
यदि सा कथयति सर्वे जारा वरुणेन गृह्यन्ते । सा चाहसो
मुच्यते वरुणपाशाच्च मुक्ता भवति । ' अथ यद्वाचयति
(अथर्वयुः) मेष्पामेवैनां करोति ' (मैत्रा० सं० १ । १०
११ । ते० सं० १ । ८३) ।

१४ ब्राह्मणं स्त्रीविक्रयं दर्शयति ।

१५ ' गृह्यङ्गुलं हि लोभेन स्यान्नरोऽप्यविक्रयी ' (मनु० १ । ५१) ।

१६-१७ अतिसर्गः = त्यागो वनादिषु । न स्वयंवरेण ।

१९ ' अदायादत्वे ' इति पाठः साधुः । यस्मात् ' अदायादत्वं
स्त्रियाः ' इति पङ्क्तित्रयादनन्तरम् (२२) । इतोऽपि
वर्णेषु कम्पाया अदायादत्वे लिङ्गम् ।

२२. अनैकान्तः = न सर्वेषामनुमतः । असिद्ध इत्यर्थः ।

२३-२४ च. पाठे द्वितीयो ' हि ' नास्ति । स एव पाठः साधुः ।

२१२ १ ' बह्वृचनामाख्याने = ऐतरेयब्राह्मणे शुनःशेपाख्याने
दर्शनात् । सप्तमपञ्चिकायां ' हरिश्चन्द्रो ह वैधतः ' इति
खण्डे (ऐ० ब्रा० अ० ३३ खण्डः १-५) । दानं
तावत् ' अनेन त्वा यज्ञा ' इति (खण्डः ३) । क्रयः
' आत्मानं निष्क्रीणा ' इति (खण्डः ३) । ' स अथेष्टं
पुत्रं निगृह्णान् उवाच नन्दिममिनि कनिष्ठं माता तौ ह

पत्रं
२१७

शङ्खः

चक्षुषे पश्यथः अदितिं दितिं च अक्षीणं क्षीणं च कर्म ।
अथवा अदितिं दितिं चेति ददातेरेते रूपे । अदातारं
दातारं च हविषाम् । लोकपालौ हे मित्रावरुणौ यश्च यक्-
रोति शुभमशुभं वा तत्सर्वं पश्यथः = स्वामी' (ट.) ।

८ ' अयमप्यर्थः ' इत्यत्र ' अपिः ' व्यर्थः ।

१३ ' नाभ्रात्रीम् ' (२१३ । २५) इति सर्वेषु निरुक्तमूल-
पुस्तकेषु पाठः । वृत्तौ तु ' नाभ्रातृकाम् ' इति ।

१८ आह्वयविधानं = स्पष्टं वचनम् ।

२२ ' यत् = यस्मात् ।

२२ ' तपितुर्भवति ' इति ग. ज. पाठः ।

२३ ' तेनेत्युच्यते ' ' नेत्युच्यते ' इति द्वौ पाठौ । ' लोकं
क्षस्य तद्भवति ' इति ' तेन वान्येनेतरस्य विवाहप्रतिषेध
एव । इतरस्य च पुत्रिकापितुः दुहिता पुत्रभावे वर्तते
तस्य ' चापत्याप्राप्तिरित्येतस्मात्कारणाद्विवाहप्रतिषेध एव ।
' नेत्युच्यते ' । विवाहप्रतिषेधो न यस्मादितरस्य पुत्रिका-
पितुरपत्यप्राप्तिः दुहितुः पुत्रभावात् । यद्यभ्रातृकां न
कोऽप्युपपच्छेत्तस्याः पितुरपत्यप्राप्तिः कथं स्यात् । अनयोः
पाठयोः ' तेन ' इत्येव पाठः साधुर्धस्मात्पास्क उपयमन-
प्रतिषेधमेव ब्रवीति । ' तेनेत्युच्यते ' इत्यत्र ' इति ' शब्दो
व्यर्थः ।

२३-२४ एवं ' पुत्रभावादितरस्य ' पुत्रिकापितुरपत्यप्राप्तेरित्यस्य विवाह-
प्रतिषेध एव तेनोच्यत इत्यन्वयः ।

२१८

१ उक्तं = न व्याख्यातः । क. ख. पाठः ' उत्सृष्टः '
किमाधार इति न ज्ञायते ।

५ पुत्रिकाविधानम् = ' अपुत्रोऽनेन विधिना मुतां कुर्वीत
पुत्रिकाम् । यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वध्याकरम् ' (मनु-
९ । १२७) ॥

९ द्यामुप्यायणः । ' नदोदिभ्यः कक् ' (४ । १ । ९९) ।

दि + अमुष्य = द्यामुष्य । द्यामुष्य गोप्रापेत्तम् । द्विगोत्रीय
इत्यर्थः ।

पत्रं

पङ्क्तिः

२१४ चदत् । रीणीते = गमयति । प्रकाशमतिज्ञापयति । रूपं कृत्स्नं जगत्' (ट.) । ' कामयमाना ' (२१३ । २३) ' उद्यती ' (२१३ । ११) च न व्याख्यायेते ।

२१५ १३ ' प्रत्ययस्थात्कार्त्तुर्वास्यात् इदाप्यसुपः ' (पा० ७ । ३ । ४४) इत्यनेन ' अपुत्रका ' (पाठभेदे) इति रूपं प्रामादिकम् । ' अपुत्रिका ' इति शुद्धम् ।

' कोऽयं देशाचारः ' इति न ज्ञायते । ' अत्रौचित्येन (गर्तशब्देन) राजपुरुषैर्म्यायनिर्णेतृभिश्चाधिष्ठितं स्थानमुच्यते । यथा लोके काचिद्गतभर्तृका योपिद्वनानां स्वकीयधनानां सनये लाभाय गर्तमागच्छति तां तु सम्या विचार्य यदीयं रिक्तं लभते चेत् अक्षैः संताड्य तदीयं धनं वितरन्ति तथा ' इत्यादि सायणः ।

१६ ' तां तत्राक्षेणा (अक्षैर्वा) ध्वन्ति ' (२१३ । १९) इत्येतन्न व्याख्यायते ।

२१६ १ ' शरीरं शृणातेः शस्त्रातेर्वा ' इयं पुनरुक्तिर्विस्मृतिमूलैव ।

२ तत्र = यच्छरीरं पूर्वोक्तं तस्मिन् ।

७ श्मशानसंचयशब्दात् पुरा शवानि गर्तेषु निग्रातान्यासमिति भाति ।

८ ' नोपरस्थाविः कर्तव्यं यदुपरस्थाविः कुर्यादधेष्टाः स्यात्प्रमायुको यजमानः ' (मैत्रा० सं० ३ । ९ । ४) । श्मशानसंचयोऽपि गर्त इत्यर्थं दर्शयितुं ' नोपरस्था० ' उदाहरणम् ।

१५ ' यानेभ्यः ' इति प्रामादिकम् । सर्वेषु यानेषु स्तुततममिति शुद्धम् ।

२२ अथर्वयुज्यमानाय ' धनुस्त्रीन् वाणांश्च प्रयच्छति । हिरण्यवर्णमुपसो व्युष्टा इत्युच्यता अभिमन्त्रयेतोर्व्वचादुस्तिष्ठन्तमभिपिबति ' (मैत्रा० सं० ४ । ४ । ३) ।

२१७ २ ' उदिता उदयवेलायां सूर्यस्य आरोह्यः युवां हे वरुण हे मित्र गर्तं रयन् आजीयम् अतश्च अनन्तरमिति शेषः ।

पत्रं

पङ्क्तिः

२२०

२२-२४) न व्याख्यायते ।

२२ 'यदी' दुर्गपाठो न 'यदिह' ।

२७ अर्धयित्वा = 'ऋधु वृद्धौ' (धा० ४ । १३९ । धा०

५ । २५) इत्यस्य णिच् ।

२२१

२९ 'स देवान्सृष्ट्वा मनस्यतेव तेन मनुष्यानसृजत' (मैत्रा० सं० ४ । २ । १)

२२३

२१ 'रे मत्वर्ये यथा 'अवसुषिमुष्कमधो, रे' (पा० ५ । २ । १०७) इत्यत्र

१३-१४ 'ऊर्ध्वमुदतृणत्०' इति मैत्रा० सं० १ । ९ । ३ इत्यत्र ।

किंतु तत्र 'तत्सुराणां सुरत्वम्' इति नास्ति । 'अवा-

तिरत्' इत्यस्य स्थाने तत्र 'अवातृणत्' । 'उद-

तृणत्' = उदतृणात् । 'तृ घृवनतरणयोः' (१ । ९ । ९) ।

अत्र 'तृ' नवमगणस्थरछान्दसः । पञ्चदशदिनप्रमाणः

पूर्वपक्ष आकाशमारोहत् ।

२० 'पकं सदेतासुप्रवृक्कं भवति' इत्यनेन यास्कमते प्रथते-

रेव 'ऊर्क्' न पचेः । द्वयोर्धात्वोः 'ऊर्क्'शब्द

उत्पन्न इति केवलः कल्पनातिरेकोऽयम् ।

२५ एके मन्वन्ते । क एत एके । 'निपादः = प्रतिलोमजन्मा कश्चित्' (ट.) ।

२६ 'निपदनो भवति' : (२२२ । ११) इत्यस्य दुर्ग-

व्याख्या 'निपथ निपथ हन्तीति' । कदाचिदुर्गपाठो भिन्नः स्यात् ।

२७ 'नि प्रकर्षे । प्रकर्षेण सन्नं गतं व्यवस्थितम्' (ट.) ।

२२४

(१) आधानम् = अन्याधानम् । 'वसन्ता ब्राह्मणोऽग्निमादधीत

प्रीप्ते राजन्य आदधीत शरदि वैश्य आदधीत' (तैत्ति०

ब्रा० १ । १ । २) । ऋभूणां रथकारत्वमृगभेदे (४ ।

३६ । २) प्रसिद्धम् ।

'अपरे त्वाहुः । रथकारशब्देनात्र सौधन्वनानां ग्रहणम्

'ऋभूणां त्वा इत्याधानमन्वयणात् सौधन्वनाश्च ऋभवः

'सौधन्वन ऋभवः' (ऋ० सं० १ । ११० । ४) ।

पत्रं

पङ्क्तिः

१२८

११ अभिसंधिपूर्वकम् = ' अन्धातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं
कन्यामलंकृताम् । अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भवेत् '
(वासिष्ठधर्मशास्त्रम् १७ । १७) इति ॥ अभिसंधिः =
समयः ।

११ ' अभिसंधिमात्रात्पुत्रिकामेकेयामिति गौतमः ' (कुल्लूक-
व्याख्या मनु ९ । १३६) ।

१२ दायादस्येदं दायाद्यं दाय इत्यर्थः । ' दौहित्र एव च हरे-
दपुत्रस्याखिलं धनम् (मनु ९ । १३१) । ' दौहित्रो ब्रूखिलं
रिक्थमपुत्रस्य पितुर्हरेत् । स एव दद्याद् द्यौ पिण्डौ पित्रे माता-
महाय च' (मनु ९ । १३२) ॥ ' अकृता वा कृता वापि
यं विन्देत्सदृशास्मृतम् । पौत्री मातामहस्तेन दद्यात्पिण्डं हरे-
द्धनम् ' (मनु ९ । १३६) ॥

१६ उपावर्तयति = अनुनयति प्रेरयति ।

२५ संतान एव संतानकः = पुत्रः । स एव वंशं संतनोति ।
संतानः = वंशः (अमरः २ । ६ । १) ।

२६ जनयितुः पिता तस्य पौत्राः । ' पुत्राः ' इति क, ख,
पाठौ निराधार एव ।

२७ ' कदाचित् ' शास्त्रे । लोके सर्वदा ।

२१९

१२ नेतराणि । तानि जनयितुरेव ।

१४ उासृष्टयां = दद्यायाम् ।

१४-१५ ' पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनुजायते । समस्तत्र
विभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः ' (मनु ९ ।
१३४) (ट.) ।

१६ यथामागमितरान्पुत्रान् विभजेत् = ' एकाधिकं होज्ज्येष्ठः
पुत्रोऽप्यर्थं ततोऽनुजः । अंशमंशं यथीयांस इति धर्मो
न्यवस्थितः ' (मनु ९ । ११७) ।

१५-१६ ' पुत्रिकायै व ' (पाठभेदः) अत्र ' व ' प्रामादिकः ।
' ख ' एव शुद्धः पाठः ।

२२०

६ आत्मनो पियः कथं जायते ।

नृत्तौ ' जाभिरन्येऽस्यां० निर्गमनप्राया भवन्ति ' (२१९ ।

- पत्रं २२९ पङ्क्तिः २० 'अग्रे गालयन्ति होता उरुकानि' इति शुद्धम् ।
- २१ 'अग्रसारिण्यो भवन्तीति वा' (२२२ । १७)
'अञ्जना भवन्तीति वा' (२२२ । १८) इति च न
व्याख्यायेते ।
- २२७ ७ 'अजरेभ्यः = जरावर्जितान्' । सायणकृतमिदं विवरणं ठ.-
पुस्तकप्रान्ते लिखितं ठ. ड. पुस्तकयोर्वृत्तावन्तर्भाष्यते ।
- १९ दक्ष युक्ता अङ्गुलीः बह्वक्षयः ।
- १५ निगदसिद्धं = स्पष्टम् । निगदेनैव सिद्धम् । यथा निगद्यते
उच्यते तथा स्पष्टम् ।
- १९ पूर्वतिः बधकर्मसु पठितः ।
- २१ 'स्कन्धदेशे त्वस्य (वृषस्य) बहः' (अग्रे २ । ९ ।
६२) । तं विहन्ति सततं घर्षयति । 'बहं = स्कन्धं'
(ट.) । धारयति स्थिरीकरोति ।
- २४ 'साङ्गुलः' (च. व्यतिरिक्तपुस्तकपाठः) इति समा-
सान्तः 'अङ्गुलेदारुणि' (पा० ९ । ४ । ११४)
इति सूत्रेण ग्रामादिक एव । 'तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याव्य-
यादेः' (पा० ५ । ४ । ८६) इत्यनेन तत्पुरुष एव
भवति न बहुव्रीहिः । 'तेन सहेति तुल्ययोगे' (पा०
२ । २ । २८) इत्यनेन 'साङ्गुलिः' ।
- २५ 'सपादः' कुत्र व्याख्यातः ।
- ३ निघण्टी (२ । ६) 'वेति' एव न तु 'अववेति' ।
- ५ कान्तं = कान्ततरम् । 'सर्वभाष्येषु कान्ततरम्'
इति शुद्धः प्रयोगः ।
- ८ अयं = यास्कः ।
- ९ धातुपाठे 'वाज' धातुर्नास्ति ।
- ११ भजनाय (घ. ट. ठ. ड. पाठः) = सेवायै ।
- २२ 'ओज' धातुपाठे नास्ति । 'उञ्ज आजेवे' (पा०
६ । २३) ।
- २३ भिष्यते = पोष्यते । अथवा । इतरेषां स्कन्धस्योपरि भिष्यते
वाक्ये ।

पत्रं

पङ्क्तिः

२२४

३ । ६० । ४) इति सामानाधिकरण्यनिर्देशात् ।
तथा चाह मनुः (१० । २३) ' ब्राह्म्यास्तु जायते
वैश्यासुधन्वा ' इति । तस्य सुधन्वनः पुत्राः सौधन्वनाः ।
तेषामेवाधानाधिकारः । जैमिनेरपि तदेव मतम् ।
(पूर्वमीमांसा ६ । १ । ४६) इति कात्यायनश्रौतसूत्रस्य
१ । १ । १० व्याख्यायाम् ।

“ सौधन्वना रथकारा निषादश्मदकाध्या इत्यग्रे ।
' वर्षासु रथकारस्य ' ' एतया निषादस्वपतिं याजयेत् '
इत्येवमादिदर्शनात् । सौधन्वनः० लिङ्गात् । भाष्या-
न्तरे ” (ट.) ।

१-२ ' वर्षासु रथकारः ' इति कस्यां शाखायां विद्यत इति
न ज्ञायते । ' यस्य वा अयथादेवतमग्निराधीयते आ
देवताभ्यो वृश्यते । तस्माद्यथादेवतमग्निराधेयः । ऋभूणां
त्वा देवानां व्रतपते व्रतेनादधामीति रथकारस्य '
(तैत्ति० ब्रा० १ । १ । ४) । अनेन मन्त्रेण रथकारे-
णाग्निराधेयः ।

वैश्यायां क्षत्रियादुत्पन्नो माहिष्यः । शूद्रायां वैश्यादुत्पन्ना
करिणी । तस्यां करिण्यां माहिष्यादुत्पन्नो रथकारः ।
तस्येदमाधानं कालविशिष्टं विधीयते ।

१२ स्तुतोः = स्तुतयः । ' स्तुतीः ' ग्रामादिकम् ।

२२६

१ पृक्ता ' पृची संपर्के ' (धा० ७ । २५) । पृक्ता =
संपृक्ता संबद्धा ।

१८ ' अग्रशब्दादकारेणैवाद्यन्तौ कृत्वा (अग्र = अग्र) । गमे-
राद्यन्तविपरीतस्य मर्गा । मध्ये (अम् गर) उपधाव्यापराया
अकारस्योकारः (गुर) । रेफस्य ज्वम् (गुळ) ।
इकारो नामकरणः ताच्छील्ये । इधम् अहुडिस्व-
सिद्धिः ' (ट. ट.) । अग्रगामिन्यः = ' हस्तस्य पूर्वं कर्ममु
व्यापारं गच्छति ' (ट.) ।

१९ ' गळ स्वणे ' (१० । १६६) गळ्यपसि । ' गळ
अदने ' (धा० १ । ५४७) ।

पत्रं
२३३

पङ्क्तिः

१३ 'अयुतेति=कोटयः क्रमश इति लोलावयाम्' [ट.] ।

१३ सहस्रम् × १० = अयुतम् । अयुतं × १० = प्रयुतम् ।

प्रयुतं × १० = नियुतम् । नियुतम् × १० = अर्बुदम् ।

अर्बुदं × १० = न्यर्बुदम् । न्यर्बुदं × १० = निखर्वकम् ।

निखर्वकं × १० = बद्धम् । बद्धम् × १० = अक्षितम् ।

अक्षितं × १० = गौः । (ताण्ड्यमहाब्राह्मणम् १७ ।

१४ । २) । 'अयुतं नियुतं प्रयुतम्' इति यास्कभाष्ये

क्रमः । ताण्ड्यमहाब्राह्मणे 'अयुतं प्रयुतं नियुतम्' इति ।

१४ 'आमिघ्रीभूतम्' इति किम् 'अयुतश्चदस्थान्या संज्ञा ।

अथवा । आमिघ्रीभूतं = सहस्रं दशकृत्वो मिघ्रीभूतम् ।

अयुतम् = आयुतम् । 'यु मिघ्रणे' (धा० २ । २३) ।

१८ 'अम्बुमद्गतीति वाऽम्बुमद्भवतीति वा' (२३१ । १९)

न व्याख्यायते ।

१८-१९ यदार्बुदो वर्धति तदा महान् कथं भवति ।

२१ 'खलु संचलने' (धा० १ । ५४५) । 'खलु संचये'

(धा० १ । ५४६) । 'खलु हिसार्थे' धातुपाठे न

विद्यते ।

२ समास्कन्नः = आघातितः । 'समास्कन्नो भवति' इति न

खलशब्दस्य व्युत्पत्तिः किंतु व्युत्पत्तिर्धः ।

६ 'इन्वति नक्षति' इति निघण्टुपाठः (२ । १८) ।

अत्र तु 'इन्वति ननक्षे' ।

१६ वियांतय=विशेषेण असन्तः पीडय शत्रून् ।

२३-२४ 'शाचिगो' इति धैकं पदम् 'इत्यत्र चक्षन्देन दुर्गमते'

शाचि गो इति द्वे पदे स्याताम् । पदपाठे शाचिगो इत्येकं

पदम् । ठ. ड. पुस्तकयोः 'ज्ञ' नास्ति ।

१ पशुभागः सोमयाग इत्यादिका इष्टिः ग्रन्थास्यस्य कर्मण एव

सेजतिः याज्ञिककर्मणः प्रकाराः ।

३-४ तथैव शाण्या = तथैवेन्द्र.पुत्रा । 'तथैव' (ट. ड.

पाठः) = इन्द्रतथैव । 'तथैव शाण्या' (क. ख. घ.

- पत्रं पाङ्क्तिः
 २२९ ५-६ धिनोतीत्येवं कर्तारं कारके सतः शब्दस्य ।
 १८ 'हरः' न व्युत्पाद्यते ।
 २२ 'वर्तते अयते इत्येवमादयः' इति ट. पुस्तके प्रान्तभागे लिख्यते तत् ठ. ड. पुस्तकयोर्वृत्तौ 'द्वाविंशं शतम्' इत्यस्यानन्तरमन्तर्भाव्यते ।
 २३ एते खण्डानां संबन्धाः प्रायशः काल्पनिका निराधाराश्च ।
 २३० ६ निरुक्तमूले 'विकर्षः' (२२६ । १८) न तु 'विकृष्टः' ।
 विकर्षः = दूरमन्तरम् ।
 १८ 'विवाक्' 'नदनुः' इत्येतयोर्मध्ये 'विखादः' वर्तते ।
 २३१ ४ तस्य [च. पाठः] = खलशब्दस्य । व्यपदेशात् = प्रयोगात् ।
 २३२ ३ सर्वानुक्रमणायाम् 'इन्द्रस्य' न तु 'इन्द्रपुत्रस्य' आर्यम् ।
 त्रिष्टुप् न जगती । 'अभीद० = इन्द्रो वैकुण्ठः स्वसाम-
 धर्ममाचष्टे' [ट.]
 १४ धान्यखलो गाह्यते हन्यते लगुडहस्तैः कृषीवलैः । गम्यमानः
 = अवबुध्यमानः । अत एवाभ्यादृतः । १५ कर्मकेण =
 कृषीवलेन । 'गम्यमानेऽग्रे' इति क. ख. घ. ट. ठ. ड.
 पाठः । अन्नं धान्यमत्र गम्यते । तच्च खले संचितं सत्
 स्त्रीपुरुषैर्गाह्यते आलोच्यते हन्यते ताड्यते च ।
 १६ 'क्षुचेरन्' = व (क !) र्षकाः प्रतिक्षुचेरन्' (ट.) ।
 १५-१६ मूलान् = भवान् । 'मूलान्' इति ग. घ. ज. पाठः-
 प्रामादिको यतो मूलशब्दो नपुंसकः ।
 १९ 'विदुः' (क. ख. छ. त. द. पाठः २३१ । २१) ।
 विदेल्लिट् । 'विविदुः' (२३१ । २१) विद्रेल्लिट् ।
 दुर्गपाठः 'विदुः' एव । २० 'अनिन्द्रा इतर इति'
 (२३१ । २१) क. ख. छ. त. द. पाठे 'वा'
 नास्ति । अहमेवेन्द्र इतरेऽनिन्द्रा इति येन विदुः ।
 २३३ ६ 'नावासा वा' (२३१ । १३) न व्याख्यायते ।
 ७ 'दमु उपश्रये' (धा० ४ । १०७) । दस्ता = उप-
 क्षाणा समाप्ता ।

पत्रं

पङ्क्तिः

२३७ १९-२० दुःखं शक्यते = न शक्यते । २० ' दीपयितव्य ' इति प्रामादिकं भाति । ' सर्वभूतदीप ' इति पाठः स्यात् ।

२३८

३ ' पुनः पुनः ०० दिद्युत् ' इति ग. च. ज. पुस्तकेषु न विद्यते ।

८ ' कुत्सः कृन्तते । स्तुवृश्चिकृन्तयिष्यः किदिति तस्य स्यः । कृन्ततेः ऋकारस्य बाहुलकात् रपरत्वं च न भवति । कृन्तति शत्रूनेति । यद्वा कुत्स अवक्षेपणे चुरादिरात्मनेपदी । घञ् । कुत्सस्यत्वेन शत्रून् । ' सद्यो दस्युन्मृण कुत्सेन ' (ऋ० सं० ४ । १६ । १२) इति निगमः । यकार उपजनः । कृन्तते छिनत्तीति कुत्सः यज्ञः । ऋकारस्योकारः । सो नामकरण इति भाष्यान्तरे ' (ट.)

११ मूले ' भवेति ' इति पदं न तु ' स्यात् ' ।
१३ तस्यैव इन्द्रः शुष्मं जघान = ' अत्र काचिदाख्यायिका भूयते । कथम् । हरनाभकः कधिद्राजर्षिरासीत् । तस्य पुत्रः कुत्साख्यो राजर्षिरासीत् । स च कदाचिच्छत्रुभिः सह युयुसुः संग्रामे स्वयमशक्तः सन् शत्रूणां हननार्थमिन्द्रस्याङ्गानं चकार । स चेन्द्रः कुत्सस्य गृहमागत्य तस्य शत्रूञ्जघान । तदनन्तरमतिप्रीत्या तयोः सहस्रमभवत् ' (सायणभाष्यम् ऋ० सं० ४ । १६ । १० ' मुर्वत्ते कुत्सः सख्ये निकामः ') । एकदा वृषे निपतितं कुत्समिन्द्रो बहिरुच्चर्प (ऋ० सं० १ । १०६ । ६) । ' अर्धैर्व्यो यः स्वर्धं जघान यः शुष्मम् ' (ऋ० सं० २ । १४ । ५) । ' वज्रेण वर्जा नि जघान शुष्मम् ' (ऋ० सं० ५ । ३२ । ४) ।

२३८ १४-१५ सूर्य आतपेन जलं शोषयति मेघस्तु वर्षति । मेघोदये धान्यानि कथं शुष्येयुः । धान्येभ्यो जलशयेभ्यो वा मेघ उदकं गृह्णातीति कल्पना ।

१८ निघण्टुपाठः ' क्षयति ' न तु ' क्षियति ' (निघ० २ । २१ । ३) । क्षियति = निवसति न तु राजति ।

- पत्रं
२३५
- पङ्क्तिः
ट. पाठः) = यथा 'शाचिगो' संबोधनं तथा शाचि-
पूजन' । शाच्यां = कर्मणि ।
१० 'तद्धित (२१) आखण्डल' (२२) इति क्रमः (निघ०
२।१९) ।
१३-१४ 'ताडयतीति सतः' इत्यन्तिकवधयोर्द्वयोरप्यर्थयोर्व्युत्पत्तिः ।
अत्र विद्यतो न कोऽपि संबन्धः ।
२३६
१३ 'मनुष्या = पञ्चम्याः स्थान आकारः । मनुष्येभ्यः सामर्थ्या-
च्छत्रभूतेभ्य आददीमहि गृहीम इत्यर्थः' (ट.) ।
१४ 'आददीमहि = गृहीमहि' (ट.) । एतत् ठ. ड.
पुस्तकयोर्धृत्तावन्तर्भाव्यते ।
२० ये न ददति ते अदानकर्माणः । येपा न दातव्यमिति प्रज्ञा
मनीषा तेऽदानप्रज्ञा । अयं सरलोऽर्थो न दुर्गसंमतः ।
'अस्माकं दाने प्रतिग्रहोऽन्येषां च दाने प्रतिग्रहोऽन्येषां'
ईदृश तस्य विवरणं निर्मूलं काल्पनिकं च । न दातव्यमिति
येपा निश्चयस्ते द्रु खं महता प्रयासेन संनाश्यन्ते संनाश्यन्ते
वा । ये केवलं न ददति ते सुखेन संनाश्यन्ते संनाश्यन्ते
वा । एतत् ग. च. ज. पुस्तकेषु अप्याहर्तव्यं यतस्तत्र 'येऽ-
दानकर्माणस्ते मुख्यसनाश्याः' इति नास्ति । 'संनाम्याः'
इति ग. च- ज. पाठ साधीयान् । 'जभी जृभी गात्रवि-
नामे' (धा० १।३८८) । 'जम्भय' इति निचि
रूपम् । जम्भय = गात्राणि विनामय । 'जभ नाशने' (धा०
१०।१८३) । जम्भय = नाशय ।
२२ 'अनमसः = अरूपाः प्रनष्टसर्वरूपाः कृत्वैत्यर्थः' (ट.)
२३७
२ 'अपताडयति जनस्य चक्षुषि यस्य चोपारे निपतन्ती'
(ट. ठ.) ।
३-४ 'अन्तिकनामचाभाय दर्शयति । अपि विदमिन्यादि । अपि
संभाषनायाम् । तुशब्दो यधकर्मपश्चान्तरं दर्शयितुम् ।
इदमिति बुद्ध्यधिकरणरक्षमाणमन्त्रविषयं तज्जिज्ञासोपदेशा-
र्थम् । 'एव'शब्दोऽवधारणे । अभिप्रेतमिति निर्दिचिकिसा-
वचनम्' (ट.) ।

पत्र

पङ्क्तिः

२४३

एव ग. ज. पुस्तकयोः (२४३ । १२) महर्नामके
इति पाठः ।

१२ ऋक्संहितायां ' ववक्षिथ ' इति किरारूपमेव सर्वत्र भाति
योद्धुम् इच्छसि इत्यर्थे । ' विवक्षसे ' इत्यस्य प्रायशो
महर्दथः । अनयोराख्यातयोर्महर्नामसु पठनीयत्वं महद्वाच-
कत्वं चोपपादितं स्कन्दस्वामिना इति देशराजयज्वकृतनिघ-
ण्टुटीकायामुक्तं किंतु तदुपपादनं न मया दृष्टम् ।

' ववक्षिथ = आ पप्रौ० ववक्षिथ (ऋ० सं० १ । ८१ ।

५) गोतमार्थम् । आपूरयतीन्द्रो वृष्ट्या पार्थिवं रजः पृथिवी-

लोके वृष्ट्या वृष्टिद्वारेण । एवं च बह्वधे आवप्नाति रोचना

रोचनानि नक्षत्राणि दिवि । तेषां दिवि बन्धनस्य धर्ममूल-

त्वाद्वर्मस्य वृष्टिमूलत्वाद् वृष्टिपदानद्वारेण बन्नातीत्युच्यते ।

परोऽर्धर्चः प्रत्यक्षत्वाद्भिन्नवाक्यम् । न त्वावान् वत्सदृशः

हे इन्द्र कश्चिदपि । पूर्वं न जातो नापि जनिष्यते । कुतः ।

यतः अतिशयेन सर्वं भुवनं विवक्षिथ अनुशासितुं योद्धुं

येच्छसि । अनुशास्ति बहसि वेत्यर्थः । अतिशयवतः साम-

र्थीत् । महानसि । अतो भवन्तं स्तुम इति शेषः ।

अनेकार्थत्वाद्वातूनां महद्वावार्थस्य वक्तृत्वा बहूतैर्वा साम्या-

सम्पेदं रूपम् । अत्युपसर्गाद्योग्यक्रियाभ्याहारः । अतीत्य

सर्वं महान् भवसीत्यर्थः ' (ट.) ।

' विवक्षसे = आभि न० विवक्षसे (ऋ० सं० १० ।

२१ । १) । विमदस्यार्थम् । आ इत्याख्यातेन । अग्नि

न । अम्युपमार्थस्य संप्रत्यये प्रयोग इत्येवं पदपूर्णः ।

स्वयृक्तिभिः स्वयमात्मनैव विवर्जितदोषैः । कामिः । रतुति-

भिः । होतारं त्वा त्वाम् आमिमुह्येन वृणीमहे । यज्ञाय यज्ञस्य

स्तीर्णवर्हिषे अर्थाय । विश्वेन्द्रो वैदिष्ये । विविधमावृणी-

मह इति । यः शुष्माकं सर्वेषामेव देवानां मदे निमिषे

सोमत्रयमदार्थमित्यर्थः । कीदृशं त्वाम् । शीरं संभूतानु-

दायिनाम् । आशीनं वा । पावकस्तोत्रिषं पावकदीप्तिम् ।

किंच । विवक्षसे । अनिघातो नानावाक्यत्वात् । मह-

- पत्रं पङ्क्तिः
 २३९ १७ 'मुपर्णाः' (२) छ. त. द. पुस्तकेषु न विद्यते ।
 दुर्गोऽपि तन्न व्याख्याति ।
- २४० १७ कृष्णसारः = कनीनिका ।
 १८ पूर्वम् 'अमरणधर्मिणः' (२३९ । २१) अत्र तु
 'अमरणधर्मणः' । अस्य रूपभेदस्य प्रयोजनं न दृश्यते ।
 २३ 'विषयविज्ञानेन पुरुषस्यापि भोक्तुर्दुःखं कुर्वन्ति' इति फ.
 खं. घ. ट. ठ. ड. पाठः । 'विषयविज्ञानेन' इति पाठे
 'अभितपन्ति' = तापं दुःखं कुर्वन्ति । 'विषयविज्ञा-
 नम्' इति पाठे 'अभितपन्ति' = पटु कुर्वन्ति । च.
 पुस्तके पेटुं उप । विषयविज्ञानेन पुरुषस्योपकुर्वन्ति ।
- २४१ १ आभिमुख्येन बुद्धिं गच्छन्ति ।
 ४-५ 'पाकम्' इति द्वितीया । 'पाकः पक्त्व्यो भवति'
 (२३९ । ५-६) इति यास्केन व्युत्पत्तय इय प्रथ-
 मारूपं गृहीतम् । किंतु दुर्गः 'पाकः' इति गृहीत्वा
 तस्य 'सः' इत्यनेनान्वयं करोति । पाकः पक्त्व्यो भवति
 न त्वद्यापि तस्य प्रज्ञा पक्वा परिणता । आदित्यस्तु विपक्वः
 प्रज्ञः इति यास्ककृतो भेदः । विपक्वप्रज्ञ आदित्यः पापं
 पक्त्व्यप्रज्ञं मागाविबेदा न रगाविशतु ।
- १०-१२ अधिदैवते आदित्यमण्डले वर्तमानः अध्यात्मे च सुदय-
 धिदैवताभूतः अमौ एक एव ।
 १४ 'तस्य ये रश्मयस्ते त्रिभे देवाः' (शतपथ० ४ । ३ ।
 २६) । 'रश्मयो वै देवाः' (मैत्रा० सं० ४ । ५ । ५) ।
- २४३ २ 'कुर्वित्' बहुनामसु पठ्यते (निघ० ३ । १ ।
 १२) न तु हस्विनामसु । 'ऋदन्' ननु 'रिह्दम्'
 इति पाठः (निघ० ३ । २ । १) । 'रिह्दम्' इति
 पाठान्तरम् । ऋक्मंहिताया 'रिह्दं रिह्दं रिह्दं ऋदन्'
 चत्वार्यपि न सन्ति । अयं कोऽप्यन्यस्यः शब्दो भवेत् ।
 ८ मेषु त्रिभिर्नृपुनकेषु 'महः' न तु 'महन्' । अत्र

पत्रं

पङ्क्तिः

२४८

८ तत्करः = ततकरः संततं करोतीति । “अहोरात्रकमे-
ति = अहनि पथि मोक्षणेन रात्रौ संधिच्छेदनेन । ततश्चात्र
‘वा’ इत्यपगः” (ट.) । दुर्गवृत्तौ ‘वा’ त्यक्तः ।
९ दशभी रशनाभिर्वन्धनम् एतदेव संततकर्मत्वम् । एतदुर्ग-
विवरणम् । यास्कस्तु ‘रशनाभिर्दशभिरम्यधीताम्’
इति ‘अम्यधीतामिदम्यधीताम् (२४७ । ५)’ इति
व्याख्यार्थं पठति । अम्यधीताम् = अम्यधीता वन्धीताम् ।

२२ ‘इदमिव इदं यथा अग्निर्ने ये’ इति निघण्टुकम् : (निघ०
३ । १३) । ‘इदमिव’ इत्यस्योदाहरणं ‘विधवेव
देवरम्’ (अस्मिन्नेव खण्डे वर्तमानम्) इति फदाचिस्त्यात् ।
‘अथ निपाताः’ इत्यस्य प्राकृतं वर्तते । यास्कः ‘इदं
यथा’ इत्यस्योदाहरणं न ददाति । ‘यथेति कर्मोपमा’
इत्यारम्य श्रीण्युदाहरणानि ‘यथा’ इत्यस्यैव ददाति ।
आधुनिकानिघण्टुकमायास्ककाटीननिघण्टुकमो भिन्न आसी-
दिति स्पष्टम् ।

२४९

८ घोषा नाम ब्रह्मवादिनी । तस्या आर्यम् । चिरादागतावधि-
नौ दृष्टा सप्रणयं सोपादम्भमाह । कुह ॥ स्वित्ति पादपू-
रणः परिदेवनायामीध्यायां वा । केति सप्तमीसामानाधिक-
रण्यः घोषा वस्तोरित्यपि सप्तम्या एवाव्ययलुगभ्यसितः ।
दोषा रात्रौ कुह क वस्तोः अन्दि युयामाधिनौ कुह वाभि-
पितृम् अभिप्राप्तिमतिगमनं करतः कुरथः । क वा ऊयतुः ।
सामर्थ्यादत्र सर्वत्र वर्तमानकालता वर्तत इत्यर्थः । को वा
युवां यजमानोऽस्मत्तोऽपि विशिष्टोऽन्यः शयुत्रा शयने विध-
वेव देवरं यथा विधवा देवरं मयं न घोषा यथा च सर्वमेव
मनुष्यं संभोगकाले सर्वा र्वा एवं परिचर्यार्थम् । ऋगन्ता-
कारः कृणुन इत्यनेन संबन्धते । अतिशयेनार्वाकरोति विस्मृ-
तान्यृत्तान्तावभिमुखकरोति । पारिचरतीत्यर्थः । सप्तम्ये
सहस्थाने विशाख्ये येनात्मयं (१) चिरादागतौ स्प इति ।
अत्रानि निरुद्धनियोगकर्मणा देवेण दशस्तावभिनी विधव-

- पत्रं पङ्क्तिः ;
- २४३ स्तत्रं भवसि । तत्र समिधमान इति शेषः । इत्युपाध्याय-
व्याख्यानम् ' (ट.) ।
- १६ निघण्टुपाठे तथा घ. ट. ठ. ड. पुस्तकेषु च ' कृदरः '
इत्यस्यानन्तरं ' गर्तः ' विद्यते ।
- २४४ १७ यास्तकाले गृहघन्धोऽनेकवचनः पुल्लिङ्गश्चासीदिति भाति ।
५ ' शान्ततापानाम् ' इति च. पुस्तके पाठान्तरम् ।
- १८ फ. ख. घ. ट. ठ. ड. पुस्तकेषु ' अलेमाः ' इत्यस्य
व्युत्पत्तिर्दीयते ।
- २० ' प्रज्ञानामान्युत्तराणि द्वादश ' (च. पाठः) । इतरत्र
सर्वेषु पुस्तकेषु निघण्टुपाठे च (३ । ९) एकादश ।
- २४५ ३ ' किद ज्ञाने ' (धा० ३ । १९) ' कित निवासे
रोगापनयने च ' (धा० १ । १०१८) ।
- ८ ' भूतेनार्थेन संबद्धं सत् बद्धमिव भवति ' इत्यन्वयः ।
- १३ अष्टा उत्तराणि (२४२ । ११ । १३) इत्यादिकं
षाक्यमतीष ह्रस्वोऽधम् । तत्रस्थौ चिक्यत् आचक्षा इति,
द्वौ शब्दा ऋक्संहितायां न विद्येते । ' चायति ' शब्दो
निघण्टुपाठे नास्ति नाप्सूक्संहितायाम् । ' चन ' शब्दो
निघण्टुपाठे न विद्यते । यास्तकालीनो निघण्टुपाठो
भिन्नः स्यात् ।
- २४ ' अप द्वेपांस्याकृतम् ' इत्युदाहरणं निघण्टुभाष्ये न
दीयते ' (ट.) । निगमोऽन्वेपणीय इति तत्र लिख्यते ।
- २४६ १ प्रकारः पुंस्येव न कदापि नपुंसकः । पदप्रकारं = पद-
जातम् ।
- १९ ' उपमीयते ' इति घ. ट. ठ. ड. पाठः प्रामादिक एव ।
- २४७ ११ ' तनूं ल्यक्त्वा ' इति ग. च. ज. पाठः स्पष्टतरः ।
तन्या ल्यक्त्वा तनूत्यक्तौ ।
- १३ उपमार्थत्वेन = उपमाया अयमेवार्थः । प्रसूतो चौर्याय ।
अग्निपक्षे मन्थनाय ।
- १८ उत्पादनः त्प्राक् अग्निराग्निरूप एव ।
- २१ प्रधानसंयुक्ता = त्वमत्र प्रधानं न नैघण्टुकः ।

पत्रं

पङ्क्तिः

२५१

न तु वृत्तौ वर्तमाना । वृत्तिस्थाया व्याख्याया अन्यमेव
धान्यम् ' एवमात्मा रोगस्यापि ' (२५२ । ४—५)
इत्यादिकं वर्तते ।

२५२

७ " अपि वाच इव स्यात् । जीवेन हि प्राज्ञेनात्मा
संपरिष्वक्तः परिगृहीत आत्त उच्यते । स्मर्यते हि ।
जीवसंज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम् । येन वेदयते
जन्तुः सुखं दुःखं च जन्मसु ॥ ' उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमा-
त्मेत्युदाहृतः । यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः '
(भ० गी० १५ । १७) " । ट. पुस्तकस्थमिदं ठ, ड.
पुस्तकयोर्द्वैतावन्तर्भाव्यते ।

८ कार्यकरणेन = कार्यसंपादनाय यद्वस्तुजातमवश्यं तेन ।
दधिसंपादनाय दुग्धातश्चनादि वस्त्रसंपादनाय तूलतुरीयेमा-
दिकम् । कार्यकरणसंघातस्याप्ययमेवार्थः ।

१४ ' निघण्डुसूत्रस्य ' । टीकाकारा निघण्डुसमाम्नायं सूत्रसमुदायम-
मन्यन्त । घ. ट. ठ. ड. पुस्तकेषु सूत्रशब्दोऽस्मादेव कार-
णात्कचिदप्युच्यते । तन्त्रं = शास्त्रं न तु सूत्रम् ।

१७ ' अग्निर्न । न उपमार्थीयः । अग्निरिव ये मरुतो भ्राजसा
दीप्या रुक्मं रोचिष्णु वक्षो येषां ते रुक्मवक्षसः । आभरण-
विशेषो वा रुक्मविकारो रुक्मशब्देनोच्यते । स उरःसु येषां
ते । बातासो न वाता इव च ये स्वयुजः आत्मनैवात्मनः
सर्वकार्येषु निषोक्तारः । सद्यऊतयः ऊतिर्गतिः । सद्यो-
गतयश्च । प्रज्ञा० नीतयः । यथा च यज्ञातिशयेन वृद्धा ये
ते सुनीतयः स्युरेवं ये सुनीतयः । मुशर्माणो न सोमाः ।
शर्म सुस्तम् । सुसुसुखाः । वर्षानुग्रहेण सोमा इवाभिल-
षितफलसिद्ध्या भ्रतं यज्ञं यते गच्छते यजमानायेत्यर्थः । ये
' इत्यंगुणा मरुतस्तेऽभिलषितमर्थं संपादयन्वित्याशीः ' (ट.) ।

२० क. ख. ' स्पृर्मस्मेः ' इत्यस्य स्थाने ' असदस्यो ' इति
पठतः ।

२५३

१ यास्कभाष्ये । भ्राजसा = भ्राजस्वन्तः (२४९ । ५) ।
' मरुतोः भ्राजमाना रोचिष्णूरुक्ताः ' (२४९ । ५)

११

पत्रं

॥ ३ ॥

२५७

२ जघनं = १ स्त्रीकटवाः पुरोभागः । २ अन्तिमभागः ।
४ म. च. ज. पाठे ' रात्रिर्माता तस्य । स एव ' इति विरा-
मचिह्नव्यवस्था ।

११-१२ उदकेनेन्द्रेण वा कथमसौ दीप्यत इति न ज्ञायते ।

२१ रसहरणं = सहभोजनं (दुर्गः) । द्वावपि रसं हरतः इति
सामान्यम् ।

२५८

१ तु = अपि (दुर्गः) । अपिशब्देन आदित्यः तुशब्देन
मनुष्यजारः पारजायिकोऽभिप्रेतः स्यात् । किंतु ' तु '
भेदे । अपि तु अयं जारो मनुष्यजारः ० इत्यन्वयः
सरलः ।

८ ' तत्सर्वादेः पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्रं व्याप्नोति ' (पा० ५ । २ ।
७) इत्यनेन ' सर्वाङ्गीणः ' इत्येव रूपम् । ' सर्वाङ्गिक '-
शब्दः प्रामादिक एव । ९ तं जारम् ।

१० उदीरितः = उद्गतः उत्क्षिप्तः उत्कम्पितो वा ।

१४ ' मिष सेचने ' (धा० १ । ७८०) । अथवा ।
' स्पर्धायां ' (धा० ६ । ७१) । ' मिष दर्शने ' धातु-
पाठे नास्ति ।

२२ वर्तमानः = आधुनिकः ।

२५९

३ ' मेधातिथिं हि काण्वायनि मेयो दूत्वा जहार ' (पठि०
ब्रा० १ । १) ।

५, अपवृत्ते = मृते ।

६-७ अस्य मनोरन्तरे = अस्मिन्मन्वन्तरे ।

७ अन्यं मेधातिथिं प्राप्नोतीति अन्यमेधातिथिप्रापकम् ।
अनेन कर्मणा इन्द्रोऽन्यं मेधातिथिं लभते ।

२६०

१६ ' तं प्रनथा० । उपयाम गृहीतोऽसि मर्कय त्वा ' (मे०
सं० १ । ३ । ११) ।

' मन्थिग्रहेण मर्को निरस्यते ' (मंत्रा = सं० १ । ३ । १२)

१९-२१ ' या प्रथमा संस्कृतिर्द्विजे अस्मिन्मन्वः परमो बृहस्पतिर्धित्वान् ।

यो मन्वमो वरुणो मित्रो अग्निस्तस्मा इन्द्राय मुतमाजुहोत

पत्रं

पङ्क्तिः

२५३

इत्येतत् प्रक्षिप्तमिव भाति । यदि मूलस्थमेव तर्हि ' भ्राजस्व-
न्तो रुक्मवक्षसः ' इत्यस्य पश्चात्तैः शब्दैर्भाव्यम् । ' भ्राज-
माना भ्राजस्वन्तः ' (२४९।५) इत्येतद्गुणो न व्याख्याति ।

२५४

५ ' यथा केचित्प्रकर्षेण ' इत्यत्रानावश्यकमसंबद्धं च ।

७ ' चतुरश्रिदिति । कण्वस्यार्पम् । चिदुपमायाम् । यथा
चतुरोऽक्षान् ददमानात् धारयतः कितधात् कितवोऽन्यो
विभीयात् किमयं पातयिष्यति येन मामयं जेष्यति एवं
विभेति । आनिवातोः आ पतनात् आ क्षेपणात् तेषामक्षा-
णाम् । एवं दुरुक्ताद्विभीयात् । अतोऽस्मै दुरुक्ताय न स्पृह-
येत्कदाचित् । न दुरुक्तं ब्रूयाच्छृणुयाद्वैत्यर्थः ' (ट.) ।

८ पतिष्यते । ' पत्नृ गतौ ' (धा० १ । ८७०) इति
परस्मैपदम् । तस्मात् ' यतिष्यसे ' इति मूलपाठः स्यात् ।
अयं कितवः कमपि यत्नं कुर्यात् ।

१३ दुरुक्ते दुरुक्तस्य शास्ता वरुणः ।

२६-१८ यास्कभाष्ये ' ब्राह्मणा व्रतचारिणः ' ' वृक्षस्य तु ते पुरु-
हूतवयाः ' (२५३ । १९) इत्येतयोर्निर्देशो नास्ति ।

२५५

५ ' अह्नपुत्रः = अह्निरसः पुत्रः ' (ट.) ।

१८ स्वपस्यते = सुशोभनम् अपः कर्म इच्छते यजमानाय ।
' मुप आत्मनः क्वच् ' (पा० ३ । १ । ८) ।

२०-२१ इच्छते (च. पाठः) यजमानाय मघ्नान् विधत्ति ' पितरी
प्राति विशेषात्मलाभाय अभ्युद्धारिते स्वयि । मघ्नः सानाश्वं हविः
तविष्यते । च. पाठः साधीयान् । इतरपाठे ' स्वपस्यते = '
कर्म इच्छति इति क्रियात्मकम् । च. पाठे ' स्वपस्यते '
इति यजमानविशेषणम् ।

२५६

१ आ अपवर्गान् ।

९ तस्या आनन्तर्यान् = यज्ञेनाद्यन्तं संबद्धागौ । तस्या एव
सानिभयं यज्ञभेदकम् ।

१५ यजमानो = प्रणीयजमानो ' पुमान् स्त्रिया ' (पा० १ ।

२ । ६७) इति सूत्रम् ।

१६ अग्न्यायेदम् = अग्न्याधानम् ।

पत्रं

पङ्क्तिः

२६३

वान्नेपणादत्रिः खननाद्विखना मुनिः । इत्थं प्रजापतेर्जाताः
पुराणा ऋषिसत्तमाः ॥ इति टीकान्तरे ' (ट. ठ. ड.) ।
' त्रिसांवत्सरिकं सत्रं प्रजाकामः प्रजापतिः । आहरस्त-
हितः साध्वैर्विधेदेवैः सहेति च ॥ तत्र वाग्दीक्षणीयाया-
माजगाम शरीरिणी । तां दृष्ट्वा युगपत्तत्र कस्याथ वरुणस्य
च ॥ शुक्रं चस्कन्द तद्वायुरग्नौ प्रास्यद्यदृच्छया । ततोऽ-
र्चिभ्यो भृगुर्जज्ञे अङ्गारेष्वङ्गिरा ऋषिः ॥ प्रजापतिं सुतौ
दृष्ट्वा दृष्ट्वा वागम्यभाषत । आम्नामृषिस्तृतीयोऽपि भेदेदत्रैव
मे सुतः ॥ प्रजापतिस्तथेत्युक्तः प्रत्यभाषत भारतीम् । ऋषि-
रत्रिस्ततो जज्ञे सूर्यानलसमद्युतिः ' (बृह० ५ । ५७ ।
१०१) ।

२५ व्युदुह्य = वि + उद् + उह्य (बहतेः) = विसर्ग्य ।

२६ ' विखननाद्विखानसोऽभूत् ' इति दुर्गस्वीकृतो निरुक्तपाठः ।
इदम् ' अभूत् ' इति पदं नैकस्मिन्नपि पुस्तके उपलभ्यते ।

२६४

१९-२०

इत्येवमादिभिः शब्दैः = ' अग्निर्न ये ' इत्यादिषु वाक्येषु
' न यथा इव ' एवमादिशब्दैरर्था उपभूयन्ते ।

२१ उपमानम् = उपमितिः ।

२६५

३ लिङ्गयन्ते = अनुधीयन्ते ।

३-४ भाष्यस्य विस्तरदिपयत्वात् = विस्तरे विषयो यस्य तद्वि-
स्तरविषयं भाष्यम् । सर्वं विस्तरेण कथनीयमिति भाष्यस्यो-
द्देशः ।

८ तत्र = तस्मिन् देवदत्ते ।

तस्य शौर्यादिः अभिधानं कथनं तस्य । तदभिधानस्येदं
तदभिधानीयम् (ग. च. ज. पाठः) । यस्मिन् वाक्ये
तस्य शौर्यादेराभिधानं वर्तते तद्वाक्यम् ।

८-९ उपमायं कृत्वा (पाठभेदे २४) = उपमा रचयित्वा ।

९ ' एवम् ' ' एव ' द्वावपि पाठौ सार्धौ ।

उपमाशब्दानामिवादीनामन्यतमम् = उपमादर्शकं शब्दम् ।

१९ ' वाग शब्दे ' (पा० ४ । ५७) । इति आमनेपदम् ।

' वास्यति ' (ग. च. ज. ड. पाठः) ग्रामादिकम् ।

- पत्रं पङ्क्तिः
 २६० तस्मै सूर्याय सुतमाजुहोत ' ॥ अयं हवनमन्त्रः (मैत्रा० सं० १ । ३ । १२) ।
- २३-२४ ' को नु वां वैश्वदेवानि एकादश पराप्यतः ' (बृहदे० ५ । ३६) ।
- २६१ ३ ' सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रो अग्निः । स प्रथमो बृहस्पतिश्चिकित्वास्तस्मा इन्द्राय सुतमाजुहोत स्वाहेति ' (शत० ब्रा० ४ । १ । ६ । २७) । यथायं हवनमन्त्र ऐन्द्रस्तथा ग्रहणमन्त्रोऽपि ।
- ५ अन्यदेवलौ गृह्येते = शण्डामर्काम्पां गृह्येते ।
- १० ' पण्डामर्कां वा असुराणां पुरोहिता आस्तां तान्देवा नाशक्नुयन्हस्तुं ब्राह्मणवन्तो ह्यासंस्तौ अपाशासुरम् ना आवर्तेथामिति ता अवृतां भागो ना अस्त्विति वृणाथामित्यभ्युयस्ता एतौ शुक्रामग्निना अवृणातां ते देवा अमन्यन्त यदिमा असु३यौ सोमौ होष्यामस्तदन्वसुरा आभविष्यन्ति यन्न होष्यामस्तदन्वा भविष्यन्तीति ता अपनुदाथेन्द्राया जुह्वुस्तस्मादेता अन्यदेवलौ गृह्येते अथेन्द्राय हूयेते अपनुतौ पण्डामर्कां ' (मैत्रा० सं० ४ । ६ । ३) ।
- २०-२१ ' त्वं क्रियामु त्वं गिरा त्वं प्रतीचीनम् ' एवं ' त्वम् ' एकस्मिन्वाक्ये त्रिवारं प्रयुक्तः ।
- २२ ग. च. ज. पुस्तकेषु ' वृजनम् ' इत्यस्य स्थाने ' वृजिनं ' वर्तते । वृजिनशब्द ऋक्संहितायां चतुर्थारं प्रयुज्यते त्रिवारं कुटिलार्थे । बलार्थे एकवारमेव । अत्र संहितापाठः ' वृजनम् ' (२६१ । १०) एव ।
- २६२ १६ ' वृषलो वृषशीलो भवति वृषाशीलो वा ' (१५४ । ४ । ५) इति न व्याख्यायते ।
- २६३ १७ ' न देहे ' वृत्ते पठ्यते किंतु न व्याख्यायते । ' अन्नता ' (२६२ । २४) न व्याख्यायते । ' यज्ञे देवस्य वितते महतो वरुणस्य च । ब्रह्मणः सरसं दध्वा रेतश्चस्कन्द कर्हिचित् ॥ तत्प्रनाक्ष स (ट. ट. सु) पर्णेन संशुहाव विमावसी । ततोऽर्चिरोऽम्बुगवान् भृगुरङ्गारतोऽद्विराः ॥ अत्रे-

पत्रे

पङ्क्तिः

२६८

वनुते यज्ञस्य संभूत्यै ' इति मैत्रायणीपाठः (मैत्रा० सं० ३।६।९) । ' देवेभ्यो वै यज्ञो न प्रामवत्तं दक्षिणाभिः समभावयन् । यदीक्षितो भूतिं वनुते यज्ञमेव संभावयति ' (काठकसं० २३।६) । अस्यार्थः = यदा ऋग्विग्न्यो दक्षिणा दीयते तदा यज्ञः स्थिरो भवति । वृत्तिस्थे ब्राह्मणघात्रे ' अन्नं ' ' भृत्याः ' इति ग्रामादिकम् । भृतिः = दक्षिणा ।

२६९

१ यज्ञे बहवो यजुर्मन्त्राः ।

७ ' वेनू गतिज्ञानचिन्तानिशासनवादित्रप्रहणेपु ' (धा० १ । ९०३) ।

७-८ मेघः = मेदः = मे मह्यं दास्यति इति ।

' अस्मात्फलं ' ' तस्मात्फलम् ' इति द्वावपीतरौ पाठौ साधू ।

१५ ' ऋतुयाजी वा अन्यथातुर्मास्ययाज्यन्यो यो वसन्तोऽभूत्पाष्टभूच्छरदभूदिति यजते स ऋतुयाजी यत्त्रयोदशं मासं संपादयति स त्रयोदशं मासमभियजते स चातुर्मास्ययाजी त्रीनृज्ज्निष्ठा चतुर्थमुत्तृजेद् द्वौ परा ऋतु इष्ट्वा तृतीयमुत्तृजेद्यै त्रयः संवत्सरास्तेषां षट्त्रिंशत्पूर्णमासा यौ द्वौ तथोश्चतुर्विंशतिर्यै षट्त्रिंशत्यधि ते चतुर्विंशतिमुपपन्न्येव वाव स त्रयोदशो मासस्तमेवैतत्संपादयति तमभियजते ' (काठक० सं० ३६।३) ।

२१ ' अध्येष्य हि देवब्राह्मणेभ्यो दीयत इत्याहाध्येषणेति ' (ट.) ।

२७०

४ द्विप्रहणे किमपि प्रयोजनं नास्ति ।

७ ' कूपः कातुः कर्तः वमः काटः स्वातः ' इति निघण्टुक्रमः (निघ० ३।२३) । दुर्गेण भिन्नः पाठः स्वीकृतः ।

' वन्त्रिः ' (ग. च. ज. पाठः) रूपनामसु पाठितः

(निघ० ३।७।२) । ' रु ' ' नु ' एवं लिख्यमानः

' तु ' सदसो भाति । अत एव ' काट ' स्थाने ' कातु ' पाठः ।

पत्रं

पङ्क्तिः

२६६

३ ' शकुनिपञ्चेऽपि० ' इयं ' शकुनिष्वपि० ' (२६५ । २२) इत्येतस्य पुनरुक्तिः ।

४ अन्यासां क्रियाणामर्था येषु तानि अन्यक्रियार्थानि (' अन्य-
क्रियार्थैः ' इति क. ख. ग. ज. घ. ट. ठ. ड. पाठः) ।

७ अपकालयितव्यः = निःसारयितव्यः ।

१० तिलमात्रचित्रः = तिलसदृशैरल्पविन्दुभिश्चित्रः ।

१९ ' श्वस प्राणने ' (धा० ३ । ५९) न तु गतौ । नित्य-
मयमुच्चैः श्वसितीति श्वा ।

' पृह मर्यगे ' (धा० १ । ८७७) ' तृप्तौ वा ' (धा०
४ । २२) न तु ' अभिमवे ' । ' सिंहो वर्णविपर्ययात् '
(सिद्धान्तकौमुद्यामुणादिप्रकरणे) इति प्रतिलोमं निर्वचनम् ।
' सिंहः सहनात् ' इत्यादौ न वर्णविपर्ययः ।

२० ' हिंसेर्वा स्याद्विपरीतस्य ' (२६४ । १४) इति न
व्याख्यायते । दुर्गस्वीकृतनिरुक्तमूले इदं नासीदिति भाति ।
यस्मात् ' सिंहव्याघ्रशब्दयोस्त्वनुलोममेव निर्वचनम् ' (२६७
। ४) इति स ब्रवीति ।

२६७

४ व्याख्योपमाप्रद० इति च० पाठे ' मा ' अक्षरं प्रामादि-
कम् ।

५ प्राप्ती = व्युत्पत्तिप्रकारी ।

२६८

१६ ' स्तोता स्तवनात् ' (२६७ । १०) इति दुर्ग-
स्वीकृतनिरुक्तमूले नासीत् ।

१८ ' रेभृ शब्दे ' (धा० १ । ३८५) । धातुपाठे ' जृ य-
मोहानावेव ' (धा० ९ । २२ । १० । २८१) ।

२५ भावशब्दः = यजनम् । साधनशब्दः = यज्ञो येनेष्टं
साध्यते । ' इति निरुक्ताः ' (२६७ । ११) इति न
व्याख्यायते ।

२६ यात्रः = यात्रा अत्र विद्यते इति यात्रः । ' प्रज्ञाप्रज्ञार्था-
म्यो णः ' (पा० ५ । २ । १०) इति सूत्रादन्यत्राणि णः ।

२६-२७ ' यज्ञो वै देवानां न सममवचं भृत्यां समभावपत् । यद्वति

पत्रं

पङ्क्तिः

२७३:

‘ जलाशयस्थानम् ’ इत्यस्य वा । ‘ यत्र (जलम्) अपा-
कृतम् अपानीयम् आपानयोग्यं नास्ति स्वल्पोदकत्वात् ।
(स्वल्पत्वात्) तत्र कृतं जलाशयस्थानम् ’ इति पुस्तकस्थ-
पाठान्वयः । अयं पाठो न समीचीनो यस्मान्मृगः स्वल्पो-
दकस्थानं नैव शीघ्रं गच्छेत् । अथवा । ‘ तृपा बाध्यमानः
स्वल्पोदकमपि जलाशयस्थानं शीघ्रं गच्छति इत्यर्थः ।

१० ‘ संयोगेन तृष्यन् ’ इत्यस्यार्थान्वयौ कठिनौ । ‘ संयोगेन
तृष्यन् ’ इति ग. ज. पाठः मुबोधः । ‘ ऋत्विजां संयोगेन
तृष्यन् पिब ’ इत्यर्थः । ‘ पिबेति ’ क्रियासंबन्धेन उपमासं-
बन्धेन वा ‘ तृष्यन् ’ इति पदभिन्नेन सह योज्यम् इत्यर्थः
स्यात् ।

१५-१६ सर्वपृष्ठा (तै० सं० २ । ३ । ७) ।

१९ ‘ अमतोरथम् = इन्द्रस्यस्यामतो वर्तमानं बलम् ’ (ट.) ।

२१ समस्तु = सम् + अस्तु (अद मक्षणे) ।

२२ ‘ लोककृतं = लोकास्थितिकृतं । लोकानां पालयितेत्यर्थः ’
(ट.) ।

२२ ‘ शत्रुहन्ता = वृत्राणामावरकाणाम् ’ (ट.) ।

३ दम्भवातुर्धातुपाठे नास्ति ।

९ न भावयन्त्यस्य किंतु तत्पत्न्या रोमशाया इयमार्यम् । ‘ भाव-
यन्त्यपत्न्याः ’ इति स्यात् यस्मात् ‘ सा’शब्देन काचि-
त्स्युद्दिश्यते सा भावयन्त्यपत्न्येव ।

‘ रोमशा ऋषिका ’ एतौ शब्दौ ट. पुस्तके ‘ भावयन्त्यस्य ’
इति शब्दस्य विवरणार्थं ग्रन्थे दीयते । ट. ड. पुस्तकयो-
स्तौ वृत्तावन्तर्भाव्येते ।

१४ यतः = अतः ।

१७ या = यादृशी । तथा = तादृशी ।

२ दुःशस्ते = दुःशंसने सदोषायां स्तुतौ ।

४. ‘ अपासस्य ? इति नैकस्मिन्नपि निरुक्तमूलपुस्तके पाठः ।
के एने एने ।

२७४

२७५

पत्रं

पङ्क्तिः

२७०

७ कासः = 'कर्ता स्तोमानाम् ? इत्यर्थे वर्तते । 'कातु' शब्दः ऋक्संहितायां न विद्यते । कम् उदकम् अत्रेति व्युत्पत्त्या दुर्गपाठः 'कातुः' इति भाति ।

९ कुपानं = कौ पृथ्व्यां भूमध्ये पानम् । भूजननाक्षूः । तत्रस्थजलेन पानम् ।

१० कुत्सितं = कष्टं न संतोषदायि यस्माज्जलोत्कर्षणार्थं रज्जु-घटाद्यपेक्षते ।

११ संवाधः = जनसंमर्ददह्यावकाशः । तेन जनाः परस्परैः कलहायन्ते ।

१४ 'तृपुः तक्वा रिम्वा रिपुः' इति निघण्टुपाठः (निघ० ३ । २४) ।

१७ संस्थानं 'स्यै संघाते' (धा० १ । ९३५) इत्यस्य निघ्नान्तं रूपम् ।

२० 'निर्णीतं कस्मान्निर्णितं भवति' (२६७ । १९-२०) न व्याख्यायते ।

२७१

५ 'दूरं कस्मादुच्यते' एवं सर्वपुस्तकेषु पाठः । दुर्गः प्रायः 'उच्यते' शब्दं विस्मरेयति ।

८ कालाध्वनोर्महत्त्वं दूरपुराणयोः समानम् ।

१३ ग. च. ज. पाठः 'पन्थे' । छ. त. द. पुस्तकेष्वपि ॥ एव पाठः ।

१५-१६ नूतनं = नु (नवं क्षिप्तम्) उत्तनं उत्पन्नम् ।

२७२

१४ ठ. ड. पुस्तकयोः 'व्याख्यातानि' इत्यस्यानन्तरं विरामो न प्राप् ।

१८ 'अधुनैवं सामान्यत उक्त्वा' इत्यन्वयः ।

२७३

६ अपाकृतम् = अप + आ + कृतम् । अथवा । अपा (उदकेन) + कृतम् । 'अपाकृतं पानीययोग्यं नास्ति स्वलोदकत्वात् । अपानीयमात्रकृतम् उदकेन वा कृतम्' इति च, पाठः । 'अपाकृतं पानीययोग्यं नास्ति । स्वलोदकत्वाद्वापानीयमात्रकृतम्' इति वाक्यव्यवस्था स्यात् । 'अपाकृतम्' इति 'मन्वेदम्' इत्यस्य विशेषणं भवेत्

३३

२७८

पङ्क्तिः

२१ इयमृक् ऋ० सं० ८ । १०२ । २१ । वा० सं० ११ ।
७४ । मैत्रा० सं० २ । ७ । ७ । काठकसं० १६ । ७ ।
कापिष्ठल सं० ३० । ८ । इत्यत्रापि पठ्यते । ऋक्संहि-
तायां ' तञ्जुपस्व यावृष्टव ' इति नास्ति ।

२४ ' प्रयोगस्य ' इत्यस्य स्थाने ग. च. ज. पाठः ' प्र-
उगस्य ' ।

२४ ' यदग्रे यानि कानि चेति पञ्चभिरोदुम्बरमभरशुवृक्णमुह्य
इधमम्यादधाति ' (आप० श्री०) । उहयो नामामि-
स्तस्मिन् परशुना यदिध्मं छिन्नं न भवति तत्क्षिपति ।

२७९

६ ' ऊर्दरमिति वा यमाहुः ' इति ग. च. ज. पाठो दुर्वोधः ।

७ तदायपनम् ऊर्दरम् ऊदरम् इत्युच्यते । प्राकृतेन = अर्वाची-
नभाषायाम् ।

२१ समिद्धो अञ्जितपिष्टृक् तै० सं० ५ । १ । ११ मै० सं०
१ । १६ । २ काठक सं० ५ । ६ । २ इत्यत्र वर्तते ।

२८१

१० ' आ घा ये अग्निमिन्धत इति सप्तदश ' (आ० श्री० ६ ।
४) इत्यनेनादितः सप्तदशर्च एवातिरात्रे विनिपुड्यन्ते । इयं तु
विंशतितमा ।

१८ ' एष से रुद्र मागस्तं जुपस्व तेनाग्रमेनं परो मूर्जवतोऽ-
तीक्ष्वेततधन्वा पिनाकहस्तः कृत्तिंशासाः ' (तै० सं०
१ । ८ । ६) । ' रुद्राय से मागः । पिनाकहस्तः कृत्तिंशासा
अवततधन्वा ' (मैत्रा० सं० १ । १० । ४) । ' कृत्तिंशासाः
पिनाकहस्तोऽवततधन्वा ' (काठक सं० ९ । ८) । पारु-
भाध्येऽयं पाठः स्वीकृतः । ' एतर्त्तं रुद्रावसं तेनं परो मूर्ज-
वतोऽतीहि । अवततधन्वा पिनाकहस्तः कृत्तिंशासा अहि-
सजः त्रिवोऽतीहि ' (वा० सं० ३ । ६ । १) ।

२१ ' ग्रीहियवार्त्तान् यस्मा यहनार्थं तृणरंशादिनिर्मितः पात्रवि-
शेषो मृत इत्युच्यते । त्रयोऽग्नयोर्मृतयोऽव्यर्थकान् । त्रिविधोऽयं
प्रक्षिप्य रश्मिभेदेन त्रिंशत् शक्यतां वनापट्टपानमदये
सम्पूतद्वयमवस्योन्नये स्यागी वृत्ते तत्र वस्त्रांको मृतद्वय-

- पत्रं पङ्क्तिः
 २७५ १९ ' अर्थऽप्य ' इति सावग्रहं पदम् । तस्माद्विवचनम् । ' शीघ्र-
 गामिणौ ' इत्यर्थः ।
 १७ ' अनिवृत्तौ = अभिप्रस्थितौ ' (ट.) ।
- २७६ ८-९ ' रक्षसो भिन्दन् सतः = रक्षांसि प्राप्तस्येति प्रक्षेप्तुं प्राप्तान्
 राक्षसानिति योजनीयम् ' (ट.) ।
 ९ तिरः (२७५) सतः इत्येतौ शब्दौ अप्राप्ते दूरार्थे एव
 दुर्गेण गृहीतावत्र ।
 १२ ह विपरीतः ऋ + ह् = अर्ह् = अर्थ । घृ विपरीतः ऋ +
 धृ = अर्व ।
 ' देवाश्च वा अमुराधास्पर्धन्त नेमे देवा आसन्नेमेऽमुराः '
 (मैत्रा० सं० १ । ११ । ९) ।
- २७७ ८ नक्षत्रार्थातुषाठे नास्ति ।
 ९ ' नाना ह वा एतान्यग्रे क्षत्राण्यामुः । यथैवासीं सूर्य एवं
 तेषामेव उच्यन्निव धीर्यं क्षत्रमादत्त तस्मादादित्यो नाम यदेतं
 धीर्यं क्षत्रमादत्ते ' (शत० भा० २ । १ । २ । १८) ।
 ' ते ह देवा ऊर्चुः । यानि वैतानि क्षत्राण्यभूवन् वै तानि
 क्षत्राण्यभूवन्निति तद्वै नक्षत्राणां नक्षत्रत्वम् ' (शत० भा०
 २ । १ । २ । १९) । न + क्षत्राणि = नक्षत्राणि ।
 इमानि क्षत्राणि धीर्याणि न यस्मात्सूर्य एतं धीर्याणादत्ते ।
 नक्षत्रैर्गतिकर्मण इत्येका व्युत्पत्तिः । आद्येण पुनरन्यो व्यु-
 त्पत्तिप्रकारः ।
 ११ अम्मयानि (= अम् + मयानि) = ऋतमयानि ।
 १० ' जनपदभ्युत्तेः अभी मम मम अयय इति वा ' (ट.) ।
- २०-२१ चिद्विद्युः = चिन् + दिवा + इयुः ।
 २२ वरुणो वरुण एवात्र नादित्यः । वरुणोऽत्र मृपते न
 मृत्यः ।
- २७८ ११ ' एतं गुणयुक्तं = विनिष्टं ' (ट.) ।
 १७ ' एतमु जन्ते ' (धा० १ । ८५ । १) । ' एतम विनष्टं '
 (धा० १० । १६०) ।

- पत्रं
२८३
- पङ्क्तिः
१५ ' कामः समुद्र आविशत्कामेन त्वा प्रतिगृह्णामि ' (२८२। २२) इति न व्याख्यातम् । इदं वाञ्छसनेयिसंहितायां न विद्यते । मैत्रायणीसंहितायां ' कामः समुद्रमाविशत् ' इति नास्ति । ' कामेन ' इत्यस्य स्थाने ' कामाय ' वर्तते (मैत्रा० सं० १।९।५)
- २८४
- १ ' तां पूयन्निति । पत्नीमुपयच्छन्ननयर्चोपस्थं परामृशति । इमां योनिं हे पूयन् शिवतमाम् अतिशयेन मुक्ताम् एरयस्व आभिमुख्येन प्रेरय गर्भग्रहणाय यस्यां पुत्रजन्मार्थं बीजं रेतोऽलक्षणं मनुष्या वपन्ति । कामयमाना ऊरु विश्रयाते विवृतौ करोति । यच्च योनिः स्त्री कामयन्ते (?) । विवृ-
णोति वोरु । नयो नावेवोपचर्यन्ते । अथवा । तामिति वधू-
रेधोच्यते । किंच । यस्यामुशन्तः कामयमाना वयं प्रहराम
क्षिपाम शेषम् । स्कन्दस्वामी ' (ट.) ।
- ४ तामीरयस्व = शिवतमामत्यन्तमङ्गलभूतां (माध्यम्) ' आ
ईरय सर्वतः प्रेरय ' (ट.) । ठ. ड. पुस्तकयोरेदं ' ता-
मीयरस्व ' इत्यस्य स्थाने लिख्यते । ' माध्यम् ' इत्यस्य
स्थाने ' भाव्यं ' लिख्यते ।
- १०-११ ' तव केतः अहम् अनु आयम् ' इत्यन्वयः ।
- १९ ' तदा आसीः । नेदानीम्० ' इति च. पाठः । ' तदा
आसीः नेदानीम् ' इत्यन्वयः स्यात् । अस्मिन्नन्वये त्वं
संप्रति तथा वर्तसे इत्यत्र ' न ' गलितो भवेत् । इतरः
पाठः सुलभः । तदा आसीः सदानीम् । त्वं संप्रति न
तथा० ।
- २८६
- ४ ग. ज. पुस्तकयोः ' इह प्रियं० ' त्रिष्टुबुध्यते ।
- १३ स्वरेण अन्तो यस्य स स्वरान्तः । स्वरान्तोऽयम् एनाशब्दः
द्वयोरप्युचोः समान एव । ' एकस्मिन् ' इति पाठान्तरे
' समाने एकस्मिन् ' इति पुनरुक्तिः । द्वावपि पाठा
ग्रामादिक्वाचित्वात् । ' स्वरान्ते ' इत्यस्य न प्रयोजनं
हायते ।

- पत्रं पाङ्क्तिः
 २८१ युतां वंशयष्टिं संसृजति ' (महीधरटीका वा० सं० ३।६१) ।
- २८२ ४ ' ओलजी (धा० ६ । १०) ओलस्जी (धा० ६ । ११) व्रीडने आत्मनेपिपः ' । ' लज्जति ' रूपं (पाठभेदे) प्रामादिकम् ।
- १७ तत्तद्देवतानाम्ना गृहीता दक्षिणा न हिनस्ति । साक्षाद्गृहणा-
 द्वीर्यमपक्रामति यथा वरुणदत्तदक्षिणास्वीकरणादन्यादीनां
 वीर्यमपक्रामत् (स्या० श्रौ० १० । ६) ।
- १७-१८ ' देवस्य त्वा० हस्ताभ्यां प्रतिगृह्णामि ' इति मन्त्रो विशिष्ट-
 वस्तुग्रहणे युज्यते । २३ ताप्य० इत्यादि प्रक्षिप्तं यस्मा-
 द्वास्त्राशब्देन संहिता एव निर्दिश्यन्ते न तु ब्राह्मणानि ।
- २३-२४ माध्यंदिनसवने हिरण्यं गौर्वासोऽथ इति चतुर्विधा दक्षिणा ।
 तत्तदक्षिणायाः प्रतिग्रहे विशिष्टो मन्त्रः । ' देवस्य त्वा०
 प्रतिगृ० ' अयं वाससः प्रतिग्रहमन्त्रः । ' क इदं कामै-
 सत्ते ' इति वाक्यं सर्वेषु प्रतिग्रहमन्त्रेष्वनुपपद्यते । वस्तु-
 तस्तु ' ग्रास्त्वा कृतज्ञपसोऽतन्यत धियोऽवयन् ' । ' बृहस्प-
 तये वासः ' इति शब्दसमुदायं विहाय क्षेत्रं सर्वमनुप-
 पद्यते । (वा० सं० ७।५ । ७ पाठक सं० ९।११ । १२
 स्या० श्रौ० १० । ६) ।
- २८३ २ ' कर्तितः ' (पाठभेदे) इत्यपपाठो यस्माद्वाच्यः शब्दो
 नपुंसकः ।
- ४ पारिकर्मकराः = मृत्याः सहाया आ । ६ बार्हस्पत्ये आत्म-
 न्यवस्थिताय = यज्ञे बृहस्पतिकर्म कृत्यते ।
- ६ ' बृहस्पतये त्वा मयं वरुणो ददाति सोऽहममृतममरीय ' इति मैत्रायणीपाठो दुर्गेण व्याख्यायते । दुर्गस्तृकृतमन्त्र-
 पाठस्तु भिन्न एव । अयं पाठः युज्यते इति न ज्ञायते ।
 संहितायु सूत्रेषु च भिन्नाः पाठा विद्यन्ते ।
- ७-८ अभिसंहितम् = अपेक्षितं दत्तप्राप्तं वा । ८ मानस्य =
 बर्हिष्य । ११ यश्चदाना = यश्च + आदाना ।

पत्रं

पङ्क्तिः

अध्यायः ४

२९१

- ११ यच्च वक्ष्यमाणं तदनुक्तमपि प्रतीयत इति वाक्यशेषः ।
 १२ यदुक्तं यद्वा वक्तव्यं तत्संक्षेपज्ञो निगमनाय अवबोधायति
 प्रतिजानीष्व अभ्युपगच्छ । ' प्रतिजानीथ प्रतिजानीषे प्रति-
 जानीष्य '(?) इति भिन्नाः पाठाः । ' तत्प्रतिजानीष्व '
 इति पाठः समीचीनः । आधस्यम् = अधस्ताद्वर्तमानम् ।
 १३ गृहीतार्थः गतार्थः तस्य संक्षेपेण कथनात् ।
 १४ ' विस्तीर्णतन्महज्ज्ञानमृषिः संक्षिप्य चाब्रवीत् ' इति महा-
 भारतपाठः ।

२२ तत्त्वपर्यायादीनामर्थो निरु० २ । ५ इत्यस्य वृत्तौ पत्रे
 १४३-१४४ इत्यत्र दीयते ।

२३ स एषः = तत्प्रपञ्चनरूपोऽर्थः । निगमव्याजेन = निगम-
 नाय प्रकरणसमाप्तये प्रकरणोपसंहाराय । ' निगमनव्याजेन '
 इति ग. ज. पाठः सुष्ठुमः । सर्वथापि = सर्वोऽपि ।

२४ द्वयोः प्रकरणयोः संबन्धः शास्त्रसंबन्धः । निगमप्रकरणं
 नैषण्टुकप्रकरणान्निमित्तमिति द्वौ हेतू यदुक्तं यद्वक्तव्यमित्यत्र
 (११) ।

२९२

४ अभिधा लक्षणाव्यञ्जना इति तिस्रो वृत्तयः । ' एकार्थम् ' =
 अनेकेषां शब्दानामेकोऽर्थो यस्मिन् प्रकरणे तत् । ' अबेक-
 शब्दम् ' = एकार्था अनेकशब्दा यस्मिन् प्रकरणे तत् ।
 एवमत्र लक्षिते लक्षणावृत्तिः ।

६ प्रसिद्धपुनरोधाय = प्रसिद्धेः प्रसिद्धस्यार्थस्य अनुरोधः
 अविशेषः तस्मै । ७ प्रतिनियतं = विनिश्चितम् । ८ उद्ग-
 ता कटिर्यस्य स सिद्धादिचतुष्टयाख्याणी । ११ अकामकारेण
 = स्वेच्छाया अमात्रात् ।

१५-१६ ' सामान्यवाचिनः शब्दा विशेषे स्थापिताः कश्चित् । पदार्थने
 यथावृत्ति को नु मर्या इतीषते । विशेषवाचिनस्तन्पदे सामान्ये
 स्थापिताः कश्चित् । हिमेनाग्निविति मन्त्रे हिमशब्दो निर-
 दर्शनम् ' (बृहदे० २ । १०९-११०) ।

- पत्रं पङ्क्तिः
- २८६ २३ अभ्यमनहा = ' अभ्यमन'शब्दः कोशेषु न लभ्यते ।
- २८७ १ ट. पुस्तके ' पुत्रः ' इत्यस्यार्थः ' स ब्रह्मणस्पतिः अस्मान् पारिगृह्यानुगृह्यात्वित्यर्थः ' इति सायणभाष्यस्य शब्दैः प्रान्त-भागे दीयते । एते शब्दाः ऋ. ड. पुस्तकयोर्वृत्तावन्तर्भाव्यन्ते ।
- ११ ' अविनाशनाम ' इति छ. त. द. पाठः ।
- १९-१६ ठ. ड. यो जात एवेति सर्वा ऋक् पठ्यते 'उपरिध्याद्येभ्यः' इत्यपि लिख्यते ।
- २४ मरुतां गणः स्तनयितुशब्दं करोति । स शब्दः कृत्स्नं जगद् व्याप्नोति । उपशब्दयते सशब्दं कुर्वते ।
- २५-२६ ' कौटशानां पुनर्मरुतां गणो यस्मै प्रभरन्ध्वमिति ' ग. च. ज. पाठः सुबोध एव ।
- २८८ ४ वैश्वदेवे पर्वणि मारुतस्तप्तकपालस्य यदेयं याज्या तदा भिरप्रधानः ।
- १२ साहचर्यमाख्यापयतीति साहचर्याख्यापिका । ' आख्यायिका' पाठः प्रामादिकः ।
- २८९ ६ ' कश्चिद्विस्पष्टं जानाति ' इति ग. च. ज. पाठः प्रश्न-रूपः ।
- ७ आगमः = छान्दोग्योपनिषद् । ' असदेवेदमप्र आसीत् । तत्सदासीत्तत्समभवत्तद्राष्टं निरवर्तत तत्संवासरस्य माप्राम-शयत तन्निरभियत ते आण्डकपाले० ' (छा० उ. १ । १९ । १-२) । कपाले = शकले ।
- ११ ' यद्वैनयोः कर्म ' (२८८ । १७) इति ' यद्वा नाम ' इत्यस्य भाष्यं दुर्गेण न व्याख्यायते । विश्वधारणमनयोः कर्म ।
- १२ एते यावापृथिव्या विश्वधारणार्थं न ते भवतः । इदं विश्वं तयोः परिणाम इति कृत्वा तत्सर्वमेते विमृतः ।
- १५ ' यावापृथिव्योर्महिमानमाचष्टे ' इत्येतद्भाष्यं मन्त्रव्याख्यानेन विवृतमतो गतार्थम् ।

पत्रं

२९५

पङ्क्तिः

‘स्वयमभिमेधन्ति ताश्चानुक्रमेण तान्प्रत्यभिमेधन्ति’ (शत०
भा० १३ । ५ । ८) । ‘अम्ब्रे अम्ब्रत्यम्बिके
न मा यमति कश्चन । ससस्यश्चकः ॥ इति त्रिर्महिव्यश्वं
गर्हते त्रिरितरा पत्नयस्तामभिमेधन्ते’ (तै० सं० ७ ।
४ । १९) । अश्वमर्हणमत्रैका महिष्येव कुरुते । चतस्रोऽपि
गर्हन्तीत्यस्य मूलं नोपलब्धम् । अभिमेधनम् = आक्रोशः
प्राप्त्यवचसा निन्दा । ‘भोगामावदुःखेन गर्हणम्’ इति
सायणः (तै० सं० ७ । ४ । १९) ।

२३ मेधनकसदृशः कोशेषु नोपलभ्यते ।

२६ ‘आक्रोशकर्मापापकम्’ (२९४ । ४) इत्यत्र द्वौ पाठौ
स्याताम् ‘आक्रोशकर्मा पापकम्’ ‘आक्रोशकर्मा अपा-
पकम्’ इति च । अपरव्याख्यायां द्वावपि पाठौ दुर्गेण
गृहीतौ ।

२९६

१ षलकृतयः = इन्द्रस्य धीर्यकर्मणि । इदं सूक्तमिन्द्रस्य धीर्य-
कर्मणां स्तुतिभिः पूर्णम् ।

२ इन्द्रो धीर्यकर्मकृत् त्रिशोकां याचकः । एवं सति त्रिशोक
एवेन्द्र इति न युक्तम् ।

६ अस्माकृतेऽर्थे न कोऽपि प्रकरणादिविरोधः ।

७ जहा = जघान (यास्कः) । अस्मिन् द्विवचनारिशद्वचा-
त्मके सूक्ते ‘मा वधीः वमु स्यः हे तदा भर मृळय आवृत्त्व-
द् भूतु ते मनः’ इति शाय इन्द्रः संवोच्यते । इन्द्रस्य वन-
कृतमश्वं स्तूयन्ते । तस्मादस्यामेवैकस्यामृचीन्द्रो वक्तुं न
साधु । ऋषिर्ब्रवीति । अस्मदनुकूलमिन्द्रस्य मनोऽस्तु । हे
मरुतः (मर्याः) अनाकुलः सखा सखायं ‘जहा’ इत्य-
ब्रवीदिति कदा श्रुतं भवद्भिः । सर्वे एव मूयमस्मदनुकूलाः ।
इन्द्रोऽपि तथा । अस्मत्तो (मत्तो) न कोऽपि क्रोधेन
गतः न मह्यं कोऽपि क्रुद्धः । नेन्द्रोऽपि । अत्र ‘जहा’
यादौसर्वे स्यात् । याहीति न कोऽप्यनाकुलः अक्रुद्धः सन्
सत्त्वाममब्रवीन् ब्रवीति वा । क्रोधाद्भूतः कोऽस्मान् अद्यापि
अजहान् । न कोऽपि । जहा = याहि ।

पत्रं

पाङ्क्तिः

२९२

२६ इतरेतरविशेषणविशेष्यभावोपलक्षितानि = एकदा पदानि विशेष्यम् उपदयादयोऽर्था विशेषणम् । एकदा अर्थाः विशेष्यं पदानि विशेषणम् ।

२९३

६ निगमे वेदे वर्तमानाः शब्दा निगमाः ।

८ ज्ञापितः शब्दरूपैः । अयं पाठः समीचीनतरः । ' ज्ञायते ' इत्यनेन वाचकानामज्ञानं दर्श्यते । ' अत्र ' ' तत्र ' द्वौ पाठौ । ' अस्मिन् प्रकरणे व्याख्यायन्ते ' इत्यस्मात् ' अत्र ' - पाठः समीचीनतरः ।

९ पूर्वाणि = पूर्व कथितानि ।

१८ अनवगतसंस्काराः क्रमशो व्याख्यायन्ते । तत्र ' जहा ' इति प्रथमं पदम् । ' वर्णवृत्तिस्वाच्च ' इति दुर्बोधम् ।

२९४

१० पूर्वोत्तरपदयोरविरोधः प्रकरणं शब्दसारूप्यमर्थोपपत्तिश्च ।

१३ हे शूर इन्द्रेत्यादिः ठ. ड. पुस्तकयो पाठः साधन-भाष्याद् गृहीतः ।

१६ ऋक्संहितायां मर्या इति मरुत उच्यन्ते । मर्याः = वीराः । हे मरुतो युष्मन्नायक इन्द्रः कथंकारमस्मभ्यं क्रुध्येत् ।

२९५

१ भूवास्य इति प्रामादिकम् । भूयास्त इत्याशिवि लिङ् । आशिपिलिङ्गेऽत्र न किमपि प्रयोजनम् ।

१६ ' मर्यादा मर्यादादीयते ' इति छ. त. द. पुस्तकेषु नास्ति (२९४ । ३) । तथाप्ययं पाठो दुर्गेण स्वीक्रियते ।

१७ का न्वेपा मर्यादा = एपा न मर्यादा किंतु मर्यादोलङ्घनम् ।

१८ असन् असत्यः अभियोगः अभिशंसनम् । मिथ्यापराधारोपः । असदभियोगं दत्त = मिथ्या मामपराधिनमभिशंसन् ।

१९ मृता उपक्षीणा समाप्ता । विषयस्य प्रदेशस्य । संश्रिता इति पाठान्तरम् । संश्रिता = संयुक्ता न तु उपक्षीणा ।

२१ मृता = (समाप्ता भूमिः) अन्यस्या आदिश्च तयोः विभागकारिणी । २२ आक्रोशः = गालिप्रदानम् । चतस्रो जायाः ' महिषी बाधता परिकृष्टा पात्वागली च ' (शतपथ ब्रा० १३ । ४ । ८) । ' ब्रह्मोद्गानाहोनाक्षभारस्ता यथासं-

पत्रं
२९७

पङ्क्तिः

शक्नुमः । अयमेव स्वामानिकोऽर्थः । पक्षिणां कवित्वश-
क्तिर्दितीयायै दृश्यते । ' ध्वन्तमयोर्गुहि चक्षुः पूर्धि जल-
सदृशदमसो मुमुग्धि ' इति काव्ययोग्याः कल्पनाः ।
' गृम्णाति रिपुं निधया निधापतिः ' (९ । ८३ । ४)
इत्यत्रापि निधा = जालम् ।

२६ ' यावदेतत्तावत् ' इति पाठान्तरम् । ' यावन्मोचयति
तावत् ' इत्यर्थः ।

२९८

१० सामर्थ्यात् इत्येषां प्रदानम् ।

१४-१५ ' जहा जघानेत्यर्थः (२९१ । ८) निधा पादया भवति'
(२९४ । ५) एवमुक्त्वा ' शितामेति ' पदं तस्यायमर्थ इति
वक्तव्यम् । यास्कस्तु निगममेव पठति । किमर्थम् । ' शिताम्'
इत्यस्यानेकार्था यस्मादेकार्थे एकमताभावः । दुर्गदत्तमिदं
कारणं केवलं काल्पनिकम् ।

१६ यजेत्यादिपदयुक्तेन येन वाक्येन होत्रादिरण्वर्धुप्रभृतिभिः
प्रेष्यते तद्वक्तव्यं प्रेषः । मैत्रायण्यनामा आश्विक् ' आ भरतं
शिक्षतम् ' इति मन्त्रं पुरोनुवाक्यां ब्रवीति तदन्त इमं प्रेषं
' होवा यज्ञादिन्द्राग्नी ' इति । अयं प्रेषः पुरोनुवाक्यापाः
द्वयः ।

२९९

४ ' अज्जाणाम् अज्ञानां स्वमंशभूतम् ' (च.) ।

८ मुमत् = स्वाहुतात् अधवा स्वयमेव इति दुर्गाः ।

१० बहुशो रुग्णानां = बहुशः रोगमुक्तानाम् इत्यर्थः स्यात् । रुग्णं
भेदो रुग्मेव कुर्यात् । अतस्तत्र स्पृहणीयम् । ' रुग्णा-
नाम् ' इति पाठः ग्रामादिको भवेत् ।

११-१२ उपवस्तानाम् आध्यादितानां पुष्ट्यग्रगण्यस्थानाम् ।

१३ अवतानां = कर्तितानाम् । उल्लेदनास्थानात् = उल्लेदन-
योग्यास्थानात् । १७ वदक्यः = वक्त्राणि पार्श्वार्थानि
पट्टितानि । १८ एटलम् = आध्यादनम् ।

२२ कायेन = कर्मकरणात्तस्य गतिः । कायेन (च.
पाठः) = शरीरेण । गतं = संवदन् । कायेन

पत्रं

पङ्क्तिः

२९६

चत्वारिंशत्तमायामृचि 'जहि'शब्दो वर्तते । अत्र स एव शब्दो 'जहा' इति किमर्थं प्रयुक्तः । यदि जहा = जहि अथवा = जहाहि तर्हि अयमर्थः स्यात् । हे मर्याः कः सखा अनाकुष्टः सन् सखायम् अववीत् जहा जहीति । इन्द्रो मम सखा युष्माभिः न कदाप्याकुष्टः । सा मां सखायं त्रिशोकम् एनान् जहि जहाहि वा इति कथं श्रूयात् । अस्मत्तो भीतो न कोऽपि ईषते पलायते । नाहं युष्मान् हनिष्यामि हास्यामि वा । न भेतव्यम् । एतादृशोऽस्या ऋचोऽर्थः स्यात् ।

१० प्रकृतं प्रकरणं तदनुवृत्त्या । १० 'स व्याख्यातव्यः' इत्यत्र 'सः'पदेन किमुद्दिश्यत इति न ज्ञायते ।

११-१२ 'तत् श्रूमः' इत्यन्वयः ।

१६-१७ सा पाश्या निधा निधानीति वा रूपेण प्राप्ता सती ।

१९ निर्वचने प्रत्ययो विश्वासस्तस्योत्पादनार्थम् । इदं निर्वचन-
शास्त्रं नियमवद् सत्यं चेति दर्शयितुम् ।

१९ 'पाश्या' इति तद्धितरूपम् । 'पाश्या' इति पदात् तद्धितप्रत्ययार्थो निरुद्धः ।

२० 'पाशयतेर्बन्धनार्थस्य' इति ग. च. ज. पाठः । 'पश बन्धने' (धा० १० । १८६) ।

२९७

१२ शक्तेरपत्यं पुमान् शाक्यः न तु शाक्तः । ट. ठ. ड. पुस्तकेषु वेदभाष्यभैतस्यत्राक्षणभाष्यं च प्रान्तभागेषु लिख्यते ।

१४ वयः वयांसि पक्षिणः । मुपर्णोः शोभनपक्षाः दृष्टपक्षाः । एते पक्षिणः प्रियमेवा ऋषय इवेन्द्रम् आदित्यं याचन्ते । भ्रान्तं तमः अपसारय । तेजसास्मच्चक्षुषि पूरय । अनेन तमसा वयं पाशवद्वा इव स्वः । तानस्मान् तेजसा मोचय । इति सरलार्थः ।

१४ वयः = पक्षिणः । त एव याचमाना ऋषयः । पक्षिणो मति-
मद्भिर्देवैर्मिरुषमीयन्ते । पक्षिणो निधया वध्यन्ते । तमो
जालसदृशम् । तममि जालपतिता इव वयं नेनस्ततश्चलिषु

पत्रं
३०१

पङ्क्तिः

- (श्लो० १०८) १९ गुणशब्दं (श्लो० १०३) २१
समस्तार्थजं (१०४) इति पाठः ।
- १४ शब्दस्य यदा अनेके अर्था भवन्ति तदा एतानि पञ्च कार-
णानि । अनेकार्थे कथमेतानि कारणानि स्युः । रूपं कदा-
चित्कारणं स्यात् यथा ' मेहना ' इत्यस्य (३०२ । १७) ।
पदार्थः अनेकार्थानां कथं कारणम् । व्युत्पत्तिः
शब्दरूपे एवावलम्बते । प्रकृतिगुणयोः कोऽर्थः । यथा
' गुणाः ' इत्यस्य कारणानि इत्यर्थस्तथा अत्रापि गुणशब्दः
कारणवाची भवेत् । अनेकार्थे एतानि चत्वारि कारणानि ।
तेन एकः अर्थः अन्यान् अर्थान् उत्पादयेत् । भिन्नाभिर्व्यु-
त्पत्तिभिरपि अनेकार्थाः संभवेयुः । प्रकृतिशब्दस्यार्थो न
ज्ञायते ।
- १५ अनवगमे दश गुणाः कारणानि । पदजात्यादीनामुदाहरणानि
२३ पङ्क्तिमारभ्य ।
- १९ ' धातूपसर्गावयवगुणसत्त्वम् ' अस्य केनान्वयः कश्चार्थः ।
यदि ' पदम् ' इत्यनेनान्वयः तर्हि कौटुकं समाप्तोऽयम् ।
पदे धातोः उपसर्गस्य वा द्वयोर्वा अवयवाः स्युः । गुणः
क्रिया स्यात् । एतेषां सत्त्वम् अस्तित्वं यस्मिन् इति कदा-
चिद्विग्रहोऽर्थश्च स्यात् ।
- २० निर्वाच्यस्य पदस्य किं लक्षणम् । तत्-एकस्माद्धातोः द्वाभ्यां
बहुभ्यो वा धातुभ्य उत्पन्नं स्यात् । बहुकधातुजं = बहु-
धातुजम् एकधातुजं वा ।
- २१ पदं धातुजं स्यात् । अथवा धातुजात् शब्दात् जातं स्यात् ।
अथवा । समर्थार्थः । व्याकरणशास्त्रनियमानुरूपः अर्थो
यस्य तादृशः । एतादृशशब्दादुत्पन्नं स्यात् । किञ्चित्पदं
वाक्ये एव उत्पन्नं भवति । वाक्यार्थाय नवीनं पदम् उत्पा-
दयितव्यं भवति यथा मेहना इत्यत्र । ' व्यतिकीर्णम् '
इत्यस्य कोऽर्थः । अध्याहार्यमित्यर्थः स्यात् ।
- २३ पदजातयः = पदजातानि नामाख्यातोपसर्गन्याता इत्येता-
नि । ' च ' (निरु० १ । ७ । ९) ।

पत्रं

पाङ्क्तिः

२९९

गच्छता तत् गतं नष्टं भवति । ' कालन ' इत्यस्यार्थो न ज्ञायते । ' कालेन ' इति स्यात् ।

२४ ' श्रोणृ संघाते ' (धा० १ । ४५७) । श्रोणिः संहता दृढा भवति ।

३००

३ तस्य बाहोः प्राणेन बलेन पशुः द्रवति पलायते । बाहुः कस्य मनुष्यस्य पशोर्वेति न ज्ञायते ।

४ अंसभावेन = अंससंबन्धेन । काये शरीरे श्रितं भवति । ' कार्ये ' इति पाठान्तरं किंतु न साधु । अंससंबन्धेन बाहुः कार्यं कर्तुं क्षमः ।

५ अवदानं = स्थापितद्विषयो होमपरीमितस्य भागस्य ग्रहणार्थं स्पण्डनं खण्डितभागो वा ।

८ ' पार्श्वतः श्रोणितः शितामतः ' इत्यत्र ' शितामतः ' पदं ' पार्श्वतः श्रोणितः ' इत्यनयोरेकान्तरं वर्तते नान्तरा । श्रोण्यनन्तरं च शितामशब्द उच्यते इति स्वयमेव दुर्गो ब्रवीति । अन्तरा = संनिधौ इत्यर्थः स्यात् ।

९ किमन्यदभिदध्यात् । प्रायेण बाहुस्येन दोरेवाभिदध्यात् । एवं बाहुस्येन शितामशब्दस्यार्थो नियतो भवति ।

९ प्रायः = बाहुस्यम् अपि अर्धनियामकं भवति ।

११-१२ योनिरवदानं न कुत्रापि कथ्यते ।

१४ ' यिन् बन्धने ' (धा० ५ । २) । विधितः निधिलः मृदुलः ।

२५ ' श्वेद् गतो ' । यदृन् मृदुत्वात् गतं मंशुकमुदरेण भवति ।

२७ मृत्पाठः ' यथाकथाच ' (२०७ । ८) । अत्र तु ' यथाकथं चिन् ' । ' यथाकथाच ' शब्देन यन्नामाशो एक्षणे । यदृदनीव मुच्छेदम् । मृच्छेदे न कोऽपि प्रदामः । ' तेन यथाकथाचहस्ताम्बो णयनी ' (पा० ५ । १ ।

९८) इत्यत्र ' यथाकथाच = अनादरेण ' इति महोदजी-दीक्षिणाः ।

१४ डॉ. मैक्डोनेलेन मंशुने दृष्टेवनानुसन्दे ' धनेकाथं

पत्रं
३०३

पाङ्क्तिः

१ ‘मिह सेचने’ इत्यस्मात् मेहनाशब्दः स्यात् । ‘(इन्द्रः)

व्यानशी रोदसी मेहनावान्’ इत्यत्र मेहनावान् = सेचन-
वान् वर्षणवान् । वृष्टेः कर्ता इन्द्र उमे रोदसी व्यानशिः ।
बृहस्पतिरापि मेहनावानित्युच्यते । ‘अस्मे रुद्रा मेहना पूर्व-
तासः’ अत्र वर्षस्य कर्तारो रुद्राः । ‘शुष्मासो ये ते
आद्रिशो मेहना’ अत्र वर्षकारिणो मरुतः । ‘तां मजन्त
मेहनाश्वं मजन्त मेहना’ इत्यत्र मेहना गोरश्वस्य च
विशेषणम् । वर्षसदृशीमसंख्यातां गामश्वं च मजत
गृहीध्वम् ।

हे यजिन् शूर विदहसो इन्द्र यद्वर्षसदृशं राधस्त्वया गृहीतं
तदुगाम्यां हस्ताभ्यां न आमर । मेहना = वर्षः वर्षणीयं
वा । मेहनाशब्दोऽव्ययरूपः ।

३-४ ‘यतः सुचिरमपि स्थित्वा यत्तदस्मभ्यो दातव्यमेवावश्यम्’
इत्यन्वयः । ६ चिराय = विलम्बं कुरु ।

६ ‘यत् इन्द्र चित्र मे इह न अस्ति’ इत्यत्र ‘यत् अस्ति’
इत्यनयोर्मध्ये पञ्च पदानि न तु ‘मे इह न’ इति त्रीणि ।
१२-१३ तस्मात् ‘इन्द्र चित्र’ इति द्वौ शब्दौ अपकृष्ये-
ते ‘त्रीणि मध्यमानि पदानि’ इति वचनं सार्धं
कर्तुम् ।

१७ श्रव्येदपदकारः शाकल्यः सामवेदपदकारो गार्ग्यः । ‘यदि-
न्द्र चित्र मे इह नास्ति’ इति छन्दोगानां पाठः (साम०
सं० ४।२।१४।१) ।

२० प्रतिविनिष्ठतरं विधायाः धनाद्वा महनीयतरं पूजनीयतरम् ।

२१ अकिञ्चनस्य गृहोऽस्यान्येव वस्तूनि सन्ति । स विशिष्टं
वस्तु प्रार्थयेत् न वा ।

२२ अर्थावधारणार्थमृचि विशेषलिङ्गं नास्ति । २३ एतयार्थ-
मस्या = एतमर्थं मत्वा ।

३०४

३ आदृणाति एतेन आशुवेन । अद्रि० = नोह इति च. पुस्तके
पाठान्तरम् ।

११ अस्मान् स्मारयति ।

१५ ‘उम पूरणे’ (पा० ६।३८) ।

पत्रं
३०२

पङ्क्तिः

१ शितामशन्दस्यार्थो न ज्ञायते (पत्राणि ३९८-३०१) ।
 ' वने न वायो ' (नि० ६ । २८) । ' ईर्मान्तासः '
 (४ । १३) । ' करुलती ' (६ । ३०) । गुणः = विशेष-
 णम् । ' करुलती ' एतत्कस्य देवस्य विशेषणं भगस्य
 पूष्णो वा । ' मेहना ' (४ । ४) । ' उपरमध्यम् ' (२ ।
 २५) । अत्र ' उप ' उपसर्गः ' रमध्यम् ' इत्यस्मात्
 बहुभिः पदैर्व्यवहितः पश्चाच्च प्रयुक्तः । ' यावा नः पृथिवी '
 (९ । ३८) । अत्र ' यावापृथिवी ' इति समस्तं पदम् ।
 ' यावा ' इत्यस्मात् ' पृथिवी ' इत्यवयवो विक्षितः ।
 ' दानमनसः ' (६ । ३१) तत्र दुर्गवृत्तिः (९९९ ।
 ५-७) द्रष्टव्या । ' वायुश्च नियुत्वान् ' (५ । २८)
 दुर्गवृत्तिः (४८७ । १२-१४) । ' पुरुषादः ' (२ । ६) ।
 ' गर्भनिधानी ' (२ । ६) । ' सर्वाणीन्द्रस्य ' (६ । ८) ।
 पदजात्यनवगतम् = केषांचिच्छब्दानां पदजातिरेव अनव-
 गता । केषांचित् अभिधेयम् (अर्थः) अनवगतम् । केषां-
 चित्स्वरौऽनवगतः । केषांचित्संस्कारः । केषांचित् गुणत्वम्
 अनवगतम् । तानि कस्य विशेषणानीति न ज्ञायते । ' मेहना '-
 सदृशः शब्दः किमेकं पदमथवा अनेकेषां पदानां समुच्चयः ।
 केषांचित् ऋचि क्रमो व्यत्यस्तो व्यवहितश्च तेन तान्यनव-
 गतानि । समस्तपदानि विक्षिप्यन्ते विभज्यन्ते व्यदधीयन्ते
 च तेन तान्यनवगतानि । कानिचित् अस्याहारं विना न
 ज्ञायन्ते । केषांचित् मध्ये अन्ये शब्दाः प्रयुज्यन्ते । तेन
 व्यवधानेन तेषामन्वयो न ज्ञायते ।

३०३

१ चित्र = शूर । ऋक्संहितायां चित्रशब्दस्य बहवोऽर्थाः ।
 (अग्निः) चित्रः = तेजस्वी । चित्राम् (गोपु) = विवि-
 धवर्णयुक्तसु । चित्रं राघः = नानाप्रकारम् । चित्रा
 (ऊतयः) = आश्चर्यभूताः । ' इन्द्र चित्र यमहस्त '
 ' तम चित्र चेतिष्ठ ' इत्यत्र चित्र = शूर । अदिवानिन्द्रः
 चित्र इति वीरः ।

पत्रं

३८६

२०७

पङ्क्तिः

१९ आख्यानं पर्यायाख्यानं तेन प्रसक्तस्य ।

८ ' त्रितस्यापां पुत्रत्वम् (तै० भा० ३ । ८ । १० । ११)

इत्यत्र । तमेतमायं बहुवृत्तास्तकारोपजनेनाधीयते ' आप्यः ' इति । एकतद्विती आत्रा कूपादुद्धृतं जलं पीत्वा तं कूपेऽपातयतां तद्धनं गृहीत्वा च गृहं न्यवर्ततां त्रितस्तु देवानमेन सूकेनास्तौदिति शाटपायनिन इतिहासमाचक्षते ' (ऋ० सं० १ । १०५ सायणभाष्यम्) ।

९ नेये पङ्क्तिः किंतु यवमय्या महावृहती ।

१० ' कूपे पतितस्य ' इत्यसंबद्धम् । ' कूपे पतितस्य त्रित-स्यार्थम् ' इति स्यात् । ' कूपे पतितस्य ' इति प्रान्त-भागे लिखितं त्रितस्य वर्णनं टीकायां लेखकप्रमादेन सर्वेऽपुस्तकेष्वन्तर्भावितं स्यात् ।

११ ' परस्परं वा पीड्यन्ते ' (पाठभेदः) इति सायणभाष्यात् च. ट. पुस्तकयोर्विवरणत्वेन प्रान्तभागे लिख्यते ।

१४ ' कार्पाससूत्राणि संघटनार्थं भक्तमिश्रोदकेन लिप्यन्ते । ' पायितानि = लिप्तानि कुविन्देन ' (च.) । ' अस्नातानि ' (३०६ । २७) इति भाष्यशब्दे न व्याख्यातः । अस्नातानि = न कदापि धौतानि ।

२१ ' अयमप्युपमार्थः ' इत्यन्वयः । विकल्पयते = विकल्पेन शिश्रशब्दस्यार्थो दीयते ।

३०८

१ मयि उत्तिष्ठन्तीति मदुःखाः । ३ तव नाम = तवापि । ' न च नाम ' इत्यापि ' नाम ' विस्मये ।

४ ' उभयोः आधीनां पर्शूनां च पार्श्वोक्तं लक्ष्यभूतम् ' इत्यर्थः स्यात् ।

६ युक्तं को (च. पुस्तके) । ' अहो न युक्तो भक्तपरीत्यागः ' इत्यन्वयः । किंतु ' युक्तो ' पाठः प्रामादिको यस्मात् ' भक्तपरीत्यागो हि० ' इदं वाक्यान्तरम् ।

सर्वेभ्यः पापेभ्यः पापिष्ठः प्रामादिकम् । ' सर्वेऽपु पापेऽपु ' इति शुद्धम् । ९ यद्ययोजनं = यस्मै प्रयोजनाय ।

१६

पत्रं

पङ्क्तिः

३०४

२२ गृहपतिरत्राग्निः । गृहार्थे ' दोमस्'शब्दो लातिनभाषायां वर्तते । दमूनाः (दामिनस् लातिनभाषायां) गृहपतिः । ' मनो मनोतेः ' (३०२ । २१-२२) इति न व्याख्यातम् ।

३०५

२ ' अयमपीतरोऽतिथिरेतस्मादेव ' इति क. ख. पुस्तकयो-
रधिकः पाठोऽन्येषु पुस्तकेषु न लभ्यते ।

२१ अभियोज्यः = अस्माकमुपन्यापतन्त्यः । तत्त्वदागमन*
(घ. ट. ठ. ड. पाठः) = तत्त्वदागमन* + त्वदागमन* ।
त्वदागमनमेव प्रतिबन्धस्तेन वर्तमानाः = त्वया प्रतिब-
ध्यमानाः ।

२३ ' तान् विहस्य तेषां बलानि ' अत्र ' तान् ' व्यर्थम् ।
अथवा । ' तान् विहस्य तेषां बलान्यस्मभ्यमाभर ' इत्यन्वयः
स्यात् । तान् विहस्य = तेषां बलानि विहस्य इत्यर्थः ।
' निहस्य ' (४) इति मूलपाठः ङ. थ. ध. पुस्तकेषु ।
दुर्गपाठस्तु ' विहय ' । ' आहर ' इति छ. त. द. पाठः
' शत्रूणां भवताम् ' इति च (४) ।

२२-२४ ' अभियुजः अन्येषां बलानि विहस्य भवतां शत्रूणां भोज-
नान्याहर ' (३-५) इति यास्ककृतोऽन्वयो व्याख्या च ।
' शत्रूणां भवनात् ' इत्यस्य न किमपि मूलम् । ' शत्रूणां
भवतां ' ' शत्रूणां भवनात् ' इत्यनयोर्न कोऽपि पाठो
दुर्गोण व्याख्यातः ।

३०६

३ ' गृहाणि ' ' परगृहाणि ' (३०५ । २) वा न
व्याख्यातम् ।

३-४ ' अयमपीतरोऽतिथिरेतस्मादेव ' इति न मूलं किंतु दुर्ग-
स्यैव । अतिथिः प्राघूर्णकः ।

११ ' परिशेषात् 'शब्दो नात्र युक्तो यस्मादमूनःशब्दस्य विविधा
अन्यया नैव दर्शिताः । अयमन्वयो न युक्त एतेऽपरे च
न युक्ताः परिशेषादयमेवान्वयो युक्त इति परिशेषःशब्दस्य
स्वारस्यम् ।

१८ ' मूष इत्यनेनोक्तो भवति ' इति युक्तम् ।

पत्र
३०९

पङ्क्तिः

कुत्रस्थं वाक्यमिति भार्यागारेणाम्युपादयदित्यस्यार्थोऽपि न
ज्ञायते । ' अगारेण ' इति ' अङ्गारेण ' इति स्यात् ।
तथा ' अम्युपादयत् ' इति ' अभ्यपातयत् ' इति स्यात् ।

३१०

५-६ मातीव भिद्येमहि = अननुज्ञातसोमभक्षणेन यथा पापानां
जठरमतीव भिद्यते तथा मा भिद्येमहि । सोमो देवानां
कृतेऽभिपूयते । देवैरनुज्ञाताश्च मनुष्यास्तं भक्षयन्ति ।

६-७ ' तारीः ' ' तारय ' इत्यनयोर्भेदे ' मा चास्मानभिपात्री '
इति ग. ज. पाठः । ' मा चास्मानन्तिपात्रीष्व ' इति च.
पाठः । किंत्वं च. पाठोऽपमृष्टः । अनयोः पाठयोरर्थो
न ज्ञायते ।

९ ' विसराणि ' इत्यस्य स्थाने ' विसराणि ' इति च. पाठः ।
अयं पाठः साधुर्भाति यस्मात् विसराणि = विसराणि ।

१०-११ विवासनानि = गमनानि । ' वासराणि ' इत्यस्य ' गम-
नानि ' (११-१२) इत्यनेन न व्युत्पत्तिर्दीयते ।

१२ ' विसृतानि ' कृत उपलब्धमिति न ज्ञायते । वि = वा ।
वामृतानि = वासराणि । ' विवासृतानि ' इति घ. शं.
ट. ठ. ड. पाठः । च. पुस्तकेन च स्वीकृतः ।

१४ ' तत्तनत्तनयनाश्च ' (पृ. ७ । १ । ४५) इति
सूत्रेण छन्दसि तस्य स्थाने तवादय आदेशा भवन्ति । उप-
जनाः = अधिकाक्षराणि ।

१७ ' शुनं सुकाला० ' इत्यमृक् कस्यां शाखायां वर्तते इति न
ज्ञायते । य० वा० सं० (१२ । ६९) इत्यत्र ' विनु-
दन्तु ' इत्यस्य स्थाने ' वितुदन्तु ' वर्तते । अथर्ववेदेऽपि
(३ । १७ । ५) ' वितुदन्तु ' ' अभियन्तु वाहैः '
इत्यस्य स्थाने ' अनुयन्तु वाहान् ' ' कर्तनास्मे ' इत्यस्य
स्थाने च ' कर्तमस्मे ' इति पाठः । मैत्रा० सं० अपि
(२ । ७ । १२) ' वितुदन्तु ' ' कानाशा अभियन्तु '
इत्यस्य स्थाने ' कानाशो अभ्येतु ' इति पाठो । ऋग्वेदे
(४ । ५७ । ८) तेचिरीयशाखायां (४ । २ । ५ ।
६) च. पाठो अत्यन्तं भिन्नाः ।

पत्रं

पङ्क्तिः

३०८

९ 'श्रुत्याख्यस्य' श्रुतिः सूक्तं त्रितेन दृष्टम् । श्रुत्या-
ख्यस्य (पाठभेदे) = श्रुतिः आख्या यस्य । श्रुति-
रूपस्य ।

१० प्रतिभयः भयानकः आकारो यस्य । 'प्रतिभयाकरात्' इति
पाठे प्रतिभयः भयानकरसः तस्य आकरः खनिः
तस्मात् ।

१४ एतस्मिन्सूक्ते 'त्रितः कूपेऽवहितः' इति त्रितस्य कूप-
तनं विशेषलिङ्गम् । अत एव सूक्तगताद्विशेषलिङ्गात् त्रित-
संबन्धिज्ञानमुपलभ्य यस्मात् 'त्रितं कूपेऽवहितमेतसूक्तं'
प्रतिबभौ 'यत्रेयमृक् तस्मात्कूपपर्शव एता इति भाष्य-
कारेण तदेव कूपपर्शत्वं ख्यापितम् ।

१९ सूत्रशब्दः शिश्रशब्दस्य कथं शेषभूत इति न ज्ञायते ।
शिश्रभक्षणमशक्यं तस्मात्पारिशेष्याच्छिश्रशब्देन सूत्रं लक्ष्यत
इत्यर्थः स्यात् ।

२२ ब्रह्म = वेदः । इतिहासमिश्रं ब्रह्म ऋग्विभ्रं गाथामिश्रं च
भवतीत्यन्वयः ।

२५ सुभाषितत्वेन सर्वैर्गीयमाना गाथेति सायणः (ऐ० ब्रा०
२५ । ५) ।

२६ गाथा नैव ऋक्प्रकारः । 'ब्राह्मणजाः श्लोका गाथाः । ये
न्विमं पुत्रमिच्छन्ति (ऐत० ब्रा० ३३ । १) इत्येषमाद्या
गाथाः ' (आश्व० श्रौ० ९ । ३ । टीका) । ' इदं
जनाः ' इत्याद्याः कुन्तापसूक्तगतास्तिस्त्र ऋचो नाराशंस्यः ।
तत्रैव 'यदिन्द्रो०' इति पञ्चेन्द्रगाथाः ।

३०९

७-८ 'सोऽङ्गारेणापः । अम्यपातयत् । तत एकतोऽजायत ।
स द्वितीयमम्यपातयत् । ततो द्विसोऽजायत । स तृतीयमम्यपा-
तयत् । ततस्त्रितोऽजायत ' (तै० ब्रा० ३ । २ । ८)
'सोऽपोऽङ्गारेणाम्यपातयत्तत एकतोऽजायत द्वितीयं ततो
द्वितस्तृतीयं ततस्त्रितः ' (मैत्रा० सं० ४ । १ । ९) ।
'सोऽपोऽभितिष्ठेव तत आप्याः संवभूवुस्त्रितो द्वित एकतः'
(शत० ब्रा० १ । २ । ३ । १) । भार्यागारेणेत्यादि

पत्रं

पङ्क्तिः

३१३

६ प्रदिवः = दिवः दिनात् दिने प्र प्रगते पूर्वस्मिन् ।

१० अतीवालोऽयं नवमः खण्डः । ईदृक्खण्डकरणस्य कारणं न दृश्यते । अष्टम एव खण्डेऽयमन्तर्भावितव्यः ।

तितउ-। तित = तत् अथवा तुत् । उ = वत् । अथवा ।

ति- = तिल । त = तुत् । वत् = उ ।

१६ 'तद्वति' (च, पाठमेदः) इति 'नद्धम्' इत्यस्यार्थः पाठान्तरं वा । तद्वति = ततवति = चर्मवति वस्तुनि तितउशब्दः प्रयुज्यते । तताः = गुणाः तन्तवः धातु-सूत्राणि तद्वत् ।

३१४

१५ 'अकृपत' इति करोतेर्लृङि रूपम् ।

१६ 'वाचमकृपत' इत्यनेनात्र केचिद्दीराः प्रज्ञानमकृपत दर्शितवन्त इत्यभिधीयते ।

२० संजानते = ऐकमत्येनाभ्युपगच्छन्ति ।

२३ विज्ञानस्य संजानते = विज्ञानमभ्युपगच्छन्ति । २३ किञ्चिज्ज्ञास्यते (ठ, ड, पाठः) न, किञ्चिदित्यर्थः ।

३१५

१ भजनीयं सेव्यं मृतानाम् अभिद्रवणीयं च मृतानाम् ।

२ भ = अभि । द्र = द्रवणीयम् । भद् = भवत् । १ = रमणीयम् ।

३-४ भाजनभूतैः पुरैः तद्वत् ।

६ 'लामाद्वा लक्षणाद्वा' (३१४ । ४) इति दुर्गोत्पीकृतः पाठः । तेन लामाद्वा + आलक्षणाद्वा इति संधिविग्रहः । आ = आसमन्तात् । ७ लक्षितः = विख्यातः । लक्ष्मी-वान् सर्वत्र लक्ष्यते ।

७ 'लञ्जितः' इति शुद्धं रूपम् । लञ्जितः = चिहितः ।

१० पुराणमश्लिष्येत्यन्वयः ।

१२ लक्ष्मीवन्त आत्मस्रघाया लजन्ते ।

१५ उत्कृष्टम् अस्माकमविवरणात् ।

२१ सायणाङ्गीकृतपाठोऽपि 'अयुक्' (क, ख, उ, द, पाठः) इत्येव ।

- पत्रं पङ्क्तिः
- ३१० १८ तोशमाना (च. पाठः) = तोषमाणा ।
 १९ ' यजुषा युनक्ति यजुषा (शुनं सुफाला इत्यनेन) कृपति'
 (तै० सं० ५ । २ । ५) ।
 २१ कीणशब्दः कोशेषु न वर्तते । किणः = मांसप्रग्धिभेदः ।
 २३ ' शुनासीरौ = इन्द्रवायू वाय्वादित्यौ वा ' (च.) ।
- ३११ ८ ' स मुचीष्ट ' (२) इति पदपाठः । दुर्गमते ' स-
 मुचीष्ट ' इत्येकं पदम् । वस्तुतस्तु ' स दुर्हणायुः '
 इत्यन्वयः । मुचीष्ट = मुचीष्ट (आशिषि लिङ्) मोक्तु-
 मिच्छेत् ।
 ९ ' हन्त ' इति पाठः ग्रामादिकः । ग. ज. पुस्तकयोः ' तत ' ।
 हतेति शुद्धं रूपम् ।
 १३ ' मत्तौ छः सूक्तसाम्नोः ' (पा० ५ । २ । ५९) इत्य-
 नेन ' कया शुभा ' शब्दौ वर्तते अस्मिन्निति कयाशुभीयम् ।
 १७-१८ ' अष्टा (१०) = आभिमुख्येन ' (ट.) ।
 १८ ' आपात ' इति साधीयान् पाठः ।
- ३१२ ३ ' जग्धधरम् ' इति ग. ज. पाठः साधुः ।
 २० एषधा = अन्नं सपने ये पुरोडाशास्तद्रूपम् । अनुप्यर्थं =
 पुरोडाशभक्षणानन्तरम् ।
 २२ मदनीषाय = मदनस्येदं मदनीषं तस्मै । जैत्राय = जपाय
 तोममदाजघोऽवश्यः ।
 २४ ' सिधस्व ' (७) इति पदम् । निरुक्तभाष्यपाठस्य
 ' सिधस्व जटरे ' (१०) सायणोऽपीमेष पाठमुदाह-
 रति । यास्मानुमतोऽयं पाठो न येनि न ज्ञापते ।
- ३१३ १ मधु पिब = मोमं पिब इत्यौपमिकम् । एषमेनसोमस्य
 मधुन्मनुषमर्थवोक्तम् । किं कारणम् । माधनेः मद्योगात् ।
 ' धातोः ' शब्दो (२) न्यर्थः ।
 ३ यत् यस्मात् सोमस्य मधुन्म उपचारेण्येन आधिकारिकं तत्
 तस्मात् मधुशब्दस्यात्र माध्वीकं मन्वास्तव इति नार्थः ।
 माध्वीकं (ग. ज. पाठः) = माध्वीकं + माध्वीकम् ।
 ५ मधीषि (पाठान्तरं) हे यजमानेऽन्विद्मभः ।

पत्रं

पङ्क्तिः

- ३१८ ३ प्रथमे विवरणे उपमा गूढा । द्वितीये उत्प्रेक्षा गूढा । वस्तु-
तस्तु द्वयोरप्युचोः रूपकालङ्कारः । द्वयोर्विवरणयोर्न कोऽप्य-
र्थविशेषः ।
- ३१९ २५ हे मरुद्गणेति दुर्गकृतोऽर्थ एव साधुः ।
१४ सायणस्वीकृतनिरुक्तपाठे ' यदापन् ' इत्यस्य स्थाने
' यदापुः ' वर्तते ' सुसमीरितान्ताः ' (७) इति च
नास्ति ।
१९ अश्वस्य स्तोमः स्तोत्रं तद्यस्मिन्मन्त्रजाते विद्यते तदिदमश्व-
स्तोमीयं (' मतौ छः सूक्तसाम्नोः ' पा० ५ । २ । ५९
इति सूत्रेण) । आश्वमेविके मध्यमेऽह्न्युपाकरणायावस्थित-
अश्वमाद्याभिरैकादशभिः स्तोति । ३१९-२१ ' सुसमी-
रितान्ताः (७) ' ' आजिम् ' (१४) इत्येते पदे न
व्याख्याते । ' दिविजाः ' (१२) इति न पठितम् ।
२२ ' विसृताः ' इति ग. च. ज. पाठः । विसृतप्रसृतशब्द-
योर्न कोऽपि भेदः ।
२७ तनवः इति विशेषणम् ।
३२० १ सिलिकं = शीर्षम् ।
४ आदित्यो मूर्धा सर्वेयां भूतानां राजा वेति गार्ग्य आदित्य-
मुपासांचक्रे ।
१९ आप्नुवन्ति स्वर्गपथमुदयादारभ्य यादवस्तमयामिति ।
३२१ २-३ ' आदित्यात् ' इत्यस्य स्थाने ' सृतात् ' किमर्थं प्रयुक्तमिति
न ज्ञायते ।
११ शकुभ्राभुयात् (ठ. ड. पाठः) = शकुनुयात् + आभु-
यात् । कोऽन्य एनमश्वमास्थातुमानुयात् । एतादृशाश्वमाति-
रनक्या ।
१३ ' नियमेन रज्जुं गृह्णाति ' (पाठभेदः) इत्यत्र ' नियमेन ?
इत्यस्य न किमपि स्वारस्यम् ।
१४ ' निस्तप्यन्तः ' इति पाठः साधीयान् ।
३२२ ११-१२ ' अथ यदि गार्हपत्योऽनुच्छेत् । अरणी वाच स गच्छति ' ।
(शत० ब्रा० ६ । ६ । ४ । १३) ।

पत्रं

पङ्क्तिः

३१६

५ कर्मणां क्रियमाणानां = प्रारब्धापरिसमाप्तानां कृष्ययज्ञादि-
लक्षणाणाम् (इदं सायणभाष्यस्थं विवरणं) च. ट. पुस्त-
कयोः प्रान्ते लिख्यते ।

६ कर्माणि तत्कर्तारश्च सूर्येणावगण्यन्ते ।

‘ विततं तेषाम् ’ इति पाठान्तरमसंबद्धमेव । ‘ विततं ’
शब्दः पुनश्चोच्यते । ‘ मिततां तेषाम् ’ इति पशुषणादरे ।
स्पर्धमानान् पश्यतो वा ताननादयः ।

११ ‘ आत्मनि युनक्ति ’ इत्यन्ययः ।

१२ सहस्थानं = सर्वेषां रसमादातुमेकं स्थानम् ।

१४ अधमिश्रयन्ती = सर्वत्र मिश्रितं प्रमृतम् अहः विमुञ्चती ।

१८ यदि तमो वाससोपमीयते तर्हि ‘ इव ’ इत्युपमावाचकेन
शब्देन ‘ वासः ’ इत्यस्यानन्तरं भाव्यम् । ‘ रात्रीष ’
इति प्रयोगे यास्कोदेशो न ज्ञायते । कदाचिदुपप्रेक्षार्थं ‘ इव ’
स्यात् ।

३१७

१४ यदा स्वप्रकाशरूपं कर्म पुनर्निधत्ते = यदादित्य उदेति ।

१५ अस्तमयं प्रति = अस्तमये ।

१६ ‘ अस्तम्युपमाशब्दे ’ इति ग. ज. पाठः सार्धयान् ।

१९ तस्य वासःशब्दस्य ‘ वेसरमहः ’ इति यास्केनैवाग्निम्
खण्डे व्युत्पत्तिरुक्ता ।

२१ ‘ रात्र्यैव ’ इत्यवधारणम् । अत्र उपमार्थ उपप्रेक्षार्थो वाच-
स्पकः । तस्मात् ‘ रात्र्यैव ’ इति पाठः साधुः । ‘ रात्र्यैव ’
इत्युपप्रेक्षा न तूपमा ।

३१७

२४ ‘ नि अधात् ’ इति पदच्छेदः च. पुस्तके ‘ नि ’ इत्युप-
सर्गस्य विशेषावधारणार्थं क्रियते ।

२५-२६ ‘ यदा चोत्तिष्ठति (तदा) व्यदर्धः ’ इति ‘ तदा ’ पदम-
वश्यम् ।

२६ ‘ व्यधात् = व्यदर्धः विदारयतीति वेदभाष्ये पाठः ’ (च.
ट.) । इदं ठ. ट. पुस्तकयोर्वृत्तावन्तर्भाव्यते । ‘ व्यदा-
धान् ’ (ग. पाठः) ‘ व्यवदधात् ’ (ज. पाठः) इत्यत्र
‘ व्यदर्धः + व्यधात् ’ इत्यस्य मिश्रणं क्रियते ।

पत्र

पङ्क्तिः

३२४

(मनेन आ) + न् (+ ई) + य (ते) ।

अथवा । १६ कन्यते काव्यतेऽसौ कन्या ।

१५-१६ ' कमनेनानीयते ' (= भोगेच्छया पतिगृहमानीयते) इदं
' कनतेर्वा स्यात् ' इदं च दुर्गो न व्याख्याति ।

१९ ' सप्तम्येकावचनानि ' इति च.पाठो निरुक्तमूलपाठः
(३) स्यात् ।

२१ कन्ये इव कन्यके । ' इवे प्रतिष्ठितौ ' (पा० ५ । ३ ।
९६) । शालभाजिके इत्यर्थः ।

२०-२१ ' एकस्मिन् दारुमये पादपीठे यस्मिन्नाधिरुद्धे कन्यके शालम-
जिके वा ' इति च.पाठः सुगमः ।

विदेधे नवे वृषदे अर्मके (१७) = एकस्मिन् दारुमये
पादपीठे यस्मिन् द्वे कन्यके शालभाजिके वाधिरुद्धे
इत्यन्वयः ।

' अधिरुद्धेषु पादुका ०.०० यमनस्थानेषु ' (पाठभेदे)
इदं व्याख्याया अन्ते (३२५ । ९-११) वर्तमानमत्रा-
नवश्यम् । निःसंशयं केनाप्यज्ञानादत्र लिखितम् ।

२२ तत् = पादपीठम् ।

३२५

१ विकुपितः = निष्कृष्टः । छिद्रपुक्तः कृत इत्यर्थः । कन्यके
(चित्ररूपे पुत्तलिके) विदे । तयोरबोभागो विकुपितः ।
ते पुत्तलिके दारुमयपादुकयोर्द्वे स्थापिते । ३ अश्वे =
अश्विनी ।

विद्वयोर्दाहपादोः प्रवचनानीति यास्कः (३२४ । २) ।

३ सूर्यमार्या शरण्याः विमनस्का सत्यम्वा भूत्वा प्राद्वत् । तस्याः
प्रादी खुराकारौ । अश्विनीनक्षत्रे द्वे तपोः खुराकारः ।

४ उपादानं (प.ठान्तरं) = प्रयोगः ।

६ ' दूधातुर्धातुपाठो न वर्तते । ' ' दूष्ण हिंसामतिकौटिल्येषु '
(था० ६ । ५६) । तस्य ' दूष्णति ' न तु ' दूष्णाति '
रूपम् ।

७ अन्यतरस्य = अन्यतरस्मात् ।

८ निरुक्तमूले ' तस्मात् ' (३२४ । ४) इति पाठो न तु
' एतस्मात् ' ।

पत्रं

पङ्क्तिः

३२२

१३ सा = आपः । अयं प्रमाद एव । ' ताः ' इत्यवश्यम् ।

१७ अनुगच्छन् = उपशाम्यन् (२) ।

२३-२४ स्वपुरुषैर्वदध्वानीतं वसिष्ठं दृष्ट्वा विश्वामित्रो ब्रूते । हे जनाः मम सायकस्य (बलं) न चिकित्ते ज्ञायते भवद्भिः यस्मात् भवन्तः लोभं लुब्धम् एतं वसिष्ठं पशुं मन्यमाना नयन्ति । वाजिनाः अश्वाः अवाजिनम् अनश्वम् अश्वजतेभिर्न गर्दभ-सदृशं प्राणिनं न हासयन्ति हेप्राशब्दं न कारयन्ति । अनश्वः अश्वसंनिधौ मूक एव तिष्ठति । अश्वापुराः अश्वस्य पुरतः गर्दभं जना न नयन्ति । अत्र विश्वामित्रः अश्वः वसिष्ठः गर्दभः । एवमिषमृगं विश्वामित्रस्य द्वेयं दर्शयति (३२३ । १-२) ।

३२३

२-३ अयं निश्चयो वेदावमाने कथं न पर्यवस्यति ।

१० मउगस्य (ग. च. ज. पाठः) प्रयोगस्य स्थाने । ' प्रउ-गम् ' इत्युक्त्यनाम शस्त्रनाम वा न तु ऋषिनाम ।

१४ ' दीर्घश्रोतृभ्यः ' इति प्रामादिकं ' दीर्घश्रोतृषु ' इत्यावश्यकम् ।

१७ पक्षेण = अवगमपक्षे । अवगते सती अनेकार्थे । ' विदध्रे हुपदे ' इत्येताभ्यां शब्दाभ्यां दारुपादौ कन्यके विशेष्येते । अथवा । कन्ययोरधिष्ठानमेते प्रवदतः ।

१८ दारुपादद्वौ (पाठान्तरम्) = दारुपादूः + दारुपादौ । निरुक्तमूले छ. पुस्तके ' दारुपादौ ' (३२४ । ३) इत्यशुद्धः पाठः ।

१८-१९ ' हुममये पदे ' इति सप्तम्येकवचनम् । ' दारुपादौ ' (कन्यके) इति प्रथमाद्विवचनम् ।

३२४

२ ' कन्ययोरधिष्ठानप्रवचनानि ' : इत्यस्य प्राक् ' विदध्रे नवे हुपदे अर्भके ' इत्यावश्यकम् ।

५ ' अश्मयोः ' (छ. त. द. पाठः) इति छेत्त्वप्रमादः ।

१३ कन्या = क (+ म) + न् (+ ई) या । अथवा ।

१४ क (= क) + न् (+ एत्) + या । अथवा । १९ क

पत्रं

पङ्क्तिः

३२९

१९ 'आविष्करोति' इत्यशुद्धं रूपम् । 'कृन् हिंसायां ?
(धा० ५ । ७) । अत्र हिंसार्थो न वर्तते । 'डुकृन्
करणे' (धा० ८ । १०) ।
उखा इति च.पाठः छ.पुस्तकस्थपाठसदृशः (३२८ ।
१२) ।

२२ कर्तव्यतया = अन्नं कर्तव्यं पाकसिद्धिः कर्तव्येति हेतुना ।
२४ 'बोधयन्ती' इति रूपेण वाक्यमपूर्णम् । 'बोधयति'
इति स्यात् ।

२५ हितकर्तव्यार्थे (घ. ट. पाठः) हि तत्कर्तव्यार्थे (ठ. ड.
पाठः) द्वावप्यपभ्रंशौ 'इति कर्तव्यार्थे' इत्यस्य ।
'बुध्' (धा० ४ । ६६) आत्मनेभाषः । 'प्रतिबुध्य-
न्ति' इत्यशुद्धम् ।

३३०

९-१० मक्षिकान्यान् कथं बोधयति ।

१५ 'पृश्निष्ये दुग्धे प्रियङ्गवं चरं निर्वपेन्मरुद्गयो.प्राप्तकामः । प्रिय-
वती याग्यानुवाक्ये भवतः' (तै० सं० २ । २ ।
१९) ।

१६ प्रियङ्गवो मरुतां प्रिया यस्माद् द्वावपि पुरुषा जातौ (तै०
सं० २ । २ । ११)

१७ श्रियोऽर्थाय = श्रियं प्राप्तुम् ।

१८ आत्मने = पुरोहितस्य ऋत्विजो वा स्वार्थाय ।

२० मिमिक्षिरे । 'मिह संचने' (धा० १ । १०१७)
इत्यस्मात् ।

२१ सु + खादयः । खादिः आभरणविशेषः । तानि आभर-
णानि मरुतामंसेषु हस्तेषु पादेषु चासन् । सुखादयः =
खादियुक्ताः ।

५ वाश्यते शस्यते उच्चार्यत इति वारी कर्मणि करके ।

१६ आभिमुख्येन देवतामुद्दिश्यामिमुखं गच्छतीति आभिमुख्य-
गामि । 'अभिवोद आभिमुख्यगामि' इति ग. ज. पाठः ।

अभिवोद सत् देवान् बोदुम् आनेतुम् अभिमुखं गच्छति ।

१८ युक्तरूपः = योग्यः ।

३३१

- पत्रं पङ्क्तिः
- ३२५ १० 'पादुका पादूः उपानत्' (अमरः २ । १० । ३०-३१) ।
- ३२६ ५ 'उत मे प्रयियोः' इत्यस्या भ्रूचः सायणभाष्यं न वर्तते ।
८ येन धनेन प्रगम्यते संसारयात्रा निर्वाह्यते तत् । १३ तं
साश्च गा इत्यन्वयः ।
- २५ मीहल्लुपः ('मिह सेचने' धा० १ । १०१७) =
सेक्तृन् ।
- ३२७ २ 'आप्तत्वात्' इति ग. च. ज. पाठः साधीयान् । यस्मा-
न्मरुत इन्द्रस्याप्ताः ।
- ५ पुनः पुनः वृष्ट्यादि कृत्वा ।
- ७ 'हेट् अनदरे' (धा० १ । २८५) । मरुप्रसादात्
एनसि अस्माकम् आदरो न वर्तते ।
एनः (एनसः) लज्जामहे । मरुतोऽस्मानेनसो लज्जयन्ति ।
- २०-२१ सोमो भूयस्त्वेन क्षीरादिकमाशिरमभिमवति । मिश्रगे सोम-
रसाधिक्येन क्षीरादि न ज्ञायते । सोमाशिरमिश्रणं तृतीयापस-
वने क्रियते ।
- २२ वचनवत्त्वेन = स्तुतियुक्तत्वाद्देतोः । 'वचनवत्त्वेन' इत्य-
पपाठः । 'पटुवचनेन' ठ. ड. पाठः सुगमः । परव-
चनवत्त्वेन (ग. ज. पाठः) = पटवः वचनवत्त्वेन । परव-
चनवत्त्वेन (ट. पुस्तके पाठान्तरं) = परस्य वचनवत्त्वेन ।
सोमः पातुवचनं करोति ।
'सूत्रे इदमाहृतं ब्राह्मणे इदमाहृतमित्यादिप्रयोगदर्शनादाह-
तिर्वचनार्थः' (निघ० भा० ४ । १ । २३ ॥ निरु-
क्तशक्तिः पत्रम् ८ । २०) ।
- ३२८ ९ भासाप्पूहः इति छ. त. द. पाठः । किं तु 'वक्षः-'
शब्दो नपुंसकः ।
- ३२९ ८ अप्यूहं = उपरि स्थापितम् ।
९ आदिह्येनास्तिष्ठ उप आदिन्यस्य वक्ष एव दृश्यते ।
१७ नोधाः = नवनं + धा ।

पत्रे

पङ्क्तिः

३३४

२-३ 'इण् गतौ' (धा० २ । ३५) । तस्माद्व्युत्पाद्य । 'पूर्व-
प्राणिमर्गविमोचने' (धा० २ । २१) । तस्माच्च
व्युत्पाद्य ।

४-५ अन्येषां शब्दानामनेकार्थत्वमनेकधातुत्वम् । अयं त्वने-
कार्थ एव ।

७ संस्कारः प्रकृतिप्रत्ययादिः । स नैव ज्ञायत इति केचिद्व्रते ।
ज्ञायत इति दुर्गः । द्वयोरर्थयोः को भेद इति न ज्ञायते
यस्माद्वयोरपि न निश्चिता प्रकृतिः ।

१२-१३ पुराणेन नवं धान्यमुत्पाद्यत इति पुराणेन नवस्य रक्षणं
स्यात् । नवे च धान्ये पुराणं वर्तत इति नवेन पुराणस्य
रक्षणम् ।

१५ उपदयाशब्दः कोशेषु न विद्यते । 'दय दानगतिरक्षण-
हिंसादानेषु' (धा० १ । ४८२) ।

१९ 'राह्मणस्य' सायणभाष्ये न वर्तते ।

३३५

२ अप्रतिस्खालितः = केनापि शत्रुणा स्खलनमपयावन्न
प्रापितः ।

४ 'अन्यत्र' 'अन्यत्' (५) वा व्यर्थम् ।

५ यस्मिन्वाक्ये वसुशब्दे वर्तते तस्मिन्नेव वाक्ये श्रूयमाणं
इन्द्र ईशानः सन् हवींषि दाशुषे यजमानाय दानविभागा-
म्यामन्पार्तिकं कुर्यात् । वसु दद्याद्विभवेद्वा ।

१६ देवपणयः = देवैर्वणिग्व्यवहारं कुसीदशंसं कुर्याणा असुराः
(असीरियादेशजाः) । 'पणिर्वणिग्भवति' (निह०
२ । १७) । १८ 'अशनिर्द्रयोः' (अमर० १ । १ ।
५०) इत्यशनिशब्दस्य स्त्रीलिङ्गं पुंलिङ्गं वा ।

१८ क. ख. घ. ङ. ट. पुस्तकेषु सायणभाष्यस्याः शब्दा
गृह्यन्ते यथा पठान्तरे 'अशनिर्वज्रः' ।

२० प्रसहनं प्रसयनं (ग. ज. पाठः) वा कोशेषु न विद्यते ।
प्रसहनम् = आस्कन्दनम् अभियोगः । प्रसयनं = प्रबन्धनम् ।

२१ छिन्नाः (प्लुता ईप्लुता वा) भिन्नाः (मत्सोभूताः)
अवसृज्याः (अर्थदग्धाः) एषं - यथासंख्यविशेषणानि ।

पत्रं

पाङ्क्तिः

३३२

- १ एतच्छ्रपठने दीर्घकालोऽवश्य इति भयात् ।
 २ वाक्सङ्गः (ग. ज. पाठः) = वाक्प्रतिबन्धः । मम वाचं
 न किमपि प्रतिबध्नाति । ' वाक्सघम्यं गोस्ति ' इति च. —
 पाठो दुर्बोधः ।
 ३ ' उभयथापि तु ' इत्यत्र ' तु ' अनवश्यं यतः ' ऐन्द्री
 त्वेव शस्यते ' इत्यत्र ' तु ' वर्तते ।
 ४ अस्या श्च ऐन्द्रत्वे न वादः । ' बाहः ' इत्येकमेव पदं वाद-
 विषयः ।
 ७ ' उक्तुमिति ' इत्यत्र ' उक्तुम् ' इति वाक्यसमाप्तिः ।
 ' इति ' ' नवमाध्यायस्य ' इत्यनेन संबन्धव्यम् ।
 ६ अयं मन्त्रस्तैत्तिरीयसंहितास्थ इति कृत्वा च. ट. पुस्तकयोः
 प्रान्तभागे लिख्यते ठ. ड. पुस्तकयोश्चान्तर्भाव्यते ' तैत्तिरीये
 अनाधृष्ट० ' इति ।
 ९ तन्नं शरीरं न पातयति न विनाशयतीति तन्नूत्ता जाठरोऽ-
 मिः । तन्प्रीत्यै गृहीतमाज्यं तानूनध्रम् । परस्परसखिभावाय
 तदाज्यमृत्विग्भिः संस्पृश्यते । ' तानूनध्रमुपयन्त्यृत्विजो यज-
 मानश्च । युगपत्समवमुश्यानाधृष्टमसीति जपन्ति ' (मान०
 श्रौ० २ । २ । १ । ३-४) ।

३३३

- १० समयः द्रोहं न कुर्म इति शपथः कृतस्तेनोपयन्त्रिता अव-
 रुद्धाः ।
 १३ ' अनभिशास्तेन्यम् ' (६.) इति ' भैत्रायणीयपाठः ।
 ' अनभिशास्ति ' इति पाठो दुर्गेण कृत उपलब्ध इति
 न ज्ञायते । च. ट. पुस्तकयोः ' अनभिशास्ते ' इति शुद्धी-
 कियते । ' अनभिशास्ति ' इति ' अनभिशास्तेन्यम् ' इत्य-
 स्यार्थः स्यात् । हे घृत त्वम् अनभिशास्ति असि आत्मना । वा
 अथवा केनचित् अवभिशांसनीयमसि । ' आत्मना वा '
 इति व्यर्थम् । ग. ज. पुस्तकयोः ' अनभिशास्ति दे घृत '
 नास्ति ।

३३४

- १ अनेके विकल्पा यस्याः सौनेकविकल्पा । अनेकविकल्पा
 प्रकृतिर्यस्याः सा ।

पत्रं

पङ्क्तिः

३३८

७ व्यूढस्य पठेऽहनि 'इत्याधलापनश्रौतसूत्रे (भाष० श्रौ० ८।८) । क. ख. च. पुस्तकेषु 'पृष्ठस्य पठेऽहनि' इति ।

१४ 'निर्जगाति' इत्येतस्य स्थाने 'निर्जानाति' इति (मैत्र० सं० १।८।२) कर्त्तुं 'अन्वप्री' इत्यस्य स्थाने 'अत्यग्निम्' इति च । अविद्वान् शयानां गां मृतां मन्वते वस्तुतस्तु सार्धं प्रविष्टा । तस्मात्पशूनामग्निनिवासः ।

३३९

१८ अपतः (पाठान्तरम्) = अतः + यतः ।

३४०

६ 'न्यकुपारणं' (पाठान्तरम्) अप्र 'अ' न्यसदृशः । तेन 'अकु०' 'न्यकु०' इत्येवं लिखितम् ।

९ समाम्नायेषु (पाठान्तरम्) = समाम्नातपदेषु । निघण्टुकारेण किंकारणमेते पदे व्यरास्ते इति न ज्ञायते । 'दावने' शब्द आग्नेदे वङ्कत्वः प्रयुज्यते । तस्य स्वातन्त्र्येणार्थः कर्तव्य इति स प्रथममुपात्तः । 'अकूपारस्य दावने' इति क्रमेऽस्यामेवार्थः 'दावने' इत्यस्यार्थः कर्तव्य इति भवेत् । 'अकूपारस्य' 'अकूपारः' इति च सकृदेव प्रयुक्ते उपलभ्येते ।

१२-१३ अविवक्षितः अनुक्तः स्वार्थो यैस्ते निगमा वैदिकशब्दाः । पाठान्तरे अविवक्षितः अर्थो येषां ते । निगमानां वैदिकशब्दानां स्वार्थः कथं न विवक्षितः ।

१३ संपत्त्या = समारण्या काकतालीयन्यायेन आकस्मिकतया । 'संपत्त्या' इति शब्दो नावश्यकः । निगमे = ऋचि ।

१४ 'यथापाते' (पाठान्तरम्) श्रामादिकं 'यथोपाते' इदम् । 'यथोपाते' (पाठान्तरम्) = यथोपागते ।

२४ कच्छः कूपेऽपि वर्तते । संपुटे कच्छशब्दः कोशेषु न दृश्यते । 'शानिवाच्यः कच्छपुटः' 'पाणिकच्छपुटः' वा कस्यात्कोशादुद्धृतमिति न ज्ञायते ।

३४१

७ 'आदित्योऽय्यकूपारः' इत्यस्योदाहरणम् (ऋ० सं० ३०।१०९।१) । समुद्रकच्छार्थे अकूपारशब्दो न वैदिकः ।

पत्रं

पङ्क्तिः

३३६

१० अङ्गिः पूर्णाः (९) इति मेघाः पुरः ।

१५-१६ ' य इन्द्र एतदकरोत्स किं विदद्भस्त्वैनैकेनैव गुणेन युक्त आसीत् ' इति रचितं वाक्यं युक्तम् । अथवा । ' यः सः ' इति त्याज्यम् ।

२१ दुर्गप्राप्ते निरुक्तमूले ' मां वायसो दीपो दयमानो अब्रु-
धत् ' इत्येक एव पाद आसीत्तेन ॥ ' मृग्योऽत्र शेषः ' इति ब्रवीति । अस्या ऋचो मूलं नाद्यापि लब्धम् ।

' अहम् ' इति क. ख. छ. त. द. पाठो (३३२ । १५) न तु ' अयम् ' इति । मृगालाभे पाठनिधयोऽशङ्क्यः ।

२४ ' दीङ् विहायसा गत्तौ ' (धा० ४ । २९) । दयमानो-
ऽङ्गीयमानः (घ. ट. पाठः) = दयमानः + उङ्गीयमानः ।
संधिः प्रामादिकः । निपातानामत्र न किमपि प्रयोजनम् ।
निपातप्रकरणे तत्पठनमावश्यकम् ।

३३७

१३ ' कतमत् । बहनम् । उद्दिश्य यत्कर्म ' इति वाक्यरचना-
वश्या । ' बहनं ' पदमस्थाने पतितम् ।

१५ अर्थाय = तच्छ्रुते ।

१६ ऋचि ' गातुं ' (८) न तु ' गमनं ' पदम् । ' किम् ।
गमनम् ' गमनशब्दस्य व्युत्पत्तिश्चानवश्या ।

१९ घ. ट. पुस्तकयोः ' कारेणा उ गृह्यते ' इति लिख्यते ।
ठ. ड. पुस्तकयोस्तत् ' कारेणा उत् गृह्यते ' इति शुद्धी-
क्रियते । पुराणपुस्तकेषु ' नु ' ' नु ' इत्येवं लिख्य-
ते । सोऽज्ञानाद्देवकैः ' उ ' इति गृहीतः । अहानपरं-
परया च स ' उत् ' इति कृतः । ' नाममविष्यन् ' (ट.
ड. पाठः ३३८ । १) इत्यत्रापि तदेवाह्वानम् । ' ना-
मविष्यन् ' इति मूळपाठः । ' मम ' योः सादृश्यात् ॥
' नामविष्यन् ' (घ. ट. पाठः) इति लिखितः ' नाम-
मविष्यन् ' इति च शुद्धीकृतः ।

३३८

२ ' इह ' (३३२ । १७) । तत्र = नयेत्यर्थः ।

३ नक्षत्रादिभिर्नो नृचिदिनस्य ।

- पत्रं पङ्क्तिः
३४९ ९ 'पुण्यं' [३४४ । ९] वृत्तौ न निविपते ।
१२ 'सुमपुत्रं भुञ्जुं समुद्रस्योपरीति वा' इति ठ. ड. पाठः
-ठ. पुस्तके प्रान्तभागे लिखितात्सायणभाष्यात् ।
१७-१८ मुकन्यां ध्वनभार्या दृष्ट्वा तद्रूपेणाभिनी कामाविष्टौ बभूवतु-
जराजजरितं च पतिं सक्तुं-साम्भुदिदिशतुः । पतिपरापणा-
यास्तस्या निश्चयं ज्ञात्वा एनं युवानं रूपसंपन्नं कारिष्याव-
स्ततस्त्रिष्वस्मासु यस्तुभ्यं रोचिष्यते तं वृणीष्येति तामुचतुः ।
समर्तृकया तया तद्वचस्पङ्गीकृते त्रयोऽपेकं जलाशयं प्रविषि-
शुर्बहिरागतश्च समानरूपं दृष्टशिरः । तथापि सा स्वपतिमेव
चित्रे (महा० वनप० १२४) ।
३४७ १२ 'लोकाद्देन' ह' इति च. पुस्तके शुद्धीकरणम् । कदा-
चित् 'लोकाद्देन' हते' इति शुद्धीकरणं स्यात् ।
१३ स्वःसाम् = स्वः स्वर्गं सनातीति स्वःसा आदित्यस्तम् ।
१६ पौर्णमासस्याग्रेयस्य हस्तिनो याग्येया (मैत्रा० सं० ४ ।
१० । १) ।
२२ 'स्त्रियः पवित्रमनुलं मैत्रा दुष्यन्ति कर्हिचित् । मासि मासि
रजो ह्यासां दुष्कृतान्यपकर्षति' (वासिष्ठधर्मशास्त्रम् २८।४) ।
३४८ ३ रजःशया रजसि (रजते) शेते इति । अयःशया =
अयसि शेते इति । हरःशया हरसि हिरण्ये शेते
इति । 'अयाशया रजाशया हराशया' इति रूपाणि
(तैत्ति० सं० १ । २ । ११ । क.ठक सं० २ । ८ ।
मैत्रा० सं० १ । २ । ७) । 'हरःशया' इति रूपं
कस्यां संहितायां वर्तते इति न ज्ञायते ।
'हरःशया = हरिशयाना इति माध्यंदिनाः । हरितमुव-
र्णशोभिनीत्यर्थः' (च.) । 'अयाशया रजःशया हरि-
शया' (कात्र० सं० १ । ५ । ८) । 'हरिशया =
हरितमुवर्णतायिनी' (तस्यैव महाभरभाष्यम्) ।
'नमस्ते हरसे शोचिरे' (का० सं० २१ । ७ । मैत्रा०
सं० २ । १० । १) । 'सूर्यस्य हरमे त्वा' (मैत्रा०
सं० ४ । ९ । ३) ।
१८

पत्रं

पाङ्क्तिः

३४१. १७ दुरवाः = दुःखेन रक्षणीयाः ।
३४२. ११ आवक्षि = आवहसि ।
- १३ सर्वेषु लिखितपुस्तकेषु ' आसीदसि च । 'होतृत्वेऽग्निरि०' एवं वर्तते । अयं विपरिणामोऽनवश्यः । 'सुतुक्त्रेऽग्निरि०' सुतुकेभिरन्वैः' इत्येतत्संबोधनं विनैव सार्धम् ।
- २१ अश्वद्वारेण चाग्निः श्रूयत इति वाक्यशेषः । प्रजाप्रशंसाया- मश्वप्रशंसा । अश्वप्रशंसायां चाग्निप्रशंसा । इयं न साक्षा- त्प्रशंसा ।
- अथवा स एवाग्निः साक्षात्स्तूयते सुतुक्त्रः सुप्रजा इति । 'अश्वद्वारेण चाग्निः स्तूयते' इत्यन्वयोऽपि साधुः ।
३४३. ९ ट. पुस्तकप्रान्ते लिखितः 'प्रेष'शब्दः ठ. ड. पुस्त- कयोस्तर्भाभ्यन्ते ।
- १२ 'कपिताः' (पाठान्तरम्) । 'कप हिंसायाम्' (धा० १ । ६ । ८६) ।
- १७ द्वारोद्घाटने कपाटानि संचार्थन्ते न तु संचिद्यन्ते । 'संचरणः = ' पाठः प्रामादिकः ।
३४५. १० विश्वतः' इत्यस्य 'सर्वतः' सर्वदेव' इति द्वावर्थौ दुर्गेण कृतौ ।
- ११ 'कैश्चिदपि दस्युभिः अनुपहताः' इत्यन्वयः । अथवा । 'कैश्चिदपि दस्युभिः अपरीतासः' इत्यन्वयः स्यात् । अयं संदेहः 'अविगुणाः' इत्यनेन पदेनोत्पादितः । अनुपहताः कैश्चिदपि दस्युभिः । अविगुणाः इत्यर्थः । एवं वाक्यरचना माधीयन्ती ।
- १६ स्युःस्थाने 'असन्ने' इति पाठो न कश्चिदपि पुस्तके लभ्यते । दुर्गेण केषुचिन्पुस्तकेष्वयं पाठो दृष्टोऽन एव 'असन्नित्येष प्रमादपाठः' इति न वदति ।
- २० 'रक्षजं हि सति' इत्यत्र 'सति' पदं व्यर्थम् ।
३४६. १ इतरथा = व्यर्थमिति स्वरजं ।
- ८ 'व्यावृत्तिराम् = देवान्नि प्राप. (च. वाम) दितारम्' (च. ट.) । इदं ठ. ड. पुस्तकयोस्तर्भाभ्यन्ते ।

- पत्रं पङ्क्तिः
- ३५१ १८-१९ दुर्गन्धीकृतनिरुक्तमूले त्वामिन्द्रेति सर्वा ऋङ् न विद्यते । यतोऽसौ ' गोभिः कृत्वा अनुपतेति निगमः । गोभिः कृत्वाणा अस्तोपतेति निर्वचनम् । त्वामिन्द्रेति शेषः ' इति वदति ।
- ३५२ ३ ' गोमिरिन्द्रस्यामिमुख्यकरणात् ' इत्यन्वयः । श्रुतिभि-
रिन्द्रः सोमाभिमुखीक्रियते ।
- ३५३ ५ अनङ्गान् धुरि युज्यते धुरोऽधस्ताच्च सोमः नाद्यते । एवं मदेसः सामास्यः साधारणोऽस्यामुपमायाम् ।
८ सोमांशवः = सोमपर्णमगाः ।
१३ ' यमानिखेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवानिष्टु । शुक्रादिकापि-
भेकेषु हरिर्ना कपिष्ठे त्रिषु । कोशात् ' (ट. ठ. ड.) ।
अमरकोशोऽयम् ३ । ३ । १७४ ।
१९ उक्तीयमानसूक्ते = चमत्पृथ्वीयगाने सोमे यत्सुकं पश्यते तस्मिन् ।
- ३५४ ४ ' शिश्रदेवाः = शिश्रैरपरायणाः ' (ट. ठ.) ।
१२-१३ त्रयः प्रतिनिविधा अत्र । त्रयः पुरुषा अत्र प्रतिनिविश्यन्ते ।
' एतेयाम् ' इति पदं स्वर्थम् । ' प्रतिनिविद्वन्तेषु ' इति पाठः सधीर्चीनः ।
१३ अर्थवृत्तस्य मनुष्यस्य यज्ञाभिगमनं विपयो यस्य ।
१५ त्रिपुणस्यो विपमस्य वाचक इत्यस्य हर्म्यम् ।
१७ अर्थस्य सतत्त्वं तत्त्वं तात्त्विकस्वरूपम् ।
१९ ' अपिगुः ' इत्यत्र गाह् धातुर्न तु गमिः ।
२२ अन्यतमस्मिन्नर्थे । अन्यतमे इति शुद्धं रूपं न तु ' अन्यत-
मस्मिन् ' ।
अस्मिन् (१९) खण्डे छ. त. द. प. टा दुर्गमंगता यत-
स्तेनेस्तेषु पुस्तकेषु निघमानान्यधिकानि वाक्यानि न
स्तिविद्यन्ते ।
- ३५५ १४ कलिपुगस्य जन्ते मध्ये ।
- ३५६ ७ अवसनात् = निरुत्तराणां व्यापेषु । ' व्यापानम् ' इत्यस्य
दिर्नयोऽर्थः त्रिषु स्पर्धम् ।

पत्रं

पङ्क्तिः

३४८

६ 'लोका' हरा उच्यन्ते ' इति छे. त. द. पाठः (३४४)
१४) ग. ज. पाठश्च ।

१७-१८ वेदप्रामाणिकाः = प्रमाणम् अधीते वेद वा असौ प्रामा-
णिकः । वेदे प्रामाणिकाः वेदप्रामाणिकाः । केन सूत्रेण
प्रामाणिकरूपसिद्धिः ।

३४९

७ 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुष्विति कोशात्' (ट.) ।
अमरकोशोऽयम् (३ । ३ । ९३) ।

९-१० ' ये विद्वांसः स्तुतिभिस्त्रेर्पाधात्म्यं पश्यन्तः ' इत्यन्वयः ।

१३ ' दधिरे ' इति ट. पुस्तके प्रान्तलिखितं ठ. ड. पुस्तक-
योस्तर्मान्यते ' दधिरे धारयन्ति ' इति ।

१७ पश्यति अर्थो यस्य स पश्यत्यर्थस्तस्म भावः पश्यत्यर्थता ।
सा उपपद्यते । पाठान्तरे ' अपि'गन्दस्य न किमपि स्वार-
स्यम् ।

३५०

७-८ ' अन्यत् ' ' अन्यत्र ' वा व्यर्थम् ।

२० यदा उष्मे पयसि दधि मिश्रीक्रियते तदा तद्वन्मं सांनार्यं
भवति ।

३५१

३ अपि सः = सोऽपि । ७ यदेतत् आज्यस्य तत्पित्राम् ।
' यदेतत् ' इत्यस्य च विवरणं ' एवं भागम् ' । ' किंचि-
दाज्यस्य ' इति शब्दौ यजुर्मन्त्रे प्रयुज्येते । उपस्तरणामि-
घरणसंबद्धम् = आजः मन्त्रेण उपस्तरियते अभिघा-
र्यते च ।

८-९ उस्त्रिवायाः पयसा निष्पन्नस्येति दुर्गृहीतिस्थाः शब्दाः ।
ऋचि तु ' पयस उस्त्रिवायाः ' (३९० । १३) इत्येव ।
उस्त्रिया गौः । तस्याः पयसो निष्पन्नम् आज्यं पयस्या च ।
एतद् द्वयमृचि न श्रूयते किंतु प्रतीयते । ' श्रूयमाणे ' (९)
इति सप्तमी न प्रथमाया द्विवचनम् ।

१५ ' उस्त्राविणः ' इति निरुक्तमूलपाठः ग. च. ज. पाठश्च ।

किं त्वयं दूर्बोधः । ' उस्त्राविणः ' इति मुबोधः । ' उस्त्रा-
विणोऽस्यां भोगा ऊर्ध्वं श्रवन्ति गच्छन्ति क्षीरदधिनवनी-
तक्रमेणेति स्कन्दस्वामी ' ।

पत्रं

पङ्क्तिः

३५८ ॥ ऋचः पूर्वाध्वं मातृशब्द उपात्तस्तत्संबन्धात् पिता पितैव ।
पितृशब्दस्य पाता वा पालयिता वेत्यर्थो न करणीयः ।

८ पितृभूतो मातृभूतश्चायं पर्जन्यः । पिता माता चेत्यादि दुर्बो-
धम् । 'मन्येते' इति च.पाठः । पिता माता चायं
पर्जन्यः । एतस्य पर्जन्यस्य मानवौ मातापितरौ आशास-
नम् आज्ञां मन्येते । तस्याज्ञां मन्येत पालयेत् । आशासन-
शब्दः कोशेषु न विद्यते । अथवा । 'अयं पर्जन्यः पिता
माता च । एतत्पर्जन्यस्य पितृत्वं मातृत्वं च ईश्वराङ्गेति
मन्येत' । सर्वेषु पुस्तकेषु 'पिता माता चायमेतदाशासनं
मन्येत' (च. मन्येते त) इति लिख्यते ।

९ 'रपो रिप्रम्' (३५६ । २०—२१) एतौ शब्दौ
निघण्टौ न दीयेते ।

१० एवम् = शंयोरिति पञ्चम्यन्तरूपे ।

८-१४ इदं च.पुस्तके ट.सदृशपुस्तकानुरोधेन शुद्धीकृतम् । तेन
'कारणेन' तन्मूलपाठः कचिदुरीक्ष्यः । मूलपाठोऽपि दुर्बोधो-
द्भवाद्गृहीतशब्दत्वाच्च । 'मन्येते पञ्चम्यन्तं वा पष्ठम्यन्तं नां
वा सन् न चैवं यजमानेना (?) र्थं नाप्येतस्माद् बृहस्पतिपुत्र-
कस्य शंयोर्मन्येते पितरः किञ्चिदर्थं विदध्पुरिति किं कारणम् ।
स्थत एव हि ते विधातुं समर्थाः पष्ठमर्थमर्था तस्य किञ्चिदेभिः
पितृभिर्विधीयेतेति' (च.मूलपाठः) । 'अथा नः शंयो-
रप्रो दधात' इत्यत्र शंयोरिति पञ्चम्यन्ते प्रप्रम्यन्ते वा
सति एतदाशासनं मन्येत । बृहस्पतिपुत्राच्छंयोर्ब्रह्ममानेन नः-
पदसूचितेन किञ्चिदरपः कल्याणमाप्नास्यते तस्य शंयोर्वा
किञ्चित्कल्याणमिष्यत इत्यर्थं कश्चिन्मन्येत । किंतु पितृषु
समर्थेऽसत्तु बृहस्पतिपुत्रकात् (अरूपे कन्) यजमानेन
न किमप्यर्थ्यते । एवं पञ्चम्यर्थोऽकिञ्चिकरः ।
पष्ठम्यन्ते शंयुरर्था भवेत् । तस्यैभिः पितृभिः कीदृशमरपो
विधीयेत । न किमपि यस्मात्सोऽपि त्वर्थ एव ।
वृत्तेरयमर्थः । ग. ज. पाठोऽतीवाशुद्धः । ग. च.
जं. मूलपाठ ईदृशः स्यात् । 'शंयोस्त्वितदाशासनं' ।

पञ्च

पञ्चः

३५६

२८ अस्य-वामस्थ* इति प्रथमा ऋक् । 'मतौ छः सूक्तसाम्नोः'
(पा० ५ । २ । ५९) इत्यनेन 'अस्य वाम' इति
अस्मिन्नस्तीति अस्यवामीयं सूक्तम् ।

३५७

१-२ उपरि स्थितो व्येको यौरित्याख्यायते ।

३-४ विवाहे कन्यायाः पितास्मानं यौरिति संपादयति । तदनु-
रोधेन मध्वह्ण् यौरि पितेति ब्रवीति । ग. च. ज. पाठे
'पितरमभिसंपद्यमानम्' इति साधु भवेत् ।

४ 'पिता वा पालयिता वा' (३५६ । १४ ।)

'महती' (१५) 'बन्धुः संबन्धनात्नाभिः संनहनात्-
भ्या० ज्ञातिः संज्ञानात्' (१५-१७) इदं न

व्याख्यायते । 'उत्तान उत्तान ऊर्ध्वतानो वा'
(१८) इति च । दुर्गस्वीकृतपाठो भिन्न एव स्यात् ।

'यौरि पिता जनिता जनयिता नाभिरञ्जनाभिर्नहनाद्वन्धुर्मे
माता पृथिवी महती बन्धुर्बन्धनात् । उत्तानयोश्चन्धोर्द्वयो-

निरन्तः । उत्तान ऊर्ध्वतानस्तत्र पिता दुहितुर्गर्भे दधाति
पर्जन्यः पृथिव्या दुहिता दूरे निहिता दोम्बेर्वा' इति दुर्ग-

स्वीकृतमूलपाठः स्यात् ।

७-८ संतानोत्पत्तिरेवानुग्रहः । तदर्थं शुक्रोत्पत्तिः । उदकं शुक्रं
संतानमदीनः क्रमः । उदकदाने प्रथमोऽनुग्रहः । संतानोत्प-
त्तिर्द्वितीयः ।

९ मातुस्त्वरेऽङ्गानि संपश्यन्त इति संबन्धान्माता बन्धुः ।

१० 'यौरि पृथिवी त्वम्' इत्यादिर्वैवाहिके कर्मणि विनियु-
ज्यमानो मध्वः । 'अमोऽहमस्मि सा त्वं सा त्वमस्यमोऽहं
यौरि पृथिवी त्वं सामाहमृत्त्वं तावेह विवहायै प्रजां प्रज-
नयायै संप्रियो रोचिष्णु मुमनस्यमानो जीवेव शरदः
शतम्' (आश्व० गृ० १ । ७ । ६) ।

२० उत्तानयोः = उत्तानः तानः प्राणः ययोः ।

२५ उपकारदे = उपकारे । २५ अयं पर्जन्यः पिता माता
च दुहितुः ।

३५८

४ दुहिता दुर्हिता दूरे हिता दोम्बेर्वा (निरु० ३ । ४) ।

पत्रं

पङ्क्तिः

३६४

१३ अनुक्तयण्यां वासपिर्न तु वत्सपीः । वाज० सं० भाष्ये
वासपिरीति (वा० सं० १२ । १८)
' दिवस्परीत्येकादशभिर्द्वादशभिस्त्रयोदशभिर्वा वासपेणोपति-
ष्ठते ' (तै० सं० ४ । २ । २ । १ सायणभाष्ये
आप० औ०) ।

आसन्धां स्थापितस्योहयाम्नरुपस्थानम् ।

३६५

१ निघण्टौ (३ । १४) मन्दते न तु मन्दति ।

११ ऋजि = ऋजुः । श्व = शवति ।

३६६

२० अथर्वशिरोभिधानानामिष्टकानामुपधाने दश मन्त्रास्तेष्विषं
तृतीया (तै० ब्रा० १ । ५ । ८) ।

३६७

१९ दशस्यन् = मयच्छन् (च. ट.) एतत् ठ. ड. पुस्तकयो-
रन्तर्भाव्यते । दशसि दशस्यति वा निघण्टौ न वर्तते । धातु-
पाठे दशतिर्दशने न तु दाने ।

२० माध्यमिकाः = अन्तरिक्षे वर्तमानाः ।

३६८

१ यस्मादासैः कर्मकर्तृदस्यन्ते तस्मात् दंसयः = कर्माणि ।
' दस्यन्ते ' इत्यत्र ' दस्यते ' इति ग. ज. पाठो ' दस्य-
न्ते ' इति च. पाठो दुर्बोधः । सर्वेषु पुस्तकेषु ' कर्माण्युक्तानि '
इत्यस्यानन्तरं विरामो वर्तते ।

२ दासशब्द ऋजुशब्दायां बहुवचनः प्रयुज्यत इति निगमो न
पाठितः ।

१७-१८ हन्तेनिरुद्धोपधादिपरीत्यात् = हनधातोः उपधा अकारः ।
निरुद्धो निरुद्ध उपधा यस्य स निरुद्धोपधः । स विपरीतः
वर्तन्त्यो यथा न् ह् । ततः अकारः आदौ निधेयः । तदा
अ + न् + ह् = अंह इति भवति । नमप्रत्ययेन सह
अंहतिरित्यादि । दुर्गमते ' अन् ' इत्युपधा । तस्या उप-
धाया अकारं निरुद्धम् । किंतु ' अग्न्योऽन्त्यापूर्वं उपधा '
(प० १ । १ । ६५) इत्यनेन मूलेण अकार एवोपधा-
संज्ञा । ' हन्तिः ' धातुधेन् तत्कार एवोपधा स्यात् ।

१७ ' निरुद्धोपधात् = विपरीत्यात् ' [च. ट.] । एतद्विरग-
पदं ठ. ट. पुस्तकयोरन्तर्भाव्यते ।

पत्रं

पाङ्क्तिः

३५८

मन्येत पञ्चम्यन्तं षष्ठ्यन्तं वा सत् । न चैवं यजमानेनार्थः ।
तस्माद् बृहस्पतिपुत्रकाञ्छयोर्ममैते पितरः किञ्चिदर्थं विदधु-
रिति । किं कारणम् । स्वत एव हि ते विधातुं समर्थाः ।
षष्ठ्यर्थे नाप्ययमर्थः । तस्य किं स्विदेभिः पितृभिर्विधीये-
सेति । ग. ज. पाठे 'ताप्यमर्थः' = नाप्ययमर्थः
इति स्यात् ।

३५९

१४ प्रथमान्तत्वेन न निरुध्यते । तथापि = तेन रूपेण ।
अपिशब्दो व्यर्थः ।

२४ 'यदानुजानाति शंयोरनुब्रूहीति तच्छंयुवाकमन्वाह तच्छंयोरानु-
णीमह इत्येतदनुवाकस्य' (तैत्ति० सं० २ । ६ । १०
सायणभाष्ये बौधा० श्रौ०) ।

३६०

१ 'तत् शंयोः वृणीमहे' इत्यत्र शंयोरिति यदा षष्ठ्यन्तं पदं
तदार्थः = शंयोरामानमभिसंपाद्य । शंयुमनुनीय । यदा पञ्च-
म्यन्तं तदार्थः = शंयोः सकाशात् । केचिदित्यनेनास्वारस्यं
दर्शयति । के एते केचिदिति न ज्ञायते ।

७ भे = भयम् । पजम् = सादयितृ नाशयितृ ।

२० अयं द्वाविंशतितमः खण्डः सर्वेषामन्तरतमः ।

३६१

६ सायणभाष्ये 'राहुगणस्य' न विद्यते

७ सर्वस्तोत्रेष्वप्येष = 'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमिति परिदम्बा-
स्तर्वत्र नैश्वदेवे' (आश्व० श्रौ० ५ । १८) । अत्र 'एव'-
शब्दस्य प्रयोजनं न ज्ञायते ।

१२-१३ पुत्रः पुरुत्रायने निपरणाद्धा (निरु० २ । ११)

६९ 'एनानि' (३) इत्यस्य स्थाने दुर्गपाठः 'एनानि'
इति भांति ।

३६३

१३ मूले 'वस्त्रमाधिनम्' (३६२ । २३) । अत्र सर्वत्र
'वस्त्रमाधिनम्' ।

१६ 'नीचैरयमानं नीचैर्निचितं भवत्युच्चैरधिनम्' (३६२ ।
२६) न व्याख्यायते ।

३६४

९ 'जने' कथमनवगमनमैकपदिकं च किमर्थं पठ्यते ।

पत्रं

पङ्क्तिः

३७१

९ कलाः ' जुहो नवगृहीतं गृहीत्वा धाता रातिरित्यन्तर्वैधुर्व-
स्तिष्ठन्संततं समशो नव समिष्टयजुंषि जुहोति ' । धाता राति-
रित्यादयो नव मन्त्राः । सोमयागो समिष्टयजुःसंज्ञा नवाहु-
तयः । तासां ब्राह्मणम् (तै० सं० ६ । ६ । २) ।

१० तत्र = मैत्रायणीब्राह्मणे ।

११ ' यज्ञस्य वा एता आणी एता वै विश्वामित्रो यज्ञस्याणी
अपरयत् ' (मै० सं० ४ । ८ । ४) । अस्योद्धृतवा-
क्यस्य प्रयोजनं न दृश्यते । अर्थोऽपि ' आणी'शब्दस्य न
ज्ञायते । वृत्तौ ' अरणी ' शब्दो न तु ' आणी ' ।
' अक्षाप्रकीलके तु द्वयोरणिः ' (अमरः २ । ८ । ५६) ।

१०-११ ' विश्वामित्रस्यो यज्ञस्या अरणी ' ईदृशः च. पुस्तके पाठ
भासीदिति भाति । 'स्यो यज्ञ' 'अरणी' इत्यस्य 'अ' चैता-
न्यक्षराणि विमृष्टानि । तेन ' विश्वामित्रस्यारणी ' इति
शुद्धीकृतः पाठः । च.पुस्तकस्थमूलपाठो दुर्गोचरः ।

१४ पुरोड शश्वेतरस्य स्थूलहविषो वा हवनार्थं यो भागोऽवर्ष्यते
सोऽवदानसंज्ञः ।

१५ अग्निर्वहु कुर्यात् ।

१९ अया = यजुर्लङ्कितम् ।

३७२

२-४ ' उपयाहि मोमम् ' इत्यृक्शान्वायां पाठः ।

९ तदेतदुपपन्न इति न वाच्यं यनः पूर्वत्वर्थः सार्थावानिति
दुर्गो ब्रवीति ।

१७ भाष्यमपि ' ऋधुवक्षयाक्षीर्भेधुवक्षमिष्टाः ' (३६६
१०) इति । ' ऋधगयाः ' इत्यत्र ' ऋधक् = पृथक्कर्तुं '
इत्यर्थो न कृतः ।

३७३

२ तौत्रः अर्थो यस्य तन् । अर्त्तायान् अर्थो यस्य तन् । ' द्वि-
चनविभक्त्येवपदे तत्त्वयमुर्त्ता ' (पा० ५ । ३ । ५७)
इत्यनेन ' तौत्रार्थतन् ' ' अर्त्तायोऽर्थतन् ' ।

१६ अजनाय गमनायाथा यस्य सः अजनाथः । पुनस्तैल पदेन
भिन्नार्थेन. भविष्यमिश्रसंज्ञियमन्त्रयमस्य ' अजाय ' -
पदस्य ' गमनाय ' इत्यर्थो द्विर्भवस्य ' अजाय ' इति ।

१९

पत्रं

पङ्क्तिः

३६८

२३ सायणभाष्ये ' मैत्रादरुणस्य ' न विद्यते ।

३६९

१ क. ख. व्यतिरिक्तपुस्तकेषु ' उत्साविणम् ' इत्येव लिख्यते न तु ' उत्साविणम् ' ।

२ ' आर्जवेन दातैव केवलमयम् ' इत्यन्वयः । अयमतीव ऋजुर्न प्रत्युपकारमपेक्षते ।

८ ' यजते ' इत्यस्य स्थाने ग. च. ज. पाठः ' यक्ष्यते ' । अत्र लृट् : प्रयोजनं न दृश्यते ।

११ चातयतिर्नाशनार्थं यास्केनावस्थाप्यते निरुक्ते ६ । ३० ।

१७ शम्भा गदया समानाकारो व्यामार्थपरिमितः काष्ठविशेषः । श्वेताम् = विद्युते दूरे परस्परतोऽभवताम् । ' यात्रापृथिवी सहास्ताम् । ते शम्भामात्रमेकमहर्व्यतौ शम्भामात्रमेकमहः ' । (तै० ब्रा० ३ । २ । ६) । मैत्रा० संहितायां शम्भामात्रं द्विवारम् । सर्वेषु पुस्तकेषु ' व्येताम् ' इत्यस्य स्थाने ' न्येताम् ' । किं तु तत्प्रामादिकम् ।

३७०

१ प्रतिद्वन्द्वी अथवा प्रतिद्वन्द्वः = शत्रुः ।

१० तथा = चात्रापृथिवीविशेषणत्वेन ।

१८ पारणीये = अन्तं गन्तुं योग्ये ।

२२-२३ गिर्विणः = गीर्विर्विण्यते गिरो वनतीति वा । ' वन मंभक्तौ ' (धा० १ । ४६४) ।

२४ क एते व्याचक्षाणाः ।

३७१

६ ठ. ड. पुस्तकयोर्धदशेनि ऋक्षशास्त्रीया ऋक्षपठ्यते । किं तु तस्यां शास्त्रायाम् ' ऋधगया ऋधगुता ' इत्यस्य स्थाने ' भुवमया भुवमुता ' इति पाठो वर्तते । ' ऋधगयादृधगुताशमिष्टविद्वां ' (मैत्रा० सं० १ । ३ । ३८ ॥ काठकसं० ४ । १२) ' ऋधगयादृधगुताशमिष्टाः प्रजानन्वक्षमुपयाहि विद्वान् ' (तैत्ति० सं० १ । ४ । ४४) । ' ऋधगया ऋधगुताशमिष्ट विद्वान्प्रजानन्वक्षमुपयाहि माधु ' (कपि० सं० ३ । १०) । ' ऋधगया ऋधगुतां विद्वान्स्वाहा ' (बाज० सं० ८ । २०) । क. ख. पुनःकपोः ' विद्वान्स्वाहा ' इति पाठो याजुष्मन्वेदिमंहितानो गृहीतः ।

- पत्रं पङ्क्तिः
- ३७५ २५ द्विपञ्चशदशु सूर्यः पञ्चानामेवर्चा देव ॥ । तेन सूक्ते सूर्योऽ-
धिक्रियते प्रधानं वेति कथमुच्यते । अस्मिन्सूक्ते वह्नो देवता
मह्नो विषयाश्च ।
- ३७६ ६ अस्य वामस्य मध्यमो भ्राता वायुः । अस्य च तृतीयो
भ्राताग्निः । एष प्रकृतानामनुक्रमो न विरुध्यते ।
८ इतरत् = ' घृष्टो अस्य ' इत्यत्र ' अस्य ' पदम् ।
अन्यत् = अनुदात्तम् ।
ठ. ड. पुस्तके वर्जयित्वेतेषु ' अ-यत् ' इत्यागमानन्तरं
विरामो न वर्तते । तेन ' अन्तेदात्तं पदमितरत् अन्यत्
तृतीयो ' इत्यन्वयः स्यात् । इतरत् = भिन्नम् ।
१० पूर्वेषु ' अस्य ' शब्देन समानरूपम् । द्वावपि ' अस्य ' शब्दावेकरूपौ ।
१०-११ यस्मात्स्वरकृतो विशेषोऽप्रधानादर्थकृतोऽपि विशेषोऽवश्यः ।
११-१२ स च विशेषोऽप्रधानार्थाभिधापिता । ' अप्रधानार्थाभिधा-
पिना ' इति पाठान्तरम् । तत्स्यार्थः = यदा द्वितीयम्
' अस्य ' पदमप्रधानार्थाभिधापि भवति तदैव स विशेषः
प्रतीयते ।
१५ ' उदात्तं प्रथमादेशो ' इत्याद्युपगमे भवति यस्मादस्मिन्मूत्रे
प्रथमादेशोऽस्मादि ।
१७ इदं द्वितीयं निरूपणं साधीयः ।
१८ ' तीव्रार्थतरमुदात्तम् ' इत्यनेन लक्षणेन प्रधानार्थतरम् ।
२० अस्य पदस्य = ' अस्य ' इति पदस्य । अन्यस्य (पाठा-
न्तरम्) = प्रारम्भे वर्तमानादस्य । ईदृशान्यपदस्य अन्वा-
देशः कथं स्यात् । अत्रापि आदिष्टं तस्यैवान्वादेशो न
कस्यापि पदस्य ।
२२ ' अस्पीयोऽर्थतरमुदात्तम् ' इत्यनुदात्तत्वेन लक्षणेन ।
३ मैत्रा० सं० १।६।१२ इत्यत्र ' मृतमितरमण्डमवापयत् ' न तु ' मृतमितरम् ' । अदितिः पुत्रकामा हरिश्चमक्षणाद-
ण्डमवापयेद्रे प्राप्तवती । तदण्डं मृतमनायन ।
११ ' यदन्ति ' इत्याद्य ' मयन्ते ' इत्यर्थः क्तिनो ।

पत्रं

पङ्क्तिः

३७४

१ 'सातिः'शब्दः प्रथमः मुख्यः (३७२ । २२) ।

प्रधानशब्दः इत्यर्थः । तस्य 'अस्याः' इत्यनेनादेशः ।

तत्तीव्रार्थतरं पदम् ।

२ 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (पा० ६ । १ । १५८)

इत्यनेन 'अस्याः' इत्यत्र 'अ' अनुदात्तः 'स्याः'

उदात्तः ।

८ 'चारितवतः सूर्यादिषु बधूवृत्तं दद्यात्' (आश्व० गृ०

१ । ८ । १३) ।

'सूर्येणोत्तग्निता' (अ० सं० १० । ८५) इदं

सूक्तं मधुपर्कस्यानन्तरं मङ्गलाष्टके पठ्यमाने पठ्यते (विवाहप्रयोगे) ।

११ विवाहसंस्कारोऽग्निस्ताक्षिकः ।

१३ ऋचि 'जीवाति' (६) न तु 'जीवातु' ।

१६ लक्षणाधीनं = भार्या भर्तारं लक्षयति भर्त्रर्थं जीवति । एष
एव तस्या जीवितस्यार्थः ।१९ विनीयैष्टिय ते (ग. ज. पाठ) = विशीर्यन्ते + विष्टिः
यन्ते ।

अस्मिन् (२५) गण्डे- 'सममंसत' (३६५ । २४)

'स्वम्' (२५) 'सत्' (पाठभेदे) 'अपिहितम्'

'अमुत्र' (२५) 'गातुं' कृणवन्नुपमो जनायेत्यपि निगमो

भवति (३६६ । १) 'पीयतिर्हस्ताफर्मा' (६)

(छ. त. पीयुति) 'समानं संमानमात्रं भवति मात्रा

मानादहं व्याख्यानमन्तोऽननेः' (७-८) 'रानिरग्यस्तोऽ-

जाश्वेनि पुण्यमाह' (१४) एतानि न व्याख्यायन्ते ।

३७५

६ अस्याधीनं प्रमिद्धं मुक्तमिति 'एव'शब्दस्यार्थः ।

७ तृतीयमेव तार्त्तयम् । तार्त्तयमवनीयं (च. पाठः) =
तार्त्तयमवनयेत्. (शस्त्रम्) ।

१७ महः = चेटम् । सहग्नियः = वेष्टवतः ।

२३ 'पातयम्' (३) इति न व्याख्यायते ।

पत्रं

पङ्क्तिः

३८० यति इति चुरादि तप् (घा० १० । २८५) । तेन न-
णिजन्तं रूपम् ।

२२ अरेषु ऋतूनां विशेषलिङ्गं नास्ति ।

२५ 'हेमन्तशिशिरसमासेन' (३ ७ । २५) इति छ. त.
द. पाठः ।

२४-२५ 'पञ्चर्तवो हेमन्तशिशिरयोः समासेन' (ऐ० ब्रा० । १) ।

३८१ ४ 'पल्लुतायाः' (३७७ । २६) इति छ. त. द. पाठे
निगमोऽध्याहार्यः ।

६ 'पितरं सर्वभूतानाम् उत्पादयितुं वा' इति च. पाठो
दुर्बोधः ।

७ 'द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य' (शत० ब्रा० १२ । ३
२ । २) । १२ 'संवत्सरं न सप्तचक्रमिति कृत्वा सप्तर्षयः
पदद्वयपक्षे' (च.) ।

दुर्गः 'सप्त चके' इति द्वे पदे करोति । वस्तुतस्तु तदेकं
पदं संवत्सरस्य च विशेषणम् । आदित्यद्वारेण सप्तचक्रं
स्यात् । अथवा । 'अयनर्तुमासपक्षाहोरात्रिमुहूर्तः सप्तचक्रम'
(सायणः) ।

१४ यदि सप्तचक्र आदित्यस्तर्हि केन शब्देनास्पान्वयः ।

३८२

१ प्रश्नेष्य = आसज्य ।

२ प्रधिः = चकनेमिः । गण्डपृष्ठशब्दस्यार्थो न ज्ञायते ।

३ 'प्रधयश्चक्रं भवति' इदं न व्याकरणशुद्धम् । १२
'पष्टिश्च० संवत्सरस्याहानि' (शत० ब्रा० ९ । १ ।
१ । ४३) ।

३८३

२ सप्तपुत्रे सप्तशब्दस्य यः सर्पणार्थस्तत्पक्षेन ।

४ ऐकपदिकसमाभ्यायः समाभ्यायस्य ऐकपदिकं नाम प्रकरणं
तस्य व्याख्यानम् । (च. पाठे) 'समाभ्याये व्याख्यातं'
परिगणितम् । ऐकपदिकं (क. ख. पाठान्तरे) व्याख्या-
नेनाव्येति ।

५ उक्तमेव न तस्य पुनरुक्तिः क्रियते ।

- पत्रे पङ्क्तिः
- ३८८ ११ हविषः हविषा पूर्णा अर्चिषः ।
 १२ जनानां दर्शनमभि दर्शनाय जनाः पश्येयुरित्यर्थं व्यञ्जयित्वा दर्शयित्वा ।
 १३ आदित्यस्यान्तर्हविष उपनियमितवान् । स्वार्चिष आदित्ये स्थापयामास ।
 १४ तमेतमर्थम् = आदित्यस्य स्वार्चिभिः प्रदीपनम् ।
 १७-१८ सामानाधिकरण्याच्चः समानविमर्शयन्तानां शब्दानामन्वये प्रयुज्यते । अत्रान्वयशब्दो युक्तः ।
- ३८९ २१ अथापि = अयमप्यधिकोऽर्थः कदाचित्पात् ।
 १ वरणार्हं संभजनीयमस्माभिर्गुण्माभिर्वा ।
 गोपयत्वं रक्षणीयमस्माभिर्गुण्माभिर्वा । अववा । युष्मभ्य गोपायितव्यम् ।
 २ 'गोपायिता' 'गोपिता' (क. ख. पाठः) इति द्वे अपि रूपे ।
 २-३ यास्मभ्ये 'गोपयत्यम्' इत्यस्य द्वावेवार्था । 'गोपायितारो यूयं स्थ' अयमेकः 'गोपायितव्यं युष्मभ्यम्' इति द्वितीयः (३८५ । १०-११) । ३ स्थ = भविष्यथ इति दुर्गः ।
 ३ युष्मभ्यम् = यौष्माकीणम् इति च । 'वर्षिष्ठं' (३८५ । १०) न व्याख्यायते ।
 १२-१३ अतिरात्रे प्रथमे पर्याये होतुः शस्त्रपाण्या (आश्व० श्रौ० ६ । ४) । अतिरात्रे द्वादश शस्त्राणि । चतुर्णां शस्त्राणां पर्यायः । अयं होत्रा शरयते । तस्यैवा ऋषयाज्या ।
 १८ 'यस्य पीति कामयते तदेव वष्टि' इति ग. च. ज. पाठोऽन्वयः ।
 २६ अनिर्मितमनिधितं परिमाणं यस्य तत् । 'अनिर्मितमपरिमाणम्' इति पाठान्तरं सधु ।
 १ 'अत्रमातरोऽन्व एतस्मिन्नेव' (३८६ । १५) न व्याख्यायते ।
 २ दर्शनकृतं = दर्शनेन कृतं जनिवम् । 'दर्शनं कृतम्' इति

३८५

१८ 'अनवगतसंस्कारान् (२९१-१२) इत्यत्र किं संस्कार-
स्याविज्ञानमेवानवगमशब्देनोच्यते उतार्थप्रतीतिरपीति प्रभे-
दार्थप्रतीतिरपीत्युत्तरम् ।

१९ व्याकरणे यानि लक्षणानि तैः असंपन्नः व्याकरणशास्त्रान-
नुगतः । अविज्ञानम् = अनवगमः ।

२० प्रकृतिः प्रत्ययः स्वर इत्यादयः लक्षणानामभिहितेन संस्का-
रेण युक्ता न वेति न ज्ञायते ।

२१ उभयस्य = संस्कारस्यार्थस्य च ।

२२ सस्मिन्मित्यस्मिन्नेव शब्दे ।

२४ अन्योऽपि कश्चिदर्थः ।

३८६

६ 'अथैनमुपतिष्ठन्ते रन्तिर्नामासि दिव्यो गन्धर्वः' (तै०
आ० ४ । ११ । मैत्रा० सं० ४ । ९ । ११) ।

७ मध्येमैत्रायणीयके (पा० २ । १ । १८) 'पारे मध्ये
पष्ठपा वेति सूत्रेण' ।

८ 'ष्णा शौचे । आहगमहनेति किन् । लिङ्गद्रावाङ्निर्वचनम् ।
जगतः आपयितारमित्यर्थः' इदं सायणभाष्यादुद्धृतं ट.
पुस्तके प्रान्तभागे लिखितं ट. ड. पुस्तकयोस्त-
र्भाष्यते ।

१८ असामहीना दानायत्यन्वयः ।

३८७

१ अयमप्यस्य० (पाठभेदे) = अस्या ऋचो द्वावर्थौ इत्यपि-
शब्दस्यार्थः । अपिशब्दस्यार्थे 'यस्यमर्थो न साधुस्त्वर्थं
गृह्यताम्' इत्यर्थः ।

प्रथमश्चतुर्थस्तृतीयो द्वितीय इति पाठव्ययः । ७ प्रथमार्थं
विश्वावसुर्गन्धर्वो (३८६ । १५) द्वितीय इन्द्रः ।

७ आसां प्रजानां प्राकथयदिवेत्यन्वयः ।

२३ 'जुधतुर्धातुपठे न वर्तते ।

२५ 'दत्तो देशानाममि मर्त्यानाम्' (ऋ० सं० १० । ४ ।
२) इति न न्यास्यायने (३८५ । ७)

पत्रे

३९३

पाङ्क्तिः

८ हन्मेति ग. च. ज. पाठोऽसाधुः यनो हन्मः + इति = हन्म इति ।

अन्यके = कन् कुक्षितार्थे । मा भूयन् = नश्यन्तु ।

१० 'वन' (धा० १ । १८०४) हिंसायाम् । 'वनु' (धा० १ । ८०५) च । अपूर्वोऽयं 'वनु' धातुरिति भट्टोजीदीक्षिताः । वनु + स्य = वनुष्य । वनुष्यतः = हिंसामाचरिष्यन्तः ।

३९४

१ 'वनुष्यतः' हिंसार्थे नवकृत्व ऋक्छात्रायां प्रयुज्यते । तथा 'वनुष्यता वनुष्यतां वनुष्यते वनुष्यन् वनुष्यान्' इति स्तौत्रेण प्रयोगः । तेन वनुष्यतिः कथंकारमव्यययोगविषयः ।

४ 'पापयमानः' इति निरुक्तमुक्ते त. द. पाठो (३९.१ । १६) वृत्तौ च ग. ज. पाठः । पापयमानः = पुनः पुनः पच्यमानः इदीक्षितयाणः । पापं कर्म पापिने सततं पाचयति पच्यमानं करोति । अयं पाठः सार्धाद्यान् पतः 'पाप-स्यतेर्वा' (३९.१ । १६) इति तृतीया व्युत्पत्तिः । किन्तु सा दुर्गोण न व्याख्यायते ।

२१ 'नास्मिन्नहनि केनचित्कस्यचिद्वाप्यमाविवाक्यमंतदित्याचक्षंत' (अ. श्रु० श्री० ८ । १२) । 'तस्मादज्ञमहनिवाक्यं भवति' (ऐ० ब्रा० ५ । २२) ।

३९५

५ 'पार्थिवैर्गुणादिबहु (विभ) स्त्रोण ' पाठान्तरे वन्दमानं सायणभट्टादृष्टानम् ।

११ ग. च. ज. पुस्तकेषु 'वासिष्ठे मृडांके नामाष्टमस्तस्येव-मार्गम्' इत्यादिः पठः । किन्तु मर्वास्तुक्तमप्यवधिस्तुक्तमर्थं च भौमस्त्रोत्रैर्यमार्गमिति । तथा 'पापमानो मोक्षो वा' इति ग. च. ज. पठः । किन्तु पचमानः सोम एव एवेने भाति ।

११ 'जालवेदमे' (अ. मं० १ । ०९) इत्येवमप्युक्तं मूलम् । 'अथ पापस्य' (अ. मं० १ । १६४) इत्येवम् निःशङ्कं सायणमूलम् ।

पत्रं

पङ्क्तिः

पाठान्तरं कृतं = पूर्णम् । अत्र 'चक्षुषः' शब्दो व्यर्थः ।
अथवा । चक्षुषो दर्शनमित्यन्वयः स्यात् ।

१३-१४ ममैतान् रश्मीन् पुंसः बहुप्रज्ञानान् आहुः । एते तव बुद्धि-
रश्मयः पुमांसो बहुप्रज्ञा ना जाता इति ब्रह्मविद आहुः ।

३९०

१५-१६ बुद्धेरुपकुर्वन्ति सर्वानर्थान् प्रकाशयन्तः ।

१९-२१ दर्शनविज्ञानगुणाभ्यां नित्ययुक्तोऽसौ रश्मीनपि ताभ्यां
युक्तः न पश्यति ।

२२ न श्रुता वेदाश्चोपनिषदश्च येन सः ।

२४ परिनिष्ठिता = स्थिरा ।

३९१

३ आधिदैविकं = स देवोऽमनुष्यो भवति ।

३९२

८ ठ. ड. पुस्तकयोः 'प्रपर्यये' इत्यस्यानन्तरं विरामो वर्तते ।
लिखितपुस्तकेषु 'परस्परसंभोगेन' इत्यस्यानन्तरं विरामो
न वर्तते ।

१६ अविपर्ययन्यौ = विपर्ययसं स्थानविनिनयं न गच्छन्त्यौ ।

२४-२५ 'जगते यमहापाङ्कं प्रेदं (ऋ० सं० ८ । ३७) मृक्तमिति
स्मृतम् । तस्यैकातिजगत्याद्या महापाङ्कानि तान्यपि (छन्दो-
नुक्रमणी ८ । २४) । अग्निमस्तोष्युपक्रम्य (८ । ३९)
ग्रीणि (ऋ० सं० ३९ । ४० । ४१) सूक्तानि ' (छ०
८ । २५) । प्रेदं (ऋ० सं० ८ । ३७) मृक्तं जाग-
नं महापाङ्कं तस्यैकाद्या ऋगतिजगती । मदनन्तरं ग्रीणि
(३९ । ४० । ४१) सूक्तान्यपि जागृतानि महापाङ्कानि न
केवलं जागृतानि । 'जागृतानि' इति दुर्गाप्रसादोऽनवबो-
धात् । 'अग्निमस्तोषि नाभाक आग्नेयं महापाङ्कं ह्रीति अनु-
क्रमण्यामुक्तम् । दुर्गावृत्तिरुक्ता तु जागतान्मृत्युक्रमम् । मत्र
जगत्या एव महापाङ्कभेद इत्यभेदः ' (ट.) ।

३९३

१ व्यनयः = विपर्ययः । दुर्गेण त्वयं शब्दः पर्यायार्थे प्रयुक्त
इति भाति ।

२-३ ध्वेन पुरस्कृतेन = धनं पुरस्कृत्य ।

५ पृतनां = युद्धम् । ६ संयत्ताः = योद्धुं मज्जाः । ६-७
'संप्रहर्षाभूताः' । संप्रहर्षाणि संप्रहर्षा । संप्रहर्षे योद्धुं
मज्जाः ।

पत्रं

पङ्क्तिः

३९७

- ६ मत्तः अन्यकुलजेनेत्यन्वयः । अभ्युद्यच्छस्त्रं = उच्छ्रयस्त्रम् ।
 ७ 'वि चिद्रहेव रघ्वे चक्रा' (१० । १० । ७) इति
 यमी यमं ब्रवीति । यथा रघचक्रे द्वे अक्षमाश्रित्य विवृहतः
 सार्धं परिवर्तते एवमात्रां विवृहेव परिवर्तवहि रमेवहि ।
 अभ्युद्यच्छनः = अभ्युद्यने भवतः सज्जीभवतो परिवर्तनाय ।
 एकमनस्त्यमश्रसदृशम् । उभे अपि युष्मच्छरीरे रत्यर्थं सज्जी-
 भवेतम् । त्वं च तस्य कामिनः सक्तं शरीरं स च तय
 सक्तं शरीरमेवमुभे अपि शरीरे रत्यर्थं सर्जं कुर्वतम् । 'सक्ताम्'
 (९) इति च, पाठः सुबोधः ।

८ उपपाद्य = संपाद्य ।

- १० अभ्युद्यच्छमाना = अभ्युद्यमं यत्नं कर्तव्या ।
 ११ आहनस् शब्दश्चन्द्रमस्त्वत् । आहनाः आहनसो आहनसः ।
 अ.हनसम् । हे आहनः । 'तदाहना अभवपिप्लुपी'
 (ऋ० सं० २ । १३ । १) अत्र प्रथमैकवचनम् । 'य
 आहना दुहितुर्वक्षणासु रूपा मिनःनो अकृणोदिदं नः'
 (ऋ० सं० ५ । ४२ । १३) इत्यत्र च । 'ये ते
 मदा अ.हनसो विहायसस्तेभिरिन्द्रं चादप दातवे मयम्'
 (९ । ७५ । ५) अत्र प्रथमाबहुवचनम् । 'अहं
 सोममाहनसं विभर्मि' (१० । १२५ । २) अत्र
 द्वितीयैकवचनम् । 'कटु मव अ हनो दीप्या नून' (१० ।
 १० । ६) अत्र 'अन्येन मदाहनो याहि त्वयम्' इत्यत्र
 च संबोधनम् । एतु सर्वेऽपि वाक्येषु आहनःशब्देन सुन्दरं
 प्रियं वा किञ्चिद्बुध्यत इति भाति । पृष्टयामृचि यमी यमं
 ब्रवीतीतीति सायणः । तत्र यमी यमम् 'आहनः' इति
 संबोधयति । 'आहंसाय मामस्म्यमायणात्' इदं निर्व-
 चनं यमविषयेऽयुक्तमेव यतस्तस्य भ.पणं सर्वथैव सम्पत् ।
 अ.हनःशब्देऽत्र सुभगवाचो । 'अन्यामिच्छस्व सुभगे
 पनि मत्' (१० । १० । १०) 'न ते भाना मुमगे
 वदयेतत्' (१० । १० । १२) इत्यत्र यमी 'सुभगे' ।

पत्रं
३९५

पङ्क्तिः

१४ 'उपनमेत् = उपस्थितं भवेत्' (च.) । 'स्तुनुयाम्'
(ठ. ड. पाठः) = स्तुयां + स्तुनुयाम् । 'स्तुनुयाम्'
इति साधीयान्पाठो यतः सोमकर्म सोमाभिववरूपम् ।
सोमस्तुतिस्तत्र गौणी ।

१५-१६ प्रजा वयं लभेमहीत्याशंसायुक्ताः स्तुतीः ।

१७-१८ 'सर्वतो विश्वायुः' इत्यस्य कोऽर्थः । विश्वम् आयुः यस्य
सः । सर्वथैव दीर्घायुरयमित्यर्थः स्यात् ।

३९६

२ 'अहर्दिशि' इत्यत्र अहःशब्दो रात्रिवाचीति भाति ।

३ दिवैथ = दिवापि ।

७ याचस्वेत्येतमर्थम् ।

१०-११ 'मन्दमानः मन्दिष्ठः मन्ददिष्टो मन्दनायतः' इत्यन्या-
न्यपि रूपाण्यृक्शाखायां विद्यन्ते । दशकृत्वश्च तेषां
प्रयोगः ।

१२ अमतः संबोधनम् = असद्वाचि संबोधनान्तं पदमित्येव
ज्ञायते । तस्यार्थो नैव प्रतीयते । अन्ये शब्दाः प्रयत्नेना-
ल्पशोऽपि निरुच्यन्ते । नायं तथा ।

२१ चिह्नयितारः = चित्रगुप्तादयो मानुषकर्माणि स्वपुस्तके
लितवन्तीति पौराणिकाः । स्फासयितारः = द्रष्टारः ।
लातिनभाषायां 'स्पेशिओ' अहं पश्यामीत्यर्थः ।

२२ 'यस्य सोममभिदेहद् प्रधानध्वर्युः स्फासयेत् स्तोत्राण्युद्गाता-
शस्त्राणि होता' (काठ० सं० ३५ । १७) ।
'यदि राजाभिदेहेत् प्रधानध्वर्युः स्पर्शयेत् स्तोत्राण्युद्गाता-
शस्त्राणि होता' (मान०श्रौ० ३ । ६ । २२) । सोम-
दाहे इयं प्रायश्चित्तिः ।

२३ 'आदित्यचन्द्रावन्निष्ठोऽनलश्च चौर्यमिरापो हृदयं यमश्च ।
अहश्च रात्रिश्च उमे च संध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य
वृत्तम्' (याज्ञवल्क्यव्यवहाराध्याये दिव्यप्रकरणे स्तो०
१०२ मिताक्षराटीकायाम्) ।

३९७

४ आहंमिति आहनाः । 'आहनः' इति तस्य संबुद्धिः ।

५ असम्पत्तम् = असम्पत्तार्थवाचि ।

- पत्रं पाङ्क्तिः
- ४०१ १२-१४ 'सोमो दुग्धामिरक्षाः' इत्यत्र कोऽर्थः । अथ सोमः = सो-
मोजपि । अक्षाः = निवसति ।
- १६ 'लोपाशः सिंहं प्रत्यञ्चवमत्ताः' (ऋ० सं० १० । २८ ।
४) इदं किमर्थमत्र (३९९ । ६) पठितमिति न ज्ञायते ।
दुर्गेणापि न व्याख्यायते । अत्र क्रियापदम् 'अक्षाः' न
तु 'अक्षाः' ।
- २२ 'हविष्यास्तमजरमिति प्रथमा ऋक् । 'मतौ छः सुक्तसाम्नोः'
इत्यनेन हविष्यान्तीयम् । अनुक्तमण्यां सर्वं सुक्तं त्रैष्टुभमि-
त्युक्तम् । ग. च. ज. पुस्तकेषु 'तत्रेयमेतन्मया जगती'
ज्ञायते ।
- ४०२ ५ यत्र यस्मिन् जगति ।
- ६ पतत्रि जगत् इत्वरं जगत् यस्या जगत् यच्च श्वात्रं गमन-
शीलं जगत् तात्पर्यमग्निरकरोदुत्पदितवान् । अत्र 'श्वात्रं'
जगच्छब्दस्य विशेषणम् । १३ प्रियमेधसमाधेः (च. प.ठ.) ।
अत्र प्रैयमेधसमिति पदं शुद्धम् ।
- ४०३ ६ गुणस्पाशनैः = गुणसंकीर्तनैः । स्पाशयति विद्वार्थ इति
द्वितीयरूपे स्पशन्त्युत्पाद्युक्तम् । 'स्पर्शनैरिति वा'
(३९९ । १२) न व्याख्यातम् ।
- ४०४ ८ ससम् = अन्नं जलं वा । 'ससेन चिद्विमदायावहदसु'
(ऋ० सं० १ । ५१ । ३) अत्र ससमन्त्रम् । 'ससस्य
चर्म धृतवपदं वेः' (३ । ५ । ७) अत्र ससः कधि-
भाषाणी । 'ससस्य चर्मन्' (४ । ५ । ७) 'ससस्य
यद्विद्युता सस्मिन्नुत्तम्' (४ । ७ । ७) इत्यादि ।
'ससस्य योनिमासदः' (५ । २ । १४) इत्यत्र जलम् ।
'गृण्यन्ति ह्यनिमा ससम्' (८ । ७२ । ३) अत्र
प्राणिविशेषः कथितः । पकं ससं शिखिदांसं प्राणिनामिध
जनस्तं स्वि उपस्थे शुक्लतमविदत् । स्विः = २५० । ११
'जात्यस्त्वमानं' (३९९ । १५) न व्याख्यातम् ।
- १५ पाठान्तरं 'पकम्' इत्यादि सुबोधमेव ।
- ४०५ २१ अन्येभ्यो यत्रमानेभ्यः सक्ततादतिरिक्तया । २२ अभिन्मन्त्रे
जात्यन्ते न तु जात्याः । भेदाः = आदानमन्त्राः ।

पत्रं

पादः

३९७

इति संबोध्यते । विहायःशब्दोऽपि सुन्दरवाची प्रियवाच्य-
भयवाची वा ।

१५ असम्पत्वादस्त्रीलत्वात्तस्य प्रदेशस्य ।

आहनस्यात् स्त्रीपुरुषसंयोगाज्जायमानः पुरुषो यावदग्निं नाध-
त्ते तावदमेध्य एव । ‘ अजातो वै तावत्पुरुषे यावदग्निं
नाधत्ते स तर्ह्येव जायते यर्ह्यग्निमाधत्ते ’ (मैत्रा० सं० १।
६।४) । ‘ आहनस्याद्वै रेतः सिष्यते रेतसः प्रजाः प्रजा-
यन्ते ’ (ऐ० ब्रा० ३० । ३६) । आहनस्या नामाद्यै
कुन्तापाध्याये वर्तमाना ऋचस्मासां मैथुनविषयकोऽर्थः ।

१८-१९ देवस्तुत्या नन्दित्वा नन्त्रत्यसी । अथरा । देवस्तुतीनां
नदनो देवस्तुतीर्नादयत्यस्मादिति ननः ।

३९८

४ कुनः = कुतोऽपि । ७ नीरेण नि = उपलम्बते । ८ अयं
मम कामो नाममिष्यदित्यन्वयः । ‘ न मामागमिष्यम् ’ इति
पाठान्तरम् ।

१२ अर्धरा लोपामुद्रा । १३ तस्याः सकाशाच्चेतसा व्यावर्त-
मानमित्यन्वयः ।

१४ ‘ श्वसिति ’ ध्वक्कर्मसु पाठितं (निघ० २।१९।९) न
गतिकर्मसु ।

१५ संरुद्रप्रजननस्य ब्रह्मचारिणः कामो मामगमदिति विल-
पितम् ।

४००

१३ गोमान् यजमानः । १७-१८ देशानामन्तरागम्यात् ।
समुद्रे संवृण्वन्ति व्याप्नुवन्ति । अथवा । देशानां मध्यं
संवृण्वन्ति । तस्माद्दृढक्रानि संवरणानीत्युच्यन्ते ।

२० दुग्धाम्यो गोभ्यः = तासां गात्रेभ्यः ।

४०१

२ ‘ नितोगते ’ इति निघण्टुपाठः ।

१० सर्वे जना अन्नभक्षणेन निवमन्ति । अयं तु सोममेवाश्रित्य
निवस्यति । ‘ एनम् ’ इति पाठान्तरम् । एनम् = सोमम् ।
किंतु सर्वे जनाः सोमादन्यानपि पदार्थान्भक्षयन्ति । तेषां
केवलः सोमो नाश्रयः । १४ शक्यन्ते गावः ।

१३ ‘ अज्ञाः ’ पूर्वस्मिन्नेतार्ये = श्रयर्थे न श्रयर्थे ।

पत्रं
४०८

पङ्क्तिः

२० अपां वा धारयितारम् । २० ' धारयितृमिः यज्ञसद्विर्वा ' (ट. पाठे) इदमत्र प्रमादेन लिखितम् ।

२१ ' अदर्दः ' इति तृतीयपुरुषैकवचनम् । ' अदर्दः ' इति द्वितीयपुरुषैकवचनम् । अदर्दः । अदर्दताम् । अदर्दरुः । अदर्दः । अदर्दतम् । अदर्दत । ' अदर्दरुसम् ' (ऋ० सं० ६ । ३२ । १) इत्यत्र द्वितीयपुरुषैकवचनम् । विपारिणामोऽनावश्यकः ।

४०९

८ धीराः = वि + ईराः । १६ अपिशब्देनाङ्गिरसो देवसमाख्यां लब्धवन्त इति सूच्यते ।

२५ सस्वर्ह = सस्वः + ह । ' सस्वः ' इदमन्तर्हितवाचकम् (निघ० ३ । २५) । ' सस्वर्ह ' इदं सायणः क्रियापदं मन्यते ' उच्चारितवान् ' इत्यर्थे ।

४१०

१ ' उद्धर्तुन् उद्धर्तुन् ' अनयोरेक एवार्थः । ग. पाठः ' उद्धर्तुन् ' इति भाति । ज. पाठः उद्धर्तुन् = उद्धर्तुन् + उद्धर्तुन् । उद्धर्तुणान् = नाशयितुन् ।

२ मुवर्णस्य विकृतानि (विकाराः) चक्राणि येषाम् । ईषा = लङ्गलङ्ण्डो युगदण्डो वा ।

४ अचेतिः अञ्जतिसरूपः । अत एव तस्य गत्यर्थः । ' अञ्ज-तेर्गत्यर्थसारूप्यात् ' । (ग. च. ज. पाठः) = ' अचेति अञ्जतेः ' इत्येतयोः गत्यर्थे सारूप्यम् ।

८ ' तेषां सप्तसप्तका गगाः । ब्राह्मणे हि ध्रूयते ' (ग. ज. पाठः) । १९ प्रउगशस्त्रे ' आश्विनं (तृचं) शंसति ' (ऐ० ब्रा० ११ । १) ।

४११

५ ' शर्पा अङ्गुलयो भवन्ति ' (४०६ । १६) ' सृजन्ति कर्माणि ' (छ. त. द. पाठेऽधिकं) न व्याख्यायते ।

११ यथा विपलिकाया मय्यमतीयात् तथारथ छन्दसो द्वितीयः पादोऽष्टाक्षरत्वादत्यन्तरः । इतरो द्वौ पादौ द्वादशाक्षरी । ' तस्यान्ते विराजन्ति स्रस्तासामिव द्वितीया ' इति ग. च. ज. पाठः । मूर्च्छस्थान्ते तिस्रो विराजो विद्यन्ते किन्तु

पत्रं

पङ्क्तिः

४०७

५ वेष्टा = व्यापकः । ' विष्णु व्याप्तौ ' (धा० ३ । १३)
' विविष्णुः ' इति ग. च. ज. पाठः । प्रथमं ' वि '
इत्यक्षरं किमुपसर्गोऽभ्यासो वेति न ज्ञायते । विविष्णु =
विशेषेण व्यापकः ।

८ ' अदूर एवावस्थितस्य ' इति पाठान्तरम् । अदूरे अव-
स्थितस्योपरि वज्रक्षेपे किं कौशलम् ।

११-१२ छ. त. द. पुस्तकेषु ' वराहारो वरमाहारमाहावीरिति च
म.क्षणं बृहति मूलानि ' (४-६ । ९-१०) इति नास्ति
' इति वा ' इति च । दुर्गोऽपि तत्र व्याख्याति ।

१८ दुर्गाद्वा = दुर्गाद् वै ।

१८-१९ ' विष्णुर्यज्ञः । स देवेभ्य आत्मानमन्तरधात् । तमिन्द्रोऽ-
वेत् । स इन्द्रमब्रवीत्को भवानिति । इन्द्रः प्रत्यब्रवीदहं दुर्गे
हन्ता भवान्नु कः । सोऽब्रवीदहं दुर्गादाहर्ता यस्मात्तं दुर्गे
हन्ता तस्मद्दुर्गे निलीनं वराहं जहीति । इन्द्रस्तथा कृत्वा
विष्णुमब्रवीदुर्गादाहर्ताहमित्यवोचथास्तस्मादेतं दुर्गनिलीनं यज्ञ-
माहरेति ' (मैत्रा० सं० ३ । ८ । ३ । तै० सं० ६
२ । ४) ।

४०८

१ त्वा (त्वया इन्द्रेण) इषितः प्रेरितः त्वेषितः (१४) ।
इन्द्रप्रेरितो विष्णुर्ज्ञमाहरत् । ' त्वेषितः ' = संदीपितः
(दुर्गः ४०७ । १८) ।

३ प्रायशः सर्वावृक्षु दुर्गो यज्ञार्थं पश्यति । अत्र महियो महिष
एव न तु यज्ञः ।

४ प्रायणीवमिति यज्ञनाम । ६ एमुषं = व्यामोहस्थानीयम् ।
नायममुरः किंतु वराह इति ते मोहिताः ।

१८ प्रवर्ग्यः यज्ञविशेषः । तत्र घर्मनामकं घृतपूर्णं त्रिशिष्टाकारं
मृद्गण्डत्रयमस्तीवाग्नौ ताप्यते ।

१९ यज्ञच्छादयितृभिः (च. पाठः) = विविधैः कर्मभिरितेऽङ्गि-
रक्षो यज्ञं छादयन्ति । यज्ञस्वादयितृभिः = यज्ञमास्यादयन्ति
यज्ञफलं गृह्णन्ति पुरोडाशादिकं वा भक्षयन्ति ।

पत्रं

पङ्क्तिः

४१६ १९ त्रिष्टुप् ज्योतिष्मती = उपरिष्टाज्योतिः । अग्निमदन्तसि
चतुर्थपादस्याष्टाक्षरत्वम् ।

४१७ ५ यथा गवा सोमो राजा क्रीयते सा राजक्रयणी सोमक्रयणी
वा गौः । तस्या इयं वाम्रणेण स्तुतिः ।

६ सा गौः । सामान्यज्ञानं जनयन्ता वृत्तिक्षितम् । संकल्पवि-
करपात्मिका वृत्तिर्मनः । निश्चयमूपा वृत्तिर्बुद्धिः । ' चित्ता-
स्त्वपि भोगाश्चेनयसे वा ' (४१३ । १) इति न
व्याख्यायते ।

१० ' आ इत्याफरः ० व्याख्यातः ' इयं वाक्यम् (२५३ ।
१९—२०) इत्यत्रापि वर्तते ।

१९ पदविभागः ' अन्ने आ अयः ' इत्येव न तु ' अन्न औ
अयः ' । ' अन्नेऽययः ' इति निरुक्तमूलस्थं छ. त. द.
(४१३ । ३) प्राटान्तरे दुर्गेण न स्वीकृतम् । ' अयः ।
अपोऽन्नेऽधि ' इत्येव स्वीकृतम् ।

२१ वैश्वदेवस्य = वैश्वदेवसूक्तस्य । २२ माघणदर्शनेन = मैत्रा-
यणीब्राह्मणे कृतेन विधानेन ।

२५ कथियाय = सुखाय च प्रियाय च । ' कत् ' = सुखम् ।
किन्तु ' कत् ' पदपूरण एव । ' सायण्यर्थम् ' इत्यत्र ग.
च. ज. पाठः ' प्राप्त्यर्थम् ' । प्राप्त्यर्थम् = स्थानप्राप्त्यर्थम् ।
कद् = कदा (सायणः) ।

४१८ २ ' मनामेहे जानीमेहे ' इति च. पाठः । ५ सांयोगिकानि
द्रव्याणि = आयुषादीनि सहाया वा ।

८ ' अद्यायः ' (ग. च. ज. पाठः) = अधि उपरि आयः
अवस्थिताः वर्तन्ते ताः । ' पितृनोति ' इत्यस्य कर्मार्थं
' ताः ' शब्दोऽव्याहार्यः । तत्र ' अधि या आयः ' इत्यन्वयः ।
' वृणाना ' इति पदं न तु वृणानाः । ' अद्यायां वृणानाः
संभजयानाः ' इति ग. च. ज. पाठोऽशुद्ध इव भाति ।
वृणाना माध्यमिकः वाक् ।

१८ अथा स्थानं प्राप्तव्यम् (१) । आमेदं रमे मना या माय-
मिका वाक् नदन् यो मे वदन्त्येति (६—७) इत्यने

पत्रं

पङ्क्तिः

४१८

विवरणे । प्राप्तमेव स्थानं सुश्रवणं भूयात् । आमन्यस्य आभि-
मुख्येन याचितव्यस्येति द्वितीये ।

१८ ' पदमुपरि वर्तन्ते तस्मिन्नपो वृणानाः ' अयं ग. च. ज.
पाठेऽशुद्धः ।

४१९

५-६ महाव्रते (ऐ० आ० ५ । २ । २) निष्केवल्यशस्त्रं
पक्ष्याकारेण निरूप्यते । यथा पक्षिणो द्वौ पक्षौ तथास्य
शस्त्रस्य राधन्तरो दक्षिणः पक्षो बाह्वत उत्तरः । इदं सूक्तं
(ऋ० सं० ७ । २९) दक्षिणे पक्षे शस्यते ।

१३ ' युञ्जं महि रत्नं च धेहि ' (४) इति पाठभेदः घ. ठ.
ठ. ड. पुस्तकैः स्वीक्रियत इति भाति यस्मात्तत्र ' महि
महद्दानं च ' इति व्याख्यानं क्रियते ।

४२०

१० ' पावमानीः पुनस्तु नः ' इति सामवेदपाठः (सा. सं. उ.
आ. ५ । २ । ८ । ५) । पावमानीः = पावमान्यः
ऋचः (सा०) । ' पावमान्यः पुनस्तु म. म् ' इति खैरिक-
सूक्तपाठः (१७ । ३) । ' पवमानः पुनातु मा ' इति
दुर्गशीकृतपाठः । कुत्रत्योऽयं मन्त्र इति न ज्ञायते ।

१५ मन्त्रः कथं बहुप्रक्षरः । १६ प्रविचलेन = अत्यन्तगतिना ।
' प्रविचलेन ' (पाठान्तरे) इत्यस्यार्थो न ज्ञायते ।

१७ ऋत्विग्यजमानेभ्य इतरं पां = देवानाम् । २० पावनेना-
र्थिनः = ते शुद्धिर्भयन्ते ।

४२१

१ वृणो वर्धितुस्त्रिदश्वार्थे । ' वृष्णः वर्धितुः अग्नौ प्रास्ताहुत्या
वृष्टिर्कतुरादित्यस्य चार्थे परस्व ' इति पाठान्तरं मनुस्मृति-
श्लोकानुरोधेन । ' अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्प्रगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याग्जयते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ' (मनु ३ । ७६) ।
मन्त्रे त्वादित्यस्य न कोऽपि संकथः । वृष्टिकर्तेऽत्र एव ।
निषिध्यमानस्य सोमस्य द्वायं नानुपांशुप्रहार्थमन्तर्धीयते ।

२० प्र त इत्यष्टाचचारिणदत्तं सूक्तम् । प्रथमदशर्चसाहुत्या
इति माया इति च द्विनामान ऋषिगणा द्रष्टारः । द्वितीयस्य
दशर्चस्य सिक्ता इति नौशवरी इति । तृतीयस्य पृथ्व्य
इत्यंजा इति च । चतुर्थस्य त्रयोऽपि गणा द्रष्टारः । ग. च.

पत्रे

पङ्क्तिः

४३४

रिणः प्रशंसा बोध्यते । पशुमारणमाग्निगोः कर्म । का तत्र प्रशंसा । कदाचिदनेन जपमन्त्रेण प्रशंसैवाभिमतता दृशात् ।
‘अग्निगुश्चापापथ । उभौ देवानां शमितारौ । ताविमं पशुं
अयतां प्रविद्वांसौ । यथा यथास्य श्रपणं तथा तथा ’
(मैत्रा० सं० ४ । १३ । ॥ । तै० ब्रा० ३ । ६ । ६) ।

१२ ‘ गौरनित्यत्वात् ’ इति शुष्कमसंबद्धं कारणं दुर्गेण दीयते ।
गौरनित्यत्वात्तद्विषयतो मन्त्रोऽप्यनित्यो भवतीति दुर्गमतं
स्यात् ।

१७ ‘ अग्निगो क्षमीष्वमिअग्नि० ’ (४३१ । ९) अयं दुर्गा-
स्वीकृतनिरुक्तमूल्य ठो भाति ।

४३५

६ ‘ दुरः = द्वात्राणि ’ (च. ट.) । ७ ‘ मेधपतिभ्याम् ’
इति तैत्ति० सं० (३ । ६ । ६) ऐ० ब्रा० (१ । ६) पाठः । मेधपतिभ्याम् = अग्नीषोमाभ्याम् । च.
पुस्तकं ट. सद्यश्चपुस्तकेभ्यः पाठान्तराणि शुद्धानीति स्वीक-
रोति । अत्र तु पाठान्तरं न स्वीकृतम् ।

१० येन दर्भेण पशुर्विशसनयोपाक्रियते स उपाकरणम् । १३
‘ सहपूर्वचारी ’ (च. पटः) = पूर्वं चरतीति पूर्वचारी ।
सह पूर्वचारीति सहपूर्वचारी ।

१५ तत् चक्षुः इत्यन्वयः । १७ ‘ एकधास्य स्वचम् = कृत्स्ना-
मखण्डाम् ’ (च. ट.) ।

१८-१९ ‘ अपिशसः ’ इत्येकं पदम् अपिकक्षयत् । अपिना
गृहभागो बोध्यते । “ ‘ पिश ’ अवयवे वा । असण्डि-
तामिसर्यः ” (च.) । २० ‘ उष्याणं = श्वासम् ’
(च. ट.) ।

२१ ‘ प्रशंसा ’ एतदपि प्राणिनामैव स्यात् ।

४३६

२ प्रशंसा (४३५ । २१) = स्वधितिः परशुः । दुर्गमेत-
प्रशमा = प्रशस्तौ । आ अस्मिन्मन्त्रितः = अरन्वयोर्वा
संधी तावदारम्भः ।

३ ‘ भुजवाद् प्ररेणो दोः ’ (अम० २ । ६ । ८०) इति

पत्रं

पङ्क्तिः

४३२

१६ एकेन षणिधानेन = विरामं विना । 'प्रतिधानेन' इति पाठान्तरेऽपि स एवार्थः । २० चान्द्रमस्यः चन्द्रमसि भवा आपः इत्यर्थः ।

४३३

१ रश्मयः सूर्यस्य । ७ 'यथा देवाः' इत्यस्य स्थाने 'यथा-दित्याः' 'तेन नः' इत्यस्य स्थाने 'एवास्मान्' इति मैत्रयीपाठौ (४ । १२ । २) । तथापि तत्र वैश्व-देव एव चरुः । 'यथा देवाः' 'यथाक्षितिम्' 'इन्द्रः' इत्येतेषां स्थाने क्रमेण 'यमादित्याः' 'यमक्षितिम्' 'राजा' इति तैत्तिरीयसंहितापाठाः (तै० सं० २ । ४ । १४) । तत्र वैश्वदेवचरोः स्थाने आदित्यश्चरुर्निरूप्यते ।

८-१० 'यो राजयश्मगृहीतः स्यात्तस्मा अमायास्यायां वैश्वदेवं चरुं निर्वपेत् । तेनैवास्मै प्रायश्चित्तिं विन्दस्यमुम् (अमुं = चन्द्रमसम्) एवाप्यायमानमन्वाध्यायते' । (मैत्रा० सं० २ । २ । ७) तत्र 'यथा देवाः' इति याज्या । स्विष्टकृदिति विशिष्टयागः । तस्मात्प्राग्नेन मन्त्रेणाग्न्याहुतिर्हूयते ।

२२ 'एकया प्रतिधा०' इत्यस्मिन्मन्त्रे इन्द्रः पाता । 'यम-क्षितिम्' इत्यत्रादित्यः । अत एवामंबद्धत्वम् । रश्मयः पानपात्राणि चन्द्रमाः पानविषयो न तु सोमः । 'भवतीति' अत्र 'इति'शब्दो व्यर्थः ।

'पानाय याते' (च. पाठः) = पानविषये ।

२३-२४ इतरस्मिन्मन्त्रे । २५ पाठान्तरे 'उच्यते' सकृदेव । तत्र 'आदित्यः' इत्यनन्तरं विरामः ।

४३४

२ समासव्यासस्तुतिमाजः = वस्तुत आदित्यो रश्मिभिः पिबति । किन्त्वत्र ते स्वातन्त्र्येण पिबन्तीत्युच्यते । ५ पञ्चदशाहःसु संभृतानि । ९ 'अधिगुर्मन्त्रो हि भवति' (च. पाठः) न.यं कस्मिन्नपि निरुक्तमूलपुस्तके पाठः ।

१२ ग. ज. 'प्रशंसानाम' इति पाठः । छ. त. द. पुस्तकेष्वपि स एव । 'अधिगुः' इत्यनेन कस्यचिदधिकार-

पत्रं

४३४

पङ्क्तिः

रिणः प्रशंसा बोध्यते । पशुमारणमग्निगोः कर्म । का तत्र
प्रशंसा । कदाचिदनेन जपमन्त्रेण प्रशंसैवाभिमता स्यात् ।
' अग्निगुश्चापापश्च । उभौ देवानां शमितारौ । ताविमं पशुं
अयतां प्रविद्वांसौ । यथा यथास्य श्रपणं तथा तथा '
(मैत्रा० सं० ४ । १३ । ४ । तै० ब्रा० ३ ।
६ । ६) ।

१२ ' गोरनित्यत्वात् ' इति शुष्कमसंबद्धं कारणं दुर्गेण दीयते ।
गोरनित्यत्वात्तद्विषयको मन्त्रोऽप्यनित्यो भवतीति दुर्गमतं
स्यात् ।

१७ ' अग्निगो शमीध्वमित्यग्नि० ' (४३१ । ९) अयं दुर्ग-
स्वीकृतनिरुक्तमूलप ठो भाति ।

४३५

६ ' दुरः = द्वाराणि ' (च. ट.) । ७ ' मेधपतिभ्याम् '
इति तैत्ति० सं० (३ । ६ । ९) ऐ० ब्रा० (६ ।
६) पाठः । मेधपतिभ्याम् = अग्नीषोमाभ्याम् । च.
पुस्तकं ट. सदृशपुस्तकेभ्यः पाठान्तराणि शुद्धानीति स्वीक-
रोति । अत्र तु पाठान्तरं न स्वीकृतम् ।

१० येन दर्भेण पशुर्विंशसनः योपाक्रियते स उपाकरणम् । १३
' सहपूर्वचारी ' (च. पठः) = पूर्वं चरतीति पूर्वचारी ।
सह पूर्वचारीति सहपूर्वचारी ।

१५ तत् चक्षुः इत्यन्वयः । १७ ' एकधास्य त्वचम् = कृत्स्ना-
मखण्डाम् ' (च. ट.) ।

१८-१९ ' अपिशसः ' इत्येकं पदम् अपिकक्षयत् । अपिना
गूढभागो बोध्यते । " ' विश ' अवयवे वा । अखण्डि-
तामित्यर्थः " (च.) । २० ' उद्यमाणं = श्वासम् '
(च. ट.) ।

२१ ' प्रशसा ' एतदपि प्राणिनामेव स्यात् ।

४३६

२ प्रशसा (४३५ । २१) = स्वधितिः परशुः । दुर्गमते
प्रशमा = प्रदास्ती । आ अरन्निमंभितः = अरन्त्योर्वी
संधी ताचारम्य ।

३ ' भुज्याद् प्रवेष्टो दोः ' (अम० २ । ६ । ८०) इति

पत्रं

पङ्क्तिः

४४०

कर्मनाम शमयतेर्वा शक्नोतेर्वा । (१२-१३) न
व्याख्यातम् ।

१० सोमस्येन्द्रस्य चाधिकारो विनियतः । सोमो मदेन वीर्यमुत्पाद-
यति । इन्द्रो वृत्रादिवधं कृत्वा वर्पति । १३-१४ सोम
इन्द्रो वा संनिहितः । तस्मात् ' अस्य ' । १९-२० यैः
पदार्थैः इन्द्रः स्तोत्रा प्रतिमीयते ।

४४१

६ मानानि = यैरिन्द्रो मीयते तानि । २१ किण्वं = तण्डुलादि-
द्रव्यकृतसुराबीजम् । दुर्गमते किण्वम् = असारं द्रव्यम् ।

४४२

१३ हरिवतीः = हरिभ्यां युक्ताः तद्भक्षणायेष्टाः । १५ ऋजीपं
हयोर्भागः । हरी इन्द्रस्याश्वौ । तेन हयोर्ऋजीपिस्वमिन्द्रे
स्थापितम् । एवं लक्षिते इन्द्रे लक्षणा ।

१७ अ.ष्टं = चणकादिभर्जनपात्रम् । १८ ' फले ' इत्यस्य
स्थाने ' खले ' इति पाठो दुर्गोपलब्धे कस्मिंश्चित्पुस्तके
स्पात् ।

४४३

६ अचीकमततो = अचीकमत + उतो । उत + उ = उतो ।

७ हरी अश्वौ युनक्तीति हरियोजन इन्द्रः । तदेवताको प्रहो
हारियोजनः । अर्च्युणोन्नेता हारियोजनप्रहप्रहणहयनादि-
कर्मणे प्रेष्यतेऽनेन प्रेषमन्त्रेण ।

८ धानाभिर्मिश्रिताः सोमास्तेषाम् । ९ धानाः नित्यं स्त्रियां
बहुल्ये च ।

१० ' रथचर्मणे ' (३) इत्यस्य स्थाने च. पाठः ' रथचर्मणे ' ।
कोऽर्थः । ११ स्वगृहं प्राप्तं त्वाम् । १२ तव पत्नी ।

१६ ' उद्वचमिति वा पाठः । यज्ञस्य आगुरः संकलितस्य ।
उत् उत्कृष्टाम् ऋचं समाप्तिं गम्याम् । ऋचं नाम यज्ञ-
समाप्तिमिति यावत् ' (च. ट.) ।

४४४

५ ' अपि एव ' इत्यनयोर्न किमपि स्वारस्यम् ।

१२-१३ ' सोमं प्रवर्तते ' इदमशुद्धं यतः सोमशब्दः पुमान् ।

' सोमं मुनम् ' इति ग. च. ज. पाठः । द्वावपि पाठौ
दुर्बोधावेव । ' सोमउत्रास्यम् ' इति समस्तं पदं स्पात् ।

पत्रं

पङ्क्तिः

४४५

४ 'ऊरुस्यामश्नुते' इति 'ऊर्वाशिनी' भवितुमर्हति ।
किमर्थम् 'ऊर्वाशिनी' ।

१६ नायनेन = नयनसंवन्धिना । नयनात्मकाशः पदार्थं गत्वा तं
प्रकट्रीकरोतीति वैज्ञेयैरुक्तम् ।

२० अभक्षस्येति अप्सशब्दवाच्यार्थस्य प्रख्यापकः । नायं साधुः
समासः ।

२५ चातुर्मास्येषु वरुणप्रवासनाम द्वितीयं पर्व ।

२५ वरुणपाशरूपं कर्म वर्ततेति वरुणप्रवासः सा यागविशेषः । दधि-
सर्पिर्मिश्रैः सक्तुभिर्निष्पादितानि पात्राणि करम्माणि । तानि
शूर्पे निधीयन्ते । पत्नीयजमानौ तच्छिरसोर्ध्वरदिवा दक्षि-
णामौ तानि पात्राणि जुहुतोऽनेन मन्त्रेण ।

४४६

२ यदधं तत् = यत्तदधम् । तत्पदं व्यर्थम् ।

४ अवयजनम् = अपनयनम् । मन्त्रपाठः काठकसंहिताया
गृहीतः । निरूपणं तु मैत्रायणीसंहितासदृशसंहिता-
पाठस्य । 'यदेकस्यापि धर्मण्येतदवयजामहे स्वाहा' इत्यस्य
स्थाने मैत्रायणीपाठः 'तदेकस्यापि चेतसि तदेकस्यापि
धर्मणि । तस्य सर्वस्याहंसोऽवयजनमसि' । निरूपणं 'तत्'—
स्थाने 'यत्' (१ - ३) 'अहंसः' स्थाने
'एनसः' (३) ।

'अवयजामहे० नाशानार्थः' घ. ट. ठ. ड. पाठो मही-
धरकृतयाजसनेयिसंहितागम्यात् । याजसनेयिपाठे 'यदे-
नश्चक्रमावयमिदं तदवयजामहे स्वाहा' । नत्र 'यदस्त'
इत्यादि न वर्तते ।

'करम्भपात्राणि = यवपिष्टेन निर्मितानि त्रीपाकाराणि'
(च. ट.) ।

५ 'प्रघातान् हवामहे मरुता यज्ञवहसः । करम्भेण सजो-
पसः' । वरुणप्रवासानर्हन्तीति प्रघात्या मरुतः । करम्भ-
त्रास्यं हविर्भेदेवताकम् ।

९ तस्य = आप्लव्यासविधेयतस्मादुपनयनस्य अप्सशब्दस्य ।

१५ आश्विन्य इष्टकाः पत्र । पत्रमिर्मिश्रैः पयैष्टका उपस्थाति ।

पत्रं

पङ्क्तिः

४४६

१६ पृथिव्याः पुरीषमसि = त्वं पृथ्वी व्याप्नोषि । १७ तत्र नाम
अप्सः ।

१९ ' अस्मे अस्मभ्यं० यजतिर्दानार्थः ' च. झ. ट. ठ. ड.
पाठो महीधरभाष्यः । च. ट. पुस्तकयोः प्रान्तभागे
लिखितं विवरणमपि तस्मादेव ।

४४७

१ व्याप्यर्थस्य प्रोक्तेः । १४ अतिशयेन = अतिशयवत् ।
अनपायि = अनश्वरम् ।

१७ ' स्कन्धं = स्खलितम् ' (च.) ।

४४८

१७ इयं वसिष्ठजन्मकथा बृहदेवतायां (५ । १४९ - १५५)
वर्तते ।

१९ ' निर्वाज० दुःस्वप्नः ' इति प्रश्नः ।

४४९

१ मत्स्यपुराणे परस्परशापेन निमिशसिष्टौ विदेही जातौ ।
अत्रान्तरे सपस्तपस्वतोर्मित्रावरुणयोर्दृष्टिपथे पुण्योद्यमं
कुर्वन्पुष्यदयागात् । तद्वर्त्तने तयो रेतोऽस्खलन् । तत्रेतः द्वाप-
र्भातामौ कुम्भे व्यधात् । तस्माद्वसिष्ठागरगौ जातौ (मत्स्य०
अध्या० २०० श्लो० २३ - २९) ।

४ वसिष्ठः स्वप्नान्तरेणात्मानं कथं संबोधयेदिति विस्मयः ।
उर्वस्या दर्शनान्मित्रावरुणयो रेतश्चस्खलन् तस्मात्त्वं जात इति
वसिष्ठमन्यः कोऽपि कथयेत् । युष्मदक्षत्र प्रयोगः । ' त्वा ' इत्येतत् युष्मच्छब्दस्य द्वितीयैकवचनम् । ५ इवशब्देन
विरोधः केवलमात्रात् इति बोध्यते । वेदा अनाद्यनन्ताः ।
वसिष्ठः केषलं ब्रूयात् । तस्य जन्म पुरैव वेदे कथितम् ।
वसिष्ठस्तद्गुणस्य केवलमन्यादेस्तं करोति । ' बृहद्वसिष्ठो वसिष्ठं
ब्रवीति ' इति ट. पुस्तके विवरणम् ।

७ इ = संभूतः + प्यः = प्यानीयः । कदाचित् ' मंदुनः ' इति
यारकेन लिखितं स्थानम् ।

१५ पूजायाः कारकं करणं साधनं तत् ।

१६ ' अथवा वपुष्करं तदिनि पुष्करम् ' इति पाठः सुबोधः ।
पुष्करं तदिति वपुष्करं = गन्धं पुष्करमिति किमर्थम-
भिधीयते । यस्मान्नवपुष्कतम् ।

४५०

२१-२२ द्वितीयार्थं प्रत्यक्षं तस्मात् ' म इन्द्रः चक्रर ' इति तृती-

पत्रं

पङ्क्तिः

४५०

यपुख्ये प्रयोगो द्वितीयपुख्ये दुर्गेण विपरिणम्यते । २२
इन्द्रः (अध्याहार्यः) संतनोति ।

२३ ' तौ (बाबादिलौ) मिथुनं समेतौ ततः प्राणोऽनायत स
इन्द्रः ' (वृ० उ० १ । ५ । १२) । एषः सूर्यः ।

४५१

५ ' न अयन्ति = अपि तु अयन्त्येव ' (ट.) । इदं
विवरणं ठ. ड. पुस्तकयोरन्तर्भाव्यते ।

६ अपरिच्छिद्यम् = संवाधारहितम् । पक्षेषु तवाप्तनं न
कोऽपि वामोति ।

२२ निरुक्तं = प्रयुक्तम् ।

२३ ' केवलं समाज्ञायानुक्रमविपर्यासो याजपत्यम् । याजगन्धं
सनेम याजसत्यमिति ' (च. पाठः) = ' याजगन्धं सनेम
याजसत्यम् ' अस्मिन्निगमे ' याजसत्यं ' परं समाप्नोत्ये
योऽनुक्रमः ' याजसत्यं याजगन्धम् ' इति तस्य विपर्यासः ।

४५२

५ ग. च. ज. पुस्तकेषु अहीनमुक्ते च ' इति पठः । अत्र
' च ' पदस्य प्रयोजनं न ज्ञायते ।

११ ' धावति ' शब्दो नात्र समीचीनः । ' ईयति ' शब्दो युक्तः
स्यात् । (यस्थ इन्द्रः कयं धावेत् ।

२३ ' गव्यं गृहातेः ' (१८) गव्यतिर्मिथीभावकर्मा ' (१९) ।
तेन आगधिता = आगृहीता अभिमिश्रिता च ।

२४ प्रतिकर्षं = नकुलम् ।

४५३

१ कर्त्तव्यकानाग्नी नकुलजातिः । ' मूषा आलूनालभतेऽन्त-
रिक्षाय पादकान् दिवे कसान् दिग्म्यो नकुलान् बभ्रुकान-
वान्तरदिशाम्यः ' (मैत्रा० मं० ३ । १४ । ७ ॥ वा०
सं० २४ । २६) । कसाः = मृषकभेदाः (मही०
भा०) । सुदेशताभ्रणनार्थं मृषकविशेषानालभते । ' कांचि-
दिवे कसान् ' इति ग. च. ज. पठः । ' सा हि काचि-
नकुलजातिः दिवे कसानिति श्रूयतेऽध्वये ' इति मृदवाख्यं
स्यात् ।

१३ ' मेष्यानिधेः ' इति ग. च. ज. पठः । ' प्रतिगृहीतृ ' (१६) इति च । ' प्रतिगृहीतृ ' इति श्रुद्धं मृषम् ।

पत्रं

पङ्क्तिः

४५७

६ प्रागञ्चितेन = पुरोगतेन । ७ अद्यत्वे = अद्य ।

१० आदित्यस्य मृदुभावकरणाद्बन्धित्वमस्पष्टम् । ११ संस्तम्भः = अपारिपाकः काष्ठिन्यम् । ११ व्रीडयतिना = व्रीडयति-क्रियापदेन । १२ यत्र = यस्मिन्निगमे । ततः = तस्मात् ।

१२-१३ पूर्वोऽपि स्पष्टः । अयमपि स्पष्टतरः ।

१४ ' व्रीडयति ' (४५६ । ७) इत्येको निरुक्तमूलपाठः । ' व्रीडयति ' इत्यन्यः । वृत्तिपुस्तकेषु ' व्रीडयति ' ।

४५८

४ ब्राह्मणस्पष्टे लिङ्गतो बार्हस्पत्येऽपि सूक्ते = अनुक्रमणिकायां २ । २४-२६ सूक्तानि ब्राह्मणस्पष्टानि । यास्वधु बृहस्पतिश्चन्द्रः श्रूयते ता बार्हस्पत्याः । शिष्टा ब्राह्मणस्पष्टाः । ग. च. ज. पाठे इदं सूक्तं बार्हस्पत्यम् । किमाधारेयमुक्तिरिति न ज्ञायते ।

१३ व्रीडयतेः स्तम्भनार्थः । स्तम्भनं = काष्ठिन्यम् । तद्वैपरीत्यं मृदुता ।

१४ ' व्रीडयतिः ' ऋक्संहितायामितरामु च नोपलभ्यते ।

१५ ' निष्पपी ' अयं लेखनप्रमाद एव ।

४५९

७ हृदयमोक्तसोपनीयते । निवासमिव हृदयमनुप्रविश्य ।

८ सत्तम्यम् (पाठान्तरं) = (सद् + तम्यम्) आसितम्यम् ।

' सद्गन् प्रतिपश्यतीति ' (४-५) इत्यन्यथः । ९-१०

' मयतो हृद्गन् तमर्थम् ' इति च । १० ' अभिसंवन्धयित्वा ' इदं नामवाचुः ' अभिसंवन्ध ' इत्यस्य रूपम् ।

१३ आन्मस्तुत्याश्रयभूतात्कर्मणः ।

१४ उपनामय = अस्मदधीनानि कुरु ।

४६०

३ ' वृत्तवैन्द्री ' इति प.ठ.न्तरम् । सर्वानुक्रमणान् छन्दोनुक्रमणान् च गायत्री छन्द इत्युक्तम् ।

५-६ अ हृदिगामीनि यन्मवास्तिऽयमुपगच्छता प्रतिश्रुतम् ।

६ ' संस्कारपूर्वं ग्रहणं स्यादुपाकरणं ध्रुवः ' (अमर० २ ।

७ । ४१) । ' युष्माकमुपाकरणार्थम् ' अत्र उपाकरण-

पत्रं
४६०

पङ्क्तिः

स्वार्थो न ज्ञायते । पशोरुपाकरणं = पशोः पवित्रीकरणम् ।
युष्मान्पवित्रीकर्तुमित्यर्थः स्यात् । उपकरणार्थमिति पाठान्तरे
' युष्मद्विताय ' इत्यर्थः साधुः । उपकरणम् =
उपकारः ।

४६१

८ इन्द्रं तर्पयामह इत्युद्देशेन ।

८ ' अङ्गेति क्षिप्रनामाश्रितमेवाङ्कितं भवति ' (४६० ।
१८) ' निचमनेन ' (१९) इति च न व्याख्यातम् ।

१२ ' लोफः ' इदं पदं न कस्मिन्नपि पुस्तके विद्यते । ' अव-
रफुरसि ' इति त. द. पठः । ' अवस्फुरति ' इति छ.
पाठः । ' अवस्फुरिष्यति ' इति दुर्गतर्कितपाठो ड. ध. ध.
पुस्तकैः स्वीकृतः । लक्ष्यते = अवगम्यते गृह्यते ।

१३ तदेतत् पुरुषैल्लक्षणं तस्मान् । ' तदेतत् ' इदं व्यर्थमेव ।
' शृणोति च गिरः ' इति पाठः ।

१५ अयं मध्यः प्रत्यक्षकृतः । तस्य लक्षणम् । ' अवस्फुरसि '
इति मध्यमपुरुषस्य योगः संबन्धः प्रयोगः । ' अभिसंबन्धी '
पदं व्यर्थम् । अयं मध्यमपुरुषयोगो मध्यं प्रत्यक्षकृतस्य
यत्प्रक्षणं तेनाभिसंबन्धयति । प्रत्यक्षकृतस्य लक्षणं मध्यम-
पुरुषयोग एव ।

१६ प्रथमपुरुषयोगः परोक्षकृतस्य लक्षणम् । ' परोक्षकृताः
(ऋचः) सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते प्रथमपुरुषैश्चाख्या-
तस्य । प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगाख्यामिति चैनेन सर्व-
नाम्ना ' (निरु० उक्त० १ । १-२) ।

१८ लक्ष्ये = तर्के मन्ये ।

२१ अस्मिन्मूले प्रत्यक्षकृताः परोक्षकृताश्च द्विविधा ऋचः ।
तेनेयवृक् परोक्षकृता स्यान् ।

४६२

५ ' चान्तः ' इति चमथान्तोर्निष्ठान्तं स्यात् ।

१५ ' धृतकक्षः ' इति पाठान्तरम् । सर्वानुक्तप्रणामार्थानुक्रम-
णं च मुक्तश्च न तु धृतकक्षः ।

४६३

३ ' निचमन'शब्दः कोटिषु नोपलभ्यते । समुद्रवाची निजु-
गुगनशब्दः कस्यामपि नाम्नायां नोपलभ्यते ।

पत्रं

पङ्क्तिः

४६३

५ नीचैरस्मिन् ० = ' अवाचीनानि पात्राणि जलमध्ये भ्रियन्ते यस्मिन्वज्रविशेषे सोऽवभृथः ' (महीधरः ८ । २७) । पात्राणि स्यालीभ्योऽन्यानि चमस दीनि (७) । सर्वं सेमलितं जले प्रक्षिप्यते ।

६ तत्र ह्युक्तम् = कुत्रोक्तमिति न ज्ञायते । अवभृथेष्टौ सर्वमुच्चैरेव पठ्यते । अवभृथेष्टौ ' धानेन भवति ' इति ग. ज. पाठः । ' अवभृथेष्टौ ' उपाखेव चरं ध्यानेति ' इति च. पाठः । अयं पाठः शुद्धीकृतः । मूलपाठः कीदृश आसीदिति न ज्ञायते ।

कात्यायनसूत्रेषु जलगमनादि सर्वं तूष्णीं क्रियते । ' तूष्णीमेत्यभ्यवेत्य मज्जकल्पवभृथेति ' (कात्या० ५ । ५ । १०) = गृहात्तूष्णीमपः प्रति गच्छन्ति तूष्णीमेवापः प्रविशन्ति । अत्र सामगानं जलावक्रमणयाचनं च प्रतिषिध्यते ।

७-८ ' अवभृथेति मज्जयति ' (कात्या० १० । ९ । ३) = अवभृथेति मन्त्रेण ऋत्रीयमुष्ममप्सु नीचैः प्रवेशयति ।

११ अनेन मन्त्रेण पात्राण्यभिमादन्ते एकत्र क्रियन्ते ।

' सोमलितं प्रस्थति ' (कात्या० १० । ९ । ५) = स्नानादनन्तरं सोमलितं द्रोणकल्पशाक्यसु प्रक्षिप्यते ।

' अवभृथं संसादयति ' (सत्या० ९ । ५) = अवभृथम् अवभृथे प्रक्षेपणीयं द्रव्यमेकत्र करोति । ' अवभृथद्रव्यम् = पुरोडाशमाग्न्यान्वीदुम्बरीमश्विनपणक्तके सरपामृजीवं च यत्किंच सोमलितमन्यत्र चतसृष्यः सोमस्थान्द्रव्यः ' (सत्या० ९ । ५) । ' अवभृथनिचुङ्कुणेनायवभृथं मंप्रविशन्ति ' (सत्या० ९ । ५) अनेन मन्त्रेणावभृथद्रव्यं प्रक्षिपन्ति जले ।

१७ रेणुं = हिंसनम् ।

१८ ' निचुङ्कुण निचुङ्कुणे च ' (४६२ । १२-१३) इदं न व्याख्यातम् ।

पत्रं

पङ्क्तिः

- ४६४ १५-१६ त्वा यन्तम् (१४) = अन्वानं यन्तं त्वां तत्र प्राणं क्षुधा
विभ्रस्यमानम् (विभ्रंसमानं) । क्षुधया पीडितोऽध्वगस्य प्राणः
स्वर्गं गमाक्रमत इव । अति धिमेनदानेन जीवयतीत्यर्थः ।
त्वायन्तं = त्वा आयन्तम् इति पदे । न तु त्वा यन्तम् ।
- १७ ' कुमार. ' (३) पदं भाष्येऽध्याहृतम् । यथा कुमारो
भूमौ पतितं पक्षिणं पाशय्या बध्नाति तथा क्षुधा पीड्यमानं
प्राणमन्नेन शरीरे बध्नाति ।
- ४६५ १७-१८ उच्चिक्रमिषून् प्राणांस्त्वच्छरीरे नियन्त्रयति ।
१ एवमेतस्यात् = एवं प्राणोऽप्यध्वगः स्यात् ।
- १४-१५ अस्य सूर्यस्य संबन्धिनं तं प्रत्युपकारं विजानीहि
यत्त्वया ० ।
- ४६६ १७-१८ ते सर्वं भूतानां च घृष्टुना संग्रामे वर्तमाने ।
१४ सायणभाष्ये ' वृकश्च द्रमा ० विक्रान्तज्योतिष्को वा ' अयं
निशतिखण्डस्थैको भ.गो न तु स्वतन्त्रः खण्डः ।
- ४६८ ५ पृष्ठरोमी अत एव सरलं स्थानुमशक्तः । ' कंचिदक्षम् '
इति पाठान्तरम् । अक्षः = रथभागः । अयं पाठोऽप्युक्तो
यस्मादन्त्रेच्छेदनमुत्पाटनं भवति । तद्वृक्षस्य तत्सदृशवस्तुनो
वा संभवति नाक्षस्य ।
- ६ उत्कर्णो भूत्वा = सरलं तिष्ठन् नयने ऊर्ध्वं कुर्वन् ।
८ दर्शनेन = तेजसा ।
९ ' ऊर्ध्वकायः ' इति पाठान्तरम् । चन्द्रमसः कः कायः ।
१४ के ते शाखिन इति न ज्ञायते ।
- ४६९ ९ के एते निदानविदो बहुधाः कस्मिंश्च ग्रन्थ एतदाह्वानं
विद्यत इति न ज्ञायते ।
२३ ' उरान् = ऊर्णावतः ' (च.) ।
- ४७० १ अभूषति = परामभवति इत्यर्थः स्यात् । ' उपकरणसंपत्
सम्बन्धः ' (च. प.ठः) । ' सम्बन्धश्चान्दस्यार्थो न
ज्ञायते ।
४ सरमायाः पुत्रा नत्तरोऽपि देवानामेव श्वानः श्वुः ।
५ देवैरनरेषां वन्यशूनां मयीकारमावात् ।

- पत्र . पाङ्क्तिः
- ४७० १३ ' वायुशब्दे ' (धा० ४ । ५७) । नायं भुवादिगणः ।
' वासते ' इति ग. च. ज. प.ठः ।
- १९ वाशिते सति परितुष्टः = वाशितेन परितुष्टः ।
- ४७१ ३-४ ' अनाश्रितमन्यत्र कश्चित् = न तत्त्वमचक्षुः । अविनाशीत्यर्थः ।
- ४७२ ३-४ ' ऋतस्य वर्धयितारौ ' (४७१ । १२) इति सायणगृहीत-
पाठो दुर्गस्यापि संमत इति भाति ।
- ६ ' विविज्जपः ' (ग. च. ज. प.ठः) विविक्ते जपतीति ।
विज्जपः = विजने जपतीति ।
- १४ विज्जपो जपत्येव न ज्ञोति । इन्द्राग्नी तस्य गृहे भक्ष्यं न
लभेधे ।
- १५ जोषवाकम् = अविज्ञातम् । जोषवाकशब्दः अविज्ञातस्य
नामधेयम् । अविज्ञातवाचीत्यर्थः ।
- ४७३ २१ ' नृमेधपुरुमेधौ ' सर्वानुक्रमण्यामार्थानुक्रमण्यां च ।
- १ यथा पित्र्यो भागोऽनायासेनोत्पन्नो भवति तस्य च लोकाः
प्रणयिनः तथा राधस्त्वच्च उत्पन्नं वयं याचामहे । तस्य च
वयं प्रणयिनः । उत्पन्नप्रणयिणात् (पाठान्तरं) = वपनि-
तरलोकवदुत्पन्नस्य प्रणयिनस्तेन वारणेन ।
- २ शिवशरीरणाम् = जीवताम् ।
- ' मुमहत् इन्द्र शरणमन्तरिक्षे कृत्तिरेव ' (४७१ ।
१४-१५) अयं भाष्यस्थः क्रमः ' मु ' इति पदं च
व्याख्याने न विधेते ।
- ५ ' मुक्ता नः ' (४७२ । २०) इत्यस्य स्थाने ' मुन्यानः '
' अश्रवन् ' (४७२ । २०) इत्यस्य स्थाने ' अश्रवम् '
इति दुर्गशीकृतपाठौ भागः । ' मुक्ता नः ' इत्यस्यार्थः
कः स्व. व. क्ष. ट. ठ. ड. पुस्तकेषु दीयते नेतेषु ।
' येनपदं व्यर्थं यमात्तस्यान्वयः कश्चिन्तः ।
- १२-१४ ' कृत्तिवाक्ताः० ' इत्यस्य स्थाने रु. ध. प. पुस्तकेषु
' कृत्ति इमान् आचार पिनाकं विभ्रतामहि ' (४७१ ।
१६) ।

पत्रं

पङ्क्तिः

४७३

१७ 'न्यायं = व्याकरणानुसारं रूपम् ।

१८ 'आश्रुतम्' इति ग. च. ज. पाठस्तथा छ. ङ. द. पाठोऽपि ।

४७४

१ 'कृतादीनाम्' इत्यत्र च. मूलपाठः 'त्रेतादीनाम्' ।
आस्फुरे = अक्षाणां पाते ।

६ यत्स्यात् (पाठान्तरं) = यदि स्यात् ।

८ द्वितीयं 'यत्' व्यर्थम् । १३ अत्र चेत्तः सम्प्रधिः ।
(४७० । ७-८) ।१८ कृतप्रेतादयो घृतशब्दाः । कृतमंशुक उत्तमोऽक्षपातः । स
विद्यतेऽस्य स कृतवान् ।१९. 'अन्यैः कितवैः सह' ग. च. ज. पाठः । 'सह' स्थाने
'स हि' पाठान्तरम् । अन्यैः कितवैः सहायमपि कृतवन्
न्यादिति सुहृद्भिराशास्यते ॥

४७५

२ पत्रं ५३ । २० इत्यत्र ग. ज. व. झ. ट. पाठः 'अंगेन
त्व नेम' । च. पाठः 'त्व त्वत् नेम' । अत्र ग. ज.
पाठः 'अशीतिनन्वसमसिमेत्यनुच्चानीत्युक्तम् । मसिमे-
त्यनुर्वाणीति ह्युक्तम्' । च. पाठः 'श्रीश्वत्ससमसिमेने
मेत्यनुच्चानीत्युक्तम्' । कश्चिन्मन्थ इदं मूर्धं कथं मूलपाठ
इति न ज्ञायते ।

४७६

१ स्वभूतिः = स्वस्मात् भूतिः उत्पत्तिर्यस्य सः ।

५ 'यद्व्यवहति' अत्र 'अन्यन्' व्यर्थम् ।

१० किं त्येतद् द्रष्टव्यत्वाद्भामिष भवितुमर्हति : । अनुदात्तत्वा-
न्नाहति । दुर्गकृतविवरणं न सरलम् । अत्र तथा निरु० १ ।८ (पत्रं ५४ । १७) इत्यत्र च द्रष्टव्यम् इति पाठः ।
तम्यत्र क. ख. द. प. ट. 'द्रष्टव्यम्' । 'द्र' स्थाने
'द्र' इत्युच्चारस्य कारणं न दृश्यते ।१८ भोष्यं = भोग्यतां = मित्राणां सोमजीव्यत्वम् । तद्वत्-
सोमेन जीवन्ति ते मित्राणि । अंशोपजीव्यत्वं (पाठान्तरं)
= सोमांशोपजीव्यत्वम् । यानि धनानि तानि ।

२१ 'विधीतिर्दानकर्म' (४७५ । ११) न व्याख्यातम् ।

- पञ्च. पाङ्क्तिः
- ४७७ ११ 'उरुष्यतौ रक्षाकर्मा० न्यके समे' (४८५ । १२) न व्याख्यातम् ।
- २६ 'युवां पूरयति' (४७७ । ४) इत्यन्वयः ।
- ४७८ २-३ सर्वभूतानां बुद्धयर्धदेवताभावेनावस्थितः । ३ प्राणभावेनावस्थितः सर्वभूतान्तर्गतानामपां प्ररयिता ।
- ७-८ नरो यावापृथिव्यो आदित्य उदकेन पूरयति ।
- १० पृणातिनिगमौ (४७७ । १७) = पूरयत्यर्थौ ।
- प्राणातिनिगमौ = प्राणपत्यर्थौ ।
- ४७९ ९ 'दुःपूर्य' निष्कमलं सर्वपुस्तकेषु 'दुःश्रयम्' (४७७ । २०) ।
- ४८० ४ 'प्रथमा देवहूतयः = पूर्वे मुख्या वा देवानामाहूतारः' (ट.) । इदं ठ. ड. पुरतकपोरन्तर्भाष्यते । सायणभाष्यादृहीतमेतत् ।
- १० 'ऋणेनेव न्यविशन्त । नीचैरविशन्त । अधोगतिं प्राप्ता इत्यर्थः' इदं पाठान्तरं सायणभाष्यादृहीतम् । 'ऋणे हेव ते न्यविशन्तास्मिन्नेव लोक इति वा' (४७९ । १७ - १८) इदं न व्याख्यातम् । तथा 'पृथक्प्रथतेः' (४७९ । १४) । ऋणे हेव न्यविशन्त = ऋणमुक्ता न भवन्ति । ऋणवद्वा अस्मिन्नेव लोके तिष्ठन्ति ।
- ११ अम्यासो ह यत् = क्षिप्रमेव । १६ समीरितः = प्रसारितः ।
- ४८१ ४ निर्वर्तय = संपादय । ६ 'धत्स्य' (४७९ । २१) न व्याख्यातम् ।
- ९ धर्मणे धारयिषे ते तुभ्यम् । १० कर्म करणे यस्य येन कर्म क्रियते स कर्मकरणः ।
- २१ विद्यामित्र इन्द्रस्य त्रिवं पादोपेयाय । य 'ऋते' इति संबोध्यते ।
- ४८२ १ विकल्पनः = निविधार्थकार् ।
- ४८३ २ 'द्रोणं द्रुममयं भवति' (४८२ । ११) अत्र द्रोणमन्त्रोऽपुस्तकः । कोऽर्थः ।

पत्रं

पङ्क्तिः

४८३

३ ' अव्यतम् = अवटं निघ्नभूतमिति यावत् ' (च. ट.) ।

इदं ठ. ड. पुस्तकयोरन्तर्भाव्यते ।

४ व्यापयन्ति = ' व्याप्नुवन्ति ' इति व्याप्यम् । (' आपृ लम्भने ' १० । ३०६) ।

६ कोशस्थानीयानि = यथा कोशाः कूपेषु तथा अंसत्राणि संग्रामे । कोशः = चर्ममयं पात्रम् । दतिरित्यर्थः । ७-८ जलवन्नरा उल्लिख्यन्ते । ८ किञ्चित्साधर्म्यम् = संग्रामकूपयोः सादृश्यमल्पम् ।

९ संग्रामाधिकारात् । विषयः संग्रामोपमा । तस्य चोत्सेचनेन संबन्धः । संग्रामे धनुःकवचेभ्यः किमन्यदुल्लिख्येत ।

११ ' ततः ' पदं व्यर्थम् ।

१२ इदं त्वन्यत् = ' आवह ' पदं भिन्नमाहावपदात् । ' आहावः ' ' आवहः ' आपाततः समानध्वनी एतौ शब्दाविति कृत्वा यास्कस्तौ निर्वक्ति । अथवा । ' द्रोणाहावम् ' इत्यनेन ' द्रोणावहम् ' इति पाठः सूचितो भवेत् । तेन ' आहावः ' यथावस्थित एव निरुक्तः । यदि ' आवहः ' इति पाठः कल्प्येत तदा ' आवहनात् ' इति व्युत्पत्तिः । द्रोणो द्रुममय आवहो यत्र स कूपः । आहावो द्रुममय आवहोऽपि द्रुममयः । यथा कूपे आवहस्तथा संग्रामे आहावो रथः । कूपोपमया आवहशब्दः सूच्येत ।

१३ उद्यतेऽस्मिन्नुदकमित्यावहो न तु ' आहवः ' । ' आहव आवहनात् ' (पाठान्तरम्) इति नैकस्मिन्नपि पुस्तके निरुक्तपठः । ' आवहनात् ' इत्यवहधातोर्ध्रिपरिणतस्य नामीभूतस्य न तु ' अ. व्हे ' धातोः । ' आवह ' शब्दः कोशेषु ' मरुद्दिशेषु ' ' अग्निजिह्वायां ' च वर्तते । ' आवहः = बलीवर्दादीनां जलपानार्थं जलाधारविशेषः । स च काष्ठमयः ' (च. ट.) ।

१४ अय = अयाङ् । आतितः = गतः । अवातितो नीचैर्नीचैः खन्यमानो महान् भवति । ' महानवातितो भवति ' (४८२ । १२) इति दुर्गस्वीकृतमूलपठः स्यात् ।

पत्रं

पङ्क्तिः

४८३

१९ ' कुप निष्कर्षे ' (धा० ९ । ४६) । निष्कर्षः = वि-
लेखनम् । १६ कुपितः = विलेखितः वितानितः ।

१७ आचितः सर्वतश्चितः । मात्राः द्रव्यांगाः । द्रव्येण पूरितः ।
महत्त्वात् = महान् द्रव्यसंचयस्तेन । ' आचितमात्रो
महान् भवति ' (६८२ । १५) = यदा द्रव्येण पूरितं
भवति तदा महद्भवति । मात्राभिराचितो भवति महत्त्वात् ।
(दुर्गः) = संचयकोशः कोशागारं महान्त एव मात्रा-
भिराचितो भवति ।

२० ' कोकुवा ' (४८२ । १७) कोशेषु नोपलभ्यते ।
२१ ' सा एतस्मिन् धीयते ' (४८२ । १७) इति
दुर्गपाठः ।

४८४

१ तथाविधं = शब्दानुकरणात्मकम् । ' कोकूपमाना .'
' कोकूपतेर्वा शब्दकर्मणः ' (४८२ । १७-१८) न
ग्राह्यातम् । ' जिह्वा कोकूपमाना (शब्दानुकरणा)
वर्णानुदति तस्मात्कोकुवा । अथवा । शब्दार्थस्य कोकूप-
धातोः कोकुवाशब्द उत्पन्नः स्यात् ' इति यास्कस्यार्थः ।
कोकुवा ताडुनि वर्णानुदति तस्मात्कोकुवानुदनात्ताडु का-
कुर्दः कथं स्यात् । दुर्गविवरणं निराधारं भाति । ' ताडुव-
र्णान् ' (ग. च. ब. पाठः) = ताडुनि उत्पन्नान् वर्णान् ।
नुदधातोर्भावे नोदनं न तु नुदनम् ।

५ ताडु कथं तीर्णतममहम् । कथं चेतरेभ्योऽङ्गेभ्यो विस्तीर्ण-
तरम् । तीर्णतमम् = उच्चतमम् इत्यर्थः स्यात् ।

६ तलं उत्तरेति दृष्टम् । तेनेतरस्य ताडुशब्दस्य प्रतीतिः ।
दृष्टेन प्रतीतिर्भवतीति तल्लज्जोदाहरणम् । उत्तधानुर्वातु-
पाठे न विद्यते ।

११ अस्य खण्डस्य द्वौ पाठौ । छ. त. ट. पाठे दुर्गेण न
स्वीकृतः । अस्मिन्पाठे ' मुदेवस्त्वं कल्याणदानो० '
किमिदमृगधरा ' मुदेवो आमे० ' इत्याद्या विवरणमिति न
ज्ञायते । ' इत्यपि निगमो भवति ' इति वचनादपि निगमः
स्यात् । किन्तु नापि निगमः । ' कल्याणदेवः कल्याणदेवे

पत्रं

पङ्क्तिः

वा भवामि ' (४८३ । १२) ' सिन्धुः स्ववर्णाद्यस्य ते
सप्त स्रोतांसि तानि ते ' (१३) ' कल्पाणोर्मिस्रोतः
मुषिरमनु यथा ' (१४) न व्याख्यातम् ।

४८५

४ अश्वेयादीनि कासांचिदिष्टकानां नामानि । तैत्तिरीय (४ ।
४ । ५) मैत्रायणी (२ । ८ । ३) काठक (२२ ।
५) संहितासु भिन्नानि नामानि ।

७-८ यथा मूर्मि कल्पाणोर्मि स्रोतः मुषिरमनुक्षरति तथा । यथा
गहान् जलैर्धो नगरोदकनिःसरणभूमिभिर्वहति तथा । ' निः-
सरणभूमिभिर्वहति ' इति पाठान्तरम् । सिन्ध्वनुक्षरणस्य तः छ-
नश्च कः संबन्ध इति न ज्ञायते ।

८ समवस्तुत्य = पूरयित्वा । ९ दुर्वचनं (' दुर्वचनार्थं ' पाठभेदे)
= अस्या ऋचोर्निर्वचनं कठिनम् । अपमर्थोऽप्योऽपि वा
कश्चित्स्यात् । १२ दुर्वचनार्थं कृत्स्नव्ययने प्रयोजनम् ।

१३ ' काकुत्'शब्दान्निःकृत् एव ऋक्शाखायामुपलभ्यते ।

१४-१८ दुर्गहृतविशरणस्य मूलमागामिनि खण्डे ' वीरिटमन्तरिक्षं०
गणे मनुष्याणाम् ' (४८६ । ४-६) । इदं ' वीरिटं
तैत्तिकि० निगमो भवति ' (४८४ । १४-१६) इत्य-
स्मादन्यन्तं भिन्नम् । ' वीरिटम् ' अत्र पूर्व पदं ' वि '
व्यतेः । उत्तरम् ' इरिटम् ' इरतेः । वि = वयांसि +
इरिटम् = इरन्ति अस्मिन् । अथवा । वि = वि = भांसि ।
भांसि इरन्ति अस्मिन् । नेदं निर्वचनं यास्कसंमतम् । ' तदेत-
स्यामृन्पुदाहरन्ति ' इत्यस्यानन्तरम् ' अपि निगमो भवति '
किमर्थम् । छ. त. द. पुस्तकेषु मूलपाठे भिन्नः । तत्रैवं
वीरिटशब्दस्य निर्वचनं नास्ति । दुर्गहृतपाठो महाराष्ट्र-
पाठादृज्वरपाठ इति भिन्नः । ' मृदेवस्व कल्पाणोर्मिस्रोतः
यस्य ते सप्त सिन्धवः काकुत्समुक्षरन्ति मूर्मि मुषिरामिव '
इति तस्य पाठः स्यात् । अपवादः प्रक्षिप्यार्थं गण्डः
संयुक्तः ।

१७ गप्पामिधानपत्रे = यदा वीरिटशब्दस्य गणोऽर्थस्तदा निर्व-
चनेऽस्तिः ४८७ । ७-९ इत्यत्र ब्रह्म ।

पत्रं

पङ्क्तिः

४८७

११ 'नियमान्' इति ग. च. ज. पठः । 'नियुज्यति'
(१२) इति च । १५ अच्छ = आसुम् । अभिरूपन
इत्यर्थः स्यात् ।

२० 'पट्टेऽयं निघण्टयुक्ते' ०३ 'निघण्टयहिने नयमेऽध्याये
इति ठ. ड. पठौ । २२ 'इत्यनेन' । निरुक्तमूलं 'इत्ये-
तेन' (४८६ । ९) ।

४८८

९ 'त्रिष्टुप् । वैश्वः श्री । आन्विहस्तुतिर्वा' इदं सायणभाष्या-
दुद्धतम् । अग्नौ = अग्निचितौ । पितृर्दक्षिणप्रोणेः पश्चिमे
निघण्टयुः प्रणिष्-अ. अन्तरांस्तुभ्यं षड्भिर्वा दशभिश्चतुर्विंश-
त्या वा युज्यामानमैदृश्वरं हलमभिमन्त्रयो । 'षड् द्वादश
चतुर्विंशति वा युजन्ति कर्मन्-न्' (क. ० श्री. १७ ।
२ । १०) । पूर्वोक्तं चरमं दक्षिणामग्निप्रोणिमन्त्रेण तिष्ठ-
न्युज्यमानमभिमन्त्रयते । (तै. ११) । 'दायः =
अनङ्ग' (च.) । ११ सीरणि = रगनि = हलानि ।
युजन्त वशीकरोः । निस्तुत = कर्म । 'वित्तुत = विष्ठा-
र-अम्' (ट.) । इदं ठ. ड. पुस्तकयोस्तन्मर्थव्यते ।
१८ दानं = लयनम् ।

१५ अवस्थितं = सस्थम् । नेदीपः = अतिफत्तरम् । सस्थम-
विरलं रोहतु । तेनारिपट्टेऽपि स्थले प्रचुरं सारं लब्धं
स्यात् । अक्षयम् = उपटयितुम् ।

१९ अङ्कुशेनैक एव सस्थस्तस्य उपट्यो । दात्रेण बहुनि लु-
पन्ते । सस्थङ्कुशः न हृष्टो । तदा = लवनतमये ।
अङ्कुशो धन्यस्तान् भूमौ निदधाति । द्वित्यर्थः सःपुः ।

पष्ठोऽध्यायः

४९१

७-८ 'अतिक्रमेमुत्तरं' (च. पठः) = अतिक्रम +
इदम् + उत्तरं । 'द' लखं गलितं स्यात् । ८-९
'क्षणिः' अयं शब्दो विधत्तं 'क्षणांतेः सन्तोतेः'
वा । ९ 'पग संयत्ता' (घा. १ । ४६५) 'पु

पत्रं

पङ्क्तिः

दाने ' (धा० ८ । ३) । सनोतिः संभजनार्थो धातुपाठे न वर्तते । तथा (१०) दीर्घार्थः शुचिधातुः । ' शुच शोके ' (धा० १ । १८३) ' शुचिर् पूतीभावे ' (धा० ४ । ९९) ।

४९२ १२-१३ ' निःपित्तं तस्मात्पापकम् ' (४९० । १०) इति दुर्ग-
स्वीकृतमूलं स्यात् ।

२४-२५ ' आसदनात् । तं तमर्थं प्रत्येता आसन्ना भवन्ति । अपि
वाम्यशनात् । अभ्यश्रुवते ह्येतास्तं तमर्थम् ' (१७४ ।
२०-२१) । एवं ' दिक् ' शब्दो व्युत्पादितः । अभ्यश्रु-
वते = व्याप्नुवन्ति ।

४९३ ६ ' दृढमवदः ' इति क. ख. च. पुस्तकस्थ ऋक्पाठः । वृत्ता-
वपि स एष सर्वेषु पुस्तकेषु ।

२१-२२ ' चोः कुः ' (८ । २ । ३०) इत्यनेन रुज् = रुक् ।
विपरीतः क् + उ + र = कुर । स्थाने लः । तेन कुल् ।
कुल् + अम् = कुलम् । ' रुजो भङ्गे ' (धा० ६ ।
१३५) ' रुज हिंसायां ' (धा० १० । २७१) ।
वा ।

२२ रुज् + तं = लुज् + तं = लोज् + सं = लोप् + टं =
लोष्टं = लोष्टम् । अथ हिंसायामित्यस्मात् ' लोष्ट'गन्धः
स्यात् ।

४९४ ६ ' अपि ' निवमन्तं गच्छन्तमित्यनेन संबध्यते । ' क्षिप-
न्तम् ' (१) इत्यस्य स्थाने ट. ड. पुस्तकयोर्ऋकाठे
' सुमन्तं ' वर्तते । वृत्तौ तु क्षिपन्तमेव ।

१४ मायणस्वीकृतनिरुक्तमूले ' अलानृणां बल इन्द्र व्रजो
गोः ' इत्येतावानेव ऋग्गोत्रः पठ्यते न तु सर्वा ऋक् ।

४९५ १ ' उत्तृदिर् हिंसानादयोः ' (धा० ७ । ९) । तृदधानुर्न
चुगदिगणस्थः । आनर्दयितुं हिंसितुं प्राणिनोऽनिरुद्धः ।

४ गुणान्तरत्वादज.मि = यथा बलनाम्ना मेघस्यावरणगुणो
दर्शते तथा व्रजनाम्ना तस्यान्नरिश्रमंचाये गुणो दर्शयते ।

पत्रं
४९५

पङ्क्तिः

तस्माद् ब्रज इत्यनेन न मेघनाम्नः पुनरुक्तिः । 'जामीत्ये-
तदतिरेकनाम' (३५१ । ४) । ६ भवन इयं
भावस्ता ।

१२ यथानिम्नम् = निम्नमनतिक्रम्य निम्नप्रदेशेन । उदपा-
नम् = उदकं प.न.र्थं यस्माद्गृह्यते तद् । 'एकहृत्पदी पूर-
यितव्येऽन्यतरस्याम्' (पा० ३ । ३ । ५९) इत्यनेन
'उदकपानम् उदपानम्' इति द्वे रूपे । १३ उपडयेत् =
क्षीणं भवेत् ।

२१ 'सरति' अयं प्रगाढः । 'रसति' इति निघण्टुषु (३ ।
१४ । ४०) । २३ 'निरजे गाः' इत्यत्र गोशब्देन
गाव एवोच्यन्ते नोदकमिति कोचिच्छास्वपातारः । गवां संह-
तिर्गव्या । गवीशब्दः कोशेषु नोपलभ्यते । पशुगव्याः =
पशवो या गावस्तासां संघ ताः ।

४९६

२१ आ कस्मादेशात् = कियन्तं देशमभिगम्य ।

४९७

२ अमतिपञ्चं = यथा प्रतिपञ्चं न जानीयात्तथा संमृदम् ।
'सल्लुभ्यम्' इति ठ. ड. पाठः सर्वत्र ।

६ 'मूलमध्यप्रः' (पाठान्तरं) = सहमूलमुद्रुह्यते मध्यामौ
च लिख्ये तस्म.न.यं पाठः सधु ।

१० 'रुद्धं मोचनाद्वा मोघणाद्वा मेहनाद्वा' (४९६ । ७-८)
'अप्रमाणतं भवति' (८) 'अम्बस्तातुपिस्तपतेर्ह-
तिर्हन्तेः' (१०) इदं न व्याख्येयम् ।

४९८

१३ अग्निना प्रकाशयमानो विषयः (ईदृशः कार्यभूमिः) यस्य
सः । 'कर्मणि प्रदर्तते साधुन्वसधुनि वा' (एठ.न्तरम्) ।
१३-१४ साधुभ्यः सधुना कर्मणा स्वकर्मफलभोगापेक्षं
सर्वं विनिर्णीयते । सार्वलौकिकं = सर्वजनसंवेद्यम् । प्रायः
सर्वकर्मणामितरजनेः संश्रयः । अथवा । सर्वेषां लोकानां
कर्मणा । वस्तुतस्तु 'सार्वलौकिकेन' इदं व्यर्थं तथा
'स्वकर्मफलभोगाय' इत्यत्र 'स्वकर्मा' । सार्वलौकिक-
केन कर्मणा स्वकर्मणा (च. पाठः) = स्वकृतकर्म मात्त-
साधु चेतरैः संवप्यते ।

- पत्रं पङ्क्तिः
- ४९८ १५-१६ वाचा सर्वं रययतेऽनिधीयते । वाचश्चाग्निरधिदेवता ।
 १८-१९ ' इयं वा अग्निश्वा रः ' इति मैत्रायणीसंहितापाठः
 (नैत्र० सं० २ । १ । २) ।
- ४९९ ५ जरायुजण्डजवृद्धिज्वा इत्येवं चतुर्विधो भूतग्रामः । ७
 क एते केचित् । ८ ' विरोहणाः ' इत्यवगमः स्यान्न तु
 ' विरोहणात् ' (पठभेदे) । अदगमशब्देन संस्कृतसं-
 पमभिधीयते । ' विरोहणाः ' इति च. पुस्तके शुद्धीकृतः
 पाठः ।
- १३ ' हे ओषधीः ० प्रसूदरीः ' इत्यधिकपाठः (क. ख. घ.
 ङ. ट. ठ. ड. पुस्तकेषु) स यणभान्यात् ।
- ५०० १७ क्लृप्तं = कृ द्वा द्वा मक्षत् सत्कर्तुर्नेव नृक्षं भवति ।
- ५०१ ३ ' परिपल्लवमर्थ एव ' अत्र ' एव ' ३. व्यर्थं ।
 ९ छ. ल. द. पुस्तकेषु ' निश्रम्या निश्रम्यहारिणः ' (४९६ ।
 १७) नास्ति ।
- ५०२ ६ वृत्तौ छ. ड. पुस्तके वर्जयित्वा ' निश्रम्यहारिणः ' इति
 पठः । ' निश्रम्यहारेण ' (५०१ । १४) इति निरु-
 त्तमूलं दक्षिणात्यपठः । गुर्ज. पठः ' निश्रम्यहारिणः ' ।
 ८ ' जन्मिषम् ' पृथर्गा-त्येतस्य निश्रम्यम् । ९-१०
 अजास इत्यनेन समानविभक्त्यन्तत्वात् । ११
 निश्रम्या = निश्रम्यया । ' निश्रम्यहारिणः ' ग. च. ज.
 पठः ।
- १६ अनुक्रमणिकायां कण्डस्य मेधातिथिरपिम् । ८ । २९
 इत्यस्य मन्त्रस्य मन्त्रिचः चतुर्थे मनुर्वैश्वतो ना ऋषिः ।
 ८ । ३२ इत्यस्य मेधातिथिरपि ऋषिः ।
- ५०३ ३ ' वचव्यमरमा टक्थम् ' (५०१ । १५) इति निरु-
 त्तमूलः । वृत्तौ सर्वत्र ' वचव्यमरः ' इति । अयमेव
 दुर्गस्वीकृतनिरुत्तमूलः पठः स्यात् ।
- ११ ' सौनेन्द्रं चरुं निवर्षेज्जमाकं सोमवामिनः ' (मैत्रा०
 सं० २ । २ । १३) । प्रातःमवनादिप्रयोगे यो यज-
 मानः पीतं सौमं वमति स एव सोमस्य वमनादिन्द्रियसामर्थ्य-

पत्रं

पङ्क्तिः

प्रदेन सोमपानेन व्यृद्धो भवति । तादृशसोमपानिनो यजमान-
स्यायं चरुः ।

५०३ १५ 'संसचेयं = संगतो भवामि' (ट.) । इदं ट. ड.
पुस्तकयोरेन्तर्भाव्यते ।

५०४ २२ 'वैश्वानरनामाग्निः सौचीकनामा वा तस्य ।

५०५ ३ हन्ते सामर्यं ययोस्ते (च. पठः) । ४ विविधं पृथक्
अवधृते स्थिते । ४-५ 'हविषि दारुणि वा' (च.
पाठः) = एकस्मिन् हविषि एकस्मिन् दारुणि वा स्वसा-
मर्यं प्रयुक्तः ।

१८ 'क्रिमिर्ना कृमिर्वर्कटे' (भेदिनी) । एवं कृमिर्वा
क्रिमिर्वा ।

५०६ २-३ 'अस्माकमेतामरमसिम्' इति ग. च. ज. पठः ।
का अस्माकम् अवसतिः = अयं परितम सन्निधौ यजमानः ।
५ 'अनुनेयथ = प्रसि अनुक्रमेण नपथ' (ट.) । इदं
ट. ड. पुस्तकयोरेन्तर्भाव्यते ।

८ 'मोषयन्ति' इति णिच् स्यात् । किंतु तस्यात्र प्रयोजनं
नास्ति । मुप चुरादगणे नास्ति ।

१० 'ऋक्माः' (ग. च. ज. पठः) । ऋक् = ऋतुः
(ऋक्साख्यायाम्) ।

१५ 'आह्वेः' इत्यनुक्रमणं न तु 'अह्वाय' इति ।
'अंहुत्य' इति च. पठः 'अह्वस्य' इति ग. ज.
पाठः ।

१७-१८ 'अग्रे नेमिरसौ इव देवोस्त्वं परेभ्यस्तसि' इत्युक्ताख्यारं
पाठः ।

५०७ ३ एकमेव परमेकपदम् । नात्र द्वे पदे ।

१० वाचि एव सारो यस्य । 'वाचि वाचं द्विजानामिति श्रुत् ।
१४ इतो दुर्मदस्तदन् ।

१९ 'दूनद्वननादा' (च. पठः) = दूननादा + दव-
नादा ।

पत्रं

५०९

पाङ्क्तिः

११ 'अवनेनान्नम्' (५०२ । २) इति छ. त. द. पाठः । १४ 'अनेनान्नम्' इति नैकस्मिन्नपि पुस्तके ।

१९ निरुक्तमूलस्य द्वौ प.ठौ गुर्जरमहाराष्ट्रविति ठ.ड. पुस्तकयोर्लिखितम् ।

२० 'अनादृष्ट्यां तु वर्तिन्यां पप्रच्छर्षाञ्छर्चपतिः । काले दुर्गे महत्यस्मिन्कर्मणा येन जीवथ । शकटं शशिनी० ' (बृहदे० ६ । १३७—१३८) ।

यास्कनिरुक्तोत्था बृहदेयता । तस्मादेतच्छ्लोकद्वयं निरुक्तमूले भवेतुं नार्हति । गुर्जराठः प्रार्चनः । महाराष्ट्रीयोऽर्वाचीनः ।

५१०

१ सक्तुः = मृष्टपत्रपिटम् । २ 'उपलेषु = दृपशदिषु' (च.) । 'उपलेषु = बालुकामु' (च.) । 'प्रक्षिणाति' (५०९ । १९) निरुक्तमूले । 'प्रक्षिणोति' वृत्तौ ।

८ 'इन्द्र ऋषीन्० निगदव्याख्याता' (५०९ । २८—२२) न व्याख्यातम् ।

५११

३ अनाकाले = दुर्भिक्षे ।

४—५ बहिर्वा यज्ञादङ्गीक्रियामिर्वाचोयुक्तिभिः प्रियवक्ता आसम् ।

१० तन्मयेऽस्मादिति तन्मयेऽसाविति वा ततः ।

११ सवनीयानां = धानासक्तुकरम्भादीनाम् ।

११—१२ 'सदासीत्' इति ग. च. ज. गाठः प्रामादिकः । 'दासी विनष्टि पत्नी या' इत्यापरस्तम्भश्रुम् (आप० श्रौ० १ । २१ । ८) ।

१३ 'इतरेषां लैकिकानां वा' इति 'वा'पदमात्रद्वयम् ।

२ 'सनिस्त्यध्वेयणा यात्रा' (अमरः २ । ७ । ३२) ।
अध्येष्यमाणः = प्रार्थ्यमानः याच्यमानः ।

९ 'पत्त. = पादैरत्यर्थः' (च.) ।

१५ आदित्योपसंस्तव्याम् = आदित्येनात्मन्युपस्थापिताम् ।

३ प्रकलाः = अल्पकलाः । ५ मल्यधिष्ठानं = मुल्यधिष्ठान-निरुद्धमधिष्ठानम् ।

५१२

पत्रं

पङ्क्तिः

५१३

१७ उदकस्यास्पदानम् । तायोपमया संबन्धः ।

१८ अवयवानां प्रत्ययवचमु ॥ कलाः प्रकलाः । अवयवानामव-
यनाः प्रत्ययवयाः । 'कलाः अवयवाः तासां प्रकलाः प्रत्यव-
यवाः । २१ 'यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु' (भा० १
१०२७) । २० 'अधु वृद्धौ' । (भा० ४ । १३९) ।

५१४

४ 'अजिश्वा नाम भारद्वाजस्तस्यापर्म' इति मूलपाठेन भवि-
तव्यम् । ग. च. ज. पुस्तकेषु 'भारद्वाजः' नास्ति ।
इतरपुस्तकेषु 'अजिश्वा नाम भारद्वाजस्तस्यापर्म' इति
ग्रामादिकः पाठः ।

६ 'भियक्षति' एतत् 'म्यक्षति' (निघ० २ । १४ ।
३६) अस्य पाठान्तरं न त्वन्यो धातुः । 'इयक्षतिः'
(पाठभेदे) अन्यो धातुः (निघ० २ । १४ । ४४) ।
'म्यक्षतिर्मियक्षतिर्वा' एतत् 'इयक्षति' इत्यस्य प्राप्-
तेति निघण्टुपाठे न पश्चात् (निघ० २ । १४) ।

७-८ 'यक्ष युष्मासु सेवते ते युयम्' इति ग्रामादिको वाक्य-
संयोगः ।

५१५

८ 'युवं श्यावाय०' इत्यस्या ऋचो द्विविधं विवरणं सापणेन
कृतम् । तत्र दत्ता कथानुसंभेदा ।

१८ 'क्षोणस्य = क्षीणस्य' इत्येवमेके निरूपयन्ति । 'क्षा-
णस्य'पदं विशेषणं सत्समानविभक्त्यन्तमेव पदं विधि-
व्यात् । तादृशं पदं नास्ति । 'कणाय' चतुर्थ्यन्तं न तु
पक्षेयन्तम् ।

२१ 'अस्मे' इत्यस्य विशिष्टविभक्त्यर्थे प्रयोगः प्रकरणादिना
निश्चीयते ।

५१६

१५ काठजमंहितायां 'सहस्रपापं पुन्यन्ती' इत्येतत् 'परमेण
पशुना क्रियसे' इत्यस्मात्प्राग्भवतेति । अयं पाठः समीचीन-
तरो माति । दुर्गहचिरपि तदनुसारिणी । इदं यजुस्तासु
तासु संहितासु मित्रं पठ्यते । दुर्गहोक्तपाठः कस्या
संहितायां वर्तते इति न ज्ञातम् ।

पत्रं

पङ्क्तिः

- ५१६ १६-१७ सोमः क्रीयते यैर्गवादिभिस्ते सोमकृत्वाः । गौः अजौ
हिरण्यं धेनुः वत्सः कर्पूरः अनडुर् मिथुनौ वासः एवं दश
द्रव्याणि (तै० सं० ६ । १ । १०) ' गौर्हिरण्यमजा
धेनुर्वत्सः कर्पूर एव च । अनडुर् मिथुनौ गान्धौ वासश्च
क्रमको दश । ' यथाऽस्मात् सोमकृत्वात्प्राकरोति ' (मा०
श्रौ० २ । १ । ४ । ११) । अपाकरणं = पृथक्करणम् ।
१९ ' अग्नेयी वा एषा यदजा ' (तै० सं० २ । २ । ४ ।
५ । ५ । ४ । ३ । २)
२० ' सा वा एषः (छन्दोभ्याः) प्ररोचयत् ' (मैत्रा० सं०
३ । ५ । ७) । ' प्ररोचयत् ' इति सर्वेषु पुस्तकेषु ।
' तपसस्तनूःसीति तपसो ह्येषा तनूः प्रजापतेर्वर्णः इत्यग्निर्वै
प्रजापतेर्भ्राज्जा अजा सहस्रपां पुष्पन्तीत्येषा हि पशूनां सह-
स्रपां पुष्पत्यतो ह्येषा ब्रह्मणस्तथो द्वौ परमेण पशुना
क्रीत्स इति ए मा ह्येषा पशूनामस्मे ते बन्धुभ्यामन्नेवास्या
र्थाय धत्ते तथा निर्वायथा भूतया विक्रीणीते ' (का० सं०
२४ । १) ।
५१७ १२ ' न वृधैवाह्वामि ' पठान्तरं समीचीनतरम् । एवमेव =
केशवम् । किं चेदप्यदशा ।
१५ व्युच्छेदः = स्फोटः उदयः ।
५१८ ४ तत्रास्माकं च तैस्त्वं पीरुषं समानमेव ।
५१९ ३ ' गर्गास्य भरद्वाजस्य ' इत्यस्य स्थाने ग, च, ज, पुस्त-
केषु ' शंयोर्वहस्पत्यस्य ' ।
४ दशममण्डलवर्तिनोऽपि ब्राह्मणाऽर्धमिनः शस्त्रे विनियुक्ता
(अ.श्रौ० श्रौ० ८ । ४) न ॥ षष्ठमण्डलस्था ।
११ तं द्वेष्यं न पश्येम ॥ १७ ' उदृह रक्षः ' इति सप्तदशी
श्रुक् । इयं त्वेकोनविंशी सती कथमनन्तरा । ' उदृह रक्षः '
इत्यस्या यास्ककृतं भाष्यम् (निरु० ६ । ३) इत्यत्र ।
१९-२० मुक्तशेषस्य ते देवस्य ।

पत्रं

पङ्क्तिः

५२०

२ ' वसूनां वसुयते ' अत्र ' वसूनां ' पदं व्यर्थम् ।

१६ ' ऋचः सूर्याय गीयन्ते ' इति ग. च. ज. पाठः । ' ऋचः सौर्यो हि गीयन्ते ' इति ' ऋचः सूर्याय गीयन्ते ' इति वा बृहदेवतायां न विद्यते (वृ. ६० ६ । ५) । तत्र तु ' उद्वेतीत्यर्थपञ्चमाः ' इत्येव केवलम् ।

१८ आरब्धः गन्तुम् । १९ दीयमानः = गच्छन् । अन्तरिक्ष-
मन्वेति = तेन मार्गेण गच्छति । २० प्रतीत्य = ज्ञात्वा
ध्यात्वा ।

५२१

१ ' यत्र = यदा ' (५२० । १७) इत्यर्थं कृत्वा प्रथमे
निरूपणे द्वयोरर्थयोः संबन्धो दर्शितः । तस्मिन्निरूपणे
प्रथमोऽर्थो न सूर्यप्रधानः । द्वितीये निरूपणे सूर्यप्रधान
एव सः । तस्य द्वितीयावधेन न कोऽपि संबन्ध इति द्वितीयो
निराकाङ्क्षः ।

१६ जनानां वर्षमसृजन्नादित्यो रश्मिनदीनां स्वभूतं स्वकीय-
मुदकं प्रकथयतीति । रश्मिनद्य आदित्यादेशाद्वापीतटाक-
समुद्रादिभ्यः स्वभूतं जलं गृह्णन्ति ।

५२४

८ ' नृमेधसः ' इति ग. च. ज. पाठः । अनुक्रमणं ' नृमे-
धस्य ' इत्येव । बृहदेवतायां ' नृमेधनामाङ्गिरसः ' इति
(वृ. ६० ८ । ४३) ।

१६ ' प्रवृत्तानि ' (२०). च. पाठः । प्रवृत्तानि = दत्तानि ।

१९ उपातिष्ठन्ते रश्मय एव । च. ट. पुस्तकयोः प्रान्ते ' मरुतः '
इति लिख्यते तत् ठ. ड. पुस्तकयोरन्तर्भाष्यते ।

२२-२३ यथा तेन भागो विभक्तस्तथा तं भागम् । ' यथा विभक्त-
स्तेन ' इदमनर्थकम् ।

५२५

४ ' इत्येवमश्वमर्थो भवति ' इत्यर्थं ग. ज. पाठः समीची-
नतरः । ' सूर्यं समाश्रिता रश्मय इव ' एवमुपमार्थः ।

५ ' उज्ज आर्जवे ' (धा० ६ । २३) । धातुपाठे ' ओज ' -
धातुर्न विद्यते ।

७. सोमस्योपाधि दधि निर्भाषने मिश्रणार्थम् । आशिरं =
दधि ।

पत्रं

पङ्क्तिः

५.२५

१० आ = ईषत् । अरणं = पाकः । 'क्षीराज्यहविषां शृणुम्' (अमरः ३।१।९५) । 'श्री पाके' (घा० ९।३) । पक्वं पयो दधि भवेत् ।

१२ 'आढः शासि इच्छायाम्' (घा० १।६३०) ।

१४ सायणभाष्येऽनुक्रमण्या च 'प्रियमेघस्य' न तु 'प्रियमेघसः' ।

१५-१६ सायणभाष्ये 'ब्राह्मणाच्छंसिनः' स्थाने 'मैत्रावरुणस्य' । किंतु तत्प्रामादिकम् ।

१७ श्रयणार्थं = मिश्रणार्थम् । यज्ञे च = यज्ञेऽन्येषु कर्मसु च । आशीः = सोममिश्रणयोगं क्षीरादिकम् । अपं शब्दः स्त्रियां वर्तते यथ. 'सत्यामाशिरम्' (ऋ० सं० ७०।१) 'नित्ययाशिरा' (ऋ० सं० १०।३१।५) । आशीः आशिरौ अशिरः आशिरम् इत्यादीन्मस्य रूपाणि । इतराशीः स्तुतिराशीर्वादौ वा । अयमपि शब्दोऽनयोर्थयोर्भक्तसंहितार्था विद्यते ।

१९ 'गावः स्तनैर्दुदुह' इत्यर्थः ।

५२६

१-४ 'सा मे सत्याशीर्देवान्गम्याञ्जुष्टञ्जुष्टतरा पण्यात्पण्यतरा । अरेडता मनसा देवान्गच्छ यज्ञो देवान्गच्छतु यज्ञो देवान्गम्यात्' (मैत्रा० सं० १।४।१) । अत्र 'शृण्वन्तु ते समर्धयन्तु' नास्ति । 'अरेडता' 'अनुगच्छ' इत्येतयोः स्थाने 'अरेडता' 'देवान्गच्छ' । 'यज्ञो देवान्गम्यात्' इति चाधिकम् । दुर्गकालेनो मैत्रायणापाठो भिन्न आसीदिति भाति । अथवा । 'शृण्वन्तु० समर्धयन्तु' इति वृत्तिसं प्रक्षिप्तं स्यात् । ग. च. ज. पुस्तकेषु 'शृण्वन्तु ते समर्धयन्तु' नास्ति । ग. ज. पुस्तकयोः 'अरेडता' अस्ति । 'अस.वाग्ने देवान्गम्यात्' (१२) इयं 'यज्ञो देवान्गम्यात्' इत्यस्य वृत्तिः । 'सा मे०' इत्यादियनुःपाठो दुर्गादवर्षाचीनेन केनापि अत्र लिखितः स्यात् । तेन यजुः-पाठदुर्गादयोः संवादो नास्ति । अन्यत्रापि केचुचिस्थलेषु ईदृशः संवादभावः ।

पञ्च

पञ्चः

47E.

‘ सा मे सत्याशीर्देवेषु ’ (५२३ । २४) इति याकः ।
 ‘ सा मे सत्याशीर्देवेषु भूयाद् ब्रह्मवर्चसं मा गम्हान् । यज्ञो
 वमूहः ! ’ (तैत्ति० सं० ३ । २ । ७) । अस्य यजुर्म-
 न्त्रस्य सोमयागेन संबन्धो न दर्शपूर्णमासाभ्याम् । दुर्गेण
 व्याख्यातो यजुर्मन्त्रः अत्रास्थाने एव ।

४ प्रस्तरः = दर्भमुष्टिविशेषः । त इष्टवन्ते अव्यर्थुणा आह-
वनीयं प्रक्षिप्यते दह्यते च । तत्प्रस्तरप्रहरणमित्युच्यते ।

९ च. पुस्तके 'सुतादपि सुताता' इति लिख्यते । ११
असादपि = यद्वाऽपि । (३ 'अजगरीः' इति ग. च.
ज. पाठोऽशुद्धः ।

२० 'शरण्ये = आजिघावनस्थाने' (च. ट.) । इदं ठ.
ड. पुस्तकयोरन्तर्भाव्यते ।

२२ 'वाहयन् वा' अत्र 'वा'पदस्य न किमपि प्रयोजनम् । 'वाहयन् त्वाम्' इति स्वात् । त्वं वहसि कर्म करोषि । अश्ववाहस्त्वं वाहयसि । 'वाहयस्वाऽप्यपरिभ्रान्तः' (ग. ज. पठोऽशुद्धः ।) = वाहयन् त्वाम् अपि (तथापि) अपरिभ्रान्तः । अत्र पाठः समीचीनतरः ।

५२७

१ ' गृगातिकर्मा ' (५२४ । २) न आह्वयते ।
तथा ' असिततमः ' ।

१० ' हे अग्ने अह्न तमेव ' (ठ. उ. पाठः) अत्र ' अह्न
एवार्थे ' इति ठ. पुस्तके विवरणम् । अह्नशब्दः ठ. ड.
पुस्तकयोस्तर्भाव्यते ।

१२- शयः = हस्तः । १३ 'चरति समिति समिह्मत्वात्'
(घ. ट. ठ. ड. पाठः) । समिति = यज्ञे । स्वप्नप्रवर्तिने-
यात्मा । १३-१४ 'रेखिते' इत्यत्र 'यत्रिः' अग्निर्ग-
कर्ता न तु स्वयम् ।

436

४ एवंगुविशिष्टाः । अस्यामृचि ऋग्भिगुगः न कथिताः ।
तेन कथमेवंगुविशिष्टवम् ।

१८ 'चनुःपृथगुत्तरादिष्टः' (वा० सं० मरी० १५।४७)
अथये चनुःपृथगुत्तरादिष्टः । 'अतिरुन्दा असादिष्टः'

पत्रं

पाङ्क्तिः

(पाठान्तरम्) । अतिच्छन्दाः = छन्दांसि गायत्र्यादीनि सप्त ।
तान्यतिक्रान्ता ।

५२८

१८-१९ छन्दोभिधा इष्टका उपधीयन्ते ग.यत्र्यादिभिर्विधैश्छन्दोभिः
(तै० सं० ४ । ४ । ५ । ३ । ८) ।

५२९

२ कृपा = अवलम्बः । अयमर्थः ऋक्संहितायां सर्वत्र युक्तो
भवति । 'सूरो न हि युता कृपा पावक रोचसे' (ऋ.
सं. ६ । २ । ६) । 'उदु तिष्ठ स्वध्वर स्तवानो देव्या
कृपा' (८ । २३ । ५) । कृप् कृपौ कृपः इत्यस्य रूपाणि ।
अयं ग्रीकभाषायां 'कृपैन्' धातुस्तेन संबध्यते । तस्य
धातोरर्थः अवलम्बः नूतनेनाग्निना क्रियमाणः कट+टा-
शब्दः । ३ देवाच्या कृपा = देवान्प्रति गच्छन्त्या अवलम्बः ।
६ सर्पिणः = घृतस्य । ८ 'कृप् कृपतेर्वा कल्पतेर्वा'
(५२४ । ७) न व्याख्यायते ।

५३०

११ 'युवां भवन्तौ' इति प्रामादिकम् । 'य' निश्चयार्थः ।
'बहुदायितरौ' ग. च. ज. पाठः छ. त. द. पाठेन
समानः । 'बहुदायितरौ' इत्ययं शब्दः कथं व्याप्यः
कश्चास्यार्थ इति न ज्ञायते ।

१७ शश्वत् = प्रसिद्धम् । 'दाक्षिणात्याः' जाः' (ट.पाठः) ।
एतत् ठ. ड. पुस्तकयोः 'दाक्षिणात्याः । जाः' एवं
लिख्यते

२१-२२ मैथुनेनोद्वायां स्त्रीत्वमुत्पादयति । ऊढा सती कन्या कन्यास्त्वं
त्यजति मैथुने वर्तमाना स्त्रीभावमारभते ।

२२-२३ भ्राता भगिनीभर्तुः स्यान्ने भवति । तयोः संबन्धोऽहंभुर्भ-
गिनी । तेन तौ परस्परसम्बन्धौ ।

२४ आवपति प्रक्षिपति गृह्णाभी ।

'छाजा छाजनेः' ५२९ । २० (मज्जतेः पठान्तरं)
न व्याख्यातम् ।

२५ 'पोऽन्तर्कर्मणि' (धा० ४ । ४१) न क्षेपणे ।

५३१

२ 'श्रीणातेः' इति ग. च. ज. पाठः प्रामादिकः । 'श्रीन्
पाके' (धा० ९ । ३) । 'शू हिंसायाम्' (धा०
९ । १६) ।

पत्रे
५३१

पङ्क्तिः

१५ 'सोतारम्' इत्यस्य स्थाने 'सोमानाम्' इति ग. ज. पठः । प्रथमविवरणे 'सोमानां सोतारम्' (९) इति छ. त. पठः । द. पठः 'सोमानं सोतारम् । द्वितीये 'सोमानां सोतारम्' (१२) इति सर्वेषां छ. त. द. पुस्तकानां पाठः । स एव ग. च. ज. पुस्तकैः दुर्गेणापि स्वीकृत इति भ.ति ।

२० 'स्वरणं स्तोतारम्' इति ग. ज. पाठः ।

५३२

१ प्रथमे विवरणे 'कमपि सोमानामभिपोतारं प्रकाशन्वन्तं कुरु' इति 'मा' पदं व्यर्थम् । च. पाठः 'अभिपोतारं स्वरणमा' दुर्बोधः । ग. ज. पुस्तकयोः 'मा' न तु 'माम्' ।
मूले 'प्रकाशनवन्तं' (५३२ । १२) न तु 'यशस्विनम्' ।

१ 'मनुष्यकक्ष्यः' (ग. च. ज. पाठः) । नैकस्मिन्नपि निरुक्तमूलपुस्तकेऽयं पाठः । मनुष्यकक्षे भवः मनुष्यकक्ष्यः । अयं कक्षीवान् मनुष्यकक्ष एव यस्मात्स मनुष्यकक्षाय जातस्तस्मात्कक्षीवानिति तस्य नाम । 'स हि कक्षे उत्पन्नः' इति दुर्गव्याख्यानम् । तेन 'मनुष्यकक्ष्यः' इति तेन स्वीकृतः पाठः स्यात् ।

६ तदुत्पत्तिः = कक्षोत्पत्तिः ।

७ सोमानम् = सु + मन् । यथा कृ + मन् = कर्मन् । येन सोमः मृषते स सोमा तं सोमानं कक्षीवन्तं स्वरणं सु + अरणं सुगमनं कुरु । यः कक्षीवान्नीशिजः इत्यर्थः स्यात् ।

५३३

२ 'अधं हन्तोर्निहसितोपसर्ग आहन्तीति तपुस्तपनेः' (५३२ । १८-१९). न व्याख्यातम् ।

२-४ 'अघशंसम् अघं तपुः समभियगंस्तु' इति क्तमन्त्रयः ।

तपुः = तप्तमापन्नम् । तपुः तपुणी-तपुणि इति रूपानि ।

'रक्षोयुजे-तपुषं दधात' (६ । ६२ । ८)

अत्र 'अघं' 'तपुः' इत्यन्यविशेषणम् ।

५ 'कन्यमदने' इति छ. त. द. (५३२ । २०) ग.

च. ज. पठः । 'कन्ये=पृष्णाम्' इति नैकस्मिन्नपि

- पत्रं पङ्क्तिः
 ५३६ भाः सर्वं वस्तुजातमदीपयत् सुशब्दया च यः स्वर्गं स्वया कृपा
 आलया प्रकाशेन वा अमिमीत ।
 ५३७ ६ ' अशु अर्धीति ' (५३४ । ११) न व्याख्यायते । ७
 ' श्वसनम् ' इति निरुक्तमूले नास्ति । वृत्तावपि (५३८ ।
 ५) ' श्विप्रनाम ' इत्येष । ' पुरंधि'शब्दो भाष्ये न
 ' व्युत्पाद्यने (५३४ । ११) । वृत्तावपि ' पुरंधीः
 पुरंधी (ग. ज. पठः) पुरंधी (च. पठः) ' इति
 विवरणं न क्रियते ।
 ५३८ २ ' अग्नेः ' (५३७ । ११) इति दाक्षिणात्यः पठः
 प्रामादिकः ।
 ५ यागस्य विप्रमयाक्षिप्रस्येष्ट-वात्=विप्रो न भवेदिति यागस्य
 क्षिप्रत्वमिष्टम् ।
 ६ ' श्रुष्टीवरीः सुखवर्गाः ' । अस्याध्यायस्य २२ खण्डे ' श्रु-
 ष्टीवरीः सुखधन्यः ' (५७१ । ३) इति वर्णते ।
 १२ ' प्रणेतारी ' ' आप्रयणः ' इति ग. च. ज. श्लोक-
 निरुक्तमूलपठे ।
 १४ पुरंधिशब्दोऽत्र गुणपदं विशेषणम् । अत्र पुरन्धिरिति अ-
 धिनोः सखी उया स्यात् । अधिनोः पुरन्ध्याश्च यत्र तत्र
 सखिभवेन संबन्धः । माता देवानामिति च साध्यते ।
 पुरन्धिः = प्रीकभाषणं पुरन्धिर्द्वयम् = बहुप्रजाः । बहु-
 प्रजदायिनी काचिदेवता पुरन्धिरित्यभिधीयते । ततः यद-
 प्रजायसाः स्त्रिया अपि तदभिधायकमभवत् ।
 १७ ' नासत्या पुरन्धिम् ' = इत्यनयोः शब्दयोर्मध्ये न कोऽपि
 शब्दः । एवं तावन्तरी ।
 २० ' अन्येषां देवेषां बहुकर्मणः ' अत्र ' बहुकर्मणः '
 इति तत्त्वन्नरूपेण भाव्यम् । अथवा । ' देवेषु बहुकर्म-
 णः ' एवम् ।
 ५३९ ६ आधर्षयितुं = हिंसितुम् । ७ च. पुस्तके ' उद्गा '
 ' उद्गा ' इति प्राप्तमामे स्वर्गकृतमज्ञानात् ' उद्गा '
 इति लिख्यते ।
 ९-१० ममुद्रे मिश्रन्त्यो नरो यथा न न कदापि जन्मरूपेण प्रीण-

परं . . . पङ्क्तिः

५३९ यन्ति तर्पयन्ति तथा रश्मिरूपा नथ ईयादि । १० 'तेषां रश्मीना च' इदममंनद्धमनन्द्यं च ।

१०-१२ चरुणस्य मायो विज्ञातु न शक्नोति कश्चिदपि मापि कथयितुम् । 'नोपि' शब्दावाप्त्यक्तौ । अपि कथं मायं संपूर्णते इत्यन्वयः । १२ प्रज्ञया प्रज्ञारूपकरणेन । प्रज्ञाद्वारेणेत्यर्थः ।

५४४ १ 'अचोधिं होता०' इयदृक् प्रातरनुगाके आग्नेये कृतानपि शस्यते (अश्व० औ० ४ । १३) ।

२ बुध्यते = वेधयति जागरयति । 'वेधाम्' 'बुध्यते' इत्यस्य कर्म । ३ 'अग्निहोत्राणाम्' इति ग. च. ज. पठ. । 'अग्निहोत्राणाम्' इतीतरः ।

४ 'रजत्' एतत् 'प्राजः' इत्यस्य विज्ञेयं भवितुमर्हति ।

५ स देशान् यष्टव्यतया बुध्यते । अत्र 'सः' पदमध्याहार्यम् ।

२४-२५ नैकस्मिन्नपि निरक्तमूलपुस्तके 'देशयदाग्निः' (११)

इति पाठः । ऐतत् + आग्निः = देशयदाग्निः । २५ ते देवा आयुधानि अस्म्यन्ति ।

५४१ १२ 'दारयति' इत्यप्येति । 'सर्जाम्' समानजातिता । इयस्ये विवरणार्थं ठ. पुस्तके 'परपरम्' इति प्रान्ते लिख्यते तच्च ठ. ड. पुस्तकयोस्तन्माज्यते ।

५ रभताय = सहस्ते स्थिताय । मुभोगं स्थानं मुयं च ग-उमनुर्हा दत्त ।

९ 'मुदानः' इत्यत्र निरक्तमूले 'कल्याणदानः' (६४० । १२) । अस्य विवरणस्यान्ते 'कल्याणदानः' एव शब्दो दुर्गेण प्रयुक्तः (२०) ।

१४ इयं त्रिष्टुप् न तु द्विपदा ।

५४२ ६ 'घर्ममद्भिः' इत्यादिभिः । इत्येष घ. झ. ट. ठ. ड. पठः स. रणम व्यादृहीतः ।

५४३ ८ अन्तरिक्षे समाने वा यत्तन्ने दत्ते । ओषु पौत्ये इति द्वे पदे नैषम् । ओषु 'रायः' इत्यस्य विवरणम् ।

१२ 'अहं नित्यं दुष्काम्' इति च. पठः । 'नित्यदुष्काम्' ग. ज. पठः ।

- पत्रं पङ्क्तिः
५४३ १२-१३ 'आयसः = देवान्प्रति अयनशीलस्य' इति दुर्गः ।
'अयोमयकवचयुक्तदेहः' इति सायणः ।
१३ 'आभूपु' इत्ययं सप्तमीवहुवचनान्तः शब्दो न सन्नन्तः ।
ग. च. ज. पुस्तकेषु 'आभूपुः' इति लिख्यते ।
१४ सन्नूणामुपश्रुपरि अहं भवेयमितीच्छन् । दामनि रज्जुवन्देन
शन्नन् सुप्रावचनात् । 'सुवचनात्' इत्यपवादः । च.पुस्तके
स्ववचनात् = सु सुष्टु अवचनात् ।
५४४ २१ अनुक्रमणार्थं नृभेदगुरुमेधौ ।
१ 'पशवो वा आदित्यो यद्वन्ता मय्यतः श्रीणाति मय्यतो वा
एतत्पशूनां पयो दधात्यथ यत्तस्मात्तद्वर्णं तस्मादामा सती पक्वं
दुहे यदि कामयेत वर्षेत्पर्जन्या इति' (मैत्रा० सं० ४ ।
६ । ९) । आदित्यग्रहे सोमे दधिपयसी मिश्रीक्रियेते ।
दध्नि मिश्रिते सोमोऽपको भवति पक्वपयसि मिश्रिते पक्वो
भवति । तथैव गौः प्रथमा आमा सती एतेनादित्यग्रहेण
पक्वं पयो दुग्धे । 'दुहे' इति पाठान्तरम् ।
३ च. ट. पुस्तकयोः 'पूर्वमङ्गिरसां गावः पणिमिराद्व्याम्घ-
कारे स्थापिताः । ततोऽङ्गिरोभिरिन्द्रः स्तुतः । तत इन्द्रो
गवां स्थानं तमसावृतं दृष्ट्वा गोदर्शनाय द्युलोके सूर्यमारोहय-
दित्यर्थः' सायणभाष्यादुद्धृतं प्राप्ते लिख्यते । ट. पुस्तके
तदन्तर्भाव्यते ।
५ 'सामन् = सामेयर्थः' (च.) । सुष्टं (ग. च. ज.
प.ठः) = सुष्टं सुस्थितं सुगुणम् । स्थानकरणानुप्रदानानि
प्रातिशब्दस्य निरूपितानि ।
२३-२४ वैश्वकर्मणाम्यां द्वाभ्यां सूक्तभ्यां वैश्वकर्मणानि हवींषि
जुहोति । 'य इमा विश्वा सुवनानि' (ऋ० सं० १० ।
८१) 'चक्षुष. पिता मनसा' (ऋ० सं० १० । ८२) इतीमे
द्वे सूक्ते । एतद्धोमानन्तरमाहवनीयाग्निध्वनं प्रति नीयते ।
५४५ १ 'असूर्ता' इति मैत्रायणी (२ । १० । ३) कपिष्ठल
(१८ । १) संहितापाठः । अयं वार्ष्केन स्वीकृतः
स्यात् । किंतु निरुक्तमूलपुस्तकेषु नैकस्मिन्नपि लभ्यते
(५४४ । १२) ।

- पत्रं पाङ्क्तिः
५४५ ३ 'वाजसमीरिताः' ((५४४ । १३) इति छ. त. द. :
पाठः । अन्वार्थम् असुरक्षणार्थं समीरिताः ।
४ मेवा एव कतेन समीर्यन्ते न मरुदादयः । ६ निषण्णे =
स्थिरे ।
११-१३ 'य आयजन्त' (५४४ । १३) इति दाक्षिणात्यः
पाठः समीचीनतरः । ये रसेन पृथिवीं तपर्यन्तो भूतानि
कुर्वन्ति त आयजन्त । दुर्गेण गुर्जरपाठः 'ते रसेन०'
इति स्वीकृतः । तदनुरूपं च विवरणं क्रियते । किंतु तत्र
समीचीनम् । 'त आयजन्त०' इत्यस्य 'भूतानि
कुर्वन्ति' इति नर्थः । 'भूतानि समकृण्वन्' इत्यस्यैव
सोऽर्थः ।
२१-२२ अमात्ता = अ + मा + अक्ता = मां प्रति अ मा (निषे-
धार्थं) एषा अक्ता अश्रिता भवतु । माम् + एव + अम-
त्यश्रिता । २२ 'मामेया प्रत्यश्रिता' इत्यर्थे 'अमात्ता'
इत्यत्र 'अ' इत्यस्य कोऽर्थः । अत्र 'अम्भक्' म्भक्ष-
धातोर्गल्यर्थस्य रूपं स्यात् । अम्भक् = अगच्छत् ।
५४६ ११ काष्ठे देदीप्यमानः दग्धगिरिव । यथा काष्ठेऽग्निरस्ति तथा मेघे
मयदीपा शक्तिः ।
१२ नदीनाम् इमा नादेयाः । १३ मेघानि मेघोद्धृतानि । ताः =
ऋष्टीः । 'ताम्' इति पाठोऽवश्यः ।
५४७ १-२ सूर्यस्य कर्मणा प्रवृत्त्या वा अथापाते स्यां हे अग्ने यजमानः
स्तुयन् चरति ।
१५ सः + अस्माकमभिः = सस्माकमभिः । अयं सन्धिदृष्टान्तः ।
१८ 'यन्वन्क्वा' इति दुर्गमतेन समामः । शाकल्यमते द्वे
पदे । २१ विद्वियमाणः । यज्ञेऽग्निरैकमादिहारादन्यं
विहारं (कुण्डं) नोपेत ।
५४९ ६ 'प्रदिवः प्रकयेण द्योतमानाः सन्त आदधिवि' अपमधिकः
पाठः क. छ. प. द. ट. ड. गुप्तकेषु वर्तमानः
साधमभाष्यादृहीतः ।
८-९ दुर्गमं विवरणं न पातन्तगतम् । 'यः दुष्कान् जो-

पत्रं

पङ्क्तिः

५४९

समाणाः (मनुष्याः) प्राप्सुः । विश्वे (देवाः) उत पाजा
अग्रिया अभवत ' इति यास्काभिप्रायः ।

१० ' अग्रगरणेनेति वा ' (५४८ । ९) न व्याख्यातम् ।

२० ' पचता ' इदं ' चनः ' इत्यस्य विशेषणम् । ' हवीषि ' इत्यनेन न तत्संबन्धः । ' बहुवचनं वा ' (५४९ । १३) इत्यधिकः पाठः कदाचिद्गुणं लिखितः स्यात् ।

५५०

७ अर्थस्य विशेषः । विशेष एव धैशेष्यम् । स्वार्थे ष्यञ् ।

९ यतः=यस्मिन् प्रदेशे । १० प्रत्यग्रभीष्टां = प्रत्यगृहीताम् ।

१२ मेदो वपा चेति द्वे सत्त्वे पदार्थौ तयोस्तिदं सात्त्विकम् । अस्मिन् पञ्चवदाने द्वौ पदार्थौ मेदो वपा च । ' पचता ' एतदनयोर्द्वयोर्विशेषणम् ।

१४ दैव्या दैव्यौ होता होतारौ भिपजा भिपजौ । एवं पचता पचतौ । आक रान्तं द्विवचनम् ।

१६ ' यतो यस्मात् ' इति व्याख्यानेन दुर्गास्थीकृतनिरुक्तमूले ' यतो यत्र ण्येकवचनार्थः ' (५४८ । १४) इति पाठः स्यात् ।

५५१

२ घा = निश्चयेन खलु । ' वा ' अपि तस्मिन्नेवार्थे । वा घा = सत्यम् । ' केवलः पक्कः ' इति च. पाठः ।

३ ' शुवतम यन्निष्ठ ' (ग. च. ज. पाठः) । एषु पुस्तकेषु विशेषतः च. पुस्तके बहुकृत्व ईदृशो व्याख्यातव्य-
व्याख्यानयोर्बहुधातः ।

४ ' यु मिश्रणे ' इत्येतस्मात् शुवतम = मिश्रयितृतम । पुरोडासो केनचिदप्येन पदार्थेन मिश्रयति । तन्मिश्रणमनुपमम् ।

१२ ' अनम्यमितः ' (५४८ । १७-१८) इति ग. च. ज. पाठो नैकास्मिन्नपि निरुक्तमूलपुस्तके दृश्यते । ' भीट् हिंसाया ' (घा० ९ । ४) । तस्य निष्ठा ' मिनः ' । तस्य प्रतिषेधः ' अभिनः ' अहिंसितः । अभि + अभिनः = अम्यमिनः । ' अनम्यमितः ' इति पाठे ' अम रोगे ' (घा० १० । १८७) । तस्य निष्ठा ' अमितः ' । अन् + अभि + अभिनः = अनम्यमितः ।

- पक्षः
- ५५२ १ 'महान् भवति' (५४८ । १७) न व्याख्यातम् ।
 'परिदृष्टः' इति पाठान्तरं साधनभाष्याद् गृहीतम् ।
 २ केन कारणेन अमेनः ।
 ६ मुक्तः = प्रीतः । 'प्रत्यभिमुखोऽभूत्' इत्यन्वयः ।
 १७-१८ 'शब्दकारिण्यः' (५४८ । १९) इत्यस्य व्याख्यानं
 'शब्दानुकरणात्' ।
- ५५३ १४ साधयिता = न.शयिता । १६ समसृजत् = संयुजोऽ ।
 १८ शाशानमानः = पुनः पुनः कर्त्तमानः छिद्यमानः ।
- ५५४ २९ सर्पिर्वाचां तैलवाची वा मृप्रशब्दः कोशेषु नोपलभ्यते ।
- ५५५ १४ 'विष्यस्व' इत्यस्य च. ट. पुस्तकयोः 'पोऽन्तर्कर्मणि
 व्यत्ययेनाऽग्नेपदम्' इति प्रान्ते लिखितं विवरणं ठ. ड.
 पुस्तकयोरन्तर्भाव्यते ।
 १८ उपजिह्विका = जिह्वाया मूलभागे वर्तमाना 'पटजीभ'
 इति महाराष्ट्र-गणायो ख्याता ।
 २१ 'प्रतिसंसेवयस्व' (च. पुस्तके) इति निजन्तः पाठः
 प्रामादिकः ।
- ५५६ ९ मेधाविष्य ऋत्विग्यः । अतौ अग्निः । १२ 'चिकिते =
 ज्ञायते' (च. ट.) ।
- ५५८ १ स्थायन्तीति स्थायनाः । स्थायन्ति संदृता भवन्ति संधा-
 तयन्ति वा । 'स्थायजाः' 'स्तिवजाः' एतौ पाठौ
 प्रामादिकौ ।
 १३-१४ पीपाय = अप्यायते (वर्धते) । अथवा पीपाय =
 पानाय संस्कृतः । १८ 'स्तिपः' 'स्तिपालनः' इति
 ग. च. ज. पाठौ ।
 १९ स्थायन्त इति स्तथो गृहाः (स्तयणः) । स्तिगाः =
 गृहरक्षकः । 'उप नो वाजन्मिर्मह्युः स्तीन्' (ऋ०
 सं० ७ । १९ । २१) स्तीन् = गृहान् । 'उत त्रायस्य
 गृणत उत स्तीन्' (ऋ० सं० १० । १४८ । ४) ।
 'नः स्तिपा तनूगयस्य' (ऋ० सं० ७ । ६६ ।
 ३) । अत्र सर्वत्र स्तथो गृहा मधेयुर्गावो वा । अथवा ।

पत्रं

शक्तिः

५५८

पुत्रा भवेयुः । यस्मात्पुत्राः स्नेहेन स्यायन्ते मातृपितृभिः
संहता एकरूपा भवन्ति । ' वृषभः स्तियानाम् ' इत्यत्र
जलरूपगवामिन्द्रोऽश्विर्वा वृषभः ।

२० ' पालयतीति वा ' (५५४ । १४) इत्यत्र ' वा ' शब्दो न व्याख्यातः । दुर्ग एकमेवार्थं गृह्णाति । ' स्तृपां पालनः ' (५५४ । १३) इति छ. त. द. पाठः । स्तृपां नक्षत्राणाम् । ' ऋक्षाः स्तृभिरिति नक्षत्राणाम् ' (२७२ । १-२) इति यास्कः ।

५५९

९ ' जवाम् जरमाणरोहीति वा जवमानरोहीति वा ' (५५४ । १५) इति सायणगृहीतपाठः । अस्मिन्पाठे ' गरमाणरोहीति वा ' नास्ति ।

१८ ' प्राष्ट'शब्दः कोशेषु नोपलभ्यते । ' अश व्यापने ' । तस्य निष्ठा । प्राष्टः = विस्तृतः । पृश्निः = भिन्नवर्णः । २० रूपः = रिपः ।

२२ ' इह वा असा आदित्यः ' ' आसां प्रजानाम् ' इति भैत्रायणीसंहितायां (२ । २ । २) पाठौ । आम्नां = द्यावापृथिवीभ्याम् । आदित्य आदौ पृथिव्यामासीत् । द्यावा-पृथिवीस्ताहाद्येन आसां प्रजानामुपरि दिवि लोका देवा वा तं स्पन्दधुः । २४ जवमानं = गच्छन्तम् ।

५६०

१ (नभसो) रोहति = जायते । तत्र तत्र आकाशस्य भिन्नभगिषु ।

२ गत्माणं = गिलन् । ' जवमानरोहि ' (५५४ । १५) इति महाराष्ट्रियपाठः । वक्रयोरभेदः ।

५६१

३ वधेन = प्रहारेण । अथवा । अस्त्रेण । ' वधेरजेत दुर्मति ' (ऋ० सं० १ । १२९ । ६) अत्र वधैः = अस्त्रैः । विवृक्षणाणि छिन्नानि । अङ्गानीत्यव्याहारः ।

स्कन्धो वृक्षस्येत्यादि पृथिव्याः (५५४ । १९-२५) इत्यन्तं न व्याख्यातम् । प्रक्षिप्तं स्यात् । समास्कन्नः = समन्तःस्थपितः । ' इदमर्थतरन् ' अर्थं यातः साधुः । स्कन्धःशब्दो नपुंसको यस्मात् ' आस्कन्नम् ' (५५४ । २०) इति तस्य विदोषणम् । यास्कपाठेऽपि स्कन्धः-

पत्रं
५६१

पङ्क्तिः

शब्दो नपुंसकः सकारान्तश्च स्यात् । ' समास्वान्तम् '
इति पाठः स्यात् ।

४ ' अहिरयनः ' इति ग. ज. प.ठः । ' अहिरयनादेत्यन्त-
रिक्षे ' (निरु० २ । १७) ।

६ ' अहिः ' (४) पदस्य पुनरुक्तिर्वर्ध्या । अगमयत्
उदकम् । अत्र शयनं (स्वप्नः) न वास्तविकम् । अवस्था-
नमेव तस्यार्थः । जलरूपेण पृथिव्यामवतिष्ठते ।

१९ उत्तरोत्तरे = उत्तरेभ्य उत्कृष्टेभ्योऽपि उत्तरे उत्कृष्टाः ।

२१ अस्य = ' तुञ्जे तुञ्जे ' इत्यत्र य इन्द्रोऽस्त्युपत तस्य ।

५६२

६ सव्यावमापन्नस्येन्द्राय = ' स्वयमिन्द्रसमं पुत्रमिच्छतोऽङ्गि-
रसो मुनेः । वज्रयेव सव्यो भूत्वर्यो गित्वात्पुत्रतां गतः '
(बृह० ३ । ११५) ।

८ शूषं = सुखं धनं बलं वा । तद्युक्तं शूष्यम् ।

५६३

१५ इतः = सोमाभिपन्नकर्मणः । ' अतः ' इति ग. ज. पाठ-
स्तस्मिन्नेवार्थे । पूर्वैः पूर्वतरैश्च जनैरनुष्ठितात् धर्मसंतानात् ।
१५-१६ धर्मसंतानः = परंपरागतधर्मकर्माणि ।

१६ अलं धर्मेणेति यः करोति वदति सः । अयञ्चैत्यर्थः । १७
अलंकरिष्णुः = आत्ममण्डनपरो वा ।

१८ ' स्ववित्तवितनिपुः ' इदं सामासिकपदम् । १९ धर्मे अग्र-
इयानम् । ' अपाप ' (अप + अप) इत्युपसर्गाम्भासः ।
वितनिपुं = धर्मसंतानादपेतम् (४) इति यास्कः स्ववि-
धवितनिपुम् दुर्गः इति । ' तन विस्तारे ' इत्यस्य सनि
रूपम् । धर्मात् आत्मानं तनितुं विस्तारयितुम् अपगमयि-
तुमिच्छति यः स वितनिपुः । तस्यैव ' अलंकरिष्णुः '
इत्यर्थः ।

२० ऊहतेरप्यम्भासः कृतो भव्यकारेण ' अपोहत्यपोहति '
(३) इति ।

२१ दुर्गमते ' कथासखा ' कश्चिद्व्ययः पूर्वस्मादयमनः । ' तन्-
शोभयितारम् ' (५) इत्यस्य स्थाने दुर्गमवृत्तौ ' शरीर-
शोभयितारम् ' ।

पत्रं

प्रकृतिः

५६३

२३ 'तनूशुभ्रम्' इति 'ततनुष्टेः' विशेषणम् । 'तनूशुभ्रम्' इत्यस्य विशेषार्थः 'कवासखः' इत्यनेन क्रियते । कः तनूशुभ्र । यः कवासखः । यस्य कपूयाः पापाः सखायः । इति केचित् । वस्तुतस्तु 'कवासखः' इति 'मद्यवा' इत्यस्य विशेषणम् । कवानां कपूयानां पापानाम् असखा शत्रुः ।

२४ प्रपद्यत = ईश्वरं शरणं गच्छेत् । अथवा । सन्मार्गं प्रपन्नो भवेत् । प्रत्यापद्येत (ग. ज. पाठः) = पराधर्तेत ।

५६४

३ गोरुदरे तदूधः केनचिदासञ्जितमिव भाति । उप=समीपे । उत् = उदरस्य । उदरस्य समीपे उपरि नद्धम् उद्योन्नद्धम् । उ (उप) + उ (त्) + धन् (नद्धम्) = ऊधन् । उत् + हन् = ऊधन् ।

४ अवश्यायाः = नीहारः तुषारः । तैरोपधिबनस्पतयः क्षिप्त्वा आर्द्रा भवन्ति ।

७ इळा = अन्नम् । ८ आत्मीयानि = स्वस्मिन्वर्तमानानि ।

१६ 'मेघम्' इत्यस्यानन्तरं वाक्यसमाप्तिरावश्यका ।

१८ यावत् तरः बलम् । 'यावत् तरः त्वय्यस्ति' इत्यन्वयः । मेघवलेन न किञ्चित्प्रयोजनमत्र । 'अवधीः' इत्यत्र 'जहि' इत्यर्थो नावश्यकः ।

५६६

२१ कियेधा इन्द्र इति यास्कमतं भाति (५६५ । ११) । तच्च शब्दक्रमानुरूपमत एव सत्यम् । १ यन्न ह्यापतेऽपि ।

२ शश्वत्तं धारयति संस्तप्नाति ।

१५ 'अजयम्' अयं शब्दो दुर्बोधः ।

१७ इयं पद्मप्रविद्या देवयानपितृणो (२१-२२) च कठोः पतिपदि छन्दोगे च वर्णनो । दर्शनं प्रलयः ।

५६७

१ विप्रितः = विः = (विस्तीर्णः) + पितः = (प्राप्तः) । 'विस्तीर्णते विप्रितिः' इति च. पठे दुर्बोधः । 'प्राणिनां कर्मानुरूपेण' (च. पठः) । 'संभृतं' (५६३ । २३) 'विप्रैर्विति' (तथैव) अत्र 'इति' च न व्याख्यायते । इति शब्दस्य स्वरस्य न ज्ञायते ।

पत्रं

पङ्क्तिः

५६७

१-७ 'यदद्य मैत्रावरुणं तु वा सौर्याद्या' (अनुक्र०) । आद्या
ऋक् सौरी । 'तु वै' परिभाषया एतदादीनि सप्त सूक्तानि
मित्रावरुणदेवतादि । 'स्तुतौ तु मित्रावरुणौ सूक्तैर्यदिति
सप्तभिः (ऋ० सं० ७।६८-६६ सूक्तानि) । यदद्य
(७।६०।१) उत्तम्य (७।६२।१-३ ऋचः) ।
इति तिस्र उद्धति (७।६३।१-४३ ऋचः) इत्यर्ध-
पञ्चमाः । सौर्यम् (बृह० ६।४-५ श्लोकौ) ॥

८ अर्थमारिम् सूक्ते चतुर्व्यामृचि 'मित्रो अर्थमा वरुणः
सजोपाः' इति पञ्चम्यां च 'मित्रो अर्थमा वरुणो हि
सन्ति' इति श्रूयते । एवं सति मित्रावरुणदेवत्वमिदं सूक्त-
मिति शौनकेन कथमुक्तम् ।

५६९

१५ 'मौक्तजीकः' इत्यनेन गतार्थता (निरु० ६।४) । १६
'आ व ऋक्से००' (ऋ० सं० १०।७६।१) इय-
मृग् (५३८।२-३) दुर्गेण न व्याख्याता । 'इत्तं धो०'
अयं मन्त्रः कथं शेष उच्यते । अयं पूर्ण एव ।

५७१

१९ 'होताऽशोन्त्रिया अन्वाहः' (आधे० श्रौ० ५।१) ।
२० एतस्या ऋचो व्याख्यानं निरुक्तटीकाया उद्धृतमिति सायण-
भाष्ये । तत्रैते पाठभेदाः । यथाशास्त्रं ('इष्ट'
नास्ति) ऋमेण (२३) नोऽस्माकं धनानाम् (२३)
तद्धि तत्रैव युज्यते (५७२ । २) निरुक्तकारो ब्रवीति
याज्ञे शकट इति वा (३) अधुनेव सोम० (७) ।

५७२

१ वेदे 'ऊधारेव' 'ऊध इव' इति द्वे अपि संधिरूपे ।
२-३ ऊवो यथा गोशरीरस्याधःस्थाने वर्तते तथाधिपत्रणचर्म
हनिर्धानशकटस्याधस्तात्तिष्ठति ।

५ चर्मरूपमूत्रः । ६ सोमे उत्तिष्ठन्माने तच्चर्म० । 'इतरम्'
इति ग. च. ज. पाठः प्राणादिकः ।

११ क एते कोचत् । १२ 'शकृदटम्' (५७१ । २) इति
दं. पाठः । शकृत् अटति इति 'शकृदटम्' (५७१ । २) ।
शकृता अटते इति शकृदटम् । १२-१३ तेन शकृता तच्छ-
कृदमेति युक्तं भवति ।

पत्रं

पङ्क्तिः

५७३

५ ' उद्धिद्वलभिरौ स्वर्गकामः । इन्द्र सोममिन्द्रः पूर्वमिदिति मध्यंदिनः ' (आश्व० श्रौ० ९ । ८) । ' गोसचर्वावधौ पशुकामः । इन्द्र सोममेतायामिति मध्यंदिनः ' (तथैव) दुर्गदत्तो विनियोग आश्वलायनसूत्रे नोपलभ्यते ।

७ ' गोधे तले ज्य घातवारणे ' (अमरः २ । ८ । ८४) । गोधे अङ्गुलित्रं च । १४ ऋचि ' प्रवृद्धः ' (४) इति पाठान्तस्म । दुर्गेण तत्स्वीकृतमिति भाति यतः ' प्रवृद्धोदकः बहूदकदाता भव ' इति तत्कृतविवरणम् ।

५७४

१-३ उपमप्रम् = अतिशयेन भीषणम् । ३ दमायन् = दमयन् । अन्यमन्यम् = सर्वान् शत्रून् ।

४-६ अतिज्ञेनीयमानः (५७३ । १८) = भृशं पराजित्य मृत्यु-सात्कुर्यन् । देवताविशेषमतिशयेन = सर्वा देवता अपमति-ज्ञेते इति कृत्वा । अयमिन्द्रः सर्वेषु देवताविशेषेषु उत्तम इति पौनःपुन्येन निर्णयते इति दुर्गविवरणम् ।

५ ' अमुष्मात्सुतान् कामान् ' इति पाठान्तरम् । सुतान्कामान् सुतरूपकामान् । अथवा । सुतान् इतरांश्च कामान् ।

११ चोष्क्यते = पुनःपुनराह्वयति (सायणः) ।

१२ अश्वस्तोत्रमश्वस्तोमः । तत्प्रतिपादका मन्त्रा अश्वस्तोभीयाः । ' यदक्रन्दः प्रथमं जायमान इत्येतेस्त्रिभिरनुवाकैः पट्विंश-तश्वस्तोभीयान् जुहोति ' (तै० सं० ४ । ६ । ७) । ' अश्वस्तोभीयं जुहोति ' (तै० ब्रा० ३ । ९ । १२) । ' मा नो मित्रमिति प्रत्यृचम् (कात्या० श्रौ० २० । ८ । ७) आज्यं चतुर्गृहीतं गृहीत्वा जुहोति ' । अश्वस्तोभीयेन = ' मा नो मित्रम् ' इति. सूक्तेन (ऋ० सं० १ । १६२) ।

' संज्ञपनात्प्राक् मा नो मित्रम् ० इत्यावपेत् ' (आश्व० श्रौ० १० । ८) । ' षोडशतपथद्वयः ' (पाठान्तरम्) = षोडशाद्वयतो हूयन्ते । अयं विनियोगः शतपथब्राह्मणे दीयते । ' शतपथे ' इदं विवरणं घ. ट. ठ. ड. पुस्तके-ष्वन्तर्भावितं पाठोऽप्यशुद्धोऽत एव दुर्बोधः कृतः । ' मा नो मित्रो वरुणो अर्यमाशुरित्येतन्मूक्तमधिगाथावपति । उप-

पत्रं

पङ्क्तिः

५७४

प्रागाच्छमनं वाज्यर्वोप प्रागात्परमं यस्यस्थमिति च ।
(शत० ब्रा० १३ । ५ । १ । १८) ।

शतपथे केवलं पठनमेव यथाध्वलायनसूत्रे । आहुतिविनियोगो
मानयश्चैतसूत्रेऽप्युल्लभ्येत ।

२१ ' अनेकविधान्०० चकार तत्तदहमेव ' इदं पाठान्तरं साय-
णभाष्यान्नोद्धृतम् ।

५७५

२ आशाः = दिशः । प्रदेष्टामित्यर्थः । १४ दत्तयः = दानानि ।
दत्तिशब्दः कश्चिदेव प्रयुज्यते । १७ मात्राः = मानानि ।

१९-२० ' अनु ' इत्यस्मान्नामरूपे कर्तव्ये प्रत्यय आवश्यको यथा
पदधातोः अकारप्रत्यये परे पदमिति नाभिरूपं भवति पाद
इति वा । तादृशः प्रत्ययोऽत्र लुप्तः । २१ ' संप्रति ' इत्यत्रापि
प्रत्ययलोपः । ' इदं न संप्रति ' (योग्यं न्याय्यं वा) इति यास्ककाले प्रयोग आसीदिति भाति । ' संप्र-
तम् ' इति व्याकरणनियमानुसारं रूपम् । छ. त. द. पुस्तकेषु ' उपसर्गलुप्तो नामकरणः ' (५७१ । १२)
इति पाठान्तरम् । उपसर्ग इति कृत्वा लुप्तो नामकरण-
प्रत्ययः ।

५७६

२ विकृषितं = कन्यानां दानादानाम्नां सुपिरं विस्तृतं भवति ।
९ ठ. ड. पुस्तकयोर्निर्हृतमूले द्वाविंशतिः खण्डः । अत्र तु
त्रयोविंशतिः । एतत्केवलमितरपुस्तकानुकरणं स्यात् ।

५७७

८ संपातशब्दो न नपुंसकः । तस्मात् ' संपातं नाम सूक्तम् '
इति पाठोऽशुद्धः । ' संपातसूक्तं नाम ' इति पाठे ' नाम '—
पदं व्यर्थम् ।

१३ ' नापि यौः ' इत्यभ्याहतं दुर्गेण । १५ ऋग्विवरणे
' अमत्रं ' (१०) इत्यस्य ' अम्यमितो वा ' (५७६ ।
१३) इति द्वितीयाथो न प्रदर्शयते ।

२० आद्यौ गायत्रौ पादौ ततो द्वौ जागती सास्तरपङ्क्तिः । नेय-
मास्तरपङ्क्तिः किंतु पुरस्ताद्ब्रह्मती । आद्ये पादे द्वादशाक्ष-
राणि शेषेषु प्रत्येकमष्टाक्षराणीति तस्यां लक्षणम् । वस्तु-
तस्तत्पादे दशाक्षराण्येव न तु द्वादश । ' विमदस्य
सहोदर्याः सर्वा आस्तरपङ्क्तयः ' (बृह० छन्दोनुक्रमणी

१८

पाङ्क्तिः

५७७

१० । ९) । एनदनुरोधेन ' आस्तारपाङ्क्तिः ' इति दुर्गेण लिखितं किंतु तत्प्रामादिकं यस्मात्तस्मिन्नेव ग्रन्थे ' पष्ठे पुरस्तद्धार्यते त्रिष्टुबन्ते कुह श्रुते ' इति लिख्यते (छन्दोनु० १० । १०) । दुर्गकृता ईदृशाः प्रमादाः अनवधानमूलाः ।

२१ वसुकपुत्रो वासुक्रो वसुकृत् तस्यार्धम् ।

५७८

११ अश्रयो विद्यन्तेऽस्य तदश्रिमत् । ' अश्रिमत् ' इति छ. त. द. पाठः । १४ अनुक्रमण्या ' नृमेधस्यार्धम् ' । पाठान्तरे ' तेमस्यार्धम् ' । ' इन्द्राय साम (ऋ० सं० ८ । ९८) सूक्तस्य तथा तस्योत्तरस्य (८ । ९९) च । नृमेधना-माङ्गिरस ऋषिरित्यवगम्यताम् ' (बृह० आपर्णनूकमणी ८ । ४३) । ' अयन्त एते (१००) सूक्तस्य नेमो नाम भृगोः सुतः ' (तथैव ८ । ४४) ।

१७ दधतः इत्यस्योपरि चिह्नं कृत्वा ' पारिचरतो वा ' इति ट. पुस्तके प्रान्ते लिख्यते तत् ठ. द. पुस्तकयोस्त-र्भाष्यते ।

१८ ' कामिनां कामान् ' इदमनवश्यम् । अस्य इन्द्रस्य कामं निधतः कुर्वतो जननिन्द्रो न परिहृयति ।

१९ ' सः ' (अग्न्याहुतं) चोदयन् भवति यः इत्यादि ।

५७९

१ ' अगस्त्यस्यार्धम् ' अथवा ' आगस्त्यस्यार्धम् ' इति साधु । न ' अगस्त्यस्यार्धम् ' अथवा ' आगस्त्यस्यार्धम् ' ।

२ तदधीनत्वेन = तदधीनः पराधीन इति ।

३ ' मोदनजिह्वमिति वा ' (५७८ । १८) ५ ' अर्चनीयैः ' (५७९ । १९) न व्याख्यातम् ।

५ गत्या नयन्ति ते । नुधातोर्थप्रत्ययेन नयः ।

६ ' जुष्णम् ' अव्याहनम् । आभिमुख्येन = बृहस्पतिस्थानं प्रति मुखानि कृत्वा ।

७-८ अनया स्तुत्या तस्य नरो मानो भवतीत्यन्वयः ।

८ ' शु स्तुतो ' (धा० २ । २५) परस्मैपदी एव । नुदादिगणस्थो ' नृ ' धातुरपि दृश्येत् । ' नवते ' इति न पाणिनीयस्यम् ।

पत्रं

पाङ्क्तिः

५७९

१४ ' इति ह विज्ञायते = ब्राह्मणे श्रूयते (ट. प्राप्ते) । ट. ड. पुस्तकयोस्तदनुगेधेन ' इति ब्राह्मणे श्रूयते ' इति पठः ।

५८०

२ ' अस्मामि धृतयः ' इति द्वे पदे । हे धृतयो भवतां शवः अस्मामि । ' धवति धावति ' एते पाठान्तरे । ' मर्दति ससृते ' एतौ मूळपाठौ । दुर्गस्वीकृतो निघण्टुपाठो भिन्न आसीत् ।

१५ ' सुमत्स्वपमित्यर्थः ' (५७१ । ८) अत्र ' इत्यर्थः ' । ' आ गलना धमनीनामित्यत्रार्थः ' अत्र ' इत्यत्रार्थः ' । एतौ शब्दौ यास्मिन्नेतरत्र न प्रयुक्तौ । अत एव क्षेपकौ स्याताम् ।

२० ' सोमस्य धमनिपूरणेन ' इत्यन्वयः । १९-२१ सोम-
धानेन कदाचिद्धमन्यो नाञ्चः पूर्णम् । तेन आसनिरोधः
स्यात् । सदा स्तुषन्नापि कदाचित्सोमं तव धमनिषु प्रवेशय-
न्हं तव क्रोधमुत्पादयेयम् । अयमर्थः कदाचित्स्यात् । दुर्ग-
मते सोमेन धमनिपूर्णं परितोपहेतुः ।

५८१

५ अथ मतं = यदि मन्यसे ।

७ ' अयाचताम् ' इति प्रयोगात् ' याचिष्यति ' (५८० ।
१२) इत्येव दुर्गस्वीकृतनिरुक्तपाठः । गले स्थिता
धमनिः गलधमनिः । गल एव वा धमनिः । ' गल्दा धम-
नयो भवन्ति ' (५८० । १३) इत्येव सर्वेषु पुस्तकेषु
पाठः । ' गलितं हि तस्या धीयते ' (५८० । १-७)
इति दुर्गविशरणम् । भाष्ये तु ' गलनमासु धीयते '
(५८० । १३) । दुर्गपाठो न कुत्राप्युपलभ्यते । १०
भाष्ये ' गल्दा धमनयो भवन्ति ' न तु ' गल्दा धमनि-
र्भवति ' ।

१० ' गल्दा । गल अदने ' (पा० १ । ५४७) भौवादिः । गलनं
पूर्णं कामानाम् । गलेः पूरणार्थत्वं स्कन्दस्वामिनोक्तम् ।
तद्वदिति । ' आतोऽनुपसर्गे कः ' (पा० ३ । २ । ३)
गल्दाः " (निघण्टुमाला १ । ११ । ५४) ।

पत्रं
५८१

पङ्क्तिः

१४ ' गलना धमनीनाम् ' (५८० । १४-१५) इति छ.
त. द. पाठः । अस्मिन्पाठे ' आ ' अयमुपसर्गो ' विशन्तु '
इत्यनेनान्वेति ।

१४-१५ ' आगलना धमनीनामित्यत्रार्थः (५८० । १५) न
व्याख्यातम् ।

१५ ' धमन्ति = नवं मदमुत्पादयन्ति ' इति दुर्गिकृतोऽर्थः ।
यदि ' आगलना धमनयः ' तर्हि धमनीनां धमनय इत्यस्य
कोऽर्थः । ' इन्दवो धमनयः ' इत्यस्य च कोऽर्थः ।
'ताभिर्धमनिभिः ' इति तृतीयार्थः कथं लभ्यते ।

१८ अनयोः पाठयोः कतरो दुर्गस्तीकृत इति न ज्ञायते ।
' नानाविभक्ती त्वेते ' इति ग. च. ज. छ. पाठः समी-
चीनः । नानाविभक्ती इति = नानाविभक्तीति (पाठा-
न्तरे) । अयं संधिरपाणिनीयः ।

२०-२१ ' आगल्दा धमनीनाम् ' इति प्रयोगे गल्दाशब्दो धमनि-
वाचकः कथं भवेत् । यास्कमते ' गल्दा धमनयो भवन्ति ' ।
अत्र ' आगल्दाः ' इति प्रथमान्तं ' धमनीनाम् ' इति
पष्ठपन्तम् । एवमेते पदे नानाविभक्ती । भिन्नविभक्ती
इत्यर्थः । इन्दवः सोमा धमनीनामागलनाः । धमनीद्वारा
उदरे गच्छन्ति । दुर्गिकृतं विवरणं (१४-१५) भिन्नम् ।
धमनीनां धमनीमध्ये या आगलनास्ताभिः इति दुर्गः ।
' आगल्दा धमनीनाम् ' इदं गल्दाशब्दस्य धमनिवाचकत्वे
कथं ज्ञापकं भवेत् । ' इन्दवो धमनीनामागल्दाः '
इत्यन्वयः ।

५८२

१२ तस्यामेव = यथा ' मा स्वा सोमस्य० ' इयमृगवृहती-
सहस्रे विनियुक्ता तथेयमपि ।

१४ ग. च. ज. पाठे ' दानकर्म ' नास्ति । अथ मतं = यदि
केचिन्मन्यन्ते । १५ न + अरायासः । रायः = धनम् ।

१५ ' नारायासः ' इत्यस्म. दानकर्म ' न पापामः ' इत्यस्मा-
दध्ययनं ब्रह्मचर्यं तस्य ' जल्द्वः ' इत्यस्मादाहिताग्निं
चानुमीयते । ऋकमंहितायां ' जल्द्वः ' न तु ' जन्द्वः ' ।

- पञ्च
५८२ पङ्क्तिः
१७ 'ज्वलहीनाः १ इति ग. च. ज. पाठः । १८-१९ यत्
+ इत् + तु + इन्द्रम् ।
- ५८३ २ 'भास्वद्द्रवणो वा' इति दुर्गः । मूले तु 'भास्मानो द्रव-
तीति वा' (५८२ । ६-७) ।
- १७ 'वृको लाङ्गलं ००० लम्बनेर्वा' (७-८) न व्याख्यातम् ।
वि + कृत् = वृ + ऋ + कृ = वृकः । 'निषपन्तौ' ..
(६) इति भाष्ये 'वपन्तौ' वृचौ । १७ भूमौ लगति
संलग्नं भवतीति लाङ्गलम् । लाङ्गलस्य को भागो लाङ्गूल-
सदृशः । लाङ्गूलं पशोः पश्चाद्भागात्कृम्वते । लम्बनं क्रिया-
योगादेव लाङ्गूलं लम्बते ।
- १८ 'तत्कृतौ यत्कृते' (पाठान्तरम्) । तत्कृतौ = अभिनोः
कृतौ । सा कृतिर्वर्पादिर्वर्षादिः । 'यत्कृते महानुग्रहे सति'
इदं 'तत्कृतौ' इत्यस्य विवरणम् । 'यत्कृते' इति पाठे
'इत्यतः' (१९) व्यर्थम् ।
- २० 'दत्तौ दर्शनीयौ' (८) इति भाष्ये । 'शत्रूणां दासयितारौ'
इत्यादि दुर्गः ।
- २२ दस्युमभिधमन्तौ = दस्युं विनाशयन्तौ । दस्युः = दुर्भिक्षम्
(दुर्गः) । 'अभिधमन्तौ' इत्यस्य दुर्गमते द्वावर्थौ ।
विनाशयन्तौ अभिपुष्यन्तौ (२३) इति च ।
- ५८४ ४ 'ईश्वरः पुत्रः' (५८३ । ९) इति पाठान्तरं ग्रामा-
दिकम् ।
- ८ ठ, ड. पुस्तकयोः संहितायां च 'कद् मही०' इत्यर्थः
प्रथमः 'इन्द्रो विश्वान्० इति द्वितीयः । अयं क्रमो दुर्गेण
किमर्थं विपर्यस्त इति न ज्ञायते ।
'द्विगुणकामिनो वा' इति दुर्गः । 'द्विगुणं कामयन्त इति
वा' (५८३ । १०-११) इति मूले । द्रव्यं द्विगुणं
कुर्वन्तीति वा द्विगुणं स्यादिति द्रव्यं ददतीति वा द्विगुणं
द्रव्यं कामयन्त इति वा ।
- ११ इयं संतेवृहती न वृहती । १२-१३ 'वेकनाटाः खलु
कुसीदिनो भवन्ति' इत्यत्र 'खलु भवन्ति' (५८३ ।
९-१०) न व्याख्यातम् ।

पत्रं

पङ्क्तिः

५८४- १३ सूर्यदशः = यारहैव जन्मनि सूर्यो दृष्टः । १३ ' पुनः = जन्मान्तरे ' (ट.) । ठ. ड. पुस्तकयोरिदमन्तर्भाव्यते ।

१५ ' पराणि ' (५८३ । १३) = पारलौकिकेष्वहःसु-
इत्यादि ।

१६ एव भावो मतं विद्यते एषां ते एवमाविनः ।

५८५

९ ' स्तेयमतस्मारोहणं ' ऊ. य. ध. पाठः प्रामादिकः ।
कदाचिदुच्चारणसौकर्यार्थं स्वीकृतः स्यात् ।

१३ ' त्याजु सैका मत्स्यः सामदो मैत्रावरुणिर्मान्यो वा बहवो
वा मत्स्या जाछनद्धा अदित्यानस्तुवम् ' इत्यनुक्रमणिका ।
अत्र विकल्पेन त्रय ऋषय इत्यनुक्रमणिकाकारः शौनकः ।
मत्स्या एवर्षय इति के वेदयन्ते (५८५ । ३-४) ।
मैत्रेयार्पकथने यास्कस्य को हेतुः । यास्कमतं भिन्नं स्यात् ।
केचिद्वेदयन्ते न तु. तथास्कमतम् । यास्ककाले भिन्नानि
मत्तान्वासन्निति स्पष्टम् । शौनककृतानुक्रमणिका यास्ककाले
नासीदिति भाति । ' ऋषेर्वा ' इत्यादि दुर्गमतं (२०) ।
२१ ' स्पन्दते ' इति ग. च. ज. पाठः । मत् (मधु) +
स्या (स्पन्दते) = मत्स्याः । निघ० २ । १४
हायत्र ' स्पन्दते ' इति पाठः । ' स्पन्दति ' इति
पठन्तरम् ।

५८६

३ ' जलेभवं जलेशयं ' (५८५ । ५-६) शब्दौ वृत्तौ
न दीयेते । केवलं तयोर्विवरणं क्रियते ।

९-१० ' त्रितः कूपे० (ऋ० सं० १ । १०५ । १७) ' सप्त
मर्यादा० ' (ऋ० सं० १० । ९-६) इत्येते द्वे ऋचौ ।
एतयोः पूर्वा ' त्रितः कूपे० ' इति । सा कुत्सस्य वार्यं
यस्माद्धितः कुत्सश्चोभाषणि कूपे पतितानि व्याख्यायते ।
' चन्द्रना इति सूक्तस्य त्रित आध्वोऽथवा ऋषिः '
(आर्यानुक० १ । २०) । यथा १०१-१०४ सूक्तानां
कुत्सऋषिरेवमत्रापि । अथवा । त्रित आध्वः ।

१० ' ऋचामेकाधिकत्वेऽपि ' आर्यम् ' इत्येकवचनेनैव प्रयो-
गः । अर्थे त्रिणि प्रयोगविशेषः ।

- पत्रं पङ्क्तिः : ५८६ २२ अस्मिन्सूक्ते ' वित्तं मे अस्य रोदसी ' इत्येकोनविंशति-
वर्जम् अष्टादशसु प्रत्युचं वर्तते ।
२३ असौ व्रितः किमर्थमेतद्भोदसी श्रावपांचकार । १४-१५
अन्धकूपः = अन्वतमसा व्यापृतः कूपः ।
१८ ' ससैव ' इत्यत्र 'एव' (५८५ । ८) ' स्तेय०
नृतोद्यमिति ' (५८५ । ९-११) च न व्याख्यातम् ।
२० तैः = हिरण्यगर्भादिभिः । तासां मर्यादानां प्रत्याख्यायकाः
भङ्गारः तेषामनुस्मरणार्थं तेषां निराकरणार्थं च येषु ग्रन्थेषु
(सूक्तेषु) ता मर्यादाः कथितास्तासां संदर्भोऽभिव्यज्यते ।
तासां मर्यादानां न ते उपपादयितारः । अनादिभेदे ता
नित्या एव । पाठान्तरं सुखममेव । २२ एतन्मर्यादाकरण-
मौपचारिकं न तु वस्तुभूतम् ।
५८७ २ ' आगात् ' अत्र 'आ' कश्चि न वर्तते । अभि + गात् =
अभिगच्छन् । भाष्ये ' अभिगच्छन् ' (५८५-९) ।
३-४ इमां मर्यादा निषेधरूपाः । स्तेयं निषिद्धमित्यादि । स्तेय-
मित्यादोर्द्ध्वतीया ' अभिगच्छन् ' इत्यस्य कर्मेति । पातके
श्लोको (५८५ । १०) = पातकं कृत्वा न कृतमित्यनृ-
तयचनम् । ' पातके नृतोद्यम् ' इत्यत्रावग्रहः किमर्थं न
लिखितः ।
७ भूतसंख्यं यावत् । ९ विसर्गे विसर्जने काले प्राप्ते (ग.
च. ज. पाठः) । इन्द्रियाणां विसर्जने = काले प्राप्ते =
मृत्युकाले ।
१० ' व्रितः कुपे० ' इति प्रथमो निगमोऽहूणशब्दविवरणार्थ-
मुपात्तः । तदर्थमेव ' सप्त मर्यादाः० ' इति द्वितीय उपपत्तिः
पूर्वस्मात्पष्टतरोऽयमिति कृत्वा ।
१२ विज्ञिष्टैः स्मृतिकारैः = मन्वादिभिः । ' स्वतन्त्र इति '
पाठान्तरम् ।
१३ निरुक्तमूले वृत्तौ च वत इति न यतेति ।
५८८ ८ ' अतितः ' पाठान्तरे । वतः = बलादतीतः (५८७ ।
११-१२) = दुर्बलः । ' अन. सान्ध्यगमने ' (धा० १ । ३८)
इत्यस्मान् ।

पत्रं

पङ्क्तिः

५८८

१६ ' कक्ष्या कक्षगता रज्जुरश्वन्धनी युक्तमात्मना वद्धमधं परि-
ष्वजते तद्वत् ' (सायणः) । ' लिबुम्ना व्रतति ०० तत-
नाच ' (५८७ । २१-२२) न व्याख्यातम् । लि
(लीयते) + बुजा (विभजन्ति) । भूगौ लीयते लोकाश्च
तां विभजन्ति छिन्दन्ति । ' विभजति ' इति पाठान्तरम् ।
त्र (वरणात्) + ततिः (ततनाच) । कक्ष्याक्षरस्य
' सयनाच ' इति व्युत्पत्तिरिति न ज्ञायते । बह्वीं भूमिं
वृणात्यात्मानं सर्वतस्तनोति । ' ततनात् ' इति तनोते-
रभ्यासः । ' शयनाच ' इति पाठान्तरम् ।

२१ ' अप्याययति ' इति ग. च. ज. पाठः । अ (नवर्थे)
प्याययति = न वर्धयति । उष्णेन जलं वर्धते । घातः शीती-
करणाज्जलं न वर्धयति । अयमर्थः स्यात् । ' ओप्यायी वृद्धौ'
(धा० १ । ४८९) ।

२४ प्यायते वर्धते । इदमकर्मकम् । ' आप्याययति ' इत्यत्र
णिच् स्थार्थे । निरुक्तमूले ' आप्याययति ' इति पाठः
(५८७ । २३) ।

५८९

३ ' माद् माने शब्दे च ' (धा० ३ । ६) । ' डुमिन् प्रक्षे-
पणे ' (धा० ५ । ४) । ' माद् माने ' इत्यस्म ' मिमीहि ' ।
' डुमिन् ' इत्यस्य ' मिनु ' । मिनुहि कस्माद्वातोः ।

४ चायनीयम् = अन्वेपणीयम् ।

१५ सः शिशुकः । तस्मिन् शकुनौ उत्सुकं मनो यस्य ।

१७ वृक्षस्य नीडभूतेषु = वृक्षे यथा नीडास्तथा वयम् ।

१८ ' वने न बायो० ' इत्यस्य दुर्गवृत्तिः (५८९-५९०)
सायणेन स्वभाष्ये स्वीकृता किंतु वृत्तेर्वृत्तिहृतौ वा नामापि
नालिङ्ग्यत ।

२३ रात्रिपर्याया नाम केचिन्नागाः । २४ अजीमः = जागर्ति ।

५९०

१६ पदविभागतः = पदविभागमधिकृत्य ।

२२ ' यद्धृत्तात्रियं ' (पा० ८ । १ । ६६) । यत्र पदे यद्धृ-
न्दस्ततः परं तिष्ठन्तं नानुदात्तम् (भट्टोजीदीक्षिताः) । यद्धृ-
त्तात् = यस्मिन् यदस्ति तस्मात् । न्यधायि = नि ।
अधायि । एयमनुदात्तम् । येः अयं वायः पक्षिनिनुः ।

पत्रं

पङ्क्तिः

२५ अपुष्कलः = न पूर्णः । यस्माद्यच्छब्दस्तच्छब्दमाकाङ्क्षते ।
वाशब्दस्य न कोऽप्यर्थः ।

५९१

५ ' रथयति ' ' रथयति ' इति पाठान्तरे । ७ ' रथह-
र्यति ' इत्यत्र हलोपेन रथयति । ' रथयतीति सिद्धः '
(५८८ । ३-४) इति न व्याख्यातम् । सिद्धात् सिद्ध-
शब्दात् रथेतिनाम्नः आख्यातम् । अयं नामधातुरित्यर्थः ।
सिद्धो रथः । तं प्रेम्णुः = रथं कामयते । अत्र न विकल्पः ।
तेन 'वा'शब्दो व्यर्थः । ' रथयति रथं हर्षति तत्प्रेम्णु रथं
कामयते ' इति दुर्गपाठः स्यात् ।

१३ वग् (वच्) + वनुं = वाचः वननीयम् । वाचा याम्ना-
र्यते तत् ।

५९२

७ ' ब्रूम ' इति ग. च. ज. पाठः प्रामादिकः । ७-८ तर्प-
यति तर्पयित्रीश्री (ग. ज. पाठः) = तर्पयन्ती = तर्प-
यित्रीम् । एवं द्वौ पाठौ मिश्रीकृतावत्र ।

७-८ इपम् अन्नलक्षणां धेनुं तर्पयन्तीं गाम् ।

९ दामित्र असंक्रमणशीलामिपम् । ' असंक्रामणीम् ' (१)
इति चं. पाठः । ' असंक्रामिणीम् ' इति ग. ज. पाठः ।

१० इपः अन्नस्य हेतुभूतमुदकम् । ११ स्तुतानि शस्त्राणि च
विद्यन्तेऽस्य । स्तुतानि उद्गात्रा गेयानि । शस्त्राणि होत्रा
शंसनीयानि ।

५९३

२ विप्रासप्रज्ञाः (ग. ज. पाठः) = विप्राः प्रासप्रज्ञाः ।
अत्रैकः ' प्रा ' गलितः ।

१४ सहनशील = अभिमवनशील । १६ उत्सम् = उत्स्यन्दनं
मेघम् ।

५९४

१८ ' यदरायील्लदमीप्रम् ' (' बृह० ८ । ५९) ।

५९५

६ ' नमुनायन्तस्थ ' दुर्बोधम् । पाठान्तरमपि तथा । पिशा-
चादीनामयमव्यक्तत्वनिः स्यात् ।

८ ' संत् ' इति पाठः (निघ० १ । १२) न तु सत्त्वम् ।

९ ' चातयतिर्णारणे ' ग. च. ज. पाठः ।

९-१० घातयतिर्णारणे । ' बृहस्पते यथातयासि देवपीपुम् ' ।

पत्रं

५९५

पाङ्क्तिः

(३६६ । ५-६) । 'लोकेऽपि हि प्रसिद्धं देशादुच्चातित इति' (३६९ । १३) ।

१० 'चनति अतति (निघ० २ । १४ । ३७-३८) पतति' (निघ० २ । १४ । ११४) ।

१२ 'सत्त्वैः कर्मभिः' (५९४ । ८) इति सर्वेषु निरुक्तमूलपुस्तकेषु पाठः । दुर्गस्वीकृतपाठः 'सत्त्वैर्नामभिः' इति । संभवनाय आदरदर्शनाय समर्पानि ।

१७ कश्चिद्व्यनिरूप्यते । तस्यानुरणनात्मकः प्रतिध्वनिः अनुकणति अल्पं ध्वनिं करोति । 'मात्राणूमावात्काणः' (५९४ । ३) इति पाठान्तरं शुद्धम् । मात्रायाः परिमाणस्य अणूमावात् अल्पत्वात् कणो न तु काणः । दर्शनस्य अणूमावात्काणः ।

१९ 'एकीभूतत्वात्' तथा पाठान्तरे 'एकभूतत्वात्' इत्यस्याप्यर्थो न ज्ञायते । 'विक्रान्तः = दूरः' इति कोशेषु । काणे कीदृशं शौर्यम् । विक्रान्तं भयप्रदम् । अथवा । सर्वे जना नयनद्वयेन पश्यन्ति । अयं त्येकेनैव ।

१९-२० अविक्रान्तं = दूरस्थितपदार्थान् द्रष्टुमसमर्थम् । २० 'इसौपमन्यवः' (५९४ । ३-४) दुर्गेण न पठ्यते ।

२३ अतत्र (पाठान्तरम्) = अत्र + तत्र ।

५९६

२ 'कालकर्णोपेतः' (५९४ । ८) न व्याख्यातम् । 'अलक्ष्मीम्' इति ग. च. ज. पाठः । दुर्गस्वीकृतपाठः स एव । यतः स 'अलक्ष्म्या' (३) 'अलक्ष्मीर्निर्नश्यति' (४) इति शब्दौ प्रयुनक्ति । 'निर्नाशयाचकार' (५९४ । ८) इति छ. त. द. पाठः । 'अलक्ष्मीः' इति पाठे का एना अलक्ष्म्यः ।

३ इमानि निदानानि कस्मिन्मध्ये दीयन्त इति न ज्ञायते ।

४ 'अरादिकाणे मूक्तं च पञ्चवारं दिने दिने । अलक्ष्मीनाशनं सत्यं पुटे लक्ष्मीः प्रवर्धते' (ऋग्विधानं ४२२) ॥

५ 'परार्णार्णस्य समिष्टस्य स्थविरस्य जज्ञे' (५९४ । ९-१०) इति न व्याख्यातम् ।

पत्रं

पङ्क्तिः

५९७

२ मतिम् इच्छां पूरयत । मतिं मनो बुद्धिं वा प्रीणयत पालयत वा । ' पालयत ' (पाठभेदे) अथवा ' प्रीणयत ' अर्थे शब्दः प्रक्षिप्त इव भाति यस्मात्पञ्चे (२-३) ' पूरयत ' इत्येक एव शब्दः ।

२-३ केन पूरयत । जलेन । कुतः । मेघात् ।

७ स्वधितिः = परशुः । बर्हणा = महता कौर्येण ।

९ क्रिविर्दत्ती दिद्युतो विशेषणं न तु दिद्युदेव । ' अपि वा देवं कंचित्कृतदन्तं दृष्ट्वैवमवश्यत् ' (५९४ । १४-१५) न व्याख्यातम् । इदं वाक्यं दुर्बोधमसंबद्धं च पूर्येण । ' अवश्यत् ' इति वचनेर्लङ्गे रूपम् । तस्मात्र न किमपि प्रयोजनम् । छ. त. द. पुस्तकेष्विदं वाक्यं न वर्तते ।

५९८

११ शतपथब्राह्मणे ' प्राश्नात् ' इत्यस्य स्थाने ' प्राश ' इति वर्तते ।

१३-१४ तस्य पदस्य तत् पदं दूरस्थमपि अन्वयेन संबद्धम् । येषां पदानामर्थेन संबन्धो नास्ति तेषामानन्तर्यमकिञ्चित्करम् ।

१५ यस्मात्पूषा अदन्तकः (९) तस्मान्स करुळ्नी कृतदन्तः । करुळ्नी देवो भगार्थमपूष्यः कश्चिदन्य एव स्यात् । यथा पूषा वायं ददातु भगवन् तथा करुळ्नी देवः ।

१६ दनः = द (दानमनसः) + न (नः अस्मभ्यम्) । दनः = अदमयः अथवा अनरः इति सायणः ।

५९९

७ अस्मद्योगे = अस्मदर्थे । ८ हेतुभावेन = यस्मात्प्रतिमानि कर्माण्यकरोस्तस्मात् ।

१४ परिग्रहः पतिपुत्रादिः । १५ संशतुं = हिंसितुम् । ' शु हिंसायाम् ' । संशितारिपुः (१४) = मरणमिच्छन् इति दुर्गः । मदभिभवसाहसादवश्यमयं हन्येतेन्द्रेण ।

१७ वीरिणी = वीरपुत्रवती (सायणः) ।

१८ इन्द्रपत्नी एव न काप्यन्या प्राकृता स्त्री ।

६००

२-३ अयं - स्येको गृहदेवतायां नोपलभ्यते । गृहदेवताः काण्ड-सूत्रेणोक्तव्यः ।

पत्रं
६००

पाङ्क्तिः

‘उपसर्गगुणनिपाताः’ इति गुणशब्दस्यार्थो न ज्ञायते ।
उक्षयाः बह्वर्था इति ।

२ घ. ट. ठ. ड. पुस्तकेषु ‘पदं न तद्धितः’ इति पाठः ।

४ ङ. थ. ध. छ. पुस्तकेषु ‘तद्धर्धे’ (५९७ । १९)
पाठः । स दुर्बोधः ।

५ ‘वसूयुरिन्द्रो वसुमानित्यर्थः’ (५९७ । १९) इदं
प्रक्षिप्तमिव भाति यस्मात् ‘अश्वयु००० वसूयुरिन्द्र इत्यपि
निगमो भवति’ इदं वाक्यमनन्तरं विद्यते । नेयं विवरण-
पद्धतिर्यास्कस्य । ‘इत्यत्रार्थः’ इत्यत्र ‘अत्र’शब्दो न
व्याख्यातः । ‘इत्यर्थः’ इति कदाचिन्मूलपाठः स्यात् ।
‘आल्लना धमनीनामित्यत्रार्थः’ (५८० । १५) एत-
दपि समानम् । तदपि प्रक्षिप्तं स्यात् यस्माच्चतुर्गेण न
व्याख्यातम् (५८१ । १६) ।

९ ‘त्वं सुमेयम्’ (ऋ० सं० १ । ५२) इति महत्त्वती-
यम् (आश्व० श्रौ० ८ । ६) । ‘अभि त्वं मेयम्’ (ऋ०
सं० १ । ५१) इदं तु निष्केवल्यम् (आश्व० श्रौ०
८ । ६) । अयं दुर्गस्य प्रमादः स्यात् ।

१० ‘सुध्यः’ इत्यस्य स्थाने ‘शुध्यः’ इति पाठान्तरम् ।
ऋचि पुनः ‘सुध्यः’ इत्येव पाठः । ‘सुध्यः’ ‘शुध्यः’
इति पाठान्तरम् । च. पुस्तकेऽपि तच्छुद्धीकृतं स्वीकृतं च ।
तच्छुद्धीकरणं न ट. सप्तशपुस्तकानुरोधेन ।

११ सुर्वीर्धीर्वा (च. पाठः) । अत्रापि शुद्धीकरणं न ट.
सप्तशपुस्तकानुरोधेन ।

१३-१४ सोमे सोमयागे त्रिवृत्स्तोमः पञ्चदशस्तोमः सप्तदशस्तोम
इत्येवं स्तोमशब्दः प्राचान्येन प्रयुज्यते । स्तोमैर्भिना सोम-
यागो न भवति । . . .

२० ‘तद्धर्धे दृश्यते’ इत्यमत्र । मूले तु-‘तद्धर्धे भाष्यते’
(५९७ । १९) ।

१६ ऋचि ‘ते गावः’ न तु ‘ता गावः’ ।

पत्रं

पङ्क्तिः

६०१

१८ आशिरधर्मशब्दौ यज्ञे प्रयुज्येते । धर्मनामकं गोपयः प्रवर्ये
होमार्थमुपयुज्यते । तच्चादौ तप्यते । आशिरं नाम सोमरसे
मिश्रणार्थं पयः । एकस्मिन् पात्रे गौर्दुह्यते । तच्च महावी-
रनाम्नि पात्रेऽवनीयते तप्यते च छागापयश्च तस्मिन् प्रक्षि-
प्यते । उभयविधमेतत्पयस्तप्यते ततो धर्मसंज्ञां लभते । एवं
गोपयो धर्मः । सोमयागे प्रवर्येऽग्निहोत्रादिषु कर्मसु वा न
कुत्राप्युपयोगः । केवलं लौकिकक्रियास्येव तदुपयोगः ।

२३ तस्मिन् प्रमगन्दे स्थितं तत्स्थम् ।

६०२

१ तस्य प्रमोदो विषयभोगजो न यज्ञक्रियोलम्बः । इत्यपि-
शब्दस्यार्थः ।

९ इति प्रेप्ता येषां ते इतिप्रेप्ताः (६०१ । ५) । ' एव
प्रेप्ताः ' इति ग. च. ज. पाठः । ' प्रेप्ता प्रेषुः ' एतयोः
शब्दयोः कोऽपि विनिष्टोऽर्थो यास्ककाले आसीत् । प्रेप्ता =
अभिप्रायः । प्रेषुः = अभिप्रायवान् । ' एवमभिप्रायाः '
अयं बहुव्रीहिः ।

१० ' अनार्यदेशनिवासः ' इति निरुक्तमूले । ' कीकटा
अनार्यवासिनः ' (६०१ । ४) इति दुर्गस्त्रीकृतपाठः
स्यात् ।

११-१२ मांगदः = मां + ग (गमिञ्श्रुति अथवा आगमिष्यति
वृष्ट्या सह मूलद्रव्यमिति हेतुनाभ्येभ्यो द्रव्यं) द (ददाति) ।
' मां गमिष्यन्ति ' इति पाठान्तरम् । माम् (आ) गमि-
ष्यन्ति लोकाः इत्यर्थः ।

१३ अत्यन्तं कुत्सीदी । तस्य कुटे जातः । मगन्दस्यात्र ' प्रकटः '
' पुत्रः ' इति द्वावर्थौ । ' अत्यन्तकुत्सीदः कुटीनः '
(६०१ । ७) छ. त. ट. पाठः । ' अत्यन्तकुत्सीदकु-
टीनः ' घ. ङ. ट. ठ. ड. पाठः । प्रथमः पाठः प्राम-
दिकः । द्वितीये अत्यन्तं कुत्सीदं (वृद्धिजीविका) यस्य
तस्य कुटे जातः इत्यर्थः ।

१३-१४ यथा कण्वस्य पुत्रः प्रकण्वः (२६२ । २२) । अत्र
' म ' शब्दसन्निधौ ।

पत्रं

पङ्क्तिः

६०२

१६ 'तृतीयाप्रकृतिः पण्डः क्लीबः पण्डो नपुंसके' (अमरः २ । ६ । ३९) । तृतीयाप्रकृतिः स्वयं पण्डः सन् पण्डान्तरं किमर्थं गच्छति । 'पण्डैर्व्यवहरति' इत्यर्थः स्यात् । 'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्' ।

१७ स्वकीयौ आण्डौ अर्दयति हिनास्ति नाशयति पेपणेन । ईदृशः पण्डः कृतकः ।

१८ 'अज्ञातैः स्त्रीत्वेन गच्छति' इदं दुर्बोधम् । आण्डपेपणे-नासौ स्त्रीरूपो भवति । अज्ञा अयं 'स्त्रीति तमधिगच्छन्ती-त्यर्थः स्यात् ।

१८-१९ आण्डौ = आण् (आणी) + ड (बीडयति) । यथा चक्रकालिकौ संस्तम्येते तथा पुरुषस्याण्डौ मुखे गृह्णात्वासौ पण्डो मुखेन तौ संपीडयति ।

२० 'हर्म्यं हरणं वा' (६०१ । ५-६) न व्याख्यातम् । 'योऽयमेवास्ति लोकः' इत्यत्र 'यः' (८) 'नीचा-शाखो नीचैःशाखः शाखाः शक्नोतेराणिररणात्' (१०-११) 'रघ्यतिर्विशगमने' (११) तथैव । दुर्गास्वी-कृतपाठे 'बुन्दो वा' नास्ति । अत्र 'वा'शब्दस्य वैयर्थ्यम् । 'भिन्दो वा०' न व्याख्यातम् ।

६०३

९-१० 'बहूनां विक्षेपणं सोढु' इति ग. च. ज. पाठः । 'बहूनां विक्षेपणं धनुः' इति मुगमम् । अत्र 'सोढु' शब्दोऽनावश्यकः । कदाचिदत्र 'विक्षेपणं + विक्षेपाणां सोढु' इति द्वौ पाठौ मिश्रितौ स्याताम् ।

९ 'बहुविक्षम्' (३) इति पाठान्तरम् । विक्षः = विक्षेपः । तु + विक्षं = बहु + विक्षम् । धातुतस्तु तुवि = बहु । तुवि क्षपयति क्षिणोति वा तत् तुविक्षम् । 'महाविक्षेपं वा' (३) 'मुमुखं' (३) 'शब्द-पातिनौ वा' (५) 'शब्दवेधिनौ दूरवेधिनौ वा' (६) इदं न व्याख्यातम् । १५ सांग्राभ्यौ (४) न पाठितम् 'महाविक्षेपं' मुगमम् ।

१३ शत्रुसंघातानां साधयिता नाशयिता । १५ मु आयसौ दीर्घौ । रणः = संग्रामः । रण्यौ = सांग्राभ्यौ । विध्यनीनि विन्धनः ।

५३

पाठः

६०३ १९-१६ 'सांप्रम्या वदूषे' (४) इति पाठान्तरं दुर्वोधम् ।
सांप्रम्यौ + ऋदूषे = सांप्रम्यावृदूषे अथवा सांप्रम्या ऋदूषे ।
सांप्रम्यौ वा ऋदूषे = सांप्रम्यौ वदूषे ।

१७ ऋदुः = शब्दः । अथवा । विपरीतो 'दूर' शब्दः ।
यथा । ऋ = २ । दु = द । विपर्येग दूर । प पततीत्य-

स्मात् । वृध विध्यतीत्यस्मात् ।

१८-१९ दुर्गकालेऽपि यास्कमाध्यं कश्चित्प्रमाददूषितमासीदिति स्पष्टम् ।

६०४

६ भाष्ये 'निरविध्यत्' (२) न तु 'निराविध्यत्' ।
तथा च ८ 'आधारयत्' (३) न तु 'अधारयत्' ।
'आ अदारयत्' (पाठान्तरम्) । अत्र 'आ' =
सर्वतः ।

१० स्वाकृष्टं = सु + आकृष्टम् । आकर्णा = कर्णं यावत् ।

१३ वृन्दारकशब्दो न समान्नायस्थः । वृन्दारकाः = देवाः
(अमरः १।१।९) । 'वृन्दारकौ रूपिमुख्यौ'
(अमरः ३।३।१६) । १४ वृन्दारकः = हस्ती ।

अयमर्थः कोशेषु नोपलभ्यते । वृन्दारकः (हस्ती)
'भिन्दो वा मयदो वा भासमानो द्रवतीति वा (६०१।
१२) । भिन्दः = भिनत्ति प्राकारान् ।

४ अग्नेर्विश्वेदेवैः संवादः ।

६०५

११ 'कम्' इत्यञ्जनामसु न पठितम् । 'कमप्यूहेऽञ्ज' ।
(६०४।१९) नायं दुर्गस्वीकृतपाठः ।

१३ 'समश्नन्ति' इति दुर्गस्वीकृतपाठः स्यात् । निरुक्तमूल-
पुस्तकेषु 'समश्नुवन्ति' (६०४।२०) ।

१५ 'अर्धमासे वा' मूले (६०४।२१) दुर्गपाठे 'वा'
नासीदिति माति ।

२४ 'महत्' इत्यस्य स्थाने ग. च. ज. पुस्तकेषु 'बृहत्'
इति किमिति प्रयुज्यत इति न ज्ञायते ।

६०६

१ 'प्रविबेनिष' इत्यस्य स्थाने घ. ट. ठ. ड. पुस्तकेषु
'प्रविबेनि' ।

२ 'पूर्वम्' अयं शब्द ऋचि न वर्तते । ४ कोऽन्यस्ततः
(पाठान्तरे) । ततः = तस्मात् ।

६०६

२१ ठ. ड. पुस्तकयोः 'हिमेनोदकेन' इत्यस्यानन्तरं 'शतिन वृष्टिदकेन' २२ 'अग्निं ध्रमम्' इत्यस्यानन्तरम् 'अग्नि-
वृत्तीदगम्' २३ 'ऊर्जम्' इत्यस्यानन्तरम् 'वल्क-
रमुपस्तरणाभिघारणात्मक घृतम्' । एतत्सायणभाष्यात्
ट. पुस्तके प्राप्ते लिखितम् । तच्चात्रान्तर्भावितम् ।

६०७

२४ वर्णनरूपोऽनुग्रहः पूर्वः । तदनन्तरमोपधिनिष्पत्तिः ।

३ 'तिन्दुकादीनि' इत्यत्र 'तन्दुलादीनि' इति ट. ठ.
पुस्तकयोः । 'ऋषीसपकस्य नाश्रीयात्' इति मानव-
श्रोतसूत्रपाठः । पृथिव्यन्तर्भागे यत्पक भवति तत् ऋषीस-
पकम् । येनाग्न्याधानं कृतं स ऋषीसपकस्य नाश्रीयात् ।

४ 'औपधिवनस्पतिष्वप्' (६०६ । १३-१४) न
व्याख्यातम् ।

४-५ सर्वेषु वृत्तिपुस्तकेषु 'ओपधि' इति पाठो न 'ओपधि'
(६०६ । १३) इति । निरु० ८ । ८ इत्यस्य वृत्तौ च.
ज. ठ. ड. पठः 'अन्तरोपधि०' इति ।

६ सर्वेषां नाम्नामसौ उपपत्तिः युक्तता ।

१० यदा बहवः संयुक्ता भवन्ति तदा ते एको द्वौ त्रय इति
गण्यन्ते । १३ वृद्धे यस्मिन् वृष्टे ।

५५

२५-२६

३. पुस्तके 'उक्तं च पञ्चपञ्चिकापञ्चमाध्यापीद्वान्विते
खण्डे' । अत्र ऐतरेयब्राह्मणस्य पञ्चमी पञ्चिका । तस्याः
पञ्चमोऽध्यायः । तस्य द्वाविंशः खण्डः । वस्तुतस्तु पञ्चम-
पञ्चिकायाः त्रयस्त्रिंशः खण्डः । अध्यायस्याष्टमः ।

५६

१४९

१० 'न वा एतन्धियसे' (मैत्रा० सं० १ । २ । १५) ।

१९ 'नरय नक्षत्राण्यप्तरसो भेकुरयो नाम' न व्याख्यातम् ।
'ताम्यः स्वाहा' इति च । दुर्गेश्वीकृतमन्त्र. कस्या
संहितायां वर्तेत इति न ज्ञायते । मैत्रायणीसंहितायां (२ ।
१२ । २) कापिष्टलसंहितायां (२९ । ३) च 'स न'
असुत्तरार्धो न विद्यते । तैत्तिरीयमंहितायां 'नाम' शब्दोऽ-
पि (३ । ४ । ७) । ऋग्वेदमंहितायां 'ताम्यः स्वाहा'
'वट्' (१८ । १४) ।

पत्रं

पङ्क्तिः

२३७

५ दृश्यते। मूले. 'सन्दृश्यते' (२३६ । ३) । दूरे सन् अन्तिके सन् इति सन् द्विः प्रयुक्तः । दुर्गत्वात्कृतमूले 'सन्' सकृदेवासीदिति भाति ।।

२६१

१४ 'सत्तदशशस्त्रसंभारप्रमाणेण = वाजपेये सत्तदश शस्त्राणि संस्यन्ते । 'तं प्रत्यया' इति सत्तदशं शब्दम् (२६० । १४) । यदा सोमो मन्थिपात्रेण शुक्रपात्रेण च गृह्यते तदेदं संस्यम् । एवं सोमोऽस्या श्रुचो विपद्यः ।

२६६

२० 'अत इत्यस्येन' (पाठभेदे) = अतः अकारस्य इत् इ इति व्यत्ययः विपरीणामः । तेन ।

३०२

२४ पाठभेदे दत्तो विनियोगः आश्व० श्रौ० ८ । १ इत्यत्र स्व-रसामप्रकरणे नोपलभ्यते ।

३३३

६-८. पाठभेदे वर्तमानः पाठः तैत्तिरीयसंहितास्थः (१ । २ । १०) ।

५. निचुं = नीचैः । पुनः कर्णन्ति अथवा दधति ।

८ 'निचुम्पुण निचुम्पुणः' इति कपिष्ठलसंहितायां वाजसनेयि-संहितायां च वर्तते । 'अवभृथ निचुम्पुण निचेरुसि निचुम्पु-णोव देवदेवकृतमेनो यक्षय मर्येमर्यकृतमुोरा नो देव रिप-स्याहि' ('कपि० सं० ३।११') । 'अवभृथ निचुम्पुण नि-चेरुसि निचुम्पुणः अव देवदेवकृतमेनोऽस्यासिपमव मर्येम-र्यकृतं पुराज्यो देव रिपस्याहि (वाज० सं० ८ । २७) ।

दुर्गत्वात्कृतपाठः प्रायसो मैत्रायणीसंहितास्थः (मैत्रा० सं० १ । ३ । ३९) । तत्र 'निचुम्पुण निचुम्पुणः' इत्यत्र 'निचुइत्पुण निचुइत्पुणः' इति वर्तते । काठकसंहितायां (४ । १३) तथैव । तत्र 'चिकित्वान्' 'गृहं गृहः' इति च न वर्तते । दुर्गत्वात्कृतपाठो मिश्रो यस्मात्तत्र 'निचु-म्पुण निचुम्पुणः' इति कपिष्ठलसंहितास्थं वर्तते । तेषां सर्वं मैत्रायणीसंहितास्यम् । इदं मिश्रणं दुर्गोणान्येन वा केन-चित्कृतमिति नः ज्ञायते । 'चिकित्वान्' कपिष्ठलसंहितायां नास्ति । दुर्गोऽपि तत्र व्याख्याति । कदाचिदुर्गोऽपि

पाङ्क्तिः

यणीसंहितापाठो भिन्न आसीत् । यास्कदत्तोदाहरणं वाजसनेयिसंहितातो गृहीतमथवा कापिष्ठलसंहितात इति निश्चेतुं न शक्यते ।

- १६ ' पुरुराव्यो. ' (पाठभेदे) वाजसनेयिसंहितास्यम् ।
 १८ ' निचुम्पुण निचुङ्कुण ? (४६२ । १२-१३) इत्यत्र मूलपाठः कदाचित् ' अबभृथ निचुङ्कुण ' इति स्यात् ।
 ' निचुङ्कुणोऽप्यनेनैव व्याख्यातः ' इत्येव दुर्गा वदति ।
 ' अबभृथ निचुम्पुणेत्यपि निगमा भवति । इदमपि दुर्गेण न व्याख्यातम् ।

५८५

- १५ अभिधेतन = अभि + धेतन । अत्र 'धा' धातुः न ' धाव् ' । अभिधेतन = अभिधाथ । ' तस्मिन्तदेनो वस-
 वो नि धेतन ' (१० । ३७ । १२) । निधेतन = निधाथ ।

६०२

- ६ ससाराधय (च. पाठः) = संसाधय + संसाराधय ।

पत्रं

पङ्क्तिः

मुद्रणानन्तरम्—एतेषां मूलमुपलब्धम्—

- २ । ९ इमे त्वेति चिह्नमिति (मान० श्रौ० १ । १ । १ । १३) ।
 १० ऊर्जे त्वेत्यनुमार्ष्टि (मान० श्रौ० १ । १ । १ । १४) ।
 ४६ । ५ विनियुक्ता (आश्व० श्रौ० ४ । ७) ।
 ५२ । २० विनियुक्ता (आश्व० श्रौ० ४ । ६) ।
 स्वमोपधाने (मैत्रा० सं० २ । ७ । १५ ॥ ३ । २ । ६) ।
 ५६ । १० (वा० सं० २३ । १६ मैत्रा० सं० १ । २ । १५) ।
 ६३ । १ विज्ञाप्येते इव (काठ० सं० ६ । २) ।
 २४ शब्दे (आश्व० श्रौ० ७ । ५) ।
 २५ तृचाशीतिष्ठ (ऐ० आ० ५ । १ । ५) ।
 ६४ । १३ विनियुक्ता (आश्व० श्रौ० ५ । १२) ।
 ८९ । ५ (वा० सं० १६ । ५४ मैत्रा० सं० २ । ९ । ९) ।
 ११७ । ६ वारवन्तीयानुशंसने विनियुक्ता (आश्व० श्रौ० ४ । ९ । २२) ।
 १२६ । १९ (२ । १७ ॥ ६ । १३) ।
 १७० । २ पुरोनुवाक्येयम् (आश्व० श्रौ० २ । १७ ॥ ६ । १९) ।
 १८६ । २३ उपल इति (निघ० १ । १० । १८ — १९) ।
 १८९ । ४ सदकनाम (निघ० १ । १२ । १९) ।
 २८१ । १० अनिरत्रे (आश्व० श्रौ० ६ । ४) ।
 २० कृतिवासाः (तै० सं० १ । ८ । ६) ।
 २९८ । २१ (मैत्रा० सं० ४ । १३ । ७ ॥ तै० मा० इत्यादि) ।
 ३१६ । २ वपाया याज्या (आश्व० या० ३ । ८) ।
 ३२५ । ६ हिसार्थस्य (घा० ९ । ९) ।
 ३३१ । २२-२३ स प्रतिगमायोपविशति (मान० श्रौ० २ । ४ । २ । २३ ॥ २ । ४ । ६ । १३ ॥ २ । ५ । १ । ४०) ।
 ३७२ । ८-९ प्रजानन्यक्षमुप याहि विद्वान् (तै० सं० इत्यादि) । अत्र
 ' विद्वान्प्रजानन्त्युप याहि यज्ञम् ' (कपि० सं० ३ । १०) इत्यवश्यम् ।

पत्रं

पङ्क्तिः

५३६ । १५

प्रवर्ग्ये शस्यते (आश्व० श्रौ० ४ । ६) ।

एतेषां मूलमद्याप्यनुपलब्धम्—

| | |
|-------------|--|
| ६३ । ४ | शिशिरं जीवनाय कम् । |
| १०३ । ४ | दुःस्वप्नदर्शने विनियुक्ता । |
| २५० । ८ | गर्भानुमन्त्रणे विनियुक्ता । |
| २५५ । ६ | तृमेधे विनियुक्ता । |
| २८४ । ३ | कन्याप्रथमोपगमे विनियोगः । |
| २८५ । ४ | राक्षोघ्ने कर्मणि विनियोगः । |
| ३०२ । २४ | पाठभेदे वर्तमानो विनियोगः । |
| ३११ । १४-१५ | व्यूढस्य च दशरात्रस्य सप्तमेऽहनि सूक्तं शस्यते । |
| ३१८ । ११-१२ | महाव्रते महदुक्थे तृचाशीतिः शस्यते । |
| ३४६ । १६-१७ | पौर्णमासस्याग्नेयस्य हविषो वार्षेया । |
| ३५९ । २४ | शंयोर्वाके विनियुक्ता । |
| ४३० । ६ | वाजपेये चाग्न्यशस्त्रे (पाठभेदे) । |
| ४७६ । १६-१७ | आरुह्यनमूले विनियुक्ता । |
| ५०५ । १४ | पाठभेदे दत्तो विनियोगः । |
| ५६१ । १८ | आवापे विनियुक्ता । |
| ५७३ । ५ | उद्भिद्बलभिदोर्निष्पेवत्ये शस्यते । |
| ५८६ । १० | प्रातरनुवाकाश्विनशस्त्रयोर्विनियोगः । |
| ६०० । ९ | दशरात्रस्य सप्तमेऽहनि मरुत्वतीये शस्यते । |

निरुक्ताध्यायखण्डस्थाने पत्राणां पङ्क्तीनां च यत्राऽऽदेकः

कर्तव्यस्तानि स्थानानि—

| | | |
|----------|---------------------|-----------------|
| ३१ । ११ | (निरु० १ । १) | (५ । ६-७) |
| ६८ । १३ | (निरु० १ । १) | (१० । ६) |
| ७८ । १ | (निरु० १ । ५ इति) | (४४ । ४) |
| ३ | (निरु० १ । ५) | (४४ । ७) |
| ९३ । १७ | (निरु० २ । १६) | (१७५ । १९-२१) |
| ९८ । ६-७ | (निरु० १ । १९) | (१०९ । १६) |
| ११४ । ११ | (निरु० २ । ११) | (१६२ । १७) |
| १६५ । १२ | (निरु० १ । ७) | (५० । ५) |

| पत्रं | पङ्क्तिः | | |
|-------------|-------------------------|-------------------------------------|--|
| १७२ । ५ | (निरु० २ । ७) | (१५१ । ७) | |
| १८० । २२ | (निरु० २ । १५) | (१७४ । १-२) | |
| १८३ । ७ | (निरु० २ । ८) | (१५३ । १३-१४) | |
| १९२ । ५-६ | (निरु० २ । ८ वृत्तिः) | (१५५ । १६ आरम्भ १५६ । ५ यावत्) | |
| २४० । १५ | (निरु० १ । २०) | (११३ । १७-१८) | |
| २४१ । ५ | (निरु० १ । २०) | (१११ । १४) | |
| २६४ । १८ | (निरु० ३ । १३) | (२४२ । १४) | |
| ३०४ । १० | (निरु० २ । ५) | (१४५ । २०) | |
| ३१७ । १० | (निरु० ४ । ७) | (३०९ । १४-१५) | |
| ३३७ । १८-१९ | (निरु० २ । ७६) | (१९६ । ३) | |
| ३४७ । २४ | (निरु० २ । २१) | (१८५ । १७) | |
| ३६५ । १९ | (निरु० २ । ५) | (१४२-१४३) | |
| २१ | (निरु० २ । ६) | (१४७ । १०-११) | |
| ३६७ । १० | (निरु० ४ । २१) | (३५४ । २३-२४) | |
| ४०७ । १८ | (निरु० ४ । १६) | (३२८ । ६) | |
| ५२ । २१ | (निरु० ४ । १३) | (३१९ । ८-९) | |
| ५५४ । २७ | (निरु० ६ । ४) | (५०२ । १४-१५) | |
| ५५५ । ५ | (निरु० ५ । २३) | (४७६ । १२-१५) | |
| ५५३ । २४ | (निरु० ४ । १०) | (३१४ । ६-७) | |
| ५७६ । ६ | (निरु० ५ । १) | (३८५ । ६) | |
| ५९० । २४ | (निरु० ५ । २८) | (४८६ । ४-५) | |
| ५९९ । २६ | (निरु० ६ । ६) | (५१० । १०) | |
| ६०२ । १४ | (निरु० ३ । १७) | (२६२ । २२) | |

शुद्धिपत्रकम् ।

पङ्क्तीनामङ्काः (१) (३-८) (३८) (१०२) (२१२)
 (२५०) (३९७) (४०९) (४६१) (९०७) एषु
 पत्रेषु प्रामादिकाः । ते शुद्धीकर्तव्याः ।

कोमेयु लिखिताः खण्डाङ्काः कदा कदा खण्डाक्षराण्यपि प्रामादिकानि
 कदा कदा अघ्यायाक्षराण्यपि । यथा—

| | अशुद्धम् | | शुद्धम् |
|----------------|-----------|----|------------|
| ६३ | | ३ | १० |
| ९५ | | १५ | १६ |
| ९९ | • बोद्धः | १६ | सप्तदशः १७ |
| १२० | प्रथमा | | द्वितीया |
| १२७ | प्रथमः | | द्वितीयः |
| | | १ | २ |
| २२९ | मवमः | | अष्टमः |
| | | ९ | ८ |
| २६५ | सप्तदशः | १७ | अष्टादशः |
| | | | १८ |
| २६७ } २६९ } | सप्तदशः | १७ | एकोनविंशः |
| | | | १९ |
| २७१ | सप्तदशः | १७ | विंशतितमः |
| | | १७ | २० |
| ३४५ | | १० | १९ |
| ३६१ | विंशतितमः | २० | त्रयोविंशः |
| | | | २३ |
| ३६३ | एकविंशः | २१ | चतुर्विंशः |
| | | | २४ |
| ३६५ | एकविंशः | १९ | पञ्चविंशः |
| | | | २५ |
| ३६७ | एकविंशः | | पञ्चविंशः |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धं | शुद्धं |
|-------|----------|---------|--------|
| | | | २१ |
| ३६९ } | षट् | | २५ |
| ३७१ } | | | पञ्च |
| ३७३ | षट् | | २५ |
| ३८३ | | | पञ्च |
| | | | २७ |

४६० पत्रे पाठभेदानाम् अष्टमाङ्कादनन्तरम् अङ्काः प्रामादिकाः ।

३७८ पत्रं ७७८ इत्यङ्कितम् ।

| | | | |
|----|----|---------------|----------------|
| १ | ६ | च प्रवृत्तानि | च प्रवृत्तानि |
| | १२ | स्वरसौष्टव | स्वरसौष्टव |
| | १७ | मतएवा | मत एवा |
| | १९ | (ग. च) | (ग. °नीयं च) |
| | २० | कल्पः | कल्प |
| ३ | २८ | ख्यात | °ख्यात |
| | ३० | याज्ञिकोप | याज्ञिकोप° क |
| ५ | २६ | द. न. | द. |
| ६ | २४ | क. घ. | क. ख. घ. |
| | २६ | क. घ. | क. ख. घ. |
| | ३० | ८ | ८ |
| १० | १३ | भाववचनकर्म | कर्मवचनभाष्य |
| | १९ | सर्ग निपा | सर्गनिपा |
| | २४ | नामा | °नामा |
| | २५ | भवन्ति | भवन्ति ° |
| ११ | ५ | वृक्षा क्रि | वृक्षीक्रि |
| | १५ | तत्रै | °तत्रै |
| | | प्रदिशन्ति | प्रदिशन्ति ° |
| | २६ | गन्धेन | गन्धेन |
| | ३० | ठ. | ट. |
| १२ | ७ | क्षुप | क्षुप |
| | | प्रमथ्येन | प्रमथ्येत |
| १३ | २७ | ह. च. | ग. च. |
| | २८ | घ. ज. | घ. झ. |
| | | घ. ज. | घ. झ. |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धं | शुद्धं |
|-------|----------|---------------|-----------------|
| १४ | २९ | तत्तत् | तत् |
| १५ | १६ | चौवि | चौवि |
| | १७ | त्रिधा | त्रिधा |
| | २१ | तथा | तथा |
| | २३ | माना | माना |
| | २५ | धीनि. | धीनि; |
| | २९ | ६ | ७ |
| | | ७ | ८ |
| | | ८ | ९ |
| | ३० | ९ | १० |
| १८ | २ | क्रियामिनि | क्रियामिनि |
| | ३ | १४-४ | १ । ४४ |
| | १० | १-४ | १ । ४५ |
| | २७ | गो | गौ |
| २२— | २२ | वविपय | वविपयं |
| २६— | २७ | परिहृतः | परिहृतः |
| | | परिकृतः* | परिकृतः* |
| २७ | १५ | शक्तिवात् | शक्तिवान् |
| २८ | २१ | *वक्तिचित्क* | *वक्तिचि* क्क. |
| २९ | २८ | *वधारणार्था | *वधारणार्थ । व* |
| ३० | १४ | चष्टेर्धा | चष्टेर्धा |
| | २८ | जायेतैतस्मिन् | जायेतैतस्मिन् |
| ३६ | ९ | दधिचिदि | दधि चिदि |
| | २९ | आह | आह |
| ३८ | २४ | संदष्टा | संदष्टा |
| | २७ | मस्रं छादि* | मस्रं छादि |
| ३९ | ८ | अभित्वा | अभि त्वा |
| ४३ | ९ | यस्याय | यस्याय— |
| ४४ | १४ | मदम्यः | मदम्यः |
| ४६ | २१ | प्रदध | प्रदध |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धं | शुद्धं | |
|-------|----------|---------|--------|------|
| | | | २१ | २५ |
| ३६९ } | | षट् | | पञ्च |
| ३७१ } | | | २६ | २५ |
| ३७३ | | षट् | | पञ्च |
| ३८३ | | | २० | २७ |

४६० पत्रे पाठभेदानाम् अष्टमाङ्कादनन्तरम् अङ्काः प्रामादिकाः ।

३७८ पत्रं ७७८ इत्यङ्कितम् ।

| | | | |
|----|----|---------------|----------------|
| १ | ६ | च प्रवृत्तानि | च प्रवृत्तानि |
| | १२ | स्वरसौष्टव | स्वरसौष्टव |
| | १७ | मतएवा | मत एवा |
| | १९ | (ग. च) | (ग. °नीयं च) |
| | २० | कल्पः | कल्प |
| ३ | २८ | द्वयात | °द्वयात |
| | ३० | याशिकोप | याशिकोप* क |
| ५ | २६ | द. न. | द. |
| ६ | २४ | क. घ. | क. ख. घ. |
| | २६ | क. घ. | क. ख. घ. |
| | ३० | ~ | ~ |
| १० | १३ | भाववचनकर्म | कर्मवचनभाव |
| | १९ | सर्ग निपा | सर्गनिपा |
| | २४ | नामा | ' नामा |
| | २५ | भवन्ति | भवन्ति ' |
| ११ | ५ | इक्षी क्रि | इक्षीक्रि |
| | १५ | तत्रै | ' तत्रै |
| | | प्रदिशन्ति | प्रदिगन्ति ' |
| | २६ | शब्दैर्न | शब्दैर्न |
| | ३० | ठ. | ट. |
| १२ | ७ | क्षुप | क्षुप |
| | | प्रसज्येत | प्रसज्येन |
| १३ | २७ | ह. च. | ग. च. |
| | २८ | घ. ज. | घ. झ. |
| | | घ. ज. | घ. झ. |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धं रादि वेति | शुद्धं रादि वेति (ट. रादि चेति इति रस्माच्चेति) |
|-------|----------|----------------------|---|
| | २२-२४ | ट. पाठस्याज्यः | |
| ७८ | १ | वार्ये | वार्ध |
| | १६ | लक्षणैक | लक्षणैकैक |
| | २८-२९ | धाविधिः तुः | धाविधि तुः |
| ७९ | ४ | कर्मकृत— नाम | कर्मकृत नाम |
| | ८ | कश्चिर्न । न | कश्चिन् । न |
| ८१ | २६ | त्यादीनिः | त्यादीनि |
| | २९ | कथं वानु* | वानु* |
| ८३ | ५ | तदेतज्ज्ये | तदेतज्ज्य |
| ८७ | २८ | निष्ठानुपूर्वापदप्र | निष्ठानुपूर्वापदप्र |
| ८८ | १५ | ष्वथः | ष्वर्थः |
| ८९ | १२ | पृतासु स्पर्धनायेडु | पृतनासु स्पर्धनीयेडु |
| ९० | १३ | सथोष | सर्वोद्य |
| ९२ | २६ | ३ ड. | ३ ड. |
| | | ४ ड. | ४ ड. |
| | २८ | ८ ड. | ८ ड. |
| ९३ | २ | तद्यथापि | तद्यथा पि |
| | ९ | २२ | २।२ |
| | २४ | झ. ठ. | झ. ठ. |
| | २६ | झ. ठ. | झ. ठ. |
| ९४ | ६ | युक्तित्वा | युक्तित्वा |
| | २८ | ६ घ. | ६ घ. |
| ९५ | २८ | झ. ठ. | झ. ठ. |
| ९६ | २६ | प्रवादा | प्रवादां |
| ९७ | २८ | वादोऽ | वादोऽ |
| ९८ | २५ | विज्ञाता स | विज्ञाता प्र. |
| | २६ | विज्ञेता म. | विज्ञेता प्र. |

| | | | |
|----|-----------|--------------------|---|
| ५१ | पाङ्क्तिः | अशुद्धं | शुद्धं |
| ४९ | २८ | ध्वङ्कोनास्ति | ध्वङ्को नास्ति |
| ५० | ९ | विसीमतः | वि सीमतः |
| ५२ | १५ | विसीम | वि सीम |
| ५४ | १७ | स्याद्दृष्ट | स्याद्दृष्ट |
| | ३० | चिन्तनं. | चिन्तनं. ८ छ, त, ड, थ, ध. ठ, ड, स्याद्दृष्ट. |
| ५५ | १२ | ४।२ | ५।८ |
| ५६ | २१ | इष्ट | ईष्ट |
| | ३० | स्मरणाद्व्य. | स्मरणाद्व्य. १४ ग, ज, ऋष्ट. |
| ५७ | ४ | तन्म्यं, | तन्म्यं |
| | २५ | नामैव | नामैव |
| ६२ | २६ | मध्येन्ते: | मध्येन्ते |
| ६३ | ९ | निष्टृकास | निष्टृकास |
| | १० | बिभ्यस्यन्तो | बिभ्यस्यन्तो |
| | ११ | निष्टृका | निष्टृका |
| ६४ | २२ | बोदाह | बोदाह |
| ६५ | २६ | निर्विस्तन्. | निर्विस्तन्. |
| ६६ | ४ | सुविदु | सु विदु |
| ६७ | २८ | न्तेऽप्येधे | न्तेऽप्येधे |
| ६८ | १७ | १।१ | १।१-११ |
| ७१ | २९ | न्याख्यातं तन्म्यं | न्याख्यातं तन्म्यं |
| ७२ | ११ | तत्रैव | तत्रैव |
| ७३ | १९ | पुरि शय | पुरिशय |
| ७५ | २२ | अस् | अस |
| | | नकारिता | न कारिता |
| | २६ | घ, झ, ट. | घ, झ, ट. |
| | ३० | ग, घ, ङ, | ग, घ, ज. |
| ७६ | २२ | घ. | घ, ट. |
| | | रसमाधत्त | रसमाध (ट, ऋ) तर |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धं | शुद्धं. |
|-------|----------|---------------------------|---------------------------|
| १२० | २८ | शङ्खला | शृङ्खला |
| १२४ | १७ | (नि० | (नि० |
| १२५ | २० | [| पा० |
| १२६ | १७ | उत्तरकाल | उत्तरकालं |
| १२७ | २७ | ; ट. | ; ठ. |
| | २८ | ; ड. | ; ढ |
| | २९ | ४ | ४ च. |
| | ३० | (ड. ये) | (ढ. ये) |
| १२८ | ७ | कुरो | कूरो |
| | २७ | निरुक्ते | निर्दिक्ते |
| १३५ | २ | दग्धादि- | दग्धादि द्रव्यम् । |
| १३६ | २३ | १ ङ. | १ ङ. ङ. |
| १३७ | ३ | शरीरं | पूः शरीरं |
| | ३० | कदातीतिद्वा | कदातीति द्वा |
| १४६ | २६ | पर्वणै | पर्वणं |
| | २७ | ८ ट | ८ ठ |
| १४७ | ५ | पर्वणाद् वृत्वा | पर्वणाद् वृत्वा |
| | २५ | पर्ववती* | पर्ववती |
| १४८ | १६ | न आदि | * आदि |
| १५४ | २६ | सत्तामं | सैतामं |
| | २९ | *जुर्विद्वा* | *जुर्विद्वा* |
| १५६ | २४ | द्विनिर्द्वा श्रीपुलिङ्गा | द्विनिर्द्वा श्रीपुलिङ्गा |
| १५८ | १५ | रादत्ते | रादत्ते । |
| | २५ | व्यर्थ्यद्वा | व्यर्थ्यद्वा |
| | २८ | ग. ज. | क. ख. घ. ङ. ट. च. |
| १६२ | ४ | शंतनुः- | शंतनु- |
| १६७ | १६ | १४२ | १४ |
| | २८ | द्वये- | द्वय- |
| १६८— | १० | ता | ना |
| | ११ | मयाना | मयाना |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धं | शुद्धं |
|-------|----------|----------------------|----------------------------|
| १०० | १२ | स्यासो | स्यासौ |
| | २८ | ट. मयोभूः० रुद्र मृळ | मयोभूः० रुद्र मृळ |
| | ३० | गोर्तमे; "श | गोर्तमेः " श |
| १०१ | २६ | योनिष्टे प्रपित्वे० | योनिष्टे० प्रपित्वे |
| | ३१ | १६ ७ | १६ |
| १०२ | ३० | शं चतुः | शं चतुः |
| १०३ | १७ | चार्थ | चार्थ |
| | २९ | तावत्सपाठः | तावत्स पाठः |
| | ३० | रूढाणां "ना | रूढाणां ना |
| १०४ | २६ | ठ. कृति | ट. कृति |
| १०५ | १८ | तेचेद् | ते चेद् |
| | २७ | त्कौम्भ्युं | त्कौम्भ्युं |
| १०६ | २४ | कृतिभिस्तु | कृतिभिः स्तु |
| ११० | १५ | पुनर्विर् | पुनर्विर् |
| | २८ | ७ घ. झ. | ७ घ. झ. ट. |
| १११ | २० | नामप्राधा | नाम प्राधा |
| | २१ | देवते | देवते |
| | | तत् | तत् |
| | ३० | ड. वारवन्तं | ड. वारवन्तं. ९ क. ख. छ. त. |
| ११३ | २९ | ६ क. ख. घ. | ६ क. ख. घ. : |
| ११४ | २३ | घ. झ. | घ. झ. |
| | २८ | "शेन" ज. | शेन ज |
| ११५ | २७ | ५ घ. | ५ घ. |
| ११८ | २२ | प्रीणातेर्वा | प्रीणातेर्वा |
| ११९ | ३ | मेघा | मेघो |
| | ११५ | छान्या | छान्या |
| | १२८ | ग. च. ट. | ग. च. घ. ट. |
| | | तदैक. | तदैः (घ. दे) क. |

| पत्रं | पाक्षिः | अंशुदे | पुष्टं |
|-------|---------|----------------|---------------|
| २३० | ८ | सा | स |
| २३२ | ३० | मलान् | मूलात् |
| २३३ | १० | दिदशतः | दिदशतः |
| २४० | २६ | ६ क. ख. घ. ङ. | ६ क. ख. घ. |
| २४३ | ६५ | पाक्षिः | पाक्षिः |
| | २ | रिहं | रिहं |
| | २२ | ईज्यति | ईज्यति |
| | २४ | १ क. ख. रिहं; | १ क. ख. रिहं; |
| | | ग. घ. ज. रिहं; | |
| २४६ | २४ | पमिमी | पमिमी |
| २४९ | १६ | यवा | यवा |
| २५८ | ३० | १२ ध | १२ ध |
| २५९ | २८ | ठ. अपा | ठ. अपा |
| | २८ | १२ ध | १२ ध |
| २६० | १० | ४७ | ४४ |
| | १५ | ९।११ | ९ |
| २६३ | ७ | १३।७ | १३ |
| २६४ | १५ | णाव्या | णाव्या |
| २६५ | २४ | पमार्थ | पमार्थ |
| | २८ | ड. | ड. |
| २६७ | २५ | पमादश | पमाप्रदर्श |
| २६८ | २६ | अथ वा | अथ ' वा |
| | | तीति यज्ञः | तीति ' यज्ञः |
| २७० | ११ | नंवा | संधा |
| २७३ | २९ | ५ १ | धन्वमु |
| २७४ | १३ | प्रति पिदः | प्रतिपिदः |
| २७५ | २९ | 'दानंरुती' | 'दानंरुती' |
| | ३० | मम | मम धृत् |
| २७६ | २५ | नुदीगी | नुदीगी |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धं | शुद्धं |
|-------|----------|-------------|------------|
| १६९ | १२ | नचैनं | न चैनं |
| १७० | २६ | वाहि° | वाहि° |
| १७१ | २८ | १० ड. | १० ड |
| १७८ | २६ | घ. ट. | घ. |
| | | यावद्दर्श° | यावद्दर्श° |
| १८० | ३० | १२ घ. | १२ घ. |
| १८२ | २९ | शस्येते | शस्येते |
| | | च | च । इद° |
| | ३० | च | च । इद° |
| १८७ | ३१ | १६ ड. घ. घ. | ड. घ. घ. |
| १८८ | १८ | समुद्रानु | समुद्रान् |
| १९० | २० | तव्या | तव्या |
| १९१ | २० | उतस्यानः | उत स्या नः |
| १९५ | ७ | प्रसिन्धु | प्र सिन्धु |
| १९६ | २९ | अग्रन् | अग्रन्मे° |
| | | अहन् | अहन्मे° |
| | ३२ | २२ | ३२ |
| २०५ | २५ | रौयो | रौयो |
| २०६ | २७ | २ | ३ |
| २०७ | १७ | नसंशम्भे | नसं शम्भे |
| | १८ | ११ | १ |
| | २७ | इत्यवि° | इत्यवि° |
| २१० | २९ | यथैवंव° | यथैवं°व |
| २१२ | २६ | °दने | °दने |
| २१६ | १६ | आरो | आ रो |
| | २५ | क्तनि | क्त नि |
| २२५ | ९ | खेवं | खेवं° |
| २२६ | २१ | खल | खल |
| २२९ | १६ | हेलते | हेलते |
| २३० | ७ | मक्षि | मन् क्षि |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धं | शुद्धं |
|-------|----------|-------------|--------------|
| | २७ | धानौ नाः | धानौ (नाः) |
| | ३१ | उद्वचं | उद्वचं |
| | | उद्वचं | उद्वचं |
| ४४६ | २१ | द | द |
| ४५० | ९ | वत्येह | वत्येह |
| ४५३ | १ | जातिः कां | जातिः । कां |
| | ४ | एवं | एवं |
| | १५ | विशेषां | विशेषां |
| ४५६ | १४ | प्रदि | प्रदि |
| | २४ | मिःपपी | मिःपपी |
| ४५८ | २० | रस्ये | रस्ये |
| | २५ | ‘पद्वेळं’ न | ‘नद्वेळं’ व |
| ४६० | २४ | प्रमुहं | प्र मुहं |
| ४६३ | १७ | देवरोष | देवरोष |
| ४६८ | ४ | उजिहीत | उजिहीते |
| ४६९ | २७ | त्रिष्टुप् | त्रिष्टुप् |
| | २२ | च. | च. |
| ४७४ | २७ | ठ. ऊ. | ठ. ड. |
| | २८ | तवान्यः | तवान्यः* |
| ४७८ | ६ | समर्थ | समर्थ |
| | १३ | समाधी | समाधी |
| | २७ | *मायी | *मायी |
| ४८० | २३ | ५ क. स्त. | ५ |
| ४८१ | २० | कर्म | कर्म तस्य* |
| ४८२ | ८ | प्राणाता | प्रीणोता |
| ४८५ | ३० | :हस्ना | हस्ना |
| ४८६ | १८ | आविस्त्र | आ विस्त्र |
| ४९१ | १० | कोऽपः | कोऽपः |
| ५०५ | २० | आमे | आमे |
| ५०९ | २० | प्र युवाच | प्रयुवाच |

| पद्ये | पङ्क्तिः | अशुद्धं | शुद्धं |
|-------|----------|--------------|--------------------|
| ४०५ | १४ | त्रा | त्रा |
| | २७ | दे | दे |
| | ३० | १३ क. ख. घ. | १३ क. ख. घ. |
| ४०८ | २९ | यज्ञसेद्वि | यज्ञसद्वि |
| ४१२ | २९ | व. वतः | द. वतः |
| ४१३ | १५ | नादौ | नादौ |
| ४१४ | ८ | वसथे | वमर्थ |
| | १४ | स वा | सै वा |
| ४१५ | ३० | स्यैर्म | स्येयम् |
| ४१६ | ३१ | सौ | च. पसौ |
| ४१७ | ३० | कमि | कमि |
| ४१८ | २७ | ३ ड | ३ क |
| | २० | पावनेन वा | पावने वा न |
| | ३२ | क. ख. घ. | क. ख. घ. |
| ४२२ | ४ | १३ | ३ देवीदे |
| | ६ | देवी दे | देवीदे |
| ४२३ | ६ | बहुदा | बहु दा |
| | ९ | शरणो | शरणे |
| ४२५ | २१ | भूप्रय | भूप्र य |
| ४३१ | १५ | पर्म | पर्म |
| ४३३ | ९ | निरु | निरु |
| ४३४ | १९ | मेप्यादुर | मेप्या दुर |
| | ३१ | मेधं नेद्र | मेधं नेद्र |
| ४३५ | ३० | *मुखिद-त* ता | *मुखिदत्ते ड* तात् |
| ४३६ | २७ | *प्रस्या | *मस्या |
| ४३७ | २६ | स्यार्थम् | स्यार्थम् |
| ४३८ | २९ | *द्रव | *न्द्रव |
| | ३० | *द्रव | *न्द्रव |
| ४४३ | २० | सहहरी | सह हरी |
| | २५ | च. उद्दृचं | उद्दृचं |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धं | शुद्धं |
|-------|----------|---|--------------|
| ५८६ | ७ | ' अंहुरः ' | ' अंहूरणम् ' |
| | १९-२० | स्पष्टार्थाय तस्यैव द्वितीयमुदाहरणम् | ' अंहुरः ' |
| ५८७ | २६ | शब्द | शब्द |
| ५८८ | १२ | संकल्पं | संकल्पं |
| ५९७ | ३१ | ८ घ | ८ घ |
| ५९९ | २६ | ज. घ | ज. घ |
| | ३० | ढ | ढ |
| ६०० | ७ | इन्द्रयः | इन्द्राय |
| ६०३ | ९ | ईम् | ईम् |
| | १३ | ईन्दः | ईन्दः |
| ६०७ | ५ | पञ्चा— | पञ्चा— |
| | २१ | सोमानस्य | सोमानस्य |

टिप्पणी ।

टिप्पणी पङ्क्ति न ३६ न मुद्रिताः । ते शुद्धीकरणे गणनित्याः ।

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धं | शुद्धं |
|-------|----------|----------|------------|
| ४ | २७ | तत्त० | तत्त० |
| ९ | १ | १४ | १३ |
| १० | १ | ५३ | ५३ |
| | ७ | प्रथमाद | प्रथमा |
| ११ | १ | सामर्थ्य | सामर्थ्य |
| १२ | १ | ' भूयः ' | ६ ' भूयः ' |
| १३ | १ | २७ | २६ |
| १५ | २५ | = निय | + विद्य |
| १६ | ७ | ७ | २७ |
| | १५ | ३५ | १६ |
| २० | २७ | ९ | ५ |
| २२ | १४ | मत्त | मत्त |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धं | शुद्धं |
|-------|----------|----------------|-------------------|
| ५१२ | १० | त्युदकं । | त्युदकं |
| ५१४ | २५ | क. | क. |
| | २८ | ९ च | ९ च. |
| ५२५ | २८ | ~ । | ।~ |
| ५२९ | ५ | नि० च. | निच |
| ५२९ | २२ | विप्रास्तप्र° | विप्रास्तप्रज्ञा° |
| ५३२ | ३० | °मन्त्रवेदमन° | °मन्त्रवेदमनदय° |
| ५३३ | १६ | विठ्ठा | विठ्ठा |
| ५३६ | १३ | धामनि | धामभि |
| ५३९ | ५ | मायां न | मायां न— |
| ५४३ | २४ | मही | महौ |
| ५४५ | २२ | मामेनी | मामेनी |
| | २३ | ममेता | ममेदी |
| ५४६ | १३ | ता निम | तानि म |
| ५४७ | १९ | अनार्थो | नार्थो |
| ५४९ | २० | पर्कानि इमानि | पर्कानि इमानि |
| ५५६ | ४ | शुशुआ | शुशुआ |
| ५५८ | २५ | °भावन | °भावेन |
| | २६ | ।. वृषा° ७९ । | । ७९ । वृषा° |
| ५५९ | १० | ‘जवारु’ | ‘जवारु’ |
| ५६२ | १२ | वृहद्वोषः | वृहद्वोषः |
| ५६३ | २७ | द. न. म. | द. |
| ५६५ | १७ | व्युत्पत्तिश्च | प्रयोगश्च |
| ५६९ | १० | त्यैतकुरु | त्यैतकुरु |
| ५७२ | १ | संयोगे | संयोगे |
| | ३ | ब्रवीति । | ब्रवीति |
| ५७५ | २८ | तुर्दशे | तुर्दशे |
| ५८० | १४ | भवत आग | भवत आग |
| | २० | गच्छनेन धमनि | गच्छनेन धर्मानि |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धं | शुद्धं |
|-------|----------|-------------|-----------------|
| ७१ | २५ | ष्टा ह | ष्टाह |
| ७४ | ७ | ६।१ | ६१ |
| ८१ | १ | २११ | २१२ |
| ८३ | १४ | पत्यापा | पत्यपा |
| ८५ | २९ | त्वा इ | त्वा ' इ |
| ८६ | २३ | अगर | अर |
| | २४ | । मध्ये | मध्ये |
| | २४ |) |)। |
| ९० | ३ | तल्लित | तल्लित् |
| ९५ | ११ | प्राक्त्वा | प्राक् तप् |
| | १६ | घोषा | ' घोषा |
| ९६ | १ | अर्था | अ्याया |
| ९८ | ८ | आनि | आ मि |
| | २० | विवक्ति | विवाक्ते । |
| | २१ | त्वयि । | त्वयि] |
| १०० | १५ | न्द्राया जु | न्द्रापाजु |
| | २९ | तीक्ष्ण | तीक्ष्ण |
| १०२ | २९ | । इति | इति |
| १०७ | १८ | सेन० | सेनं |
| १०८ | १८ | । १२ | —१२ |
| ११० | ६ | ठ. ड. | ठ. ड. पुस्तकयोः |
| ११२ | १३ | पुस्तकयो | पुस्तकयोः |
| | २७ | = (| (= |
| ११९ | २८ | अदि०= | अदि° |
| १२२ | २ | आख्या | आख्या |
| १२३ | २८ | कानाशो | कानाशो |
| १२४ | २२ | सिम्बस्व ज | सिम्ब स्वज |
| १२८ | २७ | लेख | लेख |
| १३१ | १० | इति क | इतिक |
| १३३ | १५ | मपया | मपया |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धं | शुद्धं |
|-------|----------|-------------|-------------|
| | १६ | २० | २१ |
| | १७ | २२ | २१ |
| २८ | २७ | अर्थ | अर्थ |
| ३० | १ | तदेत | तदेत |
| ३२ | १६ | २-६ | ८४ २-६ |
| ३३ | २६ | यानाः | यासां ताः |
| ३४ | २८ | मन्त्रा । | । मन्त्रा |
| | ३१ | कास्ते | कास्ते । |
| ३६ | ५ | १०३ । १ | १०३ |
| ३७ | २ | इति ऐ० मा० | इति |
| ४३ | १० | — उच् — | + उच् + |
| | १३ | तदेने | तदेतेने |
| | | ९ । १० | ९-१० |
| ४६ | १५ | अरास्यो | अरणस्यो |
| | १७ | तस्मान् | तस्मिन् |
| ४८ | ८ | एतमर्थः | एतमर्थ |
| ४९ | २ | यदि | येदि |
| ५२ | ३१ | वर्तते | वर्तते |
| ५६ | ११ | किमस्ति | किमस्ति ' |
| | २४ | मेवपद | मेव पदं |
| ५७ | २५ | केषां चि | केषांचि |
| ५८ | १५ | काम + | काम |
| | | नै = | नै |
| ५९ | १२ | तथाच | तथा च |
| | १४ | ठ, | ट, |
| ६२ | ११ | अस्य वा | अस्यवा |
| ६३ | ४ | शस्त्र | शस्त्रं |
| | २७ | प्रथमार्धेन | प्रथमार्धेन |
| | ३० | भिर्हि | भिहि |
| ६४ | १६ | अवतोः | (अवतोः) |

ग्रन्थनाम ।

मूल्यम् ।

रु० आ०

| | | |
|--|----|----|
| ८६ विधानमाला—श्रीनृसिंहमहद्विरचिता ।... | ४ | ४ |
| ८७ अग्निहोत्रचन्द्रिका—किंजवडेकरोपाह्ववामनशास्त्रिरुता । | २ | १४ |
| ८८ निरुक्तम्—दुर्गाचार्यरुतवृत्तिसमेतम् । भागद्वयात्मकम् । ... | १६ | ४ |
| ८९ काव्यप्रकाशः—संकेताख्यटीकासमेतः । ... | ३ | ४ |
| ९० शाङ्खायनारण्यकम्—ऋग्वेदान्तर्गतवाष्कलशास्त्रीयम् । ... | ० | ९ |
| ९१ गौतमप्रणीतन्यायसूत्राणि—भाष्यवृत्तिभ्यां समेतानि ।... | ४ | ८ |
| ९२ श्रीमद्भगवद्गीता—सटीकरामानुजभाष्ययुता । ... | ७ | ८ |
| ९३ दर्शपूर्णमासप्रकाशः—किंजवडेकरोपाह्ववामनशास्त्रिरुतः । | ६ | १२ |
| ९४ संस्कारपद्धतिः—अभ्यंकरोपाह्वभास्करशास्त्रिविरचिता । | २ | ८ |
| ९५ काश्यपशिल्पम्—महेश्वरोपदिष्टम् । ... | ३ | १ |
| ९६ करणकौस्तुभः—रुष्णदैवज्ञविरचितः ।... | ० | ९ |
| ९७ मीमांसादर्शनम्—सतन्त्रवार्तिकशास्त्रभा० भागपट्टकात्मकम् । २५ | ० | ९ |
| ९८ धर्मतत्त्वनिर्णयः—म. म. अभ्यंकरोपाह्ववासुदेवशास्त्रिप्रणीतः । | ० | १३ |
| ९८. धर्मतत्त्वनिर्णयपरिशिष्टम्— | ० | ० |
| ९९ भास्करीयबीजगणितम्—नवाङ्कुराटीकासहितम् । ... | २ | ० |
| १०० प्रायश्चित्तेन्दुशेखरः—नागेशमहद्विरचितः । कुण्डार्कयुतः । | १ | १० |
| १०१ शांकरपादभूषणम्—पर्वतेइत्युपाह्वरघुनाथशास्त्रिरुतं द्विभा० | ८ | ५ |
| १०२ ब्रह्मवैवर्तपुराणम्—भागद्वयात्मकम् ।... | ९ | ४ |
| १०३ श्रुतिसारसमुद्धरणम्—गिर्यपरनामकतोडकाचार्यप्रणीतम् । | ० | १३ |
| १०४ त्रिंशच्छ्लोकी—टिप्पणीविधृतिभ्यां समेता । धर्मशास्त्रग्रन्थः । | २ | १५ |
| १०५ आश्वलायनगृह्यसूत्रम्—आश्वलायनाचार्यप्रणीतम् ।... | २ | १२ |
| १०६ दशोपनिषदः—मूलपात्रम् । ... | २ | ० |
| १०७ लीलावती—श्रीमद्भास्कराचार्यप्रणीता । टीकाद्वयोपेता द्विभागा । | ३ | ० |
| १०८ व्याकरणमहाभाष्यम्—पदीपोद्घोतयुतं (अङ्ग०) प. भा. । | २ | १२ |
| श्रीमत्पद्मपुराणम्—महापुराणान्तर्गतं चतुर्भागात्मकम् । | २० | ० |
| सिद्धान्तदर्शनम्—महर्षिवेदव्यासप्रणीतं निरञ्जनभाष्ययुतम् । | १ | ४ |
| आधानपद्धतिः—किंजवडेकरोपाह्ववामनशास्त्रिभिः रूता । | १ | १४ |
| पञ्चालम्भमीमांसा—किंजवडेकरोपाह्ववामनशास्त्रिविरचिता । | ० | १० |
| शिवभारतम्—कवीन्द्रपरमानन्दविरचितम् । ... | १ | ० |

| पत्रं | पङ्क्तिः | अशुद्धं | शुद्धं |
|-------|----------|----------|-----------|
| १३६ | १५ | = | '—' |
| १५७ | २५ | न्हजिया | जिन्हया |
| १७५ | २ | णाद्र | णाद्त्र |
| १८८ | ११ | सत्क | सत्कं |
| १९७ | ३ | सोतारम् | सोतारम् ' |
| २०० | १८ | सपा° | सपाः |
| २०८ | १८ | मेघव | मेघव |
| २१६ | २८ | कुत्सश्च | कुत्स च |
| २१८ | ३० | यद् | ' यत् ' व |
| २३४ | ४ | सदयम्° | सदयम् ? |



ग्रन्थनाम ।

मूल्यम् ।

रु० आ०

| | | |
|--|----|----|
| ८६ विधानमाला—श्रीनृसिंहमहद्विरचिता ।... | ४ | ४ |
| ८७ अग्निहोत्रचन्द्रिका—किंजवडेकरोपाह्वामनशास्त्रिकृता । | २ | १४ |
| ८८ निरुक्तम्—दुर्गाचार्यकृतवृत्तिसमेतम् । भागद्वयात्मकम् । ... | १६ | ४ |
| ८९ काव्यप्रकाशः—संकेताख्यटीकासमेतः । ... | ३ | ४ |
| ९० शाङ्ख्यनारण्यकम्—ऋग्वेदान्तर्गतबाष्कलशास्त्रीयम् । ... | ० | ९ |
| ९१ गौतमप्रणीतन्यायसूत्राणि—भाष्यवृत्तिभ्यां समेतानि । ... | ४ | ८ |
| ९२ श्रीमद्भगवद्गीता—सटीकरामानुजभाष्ययुता । ... | ७ | ८ |
| ९३ दर्शपूर्णमासप्रकाशः—किंजवडेकरोपाह्वामनशास्त्रिकृतः । | ६ | १२ |
| ९४ संस्कारपद्धतिः—अभ्यंकरोपाह्वभास्करशास्त्रिविरचिता । | २ | ८ |
| ९५ काश्यपशिल्पम्—महेश्वरोपदिष्टम् । ... | ३ | १ |
| ९६ करणकौस्तुभः—रुष्णदैवज्ञविरचितः ।... | ० | ९ |
| ९७ मीमांसादर्शनम्—सतन्त्रवार्तिकशावरभा० भागपट्कात्मकम् । २५ | ० | ९ |
| ९८ धर्मतत्त्वनिर्णयः—म. म. अभ्यंकरोपाह्ववासुदेवशास्त्रिप्रणीतः । | ० | ९ |
| ९८ धर्मतत्त्वनिर्णयपरिशिष्टम्— | ० | १३ |
| ९९ भास्करीयबीजगणितम्—नवाङ्कुराटीकासहितम् । ... | २ | ० |
| १०० प्रायश्चित्तेन्दुशेखरः—नागेशमहद्विरचितः । कुण्डार्कयुतः । | १ | १० |
| १०१ शांकरपादभूषणम्—पर्वतेत्युपाह्वरघुनाथशास्त्रिकृतं द्विभा० | ८ | ५ |
| १०२ ब्रह्मवैवर्तपुराणम्—भागद्वयात्मकम् ।... | ९ | ४ |
| १०३ श्रुतिसारसमुद्धरणम्—गिर्यपरनामकतोडकाचार्यप्रणीतम् । | ० | १३ |
| १०४ त्रिंशच्छ्लोकी—टिप्पणीविवृतिभ्यां समेता । धर्मशास्त्रग्रन्थः । | २ | १५ |
| १०५ आश्वलायनगृह्यसूत्रम्—आश्वलायनाचार्यप्रणीतम् । ... | २ | १२ |
| १०६ दशोपनिषद्—गूलपात्रम् । ... | २ | ० |
| १०७ लीलावती—श्रीमद्भास्कराचार्यप्रणीता । टीकाद्वयोपेता द्विभागा । | ३ | ० |
| १०८ व्याकरणमहाभाष्यम्—मदीपोद्घोतयुतं (अङ्गन०) म. भा. । | २ | १२ |
| श्रीमत्पद्मपुराणम्—महापुराणान्तर्गतं चतुर्भागात्मकम् । | २० | ० |
| सिद्धान्तदर्शनम्—महर्षिवेदव्यासप्रणीतं निरञ्जनभाष्ययुतम् । | १ | ४ |
| आधानपद्धतिः—किंजवडेकरोपाह्वामनशास्त्रिभिः कृता । | १ | १४ |
| पञ्चालम्भमीमांसा—किंजवडेकरोपाह्वामनशास्त्रिविरचिता । | ० | १० |
| शिवभारतम्—कवीन्द्रपरमानन्दविरचितम् । ... | १ | ० |